इकाई 1

भारत में समाजशास्त्र के उद्‌भव की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार

1.3 भारत में सामाजिक विचारों की विरासत

1.4 प्राचीन और अरबी-फारसी लेखों में समाजवृत्त

1.5 ब्रिटिश शासन के आगमन के समय भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ

1.6 भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति तीन प्रमुख पाश्चात्य दृष्टिकोण

1.7 जाति और जनजाति के बारे में ब्रिटिशों का सरकारी नज़रिया

1.8 सामाजिक जाँच पड़ताल को बढ़ावा देने वाले संघों और संस्थाओं की वृद्धि

1.9 भारतीय बुद्धिजीवियों के प्रत्युत्तर और प्रतिक्रियाएँ

1.10 आरंभिक समाजशास्त्रीय प्रारंभ

1.11 समाजशास्त्र और स्वतंत्र भारत

1.12 सारांश

1.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भारतीय समाजशास्त्र के ऐतिहासिक आधारों का वर्णन कर सकेंगे;
- भारत में समाजशास्त्र के उद्‌भव संबंधी क्लासिकी और अरब फारसी आधारों की व्याख्या कर सकेंगे;
- भारत में सामाजिक चिंतन की विरासत की चर्चा कर सकेंगे;
- भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन के समय विद्यमान सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का वर्णन कर सकेंगे;
- भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति पश्चिमी लोगों के तीन प्रमुख दृष्टिकोणों की व्याख्या कर सकेंगे;
- जाति और जनजाति तथा उनके रीति-रिवाज और परंपराओं के संबंध में ब्रिटिशों के सरकारी नजरिया की चर्चा कर सकेंगे;
- सामाजिक जाँच पड़ताल को बढ़ावा देने वाले संघों और संस्थाओं की संवृद्धि का वर्णन कर सकेंगे;
- आरंभिक समाजशास्त्रीय प्रारंभ की व्याख्या कर सकेंगे; और अंत में
- स्वतंत्र भारत में समाजशास्त्र के शुरुआती उद्‌भव की चर्चा कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र, जो भारत में सामाजिक मानवविज्ञान से निकटता से जुड़ा हुआ है, विश्व के दूसरे हिस्सों की तरह इस देश में भी अपेक्षाकृत ठीक ढंग से परिभाषित अध्ययन क्षेत्र नहीं है। विभिन्न विद्वानों का इसके प्रति दृष्टिकोण भिन्न है और यहाँ तक कि इसके विस्तार क्षेत्र की अवधारणा भी अलग-अलग है। लेकिन उनमें से अधिकांश इसके जन्म और विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्ववृत्त के अध्ययन की आवश्यकता समझते हैं। वे इस बात से सहमत हैं कि भारत में समाजशास्त्र पश्चिमी समाजशास्त्र से प्रभावित है। पाश्चात्य समाजशास्त्र के प्रभाव का वे अलग-अलग ढंग से मूल्यांकन करते हैं।

1.2 भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार

समाजशास्त्र "मानवतावादी सामाजिक विज्ञान" है (अब्राहम, 1973)। इसलिए इसे किन्हीं विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में खास मानव समूहों के विशेष विचारों, आदर्शों, मूल्यों, महत्वाकांक्षाओं, समस्याओं और कठिन परिस्थितियों का ध्यान रखना होगा। हालाँकि मानव संबंधों के बारे में यह सामान्य नियम ही चाहता है। इसलिए समाजशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान के साँचे में फिट नहीं बैठता और विभिन्न देशों में इसका विकास एक अलग तरीके से होता है या वहाँ के विशेष ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक स्वरूप का प्रभाव उस पर होता है। भारत में तथ्यों पर ध्यान न देने के कारण भारत में कोई भी समाजशास्त्र की भारतीय परंपरा के बारे में पर्याप्त प्रमाण के साथ बात नहीं कर सकता वरन् समाजशास्त्र की जर्मन या अमेरिकी परंपरा पर बात कर सकता है (सी एफ मानहीम, 1953 : 185-226)। ऐसा इसलिए है, क्योंकि भारतीय समाजशास्त्री अपने शिक्षण और अनुसंधान में पश्चिमी अवधारणाओं, विधियों और सिद्धांतों पर ही जोर देते हैं बजाय इसके कि वे अपने देश में इनका विकास करें। इस संबंध में समाजशास्त्रियों के कार्यकलाप भौतिकविज्ञानियों या जीवविज्ञानियों और यहाँ तक कि अर्थशास्त्रियों से बहुत अलग नहीं है। लेकिन समाजशास्त्रियों के पास चिंता का एक खास कारण है। मानवविज्ञान में एक तरफ आंकड़ों का संबंध और दूसरी तरफ संकल्पनाएँ, विधियों और सिद्धांत प्राकृतिक विज्ञान से अलग होते हैं। जब कोई भारतीय भौतिकविज्ञानी कोई नियम बनाता है, तो ऐन्द्रे बेटेली उस सिद्धांत को उस सामान्य नियम या सिद्धांत की तरह मानते हैं जैसे कि साहा समीकरण या चंद्रशेखर सीमा को वे मानते हैं। वे मानते हैं कि यह भौतिकविज्ञानियों द्वारा न केवल भारत में वरन् सभी जगह ऐसे ही इस्तेमाल किया जाएगा। प्राकृतिक विज्ञान में सामान्य उपकरणों के स्टॉक का उपयोग विवारास्पद नहीं होता; किंतु मानवविज्ञान में यह विवादास्पद होता है।" (बेटेली, 2002 : 197) यह सत्य है कि भारतीय समाजशास्त्रियों को उतना कठिन संघर्ष नहीं करना पड़ा जितना कि यूरोप में उनके पूर्ववर्तियों को, उन्नीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र को एक गंभीर बौद्धिक विषय के रूप में इसकी वैधता स्थापित करने में करना पड़ा। लेकिन पश्चिमी मार्गदर्शियों पर अति निर्भरता के कारण वे यह तथ्य भूल गए थे कि पश्चिम में समाजशास्त्र "औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जो समस्याएँ आ रही थीं और जिस तरह की सामाजिक क्रांति और परिवर्तन हो रहे थे उनकी बौद्धिक और संज्ञानात्मक प्रतिक्रिया थी।" (सिंह, 1979 : 107-108)। 14वीं और 18वीं शताब्दी के बीच जागरण, वैज्ञानिक क्रांति और वाणिज्यिक क्रांति के लिए हुए आंदोजन में बौद्धिक क्रांति आकार लेने लगी थी, 1789 की फ्रांस क्रांति और औद्योगिक क्रांति ने जर्जर होती सामंतवादी व्यवस्था वाले राजतंत्र और चर्च को एक ऐसी हवा दी जिससे लोगों की महत्वाकांक्षाओं और व्यक्तिगत उपलब्धियों के आख्यान और उनके दुःखों की कथा आरंभ हो गई, इस नई परिस्थिति में मूल्यों और सामाजिक व्यवस्था की अनिश्चितता थी, पश्चिम में समाजशास्त्र इसी को समझने के लिए किया गया प्रयास था। यह सामान्य तौर पर एक तरह की संज्ञानात्मक प्रणाली थी जिसे यूरोपियन संदर्भ में औद्योगिक मध्यवर्ग ने पारंपरिक विश्व परिदृष्य और साथ ही ज्ञान के आयामों के विखंडन की समस्या से उबरने के लिए विश्वपरिदृश्य के तौर पर प्रतिक्रिया के रूप में विकसित करने का प्रयास किया लेकिन जब भारत में समाजशास्त्र आया तब औद्योगिक मध्यवर्ग विकसित नहीं हुआ। (सिंह, वही : 108)।

भारत में समाजशास्त्र का जन्म पाश्चात्य लोगों द्वारा खास तौर से भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के बाद भारतीय समाज और संस्कृति की पश्चिमी व्याख्या के प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्धिक प्रतिक्रिया के तौर पर हुआ था। मानवशास्त्र भी जो समाजशस्त्र का सजातीय शास्त्र है, बहुत हद तक पिछली तीन या चार शताब्दियों के दौरान विश्व के यूरोपियन विस्तार की ही उपज है। विभिन्न प्रजातियों और सर्वथा भिन्न संस्कृतियों के लोगों पर शासन करने की आवश्यकता ने यूरोपियनों में शासितों के जीवन और संस्कृति का अध्ययन करने की अनिवार्यता को जन्म दिया। भारतीय लोगों के जीवन और संस्कृति की सूचना एकत्र करने के पश्चिमी प्रयासों में भी औपनिवेशिक शासकों का यही हित दिखाई देता है, जिसने भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का आधार तैयार हुआ। हॉलांकि यह सत्य है कि बाद में इसमें वैज्ञानिक दिलचस्पी ने दोनों विषयों को समृद्ध किया और वे आधुनिकता के पश्चिमी संदर्भ में उभरे। साथ ही साथ औपनिवेशिक संदर्भ की उपेक्षा करना संभव नहीं होगा जिसमें इस देश में समाजशास्त्र का विकास हुआ। इस देश में जिन परिस्थितियों में समाजशास्त्र का उद्गम हुआ उसके दोहरे पहलू पर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण इसमें पश्चिमी समाजशास्त्र की झलक दिखाई देती है। उदाहरण के तौर पर डुमौर और पोकौक द्वारा 1957 में दिए गए कथन का कोई विरोध नहीं हुआ कि "भारत का समाजशास्त्र केवल पिछले दस वर्षों में ही ठीक तरह से आरंभ हुआ है।" सबसे दु:खद बात रॉबर्ट बीरस्टीड का कथन है जो समाजशास्त्र की जड़ों की प्लेटों और अरस्तू तक तलाशते हैं लेकिन अंतत: पूर्व में सामाजिक विचारों की परंपरा को खारिज करते हैं। बीरस्टीड लिखते हैं "यद्यपि मैं प्रांतीयतावाद की प्रजातियों का दोषी हो सकता हूँ; मैंने बौद्धिक इतिहास की पश्चिमी परंपरा के बाहर सभी समाजशास्त्रियों को अलग छोड़ दिया है। यदि क्षमा की आवश्यकता पड़ी तो यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक खास विषय के रूप में पूर्वी लोगों के मस्तिष्क में नहीं आया और वस्तुत: पूर्वी समाजशास्त्रीय विचार की कोई सामग्री या ग्रंथ नहीं है" (बीरस्टीड, 1959 : यू) ऐसा कहने वाले बीरस्टीड अकेले नहीं हैं। इस गलती को सुधारना होगा।

1.3 भारत में सामाजिक विचारों की विरासत

MADHYAM IAS

वास्तव में भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ को दर्शाने वाले विचारों की एक समृद्ध विरासत है। तीसरी शताब्दी बी.सी. (कोहन, 1960 : 4) से भारतीय समाज पर लिखित अभिलेख के रूप में टिप्पणियाँ मौजूद हैं। भारत के पास सहस्त्रों वर्ष पुरानी परंपरा है जो धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों में मौजूद है। इनमें मनुष्य और समाज की चर्चा है। कई निश्चित धारणाएँ मानव और समाज पर विचार-विमर्श करने की भारतीय परंपरा को पर्याप्त रूप से समझने में बाधा उत्पन्न करती हैं। (दुबे, 1977 : 2) सर्वप्रथम ऐसा माना जाता है कि जो भारतीय ग्रंथ समाज और इसके मूल्यों के बारे में विचारों की चर्चा करते हैं वे तत्वमीमांसा और नीति में गहराई से जुड़े हैं और इसीलिए सामाजिक यथार्थ से कोसों दूर हैं। उदाहरण के लिए बीरस्टीड लिखते हैं, "आशय यह महत्व की दृष्टि से ..... वे समाजशास्त्रीय कम और नीतिविषयक अधिक हैं, वे सही आचरण के निर्देश देते हैं इस बात के नहीं कि कौन-सा आचरण सही है और कौन-सा गलत..... संक्षेप में उनके लेखक समाज के विद्यार्थी नहीं बल्कि जाति के विधिवेता थे।" (बीरस्टीड, 1959 : xii) दूसरे, उन्होंने मानव और समाज के बारे में जानकारी के संबंध में अनुभवजन्य परंपरा के विकास की बहुत कम गुंजाइश छोड़ी थी। तीसरे, प्राचीन ग्रंथों की अखंड पवित्रता के प्रति सर्म्पण के कारण बाद में इसके आलोचनात्मक और स्वतंत्र विचारों पर निषेध का आरोप लगाया गया। (सी एफ बोटोमोर, 1962)

सच तो यह है कि प्राचीन ग्रंथ, शास्त्र एवं स्मृतियाँ अपने दार्शनिक और तत्वमीमांसात्मक विषय के बावजूद केवल सत्य की पारलौकिक वास्तविकता से संबद्ध नहीं है और वे समय की अस्तित्वपरक सच्चाई की उपेक्षा नहीं कर सकते। यद्यपि मनु के धर्मशास्त्र ने बहुत से आलोचकों को अप्रसन्न किया है, वह कोई आदर्शराज्य का मानक नहीं है बल्कि वह दर्शन पर आधारित एक ऐसे समाज की रूपरेखा है जो विचारावादी मानकीय दार्शनिक सिद्धांत से जुड़ा है, इसमें

समाज की संस्थाओं और मानवों के साथ जैविकीय संपर्क का अभाव है। यह शोध प्रबंध उस समय की सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त तत्वों के विस्तार से निष्कर्ष रूप में निकाल कर तैयार किया गया है। ये मान्यताएँ और सिद्धांत धर्म से संबंधित स्थान/देश, काल और पात्र पर आधारित हैं। धर्म को समझने के लिए केवल इसके दर्शन को समझना पर्याप्त नहीं था; इसे अच्छी तरह समझने के लिए इसका अनुभूतिजन्य संदर्भ भी महत्वपूर्ण था। इसके ठोस उदाहरण के लिए वह प्रसंग लिया जा सकता है जिसमें मनु ने उस समय के समाज में प्रचलित वर्ण संकरों के अधिकार (विभिन्न वर्णों के अभिभावकों से जन्म) का विस्तार से वर्णन किया है।

वर्ण व्यवस्था के समर्थन मनु ने उन लोगों के अधिकारों को एकदम से खारिज नहीं किया जो अरस्तू के फैशन के बाद वर्ण व्यवस्था के मानकों से विचलित हो गए थे, अरस्तू ने एथेनियन समाज में दासों को नागरिकता के अधिकारों से वंचित माना था। इसके अतिरिक्त यह अक्सर भुला दिया जाता है कि प्राचीन सामाजिक विचारों का क्षेत्र और प्रकार बहुत विस्तृत थे। धर्मशास्त्र के अलावा, इसने अर्थशास्त्र, कामशास्त्र वर्तशास्त्र (व्यापार और व्यवसाय से संबंधित) वस्तुशास्त्र (निर्माण से संबंधित) आदि शास्त्र दिए हैं, जो सांसारिक जीवन और सामाजिक सच्चाई से संबंधित हैं (भट्‌टाचार्य, 1990; सरकार, 1941)।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र जैसे शोध प्रबंधों में एक राजा के लिए नियमित आधार पर अपनी प्रजा तथा पशुओं की गणना करने का आग्रह किया गया है या चरकसंहिता (8वीं शताब्दी बी.सी.) में चिकित्सकों को सलाह दी गई है कि जो लोग उनके पास स्वास्थ्य लाभ के लिए आते हैं उनके मूल्यों, रीतिरिवाजों और मानकों का ध्यान रखें, प्राचीन भारतीय परंपरा में अनुभवजन्य आंकड़ों पर ध्यान न देने को गलत बताया गया है।

चरम सत्य या अन्य सांसारिक मुद्दों पर कई शास्त्रों में उद्‌घोषित चिंता के विरोध में **लोकायत** दार्शनिक या चार्वाक के अनुयायी जो संशयी और भौतिकवादी थे और निर्भीक रूप से इस चिंता की आलोचना करते थे। चरम सत्य की प्रचलित व्याख्या के संबंध में संशयवाद की खोज या इस अनुभूति से सोद्देश्य संबंधित धार्मिक अनुष्ठानों को छठी शताब्दी बी.सी. के उपनिषदों में ढूँढ़ा जा सकता है। बुद्ध के सामयिक अजीत केसाम्बकेलम ने संपूर्ण भौतिकवाद का उपदेश दिया।

ऊपर उल्लिखित सभी शोध प्रबंध या कार्यकलाप असंदिग्ध रूप से भारत में बौद्धिक परंपरा के अस्तित्व को दर्शाते हैं जिसमें सामाजिक दर्शन का उस समय के सामाजिक सत्य से गहरा संबंध था। छानबीन की भी पूरी स्वतंत्रता थी।

1.4 प्राचीन और अरबी-फारसी लेखों में समाजवृत्त

भारतीय संस्कृति और समाज को समझने के लिए अपेक्षाकृत ठोस अनुभवजन्य आधार बहुसंख्य यात्रियों और इतिहासकारों के आलेखों में इधर-उधर बिखरे हुए हैं। इन यात्रियों में ग्रीक, रोमन, यूनानी-ग्रीक, यहूदी और चीनी यात्री शामिल थे और सन 1000 ई. के बाद से अरब, तुर्क, अफगान और फारसी भी इसमें शामिल हुए। भारतीय समाज के ज्यादातर प्राचीन लेख चंद्रगुप्त मौर्य (324-300 बी.सी.) के राज दरबार में आए ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज का अनुसरण करते हैं। उसे भारत के हिस्सों को नजदीक से देखने का मौका मिला। उसने भारतीय समाज को सात वर्गों में विभाजित होते हुए देखा था, हालाँकि उसने वर्ण सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया है। तीन चीनी यात्रियों, फाहियान (सन 40-411 ई.), युआन च्वांग (सन 629-644 ई.), और आई-त्सिंग (ए डी सन 671-695 ई.) ने अपने समय में भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों का ज्यादा विस्तार से वर्णन किया है। यदि काल क्रमानुसार उनके लेखों का विश्लेषण किया जाए तो भारतीय समाज में परिवर्तन पर मूल्यवान परिदृश्य प्राप्त हो सकते हैं।

अरब यात्रियों में अल-बीरूनी (973 - सी. ए. - 1030) भारतीय विचार प्रणाली और उनके संस्कृत स्रोतों से ज्यादा परिचित प्रतीत होता है। उसने लोगों के सामाजिक जीवन और रीतिरिवाजों के अपने वर्णन में जाति की वर्णव्यवस्था का उल्लेख किया है। हिंदूओं की जाति केंद्रित अवस्था पर उसकी टिप्पणियों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण खोजा जा सकता है। मोरक्को

के अरब यात्री इब्नबतूता ने सन 1333 और सन 1347 ई. के बीच भारतीय लोगों के दैनिक जीवन, उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्था और भूमि के भूगोल के बारे में अमूल्य जानकारियाँ दी है। दक्षिण भारत के बारे में मार्को पोलो के इतिहास से उपयोगी जानकारियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, जिसने सन 1293 ई. के लगभग देश के उस हिस्से का भ्रमण किया और फरिश्ता के लेख से भी जिसने सन 1609 ई. में उपना भ्रमण पूरा किया। इन वृत्तांतों और ऐतिहासिक अभिलेखों को समाजवृत्त का कार्य माना जा सकता है क्योंकि इनके लेखकों ने जो देखा और जो सुना उसी का वर्णन किया है दूसरों से सुनकर नहीं। यूरोपीय यात्रियों द्वारा प्रदत्त लेखों पर भी यही मूल्यांकन लागू होता है।

सत्रहवीं शताब्दी में भारतीय-मुस्लिम विद्वानों ने संस्कृत साहित्य से बहुत-सा अनुवाद किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति और समाज को समझने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। आइने-अकबरी में अबुल फ़ज़ल ने जो सोलहवीं शताब्दी के अंत के गजेटियर (राजपत्र लेखक) हैं, अकबर के राजदरबार, राजस्व और प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन किया है, यह "एक अनुभववादी समतुल्य उत्कृष्ट कार्य है" (दुबे, ओ.पी. उद्धरण) उसने अकबर के साम्राज्य क विस्तृत आयाम का वर्णन किया, यहाँ तक कि उसने अहोम और दुर्लभ गोंड पर भी पर्याप्त ध्यान दिया। उनके कार्य से पता चलता है कि मुगलों ने अच्छी तरह से जान लिया था कि हिंदू समाज का संचालन-स्तर केवल चार वर्णों की सीधी-सादी व्यवस्था नहीं थी, वरन रिश्तेदारी पर आधारित कई श्रेणियाँ इसमें विद्यमान थीं। अबुल फ़ज़ल जैसे लेखक आधुनिक अर्थों में समाजशास्त्री या मानवविज्ञानी नहीं थे। बल्कि वे सामाजिक जीवन के सूक्ष्म प्रेक्षक और "अनुभूतिक्षम सामाजिक विश्लेषक" भी थे जिन्होंने समाजशास्त्र बनाने के लिए मूल्यवान सामग्री प्रदान की।

बॉक्स 1.01 : आरंभिक यूरोपीय यात्री

भारतीय सामाजिक व्यवस्था विशेष तौर पर जाति व्यवस्था को सबसे पहले प्रत्यक्ष रूप से देखने वाले पुर्तगाली साहसी, व्यापारी या प्रशासक थे जिन्होंने सबसे पहले मालाबार समुद्रतट पर अपना कार्य आरंभ किया। डुआर्ट बारबोस (1866, 1918, 1921) ने बिलकुल ठीक-ठीक जाति व्यवस्था की मुख्य सांस्कृतिक विशेषताओं की सूचना दी है जो आज की केंद्रीय तौर पर पहचानी जाती है। बारबोस ने तथ्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया और एक भारतीय भाषा सीखी। फ्रांसीसी व्यापारी और यात्री जीन बपतिस्त तवर्नियर, जिसने औरंगजेब के शासन का इतिहास लिखा है, उसने लोगों से बातचीत करके और अपनी आँखों से देखकर विभिन्न हिंदू विश्वासों धार्मिक कर्मकांडों, रीतिरिवाजों का विस्तार से वर्णन किया है। अब्राहम रोजर, जो कालीकाट, मद्रास में पहला डच पादरी था, उसने एक डच बोलने वाले ब्राह्मण से हिंदुत्व के बारे में अध्ययन किया।

1.5 ब्रिटिश शासन के आगमन के समय भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ

अठारहवीं शताब्दी के अंत में ब्रिटिश साम्राज की स्थापना ने ब्रिटिश अधिकारियों, मिशनरियों और पश्चिमी विद्वानों को भारत की प्राचीन भाषाओं को शीघ्र सीखने को प्रोत्साहित किया जिससे वे समाज की संरचना, मूल्यों और लोगों के तौर तरीकों को अच्छी तरह समझ सकें। इन गतिविधियों से स्थानीय बुद्धिजीवियों में जो खलबली पैदा हुई उसे तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं के आलोक में अच्छी तरह समझा जा सकता है।

जैसा कि गोपाल हलधर जैसे मार्क्सवादी विद्वान भारत की अपेक्षाकृत स्थायी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था की अनिवार्य विशेषताओं को रेखांकित करते हैं, जो ब्रिटिश समय तक कुछ-कुछ परिवर्तनों के साथ चलती आई थी, यह व्यवस्था कुछ इस प्रकार की थी :

1) **आर्थिक रूप से** : इसका आधार मुख्य रूप से कृषि था, यंत्रों या कार्यप्रणाली में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन उस समय तक नहीं हुआ था, कला और हस्तकला इस तरह से दीन-हीन उत्पादन के साथ विकसित हो रही थी।

2) **सामाजिक रूप से** : मुख्य रूप से इसका ढाँचा अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर समीपस्थ गाँवों के समूह का समाज था; विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्तरों और आरंभिक अवस्था वाले वर्गों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए जाति ही खास भारतीय संस्था थी, जिससे वे प्रत्येक समूह में बंधे हुए थे और प्रत्येक घटक के पास रोजगारपरक सुरक्षा थी।

3) **वैचारिक रूप से** : भारतीय संस्कृतिक की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसके समस्त धर्म और दर्शन का आधार कर्म और पुनर्जन्म था, इस वजह से आमतौर पर इसमें सामाजिक गत्यात्मकता और व्यक्तिगत प्रयास कम हो गए जिससे सुरक्षित सामाजिक स्थायित्व आया।

यह सत्य है कि नई संस्थाएँ और कानून में संवृद्धि हुई, यद्यपि साहित्य, कला और दर्शन धीरे-धीरे पल्लवित-पुष्पित हुए। इसके अलावा कम से कम मध्य काल से उप-महाद्वीप में क्षेत्रीय विभिन्नताएँ भी देखने में आईं। लेकिन गुप्त साम्राज्य के समय से सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था ने जिस चीज को प्रोत्साहन दिया उसे सामंतवादी संबंध कहा हा सकता है और मुस्लिम शासन के दौरान एक तरह की भारतीय सामंतवादी व्यवस्था विकसित हुई। सामाजिक-आर्थिक संबंध सामंतवादी व्यवस्था से इस तरह जुड़ गए कि इसके समाप्त होने तक यह संबंध बने रहे। लेकिन भारतीय व्यापारी वर्ग इतने कमजोर और डरपोक थे कि ज्यादा उत्पादन कि लिए कोई नई व्यावहारिक पूंजीवादी व्यवस्था और नए साधनों का विकास करने के लिए आगे नहीं आना चाहते थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटिश शासन ने अपने फायदे के लिए रेलवे, प्रेस शिक्षा की पश्चिमी प्रणाली, क्लब और एसोसिएशन (संघों) आदि का आरंभ किया जिसने तत्कालीन प्रचलित व्यवस्था को हिला कर रख दिया। ब्रिटिश लोग मानों "इतिहास के अवचेतन साधन थे" लेकिन उनके द्वारा आरंभ की गई शोषण की प्रक्रियाओं ने भारत में उद्योगों के विकास और आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की संभावनाओं को नष्ट कर दिया। इसके अलावा ब्रिटिश शासन ने सुव्यवस्थित ढंग से भारत में स्थानीय उद्योगों को नष्ट किया जिससे ब्रिटेन में स्थित उनके उद्योगों को फायदे हों और उन्हें भारत में बाजार मिल सके (देसाई, 1976; मुखर्जी, 1957)। हालाँकि इस प्रकार वे लोगों पर प्रतिबंध लगाना चाहते थे, इस तरह के शासन ने औपनिवेशिक पिछड़ेपन को जन्म दिया; इसने परंपरागत अर्थव्यवस्था और सामाजिक-सांकृतिक व्यवस्था को हटाकर भारतीय सीमा में नए ऐतिहासिक प्रभाव पैदा करने का प्रयास किया जो भारतीय व्यवस्था के प्रतिकूल था। इससे लोगों में भौतिक उन्नति और बेहतर सुख-साधन और लोगों में अच्छे जीवन स्तर की इच्छा जागृत हुई जिसने उन्हें समाज के समूहों से अलग कर दिया। इसी प्रकार इसने उन स्थानीय बुद्धिजीवियों के मन में जाँच-पड़ताल की भावना जगाई जो पश्चिमी शिक्षा के संपर्क में आए। समाज सुधारक और प्राचीन पंथियों दोनों ने अपने समाज और संस्कृति की पश्चिमी व्याख्या की प्रतिक्रिया में एक नया और समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति उनके विचार और व्याख्या तथा इनकी पश्चिमी व्याख्या और सरकारी अधिकारियों, विद्वानों और मिशनरियों द्वारा एकत्र आंकड़ों ने भारत में समाजशास्त्र की नींव रखी।

1.6 भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति तीन प्रमुख पाश्चात्य दृष्टिकोण

अठारहवीं शताब्दी के अंत में भारतीय यथार्थ की तीन पाश्चात्य व्याख्याएँ सामने आई; 1) प्राच्यविद्याविद्, 2) मिशनरी (धर्मप्रचारक), और 3) प्रशासनिक (कोहेन 1968; सिंह, 1979)। प्राच्यविद्याविद् भारतीय आध्यात्मिक परंपरा, पुराण, दर्शन आदि के प्रति मंत्रमुग्ध थे। ग्रंथों के प्रति उनकी आस्था भारतीय समाज का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करती है जो स्थायी, शाश्वत और स्थान से परे है। मिशनरियाँ, जो क्रिश्चियन धार्मिक परंपराओं की कट्टर अनुयायी थीं उन्होंने इसे सामाजिक-सांस्कृतिक और जातीय व्यवस्था के रूप में देखा जिसे समग्र धार्मिक पंरपराओं की जरूरत थी, और कुछ लोगों ने इसका समग्र धार्मिक रूपांतरण करने की भी जरूरत समझी।

दोनों समूह इस बात से सहमत थे कि हिंदुत्व को जितना उन्होंने अपने क्षेत्र में अनुभव किया वह 'अंधविश्वास' और 'कुप्रथाओं' से भरा हुआ था। यद्यपि प्राच्यविद्यार्थियों ने अपने समसामयिक भारतीयों की इस स्थिति को स्वर्ण युग की अवनति समझा। हालाँकि मिशनरियों ने भारतीय समाज के अनुभूतिपरक अध्ययन में बहुत कुछ जोड़ा जिसे प्रशासकों ने और सुदृढ़ किया। उन प्रशासकों ने जो ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित थे और उपयोगितावादी तर्कवाद के सिद्धांत को मानने वाले थे, भारत के यथार्थ की व्याख्या ज्यादा व्यावहारिक और ज्यादा वास्तविक तरीके से की। उनका उद्देश्य इसके संसाधनों का दोहन करने के लिए उसे अच्छी तरह समझना था।

प्रशासक श्रेणियों का विकास करना चाहते थे जिससे वे भारतीय लोगों के जीवन की विशेषताओं का वर्णन करने में आने वाली जटिलताओं से बच सकें और अपने विचारों तथा कार्यों को क्रमबद्ध रूप से अंजाम दे सकें। उदाहरण के लिए बी.एच. बैडेन-पॉवेल के **"दि लैंड सिस्टम ऑफ ब्रिटिश इंडिया (1892)"** के तीन खंड केवल आंकड़ों का संकलन नहीं है वरन् इसमें भारतीय गाँवों की प्रकृति और राज्य के संबंध में इसके संसाधनों और इन संसाधनों के बारे में तर्कों की श्रृंखला अंतर्निहित है। बैडेन-पॉवेल ने यह माना कि सामान्यत: भूमि पर दो प्रकार के दावे होते हैं एक राज्य का दूसरा काश्तकार का। उन्होंने स्वीकार किया कि सरकार प्रत्येक खेत के "खलिहान से वास्तविक पैदावार का एक हिस्सा राजस्व के रूप में वसूल करती है।" अपने हिस्से की वसूली को सुनिश्चित करने के लिए राज्य और अनाज पैदा करने वालों के बीच मध्यस्थों का एक विस्तृत क्षेत्र विकसित किया गया है। वे अपने कार्यकाल में अपने-अपने ढंग से खेल और उसकी पैदावार पर अधिकार/स्वामित्व के हिस्से का दावा करते थे।

बैडेन-पॉवेल ने हेनरी मैन के इस विचार का दृढ़ता से प्रतिरोध किया कि केवल एक प्रकार का भारतीय गाँव अर्थात् राजनीतिक तौर पर स्वायत्त और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय। पश्चिमी विचारकों जैसे मार्क्स और मेटकाफ को इन्होंने मंत्रमुग्ध कर रहा था, मेटकाफ ने तो यहाँ तक मान लिया कि "ऐसा लगता है कि वे (अर्थात् ग्रामीण समुदाय) कुछ भी न रहने पर भी जिन्दा रह सकते हैं। अपरिवर्तनशील ग्रामीण समुदाय का विचार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में समान्य सामाजिक सिद्धांत में शामिल हुआ। मार्क्सवादियों ने ब्रिटिश शासन को इतिहास का अवचेतन साधन की तरह देखा, जिसने अपरिवर्तनशील ग्रामीण समुदाय की नींव पर खड़े भारतीय समाज की गतिहीनता को तोड़ा। दूसरी तरफ भारतीय राष्ट्रवादियों ने आर.सी. दत्त के "इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया" (भारत का आर्थिक इतिहास) पर विश्वास किया जिसने यह मान्यता दी कि यह ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की कुदृष्टि थी जिसकी वजह से उन्होंने भारत को नीचा दिखाने के लिए कृषि से समृद्ध निर्बाध ग्रामीण गणतंत्र व्यवस्था को स्थिर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्थिति तक ले आए जिस पर साहूकार और लालची अस्वामी हावी थे।

बैडेन-पॉवेल के अनुसार भारत में दो भिन्न प्रकार के गाँव थे : (1) 'रैयतवारी' या गैर-जमींदार या अलग स्वामित्व वाले (2) भूस्वामी या जमींदार या संयुक्त गाँव, किंतु उन्होंने तथा मैनी और उनके बाद के अनुयायी दोनों ही सामाजिक आर्थिक रूपांतरण के विकास की विकासशील क्रमिक विस्तार अवस्थाओं में ही रुचि रखते थे। जाति की संस्थाओं के संबंध में भी गाँवों के प्रकारों और वर्गीकरणों को ध्यान में रखा गया। प्रशासकों ने उन्हें फायदेमंद पाया। उन्होंने विशिष्ट ज्ञान की जरूरत को कम किया। श्रेणियों को ध्यान में रखकर कार्य करना ज्यादा सुविधाजनक था। अव्यक्त रूप से, गाँवों के बारे में निश्चित या अवधारणात्मक सोच ने औपनिवेशिक नीति द्वारा उत्पन्न की गई गाँवों की अंदरूनी राजनीति तथा आर्थिक स्थिति और वास्तविक सामाजिक संबंधों की प्रकृति के सवाल से ध्यान हटा दिया। यद्यपि 1901 की अकाल आयोग जैसी रिपोर्टेंऔर चारों ओर फैले किसान दंगे तथा किसानों से साहूकारों तक खेतों के हस्तांतरण से इसके उपायों की खोज की जाने लगी और परिणामस्वरूप गाँवों में सामाजिक-आर्थिक स्थितियों की सरकारी जाँच की गई। हालाँकि कुछ जानकारियाँ प्राप्त की गईं, परंतु जमीनी सच्चाई को अनदेखा किया गया।

1.7 जाति और जनजाति के बारे में ब्रिटिशों का सरकारी नजरिया

1769 में, हेनरी वेरेल्स, बिहार और बंगाल के राज्यपाल ने स्थानीय लोगों में प्रमुख परिवारों और उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के अतिरिक्त उनके रीतिरिवाजों के बारे में सूचना एकत्र करने के महत्व पर जोर दिया। राजस्व अधिकारियों ने इस आदेश का पालन किया। कई महत्वपूर्ण ब्रिटिश अधिकारियों ने इस कार्य का अनुसरण किया। उदाहरण के लिए, फ्रांसिस बुचानन ने 1807 में मानव जाति संबंधी सर्वेक्षण किया। फ्रेंच मिशनरी एबे डुबोइस ने 1816 में **"हिंदू मैनर्स, कस्टम एंड सेरेमनीज"** (हिन्दू तौर-तरीके, रीतिरिवाज एवं समारोह) लिखा, जिसे समाजशास्त्री आज भी मूल्यवान मानते हैं (श्रीनिवास, 2000)। जातियों के अंतर-संबंधों की जाँच करने वाले वह पहले व्यक्ति थे। उनके कार्य से पहले मिलिटरी चैपलेन विलियम टैनेंट्स ने दो खेडों में कार्य किया, **"इंडियन रिक्रिएशंस : कंसिस्टिंग चीफली ऑफ रिस्ट्रक्चर्स ऑन दि डोमेस्टिक एंड रूरल इकॉनोमी ऑफ दि मोहम्डंस एंड हिंदूज (1806)"** अठारहवीं शताब्दी के मध्य और अंत में पश्चिमी लोगों का यह मिथक, "एक अविभाजित पूर्वी देश जिसके कानूनों और रीतिरिवाजों में सरलता झलकती है, यहाँ रहने वाले लोग आदिकालीन और सीधे सादे हैं" (गुहा, 1963 : 26) इस तरह के कार्यों में दिए गए अनुभवजन्य आंकड़ों से प्रकट होता है। स्पष्ट तौर पर कहा जाए तो यदि भारतीय समाज के बारे में अव्यवस्थित जानकारी जो थी वह कई अधिकारियों के प्रत्यक्ष अनुभव से संचित होने लगी जैसे कि मुनरों के मद्रास के भूमि निपटान से और एलफिंसटन के महाराष्ट्र के राजनयिक कार्यों से।

ब्रिटिश सरकार की 1861 की पहली अखिल भारतीय जनगणना से व्यवस्थित ढंग से आंकड़े एकत्र करने की शुरुआत का पता चलता है। 1901 में सर हर्बर्ट रिसले ने भारत का एक मानव जाति संबंधी सर्वेक्षण करना चाहा जिसे जनगणना के एक हिस्से के रूप में विकसित किया जा सकता है। उन्होंने निम्नलिखित आधार पर इस प्रस्ताव को उचित ठहराया :

1) इस तरह के सर्वेक्षण के योगदान से यूरोपीय समस्याओं का भारत में उपलब्ध उत्कृष्ट आंकड़ों से समाधान किया जा सकता था।

2) मानव जाति संबंधी आंकड़े, विशेष तौर पर जो आदिकालीन विश्वासों और प्रयोगों से संबंधित थे, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उनके लुप्त होने से पहले एकत्र करने की आवश्यकता थी।

3) इस तरह के आंकड़ों की अनिवार्यता न्यायिक प्रक्रिया, अकाल राहत, सफाई, संक्रामक रोगों के नियंत्रण और इसी तरह के कार्यों में हो सकती है।

ब्रिटिश सरकार ने अंत में 1905 में मानव जाति संबंधी सर्वेक्षण की स्थापना की माँग मान ली जिससे बड़े पैमाने पर आंकड़े प्राप्त किए जा सकते थे जो भारत में मानवविज्ञान और समाजशास्त्र के लिए मूल्यवान थे। प्रत्येक प्रांत में जनजाति और जाति पर खंड, जिला गजेटियर और अंततः भारत का साम्राज्य संबंधी गजेटियर (26 खंड, कलकत्ता 1908-09) इस सर्वेक्षण के हिस्से के तौर पर लिखे गए।

बॉक्स 1.02 : अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो नीति

विल्सन, रिसले, बार्नर्स, ब्लंट, ओ 'मैले, हट्टन और गुहा जैसे अधिकारियों के कार्य का धन्यवाद जिससे जनगणना, जन सांख्यिकीय अध्ययन और सामाजिक तथा सांस्कृतिक विश्लेषण के लिए भी अत्यंत मूल्यवान जानकारी का स्रोत बन गई। स्वतंत्रता के बाद इसकी विस्तार और गुणवत्ता और ज्यादा बढ़ गई। जनगणना सरकारी नीति का एक साधन भी बन गई। उदाहरण के लिए, 1901 की जनगणना के आयुक्त रिसले ने "जनजातियों की जाति में बदलने की प्रवृत्ति जिसका अर्थ था हिंदुत्व में शामिल होना के प्रति अफसोस प्रकट किया (श्रीनिवास और पाणिनी, 1973, 483)। इस तरह के प्रेक्षणों में हिंदुओं और अन्य समूहों तथा खंडों के बीच विभाजन पैदा करने के कीटाणु निहित हैं। यह महत्वपर्ण है कि जबकि

हिंदुओं के बीच जाति विभाजन को सावधनीपूर्वक दर्ज किया गया उसी तरह अन्य धार्मिक समूहों में इस तरह के विभाजन पर बराबर ध्यान नहीं दिया गया और "लगता है कि यह तथ्य भारतीय राष्ट्रवादियों की नजर में नहीं आया" (वहीं, 474)। अंत में प्रत्येक जनगणना में हिंदुओं के बीच जाति-विभाजन को बढ़ावा दिया गया, भारतीय राष्ट्रवादियों के अनुसार यह 'विखंडनवादी' था और इसीलिए उन्होंने इसकी निंदा की। स्वतंत्र भारत में जाति के आधार पर जनगणना में आंकड़े एकत्र करना समाप्त हो गया।

1.8 सामाजिक जाँच पड़ताल को बढ़ावा देने वाले संघों और संस्थाओं की वृद्धि

अपनी गंभीर सीमाओं के बावजूद भारतीय समाज में पश्चिमी रुचि से एक तरह की हलचल पैदा हुई जिसने उपमहाद्वीप में सामाजिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया (दत्तगुप्ता, 1972)। कई साहित्यिक और वैज्ञानिक संघों ने भारत में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में बौद्धिक परिदृश्य उपस्थित किए। इनमें सबसे ज्यादा उल्लेखनी थी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल जिसकी स्थापना 1897 में विश्व प्रसिद्ध संस्कृतिशास्त्री और भारतीय विद्याशास्त्री सर विलियम जोन्स ने की। इसने इतिहास, विज्ञान औा कला को मनुष्य ज्ञान की त्रयी बताया। इसने भारतीय विद्या, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक धर्मशास्त्र, तुलनात्मक न्यायशास्त्र, इतिहास और मानवशास्त्र में कार्यों को प्रोत्साहन दिया। इसकी व्याख्याओं और प्रकाशनों जिसमें एशियाटिक मिसलेनी भी शामिल है, सामाजिक संस्थाओं और समस्याओं का विस्तृत क्षेत्र मौजूद है। अकादमिक संघ बंगाल में 1828 में हेनरी डेरोज़िओ की प्रेरणा से आरंभ हुआ जिसने प्यारी चंद मित्र, दक्षिण रंजन मुखर्जी और के.एम. बैनर्जी जैसे युवाओं को उत्तेजित किया और साहित्यिक तथा दार्शनिक मुद्दों और सामयिक सामाजिक संस्थाओं और समस्याओं के संबंध में प्रश्न करने की भावना जगाई। एक लघु अवधि की किंतु सक्रिय "सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की सोसायटी" (838-1843) ने वेश्यावृत्ति, हिंदू विधवा और स्त्री शिक्षा जैसे विषयों की जाँच की। उस समय की दूसरी उल्लेखनीय सोसायटी 'तत्वबोधिनी सभा' भी कलकत्ता में ही थी। इसकी स्थापना 1839 में हुई थी। इसने सामाजिक स्थितियों और समस्याओं पर चर्चा की और कई स्थापित रीतिरिवाजों और संस्थाओं के बारे में जाँच-पड़ताल की। राममोहन राय (1777-1833), जिसे रवींद्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू ने भारत का पहला आधुनिक व्यक्ति कहा, महान् सामाजिक विचारक और सुधारक थे। उनके लेखों में प्रचुर मात्रा में समाजशास्त्रीय सामग्री थी (दत्तगुप्ता, 1972)। सती प्रथा के खिलाफ राममोहन राय का संघर्ष और धर्म, स्त्रियों की स्थिति और ग्रामीण समाज के प्रति उनके विचार ने कई प्रमुख कार्यों की प्रत्याशा जगाई जिसने बाद में भारतीय समाज को एक नया स्वरूप दिया। उस समय के अन्य उल्लेखनीय विचारक और सुधारक थे अक्षय कुमार दत्त (1820-1886) ईश्वर चंद्र विद्यासागर और प्यारी चंद्र मित्र। इस तरह के कार्यकर्ता केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं थे। योगेन्द्र सिंह ने स्वामी विवेकानंद (1863-1902), दादाभाई नौरोजी (1825-1917), लाला लाजपत राय (1865-1928), जे.जी. फुले (1827-1888) और एम.जी. रानाडे (1824-1901) और कई अन्य का उल्लेख किया है जो बौद्धिक और सामाजिक स्व-जागरूकता उत्पन्न करने में लगे थे और उन्होंने पश्चिमी सभ्यता एवं इसके औपनिवेशिक प्रसार की चुनौतियों का सामना करने के लिए समाज में आमूल सुधार करने का तर्क दिया (सिंह वाई. 2004 : 13 आदि)।

जहाँ तक कलकत्ता के अलावा कस्बों, शहरों और संघों का सवाल है, एस.सी. दूबे (1977 : 5-6) बताते हैं कि मुबई की साहित्यिक सोसायटी ने इस पर व्याख्या दी और अपने जर्नल **"मुंबई की साहित्यक सोसायटी का कार्य विवरण** (ट्रासऐक्शन ऑफ दि लिटररी सोसायटी ऑफ बॉम्बे)" में एक छोटे से कस्बे **लोन** का अनुभवजन्य सर्वेक्षण प्रकाशित किया। इस अंक में 'जंबूसर परगना' का एक अन्य तुलनात्मक सांख्यिकीय सर्वेक्षण प्रकाशित हुआ। **मद्रास जर्नल ऑफ लिटरेचर एंड साइंस** 1835 में आरंभ हुआ, इसमें ऐतिहासिक और धर्मशास्त्रीय अध्ययन तथा

शहरों और गाँवों के सर्वेक्षण भी प्रकाशित हुए। बनारस इंस्टीट्यूट की स्थापना 1861 में हुई और 1864 में इसे मान्यता मिली और प्रसिद्ध होकर इसने कार्य करना आरंभ किया। "सामाजिक प्रगति" पर इसके खंड ने धर्म शास्त्र और सामाजिक समस्याओं पर नियमित रूप से महत्वपूर्ण अभिपत्र प्राप्त किए। अवध वैज्ञानिक सोसायटी, लखनऊ भी सामाजिक समस्याओं से संबंधित थी। इससे पहले सैयद शराफुद्दीन ने "भारत के लिए समाजशास्त्र" शीर्षक से एक आलेख प्रस्तुत किया था। समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक सोसायटी 1869 में जयपुर में स्थापित की गई थी।

यद्यपि कलकत्ता में अन्य कस्बों और शहरों की अपेक्षा अधिक संघ थे। 1851 में स्थापित बेथन सोसायटी ने समाजविज्ञान के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। समाजशास्त्र को उन्नत करने और इसे "विज्ञान" का दर्जा दिलाने और इस तथ्य को मान्यता दिलाने के लिए कि यह मनुष्य के व्यावहारिक हितों से परिपूर्ण है, इसमें 1859 में समाजशास्त्र पर एक खंड आरंभ किया गया। रेवरेंड जेम्स लौंग ने इस सोसायटी के समक्ष एक अभिपत्र प्रस्तुत किया जिसमें स्थानीय लोगों की सामाजिक दशाओं से संबंधित विषयों पर 500 प्रश्न थे जिनकी जाँच आवश्यक थी। सामाजिक विज्ञान से संबंधित संस्थाओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय थी "बंगाल सोशल साइंस एसोसिएशन (1867-1878)। इसका उद्देश्य था "एकत्र करना, व्यवस्थित करना और वर्गीकृत करना। बंगाल की सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक दशाओं से संबंधित तथ्यों की श्रृंखला इसने प्रस्तुत की और इस प्रकार देश की भलाई और उन्नति में सहायता की" (दत्तगुप्ता, 1972 में उल्लिखित)। संघ की परिषद् में भारतीयों ने अपनी महत्पूर्ण सदस्यता हासिल की। प्रश्नावली के माध्यम से एसोसिएशन ने प्रचुर मात्रा में अनुभवजन्य आंकड़े एकत्र किए। इसकी बैठकों में प्रस्तुत अभिपत्र भी यह दर्शाते थे कि उन्होंने बंगाल और भारत के अन्य हिस्सों के बारे में तथ्यों को व्यवस्थित करने और उनके तार्किक विश्लेषण का प्रयास किया।

अन्य विचारणीय तथ्य था प्रत्यक्षवाद और इसके संस्थापक अगस्त कॉम्ट, जो भारतीयों से परिचित थे, विशेष तौर पर बंगालियों से, जैसे जोगेन्द्र चन्द्र घोष, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, प्रसिद्ध बंगाली साहित्यकार और बुद्धदेव मुखोपाध्याय जो पहले भारतीय लेखक थे, जिन्होंने सार्वभौमिक समाज विज्ञान जैसे विषय को विकसित करने की व्यवहार्यता की जाँच की और अन्य ऐसे ही लोग थे। बुद्धदेव ने जोगेन्द्र चन्द्र के इस दावे का तार्किक रूप से प्रतिवाद किया कि प्रत्यक्षवाद हिंदुत्व से श्रेष्ठ है। हालांकि प्रत्यक्षवाद ने समीक्षात्मक जाँच पड़ताल की भावना को सहारा दिया (फोर्ब्स, 1975)। हर्बर्ट-स्पेंसर, अंग्रेज समाजशास्त्री भी बंकिम, बुद्धदेव या विवेकानंद से अच्छी तरह परिचित थे। उनके विकासवाद या शिक्षा के सिद्धांत पर खूब शास्त्रार्थ हुआ।

कुछ समय बाद अर्थात् 1905 में श्यामाजी कृष्ण वर्मा जो अप्रवासी भारतीय थे और ब्रिटेन में राजनीतिक तथा सामाजिक क्रांतिकारी थे, हर्बर्ट स्पेंसर से बहुत गहरे प्रभावित थे, उन्होंने इंडियन सोशियोलॉजी (भारतीय समाजशास्त्र) नामक जर्नल प्रकाशित करना आरंभ किया था। परंतु उनके जर्नल ने समाजशास्त्र पर न तो एक शास्त्र के तौर पर प्रकाश डाला जैसा कि स्पेंसर ने प्रतिज्ञापित किया था, न ही इसने समाजशास्त्रीय श्रणियों में आने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दों की चर्चा की गई वे सामाजिक सुधारवाद और राजनीतिक प्रत्यक्षवाद का मिश्रण थे।

1.9 भारतीय बुद्धिजीवियों के प्रत्युत्तर और प्रतिक्रियाएँ

ऊपर वर्णित एसोसिएशनों और सोसाइटियों के अभिलेखों और स्थानीय बुद्धिजीवियों के लेखों की बारीकी से जाँच करने पर कई मनोरंजक प्रवृत्तियों का पता चलता है। भारतीय बुद्धिजीवियों का एक छोटा हिस्सा पूरी तरह पाश्चात्य से प्रभावित था; इसके विपरीत कुछ पारंपरिक विरासत की ओर झुके हुए थे। राममोहन राय या ईश्वरचंद्र विद्यासागर या ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारक तत्कालीन संस्थाओं का परिवर्तित कर और मानवीय स्थिति में ज्ञान। चाहते थे। जबकि

लगभग सभी सामाजिक परिस्थिति की अनिवार्यता और वांछनीयता को समझते थे। ज्यादातर के सामने न तो पश्चिम के तत्वों और विचारों को बिना समझे अपनाने या उनके आँख मुंदकर अस्वीकार करने का प्रश्न था। बंकिमचंद्र जैसे व्यक्ति खासकर बुद्धदेव अपनी परंपराओं की पुनर्व्याख्या करना चाहते थे और भारतीय समाज की पश्चिमी व्याख्या को चुनौती देना चाहते थे जिसने भारतीयों को विषय के तौर पर नहीं बल्कि वस्तु के तौर पर प्रस्तुत किया (रायचौधरी, 1978 भट्टाचार्य, 2004)। कुछ समय पश्चात ब्रजेन्द्रनाथ स्याल और विनय कुमार सरकार ने भी वही लीक अपनाई। पूर्ववर्ती मामलों में हम देख सकते हैं कि ब्रिटिश मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने विभिन्न समाजों और संस्कृतियों जिनमें भारतीय भी शामिल हैं, के प्रति तुलनात्मक विकासात्मक रवैया अपनाने की बजाए आलोचनात्मक और नाजायज रवैया अपनाया है जिससे अक्सर अन्य संस्कृतियाँ और समाजों की न केवल गलत छवि प्रदर्शित होती है बल्कि गलत मूल्य भी प्रदर्शित होते हैं (सिंह, 2004 : 1336-147)। स्याल ने इस बात का खंडन किया कि उन्होंने भारतीय सामाजिक और संस्कृतिक यथार्थ को ह्रासवादी, एक ही लीक पर चलने वाला और क्रांतिकारी के रूप में चित्रित किया है। सरकार ने यूरोपीय भारत विद्याशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के लेखों के प्रत्युत्तर में गहराई से लिखा, जिनके लेखन में स्पष्ट तौर पर प्राच्यविद्याविदों का चित्रण देखा जा सकता है, जिसमें हिंदुओं या भारतीयों को "किसी अन्य संसार का" या "शांतिवादी" दर्शाया गया है। विशेष तौर पर मैक्समूलर और मैक्सवेबर के हिंदुत्व और भारतीयों की संस्कृति और सामाजिक संरचना पर उनके योगदान की उन्होंने सख्त आलोचना की (भट्टाचार्य, 1990)। इसी प्रकार कई अन्य समाज वैज्ञानिकों, जैसे एस.वी. केटकर, एक.आर. वाडिया, के.पी. चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र नाथ दत्त (इस देश के प्रथम मार्क्सवादी समाजशास्त्री) और एम.के. बोस ने अपने आलेखों के माध्यम से इस देश में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र पढ़ाने एवं इसमें अनुसंधान करने का वातावरण तैयार किया। उनके आलेखों और गतिविधियों ने भारतीय सभ्यता और इसकी अलग सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहचान की ऐतिहासिकता के प्रति एक आम जागृति पैदा की जिसे पाश्चात्य विद्वानों, भारतीय विद्याविदों और समाजशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया जिसकी केंद्रिकता को लगभग नकार दिया गया था। इन आरंभिक समाजविज्ञानियों के लेखन ने भारतीय शिक्षाविदों और बुद्धिजीवियों पर बहुत गहरा प्रभाव डाला जिससे समाजशास्त्र के पठन और अनुसंधान की वैधता प्राप्त हुई। भारतीय अतीत की खोज और पुरातनता तथा समृद्धि, इसकी विरासत की परिवर्तनीयता ने आभिजात्यों को आत्मविश्वास और राष्ट्रीय मिथक बनाने में सामग्री प्रदान की। यूरोपीय मिशनरियों की हिंदुत्व की आलोचना और गरीब तथा निम्नवर्ग तथा जनजातीय हिंदुओं के ईसाई धर्मांतरण ने नए आभिजात्य वर्ग की राष्ट्रीय भावनाओं को आहत किया। सामाजिक और धार्मिक सुधार, अतीत की पुनर्व्याख्या, पहचान का निश्चय और वर्तमान की जाँच की अति आवश्यकता थी। समाजशास्त्र के उद्गम की आधारभूमि तैयार हो रही थी।

1.10 आरंभिक समाजशास्त्रीय प्रारंभ

कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर तथा दुर्खीम भारतीय समाज एवं संस्कृति के अपने विश्लेषण के लिए भारत पर ब्रिटिश और महाद्वीप के लेखों पर निर्भर थे। **टोडा** (1906) का डब्ल्यू.एच.आर. रीवर का अध्ययन गहन क्षेत्रीय अध्ययन पर आधारित था और वह आधुनिक मानवविज्ञान की परंपरा में भारत के लोगों पर पहला विनिबंध था। उनके दो विद्यार्थियों, जी.एस.घर्रे और के. पी. चट्टोपाध्याय ने भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रीवर का अध्ययन ए.आर. रैडक्लिफ ब्राऊन के अंडमान द्वीपवासियों के अध्ययन पर आधारित था। पहले दो दशकों के दौरान, दो भारतीय विद्वानों, एल.के. अनंतकृष्ण अय्यर और एस.सी राय ने मानवविज्ञान में अपनी पहचान बनाई हालांकि उन्होंने इस शास्त्र में कोई औपचारिक प्रशिक्षण नहीं लिया था। बिहार की जनजातियों के बीच उनके शोध कार्य के अतिरिक्त राय ने प्रसिद्ध पत्रिका **'मैन इन इंडिया'** (भारत का आदमी) की नींव रखी और इसका संपादन किया। अय्यर को उनके मानवशास्त्रीय लेखन के कारण कलकत्ता विश्वविद्यालय

में मानवजाति विज्ञान में प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति मिली जिससे भारत में मानवशास्त्र का पहला विभाग खुलने का रास्ता तैयार हुआ।

भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र को शास्त्र के रूप में आरंभ करवाने का श्रेय ब्रजेन्द्रनाथ स्याल के प्रयासों को जाता है, इसलिए उनके नाम का विशेष उल्लेख अनिवार्य है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के तौर पर उन्होंने जो लिखा, जो व्याख्यान दिए और जो अध्ययन आरंभ किए उन्हें "तुलनात्मक समाजशास्त्र" कहा। उन्होंने वैष्णववार पर तुलनात्मक अध्ययन किया और प्रजातिमूल पर एक अभिपत्र तथा **'पॉजिटिव साइंसेज ऑफ ऐंशिएंट हिंदूज'** (प्राचीन हिंदूओं के सकारात्मक विज्ञान) पर एक शोध निबंध लिखा (1858) (1914-1920)। उन्होंने तर्क दिया कि सामाजिक विकास बहुआयामी होते हैं और सामाजिक रीतिरिवाजों और संस्थाओं की श्रेष्ठता या न्यूनता का कोई अर्थ नहीं होता। उन्होंने माना कि सामाजिक संस्थाओं का अच्छी तरह अध्ययन केवल प्रजाति, धर्म और संस्कृति के संदर्भ में किया जा सकता है। 1914 में मैसूर विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में स्याल और ए.आर. वाडिया ने मिलकर वहाँ सामाजिक दर्शन और समाजशास्त्र का आरंभ किया। स्याल ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी 1907 में समाजशास्त्र के अध्ययन का आरंभ किया। विनय कुमार सरकार और राधाकमल मुखर्जी दोनों स्याल के विद्यार्थी थे और इस विषय को पढ़ाया जबकि वहाँ समाजशास्त्र का कोई अलग विभाग नहीं था। वस्तुत: समाजशास्त्र की पहचान भारतीय विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बहुत बाद में हुई।

समाजशास्त्र और नागरिकशास्त्र का पहला विभाग मुंबई विश्वविद्यालय में 1919 में सर पैट्रिक गेडे के नेतृत्व में आरंभ हुआ, हालाँकि यहाँ भी समाजशास्त्र पहले अर्थशास्त्र में एम.ए. के एक हिस्से के रूप में पढ़ाया जाता था (श्रीनिवास और पाणिनी, 2002)। गेडे का मुख्य ध्यान सामाजिक सच्चाई को नैतिक, सामुदायिक, सार्वभौमिक और बहुशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखने पर था (सिंह, 2004 : 1383)। उन्होंने माना कि "आज हमारी सबसे बड़ी जरूरत जीवन को पूर्णता में लेने की, उसके सभी पहलुओं को उचित संबंधों में देखने की है; किंतु हमें जीवन को व्यावहारिक और दार्शनिक तरीके से एकीकृत नजरिए से देखना चाहिए" (मैरेट, 1957 : xii)। इस देश में उन्हें शहरों के नियोजन और शहरों की बिगड़ती हालत की समस्या पर जोर डालने में रुचि लेने के लिए जाना जाता है। कलकत्ता, इंदौर और दक्षिण भारत के मंदिरों के शहरों के नियोजन की रिपोर्ट में कई महत्वपूर्ण जानकारियाँ हैं और शहरों के असंगठन तथा उनके नवीकरण की समस्याओं के प्रति तीव्र जागरूकता को दर्शाती हैं। "घाटी खंड" का उनका विश्लेषण तथा समाज में क्षेत्रीय संस्कृतियों के विकास की व्याख्या के लिए "कार्य, स्थान तथा लोक" के आपसी संबंध पर विचार, उन पर फ्रांसीसी समाजशास्त्री ली प्ले तथा उनकी "कार्य, स्थान और परिवार" की श्रेणियों का बहुत गहरा प्रभाव दशाते हैं। गेडे क्षेत्रीय और भूमंडलीय स्तरों पर सामाजिक और सांस्कृतिक आवासों के नियोजन में शहरी जीवन और पारिस्थितिक जागरूकता के पुनरूद्धार पर बल दिया।

मुंबई विश्वविद्यालय में अपनी अल्प अवधि के कारण, गेडे का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अनुभवजन्य पद्धतियों का दार्शनिक तरीके का विशाल सम्मिश्रण है जिसे संस्थागत रूप नहीं दिया जा सकता है। इसके बावजूद भारत में समाजशास्त्र के विकास पर गेडे कार्य का प्रभाव उनके विद्यार्थियों जी.एस. घुर्रे और एन.ए. थूथी ने विशेष तौर पर श्रीनिवास को माना और गेडे के अनुसंधान कार्य को ऑक्सफोर्ड में डॉक्टरेड प्राप्त करने के बाद मंबई लौटने पर आगे बढ़ाने का प्रयास किया (श्रीनिवास एवं पाणिनी, वही : 488)। राधाकमल मुखर्जी जो भारत में समाजशास्त्र विद्यापीठ, लखनऊ के प्रवर्तक थे, भी गेडे से प्रभावित थे, वे उनके संपर्क में शहरी सर्वेक्षण के समय आए। बाद में मुखर्जी ने सामाजिक परिस्थितिकी और औद्योगीकरण के समाजशास्त्री व प्रभाव पर अध्ययन किया। जी.एस. घुर्रे को गेडे ने यूनाईटेड किंगडम (यू.के.) भेजा। उन्होंने कैम्ब्रिज से मुख्यत: जाति पर अपने कार्य के लिए डॉक्टरेट प्राप्त किया। उनके देश लौटने पर मुंबई विश्वविद्यालय में उन्हें स्थान मिला जहाँ बाद में कुछ वर्षों बाद वे प्रोफेसर

और समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बने। उनके नेतृत्व में, देश में घुर्रे के पास देश के सभी हिस्सों के विद्यार्थी थे; उनमें से कुछ सक्रिय विभागों के अध्यक्ष थे और उन्होंने महत्वपूर्ण पुस्तकें और अभिपत्र लिखे। घुर्रे ने स्वयं विभिन्न विषयों पर प्रचुर मात्रा में लिखा। घुर्रे के संस्कृत-ज्ञान की वजह से वे भारतीय समाज और संस्कृतिक की व्याख्या और विश्लेषण में धर्मग्रंथों और महाकाव्यों का इस्तेमाल करने में सक्षम हुए। उन्होंने इसमें स्थल पर कार्य करने पर जोर दिया क्योंकि वे स्वयं एक पहुँचे हुए समाजशास्त्री थे।

बॉक्स 1.03 : जी. एस. घुर्रे (1893-1984)

घुर्रे कैथेलिक थे और इसकी पद्धतियों को वे पसंद करते थे। उनके कुछ विद्यार्थी के. एम. कपाड़िया, इरावती कर्वे और एस.वी. करंदीकर उनके दृष्टिकोण और अवधारणाओं को धार्मिक पाठों और अन्य साहित्य को संस्कृत में लाए। एम.एन. श्रीनिवास जो संरचनात्मक प्रयोजनवादी थे, ए.आर. देसाई जो मार्क्सवादी थे, ने घुर्रे के पर्यवेक्षण में समाजशास्त्र में पी. एच.डी. प्राप्त की। घुर्रे ने 1952 में "भारतीय समाजशास्त्रीय समाज" (इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी) की स्थापना की और इसकी पहली पत्रिका समाजशास्त्रीय बुलेटिन (सोशियालॉजिकल बुलेटिन) के पहले संपादक बने।

राधाकमल मुखर्जी, ध्रुवज्योति प्रसाद मुखर्जी और मानवशास्त्री डी.एन. मजूमदार के योगदान की वजह से लखनऊ विश्वविद्यालय समाजशास्त्र और मानवविज्ञान का दूसरा केंद्र बना, ये सभी कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित विद्यार्थी थे। इस तरह की प्रतिभाओं पर केंद्रीकरण के बावजूद समाजशास्त्र को लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विभाग में न्यून स्थान प्राप्त हुआ। राधाकमल मुखर्जी, ब्रजेन्द्रनाथ स्याल, विनय कुमार सरकार और पैट्रिक गेडे से बहुत अधिक प्रभावित थे। अपने आरंभिक कार्यों में वे अपने अनुभवों पर आधारित क्षेत्रीय और पारिस्थितिक समाजशास्त्र बनाना चाहते थे। वास्तविकता को बेहतर तरीके से समझने के लिए बहुविषयक प्रयासों की आवश्यकता पर उन्होंने जोर दिया। उन्होंने आश्चर्यजनक विभिन्नता लिए हुए सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विषयों और दार्शनिक मुद्दों पर कार्य किया और लिखा। उनके **फील्ड एंड फार्मर्स ऑफ अवध** (1930) (अवधि के खेत और किसान, 1930) ने कृषि संबंधी अध्ययन का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतीय श्रमिक वर्ग पर भी लिखा। उन्होंने मनुष्य के प्रवास और अधिवास का एक सिद्धांत विकसित किया जिसमें उन्होंने तर्क दिया कि मानवीय प्राणी पौधों की तरह अपनी ही सीमा में अपने परिचित पर्यावरण में अच्छी तरह फलते फूलते हैं, जिसमें वे आरंभ से ही पले बढ़े होते हैं। उनका क्षेत्रीय विश्लेषण "संघ" की धारणा से व्याप्त था जिसने यह दर्शाया कि हिंदू धर्म में युद्ध की बजाए जनसाधारण और सहयोग की धारणा प्रबल है। उनके मिथक, भाषा, रीतिरिवाज, कला और प्रतीकवाद के महत्व पर जोर ने उनके कार्य को प्रकाशित किया, श्रीनिवास के अनुसार "यदि रहस्यवादी नहीं तो दार्शनिक" (वही : 490)। किंतु योगेन्द्र सिंह, जो मुखर्जी के प्रत्यक्ष विद्यार्थी थे, उन्होंने लिखा है, कि मुखर्जी ने समाजशास्त्र को जो योगदान दिया है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण है, "भारतीय दार्शनिक परंपराओं के परिप्रेक्ष में समाज विज्ञान और समाजशास्त्र के सामान्य सैद्धांतिक आयाम का प्रतिपादन" (सिंह, 2004 : 142)। इस प्रकार उन्होंने समाजशास्त्र में पाश्चात्य सैद्धांतिक दृष्टिकोण का विकल्प देना चाहा।

डी.पी. मुखर्जी भी राधाकमल की तरह भारतीय समाज के अध्ययन के लिए मान्य सैद्धांतिक और अवधारणात्मक योजनाओं तक पहुँचने के लिए भारतीय परंपरा और दर्शन की प्रासंगिकता को स्वीकार करते हैं। लेकिन राधाकमल की तरह डी.पी. मार्क्स के योगदान को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते, विशेष रूप से भाषा संबंधी तर्क, जो सामाजिक प्रक्रियाओं में संघर्ष और प्रतिवाद की प्रक्रियाओं की कंद्रिकता प्रतिज्ञापित करता है। उन्होंने भारतीय मध्यवर्ग के कार्यकलाप और विचारों की शून्यता के बारे में बताया जो पश्चिमी विचारों का अंधानुकरण कर रहे थे, इनमें पार्सोनियन और मार्क्सवादी भी प्रकारांतर से शामिल हैं। उन्होंने पाश्चात्य, पार्सोनियन परंपराओं के विरूद्ध उस व्यक्ति के तौर पर अपनी धारणा रखी जो समाज में अन्य लोगों से

संपर्क करने के लिए अपने को जिम्मेवार समझता हो, और अपनी सशक्त परंपरा से निर्देशित हो। उन्होंने उन लोगों की निंदा की जो भौतिक लाभ के लिए पाश्चात्य या पार्सोनियन परंपरा को अपना रहे थे (भट्‌टाचार्य और अन्य 2003)। डी.पी. के "परंपरा के अध्ययन के बारे में यही विचार संकल्प और समर्पण के साथ नहीं मान गए।" (दूबे, 1977 : 9)।

डी.एन. मजूमदार, जो प्रशिक्षण द्वारा मानवशास्त्री बने थे, सांस्कृतिक परिवर्तन की समस्या के प्रति चिंतित थे। उन्होंने कहा कि "अपने सामाजिक संबंधों के विशेषीकृत ज्ञान से एक समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन में सहायता कर सकता है, उसकी भविष्यवाणी कर सकता है, उसे नियंत्रित कर सकता है और निर्देशित कर सकता है और "सामाजिक प्रगति को गति दे सकता है"। उन्होंने "मानवजाति विज्ञान और लोक संस्कृति सोसायटी" और इसकी त्रैमासिक पत्रिका **"दि ईस्टर्न एंथ्रोपोलोजिस्ट"** (पूर्वी मानवशास्त्री) की स्थापना की। मानवशास्त्र पर स्थलीय कार्य और संस्कृति पर विशेष बल देने के कारण उनके विद्यार्थी जैसे टी.एन. मदान, आर.के. जैन, गोपाल सरना या टी.एन. पंडित भारतीय समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में महत्वपूर्ण नाम हुए।

ए.आर. वाडिया, मैसूर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के शिक्षण के संस्थापक, समाजशास्त्र को अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र के रूप में देखते हैं। इस विश्वविद्यालय को समाजशास्त्र को सर्वप्रथम बी.ए. स्तर पर विषय के तौर पर 1928-29 में शिक्षण आरंभ करने का सम्मान प्राप्त है।

इरावती कर्वे के नेतृत्व में डेक्कन कॉलेज और पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे के परिसर में 1930 में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान का संयुक्त विभाग आरंभ हुआ। कर्वे, जो प्रसिद्ध कार्य "किनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया (1952)" (भारत में नातेदारी का संगठन) की लेखिका ने देश के विभिन्न हिस्सों में गहन स्थलीय कार्य किया और उनके संस्कृतज्ञान से उन्हें धार्मिक ग्रंथों, महाकाव्यों और विधि की पुस्तकों से आंकड़े लेने में आसानी हुई। पुणे विश्वविद्यालय का समाजशास्त्र विभाग डेक्कन कॉलेज के समाजशास्त्र विभाग का उत्तराधिकारी था और विरासत में मिला था।

उस्मानिया विश्वविद्यालय ने 1928 में समाजशास्त्र को बी.ए. स्तर पर विषय के रूप में विकल्प के तौर पर आरंभ किया। लेकिन पूर्ण रूप से 1946 में समाजशास्त्र विभाग के तौर पर वहाँ आरंभ किया गया। क्रिस्टोफ वॉन फ्यूरर-हेमेन्ड्रॉफ और एस.सी. दुबे इस विभाग से जुड़े थे।

इस देश में समाजशास्त्र के आरंभ की कहानी में निर्मल कुमार बोस के योगदान का भी उल्लेख करना होगा हालाँकि वे स्वतंत्रता संग्राम में जेल में रहने की वजह से ज्यादा समय तक शिक्षण संस्था की सेवा नहीं कर सके। कलकत्ता में मानवशास्त्र में लेक्चरर के रूप में शरुआत करने के बाद वे भारतीय मानववैज्ञानिक सर्वेक्षण के निदेशक और अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग, भारत सरकार के आयुक्त के पद पर भी रहे। मूल रूप से बोस भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विद्यार्थी थे। उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक था, किंतु उन्होंने बिना किसी पूर्व निर्णय के शोधार्थियों से स्थलीय कार्य करने का आग्रह किया। उनकी रुचियों में जनजातियों का जीवन, कृषक समाज और शहरी केंद्र तथा मंदिर और तीर्थस्थल शामिल थे। उन्होंने यह दिखाना चाहा कि उत्पादन संबंधों में जाति प्रथा का अस्तित्व और इसमें होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या की गई है (बोस, 1968 और 1975)। उन्होंने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक सांस्कृतिक विशेषताओं के वितरण के अध्ययन के माध्यम से भारतीय कृषक जीवन में एकता और विभिन्नता प्रदर्शित की। उन्होंने इस तथ्य के प्रति चिंता व्यक्त की, कि उदयमान मध्यवर्ग में अपने सांप्रदायिक लाभों को सुदृढ़ बनाने के लिए उनमें संकुचित निष्ठा प्रबल होती जा रही थी। गांधीवादी होने के कारण उन्होंने गांधीवाद का समीक्षात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने अपने विद्यार्थियों और सहयोगियों के मस्तिष्क में प्रश्न पूछने की भावना मन में बैठाई। (बिफेल, 1075)।

वे सभी विद्वान जो भारत में जनजातियों के लेखे-जोखे में रुचि रखते हैं उन्हें वैरियर एल्विर का उनके मध्य प्रदेश की बैगा, मूरिया और अगारिया तथा उड़ीसा की सौरा जनजातियों पर मूल्यवान विनिबंध के लिए ऋणी होना पड़ेगा। यह सब उनके प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।

लेकिन भारतीय समाजशास्त्री और मानववैज्ञानिक जनसाधारण के अति प्रगतिशील हिस्सों की भारतीय जनजातियों की सुरक्षा के लिए उनके मतों का अनुसरण करने में असफल रहे। ऐसा लगा कि जनजातियों के लिए एक "एकाकीवादी नीति" को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इसके बारे में आपको और ज्यादा जानकारी इस पाठ्यक्रम के खंड 5 की, इकाई 3 में **जनजातियों के परिप्रेक्ष्य** में मिलेगी।

1.11 समाजशास्त्र और स्वतंत्र भारत

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान का अध्ययन धीरे-धीरे 1910-1950 के दोरान वृत्तिक रूप ले सका। आधे दर्जन से ज्यादा विश्वविद्यालयों में इन दोनों विषयों पर स्वायत्त विभाग नहीं थे और मुंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में केवल एक स्नातकोत्तर अनुसंधान केंद्र था (जिसमें मानवशास्त्र भी शामिल था) जब भारत स्वतंत्र हुआ। समाजशास्त्र और मानवविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की छाया में दब रहा था, इनके प्रयोगकर्ता देश के राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा पूछे गए प्रश्नों का जवाब देने में स्वयं को सक्षम समझते थे। समाजशास्त्र के यूरोपीय और अमेरिका परंपराओं के साथ सहयोग से भारतीय शिक्षाविदों की आँखों में संदेह था। मानवविज्ञान को राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक नीति (श्रीनिवास, 2003 : 495) के एक साधन के रूप में देखा। मानवशास्त्र को नापसंद करने का एक और कारण था। मानवविज्ञानियों द्वारा पढ़ने के लिए प्रायः यह सुझाव दिया गया कि जिन्होंने अध्ययन कर लिया है उन्हें मौलिक माना जाएगा और राष्ट्रवादी इस आशय से प्रसन्न नहीं हुए खास तौर से तब जब मानवशास्त्री ज्यादातर उन्हीं की प्रजाति के थे। लेकिन इस रूखेपन के बावजूद, प्रतिकूल नहीं परंतु बौद्धिक वातावरण में विद्वानों का एक छोटा समूह अपने जाति, संयुक्त परिवार, अस्पृश्यता, धर्म और वर्ग जैसे मूलभूत सामाजिक संस्थाओं के विश्लेषण में लगा रहा। उन्होंने खास समूहों के मानवजाति विज्ञान संबंधी लेखा-जोखा प्रकाशित किया, लोक वार्ता दर्ज की और इस सामग्री को जनजातीय एवं ग्रामीण लोगों की संस्कृति के रूप में दर्शाया। भारत में समाजशास्त्र कम-से-कम शिक्षाविद रूप से इनके कार्यों के परिणामों के आधार पर खड़ा हो सकता है।

MAADHYAM IAS

सोचिए और करिए 1.1

विभिन्न मानवजातीय/सामाजिक-सांस्कृतिक/वर्ग पृष्ठभूमि वाले कम से कम तीन लोगों से साक्षात्कार। उन्हें कहें कि आप उनके "वैवाहिक रीतिरिवाजों" और "धार्मिक व्यवहारों" के बारे में जानना चाहते हैं। अपने पास साक्षात्कार किए जाने वाले व्यक्ति से पूछे जाने वाले प्रश्नों का एक सेट रखें। किंतु चुपचाप इस अनुरोध पर उस व्यक्ति की प्रतिक्रिया को ध्यान से देखें।

एक दो पृष्ठों की टिप्पणी "सामाजिक जाँच-पड़ताल के बारे में आम आदमी की सोच" पर लिखें। अपने अध्ययन केंद्र पर दूसरे विद्यार्थियों से अपनी टिप्पणी की तुलना करें।

स्वतंत्र भारत एक समर्थ समाज का सपना देख रहा था जो आर्थिक रूप से विकसित हो जैसा कि औपनिवेशिक सरकार के रहते हुए स्वतंत्रता सेनानियों ने वादा किया था। यह समझने के लिए कि लाखों भारतीयों की अपने असंख्य विश्वासों और मूल्यों के साथ नए राष्ट्र के विकास के आह्वान पर क्या प्रतिक्रिया होगी, यह जरूरी था। इस कार्य के लिए प्रभावी सहायता हेतु समाजशास्त्र का भी वादा था। देश में नियोजित विकास करना और राष्ट्रीय योजना आयोग का निर्माण जिसने बाद में अनुसंधान कार्यक्रम समिति का गठन किया, इस समिति में पूरे देश के लोगों के जीवन और कार्यकलापों के बारे में विश्वसनीय आंकड़ों की मांग उत्पन्न हुई। समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए नए अवसर उपलब्ध हुए। पूरे देश में समाजशास्त्र के अलग विभाग खुल गए।

1.12 सारांश

भारत में समाजशास्त्र के आरंभ का इतिहास देखने से यह भ्रांति दूर हो जाती है कि इस देश में सामाजिक जाँच-पड़ताल या स्त्री पुरुषों की भौतिक स्थितियों के बारे में जानकारी लेने की कोई परंपरा या रुचि नहीं थी। तत्वमीमांसात्मक और अन्य संसार की धारणा के अतिरिक्त प्राचीन और मध्य युग के ग्रंथों में कई मामले ऐसे हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि उनके लेखकों को पृथ्वी पर मुनष्य के जीवन की सच्चाई और उनकी समस्याओं के बारे में रुचि थी। अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय पाश्चात्यों के सीधे संपर्क में आए इससे पूर्व, विभिन्न प्रजातियों के यात्री और स्थानीय इतिहास लेखक जिन्होंने भारतीय समाज, संस्कृति और अर्थव्यवस्था के बारे में मूल्यवान दस्तावेज तैयार किए। यह सत्य है कि किसी स्तर पर ऐसा लग रहा था कि समाज ने अपनी सामर्थ्य खो दी है क्योंकि कुछ संस्थाएँ और रीतिरिवाज स्थायी हो गए थे और समय में परिवर्तन के साथ उन्हें बदलना भी जरूरी हो गया, लेकिन वे बदल नहीं रहे थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने इन्हें एक झटका दिया। किंतु नए ऐतिहासिक बल अंग्रेजीशासन की शोषणात्मक नीति के कारण, अपनी पूरी शक्ति से काम नहीं कर रहे थे या नहीं कर पा रहे थे। हालाँकि उन्होंने भारतीय जनता की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों के संबंध में वृहत आंकड़े तैयार किए। किंतु उन्होंने उसमें हेराफेरी करके अपने हितों के लिए इस्तेमाल किया।

अंग्रेजों ने व्यक्तिवादी मूल्यों पर जोर दिया, अपने व्यक्तिगत हितों के लिए कभी-कभी उन्होंने अपने ही समाज की उपेक्षा भी की। हालाँकि यह सच है कि अंग्रेज इस देश में जाँच पड़ताल की स्वतंत्रता का मूल्य और औचित्य लेकर आए। उनके शिक्षाविद उपनिवेशवाद ने स्थानीय बुद्धिजीवियों के एक वर्ग को मोहित कर रखा था जबकि अन्य इस पर प्रश्न कर रहे थे। हालाँकि उनके अपने समाज में जाँच-पड़ताल की भावना और संस्कृति ने भारतीय बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क में उत्तेजना पैदा की। अनुभवजन्य आंकड़ों तक पहुँचने की इस रुचि और प्रश्न पूछने की भावना ने भारत में समाजशास्त्र उद्गम का आधार तैयार किया।

अब भी भारतीय समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों पर अकादमिक उपनिवेशवाद का साया मंडरा रहा था और वे अपने आपको अंतरराष्ट्रीय संदर्भ समूह के प्रति आभारी समझते हैं। चूँकि समाजशास्त्र पश्चिम से आया है इसलिए आरंभिक दिनों में यह केवल प्राकृतिक प्रतीत होता है। लेकिन लंबे समय तक इसके बने रहने से इसके शस्त्र के तौर पर विकास में यह नुकसानदेह साबित हो सकता है। अग्रणी लोगों के बीच राष्ट्रवादियों की यह सोच अधिक मुखर थी कि अवधारणाओं और सिद्धांतों के प्रतिपादन में इसने कोई समृद्धि प्रदर्शित नहीं की। उनके विद्यार्थी और अनुयायी समाजशास्त्र में अंतरराष्ट्रीय विकास तक व्यापक पहुँच रखते हैं और विश्वविद्यालयों तथा अनुसंधान संस्थाओं में उनके स्थान सुरक्षित हैं, यह उन लोगों के अंत में किए गए श्रम और समर्पण का परिणाम है। ऐसा लगता है कि उन लोगों ने अन्य देशों के लोगों से तुलना करने से पहले भारतीय लोगों की विशिष्टता को समझने का प्रयास नहीं किया वरन् इसकी उपेक्षा की। हो सकता है इसी वजह से हम आज भी भारतीय समाजशास्त्र की बात नहीं कर सकते।

1.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मुखर्जी, रामकृष्ण, 1979, *सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी,* एलाइड पब्लिशर्स, मुंबई।

सिंह, योगेन्द्र, 1979, *"ऑन दि हिस्ट्री ऑफ सोशियोलॉजी इन इंडिया"* इन मोहिनी मलिक (संपादित) सोशल इंक्वायरी : गोल्स एंड एप्रोचेज, मनोहर, दिल्ली।

श्रीनिवास, एम.एन. एंड पाणिनी, 1986, *"दि डेवलपमेंट ऑफ सोशियोलॉजी एंड सोशल ऐंथ्रोपॉलोजी इन इंडिया"* इन टी.के ऊमन एंड पार्थ एन. मुखर्जी (संपादित) इंडियान सोशियोलॉजी रिफ्लेक्शंस ऑफ इंटोस्पेक्शंस, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।

इकाई 2

समाजशास्त्र का उद्‌भव : मुद्दे और विषयवस्तु

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारत में समाजशास्त्र के ऐतिहासिक स्रोत (roots)

2.3 पेशे के रूप में समाजशास्त्र की वृद्धि और विकास

2.4 स्वतंत्रोत्तर भारत में समाजशास्त्र

2.5 1950 और 1960 के दशक में शिक्षण और शोध का विस्तार

2.6 सत्तर के दशक की कुछ प्रमुख शोध प्रवृत्तियाँ

2.7 भारत में समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त सिद्धांत और विधियाँ

2.8 सारांश

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- भारत में समाजशास्त्र के उद्‌भव के ऐतिहासिक स्रोतों (roots) को स्मरण कर सकेंगे;
- उन विभिन्न सामाजिक ऐतिहासिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की व्याख्या कर सकेंगे जिनके फलस्वरूप भारत में समाजशास्त्र की वृद्धि और विकास हुआ;
- व्यवसाय के रूप के समाजशास्त्र की वृद्धि और विकास का वर्णन कर सकेंगे;
- स्वतंत्रोत्तर भारत में समाजशास्त्र की वृद्धि से जुड़े विभिन्न मुद्दों का वर्णन कर सकेंगे;
- 1950 और 1960 के दशक में शिक्षण और शोध के विस्तार का वर्णन कर सकेंगे;
- सत्तर के दशक की कुछ प्रमुख शोध प्रवृत्तियों की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेंगे; और अंत में
- भारत में समाजशास्त्र के सैद्धांतिक और क्रियाविधिक अभिविन्यासों का वर्णन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में "भारत में सामाजिक पृष्ठिभूमि और समाजशास्त्र का उदय" में आपने सीखा कि भारत में समाजशास्त्र विषय के उदय और विकास पर पाश्चात्य समाजशास्त्र का प्रभाव पड़ा है। समाज के विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र, इसकी सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक प्रक्रियाओं और संगठनों का अध्ययन करता है। इसका उदय पाश्चात्य समाज में सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ, जिसकी स्वयं की उत्पत्ति ज्ञानोदय (Enlightenment) काल में हुई थी। इस काल में एक तरफ, यूरोप में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति, बौद्धिक क्रांति और वाणिज्यिक क्रांति और दूसरी तरफ, 1789 में फ्रांसिसी क्रांति हुई। ज्ञानोदय काल 14वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक फैला हुआ है और इसने सामाजिक परिवर्तन करने वाली ताकतों को जन्म दिया, जिसने यूरोप में चर्चा के साथ-साथ सामंती राजतंत्र को हिला दिया। इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति प्रौद्योगिकी विकास का परिणाम था, जो बौद्धिक काल में अस्तित्व में आया था

और इसने समाज की प्रकृति और व्यक्ति की भूमिका में मूलभूत पारवतन ाकए। इसस व्यापक स्तर पर गरीबी, समाजिक बुराई, और सांस्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इन सब घटनाओं ने तत्कालीन विद्वानों और चिंतकों को समाज-विज्ञान का विकास करने के लिए प्रेरित किया, जिसके माध्यम से इन घटनाओं से छुटकारा पाया जा सके, इनका हल ढूँढा जा सके, इनकी प्रकृति को समझा जा सके और घोर गरीबी में जीवन बिताने वाले असंख्य गरीबों, अपराध, अपचार और अन्य सामाजिक बुराइयों से संबधित परिस्थितियों को दूर किया जा सके।

सामाजिक प्रगति के अलावा, इन विद्वानों ने महसूस किया किं गरीबी और इससे जुड़ी अन्य सामाजिक बुराइयाँ दैवीय नहीं थीं बल्कि इनका मूल सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों में निहित है, जिसे इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति ने गति प्रदान की थी। इस प्रकार, यह विचार कि गरीबी समाज द्वारा निर्मित एक समस्या है और इसलिए इसे दूर किया जा सकता है।

यहाँ पर हम इस इकाई में, भारत में समाजशास्त्र के उद्भव की तुलना में समाजशास्त्र की वृद्धि (growth) पर अधिक ध्यान केंद्रित करेंगे। लेकिन जब तक आप यूरोप के साथ-साथ भारत में समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि से परिचित नहीं होते हैं, तब तक आप इस विषय की प्रकृति और वृद्धि को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाएँगे।

2.2 भारत में समाजशास्त्र के ऐतिहासिक स्रोत (roots)

समाजशास्त्र "मानववादी" सामाजिक विज्ञान है, यद्यपि इसका उद्देश्य सामाजिक प्रेक्षण है। इसे समाज में मनुष्य की विचारधाराओं और आदर्शों, मूल्यों और व्यवहारों, प्रत्याशाओं और उपलब्धियों, समस्याओं और दशाओं का ध्यान रखना पड़ता है। इसे प्राकृतिक विज्ञानों से अलग, जिन समाजों का अध्ययन किया जा रहा है, उनके समय और स्थान, इतिहास और संस्कृति से पृथक नहीं किया जा सकता। लेकिन, समाजशास्त्रियों ने विभिन्न ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि में भिन्न-भिन्न समाजों का अध्ययन किया और इन अध्ययनों से मानवीय संबंधों के बारे में सामान्य विचारधारा (generalisations) प्रस्तुत की। जैसा कि आपने इस पाठ्यक्रम की इकाई 1 में पढ़ा है कि समाजशास्त्र ने एक मानवतावादी ज्ञान के रूप में स्वयं को प्राकृतिक विज्ञान जैसे कि भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान आदि के साँचे में ढालने में कठिनाई महसूस की है। सामाजिक विज्ञान की वास्तविकता के संबंध में चर्चा लम्बे समय तक चली। लेकिन, इस विषय पर चर्चा करने का हमारा उद्देश्य इस तथ्य को प्रकट करना है कि समाजशास्त्र का विकास अलग-अलग देशों में उनकी संस्कृति, परंपरा और ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग प्रकार से हुआ है। विभिन्न देशों में इसके विकास पर किसी विशेष ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक अभिविन्यासों का प्रभाव पड़ा है।

भारतीय समाजशास्त्रियों ने आमतौर पर पश्चिम से ज्ञान प्राप्त किया है, इसलिए वे पश्चिम में विकसित समाजशास्त्र की संकल्पनाओं और श्रेणियों से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने इन संकल्पनाओं और श्रेणियों को अपनाया तथा उन्हें भारतीय संदर्भ में लागू किया। इस प्रकार अपने पश्चिम के पूर्ववर्तियों की तरह उन्होंने समाजशास्त्र की वैधता को एक गंभीर बौद्धिक विषय/शास्त्र के रूप में स्थापित करने के लिए अधिक संघर्ष नहीं किया, जैसाकि 19वीं शताब्दी के दौरान यूरोप के समाजशास्त्रियों को करना पड़ा था। लेकिन पाश्चात्य समाजशास्त्रियों को यह भुला दिया कि पश्चिमी समाजशास्त्र "उन समस्याओं के फलस्वरूप उत्पन्न एक बौद्धिक-प्रतिक्रिया, एक संज्ञानात्मक-प्रतिक्रिया थी, जिसका सामना पश्चिमी समाज औद्योगीकरण और समाज में हो रहे उथल-पुथल और रूपांतरण के परिणामस्वरूप कर रहा था।" (सिंह, 1979; 107)। समाजशास्त्र का उदय उन नई परिस्थितियों पर नियंत्रण के लिए हुआ जिनका उद्भव, जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, पश्चिमी समाज में हो रहे परिवर्तनों के फलस्वरूप हो रहा था। लेकिन, भारत में, समाजशास्त्र के उदय के समय किसी भी प्रकार की औद्योगिक मध्यम वर्ग का विकास नहीं हुआ। जैसे-जैसे यूरोप का विस्तार होता गया, वैसे ही, गैर-यूरोपीय विश्व के प्रति ज्ञान में वृद्धि होती गई और डार्विन के उत्पत्ति सिद्धांत (theory of evolution) और विक्टोरिया की

"प्रगति" (Progress) की विचारधारा के प्रभाव के अंतर्गत यह विचारधारा सामने आई कि गैर-यूरोपीय समाज ने उत्पत्ति की विभिन्न अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व किया है। ऐसी मान्यता थी कि यूरोपीय समाज पहले से ही विकासवादी क्रांति की उच्चतम स्थिति पर पहुँच चुका था।

इस प्रकार, जिस परिवेश में भारत में समाजशास्त्र और इसकी शाखा, मानव-विज्ञान का विकास हुआ वह व्यापक रूप से पिछले तीन-चार शताब्दियों में विश्व में यूरोप के विस्तार का ही परिणाम था। भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान दोनों का विकास भारतीय समाज और संस्कृति की समझ से परिचित होने के लिएं औपनिवेशिक शक्तियों का एक प्रयास था। भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के उद्भव में यह औपनिवेशिक संदर्भ बहुत ही महत्वपूर्ण है।

बर्नार्ड कोह (1968 : पी पी 3-28) का कहना था कि "18वीं शताब्दी के अंत में ब्रिटिश अधिराज की स्थापना से कुछ ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा भारत की क्लासिकीय भाषाओं का ज्ञान शीर्घता से अर्जित करने, प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए भारतीय समाज की भी संरचनात्मक ज्ञान की आवश्यकता, और मिशनरी गतिविधियों की सघनता, भारतीय समाज के क्रमबद्ध ज्ञान का 1760 के बाद तेजी से विकास शुरू हुआ। 18वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय समाज के उपाग की तीन प्रमुख परंपराएँ उभरकर सामने आईं; ये उपागम थे – प्राच्यभाषाविषद्, प्रशासनिक और मिशनरी। इनमें से प्रत्येक का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था, जो विदेशी पर्यवेक्षकों की भारतीय भूमिका से जुड़ा था और भारत के संदर्भ में उनकी दृष्टि से दर्शाता है।" इनका वर्णन पिछली इकाई में किया जा चुका है।

मिशनरियों के साथ ब्रिटेन के प्रशासनिक अधिकारियों ने भारतीय सामाजिक समूहों के जीवन और संस्कृति के संदर्भ में सूचना एकत्र करने और उन्हें रिकॉर्ड करने के लिए भरसक प्रयास किए। इसके उदाहरणों में डॉ. फ्रांसिस बचनन (Fransis Buchanan) द्वारा गवर्नर जनरल कौंसिल की सलाह पर 1807 में बंगाल का मानवजाति विज्ञान (ethnographic) सर्वेक्षण किया था। कोन (1968 : 13) ने कहा कि "अपेक्षाकृत संयोग लगातार इकट्ठी की गई सूचना और समाजशास्त्रीय सूचना की रिपोर्टों को आमतौर पर राजस्व रिपोर्टों और ऐतिहासिक कार्यों में स्थान दिया गया, इस प्रकार कंपनी (अर्थात् ईस्ट इंडिया कंपनी) ने प्रत्यक्ष रूप से इन सर्वेक्षणों को अपना सहयोग दिया, जिसके लक्ष्यों में भारत के लोगों के बारे में पर्याप्त और क्रमबद्ध सूचना प्राप्त करना था। इनमें सूचना एकत्र करने के संबंध में डॉ. फ्रांसिस बचनन का प्रयास बहुत ही महत्वपूर्ण था।" सन् 1816 में मैसूर में फ्रांस के मिशनरी अबे डुबस ने **हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरेमनीज़** नाम से एक पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक अभी भी भारतीय विद्वानों के लिए मूल्यवान है। वे जाति और जातियों के बीच के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करने वाले प्रथम लेखकों में से एक थे। फ्रांसिस बचनन द्वारा बंगाल और बिहार में किए गए कार्य ने भौतिक, सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय सभी पहलुओं से जुड़े भारत के प्रत्येक जिले के संबंध में विस्तृत सूचना इकट्ठा करने, मिलान (collate) करने और उसे प्रकाशित करने में उत्तरवर्ती ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा किए गए विभिन्न साम्राज्यवादी अध्ययन करने में मार्गदर्शक का काम किया, जिन्हें बीसवीं शताब्दी के शुरू में भारत के साम्राज्यवादी राजपत्र में प्रकाशित किया गया (कोहन बी. 1968 : 15)।

भारतीय समाज और संस्कृति से संबंधित इन प्रारंभिक अध्ययनों ने 19वीं शताब्दी के अंत में किए गए क्रमबद्ध अध्ययनों के लिए भूमिका तैयार की। 1871 में ब्रिटिश सरकार ने प्रथम भारतीय जनगणना की। संस्था के रूप में जनगणना ने व्यापक स्तर पर सूचना इकट्ठा करने में मदद की। यह ब्रिटिश प्रशासन के सामान्य कामकाज का हिस्सा नहीं था। 1901 में सर हर्बर्ट रिसले ने भारत का जातीय (ethnographic) सर्वेक्षण करने का प्रयास किया, जनगणना का ही एक हिस्सा था।

जैसा कि आप इससे पहल की इकाई में पढ़ चुके हैं कि ब्रिटिश अधिकारी भारतीय समाज और संस्कृति के बारे में बड़े पैमाने पर आंकड़े इकट्ठा करने के औचित्य से भलीभाँति परिचित थे।

MADHYAM IAS

विल्सन, राइसली, बेनेस, बलंट, थर्सटन, ओ. मैले हटन और गुहा जैसे अधिकारियों के योगदान ने जनगणना को न केवल जनसांख्यिकीय अध्ययन बल्कि इसके साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण के लिए एक अमूल्य स्रोत बनाया। स्वतंत्रता के बाद, एकत्र किए आंकड़ों की श्रृंखला और गुणवत्ता में बहुत अधिक वृद्धि हुई लेकिन इसमें जाति संबंधी आंकड़ों को व्यापक रूप से शामिल नहीं किया गया (श्रीनिवास और पाणिनी 1986 : 20)।

लेकिन जनगणना से समाज में दूरगामी बाधाएँ/समस्याएँ उत्पन्न हुई। इससे भारतीय समाज में बदलाव के लिए अनेक ताकतें सक्रिय हुई। जाति प्रथा पर इसका विशेष और सुदृढ़ प्रभाव पड़ा। जातियों, और उनके वंशक्रम अथवा प्रत्येक जनगणना में सामाजिक-विभाजन के संबंध में आंकड़े इकट्ठे करने के प्रयासों ने प्रत्येक जाति के भीतर जागरूकता को और तेज किया और इसने जाति के भीतर लोगों में उच्च पद प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया। इस प्रयास के फलस्वरूप इन जातियों की आर्थिक स्थिति में धीरे-धीरे सुधार हुआ। प्रत्येक जाति को जनगणना में समाजिक-गतिशीलता प्राप्त करने के लिए सरकार का अनुमोदन प्राप्त करने का अवसर दिखाई दिया। जनगणना अधिकारियों को जाति के मुखियाओं से उच्च हैसियत प्राप्त करने के संबंध में बहुत से प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए।

1941 कि जनगणना में आर्थिक कारणों से एक श्रेणी के रूप में जाति को हटा दिया गया। लेकिन 1951 की जनगणना में एक नीति के रूप में, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति को छोड़कर, जाति के आधार पर आंकड़े रिकार्ड किए गए। (श्रीनिवास और पाणिनी 1986 : 21)।

भारतीय समाज और संस्कृति के बारे में गहन ज्ञान प्राप्त करने के लिए आदर्शवादी अध्ययनों ने भी योगदान दिया और ब्रिटिश विद्वानों तथा अधिकारियों के प्रयासों से प्रेरणा भी प्राप्त की। के.एम. कपाडिया (1954 : xi) के अनुसार, ब्रिटिश न्यायाधीशों के इस्तेमाल के लिए पंडितों की सहायता से 1776 में ही हिंदू कानून को अंग्रेजी भाषा में तैयार किया गया था।

महान् ब्रिटिश प्राच्यवादी सर विलियम जॉन्स का योगदान भी महत्वपूर्ण था। उन्होंने संस्कृति और भारतीयता (Indology) का अध्ययन किया और इसके साथ ही साथ 1787 में बंगाल एशियाई समाज (Asiatic Society of Bengal) की स्थापना की। इस समाज के प्रमुख कार्यों में पुरातत्व और मानवविज्ञान के संबंध में एक पत्रिका का प्रकाशन शामिल था। संस्कृत के अध्ययन ने न केवल भारतीयता बल्कि भाषाशास्त्र, तुलनात्मक मिथक शास्त्र और तुलनात्मक विधिशास्त्र जैसे अन्य शास्त्रों को सुदृढ़ प्रेरणा दी।

भारतीय सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन देने वाला दूसरा प्रमुख कारण ब्रिटिश शिक्षा को प्रारंभ करना था इसका प्रभाव था। इसने भारतीय बौद्धिक समाज के बीच संवेदनशीलता का विकास और राजा राममोहन राय, ईश्वचंद्र विद्यासागर आदि समाज सुधारकों जैसी अनेक सामाजिक परिवर्तन लाने वाली ताकतों को सक्रिय किया और सती प्रथा, बाल-विवाह, निरक्षरता और गरीबी तथा हिंदू धर्म की कुरीतियों का अंत किया। इस प्रकार, ब्रिटिश शासकों की अपरिचित संस्कृति से परिचय और मार्क जैसे विद्वानों द्वारा दी गई प्राचीन भारतीय साहित्य की व्याख्या ने सम्भ्रांत भारतीयों में स्वजागरूकता को तेज और पुन: परिभाषित किया। इसके परिणामस्वरूप, भारतीय संस्कृति की समालोचनात्मक ढंग से नए सिरे से व्याख्या की गई और सामाजिक सुधार को प्रोत्साहन मिला।

भारतीय समाज और संस्कृति, गाँवों एवं कानूनों के संबंध में अनेक अध्ययन किए गए, जिन्होंने भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के उद्‌भव और विकास का मार्ग प्रशस्त किया। अगले भाग में, आप भारत में समाजशास्त्र और इसके पेशेवर स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

MADHYAM IAS way to achieve your dream

बॉक्स 2.01 : स्वतंत्रतापूर्व भारत में समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी

श्रीनिवास और पाणिनी (1986 : 16-55) ने एक बहुत ही महत्पूर्ण बिंदु पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भारत में स्वतंत्रता से पहले समाजशात्रियों और मानव-विज्ञानियों की संख्या बहुत कम होने के बावजूद उन्होंने अध्यापक, शोधकर्ता और समालोचक के रूप में अपनी पहचान बनाए रखी। समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने यह कार्य उस समय किया, जब उनके विषय/शास्त्र बहुत अधिक प्रचलित नहीं थे और जब उनके पास शोध के लिए पर्याप्त धनराशि नहीं थी। उन्होंने ऐसे समय में शोध और आंकड़े इकट्ठे कराने में सफलता प्राप्त की, जिस समय विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का प्रमुख कार्य विद्यार्थियों को व्याख्यान देना और उनका मूल्यांकन करना था।

2.3 पेशे के रूप में समाजशास्त्र की वृद्धि और विकास

भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान का विकास व्यापक रूप से तीन चरणों में हुआ। प्रथम चरण का कार्यकाल 1773 से 1900 के बीच का समय था। इस अवधि में जैसा कि पहले बताया जा चुका है, समाजशास्त्र की वृद्धि की शुरुआत हुई। दूसरा चरण 1901-1950 का समय था। इस कालावधि में इन दोनों शास्त्रों को व्यावसायिक रूप दिया गया और अंत में भारत की स्वतंत्रता के बाद इसका तीसरा चरण का प्रारंभ हुआ। इस काल में, विभिन्न ताकतों ने संयुक्त रूप से इन दोनों शास्त्रों के विकास को प्रभावित किया। सुनियोजित विकास, संविधान का निर्माण, और संसदीय लोकतंत्र ने भारतीय समाज और इसकी संरचना में दूरगामी परिवर्तन किए। इस कालावधि में भारतीय विद्वानों का परिचय उनके विदेशी सहयोगियों/साथियों के कार्यों से हुआ, जिसने उनके कार्यों को प्रभावित किया। धन की उपलब्धता ने भी अनेक क्षेत्रों में शोध कार्य करने में उनकी सहायता की (श्रीनिवास और पाणिनी 1986 : 19)।

इस प्रकार 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में इन दोनों शास्त्रों ने पेशे की प्रारंभिक अवस्था में प्रवेश किया। श्रीनिवास और पाणिनी (1986 : 22) के अनुसार, "यद्यपि जनगणना से जुड़े ब्रिटिश अधिकारियों ने अपना बृहत मानवजाति अध्ययन से संबंधित कार्यों को जारी रखा, लेकिन यूरोप में व्यावसायिक समाजशास्त्रियों और मानवजाति विज्ञानियों ने भारत में रुचि लेनी शुरू कर दी।" डब्ल्यू. एच.आर. रिवर्स ने **द टोडाज़** (1906) नाम से अपना शोध प्रकाशित किया। इस शोध कार्य में उन्होंने बृहत स्तर पर कार्यक्षेत्र में काम किया था। यह आधुनिक सामाजिक मानवजाति विज्ञान परंपरा के प्रथम शोध-निबंधों में से एक था। रिवर्स ने 1901-02 की सर्दियों में दक्षिण भारत की नीलगिरी की पहाड़ियों में रहने वाली टोड जनजातियों पर अपना शोध कार्य किया था। 1922 में उनकी मृत्यु होने तक इस कार्य में उनकी रुचि निरंतर बनी रही। उन्होंने भारत में अनुलोम विवाह (hypergamy) के उद्भव, भारत में नातेदारी और विवाह जैसे विषयों पर **मैन इन इंडिया** नामक पत्रिका में प्रथम अंक (1921) में लेख प्रकाशित किए। उनके कार्यों को उनके मरणोपरांत डब्ल्यू. जे. पैरी, **"सोशल आरगेनाइजेशन"** (1924) द्वारा संपादित किया गया। उनका उद्देश्य इन्हें कोलकाता विश्वविद्यालय में व्याख्यान में व्याख्यान में शामिल करना था।

उनके दो विद्यार्थियों, जी.एस. घुर्रे और के.पी. चट्टोपाध्याय ने भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान (जो मानवविज्ञान की एक शाखा है) के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए सामने आए। जी.एस. घुर्रे और के.पी. चट्टोपाध्याय के कार्यों में उनका प्रभाव निरंतर बना रहा। ये दोनों ही विद्वान सन् 1940 तक क्रमशः बम्बई और कोलकाता विश्वविद्यालयों में महत्पूर्ण पदों पर शिक्षाविद के रूप में कार्यरत थे। मालिनोस्की (Malinowski) और रेडक्लिक ब्रॉन (Redcliffe Brown) का प्रभाव बाद में सामने आया और ये दोनों विद्वान द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत एक अपरिचित बने रहे रेडक्लिफ ब्रॉन ने अंडमान द्वीपसमूह का अध्ययन किया। इस कालावधि में सी. बॉगले, एम. मॉस और मैक्स वेबर जैसे अनेक समाजशास्त्रियों ने द्वितीय स्रोतों पर निर्भर रहते हुए भारत पर बहुत कुछ लिखा।

MADHIAM IAS

1950 के पहले की अवस्था, बहुस्तरीय संश्लेषण की अवस्था थी। इसकी विशेषता यह है कि इन दोनों शास्त्रों का प्रारंभ बम्बई और कोलकाता जैसे दो बड़े शहरों में हुआ जो उपनिवेशवाद का प्रतिनिधित्व करते थे। वर्तमान शताब्दी के द्वितीय दशक में इसकी शुरुआत लगभम एक साथ ही हुई (आर. मुखर्जी, 1977 : 1-193)।

20वीं शताब्दी के पहले दो दशकों के दौरान दो विद्वानों एल.के. अनन्तकृष्ण अय्यर और एस. सी. राय ने मानवविज्ञान पर अपनी छाप छोड़ी। दोनों ने ही इस शास्त्र में किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था, लेकिन उनकी उपलब्धि सराहनीय थी। अनन्तकृष्ण अय्यर ने कोच्चि और मैसूर की जातियों और जनजातियों को अध्ययन के साथ-साथ केरल के सीरियाई (Syrian) ईसाइयों का भी अध्ययन किया। राय, जो व्यवसाय से एक वकील थे, उन्होंने बिहार की कुछ जनजातियों के बारे में शोध-निबंध लिखे। वे आदिवासियों के समर्थक (चैम्पियन) भी थे। सन् 1921 में उन्होंने **मैने इन इंडिया** नामक पत्रिका शुरू की। यह पत्रिका अभी भी प्रकाशित की जा रही है। उन्होंने **कास्ट, रेस एंड रिलीजन इन इंडिया** (1934) नाम पुस्तक भी लिखी थी।

भारत में मानवविज्ञान के विकास ने 1905 में उस समय एक बड़ी उपलब्धि हासिल की जब ब्रिटिस सरकार ने मानवजाति विज्ञान के संबंध में सर्वेक्षण करने की सहमति प्रकट की। इन सर्वेक्षणों को जिला राजपत्रों और भारत के शासकीय राजपत्र (26 खंडों, कोलकाता 1908-1909) के रूप में देखा जा सकता है। इनमें भारत के प्रत्येक खंड या प्रांत की विभिन्न जातियों और आदिवासियों के संबंध में विस्तृत जानकारी समाहित है। भारत की विभिन्न जातियों, समुदायों और आदिवासियों के संबंध में आंकड़ा इकट्ठा करने, उनका मिलान और विश्लेषण करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किए गए। पिछले अध्याय में आप इनके बारे में संक्षेप में पढ़ चुके हैं। आप स्वतंत्र भारत में समाजशास्त्र और मानवजातिविज्ञान के विकास के बारे में भी संक्षेप में पढ़ चुके हैं। अगले भाग में आप इसके बाद के विकासक्रम का थोड़ा और विस्तार से अध्ययन करेंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.4 स्वतंत्रोत्तर भारत में समाजशास्त्र

जैसा कि पहले चर्चा में बताया गया है, विभिन्न विश्वविद्यालयों में शुरू में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान को अर्थशास्त्र, सामाजिक दार्शनिकता जैसे विभागों के साथ शुरू किया गया था, लेकिन बाद में भारत के विभिन्न भागों में समाजशास्त्र का स्वतंत्र विभाग खोले गए। सन् 1910-1950 के दौरान, ये दोनों विषय व्यावसायिक बन गए। लेकिन इस चरण में भी, समाजशास्त्र को आधे दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों में नहीं पढ़ाया जाता था और देश में बम्बई ही एकमात्र ऐसा केंद्र था जहाँ पर समाजशास्त्र और मानवविज्ञान में स्नातकोत्तर शोधकार्य किया जाता था। विभिन्न विश्वविद्यालयों में इन दोनों विषयों को पढ़ाने के लिए लगभग एक दर्जन पद सृजित थे (श्रीनिवास और पाणिनी 1986 : 3)। लेकिन जैसे-जैसे इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई, अन्य विश्वविद्यालयों में इसकी स्वीकार्यता में भी वृद्धि होने लगी। धीरे-धीरे प्रत्येक स्तर पर शिक्षा की बढ़ती माँग के कारण, विश्वविद्यालयों और कालेजों में अधिक से अधिक समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के शिक्षकों के पदों की माँग बढ़ती गई।

इस समय समाजशास्त्र एक विषय/शास्त्र के रूप में हमारे सामने है। इसने अर्थशास्त्र की तरह गणित एवं सांख्यिकी के ज्ञान से सामग्री अर्जित नहीं की है। इसलिए बड़ी संख्या में विद्यार्थी इसमें रुचि रखते हैं और इसे "उपयुक्त विकल्प" मानते हैं। बाद में समाजशास्त्र की पाठ्यचर्या को मानकीकृत किया गया और कुछ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर पर शोध प्रविधि और सांख्यिकी के अध्ययन का प्रावधान किया गया। कुछ समय बाद समाजशास्त्र ने प्रतिष्ठा प्राप्त की और इस समय कॉलेज एवं विश्वविद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों द्वारा एक आकर्षक विषय के रूप में इसका चयन किया जाना है।

सोचिए और कीजिए 2.1

अपने अध्ययन केंद्र के ऐसे विद्यार्थियों का साक्षात्कार लें जो स्नातक या स्नातकोत्तर स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन कर रहे हैं। उनसे इस विषय का चयन करने का कारण पूछें। और उनके कारणों का अपने कारणों से तुलना कीजिए तथा "समाजशास्त्र की प्रासंगिकता: प्रकृति और क्षेत्र" पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए।

आप अपनी टिप्पणी पर अपने अध्ययन केंद्र के शैक्षिक परामर्शदाता से चर्चा करें।

2.5 1950 और 1960 के दशक में शिक्षण और शोध का विस्तार

स्वतंत्रोत्तर भारत में सुनियोजित विकास के शुरू होने और योजना आयोग के गठन से समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की वृद्धि और विकास में महत्वपूर्ण बदलाव आने शुरू हो गए। राज्यों द्वारा गठित सूचना तंत्र की माँग, उनकी कार्यविधियों के विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए भारत में शोध और प्रशिक्षण संस्थानों की संख्या में कई गुणा वृद्धि हुई। इस अवधि में सृजित सरकारी एजेंसियों के साथ-साथ विभिन्न संस्थाओं के प्रबंधन के लिए दक्ष और प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता महसूस की गई।

नियोजन और विकास से संबंधित सामाजिक विज्ञान अनुसंधान की वित्तीय सहायक के लिए योजना आयोग द्वारा एक अनुसंधान कार्यक्रम समिति का गठन किया गया। योजना आयोग में एक कार्यक्रम मूल्यांकन बोर्ड का निर्माण किया। प्रत्येक राज्य में इसकी शाखा होने के कारण समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों के लिए रोजगारों का सृजन किया गया। इस विकास के साथ-साथ अन्य महत्पूर्ण विकास भी हुए, जिससे शिक्षित लोगों में नियोजन की प्रक्रिया और सामाजिक विज्ञान के प्रति जागरूकता में वृद्धि हुई। इसकी पुष्टि 1966 में योजना आयोग की वह संस्तुति थी जिसके द्वारा भारतीय समाजविज्ञान से अनुसंधान परिषद (आई.सी.एस.एस.आर.) की स्थापना की गई। शिक्षा आयोग के प्रभारी सदस्य बी.के.आर.वी. राव द्वारा यह संस्तुति की गई थी। आई.सी.एस.एस.आर. 1969 में अस्तित्व में आया। स्व. डी.आर. गाडगिल इसके प्रथम अध्यक्ष थे। (श्रीनिवास और पाणिनी, 1986 : 37)।

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

सोचिए और कीजिए 2.2

भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद् (आई.सी.एस.एस.आर.) अथवा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) के बारे में कुछ सूचनाएँ/विवरण प्राप्त कीजिए। इन संगठनों द्वारा आजकल किस प्रकार के अनुसंधान कार्यों के लिए वित्तीय सहायता प्रदान की जा रही है। यदि संभव हो, तो अपने घर के निकट साइबर कैफे में जाकर उनकी वेबसाइट (Website) देखिए। इन विवरणों को शामिल करते हुए एक टिप्पणी लिखिए और इस पर अपने अध्ययन केंद्र के समाजशास्त्र के विद्यार्थियों से चर्चा कीजिए।

स्वतंत्र भारत में शिक्षित सम्भ्रांत लोगों, और सरकारी अधिकारियों तथा नीति-निर्माताओं में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान की प्रासंगिकता के बारे में बढ़ती जागरूकता को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) द्वारा नए विभाग शुरू करने अथवा विश्वविद्यालयों के वर्तमान विभागों का विस्तार करने के लिए दिए जा रहे विकास अनुदान से देखा जा सकता है। धनागरे (1993 : 46) के अनुसार सन 1950 के बाद भारत के विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र तथा मानवविज्ञान के संस्थागत स्वरूप और विस्तार से "विकास" महसूस किया जा सकता है। विस्तार की सुगम बनाने के लिए यू.जी.सी. ने पंचवर्षीय विकास अनुदान के माध्यम से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में नए पदों का सृजन किया।

1950 से पहले, भारतीय समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों ने ब्रिटेन की सामाजिक और सांस्कृतिक मानवविज्ञान की प्रमुख प्रवृत्तियों, विशेष रूप से मालिनोस्की के प्रकार्यवाद का इसके सांस्कृतिक दबाव (Culturalogical strain) का अनुसारण किया। 1950 के

बाद, भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान पर ब्रेटेन के अलावा अमेरिकी ग्रामीण समाजशास्त्र का प्रभाव दिखाई दिया (एम. मुखर्जी, 1977 : 47)। इसका मुख्य कारण अमेरिका के साथ बढ़ता संपर्क था, विशेष रूप से इसमें फोर्ड फाउंडेशन की भूमिका महत्वपूर्ण थी। भारत सरकार द्वारा अमेरिकी की विचारधारा एवं सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों को स्वीकार करना ही इसका एक कारण था।

भारत में फोर्ड फांउडेशन को 1951 और 1970 के बीच की भारतीय योजनाओं में समुदाय विकास की विचारधारा में परिवर्तन लाने में सफलता प्राप्त हुई। सामाजिक पुनर्निर्माण के एक महत्वपूर्ण औजार तथा विकास एजेंसी के रूप में इसकी महत्पूर्ण भूमिका को सरकार ने स्वीकार किया। धनागरे (1993 : 47) के अनुसार, समुदाय विकास की इस योजना (पैकेज) ने भारतीय समाज विज्ञानियों के लिए साधारण रूप से और समाजशास्त्रियों तथा मानवविज्ञानियों के लिए विशेष रूप से रोजगार क अवसर उत्पन्न किए। भारतीय ग्रामों के अध्ययन के लिए शोध परियोजना, गाँवों पर समुदाय विकास कार्यक्रमों के प्रभाव का अन्वेषण करने और कार्यक्रमों कि प्रति उनकी प्रतिक्रिया ज्ञात करने के लिए वे अनुदान प्राप्त कर सकते थे। प्रशासनिक उद्देश्यों से सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के प्रभाव का आकलन एवं मूल्यांकन करने के लिए बड़े पैमाने पर सर्वेक्षण किए गए। इसके लिए भारतीय समाजशात्रियों और मानवविज्ञानियों को पश्चिम, विशेष रूप से अमेरिका में विकसित आधुनिक सर्वेक्षण शोध प्रविधि और साम्राज्यवादी समाजविज्ञान से परिचित होना अनिवार्य था। इन माँगों को पूरा करने के लिए, भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की पाठ्यचर्या में शोध प्रविधि पर पाठ्यक्रम शुरू किए गए (बिते, 1973 : 224-31)।

समुदाय विकास कार्यक्रमों ने भारत में समाजशात्र और सामाजिक मानवविज्ञान दोनों शास्त्रों की वृद्धि और विकास में अनेक प्रकार से सहायता की लेकिन साथ ही इसके कुछ प्रतिकूल प्रभाव भी पड़े। अधिकतर शोध अध्ययन गुणात्मकता न होकर मात्रात्मक सिद्ध हुए। इन अध्ययनों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों का नियंत्रण था। इस प्रकार ये अनुसंधान अपेक्षित परिणाम देने में सफल नहीं हुए। यहाँ तक कि 1950 के बाद भी ये अपनी पहचान कायम नहीं कर सके।

धनागरे (1980 : 25-26) के अनुसार मुख्यत: सरकारी संरक्षण और फोर्ड फाउंडेशन की उदारता ने अनेक समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों को इस अध्ययन क्षेत्र की ओर आकर्षित किया। इन दोनों शास्त्रों की शोध-प्रवृत्ति में कुछ भी गलत नहीं था लेकिन समस्या यह थी कि शोध की प्राथमिकताओं का निर्धारण राज्य द्वारा किया जाता था जिसकी कार्रवाइ और संबंधित नीतियों की गूँज समाजविज्ञान के सम्मेलनों और संगोष्ठियों में भी महसूस की जाती थी।

भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान पर समुदाय विकास कार्यक्रम का दूसरा महत्पूर्ण प्रभाव राज्य के साथ इसकी समीपता थी और सरकारी नीति का निर्माण करने वाले विकास "शैक्षिक स्थिति और मान्यता के सूचक" बन गए। इस नई स्थिति से पहले के दो या दो से अधिक शास्त्रों की अंत:क्रिया में परिवर्तन आया और इसने लगभग संसाधनों के साथ-साथ मान्यता के लिए निदानात्मक प्रतियोगिता को जन्म दिया। (धनागरे, 1993 : 48)।

सरकार से सर्वोत्तम परियोजनाएँ और कार्य प्राप्त करने के लिए विभिन्न समाज विज्ञान विषयों में कड़ी प्रतियोगिता शुरू हो गई। इस प्रतियोगिता ने समाज विज्ञान के किसी एक शास्त्र या विषय के भीतर चर्चा अथवा विभिन्न शास्त्रों के बीच सहयोग पर प्रतिकूल प्रभाव डाला और इसके परिणामस्वरूप उनकी वृद्धि और विकास सीमित और संकुचित हो गई। यद्यपि उस समय अंत: विषयक उपागम की वांछनीयता पर पर्याप्त चर्चा की गई थी; लेकिन वास्तव में समाज विज्ञान 1970 तक अपनी कठोर सीमाओं से बंध रहा। धनागरे (1993 : 49) के अनुसार, न केवल समाजशास्त्र, और सामाजिक मानवविज्ञान अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र से अपरिचित बना रहा, जिनके साथ 1950 से पहले वे साथ-साथ चले आ रहे थे और प्राय: परिचर्चा किया करते थे, बल्कि इस प्रक्रिया में वे स्वयं एक-दूसरे अपरिचित एवं पृथक हो गए।

सन् 1950 से पहले के चरण में उनमें बहुत ही उत्पादक और सहजीवी संबंध था। 1960 और 1970 के दशक में बम्बई और सागर विश्वविद्यालयों को छोडकर शेष सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान के बीच पृथक्करण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (नई दिल्ली), नेहू (शिलांग) और हैदराबाद जैसे नए केंद्रीय विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र और मानवविज्ञान का संयुक्त विभाग स्थापित कर पुरानी परम्परा को कायम रखा।

दिल्ली (अर्थात् दिल्ली विश्वविद्यालय) में यद्यपि शुरू से ही समाजशास्त्र और मानवविज्ञान दो अलग-अलग विभाग थे। दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में स्थित समाजशास्त्र विभाग ने समाज मानवविज्ञान पर जोर दिया। धनागरे (1993 : 49) के अनुसार, समाजशास्त्र के साथ अंत:क्रिया के बिना मानवविज्ञान घटकर मानवजाति विज्ञान तक सीमित हो गया और भौतिक मानवविज्ञानियों तथा सामाजिक/सांस्कृतिक मानवविज्ञानियों में एक कार्यालय स्थान, प्रशासनिक एवं वित्तीय नियंत्रण के सिवाय कुछ भी एक जैसा नहीं था। इन्हीं कारणों से भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान के बीच के संबंध अलग-अलग बना रहा। यहाँ तक कि सरकार द्वारा 1996 में स्थापित आई.सी.एस.एस.आर ने भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान पर एक संयुक्त सर्वेक्षण (प्रवृत्ति रिपोर्ट) कराया। लेकिन कुछ कारणों से दोनों ही शास्त्रों के लिए विशेषज्ञों के अलग अलग दल बनाए। यू.जी.सी. ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया। आई.सी.एस.एस.आर. ने भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की वृद्धि और विकास में महत्पूर्ण योगदान दिया। इसने योजना आयोग की शोध कार्यक्रम समिति और इसके द्वारा सम्पादित कार्यों में लगभग पूर्ण बदलाव किए। यह एक स्वायत्त निकाय है और यह वित्तीय दृष्टि से स्वतंत्र है। इसने शोध परियोजनाओं, सम्मेलनों और कार्यशालाओं, पुस्तकों और पत्रिकाओं के प्रकाशन, आंकड़ा विश्लेषण तथा परामर्श के लिए धन देकर अनेक विश्वविद्यालयों के विभागों को सहयोग प्रदान किया। यह विषय से जुड़े कनिष्ठ एवं वरिष्ठ दोनों सदस्यों को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन शोधवृत्ति भी प्रदान करता है। धनागरे (1933 : 50) लिखते हैं कि आई.सी.एस.एस.आर. की अनेक योजनाएँ समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों सहित सभी समाज-वैज्ञानिकों में विश्वास जगाने के लिए व्यापक आधार वाली और समानतावादी थीं। इसने 1969 के बाद भारत में दोनों शास्त्रों की वृद्धि में सकारात्मक और रचनात्मक भूमिका निभाई।

MADHYAM IAS

2.6 सत्तर के दशक की कुछ प्रमुख शोध प्रवृत्तियाँ

सत्तर के दशक में शोध और शिक्षण के क्षेत्र में रुचि और विशेषज्ञता का सतत विकास हुआ और इसमें विविधता आई। एम.एस.ए. राव (1986 : 168-178) के अनुसार, 1960 के दशक में ग्रामीण समुदाय शोध का प्रमुख विषय होता था। लेकिन बाद में कृषक संबंध, भूमि-सुधार, कृषक, कृषि श्रमिक, अनुसूचित जाति और जनजाति की समस्याओं ने समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया। सत्तर के दशक को तीन शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है : (i) अभिरुचि और विशेषज्ञता के क्षेत्रों ने ठोस रूप धारण किया, (ii) अभिरुचि के ऐसे क्षेत्र जिनका विकास तो हुआ लेकिन वे ठोस रूप में सामने नहीं आ सके; और (iii) स्थापित क्षेत्रों में नए उपागमों का उद्भव।

सत्तर के दशक में कृषक अध्ययन और कृषि सामाजिक संरचना एक विशेष शोध अभिरुचि के रूप में उभरकर सामने आया (बिटली 1974, वेमन 1975, 1977 एलेक्जेंडर 1975, जोशी 1975, जोन मेंचर 1978)। इन अध्ययनों ने पहले के ग्रामीण समुदाय के अध्ययनों से हटकर जाति एवं ग्रामीण भाईचारे पर अधिक बल दिया, लेकिन ग्रामीण अध्ययन के प्रति अभी भी कुछ समाजशास्त्रियों का आकर्षण बना रहा (उदाहरण के लिए श्रीनिवास 1976)।

किसान आंदोलन का अध्ययन कृषक अध्ययन के क्षेत्र से निकटता से जुड़ा हुआ था, जिसने कुछ समाजशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इन समाजशास्त्रियों में धनागरे 1974, रंगाराव 1978, पी.एन. मुखर्जी 1978, राजेंद्र सिंह 1978, और ए.आर. देसाई 1979 शामिल

हैं। समाजशास्त्रियों के साथ-साथ इतिहासकारों ने भी कृषक समाज में रुचि ली। कृषक आंदोलन से संबंधित अध्ययन सामान्य रूप से सामाजिक आंदोलन का ही एक हिस्सा था जिसने 1970 के दशक में ठोस रूप ले लिया। अनेक प्रकार के आंदोलनों, जैसे कि पिछड़ी जातियों का आंदोलन, सम्प्रदायवादी आंदोलन को प्रकाशित भी किया गया (एम.एस.ए.राव. 1978, 1979 ए, 1979 एनबी)। समाजशास्त्र में अभिरुचि के तीन अन्य क्षेत्र, जिन्होंने सत्तर के दशक में मूर्त रूप धारण किया, वे थे – (1) औद्योगिक समाजशास्त्र, (2) शहरी समाजशास्त्र, और (3) सामाजिक स्तरीकरण।

औद्योगिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में आर.एन. सेठ और पी.जे. पटेल (1979) द्वारा किया गया कार्य महत्वपूर्ण है, जिसमें औद्योगिक समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इसमें मजदूर संघों और उद्योगों के संबंधों का अध्ययन किया गया है (ई.ए. रामास्वामी 1977, 1978)। कुछ विश्वविद्यालयों के विभागों में एम.ए. और एम.फिल स्तर पर औद्योगिक समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन कराया जाता है। भारत में शहरी समाजशास्त्र को इस गलत अवधारणा से नजरअंदाज किया जाता रहा है कि भारत गाँवों का देश है। लेकिन 1970 के दशक में इसको महत्व दिया गया। ग्रामीण-शहरी प्रवास, शहरी विकास और तंग बस्तियों की समस्याओं ने समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया। शहरी समाजशास्त्र के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया गया। इनमें ग्रामीण शहरी प्रवास, जनसांख्यिकी और आस-पड़ौस, तंग बस्तियाँ, स्तरीकरण, शिक्षा, जातीय संघर्ष, आदि का अध्ययन शामिल था (एम. एस.ए. राव 1970, 1974; सब्बरराल 1976, 1978; सिलविया वतुक 1972 और रिचर्ड फॉक्स 1970)। शहरी तंग-बस्तियों ने भी इनका विशेष ध्यान आकर्षित किया (देशाई और पिल्लई 1970, 1972; वेबी 1979, अल्फ्रेड-डि-सूजा 1979 और अन्य)।

सत्तर के दशक में दूसरा अभिरुचि और विशेषज्ञता का प्रमुख क्षेत्र सामाजिक स्तरीकरण था। स्तर के दशक में बड़ी संख्या में शोध प्रकाशित किए गए। इनमें आंद्रे बेटली (1977), योगेन्द्र सिंह (1977), विक्टर डि-सूजा (1977) के प्रयास प्रमुख थे। विशिष्ट वर्ग के अनेक अध्ययन भी दस दशक में दृष्टिगोचर हुए (सिंघी 1974, शिवकुमार लाल 1974)। सामाजिक स्तरीकरण का पाठ्यक्रम उन सभी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में लगभग एक जैसा ही है, जिनमें समाजशास्त्र पढ़ाया जाता है।

इस अवधि में विशेषज्ञता के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे – विकास के क्षेत्र में समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र, आदि में अनेक अध्ययन किए गए तथा व्यवसाय का समाजशास्त्र, संगठन का समाजशास्त्र, चिकित्सा समाजशास्त्र महिलाओं का अध्ययन आदि अनेक नए क्षेत्रों का उद्‌भव हुआ।

धनागरे (1933 : 51) के अनुसार सन् 1950 के बाद समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के क्षेत्र में बदलाव होने के बावजूद, सभी शोध कार्यों का त्याग नहीं किया गया। वास्तव में शोध की निरंतरता में अधिक पैनापन आया। नई प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आईं, लेकिन पुरानी प्रवृत्तियों को 1950 और 1960 के दशक में समेकित किया गया। इनमें जो महत्पूर्ण विषय उभरकर सामने आए उनमें जाति और स्तरीकरण, परिवार और नातेदारी, धर्म और अनुष्ठान और ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण प्रमुख थे। ये शीर्षक समाजशास्त्र और मानविज्ञान के केंद्र बिंदु बने रहे। इन सबसे ऊपर, जाति और स्तरीकरण भारतीय समाज की एक ऐसी संरचनात्मक वास्तविकता थी, कि इसने भारतीय समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों को निरंतर अपनी ओर आकर्षित किया। लेकिन, यहाँ पर भी हाल के वर्षों में जाति और स्तरीकरण के संबंध में किए गए अध्ययनों में गुणात्मक अंतर देखा जा सकता है।

जाति और धर्म से संबंधित श्रीनिवास के अध्ययन (1952, 1959, 1962, 1966) में न केवल जाति और धर्म की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक प्रकृति को शामिल किया गया है बल्कि भारत के गाँवों में जाति-व्यवस्था की विशिष्टता को भी रेखांकित किया गया है। उन्होंने संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, जैसे जातिगत पहलुओं; "प्रमुख जाति" की संकल्पना का गाँव के समाज में

शक्ति-संबंध को समझने के लिए अध्ययन हेतु संकल्पनात्मक उपकरणों का विकास भी किया। वाई.बी. दामले (1968 : 95-102) ने जाति की गतिशीलता की व्याख्या के लिए संदर्भ समूह के प्रयोग पर जोर दिया, आंद्रे बेटली (1965) ने तंजौर गाँव में "जाति, वर्ग और शक्ति" का अध्ययन करने के लिए वेबर के वर्ग, हैसियत और दल की संकल्पना का उपयोग किया।

बॉक्स 2.02 : समाजशास्त्र की प्रासंगिकता : एक विचारधारा

डी. एन. धनागरे (1933 : 28) की समाजशास्त्र की भूमिका और प्रासंगिकता के संबंध में ठोस विचारधारा थी। उनके अनुसार, "भारतीय समाज में बड़ी संख्या में आम जनता, जो "गतिशीलता" के रास्ते से बदलाव लाने में असफल रही है, वह सामाजिक रूपांतरण के लिए "गतिशील बनाने" या संघटन (mobilization) के वैकल्पिक मार्ग को अपना रही है। "संघटन" की क्या संभावनाएँ या प्रत्याशाएँ हैं, यह कहाँ ले जाना चाहता है और क्या समाजशास्त्रियों सहित सामाजिकविज्ञानी रूपांतरण की प्रक्रिया को शांत, तटस्थ दर्शक की तरह देखते रहेंगे अथवा वे इसमें अपना योगदान देना चाहेंगे? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर कभी न कभी समाजशास्त्र के व्यवसाय को विचार करना होगा।

फ्रांस के समाजशास्त्री लुइस डुमोंट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **होमो हेरारकस (Homo Hierarchicus) (1970)** में संरचनात्मक विधि का प्रयोग करते हुए भारत में जाति का अध्ययन किया। उन्होंने 1970 के दशक में "जाति" अध्ययन पर रुचि को पुनर्जीवित किया। उन्होंने हिंदुओं के वेदों और प्राचीन ग्रंथों में वर्णित जाति की विचारधारा को समझने पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने भारत की जाति प्रथा और ग्रामीण सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए भारतविज्ञानी और संरचनात्मक उपागम के प्रयोग पर जोर दिया।

जाति प्रथा और स्तरीकरण के विभिन्न पहलुओं ने समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। भारत में राजनीतिक विकास, सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का प्रभाव, पंचायती राज व्यवस्था, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण और 1950 के दशक में अनेक अन्य घटनाओं के दूरगामी परिणाम सामने आए। भारतीय समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी भारतीय समाज और ग्रामीण सामाजिक संरचना पर इन परिवर्तनों के प्रभावों के अध्ययन के प्रति चिंतित थे (एस.सी. दूबे, 1969, आर.एन. हल्दीपुर, 1974)। ग्रामीण समाज में जाति और शक्ति संरचना पर किए गए अध्ययनों ने सुदृढ़ स्थिति प्राप्त की (धनागरे, 1993 : 52)।

1960 और 1970 के दशक में ग्रामीण समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति का विकास हुआ। इस नई प्रवृत्ति और अभिरुचि ने स्वतंत्रता के पश्चात भूमि सुधार के उपायों द्वारा ग्रामीण सामाजिक संरचना में आए मूलभूत परिवर्तनों पर ध्यान केंद्रित किया। इस नई प्रवृति ने कृषिकों में वर्ग-निर्माण, विभिन्न ग्रामीण स्तरों के बीच सामाजिक गतिशीलता और ग्रामीण समाज में उत्पन्न नए विरोधाभासों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया। "सूक्ष्म" स्तर से उत्पन्न इस नई प्रवृत्ति ने "बृहत" स्तर पर विश्लेषणात्मक कार्य किया (योगेंद्र सिंह, 1977 : 22-23)।

समाजशास्त्र में कृषक अध्ययन से समीपता से संबद्ध इस नई प्रवृत्ति ने सामाजिक आंदोलन विशेष रूप से किसान आंदोलन का अध्ययन किया। ए.आर. देसाई (1948) द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और इसकी सामाजिक पृष्ठिभूमि पर किए गए अध्ययनों में वर्णित इसकी वर्गगत संरचना और इसमें मौजूद विरोधाभास बहुत ही महत्पूर्ण थे और 1950 के दशक से पहले के योगदानों में उनका योगदान प्रमुख था।

1980 के दशक के दौरान 1950, 1960 और 1970 और उसके बाद के दशक के अभिरुचि के क्षेत्रों में से अनेक क्षेत्र निरंतर सुदृढ़ होते गए। अनेक क्षेत्रों का भी विकास हुआ। इनमें विचलन का समाजशास्त्र, विधि का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, विज्ञान का समाजशास्त्र आदि प्रमुख थे। भारत में इन क्षेत्रों के साथ-साथ अनेक अन्य क्षेत्र समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों के अध्ययन के केंद्र में थे।

अभिरुचि के क्षेत्रों के साथ-साथ, इन क्षेत्रों के अध्ययन के समाजशास्त्रीय उपागम में व्यापक विभिन्नता थी। शोध अध्ययनों की सैद्धांतिक मजबूती और विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त कार्यविधि अलग-अलग थी।

2.7 भारत में समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त सिद्धांत एवं विधियाँ

धनागरे (1993 : 63) के अनुसार, भारतीय समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों के सैद्धांतिक अभिविन्यास में बदलाव आया है। यह कहा जा सकता है कि "दार्शनिक सैद्धांतिक अभिविन्यास" (philosophical theoretical orientation) (ए. ला. राधा कमल मुखर्जी) की अपील और "संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक" और "सांस्कृतिक" उपागम ए.ला. रेडक्लिफ ब्रॉउन, एस.एन. श्रीनिवास आदि) में क्षीणता और रही है। मार्क्सवादी प्रविधि और प्रस्ताव पर आधारित बोलीगत (द्वंद्वात्मक) ऐतिहासिक अभिविन्यास ने अंत में अनुकूलन और नवीनीकरण के लिए पर्याप्त क्षमता प्रदर्शित की (सिंह, वाई 1977 : 15-26)। यह अभिविन्यास अब समाजशास्त्रियों की नई पीढ़ी में अब लोकप्रिय हो गया है।

संरचनात्मक उपागम अथवा सैद्धांतिक अभिविन्यास भी बहुत लोगप्रिय रहे हैं; जिन्हें जे.पी.एस. ओबराय (1974 : 1978), टी.एन. मदान (1975) और वीना दास (1977) जैसे समाजशास्त्रियों के कार्यों में देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति की आने वाले वर्षों में अधिक गतिशील होने की संभावना है (एम.एस.ए. राव, 1979 बी : 1812)। व्रबद्ध सैद्धांतिक अभिविन्यास को एम. एम. गोरे, योगेन्द्र सिंह वाई.बी. दामले, योगेश अटल और कुछ अन्य विद्वानों के लेखों में देखा जा सकता है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं हुई है। पी. एन. रस्तोगी ही उपागम (Cybernatic approach) के एकमात्र अनुयायी रहे हैं (देखें रस्तोगी, 1973, 1975)।

ऊपर, संक्षेप में, भारतीय समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के अनुसंधान की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। सैद्धांतिक उपागम और शोध करने की विधियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। यहाँ पर आपको समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान के क्षेत्र में उपलब्ध और समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त प्रचुर साहित्य से परिचित कराने के लिए, उदाहरण के तौर पर, कुछ प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोणों से अवगत कराया गया है।

2.8 सारांश

इस खंड सं. 1 **"भारत में समाजशास्त्र का उद्भव"** की प्रथम इकाई "भारत में समाजशास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि" और "शास्त्र का उद्भव : मुद्दे और विषयवस्तु" नाम की यह इकाई भारत में समाजशास्त्र के इस पाठ्यक्रम की प्रस्तावना से संबंधित है। समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान विषय को प्राचीन साहित्यिक परंपरा मे परिपूर्ण भारत में अपनी नींव मजबूत करने में सामाजिक पृष्ठभूमि के नए शास्त्र/विषय और इसकी संस्थाओं ने बौद्धिक अवलम्बा प्रदान किया।

जैसा कि दोनों इकाइयों के शुरू में बताया गया है कि समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान पर पश्चिमी समाज के समाजशास्त्र का गहन प्रभाव पड़ा है। यह भारतीय समाज और संस्कृति के संबंध में पश्चिम के विद्वानों द्वारा दी गई व्याख्या और उस पर भारतीय विद्वानों की बौद्धिक प्रतिक्रिया का परिणाम है। गैर-यूरोपीय देशों पर यूरोप के अतिक्रमण और विस्तार में वृद्धि होने से नए समाजो और समुदायों को समझने की आवश्यकता में वृद्धि होती गई। अनेक कारणों से, कुछ लोपोकारियों, कुछ प्रगतिवादी एवं पश्चिमी समाज के विद्वानों ने भारत की सामाजिक वास्तविकता की व्याख्या करने का प्रयास किया और इस ज्ञान का प्रयोग धर्मान्तरण, सामाजिक कुरीतियों को दूर करने, परंपरागत हिंदू समाज की कट्टरपंथिता और जनजातियों/आदिवासियों के कल्याण आदि उद्देश्यों के लिए किया।

इस प्रकार, औपनिवेशिक प्रभाव और जीवन के प्रति पूर्वी विचारधारा के साथ पश्चिमी विचारधारा के टकराहट से साहित्य की एक नई शाखा का जन्म हुआ जो समाजशास्त्र और मानवविज्ञान विषयों का आधार बना।

बाद में, इस इकाई में 1900-1921 तथा उसके बाद शास्त्र की पेशेवर प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है। यह मात्र संयोग नहीं था कि बम्बई, कोलकाता और लखनऊ जैसे शहरों में शास्त्र का विकास पहले व्यवसाय के रूप में हुआ और बाद में 1950 के बाद धीरे-धीरे सारे देश में इसका विस्तार हुआ। इसलिए औपनिवेशिक संदर्भ की अनदेखी नहीं की जा सकती। 1950 के दशक में विभिन्न विश्वविद्यालयों में व्यावसायिक विकास हुआ और शास्त्र को स्वीकृति मिली। समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की प्रतिष्ठा में स्वतंत्रता के बाद और उस समय वृद्धि हुई, जब नियोजित विकास कार्यक्रम शुरू किए गए। संस्थाओं आदि के साथ-साथ विभिन्न सामुदायिक विकास कार्यक्रमों, पंचायती राज आदि के प्रभाव के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए शोध और प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षित मानव संसाधन उपलब्ध कराया गया।

1976 में आई.सी.एस.एस.आर. की स्थापना की गई और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) के समाजविज्ञानियों को शोध कार्य के लिए धन मुहैया कराया गया। सामान्यत: समाजविज्ञान और विशेष रूप से समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की प्रासंगिकता में वृद्धि हुई।

अंत में, हमने 1950, 1960, 1970 और 1980 के दशकों में भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र ओर समाज मानवविज्ञान के संबंध में कुछ शोध की प्रवृत्तियों का वर्णन किया है। संक्षेप में, भारत में इन शास्त्रों के विकास की व्याख्या करने के लिए सैद्धांतिक अभिविन्यास का वर्णन किया गया।

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

धनागरे, डी.एन. 1995, *थीम्स एंड पर्सपेक्टिव इन इंडियन सोशियोलॉजी;* रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सिंह, वाई. 1986, *इंडियन सोशियोलॉजी : सोशल कंडीशनिंग एंड एमरजिंग कनसर्न्स,* विकास पब्लिकेशस, नई दिल्ली।

MAADHYAM IAS

इकाई 3

भारत में ग्राम अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

3.3 संदर्भ

3.4 कृषि और कृषि कार्य

3.5 गाँव का महत्व

3.6 गाँव की सामान्य विशेषताएँ

3.7 गाँव की सामाजिक संरचना : जाति, वर्ग और लैंगिक भेदभाव

3.8 कार्यक्षेत्र का परिदृश्य और कार्यक्षेत्र

3.9 सारांश

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत में "ग्रामीण अध्ययन" के उद्भव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताने में सक्षम हो सकेंगे;
- ग्रामीण अध्ययन के सामान्य संदर्भ का वर्णन कर सकेंगे;
- स्पष्ट कर सकेंगे कि क्यों और कैसे समाज-शास्त्रियों/सामाजिक मानवविज्ञानियों ने अध्ययन के इस क्षेत्र को चुना;
- भारत में गाँवों के अध्ययन को क्यों महत्व प्राप्त हुआ इस बारे में चर्चा कर सकेंगे;
- गाँव की सामान्य विशेषताओं की रूपरेखा तैयार कर सकेंगे;
- गाँव की सामाजिक संरचना का वर्णन कर सकेंगे जिसमें जाति, वर्ग और लिंग महत्वपूर्ण पहलू के रूप में हैं; और अंत में
- समाजशास्त्रियों/सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा किए गए "field view" और क्षेत्रीयकार्य की प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

अब तक आप भारत में समाजशास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि, इसके बाद के विकास और संवृद्धि तथा कुछ प्रमुख मुद्दों और अनुसंधान के विषयों के बारे में जान चुके हैं। 1950 और 1960 के दौरान गाँवों का अध्ययन एक मुख्य विचारणीय विषय बना और इस शास्त्र की संवृद्धि और व्यावसायीकरण के दौरान कई विनिबंध और अभिपत्र प्रकाशित हुई। इस इकाई में आप इस ग्रामीण-अध्ययन के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करेंगे। समकालीन भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक दृश्य पटल पर गाँवों का महत्वपूर्ण स्थान है। पिछले पाँच या छह दशकों में भारत

के महत्वपूर्ण औद्योगीकरण और इसकी शहरी जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि के बावजूद भारतीयों की अधिकांश जनसंख्या पाँच लाख से अधिक गाँवों में निवास करती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का 72 प्रतिशत ग्रामीण भारतीय थे। इस प्रकार – यद्यपि देश की कुल राष्ट्रीय आमदनी में कृषि का हिस्सा लगभग एक चौथाई रह गया है, भारत की लगभग आधी जनसंख्या सीधे कृषि क्षेत्र में नियोजित है।

इसके अलावा महत्वपूर्ण जनसांख्यिकीय तथा बुनियादी यथार्थ होने के कारण समकालीन भारत को चित्रित करते समय गाँव भी महत्वपूर्ण वैचारिक श्रेणी में आते हैं, यह वह श्रेणी है जिसमें प्राय: भारत की कल्पना की गई है और आधुनिक समय में भी इसी रूप में इसकी कल्पना की जाती है। गाँव को "प्रामाणिक स्थानीय जीवन" के चरम परिचायक के रूप में देखा गया है, यह एक ऐसा स्थान है जहाँ "वास्तविक" भारत को देखा जा सकता है और यह समझा जा सकता है कि किस प्रकार स्थानीय लोग अपने संबंधों और विश्वास की प्रणाली को संगठित करते हैं। जैसा कि आंद्रे बेते लिखते हैं, "गाँव केवल वह स्थान नहीं है जहाँ लोग रहते हैं; यह वह अभिकल्पना है जिसमें भारतीय सभ्यता के आधारभूत मूल्य दिखाई पड़ते हैं" (बेते 1980 : 108)। भारतीय "ग्राम्य समुदाय" के संस्थागत स्वरूप और इसके सांस्कृतिक मूल्यों को बीसवीं शताब्दी के उस समाज का उदाहरण कहा जा सकता है, जिसे "पारंपरिक समाज" के रूप में जाना गया।

इस इकाई में आपको भारत में समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों के बीच "ग्रामीण अध्ययन" की परंपरा का विहंगम दृश्य दिखाई देगा। जिस तरीके से गाँव के सामाजिक जीवन का अध्ययन किया गया इसमें जो तरीके अपनाए गए और जिन मुद्दों/प्रश्नों को केंद्रबिंदु बनाया गया, उनके अतिरिक्त यह इकाई ग्रामीण अध्ययन की परंपरा का समीक्षात्मक मूल्यांकन भी प्रस्तुत करेंगी।

3.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

MAADHYAM IAS

यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन समय में ग्राम्य-जीवन का विस्तृत विवरण मिलता है, यह अंग्रेजी उपनिवेशवाद का समय था, जब औपनिवेशिक प्रशासक भारतीय गाँवों की छवि का निर्माण कर रहे थे जिनके दूरगामी निहितार्थ थे— वे जिन विचारवादी और राजनीतिक तरीके से भारतीय समाज का निरूपण कर रहे थे उसी तरीके से आने वाले समय में भारतीय समाज की सकल्पना की जानी थी।

जेम्स मिल के पूर्व लेखन के साथ चार्ल्स मेंटकॉफ की भारतीय समुदाय के प्रति धारणा ने बाद में ग्रामीण भारत पर लिखे जाने वाले लेखन की शैली निर्धारित की। मेटकॉफ ने अपनी प्रसिद्ध टिप्पणी में कहा कि "भारतीय ग्रामीण समाज कुछ गणतंत्रात्मक था, उनके पास वह सबकुछ था जिसकी उन्हें इच्छा थी, और बाहरी संबंधों से वे लगभग असंपृक्त थे। वे वहाँ टिके रहे जहाँ कुछ भी नहीं टिक सकता। एक के बाद दूसरा वंश आया, पीढ़ियाँ बदलती रहीं; एक आंदोलन के बाद दूसरा आंदोलन आया लेकिन ग्रामीण समुदाय वैसा ही रहा।" (कोहन, 1987 : 213) यद्यपि सभी औपनिवेशिक प्रशासक भारतीय ग्राम के मेटकॉफ के मूल्यांकन से सहमत नहीं थे इसके बावजूद यह भात का सर्वाधिक प्रचलित और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व करने वाला मूल्यांकन बना। औपनिवेशिक भाषा में भारतीय गाँव जमीन के सामुदायिक स्वामित्व वाला आत्म-निर्भर समुदाय था तथा विभिन्न व्यवसाय वाले समूहों की कार्यात्मक एकता उसकी पहचान थी। जितनी विभिन्नता थी उतना ही स्थायित्व भी था, सरलता और सामाजिक सामंजस्य को गाँवों की विशेषता माना गया और इसे भारतीय सभ्यता की आधारित इकाई के तौर पर भी लिया गया। "प्रत्येक गाँव एक आंतरिक संसार था, एक पारंपरिक समुदाय, अर्थव्यवस्था में आत्मनिर्भर, शासन में पितृसत्तात्मक, अन्य विरोधी गाँवों से घिरा हुआ और निरंकुश सरकार वाला।" (इंडेन, 1990 : 133)

कई प्रकार से यहाँ तक कि राष्ट्रवादियों की भाषा में, गाँवों को देशीय जीवन का प्रामाणिक प्रतिनिधि मानने का विचार इसी तरह की कल्पना से लिया गया था। यद्यपि गांधी ब्रिटिश भारत के गाँवों की अवनति का गुणगान करने के प्रति बहुत सचेत थे, इसके बावजूद उन्होंने कथिक सरलता और ग्रामीण जीवन की प्रामाणिकता को ख्याति दी, उनकी ऐसी छवि थी जो भारतीय गाँव की औपनिवेशिक व्याख्या के अनुरूप थी। गाँवों के ह्रास को औपनिवेशिक शासन के परिणाम के रूप में देखा गया और इसीलिए राजनीतिकि स्वतंत्रता के साथ ही साथ गाँवों का पुनर्निर्माण पुनरूद्धार की महत्वपूर्ण प्रक्रिया थी। (देखें जोधका 2002)।

स्वतंत्रता के बाद भी "गाँवों" को भारतीय समाज की आधारित इकाई माना जाता रहा। शैक्षिक परंपरा में गाँवों का अध्ययन संभवत: भारत में कार्यरत समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों के बीच सर्वाधिक प्रचलित था। उन्होंने भारत के गाँवों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को केंद्रित करते हुए बड़ी संख्या में अध्ययन किए। इनमें से अधिकांश अध्ययनों का प्रकाशन 1950 और 1960 के दशकों के दौरान हुआ। इन "ग्रामीण अध्ययनों" ने भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान के विषयों को सम्मान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सामान्यत: प्रत्यक्ष रूप से क्षेत्रीय कार्य पर आधारित लेखे-जोखे के आधार पर जो ज्यादातर एक ही गाँव से लिए गए थे, सामाजिक मानवविज्ञानियों ने ग्रामीण लोगों के सामाजिक संबंधों, संस्थागत तरीके, विश्वासों एवं मूल्य प्रणाली की संरचना को केंद्रबिंदु बनाया। इन अध्ययनों के प्रकाशन से भारतीय सामाजिक विज्ञान के इतिहास में एक नए चरण की शुरुआत को पहचान मिली। पहली बार उन्होंने भारतीय समाज की क्षेत्रीय कार्य पर आधारित समझ की प्रासंगिकता प्रदर्शित की या जिसे भारत के "क्षेत्रीय विचार" के रूप में जाना गया जो तत्कालीन भारत की प्रभावशाली "पुस्तकीय विचार" से भिन्न थी जो प्राचीन हिंदू धर्मग्रंथों में भारतीय विद्याशास्त्रियों और प्राच्यविद्याशास्त्रियों द्वारा विकसित थी।

3.3 संदर्भ

औपनिवेशिक प्रशासकों/मानवजाति विज्ञानियों के बाद वह "छोटा" सामाजिक मानवशास्त्र का ही विषय था जिसने विस्तृत रूप से 1950 और 1960 के दौरान भारतीय गाँवों का अध्ययन किया। ग्रामीण सामाजिक जीवन में यह नई रुचि पाश्चात्य अकादमी में किसानों के जीवन पर अध्ययन में उभरी नई-नई रुचि का सीधा प्रसार थी।

युद्ध के बाद उपनिवेशन के समाप्त होने के परिणामस्वरूप तथाकथित "नए राज्यों" के उद्गम का सामाजिक विज्ञान में अनुसंधान की प्राथमिकताओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव था। नए तौर पर उभरे "तीसरे विश्व" के देशों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी जनसंख्या के एक बड़े अनुपात का स्थिर कृषि क्षेत्र। पर निर्भरता थी। इसीलिए औद्योगीकरण के बावजूद नए राजनीतिक शासकों के लिए उनकी कार्यसूची का एक प्रमुख मद उनकी "पिछड़ी" और स्थिर कृषि अर्थव्यवस्था थी। यद्यपि कार्यनीतियों और प्राथमिकताओं में फर्क था, तथापि "आधुनिकता" और विकास अधिकांश तीसरी दुनिया के देशों के प्रमुख सामान्य कार्यक्रम बन गए।

कृषि-संबंधों की वर्तमान संरचना को समझना और उन्हें रूपांतरित करने के तरीकों और मार्गों का पता लगाना विकास अध्ययन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राथमिकताओं के रूप में पहचाने गए। यह इस संदर्भ मे था कि "कृषि" को सामाजिक मानवविज्ञान के विषय में सबसे प्रचलित पाया गया। उस समय जब आदिम जनजातियाँ या तो लुप्त होने की प्रक्रिया में थीं या पहले ही लुप्त हो चुकी थीं, "कृषक-वर्ग" की खोज ने सामाजिक मानवविज्ञान की शाखा को जीवन का नया अध्याय प्रदान किया।

"ग्रामीण समुदाय" को एशिया में कृषि अर्थव्यवस्था के सामाजिक आधार के रूप में पहचाना गया। रेडफील्ड के "कृषक अध्ययन" (पीजैंट स्टडीज़) रेडफील्ड, 1965 और भारतीय "ग्राम

अध्ययन" के बीच संबंध देखा जा सकता है। भारतीय गाँव का अध्ययन करने वाले मानवविज्ञानियों द्वारा प्रयुक्त सर्वाधिक प्रचलित अवधारणा रॉबर्ट रेडफील्ड की "लघु समुदाय" की कल्पना थी। इस विषय पर सबसे पहला कार्य 'विलेज इंडिया : स्टडीज़ इन दि लिटल कम्यूनिटी" (एम मैरियट द्वारा सपादित, 1955) (ग्रामीण भारत, लघु समुदाय में अध्ययन) का प्रकाशन रेडफील्ड के पर्यवेक्षण में हुआ था। उन्होंने इस पुस्तक का प्राक्कथन भी लिखा।

गाँव में प्रासंगिक विषय पाकर सामाजिक मानवविज्ञानियों (जिनमें से ज्यादातर या तो पाश्चात्य थे या वे भारतीय विद्वान थे जिन्होंने पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण प्राप्त किया था) ने 1950 के आरंभ में क्षेत्रीय अध्ययन आरंभ किया। अक्टूबर 1951 और मई 1954 के दौरान *इकॉनोमिक वीकली* में (जो बाद में *इकॉनोमिक और पोलीटिकल वीकली* बना) अलग-अलग गाँवों के संक्षिप्त लेखे-जोखे वाले लघु निबंध विभिन्न मानवविज्ञानियों के अध्ययन के आधार पर प्रकाशित हुए। ये निबंध बाद में 1955 में *लिटिल इंडियाज़ विलेज* में एम.एन. श्रीनिवास के साथ पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, मैकिम मैरियट की पुस्तक *विलेज इंडिया* भी उसी वर्ष आई। मजेदार बात यह है कि डी.एन. मजूमदार की *रूरल प्रोफाइल* (ग्रामीण परिदृश्य) का पहला खंड भी उसी वर्ष 1955 में आया। एस.सी. दुबे ने भी उसी वर्ष हैदराबाद के निकट एक गाँव का संपूर्ण अध्ययन *इंडिया विलेज* प्रकाशित किया।

बॉक्स 3.01 : भारत में गाँवों पर महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के विचार

महात्मा गांधी ने 5 अक्टूबर 1945 को श्री जवाहरलाल नेहरू को मूल रूप से हिंदी में लिखे पत्र में भारतीय गाँवों पर सामान्य और विशेष रूप से अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने लिखा, "..... मेरा यह विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और भारत के माध्यम से पूरे विश्व को, तो शीघ्र या देर से यह सत्य जान लेना चाहिए कि लोगों को गाँवों में रहना पड़ेगा, शहरों में नहीं, झोपड़ियों में रहना होगा, महलों में नहीं, करोड़ों लोग शहरों और महलों में एक दूसरे के साथ कभी भी शांति से नहीं रह सकते। तब उनके पास कोई उपाय नहीं होगा, हिंसा और असत्य का सहारा लेने के अलावा। मैं मानता हूँ कि बना सत्य और अहिंसा के मानवता का हनन होगा। हमें सत्य और अहिंसा का बोध केवल गाँव के सरल जीवन में हो सकता है .....

जवाहरला नेहरू ने बापू के पत्र के जवाब में अन्य बातों के अतिरिक्त लिखा, "पूरा प्रश्न यह है कि इस समाज को कैसे प्राप्त किया जाए और उसका सार क्या हो। मैं नहीं समझता कि गाँव ही क्यों सत्य और अहिंसा के साकार रूप हैं। सामान्य तौर पर कहूँ तो गाँव बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हैं और पिछड़े वातावरण से कोई प्रगति नहीं हो सकती। संकीर्ण मानसिकता वाले लोग ज्यादा झूठे और हिंसक होते हैं।" (दि सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी वॉल्यूम IV सेलेक्टेड लेटस, जनरल एडिटर श्रीमर नारायण, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद पृ. सं. 98-101 (महात्मा गांधी के चुने हुए कार्य खंड IV चुने हुए पत्र, संपादक, श्रीमन नारायण)।

साठ और सत्तर के दशक में ग्रामीण अध्ययन का एक आभासी विस्फोट हुआ था। यद्यपि इस क्षेत्र में समाजिक मानवविज्ञानी प्रथम थे, जिस पर वे हमेशा हो रहे, अन्य विषयों के भी विज्ञान जैसे राजनीतिशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र और अन्य भी इस ओर आकर्षित हुए। (बेते, 1996 : 235)। यद्यपि अधिकांश अध्ययनों ने ग्रामीण लोगों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के ज्यादा सामान्य लेखे-जोखे प्रदान किए बाद के कुछ अध्ययनों में ग्रामीण सामाजिक संरचना के कुछ विशेष पहलू जैसे स्तरीकरण, रिश्तेदारी या धर्म को भी केंद्रित किया गया।

3.4 कृषि और कृषि कार्य

किसी मानवविज्ञानी ने खासतौर पर किसी एक "मध्यम" आकार के गाँव को चुना जहाँ उसने गहन क्षेत्रीय कार्य किया, आमतौर पर वे वहीं उसी "समुदाय" के बीच पर्याप्त लंबे समय तक

जैसे एक से दो वर्षों तक रहते थे और अंत में जब वे बाहर आते थे, तो गाँव के लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लेखे-जोखे का एक "समग्र" रूप उनके मस्तिष्क में होता था।

इन अध्ययनों में जो सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी जिसकी वजह से इन्हें मानववैज्ञानिक अध्ययन कहा गया वह क्षेत्रीय कार्य का अंग था और पश्चिम में मानव-वैज्ञानिकों द्वारा विकसित आंकड़ा संग्रहण का "प्रतिभागी-अवलोकन" विधि का प्रयोग करना था, जिसका विकास जनजातीय समुदायों का अध्ययन करते समय किया गया था। "प्रतिभागी अवलोकन" को ऐसी विधि के रूप में देखा गया जो आंतरिक सामाजिक जीवन को लोगों द्वारा इसे दिए गए मूल्यों और अर्थ के संदर्भ में समझता था।

बॉक्स 3.02 : प्रतिभागी का अवलोकन

प्रतिभागी-प्रेक्षण विधि ने मानवविज्ञान की पूर्ववर्ती परंपरा, जब इसने जनजातियों का अध्ययन किया था और बाद में गाँवों के संबंध में इसके द्वारा किए गए कार्यों के बीच निरंतरता प्रदान की। जैसा कि बेते लिखते हैं :

जनजातीय क्षेत्रों से ग्रामीण अध्ययन की ओर जाने में सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने शिल्प की एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता अर्थात् व्यापक क्षेत्रीय अध्ययन की विधि को ज्यों का त्यों अपनाया .....। इन मानकों की स्थापना पहले मेलिनोस्कि और उनके अनुयायियों द्वारा बीसवें, तीसवें, चालीसवें और पचासवें दशक में लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स में की गई थी और इनको विश्वभर के मानवविज्ञान के व्यवसायिकों द्वारा अपनाया गया (बेते, 1996 : 233-4)।

3.5 गाँव का महत्व

इस प्रकार कृषक समाज की खोज ने सामाजिक मानवविज्ञान को और अधिक शक्ति प्रदान की। विश्व-युद्ध के बाद समय के उदयमान बौद्धिक और राजनीतिक वातावरण में मानवविज्ञानिकों ने स्वयं को "परम्परांगत सामाजिक क्रम" के लिए प्रामाणिक और वैज्ञानिक तथ्य प्रदान करने वाले वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में देखा, जिसके रूपांतरण ने एक वैश्विक विचारधारा का रूप ग्रहरण किया। विकास एजेंसियों के लिए समाजशास्त्रियों और मानववैज्ञानिकों द्वारा की जा रही परियोजनाओं से प्रत्यक्षत: अनेक ग्रामीण विनिबंध उत्पत्ति हुई। इनमें दूबे (1955), मजूमदार (1958) और लेविस (1985) के अध्ययन शामिल हैं। लेविस ने दिल्ली के समीप एक गाँव का अध्ययन किया था, लिखते हैं :

> हमारा कार्य शुरू से ही समस्याओं से जुड़ा हुआ था। हमने जिन समस्याओं का गहराई से अध्ययन किया वे ग्रामीणों द्वारा महसूस की जा रही आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि-समेकन कार्यक्रम और सरकार द्वारा नई प्रायोजित पंचायतों से संबंधित थीं। (लेविस, 1958 : ix)।

लेविस की नियुक्ति फोर्ड फाउंडेशन ऑफ इंडिया द्वारा ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यक्रम के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के लिए योजना का विकास करने में सहायता करने के लिए योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन में की गई थी।

वे अपने समकक्ष अर्थशास्त्रियों से अलग किस्म के मानववैज्ञानी थे। उन्होंने गाँव को "लोगों के द्वारा व्यतीत किए जा रहे जीवन के सांस्कृतिक जीवन" और "ग्रामीण जीवन को परस्पर बंधा हुआ और परस्पर स्वतंत्र रूप से देखा" जिसने सामाजिक रचनाकारों को भ्रमित किया क्योंकि यह नियोजित अर्थव्यवस्था के अनुकूल नहीं था। इसलिए अब अर्थशास्त्रियों को समाजशास्त्रियों और मानववैज्ञानिकों की सहायता की आवश्यकता महसूस हुई। (मजूमदार, 1955 : iv)।

यद्यपि उनसे नियोजन-प्रक्रिया में केवल बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों की सहायता करने की उम्मीद की गई थी, लेकिन मानववैज्ञानिकों ने अपने परिप्रेक्ष्य को अधिक "सर्वोच्च" माना क्योंकि "केवल

उन्होंने ही ग्राम-समाज का समग्रता से अध्ययन किया और उनके ज्ञान तथा उपागम ने ग्रामीण जीवन के किसी एक पहलू पर आंकड़ों के समुचित निर्वचन (व्याख्या) के लिए एक अपरिहार्य पृष्ठभूमि उपलब्ध कराई थी। उनके उपागम ने अर्थशास्त्रियों, राजनीतिक विज्ञानियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए एक चिर-प्रतीक्षित सुधारात्मक उपागम उपलब्ध कराया (श्रीनिवास, 1955 : 90)।

मानववैज्ञानिकों ने अर्थशास्त्रियों और सरकारी योजनाकरों के दृष्टिकोण की आलोचना की क्योंकि वे "लोगों को अपने हाथ की कठपुतली समझते थे।" वास्तव में लोगों के पास अपने भौतिक, बौद्धिक, और नैतिक संसाधन मौजूद थे, और वे उनका इस्तेमाल अपने हित में कर सकते थे, लेकिन उनको सत्ताधारी लोगों की मान्यता प्राप्त नहीं थी (श्रीनिवास 1978 : 34)।

अर्थशात्रियों ने **मात्रात्मक तकनीक** का प्रयोग किया और उनका तरीका ज्यादा वैज्ञानिक था। लेकिन मानवविज्ञानियों के उपागम के अपने कुछ फायदे थे। मानवविज्ञानियों के अध्ययन ने **गुणात्मक विश्लेषण** उपलब्ध कराया। मानवविज्ञानी विधि के लिए यह अपेक्षित था कि इसके अनुयायियों या मानने वालों ने एक "लघु विश्व का चयन किया, जिसका गहन अध्ययन सामाजिक संबंधों की जटिल प्रणाली के विश्लेषण को लम्बे समय तक करने के लिए किया जा सकता था" (एपिस्टन, 1962 : 2)।

फिर भी, उनमें से सभी विकास कार्यक्रमों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए नहीं थे। वास्तव में उनमें से अधिकतर लोगों ने अपने कार्यों की प्रासंगिकता को व्यावसायिक रूप में देखा। सरकारी एजेंसियों के साथ घनिष्ठता से जुड़ने के विपरीत स्थिति को अपनाते हुए श्रीनिवास ने तर्क दिया कि "मानवविज्ञानियों का केवल एक या दो समाजों से ही परिचय था तथा उन्हें इनके बारे में प्राथमिक स्तर का ज्ञान था और वे योजनाकारों के सुझाव के अनुसार अपने ज्ञान को मूर्त रूप दे सकते थे। कुछ मामलों में तो वे किसी विशेष प्रकार की प्रशासनिक विधि का पूर्वानुमान लगाने में भी सक्षम थे। लेकिन वह नीति का निर्धारण नहीं कर सकता था क्योंकि यह सही और गलत के बारे में कुछ निश्चित निर्णयों का परिणाम था। (श्रीनिवास, 1960 : 13)। इस प्रकार राजनीतिक अभिकरणों से "सुरक्षित" दूरी बनाए रखना जरूरी हो गया था क्योंकि अर्थशास्त्र के विपरीत सामाजिक मानवविज्ञान ऐसा कोई सैद्धांतिक आधार नहीं था जो उसे अनुप्रयुक्त विज्ञान बनाने में सहायक सिद्ध हो सके।

गाँवों के अध्ययन की प्रासंगिकता को क्रियाविधि के रूप में देखा गया। गाँवों और इनके उपग्रामों ने "लघु जगत में भारत" का प्रतिनिधित्व किया (होबल, हेबर्ट, 1971 : vii)। मानवविज्ञानियों के लिए, "वे अमूल्य प्रेक्षण केंद्र थे जहाँ पर वे विस्तार से उन सामाजिक प्रक्रियाओं और समस्याओं का अध्ययन कर सकते थे जो भारत के अधिकतर भागों में विद्यमान थीं (श्रीनिवास 1955 : 99)। सम्भवतया गाँव लोगों, उनके जीवन, आजीविका और संस्कृति के अधिक निकट थे और वे वैयक्तिक प्रतिष्ठा और पहचान के केंद्र में थे। एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक और सामाजिक इकाई के रूप में गाँवों ने इसके निवासियों के व्यवहार के ढंग को बहुत अधिक प्रभावित किया। ऐसा माना जाता है कि गाँवों का अस्तित्व कई सौ साल पुराना है। इन्होंने अनेक युद्ध झेले हैं, अनेक बादशाह बनाए हैं तथा राजघरानों को उजड़ते देखा है, अकाल, बाढ़ और अन्य प्राकृतिक आपदाओं को झेला है। इस "ऐतिहासिक निरंतरता और गाँवों के स्थायित्व" ने ग्राम अध्ययन के लिए सशक्त और सुदृढ़ केस प्रस्तुत किए हैं (दासगुप्ता, 1978 : 1)।

पचास और साठ के दशकों में ग्राम अध्ययन का काम भी महत्वपूर्ण था क्योंकि इस अवधि में भारतीय समाज में तेजी से बदलाव आ रहा था और मानवविज्ञानियों को समय से परंपरागत सामाजिक व्यवस्था के विवरणों का रिकार्ड रखना बहुत जरूरी था। इस तात्कालिकता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए श्रीनिवास ने लिखा, "जहाँ तक हो सके हमें मूलभूत रूप से और तेजी से बदलते हुए समाज के तथ्यों को आगामी दस वर्षों में रिकॉर्ड कर लेना चाहिए। (श्रीनिवास, 1955 : 99)।

MADHYAM IAS

3.6 गाँव की सामान्य विशेषताएँ

आदिवासी समुदायों से भिन्न भारतीय गाँवों में पर्याप्त विविधता पाई जाती थी। यह विविधता आंतरिक और बाह्य दोनों रूप में मिलती थी। गाँव आंतरिक रूप से विभिन्न समूहों में बँटे हुए थे और इनमें सामाजिक संबंधों और संस्थागत प्रबंध की जटिल संरचना थी। देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार के गाँव थे। यहाँ तक कि देश के किसी एक विशेष भाग में भी अलग-अलग प्रकार के गाँव थे और सभी गाँव एक समान नहीं थे।

आत्मनिर्भर समुदाय के रूप में भारतीय गाँवों की तथाकथित या रूढ़िगत छाप का मानववैज्ञानिक अध्ययनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रण किया गया। उदाहरण के लिए बेटली का तर्क था कि जहाँ तक पिछले समय यानी भूतकाल के बारे में हमें याद है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि गाँव (जिसका उन्होंने अध्ययन किया था) आर्थिक क्षेत्र में पूर्णत: आत्मनिर्भर थे (बेटली, 1996 : 136-7)। इसी तरह से श्रीनिवास ने भी इस औपनिवेशिक अवधारणा का उल्लेख किया कि भारतीय गाँव पूर्णत: आत्मनिर्भर गणतंत्र थे। उनका तर्क था कि गाँव हमेशा ही एक व्यापक अस्तित्व या सत्ता का अंग रहा है (श्रीनिवास, 1960 : 10)।

लेकिन इन सब तथ्यों के बावजूद गाँव का बाहरी दुनिया से संपर्क रहा है भारत के ग्रामीण समाज की विविधता की व्याख्या को दर्शाने वाली विशेषता कि भारत के गाँवों की 'एकता" का अधिकांश मानवविज्ञानियों ने चित्रण किया है। यह तथ्य कि गाँव ने बाहरी दुनिया के साथ संबंध बनाए रखे थे, इसका यह अर्थ नहीं था कि इसकी अपनी कोई संरचना नहीं थी और भारतीय समाज के जीवन को प्रतिनिधि इकाई के रूप में इसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। जहाँ एक तरफ गाँवों के बीच समानांतर संपर्क था वहीं दूसरी ओर गाँव के बीच के लम्बवत संपर्कों ने गाँव के औसतन व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थिति किया था।

गाँव ने अपने निवासियों को पहचान का एक महत्वपूर्ण स्रोत उपलब्ध कराया। विभिन्न विद्वानों ने गाँव की पहचान के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार से राय व्यक्त की और पहचान के अन्य स्रोतों जैसे जाति, वर्ग और स्थान से इसकी तुलना की। श्रीनिवास का तर्क था कि अपने गाँव में व्यक्ति में अपने गाँव के साथ पहचान की भावना होती है और अपने गाँव के अपमान को गाँव का प्रत्येक व्यक्ति अपना, अपनी पत्नी अथवा अपने परिवार का अपमान समझता है (श्रीनिवास 1976 : 270)। इसी प्रकार से, दूबे का तर्क था कि यद्यपि भारत के गाँव अपनी आंतरिक संरचना और संगठन, लोकाचार और विश्व-दर्शन, और जीवनशैली तथा विचारशैली व्यापक रूप से भिन्न-भिन्न हो सकती हैं लेकिन विभिन्न मामलों में संपूर्ण भारतवर्ष के ग्रामीण समुदाय में एक जैसी विशेषताएँ पाई जाती हैं। सामाजिक संगठन के रूप में ग्रामीण बंदोबस्त एक प्रकार के भाईचारे का प्रतिनिधित्व करता है जो नातेदारी, जाति और वर्ग से भिन्न है। प्रत्येक गाँव का अपना विशेष अस्तित्व होता है, कुछ निजी रीति-रिवाज और कहावतें होती हैं और वाणिज्यिक एकता होती हैं। गाँव में रहने वाली विभिन्न जातियाँ और समुदाय आर्थिक, सामाजिक और आनुष्ठानिक रूप में एकीकृत होती हैं और ये परंपरागत रूप से आमतौर पर स्वीकार्य पारस्परिक बाध्यताओं, मान्यताओं और सहमति से सूत्रबद्ध होती हैं। ग्रामीण समाज में समूहों और गुटों के होते हुए भी, गाँव के लोग बाहरी दुनिया का संगठित और एक होकर सामना कर सकते हैं और करते हैं (दूबे, 1960 : 202)।

सोचिए और कीजिए 3.01

किसी भारतीय गाँव के समाजशास्त्री द्वारा किए गए अध्ययन को पढ़ें और उसके बाद एक उपन्यास पढ़ें जैसे – श्रीलाल शुक्ल का "रागदरबारी" (हिंदी में), अथवा प्रो. आर.के. नारायण का मालगुड़ी डेज (अंग्रेजी)।

एक भारतीय गाँव का वर्णन करते हुए एक निबंध लिखिए जैसा कि किसी समाजविज्ञानी द्वारा लिखा गया है और इसकी तुलना किसी सर्जनात्मक लेखक द्वारा भारतीय गाँव पर लिखे निबंध से करें। अपने निबंध की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के निबंध से भी करें।

डब्ल्यू. एच. बाइजर ने शुरू में **हिंदू जजमानी प्रथा** के 1936 में प्रकाशित अपने अध्ययन में "पारस्परिकता" (reciprocity) के ढाँचे में भारतीय गाँव में जाति समूहों के बीच के सामाजिक संबंधों को संकल्पना के रूप में व्यक्त किया था। पारस्परिकता की संरचना के अनुसार, यद्यपि गाँव का सामाजिक संगठन वंशानुगत था, लेकिन यह विभिन्न जाति समूहों के बीच "परस्पर निर्भर" था जो भारतीय गाँव की भावनागत विशेषता को प्रकट करता है। पारस्परिकता का अर्थ है शोषणकारी, सुनिश्चितता अथवा अन्तर्निहितता समान सेवाओं का विनिमय और गैर-शोषणकारी, संबंध। पारस्परिक या आपसी संतुष्टि को पारस्परिक विनिमय का परिणाम माना गया।

ये सभी एक-दूसरे के लिए काम करते थे बदले में हर कोई मालिक था और हर कोई नौकर था (वाइजर 1996 : 10)।

यद्यपि बाद के अध्ययन ज्यादा विस्तृत थे और उनमें ग्रामीण समाज में व्याप्त सामाजिक असमानता और विभिन्नताओं के विभिन्न रूपों के लंबे विवरण मौजूद हैं, इनमें से अधिकांश ने पारस्परिकता के ढाँचे का इस्तेमाल किया है, विशेषत: ग्रामीण सामाजिक जीवन की "एकता" की संकल्पना में। किंतु सब लोगों ने श्रीनिवास और दूबे या इनसे पहले जैसा वाइजर ने किया था उस तरह से गाँव की एकता पर जोर नहीं दिया है। कुछ मानवशास्त्रियों ने एकता की धारणा का स्पष्ट रूप से प्रतिरोध किया जबकि अन्य लोगों ने अपने तर्कों को गाँव के अंदर के संघर्ष और बाहर के लोगों के साथ उनकी जो बाध्यताएँ थीं उनसे पुष्ट किया। उदाहरण के लिए पॉल हेबर्ट ने एक दक्षिण भारतीय गाँव के अपने अध्ययन में हालांकि यह तर्क दिया है कि जाति प्रथा ने गाँव को स्थायित्व का स्रोत प्रदान किया है, किंतु साथ ही उन्होंने यह सत्य भी रेखांकित किया कि गहराई से गाँव में जो विभाजन है वह गाँव की स्पष्ट एकता में बाधक है और इसने इसे असंख्य सामाजिक समूहों में बाँट दिया है" (हीबर्ट, 1971 : 13)। इसी प्रकार, बेते ने तर्क दिया है कि उनका गाँव के अध्ययन में "श्रीपुरम समग्र रूप में भौतिक अर्थों में एक इकाई प्रदर्शित करता है और सामाजिक अर्थों में कुछ कम" (बेते, 1996 : 39)।

उन लोगों में जिन्होंने सामुदायिक एकता को लगभग अस्वीकार कर दिया था, लेविस और बेली प्रमुख थे। उदाहरण के लिए एफ.जी. बेली ने "एकता-पारस्परिकता" सिद्धांत की परिवर्तनवादी समीक्षा प्रस्तुत की और एक वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया। जाति संबंधों के पीड़ादायक पहलुओं पर जोर देते हुए वे लिखते हैं :

.... जो लोग जाति प्रथा को पसंद करते थे उन्होंने विभिन्न जातियों के बीच परस्पर निर्भरता पर जोर देते इस प्रथा की सुव्यवस्था के बारे में बढ़ा चढ़ा कर लिखा है। परस्पर निर्भरता का अर्थ है कि प्रत्येक आदमी दूसरे पर निर्भर है, अर्थात, "पारस्परिकता"। इससे समानता के विचारों की तरफ आसानी से जाया जा सकता है : क्योंकि मनुष्य समान रूप से एक दूसरे पर निर्भर हैं, उन्हें इस तरीके से भी समान माना जा सकता है। जाति प्रथा पर जब कभी-कभी तर्क होता है समानता का दर्जा गलत साबित होता है और तब परस्पर निर्भरता की व्याख्या की जाती है और इसका इशारा इस तरफ है कि यदि किसी एक जाति के लोग अपना काम करना बंद कर दें तो अन्य जाति के लोग वस्तुत: अपना अधिकार कायम नहीं रख पाएँगे। यद्यपि यह प्रथा पारस्परिकता की बाध्यता की वजह से उतनी स्थिर नहीं है जितनी कि इसके एक हिस्से के केंद्रकरण से है। यह प्रथा इस तरह से इसलिए संचालित होती है, क्योंकि बल-प्रयोग करने के अधिकार प्रभावशाली जातियों के पास थे। पारस्परिकता की बाध्यता थी किंतु निर्भर जातियाँ इसका उपयोग उतनी आसानी से नहीं कर सकती थीं (बेली, 1960 : 258)।

फिर भी इस तरह का परिप्रेक्ष्य 1950 और 1960 के दौरान के समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों के बीच लोकप्रिय नहीं हो सका। वे अलग-अलग बातों पर जोर देकर "एकता-पारस्परिकता" के ढाँचे के अंदर ही विस्तृत रूप से काम करते रहे।

3.7 गाँव की सामाजिक संरचना : जाति, वर्ग और लैंगिक भेदभाव

जिन ऐतिहासिक और बौद्धिक संदर्भों में सामाजिक मानवविज्ञानी कार्य कर रहे थे उनसे उनके अध्ययन के लिए अनुसंधान के विभिन्न प्रश्नों का चयन करने में बहुत मार्गदर्शन मिला। आदिवासी समुदायों के अध्ययन की परंपरा जिससे एक "समग्र" परिप्रेक्ष्य पर बल दिया गया, इससे भी गाँवों का चित्रण करने के तरीके पर प्रभाव पड़ा।

उन "छोटे समुदायों" में नातेदारी, धर्म और धार्मिक कृत्यों आदि पूर्वाग्रहों के बावजूद गाँवों की आंतरिक संरचना और सामाजिक जीवन का वर्णन वहाँ व्याप्त विभिन्नताओं पर नजर डाले बिना पूरा नहीं हो सकता। सैद्धांतिक रूप से "एकता" पर जोड डालने का यह अर्थ नहीं है कि वहाँ विभिन्नता या सामाजिक असमानता नहीं है। न ही इसका अर्थ यह है कि ये प्रश्न सामाजिक मानवविज्ञान के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि सभी ने असमानता की संरचना को समझने पर अपना सीधा ध्यान केंद्रित कर अपना कार्य आरंभ नहीं किया, बल्कि लगभग प्रत्येक ने गाँव के सामाजिक जीवन में व्याप्त जाति, वर्ग और लिंग के अंतरों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। अनुभवजन्य वर्णन में समृद्ध होने के कारण कोई व्यक्ति सामाजिक संबंधों का चित्र तैयार कर सकता है, किंतु जरूरी नहीं है कि वह चित्र वैसा ही हो जैसा कि इन अध्ययनों में वास्तव में तैयार किया गया है।

i) जाति प्रथा

जाति और परंपरा भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता और लक्षण के रूप में लंबे समय से विद्यमान है। पहली बार औपनिवेशिक काल में जाति को आधुनिक समाजशास्त्रीय भाषा में सिद्धांत रूप में परिभाषित किया गया। औपनिवेशिक प्रशासकों ने मानवजाति विज्ञान संबंधी गहन ब्यौरे एकत्र किए और इस उप-महाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में किस तरह की जातिगत विशेषताएँ और परंपराएँ मौजूद हैं इस बारे में लेखा-जोखा तैयार किया और लिखा। स्वातंत्रयोत्तर भारत में सामाजिक मानवविज्ञान का वही दृष्टिकोण रहा जिसमें भारतीय समाज में जाति को सर्वाधिक महत्पूर्ण और प्रमुख विशेषता के तौर पर देखा गया, जबकि जाति एक ठोस संरचना के रूप में विद्यमान थी जिसने गाँवों में सामाजिक संबंधों को निर्देशित किया, परंपरा इसका आदर्श था।

जातिगत समाज में व्यक्ति पारंपरिक विश्व में रहता था। लोग न केवल उच्च और निम्न समूहों में विभाजित थे, बल्कि उनका भोजन, उनके वस्त्र, आभूषण, रीतिरिवाज और तौर तरीके भी परंपरानुसार श्रेणीबद्ध थे। मानवविज्ञानियों ने अपरिवर्तनीय रूप से पारंपरिक वर्ण व्यवस्था को प्रतिपादित किया जिसने हिंदू समाज को पाँच अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया। पहले तीन अर्थात् ब्राह्मण (पुजारी या शिक्षक), क्षत्रिय (शासक और सैनिक) और वैश्यों (व्यापारी) को द्विज अर्थात् दोबारा जन्म लेने वालों के रूप में सम्मान दिया गया। चौथी श्रेणी "शूद्रों" की थी जिनमें असंख्य विभिन्न कार्य करने वाली जातियाँ थीं जिन्हें अपेक्षाकृत "स्वच्छ" माना गया और उन्हें "अस्पृश्य" जाति में रखा गया। पूरे भारत में दूबे के अनुसार इस वर्गीकरण को स्वीकार किया गया।

इन प्रमुख श्रेणियों (वर्ण) में लोगों द्वारा अपनाए जाने वाले वैध व्यवसायों के परंपरानुसार परिभाषित किया गया। प्रत्येक श्रेणी में कई उपसमूह (जाति या उपजाति), जिन्हें वंश परंपरानुसार व्यवस्थित किया जाता था। वर्ण व्यवस्था की इस सामान्य प्रथा में सामाजिक रूप से बहुत सारी स्वायत्त जातियाँ थीं जो कहीं न कहीं पाँच प्रमुख विभाजनों के अंतर्गत आती थीं, किंतु व्यावहारिक तौर पर अपने सामाजिक-धार्मिक जीवन की परिधि में वे स्वतंत्र थीं, (दूबे 1955 : 35-36)। यद्यपि जाति का मूल तत्व "परंपरानुसार वंशानुगत समूहों की एक व्यवस्था है", "वर्ण" के विचार से जो लोकप्रिय धारणा बनी उससे समूहों को इस तरह से व्यवस्थित किया गया कि ब्राह्मणों को सबसे ऊपर और हरिजनों को सबसे नीचे रखा गया, जो अंशत: सही था। अनुभवजन्य अध्ययन यह बताते हैं कि "वास्तव में वंश परंपरा के अनुसार जाति के केवल दो

सिरे निर्धारित किए गए; इनके बीच में विशेषत: मध्य क्षेत्र में परस्पर स्थिति के लिए पर्याप्त तर्क-वितर्क की गुंजाइश थी।" (श्रीनिवास, 1994 : 5)।

जाति विभाजन ने सभी सामाजिक संबंधों को निर्धारित और निश्चित किया। ज्यादातर विद्वानों ने जाति को एक बंद व्यवस्था के रूप में देखा, जहाँ किसी सामाजिक स्थिति में प्रवेश वंशानुगत और व्यक्तिगत उपलब्ध थी, किसी की अपनी गुणवत्ता या धन का सख्त पारंपरिक निर्देशों के अनुसार उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण करने में कोई अर्थ नहीं था (मजूमदार, 1958 : 19)। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे थे, जिन्होंने स्वीकार किया कि जिस तरह से जाति को स्थानीय रूप से संचालित किया गया है वह वर्ण व्यवस्था में वर्णित व्यवस्था से मौलिक रूप से भिन्न है। परस्पर स्थान लेने की बात अनिश्चित थी और यह इस तथ्य का परिणाम थी कि जातियों में गत्यात्मकता संभव थी" (श्रीनिवास, 1976 : 175)।

दूबे ने छह कारण बताए हैं जिनकी वजह से शमीरपेट के ग्रामीण समुदाय में स्थिति विभिन्न आई : धर्म और जाति; भू-स्वामित्व; धन; सरकारी नौकरी और ग्रामीण संगठन में पद; उम्र; और व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता (दूबे, 1955 : 161)। उच्च धार्मिक स्थान प्राप्त करने का दावा इतनी आसान प्रक्रिया नहीं थी जिसे श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण कहा है। केवल कर्मकांडों एवं जीवन-शैली की नकल करके इसे प्राप्त करना संभव नहीं था। उस समूह को स्थानीय आधिकारिक संरचना के स्तर पर बातचीत भी करनी पड़ती थी। इसी प्रकार, धर्मनिरपेक्ष कारणों पर जोर देते हुए दूबे ने उस तरीके का उल्लेख किया है जिसमें निम्न जाति या दास जातियों ने अपने रोजगार सुरक्षित करने के लिए और भू-स्वामी प्रभावशाली जातियों के सामने मोलभाव करने की शक्ति को मजबूत करने के लिए संगठित होकर संघ के तौर पर कार्य किया।

तथापि उनमें से अधिकांस ने जाति प्रथा को जजमानी व्यवस्था के ढाँचे में कार्य करते देखा और एक गाँव में या गाँवों के समूह में रहने वाली विभिन्न जातियों को स्थायी और व्यापक संबंधों में एक दूसरे के प्रति बंधे हुए देखा।

सोचिए और कीजिए 3.02

आप किसी समाजशास्त्री के अपने अध्ययन/क्षेत्रीय कार्य पर आधारित भारत में जाति के बारे में उनके विचार पढ़ें। एक व्यक्ति के तौर पर आप जाति को एक सामाजिक यथार्थ के तौर पर पाएँगे। आप अपने अनुभवों पर विचार करें और लगभग दो पृष्ठों में एक रिपोर्ट लिखें।

अपनी रिपोर्ट के बारे में अपने अध्ययन केंद्र पर विद्यार्थियों के साथ शैक्षिक परामर्शदाता के साथ चर्चा करें।

ii) भूमि और वर्ग

जैसा कि ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है, पचास और साठ के दश में जो मानवविज्ञानी भारत का अध्ययन कर रहे थे उन्होंने सामान्य तौर पर जाति के ढाँचे में ही अपना अध्ययन किया। जिस तरीके से सामाजिक विज्ञानशास्त्र के रूप में भारत में विकसित हुआ, **वर्ग और भूमि** भी अर्थशास्त्रियों के चिंतन का विषय बने। किंतु, चूँकि मानवविज्ञानियों ने ऐसे परिप्रेक्ष्य का समर्थन किया जिससे "छोटे समुदायों" का समग्र रूप से अध्ययन किया गया और इससे कृषि तथा भूमि पर उत्पादन के सामाजिक संबंधों को भी गाँवों के लेखे-जोखे में स्थान मिल सका।

हालाँकि उनमें से कुछ ने आर्थिक जीवन पर प्रत्यक्ष रूप से केंद्रीय अनुसंधान के प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित किया, जबकि ज्यादातर ने इसे गाँव के जाति और व्यवसाय की संरचना के पहलू से देखा। उनसे संबंधित भूमि संबंध भी परंपरा का वही तरीका दशति हैं जो जाति प्रथा में मौजूद है। "जाति और भूमि की जुड़वाँ परंपराओं के बीच कुछ अतिव्याप्ति है। जो धनी भूस्वामी हैं वे सामान्यत: ब्राह्मणों और लिंगायत जैसी उच्च जातियों से आते हैं, जबकि हरिजनों में ज्यादातर भूमिहीन श्रमिक हैं। इसके विपरीत धनी परिवारों में गरीब नहीं के बराबर हैं (श्रीनिवास, 1976 : 169)।

कुछ अन्य लोगों ने गाँव में सामाजिक परंपरा के निर्धारण में अन्य कारकों में भूमि को प्रमुखता प्रदान की। ब्राह्मण प्रभावित गाँव की जाट प्रभावित गाँव से तुलना करते हुए लेविस ने तर्क दिया कि "हालाँकि भारतीय गाँवों में भूस्वामी आमतौर पर उच्च जातियों के हैं, अत: जाति की अपेक्षा भूस्वामी के तौर पर स्वत: ही उन्हें ऊँचा स्थान और अधिकार मिल जाते हैं (लेविस, 198 : 81)। फिर भी गाँव के सामाजिक जीवन में भूस्वामित्व के ऐसे अत्यंत महत्वपूर्ण संदर्भ के बावजूद गाँवों के अध्ययन देश के विभिन्न भागों में कृषि संबंधी सामाजिक संरचना के ब्यौरे प्रस्तुत नहीं करते। जाति, परिवार नातेदारी और धर्म ही उनके प्रधान केंद्रबिंदु हैं।

iii) लैंगिक भेदभाव

यह ध्यान देने वाली बात है कि यद्यपि "लैंगिक भेदभाव" को संकल्पनात्मक में अभी तक सामाजिक विज्ञान में शामिल नहीं किया गया है, जबकि सामाजिक मानवविज्ञानी 1950 और 1960 के दौरान अपना क्षेत्र-अध्ययन कर रहे थे और गाँवों का अध्ययन पूरी तरह से "लैंगिक भेदभाव" की ओर से अछूता नहीं था। चूँकि लैंगिक भेदभाव की संकल्पना और इससे संबंधित सैद्धांतिक मुद्दों को अभी स्पष्ट किया जाना था, इसलिए सामाजिक मानवविज्ञानियों ने स्त्री-पुरुष संबंधों को उस तरीके से नहीं देखा जिस तरह से बाद में इसकी संकल्पना की गई और अध्ययन किया गया। इसके बावजूद गाँवों के कई विनिबंध, भारत के ग्रामीण समाज में स्त्री-पुरुष के बीच सामाजिक संबंधों के तौर-तरीकों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं। इनमें से कुछ विनिबंधों में इन विषयों पर अलग से अध्याय हैं।

समीक्षात्मक सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य के अभाव में, गाँवों के अध्ययन ने "प्राकृतिक सामाजिक व्यवस्था" के रूप में लैंगिक भेदभाव को प्रस्तुत किया और पितृसत्तात्मक समाज का वर्णन किया। इसके अलावा इन अध्ययनों में प्रस्तुत स्त्री-पुरुष संबंध ज्यादातर उन आँकड़ों पर आधारित थे जो पुरुष सूचना प्रदाता द्वारा प्रदान किए गए थे। ज्यादातर मानवविज्ञानी भी स्वयं पुरुष थे। उनके लिए गाँव के लोगों के "निजी" जीवन में हिस्सा लेना और उनसे मिलना संभवत: कठिन रहा होगा। उनमें से कुछ को इस कमी की जानकारी थी और उन्होंने अपने क्षेत्र-कार्य के अनुभव में इसका उल्लेख भी किया है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ज्यादातर गाँवों के अध्ययन लिंग संबधों को केवल परिवार के ढाँचे के अंदर और कार्य में उनकी हिस्सेदारी तक ही देखते हैं। इन अध्ययनों में परिवार के अंदर ही श्रम के विभाजन और सार्वजनिक तौर पर पुरुष की जो प्रधानता थी उसी पर प्रकाश डाला गया है। विशेषकर ऊँची जातियों में स्त्री घर की चार दीवारी के भीतर सीमित थी। "स्त्री का सामाजिक संसार परिवार और नातेदारी तक ही था जबकि पुरुष का संसार बाहरी दुनिया में भी असीमित था" (श्रीनिवास, 1976 : 137)। भारत के केंद्रीय गाँव में पुरुषों से तुलना करते हुए अपने अध्ययन में मेयर ने लिखा है "स्त्रियों को गाँव के अन्य हिस्सों के लोगों से मिलने के अवसर कम थे। गैर-हरिजन महिलाओं के लिए गाँव में एक खास जगह तय होती थी जहाँ वे गपशप कर सकती थीं। लेकिन उस स्थान पर वे व्यस्त महिलाएँ पानी लेने के लिए एकत्र होती थीं और उनके पास बाते करने के लिए बहुत कम समय होता था क्योंकि घर लौट कर उन्हें अन्य कार्य निपटाने होते थे, इसलिए अपने घरों में उन्हें गलियों की स्त्रियों से बातें करने का समय सीमित था (मेयर, 1960 : 136)। तेलंगाना गाँव में भी दूबे ने देखा कि "यदि स्त्रियाँ अपनी दृष्टि नीचे कर चलती हैं तो उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है" (दूबे, 1955 : 18)।

पितृसत्तात्मक नियम स्पष्ट तौर पर निर्धारित थे। जाति के बाद लिंग ही वह महत्वपूर्ण कारक था जिससे गाँव में श्रम का विभाजन किया जाता था। पुरुष और स्त्रियों के व्यवसाय स्पष्ट तौर पर अलग-अलग बाँटे गए थे (दुबे 1955 : 169)। समान क्षेत्र में अपने गाँव के बारे में लिखते हुए समान पंक्तियों में श्रीनिवास ने बताया है कि व्यवसायों के दो प्रकार न केवल अलग-अलग किए गए थे बल्कि वे असमान भी थे। "पुरुष घर की अर्थव्यवस्था पर पूरा नियंत्रण रखता था। वही अपने यहाँ खेती में काम करने वाले मजदूर जातियों को या कारीगरों को वर्ष भर कार्य

करने के लिए मजदूरी के तौर पर अनाज आदि का भुगतान करता था। "हावी पुरुष का यह विचार था कि स्त्रियाँ घर की चारदीवारी के बाहर की बातों को समझने में असक्षम हैं" (श्रीनिवास, 1976 : 140-1)। पुरुषों का स्त्री की कामवासना पर भी पूरा नियंत्रण रहता था। भारत के ज्यादातर समूहों में एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी। "पुरुष तो इधर-उधर विचरण करने के लिए स्वतंत्र था परंतु स्त्री नहीं। पुरुष अपने पत्नी के जननांगों पर वैसा ही परम अधिकार समझता था जैसी कि उसकी पैतृक और निजी भूमि पर होता है। और जैसे कि परंपरागत तौर पर स्त्री का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता वैसे ही उसका अपने पति के कामुक शौर्य पर कोई विशेषाधिकार नहीं था। बहुपत्नीत्व और उपपत्नीत्व उनके अधिकारों की कमी का प्रमाण है। पुरुष और स्त्री अलग और असमान थे (वही, 155)।

पितृसत्तात्मकता और पुरुष प्रधानता वैध मानदंड थे। "समाज के पारंपरिक मानदंडों के अनुसार पति का स्थान घर में सर्वोपरि होता था और वही निर्णायक होता था। परिवार का मुखिया होने के कारण पत्नी और बच्चों से उसे सम्मान तथा आज्ञापालन की अपेक्षा होती थी। पत्नी को "स्वामी" की तरह उसका आदर और विश्वासपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिए" (दुबे, 1955 : 141)।

बॉक्स 3.03 : दबाव में गाँव

प्रत्येक विचारक, समाजशास्त्री या मानवविज्ञानी इस बात से सहमत नहीं हैं कि भारतीय गाँव सामाजिक तौर पर बड़े रमणीय हैं। वस्तुत: दीपांकर गुप्ता जैसे समाजशास्त्री इस तथ्य से असहमत हैं। वे कहते हैं – "गाँव सामाजिक यथार्थ की तरह सिकुड़ते जा रहे हैं, यद्यपि अभी यहाँ संभावनाएँ हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त ऐसा कहीं भी नहीं है, जहाँ सब तरफ निराश और आकर्षणहीनता दिखाई देती हो। शहरी झुग्गी बस्तियों में दरिद्रता है, गंदगी और अपराध हैं, लेकिन वहाँ एक आशा और उत्तेजना है कि हो सकता है आने वाला कल आज से अलग हो।

आज अगर किसी ग्रामीण को कहीं अन्य अवसर मिलता है तो वह कदाचित किसान नहीं बनना चाहता। वस्तुत: कुछ संस्थाएँ ऐसी रह गई हैं जिनका रूप नहीं बदला है। संयुक्त परिवार लुप्त हो रहे हैं, ग्रामीण जाति प्रथा की परंपरा अपनी दृढ़ता खो रही है और अब भावनात्मक सामंजस्य दिखावे भर के लिए रह गया है, जो संभवत: हमेशा से था। **संभवत: बी.आर. अम्बेडकर का भारतीय गाँवों के प्रति विश्लेषण सर्वाधिक सत्य प्रतीत होता है। यह अम्बेडकर ही थे, जिन्होंने कहा था कि गाँव पतन, भ्रष्टाचार और बदहाली के मलकुंड हैं।** इन सबके बावजूद भारतीय गाँव अतीत में ठीक तरह से चल रहे थे, क्योंकि वहाँ गरीब या अमीर सबके लिए गाँव की सीमाओं के बाहर समान विकल्प थे। (गुप्ता, दीपांकर, विदर द इंडियान विलेज, कल्चर एंड एग्रीकल्चर इन "रूरल" इंडिया, ई पी. डब्ल्यू, वॉल्यूम XL नं. 8, फरवरी 19-25, 2005, पृ. 751-758)।

3.8 कार्यक्षेत्र का परिदृश्य और कार्यक्षेत्र

किसी अन्य चीज से अधिक प्रतिभागी के पर्यवेक्षेण की विधि जिससे गाँवों के सामाजिक मानववैज्ञानिक अध्ययन से अर्थशास्त्रियों और जनसांख्यिकीकारों के ग्रामीण सर्वेक्षणों को अलग किया जा सका और इसी गुणात्मक क्षेत्रीय कार्य की विधि की वजह से भारतीय अकादमी में सामाजिक मानवविज्ञान को सम्मान प्राप्त करने में सहायता मिली।

"कार्यक्षेत्र परिदृश्य" समकालीन भारतीय समाज को समझने का श्रेष्ठ तरीका था जिससे शास्त्रीय हिंदू ग्रंथों में भारतीय विद्याशास्त्रियों द्वारा निर्मित भारत का "पुस्तकीय-दृश्य" "आंशिक" रूप से "सुधारात्मक" रूप में प्रस्तुत किया गया। "पुस्तकीय-दृश्य" आंशिक केवल इसलिए नहीं था क्योंकि यह "प्राचीन काल" में लिखे गए ग्रंथों पर आधारित था बल्कि यह

इसलिए भी आंशिक था क्योंकि भारतीय विद्याशास्त्रियों द्वारा इस्तेमाल किए गए ग्रंथ "आभिजात्य" उच्च जाति कि हिंदुओं द्वारा लिखित थे।

इसके विपरीत मानववैज्ञानिक प्ररिप्रेक्ष्य में छान-बीन की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया गया है और "आधारिक" स्तर पर भारतीय समाज में सामाजिक जीवन किस प्रकार संगठित था इसका "समग्र" चित्र प्रस्तुत किया। यद्यपि कुछ विद्वान भारत से भी थे और इसीलिए ग्रामीण समाज के बारे में कुछ पूर्व-कल्पित धारणाएँ थीं, "उचित वैज्ञानिक प्रशिक्षण" से इस तरह के पूर्वाग्रहों को दूर किया जा सकता है।

यद्यपि वैज्ञानिक के इस "स्वत: छवि" और अध्ययन किए जाने वाले विषयों की "मूल्य-तटस्थता" पर बार-बार जोर दिए जाने के बावजूद इन विद्यार्थियों ने भारतीय गाँवों के बारे में अपने कार्य में जो अनुभव लिखे हैं उनके गहन पठन से पूर्णत: अलग चित्र सामने आता है। ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों से ग्रामीण सामाजिक जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त करने में जिस तरह की समस्याएँ उनके सामने आई उनका उल्लेख करने के अलावा उन्होंने इसका जीवंत विवरण प्रस्तुत किया है कि ग्रामीण समाज के पर्यवेक्षण एवं ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों तक पहुँचने के लिए किस प्रकार उनके अपने स्थान और सामाजिक पृष्ठभूमि की सहायता उन्होंने ली। अपने कार्य के दौरान उन्होंने जिस गाँव और स्थान का चयन किया, नियमित जानकारियाँ प्राप्त करने के लिए जिन लोगों को उन्होंने मित्र बनाया, जिस सामाजिक कार्य से वे आए थे, उनके लिंग, गाँव वालों ने उन्हें जो जातिगत स्थान प्रदान किया इन सब बातों की, उन लोगों ने जो आंकड़े एकत्र किए, उसमें बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

गाँव में कोई मानवविज्ञानी गाँव वालों के साथ जिस तरह से अपने संबंध स्थापित करता है, उसी प्रकार उसे सूचना देने वाले मिलते हैं। सबसे पहला प्रश्न किसी आगुंतक से यह पूछा गया कि उनकी जाति क्या है। उसी के अनुसार गाँव वालों ने उन्हें अपनी संरचना में रखा और स्थान तथा स्थिति प्रदान की। मानवविज्ञानी को न केवल उसे दी गई स्थिति का सम्मान करना पड़ा, बल्कि उससे उस जातिगत समाज के मानदंडों और तौर तरीकों के अनुरूप आचरण करने की भी अपेक्षा की गई। मानवविज्ञानी गाँव की सामाजिक संरचना में घुले मिले और बगैर नहीं रह सकते थे क्योंकि उन्हें पर्याप्त लंबे समय तक गाँव में रहकर उन्हीं का एक हिस्सा बनकर उनकी विधियों आदि का पर्यवेक्षण करना था। गाँव वालों के साथ संपर्क स्थापित करने का रूटीन तरीका यही था कि गाँव के नेता या पंचायत के मुखिया से संपर्क स्थापित किया जाए, जो निश्चित रूप से प्रभावशाली उच्च जाति से आते थे। ज्यादातर मानवविज्ञानी स्वयं उच्च जाति या मध्यवर्ग की पृष्ठभूमि से थे, अत: उनके लिए इन नेताओं तक पहुँचना और उनसे संपर्क बनाना आसान था। इससे उन्हें अपना अध्ययन पूरा करने में भी कम कठिनाई हुई। मजूमदार इसे इस तरह व्यक्त करते हैं :

> पूर्व जमींदार परिवारों ने रहने के लिए जगह दी और समय-समय पर मेजबान की तरह पेश आए, और इस संपर्क से ज्यादा समझदारी तथा विश्वास से काम करने में सहायता मिली; संपर्क स्थापित करने में थोड़ा प्रयास करना पड़ा (मजूमदार, 1958 : 5)।

यद्यपि रहने के लिए स्थान मिलना केवल सुविधा की ही बात नहीं थी। इससे अन्वेषक की गाँव में किसी समूह से पहचान हो जाती थी और इस पहचान के फायदे नुकसान दोनों थे। इससे जहाँ एक तरफ उन्हें उच्च जाति की जीवन शैली तक पहुँचने में सहायता मिली वहीं इससे निम्न जाति के लोगों में संशय भी उत्पन्न हुआ। उदाहरण के लिए बेते को अग्रांहरम (ब्राह्मणों का स्थान) में गए ब्राह्मण के घर में रहने की "अनुमति" मिली थी, उन्हें बताया गया यह उनके लिए "विशेष सुविधा" थी इससे पहले किसी बाहरी या गैर-ब्राह्मण को ऐसी सुविधा नहीं मिली थी। अग्रांहरम में निवास करने की उनकी स्वीकृति बिना किसी शर्त के नहीं थी। मैं अग्रांहरम में केवल कुछ शर्तों पर रह सकता था, मुझे उस समुदाय के एक सदस्य के तौर पर कुछ कर्तव्य और दायित्व निभाने थे .....। श्रीपुरम गाँव के लोगों ने भी मुझे कुछ कार्य सौंपे, और यदि

मैंने अचानक उनकी अपेक्षाओं के विपरीत कार्य करने का निश्चय कर लिया तो इसे उन्होंने अत्यंत अस्वाभाविक माना (बेते, 1975 : 104)।

अग्रहारम में रहने से भी उन्हें गाँव में एक ब्राह्मण की पहचान मिली। "मैं अपने वस्त्रों, अपने व्यक्तित्व और इस तथ्य की वजह से कि मैं एक ब्राह्मण के घर में रहता था एक ब्राह्मण के रूप में पहचाना गया" (वही : 9)। गैर-ब्राह्मणों और आदि द्रविड़ों के लिए वह केवल एक उत्तर भारतीय ब्राह्मण थे। इसका अर्थ यह है कि "इसीलिए इन समूहों तक उनकी पहुँच ब्राह्मणों की अपेक्षा सीमित थी" (वही : 9) हरजिनों की बस्ती में उनके भ्रमण का ब्राह्मणों ने पुरजोर विरोध किया, उन्हें हरिजनों ने भी संदिग्ध दृष्टि से देखा, "हालाँकि उन्होंने ब्राह्मणों के असामान्य रूप से अपने घर आने पर उनका सम्मान किया, किंतु कुछ ने इसे दुर्भाग्यसूचक माना" (वही : 278)।

यह गाँव केवल जाति के प्रति सचेत नहीं था, वरन् वर्ग और लिंग के प्रति भी सचेत था। जैसा कि बेते लिखते हैं :

> यदि मैंने मकान मालिक की उपस्थिति में किराएदार से किराएदारी के बारे में कुछ प्रश्न पूछा तो स्पष्ट रूप से बोलने में उसे हमेशा संकोच हुआ।
>
> यदि किसी प्रकार मैंने उससे अकेले में बात करने की व्यवस्था कर ली तो मकान मालिक ने इसे संदेह की नजर से देखा और अप्रसन्न हो गया (वही : 284)।

"कार्यक्षेत्र दृष्टिकोण" में लैंगिक भेदभाव की भूमिका को रेखांकित करते हुए कुछ भारतीय महिला मानवविज्ञानियों में से एक, लीला दुबे, जिन्होंने एक गाँव में काम किया, लिखा है, "मैं एक ब्राह्मण और एक महिला थी, इसे गाँव वालों ने कभी भूला नहीं" (दुबे, 1975 : 165)।

श्रीनिवास क्षेत्रीय कार्य के बारे में अपने अनुभव बताते हुए इसी तरह की कहानी बताते हैं। चूँकि उन्होंने जिस गाँव में अपना क्षेत्रीय अध्ययन किया उनका परिवार उसी क्षेत्र का था, इसलिए गाँव वालों के लिए उन्हें रखना आसान हो गया। गाँव वालों के लिए "वे सर्वप्रथम एक ब्राह्मण थे जिनके संयुक्त परिवार की पड़ोसी गाँव में जमीन थी" (श्रीनिवास, 1976 : 33)। पुराने ग्रामवासियों ने उन्हें ब्राह्मण और भूस्वामी का दर्जा दिया। ऐसा करके उन्होंने अपने प्रति उनके व्यवहार को अनुकूल बनाया और इसके बदले उनका व्यवहार भी उनके प्रति उसी प्रकार बदला।

संभवत: यहाँ सबसे महत्पूर्ण तथ्य यह है कि उन्होंने जब स्थानीय आदर्श और तौर-तरीकों और मूल्यों को समझ लिया तब उन्होंने सचेत होकर उसी के अनुरूप कार्य किया। मेरे साथ ऐसा कभी नहीं हुआ जिससे गाँव की स्थापना में मुझे परेशानी का सामना करना पड़ा हो। मैंने अपनी सीमाओं को स्वीकार कर लिया और उसी के अंदर काम करने का प्रयास किया (वही : 47, जोर को जोड़ा गया)।

ग्रामीण सामाजिक संरचना और इसके आदर्श प्रतिमानों के प्रति अनुरूपता बनाए रखने के रवैये से, जो उन्हें गाँव के प्रभावशाली वर्ग से मिली थी, उनके क्षेत्रीय कार्य पर ऐसा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा कि उनमें से कुछ ने "निम्न" जाति के समूहों के साथ ज्यादा समय न बिताने के प्रति पूरी तरह सचेत थे। उदाहरण के लिए श्रीनिवास यह मानते हैं कि जब वह वंशावलियों और परिवारों की जनगणना एकत्र कर रहे थे तो उन्होंने "जानबूझकर हरिजन वार्ड को छोड़ दिया।" उन्होंने सोचा कि "वे प्रमुख व्यक्ति के माध्यम से हरिजनों से संपर्क करेंगे।" इसका परिणाम यह हुआ कि गाँव का उनका लेखा-जोखा उच्च जाति के हिंदुओं के पक्ष में पूर्वाग्रह से ग्रस्त था। यह केवल भारतीय विद्वानों का "अंतर्मन" नहीं था, जिसे "प्रतिभागी प्रेक्षण" करते समय गाँव की सामाजिक संरचना के अनुसार कार्य करना पड़ा वरन् पश्चिम से भी जो विद्वान इस तरह का अध्ययन करने आए उन्हें भी गाँव के लोगों की स्थिति का ध्यान रखना पड़ा और यह देखना पड़ा कि किस जाति का समूह उन्हें ज्यादा पहचान दे सकता है। एड्रियन मेयर जिन्होंने एक केंद्रीय भारतीय गाँव का अध्ययन किया लिखते हैं उनके लिए केवल जाति-व्यवस्था का "प्रेक्षण"

संभव नहीं था। उन्हें केवल रामखेड़ी गाँव में रहने के तथ्य से उसमें हिस्सा लेना था। उन्हें "एक अनिर्दिष्ट उच्च जाति" का दर्जा दिया गया था और जब उन्होंने गाँव छोड़ा तब स्थानीय तौर पर प्रभावशाली जाति राजपूतों के काफी नजदीक आ चुके थे और उन्हें खास पहचान मिल गई थी (मेयर 1975)।

यद्यपि गाँव की सामाजिक संरचना "प्रतिभागी पर्यवेक्षक" पर थोपी गई थी अन्यथा किसी एक प्रभावशाली जाति कि साथ पहचान बनाए बिना कार्य करना पूर्णरूप से असंभव नहीं था। कुछ लोगों ने यह समझने के लिए कि जाति प्रथा का उनके लिए क्या अर्थ है जो इसके भुक्तभोगी हैं, सम्मिलित प्रयास किए। इसमें आश्चर्य नहीं कि परंपरा की जो छवि ऊपर से दिखाई देती है वह इसकी "मुख्यधारा" के निर्माण से बिलकुल अलग है। मेंचर जिन्होंने अपनी इच्छा से "हरिजनों" के बीच ज्यादा समय बिताना चाहते थे, लिखते हैं :

> ..... मुझे पता चला कि ज्यादातर हरिजन उच्च जाति के लोगों के साथ आर्थिक (कौन किसको रोजगार देता है, या भूस्वामियों पर रोजगार के लिए उनकी निर्भरता) और राजनीतिक (प्राधिकार और दंड देने की क्षमता) अधिकारों के बारे में बात करने को इच्छुक थे।

युवा या वृद्ध हरिजनों के लिए परंपरा का सर्वाधिक शोषक पहलू जो संगत प्रतीत होता है वह "प्रत्येक का अपना" पहलू नहीं है ..... उनके लिए यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें कुछ लोग अन्य लोगों से ज्यादा कठिन कार्य करते थे और जो धनी और शक्ति संपन्न थे वे वैसे ही थे तथा स्पष्ट रूप से वे स्वेच्छा से अपने विशेषाधिकार को छोड़ना नहीं चाहते थे (मेंचर, 1975 : 199 और 127)।

यद्यपि कुछ अपवादों को छोड़कर जो कृषि संबंधी अध्ययन कर रहे थे (मेंचर; 1978 : जरफील और लिंडबन; 1975 : हैरिस 1982), काफी समय बाद जब देश के विभिन्न भागों में दलित आंदोलन आरंभ हुआ, सामाजिक मानवविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने जाति के संबंधों पर शक्ति और राजनीति के प्रश्नों की जाँच पर कार्य करना शुरू किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.9 सारांश

1950 और 1960 के दौरान सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा किए गए भारतीय गाँवों के अध्ययन निस्संदेह रूप से भारतीय सामाजिक विज्ञान के आधार स्तंभ थे। हालाँकि इन अध्ययनों का आरंभिक केंद्र गाँव के लोगों का सामाजिक और धार्मिक जीवन था, तथापि इनमें पर्याप्त संदर्भ ऐसे हैं, जो स्वतंत्र भारत के पहले दो दशकों के दौरान भारत के ग्रामीण समाज में राजनीतिक और आर्थिक जीवन को समझने में उपयोगी संकेत हो सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अध्ययनों से भारतीय गाँवों की प्रबल रूढ़िग्रस्त छवि प्रतिरोध में सहायता मिली और इसे औपनिवेशिक प्रशासकों ने लोकप्रिय बनाया। ग्रामीण जीवन का विस्तृत वर्णनात्मक ब्यौरा व्यापक क्षेत्रीय कार्य के बाद तैयार किया गया, ज्यादातर मामलों मे मानवविज्ञानियों ने स्वयं पूरा कार्य किया और यह सिद्ध किया कि किस प्रकार भारतीय गाँव "एकाकी समाज" नहीं है। ग्रामीण अध्ययन दर्शाते हैं कि भारत के गाँव औपनिवेशिक शासन के नए कृषि विधान आरंभ करने से पहले भी आर्थिक और सामाजिक रूप से एकीकृत और समृद्ध थे। उन्होंने क्षेत्रीय विभिन्नता को इस प्रकार दर्शाया कि सामाजिक ग्रामीण जीवन देश के विभिन्न भागों में सुव्यवस्थित था।

सामाजिक मानववैज्ञानिक अध्ययनों ने हिंदू धर्मग्रंथों में भारतीय विद्याशास्त्रियों और प्राच्य विद्याशास्त्रियों द्वारा निर्मित भारत के प्रति प्रमुख "पुस्तकीय विचार" का भी विकल्प प्रदान किया। ग्रामीण विनिबंधों में प्रस्तुत "क्षेत्रीय विचार" ने न केवल भारतीय विद्याशास्त्र की परिकल्पना का प्रतिरोध किया बल्कि अनुभवजन्य आंकड़ों की सहायता से विश्वासपूर्वक यह दर्शाया कि हिंदू धर्मग्रंथों में वर्णित वर्णव्यवस्था का आदर्श स्वरूप भारतीय जीवन के यर्थाथ रूप से मेल क्यों नहीं

खाता। यद्यपि जाति-व्यवस्था भारतीय गाँवों में एक महत्वपूर्ण संस्था थी और ज्यादातर अध्ययनों ने अन्य विभिन्नताओं में जाति विभिन्नता को सबसे आगे रखा, अनुभवजन्य अध्ययन दर्शाते हैं कि यह पूर्ण रूप से बंद या दृढ़ता से परिभाषित व्यवस्था नहीं थी। जातिगत स्थिति भी मात्र किसी व्यक्ति की धार्मिक परंपरा से निर्धारित नहीं थी और इस व्यवस्था में भी अनेक अस्पष्ट और विवादास्पद क्षेत्र थे। ग्रामीण अध्ययनों से ही संस्कृतिकरण, प्रभावशाली जाति, खंडात्मक संरचना, एकतापूर्ण और अनेकतापूर्ण व्यवस्था की संकल्पनाओं का उद्‌गम हुआ।

यद्यपि ग्रामीण अध्ययन असंख्य कारणों से बाधित भी हुआ। प्रतिभागी पर्यवेक्षण जो इन अध्ययनों का प्रमुख संबल था, उसमें भी क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं पर कुछ प्रतिबंध लगाए गए, जो संयोगवश इस तरह सिद्ध हो गया कि इस तरह के अध्ययनों में वे लोग गाँवों की जो छवि प्रस्तुत कर रहे हैं वह आलोचनात्मक है। प्रतिभागी पर्यवेक्षण करते समय जिस गाँव को उस प्रतिभागी ने अध्ययन के लिए चुना था उस गाँव में उसकी पर्याप्त स्वीकृति भी होनी चाहिए थी। एक अलग सामाजिक संदर्भ में स्पष्ट तौर पर प्रभावशाली वर्गों के माध्यम से गाँव में संपर्क बनाना आसान था। यद्यपि इससे यह सिद्ध होता है कि यह एक कामयाब रणनीति थी। गाँव में "समुदाय" के एक सदस्य के रूप में स्वीकृत होने की दुश्चिंता में मानवविज्ञानी के मन में गाँव वालों के प्रति रूढ़िवादी होने की धारणा बनती थी और यह उनके आलेखों में भी प्रकट होता था।

इससे स्थानीय समाज में प्रभावशाली समूहों के बीच उनकी पहुँच भी सीमित हो जाती थी। वे उन प्रश्नों को पूछने से बचते थे या उन अधीनस्थ समूहों से मिलने में कतराते थे जिसके बारे में उन्होंने सोचा था, क्योंकि इससे प्रभावशाली लोग नाराज हो सकते थे। एक मानवविज्ञानी ग्रामीण जीवन के बारे में जिस तरह के आंकड़े एकत्र करते थे यह इस बात पर निर्भर करता था कि गाँव वालों के साथ वे किस तरह का संबंध स्थापित करते हैं।

"जनजातीय समुदाय" की तरह ही सामाजिक मानवविज्ञान की पारंपरिक विषय सामग्री भी इससे भिन्न है, भारतीय गाँव जनजातियों से न केवल आंतरिक रूप से बहुत अलग हैं, वरन् उनके पास विश्व की सुस्पष्ट छवि भी है।

ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों में गाँव के बारे में अलग-अलग परिप्रेक्ष्य थे। हालांकि ज्यादातर मानवविज्ञानी इससे परिचित थे, फिर भी उन्होंने इस समस्या को सुलझाने के लिए कुछ नहीं किया। इसके विपरीत उनमें से अधिकांश ने गाँव की प्रभावशाली जातियों के साथ अपनी पहचान बनाई जिससे गाँव में उनके रहने में सुविधा हुई, उन्होंने अपना दायरा उच्च जाति के संसार तक सीमित रखा और निम्न जातियों के मन में संदेह पैदा किया।

प्रतिभागी प्रेक्षण की विधि के अतिरिक्त ग्रामीण समाज में स्वीकृति की दुश्चिंता से मानवविज्ञानियों के अध्ययन में ग्रामीण सामाजिक संबंधों की रूढ़िवादी छवि प्रस्तुत हुई, ग्रामीण अध्ययन के दौरान समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान के विषयों में प्राप्त प्रभावी सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य और वृत्तिक परंपराओं ने भी इन विद्वानों पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाला। पचास और साठ के दशकों में मानवविज्ञानियों ने परिवर्तनों की अपेक्षा संरचना को अपना केंद्रबिंदु बनाया। इस पूर्वधारणा ने उनका ध्यान उन स्रोतों की ओर खींचा जिनसे गाँव में सामाजिक व्यवस्था बन सके संघर्ष और सामाजिक पुनर्रचना के संभावित स्रोतों की उन्होंने उपेक्षा की।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेते, ए. 1980 *"दि इंडियन विलेज : पास्ट एंड प्रेजेंट"* इन ई.जे. हॉब्सबॉन एवं अन्य संपा. *पीजेंट्स इन हिस्ट्री : एस्सेज इन ऑनर ऑफ डेनियल थॉर्नर,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलकाता।

बेते, ए. 1975 *"ट्राइब्यूलेशंस ऑफ फील्डवर्क इन"*, ए. बेटली और टी.एन. मदन संपादक *एनकांटर्स एंड एक्सपीरिएंस : पर्सनल एकाउंट्स ऑफ फील्डवर्क,* विकास, दिल्ली।

कोहन, बी.एस. 1987 *"एन एंथ्रोपोलोजिस्ट अमंग हिस्टोरियन एंड अदर ऐसेज"*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

खंड 2

जातिगत परिप्रेक्ष्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

खंड 2 जातिगत परिप्रेक्ष्य

परिचय

समाजशास्त्र के चौथे कोर पाठ्यक्रम, एमएसओ- 004, भारत में समाजशास्त्र का यह दूसरा खंड है। पिछली इकाई में, भारत में समाजशास्त्र की उत्पत्ति और विकास को पढ़ने के पश्चात्, आपने यह जाना होगा कि एक लंबे समय से जाति, सामाजिक जाँच का एक महत्वपूर्ण विषय रही है। अत: जाति के विभिन्न आयामों को खोजना आवश्यक है। इस खंड का विषय जाति परिप्रेक्ष्य है। इस खंड में, हम विभिन्न दृष्टिकोणों को जानेंगे जिनसे जाति को समझा जा सकता है। इस खंड में पाँच इकाइयाँ हैं।

चौथी इकाई भारत में जाति व्यवस्था पर उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य पर केंद्रित है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेजों ने जाति व्यवस्था को ऐसा अर्थ दिया जिसमें उनका लाभ था और उन्हें देश पर शासन करने में मदद मिली।

पाँचवी इकाई, जाति व्यवस्था की ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य को दर्शाती है। यह समझा जाना चाहिए कि ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य धार्मिक ग्रंथों से प्राप्त हुआ है। यही ग्रंथ, ब्राह्मणों को उच्च स्थान प्रदान करते हैं। ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य का महत्व इसी तथ्य में है कि अन्य बातों के अतिरिक्त, यह अंतर्जातीय संबंधों तथा परस्पर क्रियाओं को नियंत्रित करता है।

छठी इकाई, व्यवहारवादी दृष्टिकोण पर आधारित है जिसका अर्थ है लोगों का परिप्रेक्ष्य। इसमें संदेह नहीं है कि ग्रंथों में दिए गए निर्देश वास्तविक जीवन की परिस्थितियों में अलग-अलग ढंग से समझाए जाते हैं। यह इकाई जाति के किताबी-दृष्टिकोण और लोगों के दृष्टिकोण में अंतर को दर्शाती है। विशिष्ट क्षेत्र-आधारित अध्ययनों के माध्यम से, यह दर्शाती है कि जाति व्यवस्था स्थावर और कठोर नहीं है तथा इसमें परिवर्तन तथा गति के तत्व भी मिलते हैं।

सातवीं इकाई में जाति पर अम्बेडकर तथा लोहिया के दृष्टिकोण एवं व्याख्याएँ बताई गई हैं। यह जाति की समझ पर एक नया आयाम प्रदान करती है कि अम्बेडकर और लोहिया, दोनों जाति को शोषक व्यवस्था मानते हैं जो सामाजिक सीढ़ी के सबसे निचले पायदानों पर स्थित लोगों को मिलने वाले अवसरों पर प्रतिबंध लगाती है। वे अनेक मुद्दों पर जाति संबंधी ब्राह्मणीय दृष्टिकोण को चुनौती देते हैं। आठवीं इकाई आपको जाति के जनगणना परिप्रेक्ष्य पर लाती है। जैसा कि आप में बहुत लोगों को पता होगा कि अंग्रेजों ने दश वार्षिक जनगणना प्रशासनिक कारणों से आरंभ की। वे जाति एवं धर्म पर सूचना को व्यवस्थित रूप से एकत्रित करना चाहते थे क्योंकि ये दोनों समाज को वृहद् रूप से प्रभावित करते थे।

MADHYAM IAS

इकाई 4

उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उपनिवेशकों द्वारा दिए गए वर्ण मॉडल की व्याख्या

4.3 ग्रंथों के अध्ययन से मानवजाति के अध्ययन तक

4.4 विभिन्न जातियों की विशेषताएँ

4.5 जाति एवं न्यायिक व्यवस्था

4.6 सारांश

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात्, आप :

- भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति की उपनिवेशवादी व्याख्या पर चर्चा कर सकेंगे;
- यह समझा सकेंगे कि उपनिवेशवादी शासकों के कार्यालयी रिकॉर्डों में जाति एक श्रेणी के रूप में किस प्रकार उभरी; और अंत में
- उपनिवेशकों की जाति व्यवस्था को उनके अपने सत्ता तथा सामाजिक संबंधों में स्पष्ट करने की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.1 प्रस्तावना

जाति, जिसे हम इस रूप में आज जानते हैं, उसमें वैदिक काल से जो हमारी जानकारी में सबसे प्राचीनतम काल है, तब से जाति अस्तित्व में हैं– अनेक परिवर्तन आए हैं। जाति व्यवस्था की परंपरागत विशेषताएँ, जैसे श्रेणीबद्ध, आनुवंशिक, स्थानीय रूप से संगठित, व्यावसायिक एवं पारंपरिक रूप से विशिष्ट, समाज के सजातीय और खंडीय विभाजन की व्यवस्था में, जाति के आज प्रयुक्त होने वाले संदर्भों की दृष्टि से, काफी कमज़ोर हो गईं हैं (घुर्रे 1969)। हालांकि, यही विशेषताएँ उपनिवेशीय शासन के दौरान जाति व्यवस्था का सार तत्त थीं। प्रारंभिक समय में, जाति को व्यक्ति के व्यवसाय से ही जाना जाता था और समाज में उसका सामान्य स्थान ही जाति का संदर्भ था। वैदिक काल से, यह हिंदू सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं और इसके मौजूदा स्वरूप में भारत तथा पाश्चात्य उपनिवेशीय शासन (विशेषकर, अंग्रेज) के बीच हुए घमासान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

जाति शब्द भारत का देशी शब्द नहीं है और संभवत: इसके समान कोई विशिष्ट स्थानीय शब्द नहीं है। जाति के समान, लोगों की भाषा में निकटतम शब्द 'जात' है जो वर्गीकरण का द्योतक है। अंग्रेजी कोश में 'जाति; (caste) शब्द पुर्तगाली और स्पेनी भाषा से आया तथा संभवत: इसका उद्गम लातीनी भाषा के 'कास्ट्स' (शुद्ध, पावन) शब्द से हुआ। इसका श्रेय आरंभिक पुर्तगाली यात्रियों को जाता है जो पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में भारत में मालाबार तट पर आए थे। यह शब्द रक्त की शुद्धता अथवा श्रेणीबद्ध समूहों की जातिगत शुद्धता के लिए प्रयुक्त होता था, जिसे उन लोगों ने भारत में देखा। जाति को इस रूप में देखने का यह तरीका भारत में जाति के प्रति उपनिवेशीय अभिगम में सर्वत्र व्याप्त हो गया।

इस इकाई में हम भारत में जाति व्यवस्था पर उपनिवेशकों के दृष्टिकोण का अध्ययन करेंगे। हम इसका आरंभ, हिंदू ग्रंथों में जाति व्यवस्था के उद्‌गम तथा इसके वैधीकरण की भ्रांति की व्याख्या से करते हैं। इसके बाद, हम उन पद्धतियों और तरीकों पर चर्चा करेंगे जिनके द्वारा उपनिवेशीय शासकों ने जाति व्यवस्था को अपने लाभ के लिए उपयोग किया।

4.2 उपनिवेशकों द्वारा दिए गए वर्ण मॉडल की व्याख्या

भारत में जाति का आरंभिक उपनिवेशीय परिप्रेक्ष्य हिंदू समाज से संबंधित धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष ग्रंथों पर आधारित था। उपनिवेशवादी शासन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला ग्रंथ 'मनुस्मृति' है जिसका, 1794 में विलियम जोन्स ने अनुवाद किया। इन धार्मिक ग्रंथों में दर्शायी गयी जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी, जो अंग्रेजी शासन के दौरान जाति व्यवस्था को समझने हेतु एक लोकप्रिय मॉडल बन गया (श्रीनिवास, 1962 : 16)। बाद में, मानव जाति विज्ञान पर अध्ययन आरंभ होने के पश्चात्, इस मॉडल को पूर्णत: छोड़ा नहीं गया। इसे अखिल-भारतीय ढाँचें के रूप में स्थानीय सांस्कृतिक विशिष्टताओं को खोजने के लिए प्रयोग किया जाने लगा। यह विचार कि स्थानीय विशिष्टताएं जाति के भिन्न स्वरूपों को दर्शाती थी, अनेक विद्‌वानों को ठीक नहीं लगा। इस मॉडल के अनुसार, जातिप्रथा चार क्रमबद्ध वर्णों पर आधारित थी, अर्थात्, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व, तथा शूद्र, जिसमें 'अछूत' सबसे नीचे होते थे। अंत में रहने का विचार यह दर्शाता है कि जहां एक ओर वे अनेक प्रकार्यों से बाहर थे, वहीं उन्हें दूसरों के कठिन तथा निष्क्रिय कार्य करने पड़ते थे। इन चार वर्णों का उदय दिव्य माना जाता था। प्रथम पुरुष के आत्मबलिदान से वर्णों की यह परंपरा का आरंभ हुआ। ऐसी मान्यता है कि शरीर के प्रत्येक अंग से प्रत्येक वर्ण निकला। मुख से ब्राह्मण, हाथों से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों का जन्म हुआ। इस वर्णव्यवस्था में, ब्राह्मण सबसे ऊपर थे क्योंकि उनके पास चारों गुण थे और उनके बाद क्षत्रिय, वैश्व और फिर शूद्र होते थे। अछूत इस क्रम में सबसे नीचे थे क्योंकि उनमें उपरोक्त कोई भी गुण नहीं था।

प्रत्येक वर्ण एक विशिष्ट व्यवसाय से संबद्ध था। क्रम में सबसे ऊपर स्थित ब्राह्मणों को पवित्र ज्ञान प्राप्त करने और देने तथा यज्ञ आदि करने का कार्य दिया गया था; प्रथम पुरुष के हाथों से निकले माने जाने वाले क्षत्रियों के पास लोगों की सुरक्षा, स्थायी सरकार और प्रशासन चलाने का कार्य था; प्रथम पुरुष की जंघाओं से निकले वैश्य व्यापारी थे; शूद्रों को अपने से ऊपर सभी श्रेणियों की सेवा करने का कार्य दिया गया था। अछूतों को सभी प्रकार के साफ-सफाई वाले कार्य करने होते थे, जैसे सड़कें साफ करना, कपड़ा धोना आदि। सभी समूह अधिकतर अंतर्विवाही थे (कुछ मामलों में बहिर्विवाह होता था)। विभिन्न समूहों के बीच परस्पर क्रियाएं आचार संबंधी नियमों द्वारा नियंत्रित होती थी।

वर्ण मॉडल ने जाति प्रथा की छवि को विकृत कर दिया। वर्ण व्यवस्था के अनुसार अंछूतों को छोड़कर केवल चार जातियां होती हैं। परिणामस्वरूप, जाति प्रथा को केवल ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से देखा गया किंतु वैदिक काल से ही अछूत भी इस व्यवस्था के हिस्सा थे। इस मॉडल की एक और कमी यह है कि यह जातिप्रथा को सुपरिभाषित, अनुवांशिक तथा एक बंद पदानुक्रम व्यवस्था के रूप में देखता है। हालांकि जातिप्रथा की एक खास विशेषता यह है कि इसके अनुक्रम में, विशेषकर मध्यक्षेत्र में, विभिन्न जातियों की स्थिति को लेकर अस्पष्टता है। जातिप्रथा की वास्तविक इकाइयां जाति नामक समूह होते हैं। आज जातिप्रथा को वर्ण की अपेक्षा जाति के रूप में देखा जाता है (बेते 1996 : 171)। जाति मॉडल द्वारा इस प्रथा को अत्यधिक सक्रियता प्रदान की है। सुस्पष्ट अनुक्रम से अलग यह ऐसे क्रम को दर्शाती है जिसमें विभिन्न जातियों के बीच परस्पर क्रिया होती है। जाति शब्द एक वर्गीकरण श्रेणी है। इसका प्रयोग जाति से अलग अन्य श्रेणियों के लिए भी किया जाता है जैसे संपूर्ण मानवता के लिए मानवजाति शब्द का प्रयोग होता है (श्रीवास्तव 2003 : 652)। जाति के संदर्भ में भी यह शब्द अन्य बातों से संबद्ध है। इसका प्रयोग जाति द्वारा उपजाति से लेकर धर्म और भाषा को सम्मिलित करने वाली पहचानों की श्रृंखला की बढ़ती हुई मात्रा के लिए होता है।

बॉक्स 4.1 : वर्ण मॉडल और उपनिवेशवादी शासक

"ब्राह्मण ग्रंथ, जाति हेतु वैदिक उद्गम की कथाएँ और बाद में, 'मनु' के धर्म-ग्रंथों ने ब्रिटिश उपनिवेशीय रुचियों तथा व्यवहार को रास आने वाले भारतीय समाज को समझने के लिए पार-क्षेत्रीय तथा पश्च-ऐतिहासिक साधन उपलब्ध करवाए। उन्होंने सांस्कृतिक पुनर्निर्माण, पुनर्पुष्टिकरण तथा प्रतिरोध की सभ्यता की भाषा में भारतीयों के लिए गौरवपूर्ण स्थान सुरक्षित किया। यह विचार कि वर्ण सभी जातियों का क्रमबद्ध वर्गीकरण जिसमें ब्राह्मण सबसे ऊपर थे— उपमहाद्वीप की सभ्यता में सभी भारतीयों की सामाजिक पहचान और संबंधों को व्यवस्थित कर सकता था, ब्रिटिश उपनिवेशीय शासन की विशिष्ट परिस्थितियों में विकसित हुआ" (डर्क्स 2001 : 14)।

भारत में जाति के विषय में मिशनरीयों और प्राच्यविदों ने सबसे पहले खिला। मिशनरी, जाति को ईसाई धर्म के प्रचार में सबसे बड़ी बाधा मानते थे, भारतविद्याविदों ने जातिप्रथा के पाठ विषय दृष्टिकाणों पर पुन: बल दिया और प्राच्यविदों ने पाच्य तानाशाही और ग्राम गणतंत्रों की रचना की। आरंभिक मिशनरिया जो धार्मिक मुद्दों द्वारा नियंत्रित होती थी, ईसाई धर्म में परिवर्तन के लिए जाति को बाधा मानती थी। एक फ्रांसीसी थी मिशनरी और 1816 में प्रकाशित 'डिस्क्रपश्न ऑफ करेक्टर्स, मैनर्स एंड कस्ट्यमस ऑफ दि पिपल ऑफ इंडिया, एंड ऑफ देयर इंस्टीट्यूश्नस, रिलिजयस एंड सिविल' के लेखक ऐबी ड्यूबॉइस ने भारत के लोगों पर जातिप्रथा की विचित्र पकड़ को दर्ज किया। ड्यूबॉइस ने सोचा कि ब्राह्मणों ने एक गृहसंस्था को समाज की पवित्र और अखंडनीय विशेषता में बदलकर ब्राह्मणों की वर्चस्व को फैलाने के लिए चालाकी से जातिप्रथा का निर्माण किया (फारेस्टर 1980 : 26)। यहां तक बताना आवश्यक है कि जाति प्रथा की आलोचना इसलिए की गई क्योंकि मिशनरियों का मानना था कि यह हिंदुओं को ईसाइयों में परिवर्तित करने के उनके प्रयासों में बाधा थी। धर्म परिवर्तन के बाद भी अनेक हिंदू जातिनियमों से बंधे थे। इसलिए भारत के लोगों पर जाति की पकड़ को कमजोर करने के लिए उन्होंने सरकारी हस्तक्षेप की मांग की। दूसरी ओर विलियम जॉन्स और मैक्स म्यूलर जैसे प्राच्यविद् सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध थे क्योंकि उनका मानना था कि इससे भारतीय जनता कंपनी शासित सरकार के विरुद्ध हो जाएगी। उन्होंने भारतीय सभ्यता को, विशेषकर जातिप्रथा को समझने के लिए प्राचीनग्रंथों के महत्व पर भी बल दिया। परिणामस्वरूप, मनु के धर्मशास्त्र जैसे ग्रंथ अनुप्रयुक्त वैधिक महत्व के साथ अति महत्वपूर्ण हो गए। वे इन ग्रंथों को भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार मानते थे और किसी भी समकालीन असंगति को व्यतिक्रमों और गलत व्याख्याओं के रूप में बताया जा सकता था। प्राचीन ग्रंथों में बतायी बातों के आधार पर उन्होंने भारतीय समाज के पावन स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया। इस दौरान उन्होंने स्थिर भारतीय समाज की छवि को जाति के आधार पर विभाजित समाज के रूप में प्रचारित किया। प्रत्येक सामाजिक इकाई स्थायी नियमों द्वारा नियंत्रित होती थी (कोहन, 1987)। ब्राह्मण अन्य सभी समूहों, विशेषकर अछूतों पर हावी थे। उनके द्वारा दिए गए विवरण ब्राह्ममण ग्रंथों में दर्शाए गए विभिन्न जाति समूहों के बीच सामाजिक संबंधों को बांधने का प्रयास करते थे।

बॉक्स 4.2 : जाति पर अनिवेशवादी दृष्टिकोण का पाठ-विषयक आधार

"(मनु के) धर्मशास्त्र को जाति पर उपनिवेशवादी दृष्टिकोण का पाठ-विषयक आधार माना गया। अत: यह विचार कि वर्ण-सभी जातियों का क्रमबद्ध वर्गीकरण जिसमें ब्राह्ममण सबसे ऊपर थे— उपमहाद्वीप की सभ्यता में सभी भारतीयों की सामाजिक पहचान और संबंधों को व्यवस्थित कर सकता था, ब्रिटिश उपनिवेशीय शासन की विशिष्ट परिस्थितियों में विकसित हुआ। व्यक्ति इर्क्स की इस बात से सहमत हो सकता है, जैसा कि अधिकांश विद्वानों के लेखों में कहा गया है, फिर भी पूर्व-निवेशीय अतीत में जाने की आवश्यकता है ताकि हम देख सकें कि राजनीतिक घटकों ने क्या विजयनगर जैसे मध्यकालीन राज्यों को प्रभावित किया और यदि हो, तो किस प्रकार किया जिससे दक्षिण भारत में विजयनगर की लिखावटों द्वारा

गैर-विवादित रूप से स्थापित सामाजिक पहचानों और संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए वर्ण की अवधारणा को पुनर्जीवित तथा पुनर्स्थापित किया जा सके" (चंपकलक्ष्मी, 2002)।

4.3 ग्रंथों के अध्ययन से मानवजाति के अध्ययन तक

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तथा उसके बाद का आम आंदोलन, ब्रिटिश सत्ता के लिए एक कड़ा झटका था। इस आंदोलन का एक मुख्य कारण, सशस्त्र सेवाओं में मुसलमानों, सिखों तथा गोरकाओं की अपेक्षा उच्च जाति के लोगों जैसे ब्राह्मणों तथा राजपूतों की अधिकता था। यह उच्च जाति के योद्धा, ब्रिटिश के विरुद्ध एकजुट हो पाते थे क्योंकि इनमें परस्पर भेद-भाव कम था तथा उनमें अंदरूनी तौर पर वफादारी अधिक थी। इसलिए, भारतीय सेना को पुनर्गठित किया गया और सैन्य बलों में विभिन्न जाति के लोग थे। लॉर्ड एल्फिनस्टोन के शब्दों में, यह नीति 'फूट डालो और राज करो' की थी। उपनिवेशवादी सरकार ने यह जान लिया था कि राज्य की सुरक्षा के लिए भारत समाज का लगातार विभाजित होते रहना आवश्यक था। सरकार की विरुद्ध, भारतीयों के एकजुट हो जाने की संभावना अधिक थी क्योंकि जाति-मुक्ति व्यवसायों और समान वैधिक तथा प्रशासनिक तंत्र जैसे कुछ तरीके आरंभ किए गए थ। इन आधुनिक संस्थाओं ने देशप्रेम की एक भावना जागृत की थी। इसे रोकने के लिए, अनेक अंग्रेजी अफसरों (जैसे सर लेपेल ग्रिफीन, जेम्स केर्र) द्वारा धर्म के साथ जाति को फूट डालो और राज करो कि लिए एक प्रभावी सांस्कृति उपकरण माना गया (घुरे 1969 : 198)। फूट डालकर राज करने की नीति के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए, जाति प्रथा द्वारा प्रतिपादित विभाजनों की वास्तविक जानकारी होना अनिवार्य था। उपनिवेशी सरकार का मानना था कि भूमि राजस्व, पारंपरिक कानून, भाषा तथा व्याकरण के मामलों में महारत होने के बावजूद, उसके पास वास्तविक सामाजिक स्थिति की बहुत कम समझ है। ये ज्ञान भी एक प्रशासनिक आवश्यकता था। राजनीतिक सुधार आरंभ करने से पहले जाति संयोजन का ध्यान रखा जाना था। यह इसलिए आवश्यक था ताकि कोई राजनीतिक दल सत्ता पर एकाधिकार न कर सकें। उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य में जाति का आर्थिक अर्थ भी था, "पूंजी का सूचक"। इसलिए मानवजाति विज्ञान की शब्दावली से न केवल संरक्षण का समान वितरण सुनिश्चित हो जाता बल्कि "किसी भी प्रत्यक्षकर के मूल्यांकन" में मदद मिलती (रिसले, 1908 : vii)।

बॉक्स 4.3: उपनिवेशवादी शासन में जाति का पुनर्गठन

'जाति एक ऐसा शब्द बन गया जिसके द्वारा भारत के सामाजिक पहचान, समुदाय और संगठनों के विभिन्न रूपों को व्यक्त करने, संगठित करने और सर्वोपरि "व्यवस्थित" करने में सक्षम था। यह उपनिवेशवादी सत्ता/ज्ञान की केंद्रीय विशेषता बन गया। उपनिवेशवादी शासन में जाति का विशिष्ट धार्मिक तंत्र और निजी क्षेत्र में मध्यस्थ के रूप में पुनर्गठन किया गया। जाति को सिविल समाज का सर्वव्यापी रूप माना गया जिसने सदैव राजनीतिक आक्रमणों का विरोध किया और व्यक्तिवाद की मूलभूत अवधारणा के विरुद्ध रहा।

डर्क्स के अनुसार, जाति पर उपनिवेशवादी दृष्टिकोण को सचेतन होकर व्यक्त किया गया। उन्होंने इसकी उपेक्षा की अथवा यह नहीं पहचाना कि पूर्व-उपनिवेशवादी भारत में, सामाजिक पहचान की इकाइयां अनेक और भिन्न थी तथा जटिल, छद्भ रूप और सदैव परिवर्तित होती राजनीतिक प्रणाली में संदर्भ द्वारा निर्धारित की जाती थी (जैसे मंदिर तथा राज्य का राजा)। इस प्रणाली ने विभिन्न प्रकार की सामाजिक इकाइयों को महत्वपूर्ण तथा पराक्रमी माना अथवा विभिन्न अवसर जिन्होंने जाति को सामाजिक संगठन का केंद्र बनाया" चंपकलक्ष्मी 2002)।

केवल ग्रंथों के ज्ञान पर निर्भर रहने की अपेक्षा प्रत्यक्ष अध्ययनों की आवश्यकता को पहचानते हुए अनिवेशवादी सरकार ने लोगों के बीच मौजूदा जातिप्रथा पर सर्वे और अध्ययन करने आरंभ कर दिए। अनेक मानवजाति अध्ययन, जैसे एम.ए.शेरिंग का हिंदू ट्राइब एंड कास्ट (1972), थर्स्टन का ऐथेनो ग्राफिक नोट्स इन सदर्न इंडिया (1906), एच.एच. रिसले का कास्टस एडं

दि ट्राइब्स ऑफ बंगाल (1891) और बाद में रिसले का दि पिपल ऑफ इंडिया (1908), प्रायोजित किए गए थे। इन अध्ययनों का केंद्र विशिष्ट सूचना पर था जैसे जाति उद्गम कथाएं, व्यवसायिक रूपरेखाएं, अंतर्विवाह के नियम, रिश्तेदारी की संरचना, जातियों के भीतर उपजातियां विवाह तथा अंतिम संस्कार संबंधी रिवाज, वस्त्र एवं सज्जा के तरीके और परस्पर एक-दूसरे समूह के बीच अंतर तथा भेद दर्शाने वाली कथाएं, टिप्पणीयां एवं विवरण। धीरे-धीरे जाति के उपनिवेशवादी अभिगम के चार स्तंभ सामने आ गए। ये स्तंभ थे अनुक्रम पर आधारित विभाजन, व्यावसायिक विशेषज्ञता, विवाह संबंधी नियम और विभिन्न जाति समूहों के बीच परस्पर क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले नियम। अनिवेशीय अभिगम, भारतीय समाज की विभाजनपरक प्रकृति पर केंद्रित था। विभाजन के रूप में जाति पर केंद्रित होने की प्रक्रिया के दौरान, उसने जाति के प्रकार्यात्मक और नियामक पक्षों की उपेक्षा की और केवल उसके संरचनात्मक परिणामों पर जरूरत से ज्यादा बल दिया। परिणामस्वरूप हमें उद्गम, संरचना, अंतर तथा उस समय के उपनिवेशीय मानवजाति विज्ञान में जाति के मिलने पर आलोचना जैसे पक्षों पर अत्याधिक जोर देखने को मिलता है।

सोचिए और कीजिए 4.1

अनिवेशिकों ने जाति के वर्ण मॉडल का अपने फायदे के लिए किस प्रकार उपयोग किया?

वर्ण मॉडल में काफी संशोधन किया गया था तथा जाति प्रथा के ऐसे मॉडल को प्रस्तुत किया गया जिसमें समाज केवल चार में विभाजित न होकर अनेक इकाइयों में विभाजित होते हैं। जिनके बीच संबंध स्तरी तौर पर प्रथागत रूप से निर्धारित होते हैं। स्वयं जाति को अनेक अंतर्विवाह वाली उपजातियों में विभाजित माना जाता था। व्यवहार के नियम थे जो विभिन्न जातियों के बीच परस्पर क्रिया को प्रतिबंधित और मार्गदर्शन करते थे। इन नियमों में आनुवंशिक सदस्यता, वैवाहिक प्रतिबंध,भोजन ओर पानी पर रोक, व्यावसायिक एकाधिकार और सामाजिक संबंधों पर नियंत्रण शामिल थे। जाति व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं पर ध्यान केंद्रित था इसलिए उपनिवेशीय साहित्य में जाति को व्यवहार नियंत्रक प्रतिबंधों की पद्धति और विभिन्न जातियों के बीच परस्पर क्रिया पर ध्यान देता प्रतीत हुआ।

MAABHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मालावार तट में जाति प्रथा के एक विवरण में जॉनेथिन डंकन (1807) बताता है कि किस प्रकार कुछ जातियों को प्रदूषणकारी माना जाता था और ब्राह्मणों से कुछ विशेष दूरी तक के क्षेत्र में जाने की उन्हें अनुमति नहीं थी। विभिन्न अछूत जाति समूहों के लिए दूरी प्रदूषण का मापक तैयार किया गया था। एक नायर किसी नम्बूदरी के पास जा सकता था किंतु उसे छू नहीं सकता था। तियान (ताड़ी वालों की एक जाति) किसी नायर के 12 कदम के भीतर नहीं आ सकता था। जातियों के वस्त्रधारण के तरीके पर आधारित भेद विस्तार से बताए गए थे तथा बाहरी जातियों द्वारा आभूषण पहनने, छतरी लेकर चलने और कुछ विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करने से संबंधित प्रतिबंध भी उजागर किए गए थे। ये सभी मानवजाति विवरण विभाजित हिंदू समाज तथा ऐसे ही विशिष्ट समाजिक समूहों के एकत्रीकरण को दशति थे। उच्च जाति के रूप में ब्राह्मण तथा बड़ी संख्या में पिछड़े हुए समुदायों के बीच ध्रुवीकरण के अनुसार इन्हें व्यवस्थित किया गया था। इसलिए इनका उद्देश्य हालांकि वास्तविकता को बताना था, किंतु कोहन (1987) द्वारा बताए गए "भेद के उपदेश" में से बाहर नहीं निकल सके। बाद में उपनिवेशीय सरकार ने इन भेदों का अपने निजी स्वार्थ के लिए राजनीतिकरण कर दिया। यह समझने का प्रयास नहीं किया गया कि लोग अपनी पहचान को किस प्रकार देखते थे। (रिसले 1908) ने लिखा की जब लोगों से जाति के बारे में पूछा गया तो वे विचित्र चीजों के बारे में बात करते थे जैसे कोई धार्मिक ग्रंथ, उपजाति, बहिर्विवाही संप्रदाय अथवा भाग, विषमयुग्मन समूह, नामधारी पदनाम, जिस क्षेत्र के वे निवारी थे उसका नाम अथवा व्यवसाय। जाति पर आधारित वर्गीकरण ज्ञानात्मक वर्गीकरण नहीं था बल्कि उपनिवेशीय सरकार द्वारा तैयार एवं पोषित निवासियों पर बना वर्गीकरण था।

बॉक्स 4.4: मेकेन्ज़ी का संचयन

"भारत का पहला सर्वेक्षक जनरल, कालिन मेकेन्ज़ी..... विवरणों और तथ्यों को एकत्रित करने का शौकीन था जिनसे उसके तथा उसके साथियों द्वारा हैदराबाद, मैसूर तथा दक्षिणी प्रायद्वीप के अन्य क्षेत्रों के मानचित्रों की पूर्ति होती थी। अपने निजी प्रयासों और संसाधनों द्वारा उसने ब्राह्मण सहायकों के एक समूह को किराए पर लिया और प्रशिक्षित किया जो उसे राजसी वंशों, प्रधान परिवारों, जातियों, गाँवों मंदिरों, मंठों का इतिहास तथा संस्कृत, फारसी, अरबी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम और हिंदी में धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों और अन्य स्थानीय परंपराओं के विषय में बताते थे। (पृष्ठ 126)।

मेकेन्ज़ी के निवासी ऐजेंटों के पत्रों और डायरियों, मानवजाति विज्ञान तथा इतिहास विज्ञान के आरंभिक शोध सहायकों अथवा 'निवासी सूचना' से पता लगता है कि एकत्रीकरण की यह प्रक्रिया निष्पक्ष नहीं थी और यह कि ज्ञान का समाजशास्त्र आरंभिक रूप से अनिवेशीय हो सकता था परंतु पूर्व-उपनिवेशीय नहीं था। पहले, यह स्पष्ट है कि ये ऐजेंट जो स्वयं ब्राह्मण थे, मानते थे कि प्राप्त करने योग्य ज्ञान केवल ब्राह्मणों द्वारा दिया जा सकता था ..... जब भी कोई ऐजेंट किसी नए शहर में जाता था तो वह शिक्षित ब्राह्मणें को खोजने के बाद पुस्तकें देखता था। (पृष्ठ 128-129)।

इस प्रकार ये ब्राह्मण शोध सहायक एक जटिल सामाजिक वास्तविकता के और इसमें ऐजेंट थे ..... एक ओर वे ज्ञान के ब्राह्मणी समाजशास्त्र का निर्माण करते और उसका प्रतिनिधित्व करते थे, जो उपनिवेशीय संस्थाओं के अंतर्गत भारतीयों के लिए वैधिक कोड के निर्माण के दौरान पहले ही लिखा जा चुका था किंतु जिसने उपकरणों की एक विस्तृत अवधारणा भी आरंभ की जिससे भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में राष्ट्रवाद का दूसरा पहलू सामने आया– तमिलनाडु, कर्नाटक और महाराष्ट्र के मार्क्सवादी तथा कभी-कभी अलगाववादी ब्राह्मण विरोधी आंदोलन। दूसरी ओर वे अंग्रेजों के ऐजेंट थे। प्राय: ग्रंथों, परंपराओं, ज्ञान तथ्यविरोधी बातों आदि को इन एजेंटों को सौंपने के आशय के संबंध काफी तथा तर्क पूर्ण चिंता जताई जाती थी" (पृष्ठ 129-130 डर्क्स, 1997 : 129-130)।

4.4 विभिन्न जातियों की विशेषताएँ

परस्पर क्रिया पर प्रतिबंधों तथा विवाह संबंधी कड़े नियमों के मानवजाति विवरण ने इस विचार को जन्म दिया कि जातियाँ परस्पर अनन्य समूह का एकत्रीकरण होती है जिनके सदस्यों के लिए अपने समूह से बाहर विवाह करना सामाजिक नियमों द्वारा निषेध था। ऐसा माना जाता था कि जाति प्रथा ने पवित्र रेखाएं खींच दी थी। जातियों को शारीरिक प्रकार तथा व्यावहारिकता द्वारा पहचाना जाने लगा। ये व्यवहारिकताएं व्यवसायों से संबंधित थी। उदाहरण के लिए डालटन (1972) ने कायस्थों को उनके शारीरिक बनावट के कारण स्वाभाविक लिपिक कहा था। वे शारीरिक रूप से कमजोर, कम बलशाली किंतु तीक्ष्ण बुद्धि वाले होते हैं। लिपिकीय कार्य में शारीरिक क्षमता से अधिक तेज दिमाग की आवश्यकता होती है जो कायस्थों के पास काफी होता है। इसी प्रकार अपनी शारीरिक योग्यता के कारण राजपूत सेना में कार्य के लिए उपयुक्त होते हैं वे आमतौर पर अच्छे घुड़सवार, अच्छे तीरंदाज और बढ़िया खिलाड़ी होते हैं। 1933 में जार्ज मेंकमन द्वारा लिखी गई पुस्तक *मार्शल रेसस* की अवधारणा में जाति का अर्थ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अंग्रेज मानते थे कि कुछ जातियां विशेष रूप से सैन्य कार्य के लिए उपयुक्त थी। योद्धा जातियों को पौरुष प्रधान, आत्मनिर्भर, मोटी बुद्धि, सैन्य अनुशासन के लिए तत्पर तथा शासन वे प्रति वफादार माना जाता था। योद्धा जातियों में डोगरा, पंजाबी, सिक्ख तथा गुटखा जातियां शामिल थी। 1857 के संग्राम के बाद इन जातियों के अधिकांश सदस्य भारतीय सेना में भर्ती हो गए।

संपूर्ण जाति को अपराधी मानना इस बात का एक और उदाहरण है कि अंग्रेज किस प्रकार जाति को उसके सदस्यों की सामाजिक विशेषताओं और व्यवहार के निर्धारण से संबद्ध करते थे। मद्रास प्रेसीडेंसी के कल्लार और भारावाद जैसे समूह के विषय में मानवजाति विवरण लिखे गए थे जिनमें उनकी हिंसक प्रवृत्ति का विवरण था। इन जाति समूहों के सदस्य पूर्व उपनिवेशीय काल के दौरान आनुवंशिक ग्राम चौकीदार का काम करते थे। उपनिवेशीय शासन के आरंभ होने के बाद उनमें से कुछ ने स्वयं को उपनिवेशी शासन के अनुसार ढाल लिया जबकि कुछ अंग्रेज शासन के विरुद्ध खड़े समूहों के साथ हो गए। इन समूहों को प्राकृतिक रूप से आपराधिक जीवन से संबद्ध माना जाता था। कई बार योद्धा जाति और अपराधी जाति के बीच भेद बहुत कम होता था कि विशेषकर दक्षिण भारत में अंग्रेज शासन के प्रति गैर-वफादारी के कारण अनेक योद्धाजातियों को अपराधीजाति का नाम दे दिया गया (डर्क्स 2001 : 177)।

जाति का प्रजातिय आधार हरबर्ट रिसले के विवरणें में देखने को मिलता है जो 1901 में भारतीय जनगणना के जनगणना आयुक्त और *दिनिपल ऑफ इंडिया* (1908) नामक कालजयी कृति के लेखक थे। रिसले ने जाति को एकनामधारी समूह अथवा परिवारों के समूह के रूप में परिभाषित किया जिनका पूर्वज एक ही था, मानव अथवा दिव्य: उनका अनुवंशिक क्रम भी समान था; परामर्श देने योग्य लोगों द्वारा उन्हें सजातीय समुदाय का माना जाता था। जाति सदैव सगोत्रीय होती है किंतु नियमानुसार वह पुन: अनेक छोटे वृत्तों में विभाजित होती है जिनमें से प्रत्येक सगोत्रीय होता है। जाति को भारत में प्रजातियों के रख-रखाव के लिए उत्तरदायी माना जाता था। रिसले ने इस मान्यता के साथ कार्य किया कि जाति सगोत्रता ने जातियों में भौतिक अंतरों को विशेष रूप से तीव्रता के साथ संरक्षित करने का कार्य किया है। उसने विभिन्न जातियों की भौतिक विशेषताओं को नापने तथा उनकी तुलना करने के लिए मानवतारोपी तरीके का प्रयोग किया। इसके साथ उसने विभिन्न जाति समूहों की प्रथाओं को दर्ज करने का समर्थन भी किया। रिसले ने जाति व्यवस्था को समझने के लिए मानवजाति वर्णन और मानवजाति विज्ञान दोनों का प्रयोग किया। उसने व्यावहारिक प्रशासनिक आवश्यकता हेतु मानवजाति वर्णन संबंधी ज्ञान का भी समर्थन किया (रिसले 1891 : vii)। किंतु व्यवहारिकताओं के कारण विवाह, शारीरिक प्रकार तथा जाति के प्रजातिय उद्‌गम के बीच संबंध खोजने की वैज्ञानिक इच्छा पर केवल समय नष्ट हुआ।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

रिसले की मान्यता थी कि विभिन्न जाति समूहों के बीच केवल शारीरिक भेद नहीं थे। उसने इन भेदों को विभिन्न समूहों तथा उनके सामाजिक स्तर के बीच सामाजिक दूरी से जोड़ने का भी प्रयास किया। उसका यह प्रस्ताव था कि उच्च वर्गीय लोगों की त्वचा हलके रंग की तथा तीखी नाक होती है। उसने यह भी प्रस्ताव रखा कि यदि बिहार, बंगाल और आगरा तथा अवध के जनपदों अथवा मद्रास के तीन जिलों के जाति समूहों की किसी श्रृंखला का अध्ययन किया जाए तो औसत नासिका सूचक (अर्थात् नाक की लंबाई और चौड़ाई का अनुपात) और जाति अनुक्रम के बीच एक स्पष्ट संबंध देखा जा सकता है। सबसे अच्छी नाक वाली जाति, इस अनुक्रम में सबसे ऊपर होगी तथा चौड़ी नाक वाली जाति सबसे नीचे होगी। रिसले के दृष्टिकोण में, यह सूची मान्य सामाजिक व्यवस्था के साथ काफी हद तक मेल खाएगी।

जाति समूहों के उद्‌गम को समझाने के लिए भी रिसले ने एक व्यापक सिद्धांत विकसित किया। उसने अपना कार्य, नेसफील्ड के आलोचक से आरंभ किया, जिसका सिद्धांत 1891 में भारत की जनगणना में जाति समूहों का आरंभिक वर्गीकरण का आधार था। नेसफील्ड ने जाति व्यवस्था को समझने में प्रकार्य के महत्व पर बल दिया। प्रकार्य से उसका आशय जाति समूह के व्यवसाय से था और उसके आधार पर, उसने जातियों को छह श्रेणियों में विभाजित किया।

i) भूमि से संबंधित जातियाँ

   क) शिकार से संबद्ध भूमि

   ख) मछली पकड़ने की अवस्था से संबद्ध भूमि

ग) चारागाह से संबद्ध भूमि

घ) कृषि भूमि

ङ) जमींदार तथा योद्धा

ii) मिस्त्री जातियाँ

क) धातु विज्ञान से पहले

ख) धातु विज्ञान के समय

iii) व्यापारी जाति

iv) नौकरी पेशा जाति

v) पुजारी जाति

vi) धार्मिक जाति

नेसफील्ड ने आगे कहा कि सभी जातियों का केंद्रीय उद्गम होता है और उनके बीच विभाजन केवल एक प्रकार्यात्मक आवश्यकता है। रिसले का दृष्टिकोण, जाति के उद्गम संबंधी दृष्टिकोण के विपरीत था। वह नेसफील्ड के विशेषकर, उस विचार के विरुद्ध था कि सभी जातियों का केंद्रीय उद्गम होता है। उसके अनुसार, जाति व्यवस्था, दो विशिष्ट प्रजातीय समूहों के मिलाप का परिणाम था, जिनमें एक हलके रंग की त्वचा, पतली नाक वाला आर्य था तथा दूसरा, गहरे रंग का, चौड़ी नाक वाला, गैर-आर्य था। इस सिद्धांत के अनुसार, आर्य समूह न केवल हावी होने वाला समूह था बल्कि वह अति विवाह का भी पालन करता था। इस प्रथा के कारण मध्यवर्ती समूहों की श्रृंखला का निर्माण हुआ जिसकी सामाजिक स्थिति आर्य रक्त की मात्रा के साथ परिवर्तित होता था। रिसले ने मानवमितिय डेटा के साथ जाति के प्रजातीय उद्गम के सिद्धांत का समर्थन किया। बाद में कार्वे तथा मल्होत्रा द्वारा किए गए अध्ययनों ने हालांकि यह साबित किया कि शारीरिक प्रकार तथा सामाजिक दूरी के बीच ऐसा कोई संबंध नहीं है। वास्तव में, बी.एन. दत्ता (1944) पहला व्यक्ति था, जिसने अपनी रचना भारतीय सामाजिक राज्य व्यवस्था का अध्ययन में जाति और प्रजाति के बीच के संबंध को नष्ट किया।

4.5 जाति तथा न्यायिक व्यवस्था

किसी भी उपनिवेशीय सत्ता का प्राथमिक उद्देश्य, आर्थिक होता है अर्थात् लाभ के लिए उपनिवेश पर शासन करना तथा स्थानीय संसाधनों को बीच में से उपयोग करना। भारत में भी उपनिवेश तंत्र का उद्देश्य लगल नहीं था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के आरंभिक दिन, व्यापार द्वारा लाभ कमाने के उद्देश्य तथा बाद में, उनके नियंत्रण में क्षेत्रों से भूमि राजस्व प्राप्त करने से प्रेरित थे। हालांकि, बाद में यह एहसास हुआ कि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति तभी कर सकते थे यदि उन्हें आस्था तंत्र की बल्कि संपूर्ण समाज की पूरी समझ होती। प्रारंभिक रूप से, जाति के प्रति उपनिवेशीय अभिगम इस प्रशासनिक आवश्यकता द्वारा प्रेरित था। जाति को बड़ी जनसंख्या से निपटने के एक तरीके के रूप में देखा जाता था, जिसमें जाति को समान जीवनशैली वाली विभिन्न श्रेणियों में तोड़ दिया गया। हालांकि, धीरे-धीरे, उपनिवेशीय सरकार ने जाति व्यवस्था के पक्षों को बढ़ावा देने की संभावना को देखा, जिसने भारतीय समाज में विभाजन पर बल दिया। इसके अतिरिक्त, उपनिवेशीय शासन के बहाने, सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने, उपनिवेशी सत्ता को वैध करना और उपनिवेशी शासन को मजबूत करने में उपनिवेशकों की रुचि की पूर्ति के लिए जाति में विभिन्न प्रकार से फेर बदल की गई थी। फूट डालो और राज करो के लिए जाति, एक मुख्य एवं सुविधाजनक साधन के रूप में सामने आई (डर्क्स 2001 : 9)। उपनिवेशी शासन में जाति की भूमिका के संबंध में दो दृष्टिकोण हैं।

- रोलेंड इंडेन (1990), निकोलस डर्क्स (2001) तथा अन्य लोगों के अनुसार, अंग्रेज जाति को भारतीय परंपरा का केंद्र तथा भारत का केंद्रीय प्रतीक मानते थे। उपनिवेशीय परिप्रेक्ष्य में, जाति ने सभी भारतीयों की सामाजिक पहचान का एक वचन स्रोत उपलब्ध करवाया। समुदाय, गाँव, व्यापार जगत, मंदिर तथा क्षेत्र पर आधारित अन्य सभी पहचाने जाति के समक्ष गौण थीं। उपनिवेशक शासन के दौरान जाति सामाजिक जीवन के माप के रूप में सामने आई। भारत में अनिवेशक शासन के परिणामस्वरूप यह अधिक सुदृढ़ हो गई थी।

- घुर्रे (1932) के अनुसार, ब्रिटिश शासन समान कानून, जातिमुक्त आर्थिक अवसर, आधुनिक शिक्षा प्रणाली और जाति अयोग्यता निवारण कानूनों के माध्यम से सक्रिय हस्तक्षेप पर जोर के कारण जाति व्यवस्था में कुछ सकारात्मक परिवर्तन लाया। इससे जाति की पकड़ को घटाने में मदद मिली। जातिमुक्त न्यायिक व्यवस्था के आने से उन्होंने जाति को न्याय दिलाने वाली इकाई के रूप में मान्यता नहीं दी। हालांकि उन्होंने जाति के दुष्प्रभावों को कम करने के लिए कोई व्यापक कदम नहीं उठाए किंतु उन्होंने कम से कम उनकी निंदा की औसतन, उपनिवेशक सरकार की गतिविधियों ने इस संस्था को मजबूती नहीं दी।

डर्क्स (2001 : 15) के अनुसार उपनिवेशक शासन के प्रारंभिक वर्षों में भूमि प्रणालियों द्वारा अप्रत्यक्ष शासन की पद्धतियां देखने को मिली जिनका संपत्ति के माध्यम, कृषक संबंधों और राजस्व प्राप्ति पर प्रभाव पड़ा। इस तरीके से जमींदारों, कृषकों और गाँव समुदायों के हाथों में अधिकार आ गया। ये राजस्व प्राप्ति और स्थानीय व्यवस्था के माध्यम थे। चार्ल्स कार्नवालिस और फिलिप फ्रांसीस ने स्थानीय साहूकारों की अंग्रेज सरकार के प्रति वफादारी पर बल दिया जबकि थॉमस मुनरों ने इस बात पर बल दिया कि उनकी कृषि में कोई भूमिका नहीं थी। मेट केल्फे और एल्फिन स्टोन ने प्राचीन ग्राम गणतंत्र अथवा समुदाय को लचीलेपन पर बल किया। जैसे-जैसे उपनिवेशी अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ वैसे-वैसे कृषि राजस्व संबंधी मुद्दों पर अन्य प्रकार के राजस्व मुद्दे हावी हो गए। जातिप्रथा में अंग्रेजों की रुचि कुछ नए प्रकार से बढ़ गई। जाति और रिवाजों के मानव जाति विज्ञान को विशिष्ट स्तर के राजपत्रों और नियमावलियों, अनुभववादी सर्वेक्षणों (जिनमें जाति एक केंद्रिय मुद्दा था) और 1872 की पहली जनगणना जिसमें जाति लोगों के वर्गीकरण के प्राथमिक विषय के रूप में उजागर हुई में स्थान मिल गया। गाँव जातिसंबंधों की अभिव्यक्ति को खोजने के स्थान के रूप में पहचाना जाने लगा। 1901 तक, जाति ने राजनीतिक उपनिवेशीय परमोत्कर्ष प्राप्त कर लिया जिसे रिसले द्वारा किए गए भारत के मानवजाति विज्ञान सर्वेक्षण में स्थान मिल गया।

अंग्रेज शासन के आगमन के साथ भारत में समान न्यायिक व्यवस्था का भी आरंभ हुआ। जाति के प्रति, अंग्रेजी न्यायिक व्यवस्था का प्रारंभिक व्यवहार तीन प्रेसीडेंसियों में समान नहीं था (घुर्रे 1969 : 271)। बंगाल में, जाति से संबंधित प्रश्न, अदालत में उठाए जा सकते थे, मुंबई प्रेसीडेंसी न्यायलायों में जाति संबंधति मामलों में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं था। शुरू में, जाति से संबंधित मामलों को जाति परिषदों का कार्यक्षेत्र माना जाता था। धीरे-धीरे, अनेक मामले (जैसे मार-पीट, चोरी, बलात्कार) निर्णय हेतु अंग्रेजी न्यायलयों में आने लगे थे। गृह मामलों में, जैसे संपत्ति, गोद लेना, विवाह और तलाक, हालांकि प्रथागत जाति कानून न्यायालयों का मार्गदर्शन करते थे, समय के साथ, उच्च न्यायालयों के अनेक निर्णयों ने जाति के प्राधिकार को व्यावहारिक तौर पर एक ओर कर दिया। विधवा-पुनर्विवाह कानून, 1856 में पारित हुआ जिसने विधवा पुनर्विवाह को वैध कर दिया। यह एक महत्वपूर्ण कानून था जो अनेक उच्च जातियों के जाति नियमों के विरूद्ध था जिनमें विधवा पुनर्विवाह वर्जित था। 1857 में, मुंबई उच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से कहा, "कानून किसी भी जाति को विवाह को रद्द करने अथवा किसी स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति देने के लिए मान्यता नहीं दे सकता" (वहीं : 273)। जब किसी गैर-ब्राह्मण को धार्मिक कृत्य करने से रोकने हेतु प्रयास किया गया। तो न्यायालय ने लोगों को रीति-रिवाजों के लिए गैर-ब्राह्मणों का उपयोग करने के लिए कहा। जाति-अयोग्यता निवारण

कानून, 1850 द्वारा एक धर्म के व्यक्ति को दूसरे धर्म में परिवर्तित होने की अनुमति मिल गई। इस प्रक्रिया में, कानून ने निर्देश दिया कि धर्म अथवा जाति परिवर्तन के कारण किसी व्यक्ति से संपत्ति पर उसके अधिकार को छीना नहीं जा सकता था। हालांकि, यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस कानून में जाति समूहों के बीच गृह अयोग्यताओं के निवारण के मुद्दे पर कोई चर्चा नहीं की गई थी। इससे केवल एक धर्म दूसरे धर्म में परिवर्तन में मदद मिली। 1872 में, विशेष विवाह कानून पारित हुआ जिसमें किसी भी जाति या समुदाय के व्यक्ति के लिए, किसी दूसरी जाति या समुदाय के व्यक्ति से विवाह करना संभव था, बशर्ते संबद्ध लोग विवाह का एक दस्तावेज पंजीकृत कराएँ, जिसमें यह घोषित किया गया हो कि इनका कोई धर्म नहीं है। बाद में, गृह अयोग्यताओं के कारण, सामाजिक अयोग्यता को हटाने के लिए कुछ कदम उठाए गए। उदाहरण के लिए, 1923 में, सरकार ने एक आदेश जारी किया कि किसी भी ऐसी शिक्षा संस्था को अनुदान नहीं दिया जाएगा जो शोषित वर्ग के बच्चों को दाखिला नहीं देगी। बाद में आदेशों में, अस्पृश्यता की प्रथा को वर्जित किया गया और शोषित वर्गों के लिए भेद-भाव विरोधी प्रावधान किए गए।

इन सामान्य नियमों और प्रशासनिक कदमों के परिणामस्वरूप, विभिन्न जातियों के प्रति न्यायिक असमानताएँ दूर हो गई। जाति की न्याय करने की भूमिका छिन गई। किंतु इन कदमों ने जाति प्रथा को कमज़ोर नहीं किया। अंग्रेजी अनिवेशक सरकार की गतिविधियों ने जाति संबंधित समस्याओं को कम करने के लिए अधिक कार्य नहीं किया। ये अधिकांश कदम, जाति की कठोरता को कम करने की इच्छा से न होकर प्रशासन के निवेश से प्रेरित थे (पूर्व संदर्भ 284)। उन्होंने जाति के कारण पैदा हुई सामाजिक आयोग्यताओं से निपटने के लिए कभी कठोर कदम नहीं उठाए। उनके सभी कार्यों में, अंग्रेजी शासन की सुरक्षा मुख्य मुद्दा था। मानव जाति सर्वेक्षणों द्वारा प्राप्त ज्ञान को जाति संबंधित समस्याएँ सुलझाने के लिए नहीं प्रयोग किया गया। इनसे केवल जाति के पूर्ववर्ती महत्व को बढ़ावा मिला। जाति लोगों के रिवाज़ों के विस्तृत विवरण दर्ज करने का एक साधन बन गई। इसलिए, भारत में जनगणना आंरभ होने पर, जाति जनसंख्या के विवरण के लिए मुख्य आधार बन गई, जिसने आगे चलकर जाति-आधारित पहचानों को सुदृढ़ करने में भूमिका निभाई।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सोचिए और कीजिए 4.2

उपनिवेशकों के सामान्य नियमों तथा प्रशासनिक रणनीतियों का जाति प्रथा पर क्या प्रभाव पड़ा?

4.6 सारांश

समकालीन भारत में, जाति विभिन्न रूपों में मौजूद है। किसी जाति अथवा उप-जाति का सदस्य होने का अर्थ सबके लिए सब जगह एक-सा नहीं होता है। उपनिवेशी काल में जाति व्यवस्था को जिस प्रकार का अनम्य, अनुक्रमिक, व्यावसायिक समूह माना जाता था जिसमें पोषण तथा उपदेश पर सामाजिक प्रतिबंध थे, वह जाति के अनेक प्रयुक्त संदर्भों में, हो सकता है कि, वैध न हो। उपनिवेशवादी शासक, जाति को महत्वपूर्ण मानते थे। यह सभी सामाजिक चीज़ों का मापन मानी जाती थी। उपनिवेशीकाल में, जाति को समान, व्यापक तथा सर्वाधिक पूर्ण माना जाता था। जाति मुख्य धार्मिक व्यवस्था के रूप में उभरी तथा जाति की धार्मिक परिभाषा केंद्रीय हो गई क्योंकि सामाजिक अनुक्रम को आवश्यक रूप से धार्मिक तथ्य माना जाता था। उपनिवेशवादी प्रशासकों द्वारा दिए गए विस्तृत और व्यापक विवरण, जाति के धार्मिक आधार पर बल देते थे ताकि व्यवस्था रिवाज़ों और उत्सवों के सामान्य आभामंडल से व्याप्त दिखाई दे। पवित्रता तथा प्रदूषण और सामाजिक उपदेशों तथा अंतर-भोज संबंधी प्रतिबंधों से जाति प्रथा पूर्णत: व्याप्त थी।

यह विचार कि, वर्ण (जाति का चार अनुक्रमिक भागों में विभाजन जिसमें ब्राह्मण सबसे ऊपर थे) को सभी भारतीयों की सामाजिक पहचान और संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए प्रयोग किया जा सकता था, अंग्रेजी उपनिवेशी शासन के दौरान विकसित हुआ। भारतीय जनसंख्या के भेदों तथा विभाजनों पर ध्यान देकर, जाति नियम का महत्वपूर्ण उपनिवेशी सांस्कृतिक उपकरण बन गई। प्रजातीय तंत्र के रूप में जाति तथा जनगणना में इसके उपयोग पर रिस्ले के सिद्धांत ने भारत में आधुनिक जाति पहचानों के उद्‌गम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने समकालीन भारत में जातिवाद के जन्म में योगदान दिया।

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोहन बी.एस. 1987 "द कमांड ऑफ ए लैंग्वेज ऐंड द, लैंग्वेज ऑफ कमांड" इन *सबॉलटरन स्टडीज़ : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्टरी एंड सोसाइटी* भाग vi, सं. रंजीत गुहा। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली।

रंजीत गुहा (सं.) भाग vi. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली।

डर्क्स एन.बी., 2001, *कास्ट्स ऑफ माइंड : कोलोनिआलिज़्म एंड दि मेकिंग ऑफ मॉर्डन इंडिया,* पर्मानेंट ब्लैक।

इंडिन, रोनेल्ड. 1990. *इमेजिनिंग इंडिया,* बेसिल ब्लैकवेल लि. केम्ब्रेज, मास.।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 वर्ण-जाति सिद्धांत

5.3 शुद्धता-अशुद्धता की विचारधारा

5.4 जजमानी प्रथा

5.5 महत्वपूर्ण मुद्दे

5.6 सारांश

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समाज में ब्राह्मणों की स्थिति के विषय में बता सकेंगे;
- जाति प्रथा संबंधी ब्राह्मणवादी व्याख्या समझा सकेंगे; और अंत में
- ब्राह्मणों तथा अन्य जातियों के परस्पर संवाद के ढंग पर चर्चा कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने जाति संबंधी उपनिवेशवादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त किया जाना। इस इकाई में जाति प्रथा पर ब्राह्मणों के दृष्टिकोण को समझाने का प्रयास किया गया है। धार्मिक ग्रंथों में बताए गए रिवाजों को करने तथा उनकी व्याख्या करने पर बाह्मण विशेषज्ञ थे, इसलिए उन्होंने जाति के ग्रंथ-संबंधी और प्रथागत पक्षों पर बल दिया। वे ग्रंथों से पाठों और श्लोकों को उद्धरत करते थे और ऐसा करते समय वे जाति व्यवस्था का उसमें अपनी स्थिति का काफी सीमा तक समर्थन करते थे। यह रोचक बात है कि ब्राह्मणों को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था, जिसे 'देव भाषा' अर्थात् देवताओं की भाषा माना जाता है। इसी भाषा में धार्मिक कृत्यों के समय मंत्रोच्चारण भी होता है। निश्चित रूप से, ब्राह्मण जो देवताओं की इस भाषा में पारंगत हैं, दूसरों से स्वयं को श्रेष्ठ मानते हैं। इससे समाज में इनकी स्थिति मजबूत होती है।

चूंकि ब्राह्मण एवं जातिव्यवस्था के बारे में उनके विचार, उनकी जीवनशैली तथा उनके बारे में लोगों का दृष्टिकोण ग्रंथों से प्राप्त हुआ है, जाति पर ब्राह्मण संबंध परिप्रेक्ष्य, संक्षेप में, ग्रंथों के आदेशों और ब्राह्मणों के जीवन में उनकी अभिव्यक्ति पर आधारित है। हम इस इकाई का आरंभ ब्राह्मणों के उद्गम और वर्ण तथा जाति के बड़े ढांचे में उनकी आवश्यक विशेषताओं के पारंपरिक सिद्धांत से कर रहे हैं। इसके बाद हम शुद्धता-अशुद्धता के सिद्धांत पर चर्चा कर रहे हैं जो ब्राह्मणों और गैर-बाह्मणों के बीच परस्पर संबंध का आधार है और उसके बाद ब्राह्मणों तथा समाज की अन्य जातियों के सदस्यों की आपस में निर्भरता की खोज करेंगे, जो उनकी व्यवसायिक विशेषज्ञता द्वारा प्रेरित होती है।

5.2 वर्ण-जाति सिद्धांत

'वर्ण' शब्द का अर्थ रंग होता है। धार्मिक ग्रंथों में वर्ण की अवधारणा लोगों के स्तरीकरण के लिए प्रयुक्त हुई है। ऋग्वेद में आर्यवर्ण का संदर्भ मिलता है जिसमें आर्य लोग आते हैं (जो हल्के

रंग के होते थें) जिनकी तुलना दास वर्ण वाले गैर-आर्य लोगों (जो गहरे रंग के होते थे) से की गई है। हांलाकि ऋग्वेद में बताए गए वर्ण, समाज की चार श्रेणियाँ हैं। ब्रह्म, पुजारी बन गए, क्षत्र, योद्धा बन गए और विश ने आम आदमी का रूप ले लिया। घुर्रे (1950 : 46) के अनुसार, "बाद के साहित्य में इन श्रेणियों या वर्गों को नियमित रूप से वर्ण कहा गया, यहां तक कि हिंदू धर्म का नाम 'वर्णाश्रम धर्म' हो गया। फिर भी ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग इन वर्गो के लिए कभी नहीं हुआ। उसमें केवल आर्य वर्ण या आर्य लोगों की तुलना दास वर्ण से की गई है। दूसरी ओर शतपथ ब्राह्मण, इन चार वर्गों को चार वर्णों के रूप में बताते हैं। 'वर्ण' का अर्थ रंग है और इसी अर्थ में आर्य की तुलना दास से की गई जिसमें उनके क्रमश: साफ और गहरे रंगों का संदर्भ दिया गया। इस शब्द का रंग वाला अर्थ इतना मजबूत था कि बाद में जब इन वर्गों की नियमित रूप से वर्ण कहा जाने लगा तो इन चार वर्गों को चार भिन्न रंगों से दर्शाया गया जिनके द्वारा इनके सदस्यों की पहचान होती थीं। बाद में साहित्य में, इन श्रेणियों को वर्ण कहा गया है।

'पुरुष सुप्त' नामक बाद की एक ऋचा ने यह स्थापित किया कि समाज में चार श्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणी पुरुष-पिछली इकाई में भी बताया गया आदि-पुरुष के शरीर के विशिष्ट अंग से निकली है। ये वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ऐसा कहा जाता है कि ये वर्ण पुरुष के क्रमश: मुख, हाथ, जंघा और पैरों से निकले हैं। इस वर्ण योजना के बाद केवल चार श्रेणियां हैं जिनमें लोगों को बाँटा गया है। इन वर्णों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में अयोग्य, चंडाल, निषाद और पौलकसा जैसे समूहों का वर्णन है जो वर्ण योजना से बाहर है। इन्हें साफ-सफाई जैसे 'गंदे' कार्य करने पड़ते थे और इनकी निंदा की जाती थी तथा इन्हें अस्पृश्य माना जाता था।

महाभारत में प्रत्येक वर्ण एक विशिष्ट रंग से संबद्ध हैं। ब्राह्मणों के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल, वैश्य के लिए पीला और शूद्र के लिए काला रंग हैं। ऐसा माना जाता था कि प्रत्येक वर्ण, भिन्न वर्णों के लोगों के बीच विवाह न करके अपनी शुद्धता और अपने रंग को बचा सकता था। रोचक तौर पर उस वर्ण के लोगों को जो अपनी शुद्धता और रंग को बचा पाते थे, सामाजिक सूचक पर अधिक महत्व दिया गया। सामान्यत: ब्राह्मण अपने वर्ण से बाहर विवाह नहीं करते थे ताकि अपने रंग और शुद्धता को बचा सके। यह बात सही है कि ज्ञानात्मक रूप से ब्राह्मण अपने वर्ण से बाहर विवाह करने से बचते थे, यह सत्य है कि इस प्रकार के विवाह तथा/अथवा संबंध जल्दी-जल्दी नहीं बनते थे। कुछ अवसरों पर खून की शुद्धता और रंग के मामले को अनदेखा कर दिया जाता था। धार्मिक ग्रंथों में, सत्यकाम जाबाला (एक दासी का पुत्र जो उस व्यक्ति का नाम नहीं बता सकी जिससे वह गर्भवती हुई), विश्वामित्र (जिनके माता-पिता अज्ञात है) के मामले स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त मानवमितिय डेटा पर घुर्रे का विश्लेषण (1961) यह बताता है कि उत्तर प्रदेश के बाह्मणों और शूद्रवर्ण के चूड़ों तथा पंजाब में वैश्य वर्ण के खत्रियों में काफी शारीरिक समानता है।

लोगों के अतिरिक्त वर्ण का यह विभाजन ग्रहों और मिट्टी पर भी लागू होता है। इसका अर्थ है कि ग्रहों और मिट्टी को चारवर्णों में पहचाना जाता है। बोस (1932 : 11) के शब्दों में, "कुछ इशारों द्वारा मिट्टी को पहचाना जा सकता है। ब्राह्मणों की मिट्टी सफेद रंग की होती है। इसमें से मक्खन की सुगंध आती है और यह स्वाद के मामले में संकोचक होता है। क्षत्रिय मिट्टी रंग में खून की तरह लाल होती है। खून जैसी गंध होती है और स्वाद में कड़वी होती है। विशी मिट्टी रंग में पीली, गन्ध में क्षारीय धरती की तरह और स्वाद में खट्टी होती है। शूद्र मिट्टी रंग में काली होती है और इसका स्वाद शराब जैसा होता है"। इतना ही आवश्यक यह है दर्ज करना है कि भारतीय खगोल शास्त्र में लोगों का वर्गीकरण जिसके अनुसार अपने जन्म के वर्ण को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति का एक वर्ण होता है जो जन्म के समय राशि द्वारा निर्धारित होता है। यह संभव है कि ब्राह्मण वर्ण में पैदा हुआ व्यक्ति जन्म के समय राशिचक्र के चिह्न के अनुसार वैश्य अथवा शूद्रवर्ण का होता है। किसी विशिष्ट राशिचक्र में जन्म के कारण मिला वर्ण व्यक्ति के गुणों (गुणवत्ता की विशेषताओं) को पहचानने के लिए महत्वपूर्ण होता है। आम भाषा

MAADHYAM IAS

में और साधारण सामाजिक संदर्भों में किसी व्यक्ति का वर्ण उसके राशिचक्र का चिन्ह न होकर जन्म के कारण उसके द्वारा प्राप्त चीजों को दर्शाता है (सरस्वती, 1977 देखें)।

मूलतः, गुण तीन प्रकार के होते हैं, सत्व गुण (तेजास्विता तथा प्रज्ञा से संबंधित), रजोगुण (ऊर्जा और तीव्र क्रियाओं से संबंधित) और तमों गुण (अधंकार और निष्क्रियता से संबंधित)। ऐसा माना जाता है कि ये गुण भिन्न अनुपातों में मिलते हैं जिसके कारण लोगों के व्यवहार में परिवर्तन आता है। 'गीता' में कहा गया है कि चार वर्णों का निर्माण गुणों के आधार पर इस अर्थ में हुआ था कि शांत मस्तिष्क, स्वयं पर नियंत्रण, सहनशीलता, विवेक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की लगन को दर्शाता सत्व गुण, ब्राह्मणों की विशेषता है; रजो गुण को दर्शाते वीरता, क्रोध, लगन, शासन के प्रति रुचि, क्षत्रियों की विशेषता है और भूमि की जुताई-कला, आजीविका हेतु जानवरों आदि की देख-रेख, व्यापार और वाणिज्य, वैश्यों की विशेषता है। और तमोंगुण को दर्शाते सेवा करने का भाव, हाथों से अधिक कार्य करना आदि शूद्रों की विशेषता है (काणे, 1962)। ग्रंथों में, ये विशेषताएं चार वर्णों द्वारा किए जाने वाले कार्यों को भी दर्शाती हैं। अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाए तो, ब्राह्मणों को धार्मिक ग्रंथों पर मर्मज्ञता हासिल करने का निर्देश हुआ है। विष्णुस्मृति (2.1.17) के अनुसार, 'ब्राह्मण वेद पढ़ाता है ..... ब्राह्मण दूसरों के लिए यज्ञादि करता है और भिक्षा भी प्राप्त करता है.....।' क्षत्रियों का धर्म युद्ध आदि में लड़ना और अन्य वर्णों की शत्रुओं से रक्षा करना है। वे प्रशासनिक तथा सैन्य सेवाएँ भी प्रदान कर सकते थे। वैश्यों का धर्म व्यापार और वाणिज्य, भूमि पर कृषि द्वारा और पशुओं को रखकर आजीविका कमाना है। शूद्रों का धर्म अन्य जातियों की नम्रतापूर्वक सेवा करना है। ऐसा प्रायः माना जाता है कि धर्म तथा सत्कार्य एक ही होता है जो जाति नियमों के अनुसार है। इन नियमों से अलग, मनु ने ऐसी अनेक गतिविधियाँ बताई हैं जिन्हें विभिन्न वर्णों के लोग संकट के समय कर सकते हैं। आय के लिए कार्य, सेवा, पशुओं की देख-भाल, भिक्षा माँगना, पैसे पर ब्याज लेना तथा अन्य कई गतिविधियाँ बताई जिन्हें मुश्किल के दिनों में पेट भरने के लिए विभिन्न वर्णों द्वारा किया जा सकता है। मनुस्मृति में बमताए गए मनु के नियम कहते हैं कि जाति नियमों के अनुपालन में कमी के खतरनाक परिणाम हो सकते हैं। धार्मिक कोड से पथभ्रष्ट होने वाले लोगों को सामाजिक व्यवस्था में पहले से निम्न स्तर पर ले जाया जाता था। ये नियम ब्राह्मणों पर अधिक सख़्ती से लागू होते थे जो दूसरों के लिए मानदंड निर्धारित करते थे और समाज में अन्य लोगों के कार्यों पर निर्णय देते थे। धार्मिक ग्रंथों में बताई गई बातों के बावजूद, व्यवसाय चुनने के संबंध में नियमों का पालन, ब्राह्मणों द्वारा भी सख़्ती से नहीं होता था। आरंभिक बुद्ध साहित्य में, मनु द्वारा निर्धारित नियमों से च्युत होने के उदाहरण मिलते हैं।

बाह्मणोपत्तीमारतंड के पश्चात्, निम्नीकृत ब्राह्मणों के ऐसे छह प्रकार मिलते हैं जिन्होंने मनु द्वारा बताए व्यवसाय के अतिरिक्त किसी अन्य व्यवसाय को चुना जैसे, राजा की निजी सेवक के रूप में सेवा करना, व्यापार तथा बिक्री करना, धन के लालच में दूसरों के लिए यज्ञादि करना, संपूर्ण गाँव का पुजारी बनना, रसोइये का कार्य करना, और अपने नियमित यज्ञादि को न करना। ऐसे ब्राह्मण शूद्रों जैसे होते हैं (सरस्वती, 1977 देखें)।

ब्राह्मण के पास अपनी पूजा, अर्चना तथा देवताओं को प्रसन्न करने वाली प्रथाओं के माध्यम से राजा की सुरक्षा सुनिश्चित करने की प्रथागत शक्ति होती है। ऐसा माना जाता है कि देवता, किसी राजा के तब तक आहुति स्वीकार नहीं करते, जब तक उन आहुतियों को देने का कार्य किसी ब्राह्मण द्वारा संपन्न नहीं होता है। क्रोधी ब्राह्मण, राजाओं और उनके कर्मचारियों को शाप दे सकता है। यह एक प्रचलित भय है कि ब्राह्मण का शाप सत्य हो जाता है।

बॉक्स 5.1: ब्राह्मण तथा राजा की स्थिति

'कुछ स्थितियों में, राजा ब्राह्मण के ऊपर होता है, जैसे राज्याभिषेक उत्सव में। अन्य स्थितियों में, ब्राह्मण राजा से श्रेष्ठ होता है, जैसे मानवधर्मशास्त्र तथा महाभारत के कुछ संदर्भों में। इस समस्या को सत्य के दो स्तरों पर देखा जाता है, एक उच्च स्तर है, जहाँ ब्राह्मण स्पष्ट

रूप से श्रेष्ठ है और प्रत्येक बात का स्रोत है तथा दूसरा निम्न स्तर है, जहाँ राजाओं को ब्राह्मणों की 'पृथ्वी पर देवता' के रूप में रक्षा और देखभाल करनी होती है (डर्क्स 1990 : 59 से उद्धरत)।

अस्पृश्य की तुलना में ब्राह्मण की स्थिति पूर्णत: स्पष्ट थी। अब, जबकि ब्राह्मणों की भांति क्षत्रिय और वैश्य भी वेद-पाठ कर सकते थे और सुन भी सकते थे, इन पाठों को सिखाने और समझाने के लिए एक आध्यात्मिक शिक्षक की आवश्यकता थी। दूसरी ओर, अस्पृश्यों को वेद-पाठ सुनने की अनुमति नहीं थी। ब्राह्मणों को जहाँ पूज्य समझा जाता था, वहीं अस्पृश्यों को निम्न मानकर घृणा से देखा जाता है। अस्पृश्यों को समाज से इतनी दूर रखा गया कि मंदिरों, जल स्रोतों तथा सामाजिक क्रियाओं के अन्य स्थानों तक उनकी पहुँच नहीं थी। अन्य लोगों से शरीरिक तथा सामाजिक दूरी बनाए रखने के लिए उन्हें मजबूर किया जाता है। उन्हें द्विजों के निवास स्थान से दूर रखा जाता था। तमिलनाडु के ब्राह्मण अग्रहारम् नामक विशेष स्थान पर रहते थे। उनकी अधिकांश गतिविधियाँ अग्रहारम् में होती थीं। निश्चित रूप से, गैर-ब्राह्मणों को, विशेषकर अस्पृश्यों को वहाँ जाने की अनुमति नहीं थी; वे केवल सफाई कार्य करने वहाँ जाते थे और उसके लिए भी उन्हें पिछली गलियों का प्रयोग करना पड़ता था जिससे वे न तो दिखाई दें और न ही उनकी छाया किसी ब्राह्मण पर पड़े। अस्पृश्य, न तो चप्पल पहन सकते थे और न ही मूँछ रख सकते थे। यदि मूँछ रख भी लें तो वे उन्हें ऊपर नहीं मोड़ सकते थे। स्त्रियों को ऊपरी वस्त्र पहनने की अनुमति नहीं थी। इसके अतिरिक्त, अस्पृश्यों की उनसे संबंधित महत्वपूर्ण मुद्दों पर भी सुनवाई नहीं होती थी। उन्हें अपने मामलों अथवा प्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित करने वाले मामलों में लिए जाने वाले निर्णयों में कुछ कहने का अधिकार नही था।

ड्यूमोंट (1988 : 67) बताता है, 'चार वर्णों का समूह दो में विभाजित होता है : शूद्रों की अंतिम श्रेणी, पहले तीन के समूह के विरुद्ध है, जिसके सदस्य इस अर्थ में 'द्विज' होते हैं कि वे आंरभ करने में, द्वितीय जन्म तथा सामान्यत: धार्मिक जीवन में भाग लेते हैं। ये द्विज, बदले में दो में विभाजित होते हैं : वैश्य, क्षेत्रिय तथा ब्राह्मणों के समूह के विरुद्ध होते हैं, जो पुन: दो में विभक्त हो जाता है।' यहाँ 'द्विज' में प्रयुक्त द्वितीय जन्य (पहला जन्य, माँ के गर्भ से होता है) का आशय उस प्रथा से है जिसमें पुरुष अपने बाएँ कंधे के ऊपर से अपने शरीर पर पवित्र धागा (जनेऊ) बाँधता है। यह व्यक्ति के दूसरे तथा आध्यात्मिक जन्म को दर्शाता है और उसे कुछ रिवाज़ों को करने तथा कुछ मंत्रों के उच्चारण के लिए मान्यता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, तमिल ब्राह्मण लड़कों को जनेऊ संस्कार के बाद ही गायत्री मंत्र (सूर्य भगवान के आह्वान का मंत्र) पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है।

पालि ग्रंथों में, 'जाति' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह शब्द वैदिक साहित्य में प्रयोग नहीं हुआ है। कात्यायन स्रोत सूत्र में, यह परिवार के लिए प्रयोग किया गया है। यह निरुक्त में (XII.13) आता है और पाणिनि (V.4.9) में आता है जो ब्राह्मणजाति का अर्थ यह बताते हैं कि जो जाति से ब्राह्मण है (काणे. 1962 : 1633 देखें)। सरस्वती (1977 : 18) लिखती हैं, 'हालांकि कुछ प्राधिकारियों (जैसे याज्ञवल्क्य) ने स्पष्ट रूप से 'जाति' और 'वर्ण' के बीच भेद बताया है जबकि अनेक लोगों ने इन्हें एकार्थी शब्दों की तरह प्रयोग किया है। मनु (X.31) ने वर्ण शब्द का प्रयोग मिश्रित जातियों के लिए और प्राय: विपरी रूप से, 'वर्ण' के लिए 'जाति' का प्रयोग किया है (VII, 177, IX.85-6)'। मनु ने कहा कि बच्चे अपने माता-पिता से विशेषताएँ प्राप्त करते हैं और कोई व्यक्ति उस व्यवसाय को चुनता है जिसके लिए वह मानसिक रूप से आनुवंशिक दृष्टि से तैयार होता है। संक्षेप में, जातियाँ किसी एक व्यवसाय में भागीदार होने वाली समूह होती हैं (बोस 1962 देखें)। मनु ने अनुलोभ तथा प्रतिलोभ विवाहों के लिए विस्तृत नियम बताए हैं। मनु के नियम बताते हैं कि एक ही वर्ण वाले माता-पिता से उत्पन्न बच्चे 'सवर्ण' अर्थात् समान वर्ण वाले कहलाते हैं जबकि भिन्न वर्ण वाले माता-पिता के बच्चे 'गोलक' कहलाते हैं। जब किसी एक वर्ण के लोग लगातार पाँच या सात बार अपने से उच्च वर्ण में विवाह करते हैं तब उनका वर्ण उच्च हो पाता है जिसका अर्थ है कि उन्हें उच्च

वर्ण वाला कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मनु कहता है कि जातियों का उद्‌गम मिश्रित विवाहों अर्थात् विभिन्न वर्णों वाले लोगों के बीच विवाहों के कारण होता है। सरस्वती (1977 : 21) कहती है, 'निम्नलिखित नियम जातियों के मामले में नियमित रूप से लागू होता है : समान जाति की विवाहित पत्नियों से उत्पन्न बच्चे अपने पिता की जाति के होते हैं किंतु यदि माता विजाति (समान जाति की न हो) की हो तो ऐसे में पैदा होने वाले बच्चे अपसद (निम्न जन्म) कहलाते हैं और ऐसी जाति में उनकी गिनती होती है जो न तो उनके पिता की होती है और न माता की। इस प्रकार विभिन्न जातियां उत्पन्न हुई'। हालांकि यहां यह बताया जा रहा है कि नियोग (मात्र संतानोत्पत्ति के लिए किया गया संभोग) द्वारा उत्पन्न बच्चों का वर्ण उनकी माता का होता है ना कि उनके जैविक पिता का। ऐसा माना जाता है कि अनेक ब्राह्मण जातियां देवताओं के मन अथवा बौद्धिक शक्ति द्वारा उत्पन्न संतानों की वंशज है। इन्हें मानसपुत्र कहते हैं— मानस का अर्थ है मन और पुत्र का अर्थ है संतान। अन्य जातियां देवताओं के शरीर के द्रव्य से उत्पन्न पुत्रों की वंशज है। इसके अतिरिक्त भी अन्यजातियां है जो विवाह द्वारा और प्राकृति जन्म द्वारा उत्पन्न पुत्रों की वंशज है। यद्यपि इस प्रकार के जन्म में दिव्य शक्तियों का हस्तक्षेप होता है (अधिक जानकारी के लिए *'ब्राह्मणोपत्तिमारतंड'* देखें)।

ब्राह्मणों को किसी साधु अथवा तपस्वी का वंशज माना जाता है जिसके नाम पर उनके गोत्र का नाम होता है (एक अतिविवाह विभाजन जिसके सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज माने जाते हैं)। यह एक सामान्य मान्यता है कि पिछली पीढ़ी के ब्राह्मणों के पास अपने पूर्वज साधुओं की भांति, ब्रह्मतेज होता था जो ऐसा गुण था जिससे उनके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट कांति और सौम्यता प्राप्त होती थी (बेटेली 1996 : 48 देखें)।

5.3 शुद्धता-अशुद्धता की विचारधारा

शुद्धता-अशुद्धता की विचारधारा विभिन्न जातियों के बीच संबंधों को काफी सीमा तक नियंत्रित करती है। यह जातियों के अनुक्रम का आधार भी उपलब्ध करवाती है। इसलिए जाति जितनी अधिक शुद्ध होती है, सामाजिक अनुक्रम में उसका स्थान उतना ही ऊपर होता है। शुद्धता के लिए संस्कृत का शब्द शोधन है जो 'शुध' धातु से प्राप्त हुआ है और इसका अर्थ 'शुद्ध' होता है। शुद्ध का सजातीय शब्द शौच है जिसका अर्थ सफाई होता है। हिंदू ग्रंथों में शुद्धता प्राप्ति के अनेक तरीके दिए गए हैं। आध्यात्मिक शुद्धता वेदों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों को पढ़ने, किसी देवता का ध्यान करने, तीर्थयात्राएं करने, भगवान का नाम जपने, ब्रह्मचर्य का पालन करने, तप और अहिंसा का पालन करने और क्रोध, काम और इच्छाएं बढ़ाने वाले भोजन पदार्थों (जैसे प्याज, लहसुन, मांसाहारी भोजन) का सेवन न करने से प्राप्त होती है (वाकर, 1983 देखें)।

जब शुद्धता का ह्रास होता है या वह दूषित होती है (कुछ ऐसे कारणों से, जैसे, ब्राह्मणों के कुछ महत्वपूर्ण नियमों का उल्लंघन जो गलती से किसी अस्पृश्य को छू लेता है अथवा परिवार में जन्म या मृत्यु या अन्य किसी कारण से), तो विशिष्ट कृत्यों द्वारा उसका शुद्धिकरण आवश्यक हो जाता है। ड्यूमोंट (1970) शुद्धता तथा अशुद्धता के विरुद्ध ब्राह्मणों तथा अस्पृश्यों की तुलना को रखता है। उसके लिए, शुद्ध और अशुद्ध का विरोध, अनुक्रम के मूल में उस सीमा तक होता है जहाँ तक श्रेष्ठ तथा निम्न कि विरोध के साथ उसका विलय हो जाता है। वह यह सुझाव देता है कि व्यवहार में अथवा सिद्धांत में, अशुद्ध कार्यों में विशेषज्ञता से अस्पृश्य जैसे कुछ लोगों में स्थायी रूप से अशुद्धता व्याप्त हो जाती है। अस्पृश्य लोग नियमित रूप से गंदे कार्य करते हैं (जैसे सफाई, गंदे कपड़े धोना, मृत पशुओं और मनुष्यों की सफाई करना, जूते बनाना)। एक उदाहरण धोबियों का है, जो देश के अधिकांश भागों में, जन्म तथा मासिक धर्म के समय के गंदे कपड़ों को साफ करते हैं। दूसरा उदाहरण मोचियों का है जिन्हें चमड़े का प्रयोग (जो कि एक अशुद्ध पदार्थ है) जूते बनाने या मरम्मत करने के लिए करना पड़ता है। चूंकि ये कार्य, अस्पृश्यों के परंपरागत कार्य हैं, तो वे सदैव अशुद्ध रहते हैं। यह स्थायी अशुद्धता है। यह अशुद्धता इस अर्थ में संक्रामक होती है कि यह उन लोगों तक पहुँच जाती है जो उन्हें छूते हैं अथवा उनसे

धुल जाते हैं। यह अशुद्धता कुछ निर्धारित कृत्यों को करने के बाद ही दूर होती है। दूसरी ओर, मनु ने कुछ शारीरिक स्रावों को अशुद्ध माना है जैसे, मल वीर्य, थूक तथा शरीर पर इनकी मौजूदगी से व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कुछ घटनाएँ जैसे मृत्यु तथा जन्म, मासिक धर्म को 'खतरा' माना जाता है क्योंकि इसके दौरान प्रभावित व्यक्ति को संक्रमण आदि से बचने के लिए अलग स्थान पर रखा जाता है। ऐसे व्यक्ति का निकटतम संबंधी भी अशुद्ध हो जाता है और कुछ निर्धारित अवधि के लिए उसे अस्पृश्य माना जाता है। मासिक धर्म स्त्री को छूना अथवा संतान के जन्म कुछ प्रतिबंधों के गुज़र रही स्त्री को छूना या शमशान घाट से चिता को अग्नि देकर लौटे व्यक्ति को छूना भी अस्थायी अशुद्धता पैदा करता है। पानी को शुद्धिकरण का साधन माना जाता है; अशुद्धता को दूर करने के लिए चलते पानी में नहाना या गंगा जैसे पावन जल में नहाना चाहिए।

ब्राह्मणों की शुद्धता बनाए रखने के लिए अस्पृश्यों और निम्न जाति के लोगों के ब्राह्मणों की अस्थायी अशुद्धता ग्रहण करने का माध्यम माना जाता है। ऐसा, वे ब्राह्मणों के घर-आँगन, उनके वस्त्र धोकर तथा उनके द्वारा गंदे तथा अशुद्ध समझे जाने वाले कार्य करके करते हैं और इस दौरान, वे स्वयं अशुद्ध हो जाते हैं। इस दौरान, वे यह भी सुनिश्चित करते हैं कि ब्राह्मण सत्कायों को करने तथा ईश्वर और लोगों के बीच मध्यस्थ बनने का कार्य करने के लिए सक्षम रहें (बाशम 1954, होकार्ट 1950, गोल्ड 1958 देखें)। व्यापक अर्थ में, किसी जाति की शुद्धता निर्धारित करने वाले तत्वों में से एक यह है कि कोई ब्राह्मण उस जाति के सदस्य के हाथों से पीने का पानी स्वीकार करता है अथवा नहीं। निश्चित रूप से इसमें स्थानीय परिवर्तन होते हैं। हट्टन (1983) उत्तर भारत के ब्राह्मणों के उदाहरण देता है जो शूद्रों से अपने पानी के बर्तन में पानी ले लेते हैं, जिन्हें सापेक्षत: स्वच्छ माना जाता है, जैसे बढ़ई, नाई, बढ़भूजा, कहार। दक्षिण भारत के ब्राह्मण, इस मामले में विशेष ध्यान देते हैं। पानी की भांति, जातियों के बीच खाद्य सामग्री का लेन-देन अनेक प्रतिबंधों द्वारा नियंत्रित होता है। किसी ब्राह्मण के खाना पकाने के बर्तन पर किसी अस्पृश्य की छाया या दृष्टि, उस खाने को फेंक देने के लिए पर्याप्त हैं। यह तथ्य रोचक हैं कि पानी में पकाए गए भोजन, जिसे 'कच्चा खाना' कहते हैं, पर घी अथवा मक्खन में बनाए गए भोजन, यानी पक्का खाना से अधिक प्रतिबंध होते हैं। पानी और खाने पर लगे प्रतिबंध की भांति, धूम्रपान पर भी प्रतिबंध होते हैं। यहाँ पर यह बता देना चाहिए कि खाना पकाने का बर्तन जिस पदार्थ का बना होता है, उसका भी काफी महत्व होता है। हट्टन (1983) ने दर्ज किया है कि उच्च जाति के लोग मिट्टी के बर्तन प्रयोग नहीं करते क्योंकि यह पूर्णत: स्वच्छ नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त, शारीरिक संपर्क द्वारा भी दूषण हो सकता है।

ऑरिनस्टेन (1965) बताता है कि दूषण मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं, अस्थाई दूषण तथा संक्रमित दूषण। अस्थाई दूषण वह होता है जो किसी व्यक्ति की रिश्तेदारी में जन्म या मृत्यु होने से होता है। ऐसे मौकों पर, समस्त रिश्तेदारी में अशुद्धता फैल जाती है।

रिश्तेदारी का यहाँ महत्व होता है। दूर के रिश्तेदारों की तुलना में, निकटवर्ती रिश्तेदार अधिक समय तक अशुद्ध रहते हैं। ध्यान देने लायक रोचक बात यह मान्यता है कि अस्थाई दूषण का स्तर, वर्ण के स्थान के अनुसार होता है। इसका अर्थ यह है कि जितना उच्च स्थान, उतना ही कम दूषण। इसलिए, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की अपेक्षा ब्राह्मण कम दूषित होता है। इसी प्रकार, क्षत्रिय ब्राह्मण से अधिक, किंतु वैश्य या शूद्र से कम दूषित होता है। दूसरी ओर, संक्रमित दूषण, किसी दूषित पदार्थ के संपर्क में आने से होता है। यह दो प्रकार का होता है : बाह्य दूषण और आंतरिक दूषण। बाह्य दूषण किसी दूषित पदार्थ के संपर्क में आने से होता है। दूषित व्यक्ति या दूषित पदार्थ की सफाई से इसे दूर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, किसी अस्पृश्य व्यक्ति द्वारा छुआ गया चम्मच भी दूषित हो जाता है। अच्छी तरह धोने से इस दूषण को दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार, किसी अस्पृश्य व्यक्ति द्वारा छुए जाने पर दूषित हुए व्यक्ति को उस दूषण को दूर करने और अपनी शुद्धता को पुन: प्राप्त करने के लिए नहाना पड़ता है आंतरिक दूषण, दूषित भोजन, दूषित पानी या किसी भी अन्य ऐसे पदार्थ को खाने से हो जाता है जो शरीर में पेस हो जाता है।

दूषण के संक्रमण के माध्यम के रूप में स्पर्श या संपर्क की क्रिया उतनी सरल नहीं है जितनी सरल यह दिखाई देती है। यहाँ महत्वूपर्ण प्रश्न यह है कि किसी उच्च जाति कि व्यक्ति के घर विवाह के अवसर पर जाने से कोई धोबी अशुद्ध या दूषित क्यों माना जाता है जबकि उसे तब अशुद्ध नहीं माना जाता जब वह घर पर गंदे कपड़े लेने और धुले हुए लौटाने आता है। एक संभावित स्पष्टीकरण यह है कि जब वह घर पर गंदे कपड़े लेने और धुले हुए लौटाने आता है तो वह घर को इसलिए दूषित नहीं करता क्योंकि वह 'शुद्धिकरण का माध्यम' बन कर आता है (ड्यूमोंट 1970)। अन्य अवसरों पर जैसे विवाह पर, वह शुद्धिकरण का माध्यम नहीं, बल्कि एक अस्पृश्य जाति का व्यक्ति होता है। इसलिए उसे अशुद्ध माना जाता है।

यदि कोई अस्पृश्य, किसी उच्च जाति के व्यक्ति के मिट्टी के बर्तन को दूषित कर देता है तो उसे बदलना पड़ता है। यदि वही व्यक्ति ताँबे के बर्तन को दूषित करता है तो उसे अच्छी तरह धोकर साफ़ कर सकते हैं और उसे बदलने की आवश्यकता नहीं हैं। स्टीवेनसन (1954) सुझाव देता है कि मिट्टी के बर्तन में चूंकि छिद्र होते हैं तो उसे धोकर शुद्ध करना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त, सस्ता होने के कारण उसे बदला जा सकता है। दूसरी ओर, ताँबे का बर्तन अच्छी तरह धो सकते हैं; यह अधिक मँहगा होता है इसलिए सरलता से बदला नहीं जा सकता है। अशुद्ध जाति के लोगों की मात्र उपस्थिति से मंदिर दूषित हो जाता है। इस कारण से, उन्हें उच्च जाति के लोगों के घरों या मंदिरों में प्रवेश की अनुमति नहीं होती थी।

राधाकमल मुखर्जी, अनुवर्ती क्रम में सामाजिक निषेध की निम्नलिखित श्रेणियाँ बताता है : '(1) एक ही फर्श पर साथ बैठने के विरोध में; (2) साथ में भोजन करने के विरोध में; (3) रसोई में प्रवेश के विरूद्ध; (4) धातु से निर्मित पात्रों को छूने के विरुद्ध में; (5) मिट्टी के बर्तनों को छूने के विरुद्ध में; (6) सामाजिक व्योहारों में मेल-जोल के विरुद्ध; (7) घर के भीतर प्रवेश के विरुद्ध; (8) शारीरिक संपर्क के विरुद्ध' (मर्फी 1953 : 63-64 से उद्धरत)। लोगों के त्यवहार और बात-चीत को नियंत्रित करने वाली शुद्धता-दूषण की हिंदू अवधारणा को कोलेंडा (1997) से प्राप्त विचारों के रूप में एकीकृत किया जा सकता है।

MADHYAM IAS

खान-पीन और विवाह-संबंधी प्रथाएँ

कोलेडां के अनुसार, प्रथागत संदर्भ में किसी जाति समूह का स्थान निर्धारित करने का एक मूलभूत माध्यम उसकी खान-पान तथा विवाह-संबंधी प्रथाएँ होती हैं। यह पाया गया है कि शाकाहार अधिक शुद्ध जाति की विशेषता है। ब्राह्मण इसलिए शुद्ध होता है क्योंक वह विशुद्ध शाकाहारी होता है। इसका, कदापि, यह अर्थ नहीं है कि शाकाहारी जातियाँ शुद्ध होती हैं तथा माँसाहारी जातियाँ अशुद्ध होती हैं। यह ध्यान दिया जाए कि ब्राह्मणों द्वारा शाकाहार पर कोलेंडा की बात सर्वव्यापी नहीं है क्योंकि बगांल, कश्मीर और देश के अन्य भागों में मछली तथा माँस खाने वाले ब्राह्मण भी हैं।

स्टीवेनसन (1954) खान-पीन और विवाह प्रथाओं को जातियों के प्रथागत स्थान का सूचक मानता है। विभिन्न जातियों के लोगों द्वारा माँसाहारी भोजन के प्रकार के आधार पर अशुद्धता की श्रेणियाँ होती हैं। सूअर और/अथवा गाय के माँस के सेवन विशेष रूप से अशुद्ध माना जाता है। वह कहता है कि गाय के माँस के बाद सूअर, बकरे, मुर्गे या अंडे खाना अधिक खराब होता है (इसी क्रम में)। इसलिए, सूअर का माँस खानेवाले जातियाँ बकरे का माँस खाने वाली जातियों से निम्न होती हैं तथा बकरे का माँस खाने वाली जातियाँ, मुर्गे का माँस खाने वाली जातियों से निम्न होती हैं। शाकाहारी जातियाँ अधिक शुद्ध होती हैं। इस अनुक्रम में बकरे का माँस, मुर्गे का माँस और फिर अंडा खाने वाली जातियाँ आती हैं जिसके बाद अस्पृश्य आते हैं, जो सूअर और गाय के माँस के अतिरिक्त ये सब भी खाते हैं।

जहाँ तक विवाह की प्रथाओं का प्रश्न है, उच्च जातियाँ एक विवाह की प्रथा से संबद्ध हैं। यह विशेषकर स्त्रियों के लिए सख़्त प्रथा है। तलाक और पुनर्विवाह, विशेषकर विधवा पुनर्विवाह की अनुमति नहीं है। हालांकि, पुरुष एक से अधिक बार विवाह कर सकते हैं, मध्यम तथा निम्न

जातियों में विधवा पुनर्विवाह की अनुमति है। हालांकि, यह श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि इससे किसी जाति का स्थान कम हो जाता है।

दूषण की विरासत

निचली जातियाँ, स्थायी अशुद्धता का शिकार होती है। उस जाति के सभी सदस्य दूषित होते हैं। स्टीवेनसन (1954) बताता है कि शरीर का कोई भी अपशिष्ट पदार्थ अशुद्ध माना जाता है; मृत्यु से समस्त शरीर अशुद्ध हो जाता है और इससे संबद्ध सभी व्यक्ति अशुद्ध हो जाते हैं। बाल तथा नाखून, जो दोनों ही शरीर के अपशिष्ट पदार्थ हैं, से संबद्ध नाई अशुद्ध होता है। इसके आगे अपने पुरुष जजमानों के मृत शरीर को धोने तथा उसकी पत्नी द्वारा मृत स्त्री शरीरों को धोने के कार्य के कारण वह और भी अशुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार, धोबी को शरीर के स्रावों से दूषित हुए गंदे वस्त्रों को धोना पड़ता है; जमादार को मल तथा गंदगी साफ करनी पड़ती है; वह किसी परिवार में हुए जन्म या मृत्यु के कारण दूषित हुए बर्तनों में खाता है तो मृत व्यक्ति के कपड़े पहनता है। वास्तव में, नाई, धोबी, जमादार तथा अन्य जातियों को दूषित समझा जाता है क्योंकि वह दूषित पदार्थों से संबद्ध होती है। दूषण, स्पर्श द्वारा फैलता है जिसका अर्थ यह है कि दूषित व्यक्ति, दूसरों को स्पर्श करके उन्हें भी दूषित कर देता है। यह अत्यंत स्पष्ट तब होता है जब पानी और/अथवा भोजन का आदान-प्रदान होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ब्राह्मण किसी निम्न जाति के व्यक्ति से पानी या भोजन स्वीकार नहीं करता है। वह मध्यम श्रेणी की जातियों से घी या मक्खन में बना भोजन ले सकता है; वह कच्ची सामग्री किसी से भी ले सकता है क्योंकि यह माना जाता है कि पकाने की क्रिया के दौरान अग्नि इन्हें शुद्ध कर देगी।

पृथक्-कण सिद्धांत

मैरियट और इंडेन ने अपने विचार हिंदू ग्रंथों के आधार पर दिए— वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, नैतिक तथा चिकित्सा विज्ञान की कालजयी कृतियाँ और बंगाल में कुछ जातियों की बाद की मध्यकालीन नैतिक कोड पुस्तकें। ऐसी मान्यता है कि ये विचार हिंदू निवासी मॉडलों को दर्शाते हैं तथा लोगों के 'व्यक्तिगत' के रूप में अपने विचारों को बताते थे जो विभाज्य अंशों में अविभाज्यता का अर्थ भी देते हैं।

मैरियट और इंडेन (1977) दूषण के सिद्धांत को कोडिकृत-पदार्थ के संदर्भ में समझाते हैं, जो स्वयं कोडीकृत कणों से बना हुआ है। इन कणों (जिनमें थूक, पसीना और बालों के टुकड़े व अंश होते हैं) का परस्पर क्रियाओं के दौरान लोगों के बीच भोजन पानी आदि माध्यम से आदान-प्रदान हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक वर्ण जन्मदाता से एक विशिष्ट कोडिकृत पदार्थ प्राप्त करता है और यही ठीक है कि लोग इस कोड को बनाए रखें या बेहतर बनाएँ और कोई ऐसा कार्य न करें जिससे वह निम्न हो जाए। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक क्रियाओं के दौरान इन कोडिकृत कणों को देता व प्राप्त करता है। बेहतर-कोडिकृत कण देवताओं और उच्च जाति के लोगों से प्राप्त होते हैं जबकि स्वयं से निम्न जाति के लोगों से निकृष्ट-कोडिकृत कण प्राप्त होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सही भोजन, सही विवाह और अन्य सही विनिमय और क्रियाओं द्वारा बेहतर कण प्राप्त हो सकते हैं। ये एकत्रित हो सकते हैं क्योंकि उत्सर्जन, आदि द्वारा निम्नकणों से छुटकारा मिल सकता है। इसके अतिरिक्त, वे बताते हैं कि विभिन्न प्रकार के कण पाचन, संभोग आदि क्रियाओं में उत्पन्न हुई गर्मी से पृथक् होते जुड़ते और विभिन्न तरीकों से पुन: जुड़ते हैं। इसी कारण, गर्म भोजन खाने या परोसने से संबद्ध व्यक्ति को गर्म शारीरिक तथा पोषक तत्वों के साथ सावधानी बरतनी चाहिए। मैरियट और इंडेन का मानना है कि कोडिकृत पदार्थ कणों में विभाजित हो सकत हैं जो फिर एक-दूसरे के साथ जुड़ सकते हैं। इसी से व्यक्ति के दूषण या शुद्धता का निर्धारण होता है, जिससे यह पता चलता है कि व्यक्ति का हिंदू दृष्टिकोण एक ही है, अर्थात् पृथक् (यानी पृथकीय अंशों में विभाज्य)।

MADHYAM IAS

गुण सिद्धांत

अशुद्धता का गुण सिद्धांत मार्विन डेविस (1976) ने दिया जो मैरियट और इंडेन का शिष्य था। यह सिद्धांत पश्चिम बंगाल के हिंदुओं के साक्षात्कार के बाद प्रतिपादित किया गया था किंतु इसका उल्लेख *भगवद्गीता, श्री मद्भागवद् महापुराण, पुरुषसूक्त* तथा *मानव धर्मशास्त्र* में किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार, 'प्रकृति' नामक स्त्री अंश, 'पुरुष नामक नर अंश से जुड़ता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से तीन मुख्य पदार्थ बनते हैं जिन्हें 'गुण' कहते हैं। ये तीन गुण, सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण हैं। 'सत्वगुण', श्वेत पदार्थ है जो अच्छाई तथा सुख पैदा करता है और व्यक्ति को 'सदगुणों और सत्कार्यों के लिए प्रेरित करता है। 'रजोगुण' लाल रंग का होता है जो 'अहंकार, स्वार्थ, हिंसा, ईर्ष्या और महत्वाकांक्षा उत्पन्न करता है; 'तमोगुण' काला होता है और इससे मूर्खता, आलस्य, भय तथा सभी प्रकार के निम्नव्यवहार उत्पन्न होते हैं' (डेविस, 1976 : 9)। सत्वगुण, शुद्धता का प्रतीक है और तमोगुण, अशुद्धता का प्रतीक है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म में सभी गुण होते हैं तथा उनका संतुलन सही होता है जबकि चारों वर्णों में किसी न किसी गुण की प्रधानता होती है। प्रत्येक वर्ण में गुण का अनुपात, व्यक्ति की जीवनशैली, भोजन, विवाह के तरीके अथवा अंतर्जात संबंधों द्वारा नियंत्रित होता है। शाकाहारी भोजन से सत्वगुण उत्पन्न होता है, माँसाहारी भोजन से रजोगुण तथा गाय का माँस, बचा-खुचा भोजन, सड़ा हुआ भोजन तथा मदिरा पान से तमोगुण विकसित होता है। ऐसा माना जाता है कि तमोगुण का सत्वगुण या रजोगुण के साथ गलत अनुपात में मिश्रण होने से, स्टीवेनसन के अनुसार, 'स्थायी अशुद्धता' पैदा हो जाती है। पावन मंत्रोच्चारण, यज्ञादि तथा धार्मिक उपदेशों का प्रवचन करने वाले ब्राह्मणों में मुख्यत: सत्वगुण होता है। इसी प्रकार, सफाई, चर्मशोधन और गदंगी, पशुचर्म शारीरिक उत्सर्जनों से संबद्ध कार्यों में लगे अस्पृश्यों में मुख्यत: तमोगुण होती है और युद्ध या कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि से संबद्ध क्रमश: क्षत्रियों और वैश्यों में रजोगुण की प्रधानता होती है।

यह समझना चाहिए कि भिन्न वर्ण तथा जाति के लोग भोजन, कार्य और धार्मिक कृत्यों, ध्यान और पठन द्वारा अपने 'गुण' को बेहतर बना सकते हैं। विवाह द्वारा भी 'गुण' को सुधारा जा सकता है। डेविस के शब्दों में (1976 : 16), 'धर्म सम्मत गतिविधियों और स्वयं को सात्विक पदार्थों के साथ मिश्रित करने से, उदाहरणत:, किसी जन्म-समूह की विशिष्टताएँ सकारात्मक रूप से परिवर्तित हो जाती है और अपना स्थान भी उच्च हो जाता है; क्योंकि इस प्रकार समूह और जन्म-समूह के सदस्य समग्र रूप से ब्रह्म के प्रति अधिक जागरूक हो जाते है तथा अधिक श्रेष्ठ और आध्यात्मिक जीवन जीते हैं।'

5.4 जजमानी प्रथा

जातियों के बीच सामान्य संबंध 'जजमानी प्रथा' नियंत्रित करती है 'जिसे रोजमर्रा की परस्पर क्रियाओं के दृष्टिकोण से देखा जाता है जिसके माध्यम से आर्थिक मूल्य आर्थिक ढंग से व्यक्त होते हैं और आर्थिक व्यवहार में धार्मिक अर्थ आ जाता है' (गोल्ड, 1987 : 8) ब्राह्मण विभिन्न अवसरों पर अन्य जातियों के लोगों के लिए धार्मिक कृत्य करता है। बदले में, उन लोगों से ब्राह्मण को अनाज या कोई सेवा प्राप्त होती है। अब, जबकि धार्मिक कृत्य ब्राह्मणों की ओर से क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के लिए किया जाता है, अनाज इसके विपरीत दिशा में जाता है अर्थात् अन्य वर्णों से ब्राह्मणों की ओर।

बॉक्स 5.2: जजमानी प्रथा पर वैकल्पिक दृष्टिकोण

'हीस्टरमैन, पोकॉक और ड्यूमोंट के साथ फ्यूलर भी यही मानता है कि मुख्य कृषकों द्वारा किए गए, मुख्यत: प्राप्तकर्ताओं के 'अधिकारों' से संबंधित थे, न कि प्रथागत प्रकार्यों से। यह इन दाताओं की जजमान बनने की क्षमता से उपहार देने के माध्यम से होता था। हाल में, गुड (1982) ने जजमानी प्रथा की उपस्थिति को नकारने वाले पोकॉक के कारणों को स्वीकार

किया है और वह कहता है कि जजमान और जजमानी हिंदी के शब्द हैं जिनके समतुल्य अन्य भारतीय भाषाओं, या कम से कम तमिल में अधिक प्रयुक्त नहीं होते और इसलिए हिंदी बोलने वाले प्रांत से बाहर 'जजमानी प्रथा' के बारे में कहना डेटा पर कए बाहरी व्याख्या थोपने जैसा होगा' (रहेजा, 1990 : 93 से उद्धृत)।

जजमानी प्रथा में संरक्षक को 'जजमान' कहा जाता है और सेवा देने वाले को 'कामिन' कहा जाता है। यह आवश्यकत है कि ब्राह्मण पुजारी स्वयं और वह स्थान जहां वह कार्य करता है शुद्ध हो अथवा कृत्य से पूर्व शुद्ध कर लिए जाए। ऐसा अशुद्धता को हटाकर किया जा सकता है अन्यथा वह कृत्य दूषित हो जाता है। यह केवल एक तरीके से संभव है जो कि बाल काटना, कपड़े धोना, सफाई और फर्श साफ करना जैसे कार्यों के विशेषज्ञों द्वारा हो सकता है। ऐसे कार्य करने वाले लोगों द्वारा अशुद्धधता दूर की जा सकती हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कामिन के लिए, दी गई सेवा और आंशिक रूप से जजमान की इच्छा के आधार पर प्रतिदिन, मासिक, वार्षिक, प्रत्येक कार्य के लिए और कुछ विशेष अवसरों पर नकद अथवा किसी और ढंग से भुगतान किया जाता है (वाइज़र, 1936 : XXIV)। एक कामिन अपने गाँव और/अथवा पड़ोसी गाँव के अनेक द्विज संरक्षकों की सेवा कर सकता है। प्राय: संरक्षकों के साथ उसके संबंधों का उनके बीच वैवाहिक संबंधों पर बात करने के लिए प्रयोग किया जाता है। अनेक गाँवों में विवाह की बात नाई द्वारा की जाती है। उसे लड़की के परिवार की आर्थिक स्थिति और संसाधनों का पता लगाना होता है। बाद में विवाह के बाद जब वधु अपने पति के पास आ जाती है तो नाई की पत्नी, वधू के पति के घर को ठीक करने और उसके परिवार के सदस्यों के साथ सौहार्द पूर्ण तरीके रहने में मदद करती है।

गोल्ड (1987) कहता है कि किसी गाँव से बाहर जजमानी संबंधों के विस्तार के अनेक कारण हैं। पहला कारण यह है कि किसी औसत गाँव में जजमानी प्रथा में भाग लेने वाली सभी जातियों (विभिन्न व्यवसायों में विशेषज्ञ) के प्रतिनिधि नहीं होते हैं। इसलिए यदि अन्य जाति के सदस्यों में उस व्यवसाय को नहीं अपनाया होता है तो पास के गाँव से विशेषज्ञों की सेवाएं लेना अपरिहार्य हो जाता है। दूसरा कारण विशेषज्ञों द्वारा अपनी आय बढ़ाने के उद्देश्य से अपने ग्राहकों के विस्तार के लिए की गई पहल होता है। किसी विशेषज्ञ पर ग्राहकों की संख्या अथवा उनके स्थान के संबंध में कोई प्रतिबंध नहीं होता है। एक विशेष कितने भी संरक्षकों को सेवा दे सकता है। तीसरा कारण, जजमान की असंतुष्टि होता है। यदि जजमान कामिन की सेवा से संतुष्ट नहीं है तो वह पास के क्षेत्र अथवा गाँव से किसी अन्य कामिन की सेवा ले सकता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि त्रुटि करने वाले कामिन की जाति के लोग जातिगत वफादारी के कारण असंतुष्ट जजमान की सेवा करने से मना कर सकते हैं।

जजमानी प्रथा की तीन विशेषताओं को विस्तार से बताने की आवश्यकता है। जजमानी प्रथा की पहली विशेषता प्रकार्यात्मक विनिमेयता है। कोलेंडा (1963) कहती है कि प्रकार्यात्मक विनिमेयता वह स्थिति होती है जिसमें किसी एक जाति का व्यवसाय कोई अन्य जाति अपना लेती है जब विशेषज्ञ जाति अनुपस्थित होती है। इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। चमार जाति के लोग सफाई करते हैं। यदि गाँव में चमार जाति का कोई व्यक्ति न हो, तो किसी अन्य जाति के लोग सफाई का कमा करते हैं। यह अन्य जातियों के साथ भी हो सकता है। जजमानी प्रथा की दूसरी विशेषता अस्थायी निरंतरता है। जजमानी संबंध पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं। ये संबंध जजमानों और कामिनों द्वारा पिता से पुत्रों तक चलते हैं। जब एग संयुक्त परिवार नाभिकीय परिवार में विभाजित होता है, तो संपत्ति की भांति ग्राहक भी उसी प्रकार विभाजित हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि कामिन किसी वृद्ध व्यक्ति (जो कई दशकों से उसका जजमान रहा है) के पुत्रों की, उनके अलग होकर भिन्न घर बसाने के बाद भी सेवा करता है। इसी प्रकार, एक कामिन के पुत्र, अपने पिता के अशक्त होने या उसकी मृत्यु के बाद भी उसके संरक्षकों की सेवा करते हैं। जजमानी प्रथा की तीसरी विशेषता, जजमान और कामिन की भूमिकाओं में विनिमेयता है। कुछ लोग, संदर्भ के आधार पर जजमान और कामिन दोनों

होते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक जजमानों की सेवा करता है। उदाहरण के लिए, एक लोहार, किसी ब्राह्मण परिवार की कामिन बनकर सेवा कर सकता है और वही स्वंय किसी धोबी या नाई का जजमान बन सकता है।

जजमानी प्रथा विभिन्न जातियों के बीच सेवाओं के विनिमय के आधार को परिभाषित करती है। इस दौरान, यह विभिन्न जातियों के बीच परस्पर क्रियाओं का ढाँचा भी निर्धारित करती है। अब यहाँ मूलभूत मान्यता यह है कि किसी विशिष्ट जाति के सदस्य अपने पूर्वजों से प्राप्त व्यवसाय में विशेषज्ञ होते हैं जो धार्मिक ग्रंथों में बताया गया है। गुप्ता (1984) बताते हैं कि वास्तविकता में सदैव ऐसा नहीं होता है। हालांकि, धार्मिक ग्रंथों में केवल कुछ सीमित जातियों का उल्लेख होता है। आज मौजूद जातियों की संख्या, ग्रंथों में बताई जातियों से कहीं अधिक है। विभिन्न जातियों के व्यवसाय में काफी विस्तार हुआ है। इसका अर्थ यह है कि किसी जाति के सदस्य जो एक ही व्यवसाय से जुड़े थे, अब अधिक व्यवसायों में पारंगत हैं। उदाहरण के लिए, ब्राह्मणों ने कृषि, युद्ध तथा व्यवसाय भी आरंभ कर दिया है। वर्तमान में, जजमानी प्रथा पूर्णत: कार्य नहीं कर रही है।

5.5 महत्वपूर्ण मुद्दे

ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि उच्च जाति के लोगों द्वारा लगाए गए जातिगत प्रतिबंधों में अनेक कारणों से कमी आई है। इनमें से, कम से कम तीन कारण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। एक कारण यह है कि सार्वजनिक परिवहन जैसे बसों, ट्रेनों आदि में लोगों की यात्रा में वृद्धि हुई है जिसमें भिन्न जाति के लोग एक साथ यात्रा करने के लिए बाध्य हैं। ऐसे अशुद्धता इतनी सामान्य बात है कि उसको हटाना न तो सदैव संभव होता है और न ही सुविधाजनक। दूसरा कारण शिक्षा का प्रसार है जिससे कुछ निराधार बातों के प्रति अंधविश्वास और रूढ़िवादिता दूर होती है जैसे अस्पृश्य जन्म से अशुद्ध होते हैं इसलिए उनसे दूर रहना चाहिए। तीसरा कारण सरकार द्वारा अस्पृश्यता को हटाने के लिए उठाए गए कदम हैं। यह सर्वविदित है कि अस्पृश्यता को बढ़ावा देना दंडनीय अपराध है। इसके अतिरिक्त, सरकार इन्हें शैक्षिक तथा व्यवसायिक संस्थाओं और निजी क्षेत्र में आरक्षण भी प्रदान करती है। कुछ गैर-सरकारी संस्थाएँ भी अस्पृश्यता हठाने तथा जाति-आधारित भेद-भाव को दूर करने के प्रयासों में लगी हैं। मुख्य उद्देश्य उन निम्न जाति के लोगों के आर्थिक और सामाजिक आधार को सुदृढ़ करना है जो समान की मुख्यधारा में सम्मिलित नहीं हो पाए हैं।

यह रोचक तथ्य है कि निम्न जाति के लोग, धार्मिक ग्रंथों में उनको दिए गए स्थान को तथा लगाए गए प्रतिबंधों को छोडकर जाति अनुक्रम के उच्चतर स्थानों पर पहुँचने के इच्छुक हैं। ऐसा करने के लिए, वे उच्च जाति के लोगों के रिवाज़ों और जीवन शैली को अपनाते हैं। इसकों समझाने के लिए, एम.एन. श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' शब्द का प्रयोग किया। श्री निवास के शब्दों में (1952 : 32), 'एक या दो पीढ़ियों में, एक निम्न जाति शाकाहार, मदिरा-त्याग तथा अपनी प्रथाओं के संस्कृतीकरण द्वारा अनुक्रम में उच्च स्थान प्राप्त कर लेती थी। संक्षेप में, वह जाति, यथा संभव, ब्राह्मणों के रिवाज़ों, प्रथाओं को अपना लेती है तथा किसी निम्न जाति द्वारा ब्राह्मणीय जीवन शैली को अपनाना, यद्यपि निषिद्ध था, किंतु, प्राय: ऐसा किया जाता था। इसी प्रक्रिया को 'संस्कृतीकरण' कहते हैं....'। संस्कृतीकरण करने वाली जाति, एक या दो पीढ़ियों के भीतर, स्वयं को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बताने लग जाती है। निम्न जाति के लोग जहाँ, उच्च जाति के लोगों की जीवन शैली और आचार को अपनाते हैं, वहीं उच्च जाति के लोग, काफी सीमा तक, पाश्चात्य विचारधारा और पाश्चात्य जीवन शैली से प्रभावित होते हैं। यह प्रक्रिया पश्चिमीकरण कहलाती है।

जोन मेनकर (1974) ने जाति प्रथा पर निम्न जाति के लोगों का दृष्टिकाण उजागर किया और कहा कि, (i) जाति प्रथा में प्रत्येक जाति के लिए मात्र विशेषाधिकार नहीं होते बल्कि, इससे निम्न जातियों के आर्थिक शोषण में वृद्धि होती है; (ii) इससे जाति अनुक्रम के निचले सोपान वाले लोग

इतने पृथक हो जाते थे कि वे व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए और सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए एकजुट नहीं हो पाते थे। दूसरी ओर अधिक पैसा और राजनीतिक सत्ता वाले उच्चजाति के लोग आसानी से एकजुट होकर अंतर-क्षेत्रीय संचार नेटवर्क स्थापित कर सकते थे जिसके विषय में सोचना भी निम्नजाति के लोगों के लिए संभव नहीं था। जाति पर 'निचले दृष्टिकोण' अर्थात् निम्नजातिवाद के दृष्टिकोण से जाति के विषय में, अगली इकाई में आप और अधिक जानेंगे।

धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में ब्राह्मणें के वर्चस्व को गैर ब्राह्मणों ने आंदोलन के रूप में एकजुट होकर व्यवस्थित ढंग से चुनौती दी। इसके लिए ब्राह्मण वर्चस्व के विरुद्ध ब्राह्मणों को बड़ी संख्या में उत्प्रेरित किया जाना शामिल था। आरंभिक गैर ब्राह्ममण आंदोलन महाराष्ट्र में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आरंभ हुआ। उसके बाद कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में इसी प्रकार के आंदोलन शुरू किए गए 'जिनमें सरकारी सेवा और सरकार द्वारा चलाए जा रहे विश्वविद्यालयों के स्थानों से संबद्ध कानूनों को ब्राह्मणों के विरुद्ध भेदभाव पूर्ण ढंग से लिखा गया है' (कोलेंडा, 1997 : 119)।

बेरे मैनर 1991 ने जाति से संबंधित ब्राह्मण दृष्टिकोण की आलोचना की है जो काफी मात्रा में कालजयी संस्कृत ग्रंथों से लिया गया है और प्रथागत अनुक्रम पर केंद्रित है जिससे निम्नलिखित आधारों पर समाज का कठोर संगठन होता है :

i) यह ब्राह्मण दृष्टिकोण कहता है कि लोग सर्वव्यापी मूल्यों के अनुसार चलते हैं जबकि सत्य यह है कि लोगों की अपनी इच्छा होती है। वे शंका करते हैं और कभी-कभी सर्वव्यापी मूल्यों का उल्लंघन करते हैं।

ii) यह ब्राह्मण दृष्टिकोण प्रथागत अनुक्रम पर अत्यधिक बल देता है और इसे जाति संगठन का आधार बताकर आर्थिक और राजनीतिक कारणों तथा सत्ता के महत्व का अवमूल्यन करता है। वास्तविक जीवन में जाति में स्थान के लिए एकाकी आधार (जैसे ड्यूमोंट द्वारा किया गया प्रथागत अनुक्रम) को अलग करना न तो उपयुक्त है और नहीं संभव।

iii) ब्राह्मण दृष्टिकोण भारत में जातिव्यवस्था की पार-सांस्कृतिक तुलना की किसी भी गुंजाइश को अस्वीकार करता है। जहाँ एक ओर यह स्वीकार करना आवश्यक है कि भारत में जाति का विशिष्ट स्थान है, वहीं अन्य संस्कृतियों में स्तरीकरण के समानरूपों के साथ इसकी तुलना होने से रोकना सही नहीं है।

iv) ब्राह्मण दृष्टिकोण धार्मिक संस्कृत ग्रथों पर आधारित है। वास्तव में इन ग्रंथों में व्यक्त विचार सीमित तथा पूर्वाग्रह से ग्रसित है इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाला परिप्रेक्ष्य जाति को कठोर अनम्य, रूढ़िबद्ध और आर्दश संरचना के रूप में प्रस्तुत करता है।

हालांकि, एकदम निचले स्तर पर स्थित लोग मानते हैं कि यह परिप्रेक्ष्य वास्तविकता से बहुत दूर है। ड्यूमोंट ने भारतीय इतिहास के उन अनेक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों पर ध्यान नहीं दिया है जिन्होंने जाति के बोझ को उतार फेंकने का प्रयास किया। यद्यपि वह भक्ति आंदोलनों का उल्लेख करता है किंतु कहता है कि ये आंदोलन जाति अनुक्रम पर कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाए हैं। अधिकांश लोग, विशेषकर निम्नजाति वाले मानते हैं कि ब्राह्मण परिप्रेक्ष्य केवल उच्च जातियों के लिए उपयुक्त है और उनके अपने जीवन पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। उनका मानना हैं कि इस परिप्रेक्ष्य ने ब्राह्मणों के स्वेच्छाचार और वर्चस्व को वैधीकृत किया है। अधिक महत्वपूर्ण रूप से, अन्य दृष्टि कोणों के साथ, विशिष्ट दलित परिप्रेक्ष्य (जो अंबेडकर, लोहिया और अन्य लोगों द्वारा प्रभावित हुआ है) धार्मिक ग्रंथों और जातिव्यवस्था पर उनकी स्थिति की एक वैकल्पिक व्याख्या उपलब्ध करवाता है। इस आलोचना के बावजूद, शैक्षिक क्षेत्र में ब्राह्मण परिप्रेक्ष्य, जाति व्यवस्था पर होने वाले अध्ययनों का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। समाजशास्त्रियों, सामाजिक मानव-विज्ञानियों और अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा इस पर समान रूप से काफी चर्चा और बहस होती रही है।

MADHYAM IAS

हमने देखा कि वास्तव में ब्राह्मण, अपनी स्थिति का वैधीकरण हिंदू-धार्मिक ग्रंथों से प्राप्त करते हैं। ये ग्रंथ ब्राह्मणों को उनकी कही हुई बात और उनके सभी कार्यों को एक प्रकार की पवित्रता प्रदान करते हैं। यह भी समान रूप से सत्य है कि ब्राह्मण कोई अखंड और समान श्रेणी नहीं हैं। बाह्मण स्वयं भी, अपने व्यवसाय के आधार पर अनुक्रमिक समूहों में बंटे हुए हैं। देनहर के मैथिल और बंगाली ब्राह्मण, मथुरा के चौबे, तमिलनाडु के दिक्षात्तर और अन्य की भांति प्रतिग्रह अथवा तीर्थस्थानों पर भेंट स्वीकार करने वाले ब्राह्मण उत्तर भारत में पंडा और दक्षिण भारत में पंडारम नाम से प्रचलित; वाराणसी के सवालाखी ब्राह्मण, पंजाब के भट्टा तथा अन्य ब्राह्मणों की भांति, वे अंतिम संस्कारों और/अथवा बीमारी के समय योजन एवं प्रतिग्रह स्वीकार करते हैं; और रसोइयों अथवा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के त्यागी अथवा कृषि करने वालों की भांति, इन्हें निम्न श्रेणी का ब्राह्मण माना जाता है (सरस्वती, 1977 देखें)।

सर्वोत्कृष्ट रूप से, जैसा कि पहले कहा जा चुका है जाति पर ब्राह्मण दृष्टिकोण मुख्य रूप से धार्मिक ग्रंथों से लिया गया है और यह उन सिद्धांतों और विचारों पर केंद्रित है जो ब्राह्मणों के आचार तथा प्रथाओं का आदर्श रूप में आधार होना चाहिए। ग्रंथों के विचारों और उनके अनुप्रयोग के बीच निरंतर संबंध के कारण ही यह गतिवाद बना हुआ है। विभिन्न तरीकों से समझाएं और बताएं ये सिद्धांत और विचार स्थानीय परिवर्तन लाते हैं और फिर भी ब्राह्मणों की सामाजिक समूह के रूप में पहचान बनाए रखते हैं।

टिप्पणी (संपादक के विचार)

1) यह एक अव्यक्त मान्यता है कि ब्राह्मण दृष्टिकोण, धार्मिक ग्रंथों में ब्राह्मणों द्वारा ही व्यक्त दृष्टिकोण है। चूंकि यह सर्वाधिक प्रचालित मत है, हम इसे इस इकाई में स्वीकार कर लेते हैं हालांकि इस मुद्दे पर प्रश्न करने की आवश्यकता है।

2) इस प्रचलित मत पर भी प्रश्न करने की आवश्यकता है कि 'महाभारत' एक ब्राह्मण ग्रंथ है।

3) यह कृषि में उत्पादन के संबंधों की उपेक्षा करता है।

4) ड्यूमोंट को ब्राह्मण दृष्टिकोण के समान रखना उपयुक्त नहीं है।

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ड्यूमोंट, एन; 1988, *होमो हाइराकिकस : दि कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्पलीकेशनस,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली।

घुर्रे जी. एस., 1950, *कास्ट एंड रेस इन इंडिया,* पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।

कोलेंडा, पी., 1997, *कास्ट कंटेम्प्ररी इंडिया : बियॉन्ड ऑरगेनिक सॉलिडेरिटी,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।

सरस्वती, बी.एन. 1977, *ब्राह्मणिक रिच्यूल ट्रेडिशन्स।* इंडियन इन्स्टीट्यूट और एड्वान्स्ड स्टडी : शिमला।

इकाई 6

क्षेत्र का परिदृश्य

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 विभिन्न समाजों में जाति की स्थिति पर एक दृष्टि

6.3 क्षेत्र आधारित अध्ययन

6.4 सारांश

6.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जाति के पाठ परक और क्षेत्र परक दृष्टिकोण में भेद कर सकेंगे;
- विभिन्न समाजों में जातियों के कार्णों को जान सकेंगे; और अंत में
- जाति व्यवस्था में हाल ही में हुए परिवर्तनों पर चर्चा कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

क्षेत्र का परिदृश्य या क्षेत्र से लिए दृष्टिकोण का अर्थ अपने उन तनावों और विरोधाभासों के साथ लोगों के अनुभवों की ओर उन्मुख होना है जिन्हें व्यक्ति जानना और समझना चाहता है (बेटली, 1977)। वास्तव में, श्रीवास्तव ने भारतीय समाज के 'पाठ-विषयक' और 'व्यवहारवादी' दृष्टिकोंण में भेद को प्रस्तावित किया था। उसका मानना था कि प्रत्येक मुख्य संस्था : जातियों का, संयुक्त परिवार का और ग्राम समुदाय का, एक पाठ-विषयक दृष्टिकोण होता है। क्षेत्रकार्य पर आधारित लेखा पाठ-आधारित लेखा से एक विशिष्ट दूरी दर्शाते हैं। जाति व्यवस्था का पाठ-विषयक दृष्टिकोण, सामाजिक अनुक्रम में ब्राह्मणों के उच्च स्थान का समर्थन करता है जबकि अस्पृश्य लोग इस अनुक्रम में सबसे नीचे हैं। एकजुटता तथा गतिशीलता पर कड़ा प्रतिबंध है। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि पाठ-विषयक दृष्टिकोण को अविवादित और अपरिवर्तनीय बताया गया है। विशेषकर, जाति की स्थिति के संदर्भ में, क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण लोगों की जीवंत वास्तविकता और वास्तविक जीवन की स्थितियों में ग्रंथों में कही गई बातों की व्याख्या को उजागर करता है। यहाँ, सामाजिक गतिशीलता महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, क्षेत्रकार्य पर आधारित लेखा, पाठ-आधारित लेखा से इस अर्थ में भिन्न है कि पाठ-विषयक लेखा सबसे निचले स्तर पर जाति व्यवस्था की वास्तविक कार्यशैली को उजागर करता है।

यह इकाई निचले स्तर पर जाति के कार्यों पर केंद्रित है। ऐसा करने से यह जाति पर ब्राह्मणीय परिप्रेक्ष्य पर पिछली इकाई से भिन्न हो जाती है जिसमें पवित्र ग्रंथों में दिए जाति संबंधित विचारों पर चर्चा की गई थी। यहाँ कुछ क्षेत्र आधारित अध्ययनों की समीक्षा द्वारा हम यह देखेंगे कि विभिन्न समाजों में जाति व्यवस्था कैसे कार्य करती है।

6.2 विभिन्न समाजों में जाति की स्थिति पर एक दृष्टि

अनेक समाजशास्त्रियों और मानव विज्ञानियों ने क्षेत्र में अपने अनुभव के आधार पर जाति व्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। सभी ने जाति के उन

MAADHYAM IAS your dream

नए आयामों को खोजा है जो या तो जाति व्यवस्था के पाठ-विषय दृष्टिकोण में मौजूद नहीं थे अथवा जिन्हें लेखकों ने विशेष रूप से उजागर नहीं किया था।

श्रीनिवास ने संस्कृतकरण और प्रधान जाति की अवधारणाओं के प्रस्ताव द्वारा जाति व्यवस्था के क्षेत्र-आधारित अध्ययनों में एक महत्वपूर्ण आयाम जोड़ा है। संस्कृतकरण, "वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई नीची जाति या जनजाति या अन्य समूह किसी उच्च जाति, विशेषकर 'द्विज' जाति की प्रथाओं, परंपराओं, मान्यताओं, विचारधारा और जीवन शैली को ग्रहण करता है। किसी समूह के संस्कृतकरण से प्राय: जाति अनुक्रम में उसकी स्थिति में सुधार आता है" (श्रीनिवास, 1988 : 56)। जाति के क्षेत्र-परक दृष्टिकोण में एक अन्य महत्वपूर्ण अवधारणा प्रधान जाति की है जिसे वह संख्या की दृष्टि से प्रचुर और आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति से संपन्न बताता है। ध्यान देने लायक बात यह है कि आवश्यक नहीं कि किसी जाति समूह की प्रथागत प्रस्थिति अन्य समूहों पर उसकी प्रधानता को निर्धारित करे।

बॉक्स 6.1: संस्कृतकरण तथा पाश्चात्यकरण

"अनुक्रम का विचार जाति के केंद्र में होता है। उच्च तथा निम्न जातियों में प्रथाएँ, परंपराएँ और जीवन शैली भिन्न थे। प्रधान जाति ने उन्हें सजा दी जिन्होंने निषेध स्थान पर अधिकार जमाया किंतु इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सका। उच्चतर प्रस्थिति के प्रतीकों को अपनाना संस्कृतकरण कहलाता है। मैसूर के लिंगायतों ने अपनी जीवन शैली का लगभग आठ शताब्दी पूर्व संस्कृतकरण कर दिया था। हाल ही के समय में, स्थानिक और संरचनात्मक दोनों तरह से संस्कृतकरण का काफी प्रचार हुआ है। केरल के इलावान, दक्षिण भारत के स्मिथ, पजांब के रामगढ़ियों, उत्तर प्रदेश के चमारों तथा कई अन्य जातियों ने अपनी जीवन शैली का संस्कृतकरण करने का प्रयास किया है। मदिरा तथा निषेध भोजन का त्याग किया जाता है। संस्कृतीय प्रथा को अधिक अपनाया जाता है तथा विवाह, जन्म, अंतिम संस्कार और श्राद्ध पर ब्राह्मण पुरोहित की अधिक माँग की जाती है।

दूसरी ओर, विशेषकर बड़े शहरों में रहने वाली उच्च जातियाँ, पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया से गुज़र रही हैं। संस्कृतकरण की भांति, पाश्चात्यकरण एक बृहद् शब्द है : इसमें पश्चिमी शिक्षा का साथ-साथ पश्चिमी जीवन शैली और विचारधारा को अपनाना शामिल है। इसका आशय कुछ सीमा तक धर्मनिरपेक्षता तथ तर्कसंगत होना भी है और इन दोनों संदर्भों में यह संस्कृतकरण के विपरीत है। कुछ अन्य संदर्भों में, पाश्चात्यकरण, अपनी प्रौद्योगिकी–अखबार, रेडियो और फिल्मों– के माध्यम से संस्कृतकरण के प्रचार में सहयोग करता है।

कुछ अपवादों में, निम्नजातियाँ और जनजातियाँ, बिना संस्कृतकरण की प्रक्रिया से गुजरे, पाश्चात्यकृत हो रही हैं। संस्कृतकरण, प्राय: जातियों के ऊर्ध्वगामी संचलन की प्रक्रिया के अंश के रूप में होता है जबकि पाश्चात्यकरण का ऐसा कोई संबंध नहीं है। वास्तव में, संस्कृतकरण के भिन्न, पाश्चात्यकरण अधिक एक व्यक्तिगत या पारिवारिक घटना है न कि कोई जाति घटना, हालांकि कुछ समूहों (कोडागू) तथा कुछ क्षेत्रों (पंजाब को अन्य क्षेत्रों से अधिक पश्चिमीकृत कहा जा सकता है। कुछ समूह इस अर्थ में भी अधिक पश्चिमी हो सकते हैं कि वे अत्यंत शिक्षित हैं जबकि अन्य अपनी वेशभूषा, खाने की आदतों और मनोरंजन की दृष्टि से अधिक पाश्चात्य हैं" (श्रीनिवास, 1980 : 77-78)।

मेनकर जाति व्यवस्था को तमिलनाडु के 'अस्पृश्यों' क बीच किए गए क्षेत्रकार्य के आधार पर नीचे से ऊपर की ओर वाले तरीके से विश्लेषित करती है। उसका कहना है कि जाति व्यवस्था की प्रकार्यात्मकता केवल उन्हीं जातियों के लिए है जिनके पास विशेषाधिकार हैं। दूसरी ओर, जाति अनुक्रम के सबसे निचले सोपान पर स्थित जाति आर्थिक तथा सामाजिक शोषण का शिकार होती है। वह बताती है कि अनुक्रम के सबसे निचले सोपान पर स्थित जातियाँ, कभी मुखर रूप से तो कभी दबी आवाज़ में विरोध कर चुकी हैं। किंतु तथ्य यह है कि इन विरोधों को रिकॉर्ड नहीं किया गया इसलिए वे ऐतिहासकि प्रमाण का महत्पूर्ण अंश नहीं है। इसका एक कारण यह

था कि अस्पृश्य लोग तथाकथित उच्च जातियों के विरुद्ध शिकायत करने का साहस नहीं कर पाए क्योंकि वे उनपर आर्थिक रूप से आश्रित थे।

आगरा के जाटवों पर किए एक अध्ययन में (1974), लिंच ने इस तथ्य को उजागर किया है जातव, जो कभी संस्कृतकरण चाहते थे, उन्होंने गतिशीलता के अन्य मार्ग मिलने के बाद संस्कृतकरण की संपूर्ण प्रक्रिया को अस्वीकार कर दिया। उसका कहना है कि ये मार्ग संसदीय लोकतंत्र की प्रक्रिया से और जाटवों के राजनीतिक सहयोग की संभावनाओं से प्राप्त हुए हैं। इस संदर्भ में, जातवों ने, जो अब तक अस्पृश्य थे, अपनी दागदार पहचान के साथ स्वतंत्र भारत में सामाजिक ढाँचे की लोकतांत्रिक संरचना में शरण ली है। वे समानता के आधार पर अपना अधिकार माँगते हैं और अवसर की समानता के प्रावधान के लिए हते हैं। जातवों ने पारंपरिक पंचायतों के स्थान पर धर्मनिर्पेक्ष संगठन का निर्माण किया। उन्होंने राजनीतिक दल बनाकर चुनाव भी लड़े और इस प्रकार अपनी सामाजिक प्रस्थिति में वृद्धि की। उन्होंने उन राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों को भी प्राप्त किया जो उन्हें परंपरागत जाति व्यवस्था में सुलभ नही थीं।

एक अन्य मामले में, संस्कृतकरण क संरचनाओं पर चर्चा करते हुए सिंह (1994 : 55) अब तक अस्पृश्य माने जाने वाले लोगों द्वारा परंपरागत जाति अनुक्रम को अस्वीकार करने के संबंध में एक और तथ्य बताता है। उसके शब्दों में, "संस्कृतकरण की तीसरी संरचना समाजशास्त्रीय दृष्किोण से भी अधिक मत्वपूर्ण है। ऐसे मामलों में, संस्कृतकरण 'द्विज' जातियों की श्रेष्ठता को अस्वीकार करने के साथ किसी जाति में प्यूरिटनवाद और परंपरागतता में वृद्धि द्वारा होता है।" उत्तर प्रदेश की कुछ जातियों ने ब्राह्मणों तक से पानी स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे उन्हें स्वयं से कम शुद्ध मानती थीं। इसी प्रकार, अनेक अस्पृश्य जातियों में, संस्कृतकरण की प्रक्रिया में जाति व्यवस्था के पाठ-विषयक दृष्टिकोण के कुछ प्रारूपों की अस्वीकृत शामिल है। इस संदर्भ में, कोहन (1955 : 215) लिखता है :

"साक्षरता के कारण चमार अन्य भाषाओं की पुस्तकों में उपलब्ध कथाओं को पढ़कर महान हिंदू परंपरा के साथ स्वयं को संबद्ध कर पाए हैं। शहरी रोजगार से चमार शहरों निम्न जाति के मंदिरों में, महान् हिंदू परंपरा से प्राप्त प्रथाओं में हिस्सा ले सके हैं। इसी के साथ, एक आरंभिक आंदोलन जारी है; शिवनारायन पंथ, जिसका उद्देश्य संस्कृतकरण था। रैदास जंयती का समारोह, एक अन्य तथ्य को दर्शाता है, जो अब चमार कॉलेज विद्यार्थियों के हाथ में है, जो अन्य चीज़ों के साथ, राजनीतिक क्रिया भी प्रयोग कर रहे हैं। रैदास के बारे में उनकी कहानियाँ उनके लिए ब्राह्मण-विरोधी अर्थ रखती हैं और वे रूढ़वादी गतिविधियों, पूजा और प्रथाओं से अधिक सही कार्य और सही सिद्धांतों पर बल देते हैं।" एक अन्य पक्ष जो उल्लेखनीय है, वह देश के विभिन्न भागों में ब्राह्मणों की प्रधानता के विरुद्ध गैर-ब्राह्मण समुदायों का विरोध है। धार्मिक ग्रंथों में ब्राह्मणों को दिए गए सर्वोच्च स्थान को चुनौती दी गई थी।

आगे, हमने देखा है कि जाति व्यवस्था को ऐसी व्यवस्था माना जाता है जो सजातीयता की प्रथा के पालन और सत्ता तथा अधिकारों की लड़ाई की उपेक्षा करके शुद्धि-अशुद्धि की विचारधारा द्वारा सख्ती से कायम है। हालांकि, जाति के क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण से पता लगता है कि जाति व्यवस्था काफी सीमा तक राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों द्वारा पहले (और आज के समय में भी) प्रभावित रही है। तमिलनाडु के नादारों का अध्ययन इसमें महत्वपूर्ण है। भारतीय राजनीति में जाति के महत्व को परिभाषित करते हुए, रयूडॉल्फ और रयूडॉल्फ (1987) बताते हैं कि जाति अनुक्रम में प्रस्थिति को बदलने के लिए भी राजनीतिक जान-पहचान का प्रयोग होता है और इसके द्वारा ऐसे अनेक अधिकार प्राप्त किए जा सकते हैं जो पहले किसी जाति के पास नहीं थे। उन्होंने एक अस्पृश्य समुदाय यानी तमिलनाडु के शनान का उदाहरण लिया और यह समझाया कि किस प्रकार राजनीतिक मदद और संबंधों के सहयोग से वह जाति अपनी सामाजिक प्रस्थिति को बदल सकी। उनके शब्दों में, "1921 में शनान आधिकारिक रूप से अपना नाम परिवर्तित करने में सफल हो गए थे। यह परिवर्तन न तो पारंपकि समाज के संस्थानों द्वारा, न ही विधिक तंत्र के निष्कर्षों द्वारा हुआ था, न अंग्रेजी राज्य की प्रथाओं और न ही पारंपरिक समाज के

धार्मिक ग्रंथों ने शनान के दावे को सही ठहराया। मद्रास सरकार ने यह महत्वपूर्ण प्रतीकात्मक परिवर्तन किया और इसे करने के पीछे अधिकांश कारण राजनीतिक थे। नादारों (जैसा वे बाद में कहलाए गए) ने काफी राजनीतिक दबाव सरकार पर बनाया ताकि अपने और सामाजिक सम्मान में परिवर्तन को पहचाना जा सके जो एक शताब्दी के सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता का परिणाम था" (रूडॉल्फ और रूडॉल्फ, 1987 : 45)।

बॉक्स 6.2: अशुद्धि नियम

"अशुद्धि नियमों का पालन गाँवों की अपेक्षा शहरों में कम किया जाता है। वास्तव में, शहरी जीवन के कुछ क्षेत्रों में, अशुद्धि का प्रयोग ही समाप्त हो गया है। लोग खुलकर फॉक्ट्रियों और स्कूलों में मिलते-जुलते हैं और बहुत कम लोग ट्रेन और बसों में साथी यात्रियों की जाति की परवाह करते हैं। शहरों में, अशुद्धि घर, महिलाओं और धार्मिक प्रथाओं तक सीमित रह गई है।

प्राचीन काल में, उच्च जातियाँ, निम्न जातियों के साथ स्पर्श को अशुद्धि कारक मानती थीं। और निम्न जातियों को भी कुछ असक्षमताओं का सामना करना पड़ता था। उदाहरण के लिए, निम्न जातियों को खपटैल वाले घर बनाने की, उच्च जातियों वाले कपड़े पहनने की या उच्च जातियों के आवास की गलियों में से विवाह यात्रा आदि निकालने की अनुमति नहीं थी। किसी उपराध की सजा, उपराधी की जाति और जिसके प्रति अपराध किया गया था, उसके अनुसार होती थी। महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता की प्रथा के विरुद्ध शिक्षित भारतीयों की अंतर्रात्मा को जागृत किया। अन्याय के अतिरिक्त, [illegible] भारतीयों ने किसी जाति में जन्म के आधार पर बड़ी संख्या में लोगों को अच्छी जीवन शैली की मूलभूत स्थिति न दिए जाने के प्रयास के राजनीतिक खतरों को भी पहचाना। इसी जागरुकता के कारण स्वतंत्र भारत में अस्पृश्यता का कड़ा रूप शहरों से लुप्त हो गया है किंतु ग्रामीण क्षेत्रों में यह अब भी मौजूद है। हरिजनों का आर्थिक उद्धार और शहरी क्षेत्रों में उनके प्रवसन में वृद्धि, अस्पृश्यता के संपूर्ण उन्मूलन के लिए आवश्यक है" (श्रीनिवास, 1980 : 78-78)।

MAADHYAM IAS

राजनीतिकरण के कारण जाति व्यवस्था के पारंपरिक स्वरूप में भारी परिवर्तन हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में, जाति और संबंधी दोनों नवीन पहचान बनाना चाहते हैं तथा बांछनीय स्थानों की इच्छा करते हैं। राजनीतिज्ञ जाति समूहों को राजनीतिक गतिशीलता के लिए पूर्णत: तैयार पाते हैं। कोठारी (1970) बताता है कि पारंपरिक रूप से, जाति के धर्म निरपेक्ष संगठन के दो पक्ष थे : सरकारी पक्ष जिसमें जाति परिषद्, ग्राम माध्यस्थता प्रक्रियाएँ आदि शामिल थी; और राजनीतिक पक्ष जिसमें अंतर-जातीय और अंतर्जातीय प्राधिकार तथा प्रस्थिति संरेखण एवं विदारण शामिल थे। स्थानीय संपन्नों एवं केंद्रीय राजनीतिक प्रणालियों के प्राधिकारिक संबंधों द्वारा ये समाप्त हो गए। आज के समय में, चुनावी तथा दल की राजनीति का बहुत महत्व है। राजनीतिक निर्णय प्रणाली में अधिकाधिक स्तरों का निरंतर सहयोजन होता है। कुछ क्षेत्रों में ब्राह्मण तुरंत शामिल हो गए, अन्य क्षेत्रों में, जहाँ ब्राह्मणों की प्रधानता नहीं थी, वहाँ अन्य कृषीय उच्च जातियाँ शामिल हो गई।

दलितों के अनुसार, जाति व्यवस्था की रचना आर्यों द्वारा उन्हें दबाने के लिए की गई थी। वे कहते हैं कि चूंकि आर्यों की संख्या कम थी और निवासी लोगों यानी दलितों को नियंत्रित करने के लिए उनकी आवश्यकता थी, इसलिए उन्होंने जाति व्यवस्था तैयार की। आदि-द्रविड़ जैसे अनेक जाति आंदोलन इसी विचारधारा से प्ररित थे (ओमवैट, 1994)। दलित मानते हैं कि विभिन्न धर्मों में उनका परिवर्तन-इस्लाम, सिख, और ईसाई धर्म से उनमें भी जाति का एक तत्व शामिल हो गया। बाद में, दलित नेताओं ने अस्पृश्यों और शूद्रों को (जो समकालीन समय में दलित तथा अन्य पिछड़े वर्गों की श्रेणी में आते हैं। बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक समुदाय के बैनर के अंतर्गत प्ररित किया। वे कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों की कुल संख्या पूरी जनसंख्या का केवल 15 प्रतिशत है इसलिए दलितों के समक्ष वे अल्संख्यक हैं।

6.3 क्षेत्र आधारित अध्ययन

जाति का क्षेत्र परक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा किए गए अध्ययनों से ही उभरता है। इसके अतिरिक्त, विशिष्ट संदर्भ में, क्षेत्र परक दृष्टिकोण जाति की हमारी समझ को स्थानिक कर देता है और शोधार्थी को सदियों से किसी विशेष गाँव या क्षेत्र में काम कर रहे ऐतिहासिक तत्वों से अवगत करवाता है। क्षेत्र परक दृष्टिकोण शोधार्थी को जाति के भीतर अंदरूनी समूहों को ध्यान में रखने के लिए भी तैयार करता है। शोधार्थी किसी क्षेत्र स्थिति में गाँव के आर्थिक, राजनीतिक ओर सामाजिक-धार्मिक क्षेत्रों में विभिन्न जातियों के बीच प्रतिदिन के परस्पर संबंध को देख सकता है और फिर विभिन्न जातियों की सामाजिक प्रस्थिति तथा गतिशीलता को खोजने के लिए समग्र ढाँचा विकसित कर सकता है।

अब विशिष्ट, क्षेत्र-आधारित अध्ययन होते हैं जो लोगों के जीवन में जाति व्यवस्था की कार्य शैली को उजागर करते हैं। अब हम विशिष्ट उदाहरणों के साथ क्षेत्र-परक दृष्टिकोण के कुछ महत्वूपर्ण पक्षों का विस्तार से अध्ययन करते हैं। यहाँ हमने एफ.जी. नेली, एड्रियन सी. मायर, मैक्कीम मैरियॉट तथा ओ.एम. लिंच द्वारा किए गए जाति के विश्लेषणों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। इन लेखकों द्वारा किया गया योगदान महत्वपूर्ण है क्यों कि जाति के विषय में उनका ज्ञान क्षेत्र-परक दृष्टिकोण पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने भारत में जाति व्यवस्था को प्रचालनात्मक संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। सभी विद्वानों ने अपने अध्ययनाधीन गाँवों/क्षेत्रों में अंतरा/अंतरजातियों के परस्पर संबंधों को ध्यान से देखा एवं दर्ज किया है और अनुक्रम में जातियों के स्थान निर्धारण के लिए इन अंतर्राजातीय संबंधों के प्रभावों पर चर्चा की है। हालांकि, इनके अध्ययन का बल और केंद्र भिन्न है।

क) अलीगढ़ का किशनगढ़ी गाँव

उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में स्थित किशनगढ़ी गाँव में, मैक्कीम मैरियॉट ने सामाजिक अनुक्रम की प्रकृति का अध्ययन आरंभ किया। एक गाँव में विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न व्यवसायों में कार्यरत थे। रोचक यह था कि सभी लोग जातियों को एक-सा स्थान नहीं देते थे। यहाँ फिर, ग्रंथों में किसी जाति को दिए गए स्थान तथा लोगों द्वारा दिए गए स्थान में अंतर था। इसका अर्थ यह है कि जातियों को सामाजिक अनुक्रम में अपना स्थान उनकी विशेषताओं की श्रेष्ठता या निम्नता से प्राप्त नहीं होता था। वास्तव में खान-पान तथा व्यावसायिक प्रतिबंधों की किसी जाति के स्थान निर्धारण में कोई भूमिका नहीं थी। यह स्थिति, ग्रंथों में इन दो विशेषताओं पर दिए गए जोर से विपरीत थी। उसने पाया कि भोजन की पक्का या कच्चा श्रेणी तथा समान जाति स्थान वालों द्वारा इसकी स्वीकृति या निम्न जाति स्थान वालों द्वारा अस्वीकृति, अनुक्रम में किसी जाति के स्थान निर्धारण के लिए पर्याप्त मापदंड नहीं था। किशनगढ़ी गाँव में ही, सामिष जातियों (जैसे, धोबी) और निरामिष जातियों (जैसे, चमार) का जाति अनुक्रम में समान स्थान था।

मैरियॉट ने पाया कि व्यवसायिक अनुक्रम या व्यवसायों की शुद्धि के आधार पर जातियों के स्थान निर्धारण के सदंर्भ में, जातियों का स्थान, व्यवसाय की श्रेष्ठता या निम्नता का परिणाम नही था। इसलिए साफ-सुथरे व्यवसाय वाली जातियों का स्थान भिन्न होता था; बढ़ई माली से श्रेष्ट था और माली किसान से आदि-आदि। हालांकि नाई, गड़ेरिए और अन्य स्थानीय अनुक्रम के समान स्तर पर थे।

अन्य विद्वानों के अनुसार, स्वच्छ तथा शुद्ध व्यवसाय वाली जातियों को प्राय: कम शुद्ध या अधिक अशुद्ध व्यवसाय वाली जातियों से नीचे रखा जाता है। श्रीनिवास द्वारा किए मैसूर के किसी गाँव के अध्ययन में, उदाहरण के लिए, सामिष और निरामिष दोनों जातियाँ तथा स्वच्छ और गंदी दोनों व्यवसाय करने वाली जातियाँ थीं। व्यापरी की जाति किसानों जैसी जातियों की तुलना में

सामिष और स्वच्छ व्यवसाय वाली मानी जाती है। किंतु किसानों की जाति का स्थान व्यापारियों से ऊपर है। इससे जाति की विशेषताओं तथा उसके स्थान की बीच विसंगति का पता लगता है।

यह पाया गया है कि जाति शुद्ध व्यवसाय करके भी निरामिष या अशुद्ध व्यवसाय करते हुए भी सामिष हो सकती है। इसलिए दोनों जातियों में शुद्ध तथा अशुद्ध विशेषताएँ होती हैं। ऐसी जाति का स्थान निर्धारण सरल नहीं होता है। जाति में प्राय: शुद्ध और अशुद्ध दोनों गुणों का मिश्रण होता है। अधिकतर मामलों में, किसी जाति को पूर्णत: शुद्ध या पूर्णत: अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है। भारतीय उप महाद्वीप में विभिन्न भागों के ब्राह्मणों का उदाहरण लिया जा सकता है। जाति व्यवस्था के पाठ-विषयक दृष्टिकोण के अनुसार, ब्राह्मण शुद्धव्यवसाय करते हैं जैसे पुरोहिताई, वे खान-पान में शुद्धता रखते हैं, जैसे विशुद्ध शाकाहारी तथा मदिरा निषेध (यानी, शराब नहीं पीते) और अन्य कारणों के साथ, इन गुणों के कारण अनुक्रम में उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। किंतु जब हम कश्मीर, बगांल और अनेक स्थानों के ब्राह्मणों का उदाहरण लेते हैं तो हम पाते हैं कि वे निरामिष भोजी हैं और अपनी खान-पान की इन आदतों के बावजूद, जाति अनुक्रम में उन्हें महत्वपूर्ण सामाजिक स्थान प्राप्त है। पाठ-विषयक दृष्टिकोण, शाकाहार और व्यवसाय के सामाजिक अनुक्रम में किसी जाति के स्थान निर्धारण के लिए पर्याप्त मापदंड होने के प्रश्न पर मौन है और न ही उसने उन विभिन्न समीकरणों का उल्लेख है जिनमें गुण वास्तविक जीवन में संयोजित एवं पुनर्संयोजित होते हैं।

जैसे मैरियॉट (1955) को अपने ग्राम अध्ययन में पता लगा कि खान-पान और व्यवसाय के समान गुणों वाली जातियों के भी भिन्न स्थान हैं, उसी प्रकार एफ.जी. बेली (1957) ने उड़ीसा के बीसीपारा गाँव के अपने अध्ययन में दर्शाया कि किस प्रकार गाँव में अनेक जातियाँ हैं जिनमें प्रत्येक निरामिष भोजी है फिर भी गाँव वाले उनका स्थान भिन्न बताते हैं।

ख) उड़ीसा के बीसीपारा गाँव में जाति

बेली ने उड़ीसा के बीसीपारा गाँव का अध्ययन किया जहाँ विभिन्न जाति समहों का प्रतिनिधित्व विभिन्न जनसंख्या आकार द्वारा होता है जो एक व्यक्ति से 150 लोगों तक का हो सकता है और जो कहते हैं कि जाति समूह नियोजन एवं अनुक्रम नामक दो सिद्धांतों द्वारा एक ही व्यवस्था में एकजुट हैं। बेली के अनुसार (1963 : 123), "जातियाँ प्रथागत तथा धर्मनिरपेक्ष (राजनीतिक, आर्थिक) अनुक्रम में होती हैं और परस्पर क्रिया के नियमों में व्यक्त होती हैं।" यहाँ बेली ने जाति व्यवस्था को सक्रिय रूप में देखा है जिसमें विभिन्न जातियाँ, प्रधान जाति की शक्ति द्वारा जुड़ी रहती हैं। उसके अनुसार, किसी जाति समूह की प्रथागत प्रस्थिति का तत्व, राजनीतिक ओर आर्थिक प्रस्थिति के साथ रहता है। जातियों के बीच संबंध केवल प्रथाओं पर आधारित होते हैं। यहाँ केवल शक्ति से मतलब होता है क्योंकि अनेक जातियाँ प्रधान जाति के अधीनस्थ होती हैं। वास्तव में, जाति व्यवस्था प्रधान जाति के हाथों में शक्ति (और बल) के एकत्रित होने के कारण एकजुट रहती हैं। चूंकि प्रथागत स्थान सदैव राजनीतिक तथा आर्थिक प्रस्थिति के समान होता है, एक बार यदि कोई जाति धनाढ्य हो जाती है तो वह अन्य जातियों के साथ अपने व्यवहार का तरीका बदल लेती है ताकि अनुक्रम में वह भी उच्च स्थान का दावाकर सके। दूसरे शब्दों में, अनुक्रम के किसी जाति का स्थान अन्य जातियों के साथ उसके व्यवहार के तरीके से व्यक्त होता है। यहाँ व्यवहार का तरीका अनुक्रम में उसकी प्रथागत प्रस्थिति का सूचक बन जाता है। व्यवहार के ढंग में भोजन की स्वीकृति तथा वितरण; पानी की स्वीकृति; धूम्रपान की इच्छा और/अथवा साथ बैठने की इच्छा शामिल हैं ओर इसे व्यवहार का सूचक भी माना जा सकता है। इस सूची में उपहारों का विनिमय शामिल है। बेली किसी क्षेत्र के विभिन्न गाँवों में फैली एक ही जाति के लोगों के बीच परस्पर क्रियाओं की भी बात करता है। किसी स्थान पर रहने वाली जातियाँ साथ मिलकर विवाह द्वारा अपने संबंधों को अधिक सुदृढ़ कर सकती हैं। जब यह क्षेत्र-संबंध परिपक्व हो जाता है तो जाति राजनीतिक क्षेत्र सत्ता के लिए प्रयास कर सकती है। उपरोक्त विषय को बेली बीसीपारा के अंतर्जातीय संबंध द्वारा समझाया है।

MAAPHYAM IAS

बॉक्स 6.3: आधुनिक परिवर्तन

"डा. बेली का अध्ययन, *कास्ट एंड दि इकोनॉमिक फ्रंटियर* (1958), अंग्रेजी शासन के दौरान आए परिवर्तनों का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। उड़ीसा के खोंडमलों में एक गाँव, बीसी पारा में, दो गैर-भूमिहार जातियों ने इसलिए पैसा बनाया क्योंकि पक्के चमड़े और शराब के लाभप्रद व्यापार में उनका एकाधिकार हो गया था। उच्च जातियों के लिए शराब का व्यापार अशुद्धिकारक था। दोनों जातियों में से एक जाति, अपनी प्रथाओं और जीवन शैली के संस्कृतकरण के कारण अनुक्रम में ऊपर उठ पाई थी; दूसरी जाति ने पाया कि अस्पृश्यता उसकी गतिशीलता में बाधा बन गई" (श्रीनिवास, 1889 : 76)।

बेली के अनुसार, सामान्य रूप से, अनुक्रम के उच्चतम और निम्नतम सिरों में, व्यक्ति को प्रथागत, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रस्थिति के बीच आदर्श व्यवहार मिल सकता है। बीसीपारा में जाति प्रथा अनुक्रम में क्षत्रिय वर्ग गाँव के अकेले ब्राह्मण परिवार के बाद था। किंतु धर्मनिरपेक्ष अनुक्रम में, योद्धा वर्ग प्रधान जाति थी। उनके पास भूमि का एक बड़ा भाग था और ग्राम परिषद् में उनकी प्रधानता थी। किंतु स्वतंत्रता पश्चात् बीसीपारा में आए परिवर्तन के बाद जो हुआ, वह जाति व्यवस्था के क्षेत्र परक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है। परिवर्तन के बाद, प्रथागत अनुक्रम में योद्धाओं की स्थिति संदेहास्पद हो गई क्योंकि उनसे बहुत-सी जमीन छिन गई। इसके अतिरिक्त, व्यापारी और आसवक वर्ग ब्राह्मणों के बाद के स्थान पर दावा करने लगा। इनमें से कोई भी जाति अब किसी अन्य जाति से भोजन या पानी स्वीकार नहीं करती थी। इसलिए, प्रथागत अनुक्रम में अपने स्थान को लेकर आसवकों तथा योद्धाओं में झगड़ा शुरू हो गया।

ब्राह्मणों की भांति, योद्धा भी चरवाहों से पानी लेते थे किंतु वे आसवकों से नहीं लेते थे। इसलिए, आशयपूर्वक ढंग से, योद्धाओं ने प्रथागत अनुक्रम में आसवकों को चरवाहों से नीचे कर दिया। चरवाहे भी योद्धाओं से पानी और भोजन स्वीकार कर लेते थे किंतु आसवकों से नहीं। आसवकों ने प्रतिक्रिया स्वरूप केवल ब्राह्मणें से भोजन और पानी लेना स्वीकार किया। इस प्रकार, बीसीपारा के आसवकों ने ब्राह्मणों के बाद अपना स्थान रख लिया और धन संपत्ति प्राप्त कर ली तथा योद्धाओं की आर्थिक प्रस्थिति को कमज़ोर कर दिया। बीसीपारा के आसवकों का यह मामला दर्शाता है कि जब भी राजनीतिक तथा आर्थिक प्रस्थिति में सुधार होता है, जातियाँ प्रथागत अनुक्रम में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के लिए अपना व्यवहार बदल लेती हैं। यह पाठ-विषयक दृष्टिकोण से विपरीत है जिसमें प्रथागत अनुक्रम सदा के लिए स्थिर है जहाँ ब्राह्मण सबसे ऊपर और शूद्र सबसे नीचे हैं।

सोचिए और कीजिए 6.1

अंतर्जातीय संबंधों में परिवर्तन लाने वाले प्रमुख घटकों पर चर्चा कीजिए।

ग) मध्य प्रदेश के रामखेड़ी गाँव में जाति

रामखेड़ी गाँव, मध्य प्रदेश में एक छोटे-से शहर देवास के पास स्थित है। रामखेड़ी में पच्चीस हिंदू तथा दो मुसलमान जातियाँ थी। सहभोजी संबंधों पर कड़ा प्रतिबंध था हालांकि कभी-कभी कुछ नम्यता सभंव थी। सहभोजी संबंधों के अनुक्रम को समझने के लिए, मायर ने निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया :

i) क्रिया का प्रकार : खाना, पानी पीना, धूम्रपान

ii) भोजन का प्रकार : पक्का खाना, कच्चा खाना

iii) भोजन का स्थान एवं संदर्भ : विवाह या शोक

iv) भोजन के समय कौन किसके पास बैठा है?

v) भोजन कौन देता है? भोजन कौन पकाता है?

vi) किस बर्तन में पानी दिया जाता है, तांबा या मिट्टी का घड़ा?

मायर गाँव को मानव संबंधों को प्रभावित करने वाला एक ठोस सत्य बताता है। किसी गाँव की विभिन्न जातियों के परस्पर संबंध से ही जाति का अनुक्रम पैदा होता है। (बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 की इकाई देखें)। मायर अंतर्जातीय संबंधों का और गाँव की एकता के साथ उनके संबंधों का विश्लेषण करता है।

मायर आर्थिक और राजनीतिक संबंध का तथा उससे अधिक महत्वपूर्ण सहभोजिता को गाँव के जाति अनुक्रम का निर्धारण करने वाले घटकों के रूप में प्रस्तुत करता है।

मायर के अनुसार (1970), जाति स्थान के आर्थिक और राजनीतिक आधार पर स्थानों को मापना कठिन है। आर्थिक और राजनीतिक घटकों के साथ यह समस्या है कि हो सकता है कि सभी सदस्य एकजुट हों या आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में व्यवहार के लिए तैयार हों। यह भी सत्य है कि आर्थिक संपत्ति जाति विभाजनों के परे हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, किसी 'उच्च' जाति के व्यक्ति की आर्थिक प्रस्थिति कमजोर हो सकती है तथा इसके विपरीत भी हो सकता है। इन समस्याओं को प्रथागत प्रस्थिति के संदर्भ में सुलझाया जाता है। जाति अनुक्रम में प्रथागत प्रस्थिति, जाति में प्रत्येक व्यक्ति पर समान रूप से लागू होती है। परस्पर संबंधों के तरीकों में भी, केवल 'सहभोजी अनुक्रम' जातियों के बीच संबंधों का जटिल तंत्र प्रदान कर सकता है। मायर (1970 : 59) के शब्दों में, "जातियों का स्थान निर्धारण खाने, पीने और धूम्रपान के सहभोजी नियमों के अतिरिक्त कहीं भी अन्यत्र इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता है"। जाति अनुक्रम केवल आर्थिक और राजनीतिक घटकों द्वारा ही निर्धारित नहीं होता, हालांकि ये महत्वूपर्ण हैं। उसके लिए, एकमात्र महत्वपूर्ण घटक सहभोजिता है जो गाँव में मौजूद अनुक्रम को स्पष्ट रूप से दर्शाती है।

यह सत्य है कि, "सहभोजिता अनुक्रम इस सिद्धांत पर आधारित है कि प्रत्येक जाति की प्रथागत शुद्धता की एक विशेष गुणवत्ता होती है जो निम्न गुणवत्ता वाली जातियों के साथ सहभोजी संबंधों द्वारा कम या दूषित हो जाती है" (मायर, 1970 : 33)। इसलिए, एक उच्च जाति उस जाति के हाथों या उनक बर्तनों में खाना नहीं खाती जिसे वह निम्न समझती है और न ही उसके सदस्य निम्न लोगों के साथ खाने के समय पंगत में बैठते हैं। पीने और धूम्रपान में भी निष्कासन के यही नियम लागू होते हैं। मायर के अनुसार, "सहभोजी अनुक्रम पर किसी के स्थान का इस सिद्धांत पर मूल्यांकन किया जा सकता है कि किसी अन्य जाति द्वारा पकाए या परोसे गए भोजन को खाना समानता या निम्नता को दर्शाता है तथा उसे न खाना समानता और श्रेष्ठता को दर्शाता है..... इसे दूसरे ढंग से कहा जाए तो यह है कि जिनसे सभी खालें वे उनसे श्रेष्ठ हैं जिनसे सभी लोग न खाएँ" (मायर, 1970 : 34)।

मायर समझाता है कि ब्राह्मण अविवादित रूप से प्रथम स्थान पर आते हैं। रामखेड़ी गाँव के ब्राह्मण केवल अपनी ही जाति या उप-जाति द्वारा पकाए गए कच्चे भोजन को खाते हैं। अन्य सभी जातियों द्वारा पकाए गए भोजन को स्वीकार करती हैं और आसानी से उनके मिट्टी के घड़ों से पानी पीती हैं। इसके अतिरिकत, मायर के अनुसार, अनुक्रम में ब्राह्मण के बाद जातियों के दो समूह हैं, एक शाकाहारी है तथा दूसरा माँसाहारी। राजपूत माँसहार लेते हैं किंतु नाइयों और कुम्हारों को स्वयं से निम्न मानते हैं क्योंकि वे अपने से निम्न बढ़ई या किसान से कच्चा भोजन स्वीकार कर लेते हैं। रामखेड़ी के दूध वाले केवल ब्राह्मणों से कच्चा भोजन लेते हैं किंतु किसी अन्य जाति से नहीं। केवल कुछ सबसे निम्न जातियाँ (जुलाहे, रंगसाज, जमादार) उनसे भोजन स्वीकार करती हैं। इसी प्रकार, रामखेड़ी के तेली, दूधवालों से थोड़े श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनसे ऊपर कम से कम कुछ जातियाँ उनसे भोजन खा लेती हैं। बढ़ई, माली, लोहार, किसान और दर्जी जातियाँ केवल ब्राह्मणों से कच्चा भोजन स्वीकार करती हैं। बढ़ई को ऊपर माना जाता है क्योंकि वह केवल ब्राह्मणों से खाता है और किसान को बढ़ई से नीचे माना जाता है क्योंकि क्योंकि वह राजपूतों और कुम्हारों से भी भोजन स्वीकार कर लेता है।

इस अनुक्रम में और भी नीचे हैं— भीलाल, मीना, नाथ और डूमर। इनमें से कोई भी जाति एक दूसरे से कच्चा भोजन स्वीकार नहीं करती है। , रंगसाज और जमादार अनक्रम में

सबसे नीचे हैं। रामखेड़ी गाँव में जमादार को सबसे नीचे की जाति का माना जाता है क्योंकि वह अकेला अन्य जातियों की थालियों में से बचा-खुचा खाता है। जाति अनुक्रमों के उपरोक्त विवरण था स्पष्ट हो गया है कि रामखेड़ी गाँव में सहभोजी संबंध विभिन्न जाति समूहों की प्रथागत प्रस्थिति को इंगित तथा व्यक्त करते हैं। धार्मिक ग्रंथों में बताए गए अनुक्रम में अन्य सूचकों का महत्व समाप्त हो चुका है।

सोचिए और कीजिए 6.2

चर्चा कीजिए कि जाति का पाठ-विषयक दृष्टिकोण जाति के क्षेत्र विषयक दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है। अपने उत्तर को उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट कीजिए।

6.4 सारांश

हमने यह पाया है कि मूल स्तर पर जाति की स्थिति ऐसे अनेक आयाम प्रस्तुत करती है जो धार्मिक ग्रंथों में नहीं है। क्षेत्र से लिया दृष्टिकोण विभिन्न जातियों के लोगों के बीच प्रतिदिन के धर्मनिरपेक्ष संबंधों पर जोर देता है। अब, जब ग्रंथों में लोगों को रचयिता के शरीर के विभिन्न अंगों से उद्गम के सिद्धांत पर आधारित चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में वर्गीकृत किया गया है (बाद में 'अस्पृश्य', 'हरिजन' नामक पाँचवां वर्ण जोड़ा गया) वास्तविकता यह है कि व्यवसाय के आधार पर अनेक जातियाँ या प्रजातियाँ हैं। जाति का पाठ-विषयक दृष्टिकोण कठोर और बंद तंत्र था जिसमें सामाजिक गतिशीलता के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। इसमें बल प्रथाओं पर था, एक ऐसा अनुक्रम जो शुद्धि-अशुद्धि पर आधारित था। निश्चय ही, उस समय जाति एक स्थावर तत्व के रूप में उभरी। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जाति का 'पाठ-विषयक' दृष्टिकोण हमें भारत में जाति व्यवस्था की संरचना और कार्यशैली की केवल आंशिक सत्यता प्रस्तुत करता है। यह एक नियामक और आदेशात्मक निदेश देता है जो सभी परिस्थितियों में काम नहीं करता है। उपरोक्त से यह भी पता लगाया जा सकता है कि धार्मिक ग्रंथों में दिए नियामक सिद्धांत, जिनक आधार पर जाति के पाठ-विषयक दृष्ठिकोण की अधिकांश अवधारणाएँ व्यक्तियों तथा समूहों के लिए बनाई जाती हैं, किसी विशेष भौगोलिक और सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति में विभिन्न सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित होते हैं। क्षेत्र स्थिति सामाजिक परिवर्तन तथा विवाद से भरी हुई है। यह जाति को समझाने के वैकल्पिक तरीके की संभावना की ओर भी इशारा करता है।

क्षेत्र दृष्टिकोण जाति संबंधों की सक्रियता को उजागर करता है जिसमें प्रथा का तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण नहीं रह जाता है। प्रथा की अपेक्षा धन तथा शक्ति अधिक महत्वपूर्ण हैं तथा सामाजिक अनुक्रम निर्धारित करते हैं। प्रधान जाति (श्रीनिवास के अनुसार वह जाति जिसकी अन्य जातियों की तुलना में संख्या अधिक हो तथा आर्थिक और राजनीतिक शक्ति अधिक हो) अंतर्जातीय संबंध नियंत्रित करती है। पिछड़ी जातियों के लिए शिक्षा तथा संवैधानिक प्रावधानों ने जाति व्यवस्था के प्रचालनात्मक पक्ष पर गहरा प्रभाव डाला है। बीच के स्थानों पर स्थित जाति में अनुक्रम की अस्पष्टता है।

6.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लिंच, ओवन, एम. 1974, *दि पॉलीटिक्स ऑफ अनटचेबीलिटी,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मायर, एड्रियन, सी, 1970, *कास्ट एंड किनशिप इन सेंट्रल इंडिया : ए विलेड एंड इट्स रिजन,* केलीफोर्निया प्रेस विश्वविद्यालय। बर्केल एवं लॉस एंजेलिस।

रयूडॉल्फ, आई, एल. तथा रयूडॉल्फ, सूसान होवर, 1987, *दि मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन : पॉलीटिकल डेवेलपमेंट इन इंडिया।* ओरिएंट लोंगमेल।

इकाई 7

अम्बेडकर और लोहिया के जाति संबंधी विचार

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 अम्बेडकर के जाति विषयक विचार

7.3 राम मनोहर लोहिया के जाति विषयक विचार

7.4 सारांश

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- अम्बेडकर की वर्ण सिद्धांत संबंधी व्याख्या को समझा सकेंगे;
- जाति व्यवस्था के दुष्क्रियात्मक पक्ष; और अंत में
- अम्बेडकर और लोहिया के दृष्टिकोण में जाति को खारिज किए जाने वाले विषय को रेखांकित कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

बाबासाहब अम्बेडकर (1891-1956) एक दलित थे जिन्होंने पहले दलितों के लिए और बाद में सम्पूर्ण देश के लिए सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक नेता की भूमिका निभाई। उन्होंने देश के एक लोकतांत्रिक संविधान दिया; आध्यात्मिक नेता के रूप में उन्होंने बुद्ध की विरासत को पुनर्जीवित किया। दूसरी ओर, राम मनोहर लोहिया (1910-1967) – विचारधारा से समाजवादी थे और उन्होंने अल्पसंख्यकों तथा महिलाओं सहित भारत के सभी निम्न श्रेणी के लोगों के हित के लिए लड़ाई लड़ी। अम्बेडकर और लोहिया, जाति व्यवस्था को भारतीय समाज के ह्रास का कारण मानते थे और उसे नष्ट कर देना चाहते थे। इसलिए अपने जीवन के अंतिम दिनों में अम्बेडकर ने पत्रों के माध्यम से लोहिया के साथ संपर्क बनाए रखा तथा अपने विचारों का उनके साथ आदान-प्रदान किया। वास्तव में, वे दोनों अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों को अपने मूल चुनाव क्षेत्र में रखकर एक राजनीतिक दल बनाना चाहते थे।

इस इकाई में, भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पर बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर और राम मनोहर लोहिया के विचार हैं। यह इकाई वर्ण सिद्धांत पर आधारित हिंदू सामाजिक व्यवस्था की अम्बेडकर की व्याख्या की भूमिका से आरंभ होती है और जाति प्रथा के उद्गम और प्रचार पर उनके विचारों को जानने का प्रयास करती है।

- यह इकाई जाति के प्रति चेतना और उसके दुष्क्रियात्मक पक्ष पर अम्बेडकर के विचार प्रस्तुत करती है। इसमें जाति प्रथा के दुष्क्रियात्मक पक्षों पर राम मनोहर लोहिया के विचारों तथा उसे नष्ट करने के उनके स्वप्न को भी दर्शाया गया है।

7.2 अम्बेडकर के जाति विषयक विचार

अम्बेडकर ने जाति प्रथा की कठोरता और उसकी आवश्यक विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उनका कहना था कि मूलभूत सिद्धांत के रूप में स्तरित असमानता का सिद्धांत विवाद

से परे है। चारों वर्ग न केवल भिन्न हैं बल्कि प्रस्थिति में भी असमान हैं, एक वर्ग दूसरे के ऊपर खड़ा है। मनू की योजना में, सबसे ऊपर का स्थान ब्राह्मणों का है, उसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और फिर शूद्र आते हैं। शूद्रों से नीचे, अस्पृश्य हैं। यह सिद्धांत जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, बाढ़-प्रभावित लोगों में राहत सामग्री और/अथवा पैसा बाँटने वाला कोई अधिकारी उच्च कुल के व्यक्ति को बड़ा भाग देगा और छोटे कुल के व्यक्ति को छोटा भाग देगा। हिंदू सामाजिक व्यवस्था समान आवश्यकता, समान कार्य अथवा समान क्षमता को श्रम के लिए पुरस्कार का आधार नहीं मानती है। वह सामाजिक वंशक्रम में उच्चतम लोगों को जीवन की अच्छी वस्तुएँ देने की पक्षधर है। दूसरा सिद्धांत, जिसपर हिंदू समाज व्यवस्था आधारित है, प्रत्येक वर्ग में पिता से पुत्र को जानेवाले निर्धारित स्तरित व्यवसाय हैं। अम्बेडकर के अनुसार हिंदू समाज व्यवस्था की तीसरी विशेषता लोगों का अपने-अपने वर्गों में परस्पर क्रियाओं तक सीमित रहना है। हिंदू समाज व्यवस्था में विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच मिलकर खाना और आपस में विवाह करने पर प्रतिबंध है। अम्बेडकर के अनुसार इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं कि हिंदू समाज व्यवस्था वर्गों को मान्यता देती है। वर्ग सवत्र मौजूद हैं और कोई समाज इससे अछूता नहीं है यहाँ तक कि कोई मुक्त समाज व्यवस्था भी पूर्णत: वर्गों से छुटकारा नहीं पा सकती है। हालांकि, मुक्त समाज व्यवस्था का उद्देश्य पृथक्करण तथा विशिष्टता से बचना है क्योंकि दोनों ही वर्ग के सदस्यों को एक-दूसरे के प्रति विरोधी बनाते हैं (अम्बेडकर 1987 : 113)।

क) वर्ण सिद्धांत की व्याख्या

अम्बेडकर में हिंदू समाज व्यवस्था में चार वर्णों की मौजूदगी को पहचाना। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हिंदू व्यवस्था मुख्य रूप से व्यक्तियों पर आधारित न होकर वर्ग अथवा वर्ण पर आधारित है। उनके अनुसार कोई ब्राह्मण व्यक्ति, या कोई क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा 'अस्पृश्य' व्यक्ति हिंदू समाज की इकाई नहीं है। यहाँ तक कि विवाह और विरासत के कारणों को छोड़कर परिवार भी हिंदू व्यवस्था में समाज की इकाई नहीं माना जाता है। हिंदू समाज की इकाई वर्ग या वर्ण ही है। हिंदू समाज की व्यवस्था में, व्यक्तिगत उपलब्धि या व्यक्तिगत न्याय के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि किसी व्यक्ति के पास कोई विशेषाधिकार है तो वह इसलिए नहीं है कि वह उसके पास होना चाहिए। वह विशेषाधिकार वर्ग से संबंधित है और यदि वह उस अधिकार का आनंद ले रहा/रही है तो वह इसलिए कि वह उस वर्ग से संबंधित है। इसके विपरीत, कोई व्यक्ति इसलिए पीड़ित नहीं है क्योंकि उसे व्यवहार के कारण वह भुगत रहा/रही है; बल्कि इसलिए कि वह उस वर्ग विशेष से संबंध रखता/रखती है।

अम्बेडकर ने हिंदू समाज व्यवस्था पर समाज के वर्णों में विभाजन के प्रभाव का विश्लेषण किया। उनका कहना था कि इस विभाजन के कारण हिंदू समाज व्यवस्था, एक उन्मुक्त समाज व्यवस्था की तीन मुख्य आवश्यकताओं– स्वतंत्रता, समानता और भाई चारा–को संभाल पाने में असफल रही है। हिंदू मानते हैं कि ईश्वर ने अपने दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों से लोगों के विभिन्न वर्गों को जन्म दिया। अम्बेडकर के अनुसार, (1987 : 100) "दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति के सिद्धांत ने इस विश्वास को पैदा किया कि यह दिव्य इच्छा होगी कि ये वर्ग अलग एवं विशिष्ट बने रहें। इसी विश्वास ने हिंदू में यह मान्यता उत्पन्न कर दी कि वे भिन्न हैं, तथा अन्य हिंदू भाइयों से अलग और विशिष्ट हैं"। इस अर्थ में अम्बेडकर आगें कहते है; "पृथक्करण और अलगाव की इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक विस्तृत और दूरगामी प्रभाव निश्चित रूप से जाति प्रथा है ..... आरंभ में ये केवल चार थीं। आज ये कितनी हैं? ऐसा अनुमान है कि ये 2000 से कम नहीं हैं। 3000 भी हो सकती हैं ..... जातियाँ, उपजातियों में बँटी हुई हैं। (अम्बेडकर 1987 : 102)।" अम्बेडकर ने जो प्रश्न उठाया, वह यह है कि, "इस प्रकार की भावनाओं पर आधारित समाज व्यवस्था में क्या भाई चारा होगा?"

अम्बेडकर पूछते हैं क्या हिंदू समाज व्यवस्था समानता को मान्यता देती है? वे कहते हैं कि जहाँ हिंदू समाज व्यवस्था यह मानती है कि मनुष्यों का जन्म ब्रह्मांड के रचयिता के शरीर से हुआ,

वह इन्हें समान नहीं मानती क्योंकि उनकी उत्पत्ति उसके शरीर के विभिन्न अंगों से हुई है जो स्वयं महत्व ओर स्थान की दृष्टि से स्तरित हैं। ब्राह्मण मुख से पैदा हुए थे, क्षत्रिय हाथों से, वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए थे। अम्बेडकर स्वीकार करते हैं कि यह सत्य है कि मनुष्य अपने व्यवहार और प्राकृतिक विशेषताओं की दृष्टि से समान नहीं थे। उनका मानना था कि हिंदु समाज व्यवस्था, "यह मानने को तैयार नहीं होती कि मनुष्य क्षमता और चरित्र के संदर्भ में व्यक्तिगत रूप से कितने भी भिन्न हों, उन्हें मानव होने के नाते समान व्यवहार और आदर मिलना चाहिए और यह कि समाज का कल्याण अधिक हो सकता है यदि इस प्रकार हो कि चाहे उनकी ताकत कम हो या अधिक, समाज के सभी सदस्यों को उनकी शक्ति का यथासंभव उपयोग करने देना चाहिए" (अम्बेडकर, 1987 : 106)। इस कारण से वे यह मानते हैं कि हिंदू समाज व्यवस्था "समतावादी मनोदशा" के विरूद्ध है और यह परिस्थितियों, संस्थाओं तथा जीवन शैली को विकसित होने देने के लिए समानता की अनुभूति नहीं देती है।

इसी संदर्भ में, अम्बेडकर मानते हैं कि हिंदू समाज व्यवस्था में स्वतंत्रता, विशेषकर 'क्रिया की स्वतंत्रता' का अभाव है क्योंकि व्यक्तियों व्यवसाय एवं उनकी प्रस्थिति किसी विशेष परिवार में उनके जन्म के आधार पर तय हो चुकी है। राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए भी यही सत्य है। हिंदू समाज व्यवस्था लोगों द्वारा चुनी गई प्रतिनिधिक सरकार की आवश्यकता को नहीं मानती है। उनके अनुसार, हिंदु समाज व्यवस्था हालांकि यह मानती है कि लोगों को नियंत्रित करने के लिए कानून चाहिए, किंतु वह इस विचार का विरोध करती है कि कानून लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा बनाए जा सकते हैं। अम्बेडकर कहते हैं कि, हिंदुओं का यह मत है कि लोगों को नियंत्रित करने वाले कानून पहले से ही वेदों में उपलब्ध हैं और इन मौजूदा कानूनों में परिवर्तन लाने का अधिकार किसी मनुष्य के पास नहीं है (अम्बेडकर 1987 : 114)।

सोचिए और कीजिए 7.1

वर्ण सिद्धांत पर अम्बेडकर द्वारा की गई व्याख्या समझाइए।

ख) भारत में जाति व्यवस्था का उत्पत्ति-स्रोत

अम्बेडकर ने सेनार्ट, नेसफील्ड, रिसले और केतकर द्वारा दी गई जाति की परिभाषाओं का ध्यान से किया। सेनार्ट के अनुसार, "जाति सिद्धांत: अनुवांशिक रूप से तीव्र दर का एक बंद निगम है, इसमें मुखिया और एक परिषद् सहित एक विशेष परंपरागत तथा स्वतंत्र संगठन होता है जो कमोवंश परिपूर्ण प्राधिकारी की सभाओं में मिलता है तथा कुछ विशेष अवसरों पर मिलता है : विशेष रूप से विवाह और भोजन और उत्सव संबंधी अशुद्धि से जुड़े प्रश्नों से संबंधित सामान्य व्यवसाय से बंधा हुआ और जो कानून द्वारा अपने सदस्यों को नियंत्रित करता है, जिसकी सीमा अलग-अलग होती है किंतु जो कुछ विशेष दंडों को लागू करके और सबसे ऊपर, समूह से अंतिम परिवर्तनीय ढंग से निष्कासन करने में सफल होता है"। नेसफील्ड ने जाति को इस प्रकार परिभाषित किया है, "समुदाय का कोई वर्ग जो किसी भी अन्य वर्ग के साथ अपने संबंध को नकारता है और अपने समुदाय के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति के साथ न तो विवाह कर सकता है न ही साथ में खा-पी सकता है"। अम्बेडकर रिसले को उद्धरत करते हैं जिसके अनुसार, "जाति को एक नाम वाले परिवारों के संग्रह या समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो किसी विशिष्ट व्यवसाय से संबद्ध हों या उसे परिलक्षित करते हों और जिनका पौराणिक पूर्वज, मनुष्य या देवता, भी एक हो और जो एक ही व्यवसाय को करते हों तथा कोई मत देने योग्य लोगों द्वारा एक सजातीय समुदाय माने जाते हों"। अंत में, अम्बेडकर ने केतकर द्वारा जाति की परिभाषा को देखा। केतकर के अनुसार, जाति, "एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं— i) इसकी सदस्यता उन्हीं लोगों तक सीमित है जो सदस्यों के यहाँ पैदा हुए हों और इस प्रकार पैदा हुए सभी व्यक्ति इसमें शामिल होते हैं, ii) इसके सदस्यों को समूह से बाहर विवाह न करने के कठोर सामाजिक नियम का पालन करना पडता है"। विभिन्न सामाजिक विज्ञानियों द्वारा दी गई जाति की उपरोक्त परिभाषाओं की समीक्षा करते समय, अम्बेडकर ने कहा कि अधिकार विद्वानों ने जाति को एक पृथक इकाई के रूप में परिभाषित किया है।

जातियों की परिभाषाओं से अम्बेडकर ने केवल उन तत्वों का विश्लेषण किया है जिन्हें वे विशिष्ट तथा सार्वभौमिक मानते हैं। सेनार्ट के लिए, "अशुद्धि का विचार", जाति की विशेषता है। अम्बेडकर इससे यह कहकर असहमत होते हैं कि यह किसी भी प्रकार जाति के लिए विशिष्ट नहीं है। यह प्रायः धार्मिक पर्वों में और शुद्धता की सामान्य आस्था में उत्पन्न होता है। आवश्यकत तत्व के रूप में जाति से इसका संबंध नहीं हो सकता क्योंकि इसके बिना भी जाति व्यवस्था कार्य करती है। वे निष्कर्ष निकालते हैं कि अशुद्धि का विचार जाति के साथ इसलिए संबंधित है क्योंकि पंडिताई और शुद्धता पुराने साथी हैं और वह ब्राह्मण जाति है जो जाति अनुक्रम में सर्वोच्च स्थान पर है। अम्बेडकर के अनुसार अपने जाति के बाहर के लोगों के साथ भोजन न करना, जाति के विषय में नेसफील्ड की दी गई परिभाषा की एक विशेषता है। वे बताते हैं कि नेसफील्ड ने गलती से प्रभाव को कारण मान लिया है। इसके अतिरिक्त, केतकर जाति को जातियों की प्रणाली के संबंध में परिभाषित करता है। केतकर ने जाति की दो विशेषताएँ बताई हैं, (क) अंतर्जातीय विवाह पर निषेध और (ख) स्वजनन द्वारा सदस्यता। अम्बेडकर कहते हैं कि ये दोनों पक्ष भिन्न नहीं हैं क्योंकि यदि अन्तर्जातीय विवाह प्रतिबंधित है, तो परिणाम यह होगा कि सदस्यता समूह के अंतर्गत पैदा हुए लोगों तक ही सीमित रहेगी। जाति की विभिन्न विशेषताओं के आलोचनात्मक विश्लेषण के बाद, अम्बेडकर इस निष्कर्ष पर पहुँते हैं कि भिन्न जातियों के लोगों के बीच अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबंध या उसका अभाव ही एक ऐसा तत्व है जो जाति का महत्वपूर्ण तत्व माना जा सकता है। हिंदुओं में, जातियाँ सजातीय मानी जाती हैं जबकि किसी जाति के गोत्र विजातीय माने जाते हैं। जातियों की सजातीयता के बावजूद, गोत्र के स्तर पर विजातीयता का ध्यान रखा जाता है। सजातीयता के नियमों को तोड़ने वालों से अधिक विजातीयता के नियमों का उल्लंघन करने वालों पर कड़ा दंड लगाया जाता है। यह समझा जा सकता है जाति के स्तर पर विजातीयता का पक्ष नहीं लिया जा सकता है अन्यथा एक निश्चित और स्पष्ट इकाई के रूप में जाति का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

अम्बेडकर आगे कहते हैं कि समूह से बाहर विवाह न होने देने से समूह के अंतर्गत ऐसी समस्या खड़ी हो जाती है जो आसानी से नहीं सुलझती। समस्या यह है कि किसी भी लिंग के व्यक्तियों की संख्या किसी सामान्य समूह में कमोवेश समान रूप से वितरित होती है और वे समान आयु के होते हैं। यदि कोई समूह जाति के रूप में अपनी पहचान को सुदृढ़ कराना चाहता है तो उसे दोनों लिंग की लोगों की संख्या में एक कड़ा संतुलन बनाए रखना पड़ता है। संख्याओं को सही बनाए रखना मुख्य उद्देश्य बन जाता है क्योंकि यदि कोई समूह सजातीयता की प्रथा को सुरक्षित रखना चाहता है तो समूह के अंतर्गत विवाह योग्य स्त्री-पुरुषों की संख्या में समानता बनाए रखना अति आवश्यक होता है। अम्बेडकर (1978 : 10) यदि निष्कर्ष निकालते हैं कि, "उसके बाद, जाति की समस्या उसके अंतर्गत दोनों लिंगों की विवाह योग्य इकाइयों के बीच सुलझ जाती है।" वास्तविक रूप यह होता है कि समाज में किसी एक लिंग की अतिरिक्तता होती है। यदि किसी पुरुष की मृत्यु हो जाती है तो उसकी पत्नी 'अतिरिक्त' हो जाती है और किसी स्त्री की मृत्यु हो जाती है उसका पति 'अतिरिक्त' हो जाता है। यदि समूह इस अतिरिक्त 'जनसंख्या' का ध्यान नहीं रखता तो यह सरलता से सजातीयता का नियम तोड़ सकती है। अम्बेडकर तर्क देते हैं कि समाज में 'अतिरिक्त महिलाओं' की समस्या को दो तरीके से सुलझाया जाता है। 'अतिरिक्त' महिलाओं को या तो उनकी पति की चिता पर जला दिया जाता है या सजातीयता के कड़े नियम उनपर लागू किये जाते हैं। चूंकि समाज में महिलाओं के जलाने को बढ़ावा नही दिया जा सकता, इसलिए विधवापन और उसके साथ पुनर्विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है।

जहाँ तक 'अतिरिक्त पुरुषों' की समस्या का संबंध हैं, अम्बेडकर कहते हैं कि सदियों से समाज पर पुरुषों का वर्चस्व रहा है और उन्हें महिलाओं की अपेक्षा अधिक आदर मिला है। इसलिए, उनके साथ, समान व्यवहार नहीं किया जा सकता है। कोई विधुर आजीवन विधुर रह सकता है; किंतु कामेच्छा के चलते, जो कि प्राकृतिक है, वह समूह की नैतिकता के लिए खतरा बन जाता है विशेषकर यदि वह सक्रिय सामाजिक जीवन जीता है और उदासीन रहता है। इसलिए, उसे ऐसी महिला से विवाह करने की अनुमति होनी चाहिए जिसका पहले विवाह न हुआ हो। हालांकि,

यह एक मुश्किल बात है। यदि किसी विधुर को दूसरी महिला दे दी जाती है तो विवाह योग्य महिलाओं की 'संख्या में असंतुलन पैदा होता है। इसलिए 'अतिरिक्त पुरुष' को ऐसी पत्नी दी जा सकती है जो विवाह योग्य आयु तक न पहुँची हो, अर्थात् बालिका हो। अम्बेडकर ने चार तरीकों की पहचान की जिसके द्वारा दोनों लिंगों के बीच संख्या के असंतुलन से निपटा जा सके, मृत पति के साथ उसकी विधवा को जलाना; अनिवार्य वैधव्य; विधुर पर ब्रह्मचर्य पालन लागू करना; और विधुर का ऐसी लड़की से विवाह जिसकी आयु विवाह योग्य न हुई हो। हिंदु समाज में, सती -प्रथा, विधवा पुनर्विवाह पर रोक और कम आयु की लड़कियों के विवाह की प्रथा मानी जाती है। कोई विधुर संन्यास भी ले सकता है। ये प्रथाएँ, सजातीयता से उत्पन्न, दोनों लिंगों की बीच संख्या के संतुलन को बनाए रखती हैं।

अम्बेडकर के लिए, जाति के उद्गम और प्रसार के प्रश्न भिन्न हैं। अम्बेडकर के अनुसार, जाति प्रथा भारत की भोली जनता पर या तो किसी दिव्य निर्देश की तरह किसी कानूनदा द्वारा लादी गई है अथवा भारतीय लोगों के प्रति किसी विशेष सामाजिक विकास के नियम के अनुसार विकसित हुई है। अम्बेडकर इस मान्यता का खंडन करते हैं कि जाति का नियम किसी नियम बनाने वाले का दिया हुआ है। मनु को हिदुंओं का विधिवेत्ता माना जाता है; किंतु एक संदेह यह है कि मनु कभी हुए भी थे या नहीं। यदि मनु हुए थे तो भी, जाति प्रथा मनु पर हावी हो गई है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मनु ने उसका समर्थन किया तथा उसपर विचार व्यक्त किए किंतु निश्चित रूप से उन्होंने हिंदू समाज की मौजदू व्यवस्था का विधान न किया, न वे कर सकते थे। उनका कार्य मौजूदा जाति नियमों के अधिहरण तथा प्रत्येक जाति से जुड़े जाति धर्म या दायित्व और व्यवहार का उपदेश देने के साथ समाप्त हो गया। अम्बेडकर इस तर्क को अस्वीकार करते हैं कि ब्राह्मणों ने जाति की रचना की। उनका मानना है कि इस मान्यता को खंडित करना आवश्यक था क्योंकि रूढ़िवादी हिंदुओं के दिमाग में अब भी यह दृढ़ विश्वास है कि हिंदू समाज को जाति व्यवस्था के ढाँचे में ढाला गया था और यह शास्त्रों में जानबूझकर बनाया गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि शास्त्रों या धार्मिक ग्रंथों के उपदेश आदि पर ब्राह्मणों का विशेषाधिकार है।

अम्बेडकर दूसरे तर्क से सहमत हैं अर्थात्, जाति व्यवस्था के प्रचार से संबंधित भारतीय लोगों के लिए सामाजिक विकास के किसी नियम के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार, भारत में विभिन्न जातियों उद्गम के आधार व्यवसाय, आदिवासी संगठनों का जीवित रहना, नए आस्था तंत्र का उदय, अंतर्प्रजनन और प्रवसर (अम्बेडकर, 1978 : 17)। अम्बेडकर के अनुसार, समस्या यह है कि उपरोक्त नाभिक अन्य समाजों में भी मौजूद हैं और वे भारत के लिए विशिष्ट नहीं हैं। अम्बेडकर ने पूछा, "इस ग्रह के अन्य भागों में जाति का 'निर्माण' क्यों नहीं किया गया?" किसी स्तर पर, ब्राह्मण वर्ग से स्वयं को शेष लोगों से अलग कर लिया और स्वयं एक जाति के रूप में उदित हुआ। अन्य वर्ग, जो श्रम के सामाजिक विभाजन के नियम के अधीन थे, उनमें भेद-भाव हो गया। इनमें से कुछ वर्ग बड़े समूहों में विभाजित हो गए और कुछ छोटे समूहों में।

अम्बेडकर के अनुसार, "समाज का यह उप-विभाजन अत्यंत प्राकृतिक है। किंतु इन उप-विभाजनों के बारे में एक अप्राकृतिक बात यह है कि उन्होंने जाति व्यवस्था के खुले-द्वार वाले चरित्र को खो दिया है और जाति नामक स्व-आबद्ध इकाई बन गए हैं। प्रश्न यह है : क्या वे अपने दरवाजे बंद करके सजातीय बनने के लिए बाध्य थे या उन्होंने वे अपनी इच्छा से बदं किए? मुझे लगता है कि इसके दो उत्तर हैं : कुछ ने अपने दरवाज़े बंद कर लिए : कुछ ने उन्हें अपने लिए बंद पाया। एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या है ओर दूसरी यांत्रिकीय किंतु वे एक-दूसरे के पूरक हैं" (अम्बेडकर, 1978 : 18)। सजातीयता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को समझाते हुए, अम्बेडकर ने यह कहा कि हिंदू समाज में सजातीयता प्रचलित थी। चूंकि वह ब्राह्मण जाति से उत्पन्न हुई थी, उसे पूर्णत: सभी गैर-ब्राह्मण उप-विभाजनों या वर्गों द्वारा अपनाया गया, जो अपनी बारी आने पर, सजातीय ज़ातियाँ बन गए। इस संदर्भ में अम्बेडकर ने ग्रेब्रियल टार्डे के अनुकरण

के नियम को उद्धरत किया। टार्डे के अनुसार, "अनुकरण ऊपर से नीचे की ओर जाता है"। दूसरे, "अनुकरण की तीव्रता दूरी के साथ व्युत्क्रमानुपाती रूप से बदलती है .... दूरी का यहाँ पर समाजशास्त्रीय अर्थ है" (अम्बेडकर, 1978 : 19)।

अम्बेडकर कहते हैं कि कुछ जातियाँ दूसरों के अनुकरण से बनी थीं क्योंकि अनुकरण द्वारा जातियों के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ हिंदू समाज में मौजूद थीं। वे ऐसा महसूस करते हैं: (i) कि अनुकरण के स्रोत को समूह में आदर मिलना चाहिए; और (ii) कि समूह के सदस्यों के बीच "अनेक तथा प्रतिदिन संबंध" होने चाहिए। अम्बेडकर का मत था कि भारतीय समाज में ब्राह्मण को भगवान के बाद माना जाता है। उसके सम्मान पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं है और वह सभी अच्छी वस्तुओं का शीर्ष है। ग्रंथों द्वारा उसकी वदंना होती है इसलिए, "ऐसा प्राणी केवल अनुकरण से अधिक का पात्र है, किंतु कम से कम अनुकरणीय तो है ही; और यदि वह सजातीयता के घेरे में रहता है तो क्या शेष लोगों को उसके द्वारा स्थापित उदाहरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए? "(अम्बेडकर, 1978 : 19)।

वे कहते हैं कि गैर-ब्राह्मणों द्वारा उन प्रथाओं का अनुकरण, जिन्होंने जाति के ढाँचे का उसके प्रारंभिक दिनों में समर्थन किया जब तक वह हिंदुओं के दिमाग में बस नहीं गया और आज भी मौजूद है, इस तथ्य की पुष्टि करता है कि अनुकरण जाति के निर्माण का कारण है। सती, बलात् वैधव्य तथा बालिका विवाह की प्रथाओं का विभिन्न जातियों द्वारा किसी न किसी रूप में पालन किया जाता है। अम्बेडकर का मत है, "वे जातियाँ, जो ब्राह्मण के सबसे निकट हैं, तीनों प्रथाओं का अनुकरण कर चुकी हैं और इनका सख़्ती से पालन करने पर बल देती हैं। जो कुछ कम निकट हैं, उन्होंने बलात् वैधव्य और बालिका विवाह का अनुकरण किया है; अन्य, जो अधिक दूर है; उनमें केवल बालिका विवाह होता है और जो सबसे दूर हैं, उन्होंने केवल सिद्धात में विश्वास का अनुकरण किया है" (अम्बेडकर, 1978 : 20)।

ग) जाति एवं श्रम का विभाजन

अम्बेडकर कहते हैं कि जाति व्यवस्था, लोगों को उनके माता-पिता की सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर कार्य देती है। दूसरे दृष्टिकोण से यदि इसे देखा जाए तो जाति व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पन्न व्यवसायों का यह स्तरीकरण निश्चित ही, हानिकारक है। उद्योग कभी स्थिर नहीं रहता है। इसमें तेजी से अचानक परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के साथ, व्यक्ति को उसके व्यवसाय बदलने की छूट होनी चाहिए। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ढलने की ऐसी स्वतंत्रता के बिना, किसी व्यक्ति के लिए अपने आजीविका कमाना असंभव होगा। अब, जाति व्यवस्था हिंदुओं को ऐसे व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं देती जो वंशक्रम के अनुसार उनके अपने व्यवसाय नहीं हैं। व्यवसायों को दोबारा अपनाने की अनुमति न देकर, जाति देश में अधिकांश बेरोजगारी का एक कारण बन जाती है। इसके अतिरिक्त, जाति व्यवस्था पूर्वनियति के सिद्धांत पर आधारित है। सामाजिक प्रभावशीलता से जुड़ी बातें हमें यह समझने के लिए बाध्य कर देंगी कि औद्योगिक तंत्र में सबसे बड़ा अभिशाप गरीबी और उससे जुड़ी पीड़ा नहीं है बल्कि यह बात है कि बहुत से लोगों का आह्वान होता है जिसका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ऐसे आह्वावानों से लगातार बचने की भावना, ईर्ष्या तथा दूर भागने की इच्छा पैदा होती है। हिंदुओं द्वारा निम्न समझे जाने वाले व्यवसाय जैसे सफ़ाई उन लोगों में उससे बचने की भावना जगाती है जो उस कार्य को कर रहे हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि मजबूरी में ऐसे व्यवसाय में लगे लोग उन कामों को छोड़ना चाहते हैं, उस तंत्र में क्या प्रभावशीलता हो सकती है जिसमें न तो लोगों के दिल और न ही दिमाग उनके काम में लगे हुए हैं?

घ) समाजवादी और जाति व्यवस्था

इसके बाद अम्बेडकर समाजवादियों द्वारा जाति व्यवस्था को आर्थिक विकास और सुधारों के माध्यम से नष्ट करने के लिए उठाए गए कदमों का विश्लेषण करते हैं। अम्बेडकर उन समाजवादियों के विवेक पर प्रश्न करते हैं जो यह कहते थे कि मनुष्य को सक्रिय रखने का

एकमात्र उद्देश्य आर्थिक ताकत की प्राप्ति है और केवल आर्थिक शक्ति ही ऐसी शक्ति है जिसका दूसरों पर प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सकता है। उनका मत था कि किसी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ही स्वयं कभी-कभी शक्ति का स्रोत बन जाती है। वे कहते हैं कि धर्म, सामाजिक प्रस्थिति, और संपत्ति सभी शक्ति और प्राधिकार के स्रोत हैं जो विभिन्न परिस्थितियों में अपनी भूमिका निभाते हैं। अम्बेडकर मानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बिना, आर्थिक सुधार कर पाना संभव नहीं है। उन्होंने समाजवादियों को भी सचेत किया कि सर्वहारा या गरीब वर्ग सजातीय श्रेणी में नहीं आता है। वे न केवल अपनी आर्थिक स्थिति के आधार पर बल्कि जाति और धर्म के आधार पर भी विभाजित हैं। इसलिए, वे अपने शोषण कर्ताओं के विरुद्ध एकत्रित नहीं हो सकता हैं। अम्बेडकर के अनुसार (1978 : 48), "मुझे ऐसा लगता है कि अन्य बातों के समान होने पर, किसी व्यक्ति को ऐसा क़ार्य करने के लिए जो एक बात मजबूर कर सकती है, वह यह भावना है कि अन्य लोग जिनके साथ वह काम कर रहा है, वे समानता और भाईचारे तथा सबसे ऊपर न्याय की भावना से प्रेरित हैं। लोग संपत्ति की समानता के लिए किसी आंदोलन में तब तक भाग नहीं लेंगे जब तक उन्हें यह पता न हो कि आंदोलन करने के बाद उनके साथ समान व्यवहार किया जाएगा तथा जाति और धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं होगा। यह आश्वासन व्यक्तिगत समानता एवं भाईचारे की भावना में एक-दूसरे के प्रति सहकर्मियों की मानसिक सोच नामक किसी भीतरी आधार से निकला आश्वासन होना चाहिए।" आर्थिक सुधार द्वारा जाति का नाश तर्कसंगत नहीं है इसलिए आर्थिक परिवर्तन लाने से पूर्व समाजवादियों को पहले जाति में अनुक्रम से निपटना होगा।

ङ) जाति का खात्मा

अम्बेडकर कहते हैं कि जाति किसी ईंटों की दीवार या कटीली तार जैसी वस्तु नहीं है जो हिंदुओं को उन्मुक्त सामाजिक क्रियाओं से रोकती हो। जाति एक अवधारणा है; एक मानसिक स्थिति है। यदि कोई जाति व्यवस्था को तोड़ना चाहता है तो उसे जाति की पवित्रता और दिव्यता पर प्रहार करना होगा। अम्बेडकर का मानना था कि जाति व्यवस्था को नष्ट करने का वास्तविक तरीका "शास्त्रों कि पवित्रता में विश्वास को नष्ट करना है। इसमें आप सफलता की उम्मीद कैसे कर सकते हैं यदि आप शास्त्रों को लोगों की आस्थाओं और मान्यताओं को ढालने की अनुमति देते रहेंगे? शास्त्रों के मत पर प्रश्न न करना, लोगों को शास्त्रों की पवित्रता और उनके नियमों में विश्वास करने देना तथा उनके कार्यों को तर्क रहित और अमानवीय कह कर उन्हें दोषी बताना तथा उनकी आलोचना करना सामाजिक सुधार का उपयुक्त तरीका नहीं है। अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए कार्य करने वाले महात्मागांधी सहित अन्य सुधारक यह नहीं समझते कि लोगों द्वारा किए गए कार्य, शास्त्रों द्वारा उनके दिमाग पर छोड़ी गई मान्यताओं के ही परिणाम है और यह कि लोग अपना आचरण नही बदलेंगे जब तक वे शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना नहीं बंद करते जिन पर उनका आचरण आधारित हैं" (अम्बेडकर, 1978:68)।

अम्बेडकर ने आगे कहा कि जाति व्यवस्था के दो पक्ष है, यह मनुष्यों को अलग-अलग समुदायों में बाँटती है; और यह इन समुदायों को एक-दूसरे के ऊपर स्तरों में रखती है जैसा कि पहले बताया गया है। किसी जाति का स्तर जितना अधिक ऊँचा होगा, इसके पास धार्मिक एवं सामाजिक आधार उतने ही अधिक होंगे। यह स्तरीकरण जाति व्यवस्था के विरुद्ध किसी दल को संगठित करने को असंभव बना देता है। जातियाँ प्रभुसत्ताओं का ऐसा उच्च तथा निम्न, स्तरित तंत्र, बनाती हैं जो उनकी प्रस्थितियों से ईर्ष्या करती है और जो यह जानती हैं कि यदि सामान्य विघटन हुआ तो उनमें से कुछ अन्य की तुलना में अधिक प्रतिष्ठा तथा शक्ति खो देंगी। इसलिए हिंदू को संघटित करना संभव नहीं हैं।

क्या आप तर्क को चुनौती दे सकते हैं तथा हिंदुओं को जाति को तर्क विरोधी मानकर उसे नकारने के लिए कह सकते हैं? यहाँ, अम्बेडकर मनु को उद्धरत करते हैं, "जहाँ तक जाति और वर्ण का संबंध है, न केवल शास्त्र हिंदू को प्रश्न के निर्णय में तर्क का प्रयोग करने की अनुमति नहीं देते बल्कि उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया है कि जाति और वर्ण में उसकी आस्था की

आधारशिला को तर्कसंगत रूप से जाँचने का कोई अवसर ही शेष न रह जाए" (अम्बेडकर, 1978 : 72)। अम्बेडकर कहते हैं कि यदि कोई जाति व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है तो उसे जाति व्यवस्था को बदलने के लिए नियम लागू करने होंगे। जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए वे हिंदू धर्म में निम्नलिखित सुधारों का सुझाव देते हैं: (i) हिंदू धर्म की केवल एक मानक पुस्तक होनी चाहिए जिसे सभी हिंदू स्वीकार करें और मान्यता दें; (ii) हिंदुओं में पुरोहिताई समाप्त करना उपयुक्त होगा अन्यथा कम से कम पुरोहिताई अनुवांशिक न हो। प्रत्येक व्यक्ति जो स्व्यं को हिंदू बताता है पुरोहित के पद के लिए योग्य होना चाहिए। कानून यह सुनिश्चित करें कि कोई हिंदू पुरोहित बनकर धार्मिक कृत्य न करें जब तक उसने सरकार द्वारा निर्धारित परीक्षा न उत्तीर्ण की हो और उसके पास सरकार से इस कार्य को करने की अनुमति होनी चाहिए; (iii) किसी ऐसे पुरोहित द्वारा किया कोई कार्य वैध नहीं होना चाहिए, जिसके पास उसे करने की अनुमति न हो और बिना अनुमति पुरोहित का कार्य करने वाले व्यक्ति को दंडित किया जाना चाहिए; (iv) पुरोहित सरकार का कर्मचारी होना चाहिए और नैतिकता तथा आस्था के मामले में सरकार द्वारा उस पर अनुशासनिक कार्यावाही करने की छूट होनी चाहिए; और (v) पुरोहितों की संख्या सरकार की आवश्यकताओं के अनुसार कानून द्वारा सीमित होनी चाहिए। अम्बेडकर के अनुसार, ये सुधार स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व, संक्षेप में, लोकतंत्र पर आधारित एक नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का आधार उपलब्ध करवाएंगे।

वर्णों, जातियों और उपजातियों से उत्पन्न शोषणकारी प्रकृति वाली हिंदू सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण करने के बाद, अंबेडकर, आदर्श सामाजिक व्यवस्था पर अपना दृष्टिकोण बताते हैं। वे स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित समाज चाहते थे। बंधुत्व से संगठन और बाँटने के अनुभवों के लिए अधिक मार्ग खुलते हैं। इससे लोगों में अपने साथियों के प्रति आदर और सम्मान का भाव स्थापित करने में मदद मिलती है। अम्बेडकर के अनुसार स्वतंत्रता से लोगों को व्यवसाय चुनने की छूट मिलती है। यह सत्य है कि सभी लोग भौतिक और आर्थिक संपन्नता की दृष्टि से समान नहीं होते हैं।

7.3 राम मनोहर लोहिया के जाति विषयक विचार

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

राम मनोहर लोहिया का मानना था कि जाति व्यवस्था सीधे तौर पर श्रम के विभाजन से संबंधित है। उनके अनुसार, छोटे स्तर पर ही सही, जहाँ भी आनुवांशिक उत्पादन होता है वहाँ जाति व्यवस्था किसी न किसी रूप में मौजूद होगा। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कहा कि जब भी भूमि का केंद्रीकरण होता है या भूमि के मालिक वर्ग के पास सत्ता आती है तो वहाँ क्षत्रिय वर्ण होगा। जहाँ भी क्षत्रियों की सहायता के लिए पुरोहित वर्ग होगा, वहाँ ब्राह्मण वर्ण होगा। जहाँ भी कृषि और विनिमय होगा, वहाँ वैश्य वर्ण होगा और जहाँ भी कारीगरों की शाखाओं के विशेष रूप में उत्पादन की शाखाएँ विकसित होती हैं, वहाँ शूद्र वर्ण होगा।

जाति व्यवस्था का विकास कला के विकास से संबंधित है। ब्राह्मण एक वर्ण है किंतु अपने आप में वर्ण किसी व्यवसाय का अर्थ नहीं देता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लिए भी सत्य है। उदाहरण के लिए वैश्य व्यापारी, कृषक और/अथवा चरवाहे हो सकते हैं। वे केवल एक व्यवसाय को नहीं अपनाते हैं। हालांकि कुम्हार, लोहार, सुनार और चमार के संदर्भ में व्यवसाय का अर्थ भी है। इसलिए लोहिया के अनुसार, जातियाँ वास्तव में, केवल शूद्र वर्ण में पायी जाती हैं। एक कला-कौशल के विकास के साथ लोगों का एक समूह उसके संबद्ध हो जाता है। सभी ऐसे कला-कौशलों को एक साथ रखा जाता है।

जाट, गूजर, अहीर, ऐसे समूह हैं जिन्हें जाट माना जाता है। हमें केवल किसी जाति का संदर्भ देने से किसी व्यवसाय का पता नहीं लगता। दूध का व्यापार अब अहीरों के साथ जुड़ा हुआ है। परंरागत रूप से, अहीर दूध के व्यापारी नहीं थे। लोहिया के अनुसार, वे एक गणतांत्रिक समाज थो जो भारत में रहने लगा और फिर संघीय प्रणाली में उसका विलय हो गया। इस विलय से उन्हें जाति की पहचान मिली। इसके बाद, उनके अनुसार सजातीयता जाति व्यवस्था की दूसरी

विशेषता है। किसी विशिष्ट जाति में अनेक गोत्र होते हैं। किसी गोत्र के व्यक्ति यह मानते हैं कि वे एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुए हैं और उनका खून एक ही है। इसी कारण एक गोत्र के लोग परस्पर विवाह नहीं करते। वे अपने गोत्र से बाहर किंतु जाति के अंतर्गत विवाह करते हैं।

बॉक्स 7.1: जाति अवसर को सीमित करती है

1950 और 60 के दर्शकों में विश्व में फैसन बने मार्क्सवादी सिद्धांतों से अलग, लोहिया ने माना कि वर्ग से अधिक, जाति भारत की प्रगति में एक बड़ा व्यवधान थी। फिर आज की तरह, सार्वजनिक रूप से जाति के बारे में बात करना राजनीतिक ढंग से गलत था किंतु अधिकतर लोग इसे जीवन के सभी पक्षों– जन्म, विवाह, संबंध, और मृत्यु में प्रयोग करते हैं। यह लोहिया का शोध था कि भारत ने अपने पूरे इतिहास में नुकसान उठाया था क्योंकि लोग स्वयं में देश का नागरिक कम मानकर किसी जाति का सदस्य अधिक मानते थे। लोहिया के अनुसार, जाति स्थावर वर्ग था। वर्ग चलायमान जाति था। इसलिए, देश में नवीन विचारों का अभाव था क्योंकि ऊपर के स्तर पर विचार संकीर्ण तथा ठहरे हुए थे जिसमें मुख्यत: उच्च जातियाँ, ब्राह्मण और बनिए और वहाँ भी कड़ा पृथक्करण कि पहला वर्ग ज्ञान के क्षेत्र में हावी था और दूसरा वर्ग व्यापार के क्षेत्र में। सकारात्मक कार्य के पक्षधर होने के नाते, वे इसकी तुलना पृथ्वी को पलटकर बेहतर फसल उगाने से करते थे और उच्च जाति से कहते हैं कि उच्च जाति "निम्न जातियों की प्रगति और विकास के लिए स्वेच्छा से धरती का कार्य करें" ताकि देश को अधिक योग्यता तथा विचारों से लाभ मिल सके। लोहिया के शब्दों में, "जाति अवसर को सीमित करती है। सीमित अवसर से योग्यता सीमित होती है। सीमित योग्यता फिर अवसर को सीमित करती है। जहाँ भी जाति होगी, अवसर तथा योग्यता लोगों के अति-संकीर्ण वृत्तों में सीमित हो जाएँगे"। [2] समयुक्त समाजवादी पार्टी नामक अपने दल में, लोहिया ने निम्न जाति के उम्मीदवारों को चुनाव टिकट तथा पार्टी में उच्च पद देकर प्रोत्साहन दिया। हालांकि वे निरंतर जाति के विषय में बात करते रहते थे, वें स्वयं जातिवादी नहीं थे – उनका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि लोग बिना जाति का ध्यान रखे, समाजवादी पार्टी के उम्मीदवार को अपना मत दें। उनका मानना यह था कि देश को मजबूत करने के लिए, सभी को अपनी भूमिका निभानी चाहिए। जाति के उन्मूलन के लिए, उनका सूत्रात्मक तरीका था, "रोटी और बेटी", अर्थात् लोगों को जाति का अवरोध तोड़ने के लिए साथ खाना होगा (रोटी) और उनको प्रसन्नता से अपनी बेटियों का विवाह अन्य जातियों के लड़कों के साथ करना होगा (बेटी)," (रामाकृष्णन, 2005 : 2-3 से उद्धरत)।

मार्क्स को उद्धरत करते हुए, लोहिया लिखते हैं कि समाज में श्रम का विभाजन होता है और लोग किसी व्यवसाय से संबद्ध हो जाते हैं। श्रम के विभाजन से श्रम में विशेषज्ञता प्राप्त होती है। उत्पादन के अनेक शाखाएँ भी उभरती हैं। अत: लोग अन्य समाजों में विनिमय संबंध बना लेते हैं (मार्क्स, 1867 : 353)। लोहिया के अनुसार, मार्क्स के लेखन का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह विनिमय केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, बल्कि परिवार और जनजाति के स्तर पर भी होता है। उत्पादन पारिवारिक स्तर पर भी होता है। मार्क्स का मानना था कि विनिमय व्यक्तिगत स्तर पर नहीं होता है। इससे हमें यह समझना चाहिए कि उत्पादन, व्यापार और विनिमय में एक या दो व्यक्ति ही भाग नहीं लेते हैं। इन प्रक्रियाओं में संपूर्ण परिवार भाग लेता है।

लोहिया मानते हैं कि जाति व्यवस्था केवल शूद्र वर्ण तक सीमित है। उन्होंने कहा कि समाज के नेता सदैव वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखना चाहते हैं (शर्मा, 2000)। वे कहते हैं कि समाज के ठेकेदारों को कोई चिंता नहीं होती यदि निम्नवर्ण के लोग अपने व्यवसाय या प्रस्थिति को बदलते हैं किंतु यदि वे अच्च वर्ण के लोगों का व्यवसाय अपनाने का प्रयास करते हैं और उनकी प्रस्थिति को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तो यह समाज के लिए दुष्क्रियात्मक होता है और उच्चवर्गों द्वारा इसका कड़ा विरोध किया जाता है (शर्मा, 2000 में प्लेटों का उद्धरण)।

क) जाति की दुष्क्रिया तथा उसका विनाश

लोहिया का यह मत था कि भारत में जाति व्यवस्था देश के मौजूदा भौतिक और आध्यात्मिक ह्रास का एकमात्र सबसे बड़ा कारण है। लोग प्राय: अपनी जाति की समृद्धि की देश की प्रगति से तुलना करते हैं। यह देश की प्रगति के लिए हानिकारक है। अनेक राजनीतिक दल जाति व्यवस्था के उन्मूलन की बात करते हैं। लोहिया ने बताया कि महिलाओं, हरिजनों, शूद्रों, व्यथित मुसलमानों और ईसाइयों तथा आदिवासियों की संख्या कुल जनसंख्या की 85 प्रतिशत से भी अधिक है, फिर भी राजनीति, सेना, व्यापार और उच्च सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में उनकी भागीदारी बहुत कम है। जाति व्यवस्था का नाश तभी हो सकता है जब इस असंतुलन को ठीक किया जाएगा। उन्हें ऐसा लगता था कि पछिड़ी जातियों को नेतृत्व का अवसर मिलना चाहिए। उन्हें सार्वजनिक जीवन में कम से कम 60 प्रतिशत महत्वपूर्ण पद मिलने चाहिए। यह परिवर्तन विधिक सुरक्षा द्वारा लाया जाना चाहिए। लोहिया पिछड़े वर्गों को अधिमान्य अवसर दिए जाने के प्रति आशावान थे। उनका मानना था कि इस प्रकार भारत एक शक्तिशाली देश के रूप में उभर सकेगा।

बॉक्स 7.2 : अधिमान्य अवसर

"भारत के आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों सहित सभी क्षेत्रों में होने वाले ह्रास के लिए लोहिया मौजूदा जाति व्यवस्था को मुख्य कारण मानते थे। उनके अनुसार, जाति व्यवस्था निम्न जातियों की मानवीय भावना और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुचलती है। इस कारण, उन्होंने पिछड़े वर्गों को विशेष अवसर देने का सुझाव दिया। उनका कहना था कि अनुसूचित जातियों और समाज के पछिड़े वर्गों को अधिमान्य अवसर दिए जाने चाहिए। लोहिया के अनुसार, महिलाएँ हरिजन, शूद्र, आदीवासी और व्यथित मुसलमान पिछड़े वर्गों में आते हैं ..... उच्च जातियाँ, अंग्रेजी शिक्षा तथा धन भारत के शासक वर्ग का मुख्य मापदंड हैं इसलिए, लोहिया ने यह सुझाव दिया कि भूमि वितरण, रोज़गार और शिक्षा के अवसरों में पिछड़ी जातियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए" (नाथ, 2002 : 216)।

लोहिया यह भी चाहते थे कि पिछड़ी जातियाँ अपनी कमियों को समझें। उनका मानना था कि समाज का निचला वर्ग स्वभावत: उच्च वर्ग का अनुकरण करने लगता है। पिछड़ी जातियों को द्विज जातियों की बुराइयों से बचने का प्रयास करना चाहिए। नेतृत्व के स्थानों पर बैठे निचली जाति के लोगों को ईर्ष्या से बचना चाहिए और दृढ़ चरित्र प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि ईर्ष्या से नेतृत्व बुरे इरादों वाले लोगों के हाथ में जा सकता है। पिछड़ी जातियों की प्रगति की राह में एक अन्य बाधा कुछ गिने-चुने लोगों के हाथ में सत्ता का एकत्रीकरण है। सैंकड़ों 'पिछड़ी जातियाँ' जो भारत की दो-तिहाई जनसंख्या के बराबर हैं, संसाधनों को प्राप्त करने के प्रयास में लगी हुई हैं। संसदीय चुनावों के लिए, ऐसी पिछड़ी जातियों का ध्यान हमें रखना चाहिए। उनके स्तर से नेताओं का चयन होना चाहिए ताकि उनकी आवाज़ तथा कार्यों से उनमें संतोष, आत्म-सम्मान और निर्भयता का संचार हो सके।

अपनी एकजुटता में प्रगति के लिए, पिछड़ी जाति में आत्म-सम्मान और निर्भयता का होना आवश्यक है। जाति व्यवस्था पर प्रहार करने के लिए एक राजनीतिक कार्यक्रम को सामूहिक भोज जैसी सामाजिक गतिविधियों के साथ जोड़ना होगा। लोहिया मानते थे कि साहित्य भागीदारी नाटक, मेले तथा खेल-कूद सांस्कृतिक अन्योन्यक्रिया, विनिमय और प्रसार का माध्यम बन सकते हैं। वर्ग की लड़ाई द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था के समाप्त होने के साथ, जाति अपने आप समाप्त हो जाएगी, इस बात के विरोध में बोलते हुए लोहिया ने कहा, "पहली बात, जाति व्यवस्था से अभिशप्त देश में केवल वर्गों की लड़ाई द्वारा सामंतवादी और पूंजीवादी असमानताओं को समाप्त करना संभव नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जो लोग वर्ग रहित समाज की स्थापना के लिए वर्ग की इस लड़ाई को अपरिहार्य मानते हैं, वे जाति रहित समाज के निर्माण के लिए जाति की लड़ाई के इतने खिलाफ क्यों हैं?" व्यक्ति को वर्ग और जाति को समाप्त करने के लिए प्रचार, संगठन और संघर्ष जैसे अहिंसक तथा शांतिपूर्वक माध्यमों का सहारा लेना चाहिए।

ख) **लोहिया का जाति समाप्ति सम्मेलन**

लोहिया ने 31 मार्च– 2 अप्रैल 1961 का पटना में एक "जाति समाप्ति सम्मेलन" आयोजित किया और भारत में जाति के उन्मूलन के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया :

i) मिश्रित भोज : सम्मेलन में भारत के लोगों और इसकी इकाइयों से अपील की गई कि वे देश में सभी जगह विशेषकर गाँवों में मिश्रित भोज पार्टियाँ आयोजित करें।

ii) विवाह : सम्मेलन का यह मत था कि जाति व्यवस्था को तभी समाप्त किया जा सकता है जब अन्तर्जातीय विवाह आमतौर पर होने लगे। इन विचारों के प्रचार के लिए परिचर्चाओं, नाटकों और मेलों का आयोजन किया जाना चाहिए। सरकार द्वारा अन्तर्जातीय विवाहों का प्रवर्तन पर्याप्त नहीं होगा। सम्मेलन में यह स्पष्ट था कि यहाँ अन्तर्जातीय विवाह का अर्थ उच्च जातियों की विभिन्न उपजातियों के बीच न होकर द्विज और शुद्रों अथवा सैय्यदों और जुलाओं के बीच विवाह से है।

iii) सम्मेलन में यह सुझाव दिया गया कि नामों से जुड़ी उपाधियों को इस तरह बनाना चाहिए कि उससे व्यक्ति की जाति का पता न लगे।

iv) सम्मेलन में उन लोगों को विशेष अवसर देने के लिए भी एक प्रस्ताव पारित किया गया जिनका हजारों वर्षों से दमन किया जा रहा है, जिससे समाज की पारंपरिक संरचना में सकारात्मक परिवर्तन लाया जा सके क्योंकि जाति व्यवस्था के कारण इनकी शक्ति और योग्यता का ह्रास होता है। योग्यता के प्रश्न को ध्यान में रखते हुए सम्मेलन में यह कहा गया कि, "चाहे योग्य हो अथवा नहीं, महिलाओं, शुद्रों हरिजनों, पिछड़ी जातियों, आदिवासियों और मुसलमानों जैसे जुलाहों को 60 प्रतिशत आरक्षण देना होगा" (लोहिया, 1964 : 141)।

सम्मेलन इस बात पर सहमत हो गया कि जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिए राजनीतिक कार्यक्रम के साथ धार्मिक सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम चलाने होंगे। भूमिरहित निम्न जातियों को भूमि के पुनर्विभाजन अथवा भूमिसेना के माध्यम से घर तथा खेती के लिए भूमि उपलब्ध करवानी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, "धर्म में से जातियों से संबंधित कचरा भी निकाल फेंकना होगा" (लोहिया, 1964 : 141)।

MUKHERJEE IAS
'way to achieve your dream'

सोचिए और कीजिए 7.2

जाति के उन्मूलन के विषय में अम्बेडकर और लोहिया के विचारों की तुलना कीजिए।

7.4 सारांश

जैसा कि आप समझ गए होंगे, अम्बेडकर और लोहिया के विचार अनेक मुद्दों पर मिलते हैं। दोनों जाति को दमनकारी और शोषणकारी व्यवस्था मानते थे जो अवसरों को सीमित करती है तथा असंतुलन और असमानताएँ पैदा करती हैं। दोनों मानते थे कि जाति का नाश होना चाहिए हालाँकि उनकी मूल सोच और जाति के उन्मूलन के तरीकों में अंतर था। अम्बेडकर हिंदू धर्म के लिए एक सर्वमान्य पुस्तक और पारंपरिक पुरोहिताई की संस्था को समाप्त करने की बात कहते थे, जबकि लोहिया का ध्यान मिश्रित भोज, सांस्कृतिक क्रियाओं और संस्कृतिक विनिमय की परिस्थितियों का निर्माण करने पर था। वे कमज़ोर और दलित वर्ग के लिए अधिमान्य नीतियों के कार्यान्वयन के भी पक्षधर थे।

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अम्बेडकर बी.आर., 1978, *डा. बाबा साहब अम्बेडकर्स राइटिंग्स एंड स्पीचेज,* खंड 1, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, मुम्बई।

लोहिया, राम मनोहर, 1964, *दि कास्ट सिस्टम,* राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद।

नाथ, जे.पी., 2002, *सोशिलिस्ट, लीडरशिप इन इंडिया,* कनिष्क प्रकाशन, नई दिल्ली।

इकाई 8

जनगणना का परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 जनगणना में जाति

8.3 जनगणना और पहचान की राजनीति

8.4 जाति के समाजशास्त्रीय बोध पर जनगणना का प्रभाव

8.5 जनगणना में जाति के समावेश पर विवाद

8.6 सारांश

8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जाति की पहचान बनाने में जनगणना के महत्व को समझ सकेंगे;
- समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से जनगणना प्रचालनों में जाति की अभिव्यक्ति को समझा सकेंगे; और अंत में
- जनगणना में जाति के एक आवश्यक तत्व के रूप में समावेश से संबंधित दृष्टिकोणों पर चर्चा कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

MAADHYAM IAS

दसवार्षिक जनगणना भारत के समाज तथा अर्थव्यवस्था के कुछ पक्षों पर सूचना का महत्वपूर्ण स्रोत है। जनगणना में लोगों की संख्या, उनकी आयु, लिंग, व्यवसाय, शैक्षिक स्तर और अन्य ऐसी अनेक बातों से संबधित सूचना होती है। उपनिवेश-पूर्व राज्यों में भी जनगणना होती थी किंतु इसका उद्देश्य कर वसूली तथा सेना में अनिवार्य भरती तक सीमित था (मलाया-जवाई संदर्भ के लिए एंडरसन 1991 : 169 देखें; ओट्टोमन साम्राज्य के लिए स्मिथ 2000 : एफएन 1)। जाति का विवरण भी ब्रिटिश उपनिवेशीय सरकार द्वारा आरंभ की गई कोई नई प्रथा नहीं थी। मनुस्मृति, कल्हण की राजतरंगिनी तथा आइना-ए-अकबरी, सभी में जातियों की सूची है। हालांकि जनगणना का वर्तमान स्वरूप, अपने स्तर, एकत्रित सूचना, इसके विभिन्न प्रशासनिक उपयोगों के संदर्भ में, आधुनिक प्रशासनिक राज्य के कारण है। विशेषकर ब्रिटिश उपनिवेशकों के लिए, जनगणना बृहद् तथा विभिन्ता धारी भारतीय जनसंख्या को समझने और उसे नियंत्रित करने का एक आवश्यक उपकरण था।

जाति तथा धर्म को महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय श्रेणियों के रूप में देखा जाता था जो अन्य मुद्दों का भी बोध कराती थीं– जिनमें आज स्पष्टत: असंबद्ध घटक जैसे पागलपन, बुद्धिमत्ता, सेना में लड़ने की इच्छा और क्षमता आदि शामिल हैं। हालांकि जनगणना में धर्म अब भी शामिल है (अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों से इतर श्रेणियों के लिए), जाति इसमें से अदृश्य हो चुकी है।

1871 से 1931 तक जाति, जनगणना की एक महत्वपूर्ण परिवर्ती रही है। 1931 की जनगणना, अंतिम जनगणना थी जिसमें जाति के आधार पर जनसंख्या के विभाजन की सारणियाँ उपलब्ध थी। हालांकि 1941 में जाति संबंधित सूचना एकत्रित की गई थी, युद्धकालिक आर्थिक उपायों को

ध्यान में रखते हुए उन्हें प्रस्तुत नहीं किया गया था। 1951 में, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों से संबंधित डेटा के अतिरिक्त, अन्य 'पिछड़ी जातियों' से सीमित जाति सूचना एकत्रित की गई थी। हालांकि, इन परिणामों को प्रकाशित नहीं किया गया था और इन्हें केवल प्रथम पिछड़े वर्ग आयोग को उपलब्ध करवाया गया था (रॉय बर्मन 1998; गेलंटर, 1984 : 164)।

जनगणना कानून 1948 का गठन करने वाली निर्वाचक विधान सभा ने जाति को इस आधार पर सम्मिलित नहीं करने का निर्णय लिया कि भारत को विभिन्न जातियों, भाषाओं और धर्मों की भूमि के रूप में अंग्रेजी उपनिवेशक सरकार ने इसलिए प्रस्तुत किया कि वह यह दावा कर सके कि भारतीय कभी एकजुट होकर स्वयं को अनुशासित नहीं कर सकते और इसलिए उन्हें शासन के लिए अंग्रेजों की आवश्यकता थी। हालांकि, सरकार अनुसूचित जनजातियों से संबंधित सूचना एकत्रित करती रही ताकि विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों की स्थिति को सुधारने के लिए उनकी सफलता पर नज़र रखी जा सके। 2001 की जनगणना की तैयारी के दौरान, इस बात पर नए सिरे से बहस आरंभ हुई कि जनगणना में क्या व्यक्ति की जाति को दर्ज किया जाना चाहिए। एक मत यह था कि जाति को सम्मिलित करना इसलिए आवश्यक था ताकि प्रत्येक जाति की आर्थिक और सामाजिक प्रस्थिति का अनुमान लग सकें, जबकि दूसरा मत यह था कि जातियों की पहचान करना कठिन होगा और इस प्रकार की अभिव्यक्ति अनावश्यक रूप से 'जातिवाद' को बढ़ावा देगी। अंत में, जनगणना में जाति को सम्मिलित नहीं करने का निर्णय लिया गया।

इस इकाई में जाति पर उसी प्रकार बात की जाएगी जिस प्रकार भारत में जनगणना में की जाती है; जाति की पहचान पर जनगणना में जाति की अभिव्यक्ति पर प्रभाव; समाजशास्त्र में जाति की अवधारणा पर जनगणना का प्रभाव; और 1990 के दशक के अंत में इस बात पर बहस कि जाति को 2001 की जनगणना में शामिल किया जाना चाहिए अथवा नहीं।

8.2 जनगणना में जाति

ऐसा माना जाता है कि जाति शब्द नस्लों, प्रजातियों, जनजातियों आदि का विवरण देने वाले पुर्तगाली शब्द कास्टास से उत्पन्न हुआ है और इसका आश्य चार वर्ण वालों श्रेणियों और जातियों अथवा ऐसी विशिष्ट स्थानीय इकाइयों से है जिनसे लोग स्वयं को संबद्ध करके देखते थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में जाति और वर्ण की लकीर महीन थी। आर्थिक भेद, प्रवास और पारस्थितिक अंतर सभी ने नई जातियों को बनाने अथवा जाति के विघटन और विलयन के माध्यम से लोगों को अपनी जाति की पहचान परिवर्तित करने में भूमिका निभाई। मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद अस्थिर परिस्थितियों में अनेक आदिवासियों के मुखिया अथवा निम्न जाति वाले लोग अपने-अपने क्षेत्रों में राजा बन गए। उन्होंने राजपूत अथवा क्षत्रिय प्रस्थिति का दावा किया और स्वयं के लिए उपयुक्त वंशावलियों के निर्माण के लिए ब्राह्मण पुजारी नियुक्त किए (सिन्हा, 1962)। जातियों की कोई अखिल भारतीय स्थिति नहीं थी और यह स्थिति समय के साथ बदलती थी। उदाहरण के लिए डर्क्स (1993), ने यह तर्क दिया कि धर्म और राजनीतिका पृथकरण और दक्षिण भारत में क्षत्रियों पर ब्राह्मणों का प्रथागत वर्चास्व उपनिवेशीय काल के कारण पैदा हुआ।

उपनिवेशीय शासन के अधिक सुदृढ़ होने के साथ उपनिवेशीय प्रशासकों को निवासी जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए उन्हें जानने और समझने की आवश्यकता थी। 19वीं शताब्दी में प्रजातियों का वर्गीकरण करने के लिए किए गए अनेक अध्ययनों के साथ 'प्रजाति' एक वैज्ञानिक पूर्वाग्रह बन गयीं। (निश्चित रूप से समकालीन विज्ञान और अनुवांशिकी ने यह दर्शाया है कि जीव विज्ञान संबंधी प्रजाति जैसी कोई चीज नहीं होती है)। शाही राजपत्रों की श्रृंखला सहित दशवार्षिक जनगणना, मानवजाति वर्णन सर्वेक्षणों, व्यवस्था रिकार्डों आदि ने जाति और प्रजाति के कुछ विचारों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'निवासी' व्यवहार को समझाने के लिए जाति और धर्म को महत्वपूर्ण माना जाता था;

इस देश में प्रशासन की अनेक शाखाओं को होने वाले उस लाभ पर विस्तार से बात करना अनावश्यक है जो विभिन्न जातियों और जनजातियों के घरेलू तथा सामाजिक संबंधों और प्रथाओं के सटीक तथा सुव्यवस्थित रिकार्ड से हुआ है। व्यक्तियों के निवासी आचार का संपूर्ण ढाँचा मुख्यत: उस समूह के नियमों द्वारा निर्धारित होता है जिसके वे सदस्य होते हैं। विधि प्रक्रिया, सूखा राहत, सफाई तथा महामारी रोगों से निपटान और लगभग प्रत्येक प्रकार की कार्यकारी गतिविधि, और लोगों की प्रथाओं के रिकॉर्ड के विधिक उद्देश्यों के लिए भारत के मानव जाति वर्णन संबंधी सर्वेक्षण अच्छे प्रशासन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भूमि का भूकर सर्वेक्षण और उसके किराएदारों के अधिकारों का रिकॉर्ड (भारत सरकार के गृह विभाग (सार्वजनिक) शिमला में 25 मई 1901 की कार्रवाई का अंश)।

अत: उपनिवेशीय शासकों ने उन्माद को समझाने, जिसमें उन्माद, "सामाजिक रूप से उच्च तथा आर्थिक रूप से अधिक अग्रशोची वर्गों से संबद्ध रोग है" (भारतीय जनगणना 1921, खंड 1, भाग 1 : 209): सेना में लड़ाकू प्रजातियों की भर्ती की मदद के लिए; अथवा यह निर्धारित करने के लिए कि कौन से समूह अपराध की ओर अग्रसर थे (अपराधी जनजातियों की श्रेणी का निर्माण) के लिए जाति का प्रयोग किया।

हालाँकि जनगणना में जाति का रिकार्ड करना सरल कार्य नहीं था। बाद के जनगणना आयुक्तों ने जाति सारणियों को जनगणना का सबसे कष्टकारी और खर्चीला अंग बताया और प्राप्त किए गए उत्तरों की निरर्थक और संदर्भगत प्रकृति की ओर इशारा किया (भारतीय जनगणना, रिसले 1903 : 531, भारतीय जनगणना, यीट्स 1941 : 20)। फिर भी 1931 तक इसे जनसांख्यिकीय रिकॉर्ड के एक आवश्यक अंश और प्रशासन के लिए महत्वपूर्ण माना गया। परिणामस्वरूप एक व्यवस्था प्राप्त हुई जिसने लोगों को यादृच्छिक, प्राय: अपने अनुभवों के प्रति असत्यवान किंतु भिन्न, परस्पर विशिष्ट और इस प्रकार गणनीय श्रेणियों में बाँट दिया।

1881 में केवल मद्रास प्रेसीडेंसी में, निवासियों ने 3208 विभिन्न जातियाँ लौटाई जो वर्गीकरण के बाद 309 रह गईं (1881 में भारत में सामान्य जनगणना के लिए दिए गए सुझावों पर विचार करने के लिए नियुक्त अधिकारियों की रिपोर्ट, राष्ट्रीय अभिलेखागार पुस्तकालय)।

बॉक्स 8.1: जनगणना के लिए सूचना का एकत्रीकरण

"जातियों की वर्गीकरण प्रणाली के विकास में, दो आपस में जुड़ी हुई किंतु प्रचालन की दृष्टि से पृथकीय समस्याएँ थीं : वास्तविक प्रश्न जिसे गणक ने व्यक्ति से पूछा; फिर उस उत्तर को लिपिक ने और अंत में जिले अथवा किसी बड़ी इकाई की जनगणना के पर्यवेक्षक ने किस प्रकार समझा। वास्तविक रूप से जनगणना करना दो-चरण का कार्य था। गणकों की नियुक्ति क्षेत्रीय पर्यविक्षकों द्वारा की जाती थी जो प्राय: सरकारी अधिकारी होते थे। पटवारी, जमींदार, स्कूल शिक्षक या कोई भी अन्य शिक्षित व्यक्ति पर्यवेक्षक हो सकता था। उन्हें खानेदार फॉर्म दिया जाता था जिसमें घर के प्रत्येक सदस्य से संबंधित सूचना भरी जानी थी। एकत्रित की जानेवाली सूचना में नाम, धर्म (जैसे, हिंदू, मुसलमान), संप्रदाय, जाति, उपजाति, लिंग, आयु, वैवाहिक प्रस्थिति, भाषा, जन्म स्थान, आजीविका का माध्यम, शिक्षा, ज्ञात भाषाएँ तथा दुर्बलताएँ शामिल होती हैं। जनगणना की वास्तविक तिथि से पूर्व एक महीना होता था जिसमें गणक को फॉर्म भरने होते थे और फिर जनगणना वाले दिन उसे घर के मुखिया से उस सूचना की जाँच करवानी होती थी।

जाति तथा उपजाति पर सूचना को रिकॉर्ड करने की प्रक्रिया के मानकीकरण के सहायक के रूप में, 1881 जनगणना के समय ही सूचियाँ तैयार कर ली गई थीं जिनमें मानक नाम थे और जातियों में परितर्वन था। पर्यवेक्षकों को गणकों को यह निर्देश देने थे कि उत्तरों का वर्गीकरण किस प्रकार है। जातियों की सूचियों को वर्णाक्षर क्रम में क्रमबद्ध किया गया जिनमें यह सूचना थी कि वे जातियाँ कहाँ पाई जाएँगी और उनमें सक्षिप्त टिप्पणियाँ भी थी" (कॉन, 1987 : 243-44)।

इस प्रक्रिया को रिसले द्वारा इस प्रकार बताया गया :

"यदि गणना किया गया व्यक्ति बहुप्रचलित जनजाति या जाति का नाम बताता है ..... सब ठीक है। किंतु वह भारत के दूसरे सिरे की किसी अनजानी जाति का हो सकता है; वह किसी बहिरजातिय वर्ग के संप्रदाय या उपजाति का नाम दे सकता है ..... उसका व्यवसाय या जिस जनपद का वह रहने वाला है। ये विभिन्न विकल्प कमोवेश शिक्षित गणक के हाथों अनेक परिवर्तनों से गुजरते हैं जो इन्हें अपनी भाषा में लिखता है और केंद्रीय कार्यालय में बैठा भाववाचक कार उन्हें अंग्रेजी में लिप्यंतरित करता है। वहाँ पर स्थानीय प्राधिकारियों के साथ छंटाई, संदर्भ और पत्राचार की मेहनतकश और कठिन प्रक्रिया होती है जिसके फलस्वरूप सारणी XIII बनता है जिसमें भारत के निवासियों का जाति, जनजाति, प्रजाति अथवा राष्ट्रीयता के आधार पर वर्गीकरण दिखाया जाता है" (रिसले, 1903 : 537)।

हट्टन ने भी इस तथ्य पर टिप्पणी की है कि गणना की गई जातियों की संख्या 1881 से 1931 तक कम हुई है और यह कि अपनाई गई पद्धतियों यादृच्छिक हो सकती है किंतु उसमें वर्गीकरण की इस प्रणाली अपरिहार्यता को भी दर्ज किया जिसमें व्यक्तियों से ना केवल उनकी उपजाति पूछी गई बल्कि यह भी पूछा गया कि वे उपजातियों की कौन सी सूची में आते हैं (गृह सार्वजनिक मि.स. 42/17/30, एन.ए.आई.)। पीटर रैटक्लिफ के अनुसार, अन्य बताने वाले विकल्पों के प्रावधान के साथ भी एक पूर्व कोडीकृत अभिगम उत्तरों को संचरित करता है और विकृतियों को उत्पन्न करता है (रैटक्लिफ, 1996 : 8)।

इसके अतिरिक्त जनगणना की व्यवस्था में व्यक्ति को दो जातियाँ अथवा दो धर्म रखने का अधिकार नहीं था। जहाँ धार्मिक समन्वय देखा गया, वहाँ उसकी "अशिक्षित और असंस्कृत लोगों के धर्म के प्राचीन चरित्र" का नाम देकर उपेक्षा कर दी गई। जहाँ 1911 की जनगणना में हिंदू-मुस्लिम जैसे विभिन्न संप्रदाय दिखाई दिए, 1921 में सिंध के संजोगियों को छोड़कर उन्हें किसी एक संप्रदाय में दोबारा वर्गीकृत किया गया (भारतीय जनगणना, मार्टेन, 1921 : 115)। उसी समय जब जनगणना प्राधिकारियों ने जाति का मानकीकरण किया और उनकी संख्या घटाई तो उन्होंने पूर्णत: वैज्ञानिक दिखने के लिए और संपूर्ण सामाजिक क्षेत्र के बारे में बताने के लिए सभी प्रकार की उपजातियों को रिकार्ड करने पर भी बल दिया।

8.3 जनगणना और पहचान की राजनीति

जाति पर हाल ही का अधिकांश समाज विज्ञान साहित्य और भारतीय जनगणना माइकल फोकॉल्ट के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य का अनुसरण करते हैं जो पहचान बनाने में सरकार की 'तकनीकों' (यानी प्रशासनिक प्रक्रियाओं) पर जोर देता है। इसलिए, उनका तर्क था कि जाति तथा धर्म जनगणनाओं ने जाति तथा धार्मिक पहचानों को कठोर बना दिया (कॉन, 1990; पंत 1987; अप्पादुरई, 1993, कविराज, 1992) अपने आरंभिक और प्रभावी निबंध में, कॉन ने लिखा कि धर्म, भाषा, शिक्षा, जाति, व्यवसाय आदि के बारे में प्रश्न पूछने से जनगणना संस्कृति को 'वस्तुकृत' करती हैं और उसे संदर्भ से बाहर लाकर भारतीयों को स्वयं के बारे में प्रश्न पूछने के लिए स्थान उपलब्ध कराती है और उनके द्वारा पूछे गए प्रश्न अथवा उनके द्वारा प्रयुक्त परिभाषाएं वे थी जिन्हें अंग्रेज शासन के लिए प्रयोग करते थे (कॉन, 1990 : 230)। अप्पादुरई यह तर्क करते हुए और आगे चले गए कि "समुदाय की घातक राजनीति..... वर्तमान में मौजूद तीव्रता के साथ ना जाकर आधुनिक देश की तकनीकों के साथ संबंध के लिए जलेगी, विशेषकर उनके लिए जिनका संबंध संख्या से है" (अप्पादुरई, 1993 : 336)। पहचान से संबंधित सांख्यिकी महत्वपूर्ण बन गई जब समुदायों में संख्याओं के आधार पर सरकार से गारंटियों और लाभ की माँग की। प्रतिवेदन, जिसका अर्थ 'की ओर से' होता है और प्रतिनिधित्वता जिसका अर्थ 'किसी विशेष समुदाय से आने वाला' होता है में दुविधा पैदा हो गई (अप्पादुरई, 1993 : 32 देखें; कविराज 1992 भी देखें)। इसलिए उदाहरण के लिए यह विचार इस आधार पर सुदृढ़ हो गया कि राजपूत केवल किसी राजपूत उम्मीदवार को ही वोट करेंगे, हिंदू किसी हिंदू उम्मीदवार को

आदि। यही परिप्रेक्ष्य आज भी राजनीतिक पार्टियों द्वारा टिकट बाँटने के तरीके को नियंत्रित करता है।

हालांकि संपूर्ण जाति गतिशीलता का श्रेय केवल जनगणना को नहीं दिया जा सकता और जनगणना की गतिशीलता उन रूपों में से केवल एक रूप थी जो सार्वजनिक गतिविधि ने धारण किए। प्राय: जनगणना के आँकड़े, जाति गतिशीलता को पैदा करने वाले न होकर उसी का उत्पाद होते थे। उदाहरण के लिए, मैथिली भाषा आंदोलन के आधार पर, 1901, 1951 और 1961 के बीच मैथिली बोलने वालों की संख्या में काफी परिवर्तन हुआ (बर्घार्ट, 1993 : 787)। कॉनलोन ने नोट किया कि 1901 और 1931 के बीच चित्रपुर के सारस्वतों की शैक्षिक तथा व्यावसायिक प्रस्थिति में परिवर्तन खोजने का उसका प्रयास इस तथ्य पर लड़खड़ा गया कि यह समय चित्रपुर के सारस्वतों तथा गौड़ सारस्वतों के बीच जाति एकीकरण आंदोलन का समय था। गौड़ सारस्वत ब्राह्मणों के लिए भी आँकड़ों के प्रयोग से यह एक समस्या उत्पन्न हुई कि एकीकरण आंदोलन में भागीदारी स्वयं जाति के भीतर विवाद का विषय थी और इसलिए एकीकृत श्रेणी में सभी सारस्वत नहीं थे (कॉनलोन, 1981 : 115-116)। हाल ही में, शरद कुलकर्णी ने बताया है कि 1981 की जनगणना में जब जनजातियों से मिलते-जुलते नाम वाली अनेक गैर-जनजातियों ने स्वयं को जनजाति घोषित किया तो आरक्षण के संदर्भ में विश्वसनीयता को लेकर समस्या खड़ी हो गई। इसके कारण कुछ जनजातियों की परिवर्तित स्थिति की सही तस्वीर प्राप्त करना कठिन हो गया– जनसंख्या, शहरीकरण और शैक्षिक स्तर बढ़े हुए प्रतीत हुए जबकि वास्तव में, यह गलत घोषणाओं के कारण था (कुलकर्णी, 1991)।

केवल बड़ी संख्या होने के लाभ से संबंधित विचार ही नहीं (जैसे मैथिली का उदाहरण) बल्कि किसी विशिष्ट प्रस्थिति की घोषणा करने के लाभ संबंधी व्यक्तिगत विचार भी आँकड़ों को प्रभावित करते हैं। हालांकि जनगणना के विवरण गोपनीय होते हैं और इनका किसी और कार्य के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता, जनगणना की परिस्थितियों और यह तथ्य कि गणनाकार प्राय: कोई स्थानीय शिक्षक या कोई ऐसा ही व्यक्ति होता है (प्रतिवादी को व्यक्तिगत रूप से यदि ना भी जानता हो) प्रस्थिति के बारे में बात करने के लिए अवसर बना सकते हैं। यह स्पष्ट रूप से ऐसे आँकड़े होने के विरुद्ध तर्क नही हैं बल्कि ऐतिहासिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचे में मात्रिक डेटा को सावधानीपूर्वक संदर्भगत करने की आवश्यकता के पक्ष में तर्क है। कुछ समूहों की बदलती स्थितियों के अध्ययन के लिए जनगणना डेटा की माँग के दौरान व्यक्ति को उनके व्यवहारिक उपयोग की सीमा का अनुमान लगाते समय और डेटा के वस्तुनिष्ठ तथ्यों के रूप में अविवेकी उपयोग का देने वाली राजनीति से भी सावधान रहना चाहिए।

जनगणना के उद्देश्यों में परिवर्तन के साथ गतिशीलता का उद्देश्य भी परिवर्तित हो गया। विस्तृत राजनीति घटनाओं ने जनगणना डेटा के उपयोग और उसके प्रति जनता की प्रतिक्रिया दोनों को निर्धारित किया। इसलिए सांप्रदायिक पुरस्कार (विधानसभाओं में) और विभाजन की संभावना के कारण 1931 और 1941 की जनगणना में हिंदुओं और मुसल्मानों के तुल्नात्मक आँकड़े एक मुद्दा बन गए; 1951 की जनगणना के दौरान बहुभाषी तालुकों में विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों के विघटन की आवश्यकता राज्यों के भाषा आधारित पुनर्गठन के लिए आधार के रूप में महत्वपूर्ण हो गई। अंत में 1921 के बाद से, आर्थिक मुद्दों का महत्व बढ़ गया। देश के विकास के साथ, जातियों के बीच भेद के संदर्भ में, राष्ट्रों के बीच तुलनात्मक सांख्यिकी महत्वपूर्ण हो गई जिसमें शिक्षा, व्यवसाय, शहरीकरण का स्तर आदि के सूचकों के साथ एक राष्ट्र की जनसंख्या के आँकड़ों को दूसरे राष्ट्र के आँकड़ों के विरुद्ध रखा गया। बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि 'राष्ट्र' (अथवा राष्ट्र के अंतर्गत वर्चस्वधारी समूह) किसी विशिष्ट समय पर स्वयं को किस प्रकार परिभाषित करता है और इसमें परिवर्तन के साथ पहचान और समृद्धि के सूचकांक भी परिवर्तित होते हैं (उदाहरण के लिए लिंग अनुपात महिला कार्यबल भागीदारी अथवा संपत्ति अधिकारों के संदर्भ में अधिक लिंग संवेदी सूचकांक रखने के लिए संघर्ष हुआ है (महिला विकास अध्ययन केंद्र, 1998 देखें)।

मोटे तौर पर ऐसे तीन क्षेत्र थे जिनमें जनगणना में आरोपित पहचान के आसपास गतिशीलता ने उपनिवेशीकाल के दौरान स्वयं को व्यक्त किया था : याचिकाओं में उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करने की दृष्टि से बदले गए जातियों के नाम होने चाहिए; जाति संबंधित ब्यौरे की आवश्यकता पर प्रश्न सहित प्रश्नों के रूप में संबंध में शिकायतें; और तीसरे, गणनाकारों पूर्वाग्रहों के बारे में शिकायते। जनगणना आयुक्तों की प्रतिक्रियाएँ प्राय: बाद वाले दो रूपों के प्रति नकारात्मक होती थी जबकि पहले वाले को उस नियंत्रण के प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया गया जो धर्म और जाति जैसी श्रेणियों का भारतीयों पर था। हम इन सभी पर बात करेंगे और उस तरीके को भी देखेंगे जिसमें जनगणना प्रश्नों और तालिकाओं की रचना ने राजनीतिक विवादों, उत्तरों के रूप तथा जनगणना प्राधिकारी की प्रतिक्रिया को जन्म दिया।

क) जाति-नामों अथवा वर्गीकरण में परिवर्तनों से संबंधित याचिकाएँ : जनगणना प्रश्नावलियों द्वारा आरंभ की गई यह सर्वाधिक सामान्य प्रतिक्रिया थी और पिछड़े वर्ग के आयोगों को दिए जाने वाले प्रतिवेदनों के स्तर पर आज भी मौजूद हैं (दही वाले, 1998; रेड्डी, 1990 : 32)। हालाँकि 1871 से जातियों की गणना की गई, सही अर्थ में 1909 में रिसले द्वारा 'सामाजिक उदाहरणों पर निवासीमत' के अनुसार जातियों को क्रमबद्ध किए जाने के बाद, ये माँगे अधिक एवं सुदृढ़ हो गयीं। रिसले ने इसे अपने सिद्धातों की सुदृढ़ता का प्रमाण माना "यदि वह सिद्धांत जिस पर वर्गीकरण आधारित था, हिंदुओं की बड़ी जनसंख्या के अनुप्रयोगों और प्रथाओं को रास नहीं आया होता तो यह कल्पना करना असंभव है कि इतने लोगों ने किसी विशिष्ट तरीके से इसके अनुप्रयोग को बनाए रखने के उद्देश्य से इतनी कठिनाई उठाई होती है और इतना अधिक व्यय किया होता"। (रिसले, 1903 : 539)। किंतु समस्या यह है कि जातियों ने स्वयं को उपनिवेशीय सरकार द्वारा तरक्की के लिए प्रदत्त नए क्षेत्रों के अनुसार ढाल लिया। चूंकि रिसले ने यह निष्कर्ष निकाला था कि विधवा पुनर्विवाह और बालिका हत्या की प्रथा की अनुपस्थिति उच्च प्रस्थिति का प्रमाण थे, अनेक जातियों ने सरकारी खेमों में अपनी प्रस्थिति को बेहतर बनाने के लिए इन प्रथाओं का अनुसरण करने का दावा किया।

उच्च प्रस्थिति वाले नामों के कुछ दावे, नामों में समानताओं पर आधारित थे जिन्हें जाति प्रथाओं पर सम्मानित व्यक्तियों के शपथपत्रों के माध्यम से समर्थन मिला जैसे उदाहरण के लिए, खत्रियों का यह दावा कि उनका नाम वास्तव में क्षेत्रिय से बिगड़ कर बना है (गृह विभाग जनगणना भाग 'क' जून 1901, प्रो. स. 12-13, एन.ए.आई.)। विश्वब्राह्मणों और नमोब्राह्मण जैसों की अनेक जाति-याचिकाओं ने अन्य उपजातियों के ईर्ष्यालु ब्राह्मणों पर उन्हें दबाए रखना का आरोप लगाया और लोधी राजपूतों और विश्वब्राह्मणों ने अपनी ब्राह्मणीय अथवा क्षत्रिय प्रथाओं के प्रमाण के रूप में आरंभिक उपनिवेशी मानवजाति वर्णनों का उदाहरण दिया जैसे एंथोवन की 'ट्राईब्स एंड कास्ट्स ऑफ बोम्बे' अथवा टॉड की 'ऐनल्स' (गृह-जनगणना माग 'ख', जुलाई 1901 खत्रीयों पर प्रो. ½ ; नमोब्राह्मणों पर गृह सार्वजनिक, मिसिल सं. 45/75/30 सार्वजनिक, लोधी राजपूतों पर गृह सार्वजनिक मि. स. 45/52/30, विश्वब्राह्मणों पर गृह सार्वजनिक मि.स. 45/98/1930, सैनी खत्रीयों पर गृह सार्वजनिक मि.स. 45/44/30, सभी एन.ए.आई. में)।

कुछ ऐसी भी याचिकाएं थी जिनका संबंध सीधे तौर पर प्रस्थिति से नहीं था बल्कि उनके केवल एक बड़े समूह से अलग गणना की मांग थी अथवा अनेक उपजातियों को एक वंशागत जाति नाम, जैसे अखिल भारतीय यादव सभा, में विलय की माँग थी और यह व्यक्त किया गया था कि यादवों के सभी समूहों को यादव कहा जाए। एक मिसिल में ऐसी पैसठ याचिकाओं की सूची है (गृहसार्वजनिक मि.स. 45/11/41, भाग I और II, जनगणना के संदर्भ में उत्पन्न सांप्रदायिक हितों के मामलों के बारे में विभिन्न समुदायों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं की शिकायतें या आवेदन, एन.ए.आई.)।

जनगणना के स्तर पर शायद इसमें नाम के परिवर्तन से अधिक गंभीर कुछ नहीं था किंतु इससे अधिक महत्वपूर्ण वह विस्तृत प्रक्रियाएं थी जिन्हें इसने आरंभ किया था। आरंभ में

विघटित उपजातियों अथवा जातियों ने जाति सभाएं बनाकर स्वयं को 'मान्यता' प्रदान की। जहाँ छात्रवृत्तियों अथवा सेना में भर्ती के रूप में बड़े हुए भौतिक लाभों की मांग उनकी मांगों का एक महत्पूर्ण अंश थी (कॉन, 1990 : 249 देखें), उनकी अपने समुदायों आदि को छात्रवृत्ति देने वाले आंतरिक सामाजिक सुधार भी सामान्य थे। पंडित रेवती प्रसाद शर्मा द्वारा शुरू किया गया पैंफलेट "नाई : एक ब्राह्मण" जो नाइयों को ब्राह्मण का दर्जा करने के दावों का एक भाग था, अपने जाति भाईयों का आह्वान करते हुए कहता है : "साथियों! संपूर्ण भारत में इस समुदाय के सभी शिक्षित सदस्यों! आइए हम सब अखिल भारतीय नाई-ब्राह्मण महासभा के झंडे के नीचे एकजुट होकर समाज को सुधारने, धनराशि एकत्रित करने, छात्रवृत्तियां देने और अपने समुदाय को शिक्षा तथा बल प्रदान करने के तरीकों पर विचार करें (पंडित रेवती प्रसाद शर्मा, नाई : एक ब्राह्मण, नाई-ब्राह्मण प्रकाशन समिति, बनारस, जनवरी 1931, पृष्ठ 71; गृह सार्वजनिक मि.स. 45/39/31, एन.ए.आई.)।

जाति याचिकाओं की इस बौछार पर जनगणना आयुक्तों की प्रतिक्रियाएं प्राय: रोचकता से भरी झल्लाहट की होती थी। यदि धार्मिक अथवा सामाजिक ज्ञान के संदर्भ में आयुक्तों के पास कोई अधिकार नहीं होता था तो भी वे परिवर्तन के पक्ष में अथवा विरोध में निर्णय देते थे। कई बार वे उपेक्षा भी करते थे। उदाहरण के लिए 1931 में जनगणना आयुक्त, जे.एच.हट्टन, ने नमो ब्राह्मण मामले में लिखा कि जब तक कोई समुदाय एक जनगणना से उगली जनगणना तक पहचाना जा सकता था तब तक इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्हें क्या कहा जाता था (मि.स. 45/75/30- सार्वजनिक, एन.ए.आई)।

जाति याचिकाओं की इस बौछार पर जनगणना आयुक्तों की प्रतिक्रियाएं प्राय: रोचकता से भरी झल्लाहट की होती थी। यदि धार्मिक अथवा सामाजिक ज्ञान के संदर्भ में आयुक्तों के पास कोई अधिकार नहीं होता था तो भी वे परिवर्तन के पक्ष में अथवा विरोध में निर्णय देते थे। कई बार वे उपेक्षा भी करते थे। उदाहरण के लिए 1931 में जनगणना आयुक्त, जे.एच.हट्टन, ने नमो ब्राह्मण मामले में लिखा कि जब तक कोई समुदाय एक जनगणना से अगली जनगणना तक पहचाना जा सकता था तब तक इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्हें क्या कहा जाता था (मि.स. 45/75/30- सार्वजनिक, एन.ए.आई.)।

ख) प्रश्नावलियों अथवा तालिकाओं के रूप में संबंध में शिकायतें : 1930 और 1940 के दशक के दौरान दो प्रमुख संदर्भ थे जिनमें उन प्रारूपों के बारे में शिकायतें थी जिनमें प्रतिवादियों को ब्यौरा देने के लिए कहा जाता था। एक प्रकार से, दोनों बढ़ते हुए हिंदू सांप्रदायिक प्रबलता से जुड़े हुए थे, हालाँकि ऊपरी तौर पर ये जातियों को रिकॉर्ड करने से संबंधित थे (जनगणना में धार्मिक पहचान के पूर्ण विवरण के लिए जोन्स, 1981 देखें)। इसी के साथ, इनके उत्तर भारतीय समाज के उपनिवेशीय रूप के प्रति दृढ़ वचन बद्धता को उजागर करते हैं और विघटनकारी जाति तथा धार्मिक श्रेणियां इनकी विशेषताएँ हैं।

पहली याचिका विभिन्न हिंदू सभाओं तथा लाहौर में आर्य समाज से जुड़ी एक संस्था, जात पात तोड़क मंडल द्वारा दी गई थी जिसमें जनगणना में जाति संबंधित ब्यौरे को ना देने के लिए कहा गया था (गृह सार्वजनिक मि.स. 45/46/30; गृह सार्वजनिक मि.स. 45/67/1930 में 15.9.1930 को बंगाल हिंदू सभा की कार्यकारी समिति की बैठक में पारित प्रस्ताव संख्या 4; मि.स. 45/65/30, सभी एन.ए.आई में)। जातपात तोड़क मंडल व्यस्क हिंदुओं का एक समाज था जिन्होंने या तो स्वयं या अपने बच्चों के लिए अंतर्जातिय विवाह में प्रवेश करने का प्रण लिया था। जनगणना में उन लोगों के लिए जाति ब्यौरे देने की आवश्यकता को माफ करने, जिनका उसमें विश्वास नहीं था, की बात अपनी याचिका में कहते हुए उन्होंने यह तर्क दिया कि चूंकि जाति व्यवस्था हिंदूधर्म का आवश्यक अंग नहीं थी, उसने समुदाय की तरक्की को रोका था और अनेक शिक्षित वर्ग पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के कारण काफी बदल गए थे, "ऐसे लोगों का भारी बहुतम हैं ..... जो जाति की

उपयोगिता में अपना विश्वास खो चुके हैं।" उन्होंने बल दिया कि "किसी ऐसे व्यक्ति के नाम के आगे उसकी जाति लिखना, जो उसमें विश्वास नहीं करता, उसके ऊपर जाति थोपना जैसा होगा" और यह कहा कि "जनगणना लिपिकों से उनके निजी ज्ञान को जनगणना के कार्यों में लेकर आने की ना तो अपेक्षा की जाती है और ना ही उन्हें ऐसा करना चाहिए।" (जातपात तोड़क मंडल, लाहौर की याचिका, 18 अगस्त 1930, गृह सार्वजनिक मि.स. 45/46/30, एन.ए.आई.)। हिंदू महासभा जाति जनगणना नहीं चाहती थी ताकि वह दिखा सके कि हिंदुओं की संख्या अधिक थी और वह मुसलमानों के प्रतिवेदन की माँगों को टक्कर दे सकें (जोन्स, 1981 : 89 देखें)। मुस्लिम लीग भी इसी प्रकार मुसलमानों में जातियां रिकार्ड करने के विचार के विरुद्ध थी। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि जहाँ एक ओर वह विभिन्न सुधार संप्रदायों के जैसे "आत्मनिष्ठ बाधकों" को स्वयं को बिना जाति का बताने की अनुमति देने के लिए तैयार थी, वहीं उसने सामाजिक रूप से जाति नियमों का पालन करने की स्थिति में प्रश्न के उत्तर देने से इंकार करने वाले रूढ़िवादी हिंदुओं पर आपत्ति जताई।

इस तथ्य को कि 1931 में 238 लाख हिंदुओं में से 1.8 लाख ने 'जाति रहित' होने का ब्यौरा दिया, बाद में इस बात के प्रमाण के रूप में दर्शाया गया कि भारतीय जाति के प्रति अत्यधिक सजग थे (गृह सार्वजनिक मि.स. 1/1/39, एन.ए.आई.)। यह सत्य है कि यह बहुत छोटा आँकड़ा है, यह भी उतना ही स्पष्ट है कि अधिकांश को 'जाति रहित' का ब्यौरा देने का विकल्प नहीं दिया गया था। यदि प्रतिवादियों ने अपनी जाति का ब्यौरा नहीं भी दिया होता तो भी गणनाकारों ने उनके लिए यह कार्य कर दिया होता। वास्तव में 1941 में जाति रहित होने का ब्यौरा देने वाले लोगों की संख्या विशेषकर बंगाल में इतनी अधिक थी कि जनगणना आयुक्त यह लिखने के लिए प्रेरित हो गया कि 'समुदाय' प्रश्न के पक्ष में समय के साथ जाति प्रश्न को आसानी से उपेक्षित किया जा सकेगा (एम.डब्ल्यू. एम. यीट्स द्वारा भारतीय जनगणना 1941, खंड 1, भाग 1। भारत सरकार : भारत सरकार प्रेस, शिमला)।

हिंदू महासभा की एक और मुख्य माँग थी कि आदिवासियों को हिंदू दिखाया जाना चाहिए (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/57/31, असम की एक स्थानीय हिंदू सभा के प्रस्ताव पर, एन.ए.आई.)। इस अवधि के दौरान, हिंदू सभाएँ भी सक्रिय थीं और उन्होंने जनजातियों के और हिंदुओं के धर्म में समानताओं को उजागर किया। आदिवासियों को हिंदू कहे जाने की माँग छोटा नागपुर में अत्यंत कठोर थी। अक्टूबर और दिसबंर 1940 के बीच 'सनातनी आदिवासियों' की ग्राम बैठकें हुईं, गैर-ईसाई आदिवासियों के लिए जनजातीय नाम रिकॉर्ड करने के लिए प्रस्ताव पारित किए गए और समाचार-पत्रों में उन्हें छपवाया गया (इंडियन नेशन, अमृत बाज़ार पत्रिका, सर्चलाइट)। बैठकों की अध्यक्षता करने वाले अथवा जनगणना आयुक्त बनकर डेप्यूरेशन पर जाने वाले अधिकांश लोग, हालांकि हिंदू शहरी लोग थे जो आदिवासियों को नीची निगाह से देखते थे। उनके विचार 'अमृत बाज़ार पत्रिका के सपांदकीय में छापे गए : "वैसे, ये जनजातीय धर्म क्या है? इसके सिद्धांत क्या हैं? क्या ऐसी कोई चीज वास्तव में इस देश में मौजूद है?" (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/39/40, एन.ए.आई.)।

इसके विरुद्ध, बिहार सरकार में आदिवासियों और उनकी संस्थाओं से अनेक याचिकाएँ प्राप्त हुई जिनमें यह दावा किया गया कि जनगणना निर्देश जारी करने से पूर्व उनको नहीं सुना गया (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/39/40, एन.ए.आई.)। 9 मार्च 1940 को, मुसलमानों की एक विशाल सभा आयोजित की गई जिसमें अनेक अ.जा. और आदिवासी प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया और यह सभा हिंदुओं की 6 तारीख को हुई सभा के विरोध में थी। ऐसी शिकायतें थीं कि हिंदू गणनाकारों ने काँग्रेस और महासभा के पर्चे बँटवाए थे जिनमें यह गलत सूचना थी कि सरकार ने यह निर्देश दिए थे कि आदिवासियों को हिंदू दर्ज किया जाना है (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/11/41, एन.ए.आई.)।

ऐसी ही समस्याएँ इस संदर्भ में देखी गई कि हिंदू महासभा और कुछ सिख तथा जैन संस्थाओं द्वारा सिखों तथा जैनियों को हिंदू दर्शाने की माँग के चलते, इन्हें कैसे दर्शाया जाए (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/4/31; गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/47/30, उड़ासी साधुओं की याचिका, एन.ए.आई.) और सिखों, जैनियों बौद्धों और अनुसूचित जाति संगठनों के प्रतिनिधियों ने सव्यं को हिंदू दशार्ये जाने के विरुद्ध अनेक शिकायतें की और 'अनेक स्वयंसेवकों, गणनाकारों तथा पर्यवेक्षकों' के माध्यम से हिंदू महासभा के दबाव की ओर भी इशारा किया (गृह सार्वजनिक मि.स. 3/1/91, गणनाकारों द्वारा सिक्खों को सिक्ख ना दर्शाने के विरोध पर गृह सार्वजनिक मि.स. 45/55/31, एन.ए.आई)। देशभर के जैन संगठनों द्वारा हस्ताक्षरित याचिकाओं में यह लिखा था कि उनका समुदाय अशिक्षित होने के कारण और उनके बिखरे हुए होने के कारण हिंदुओं द्वारा उनमें मिला लिए जाने के खतरे से जूझ रहा था। "समुदाय की समस्याओं के अध्ययन के लिए और उसके स्वतंत्र समुदाय की चेतना को जीवित रखने के लिए भी इस खाने का बहुत महत्व है।" (हिंदू महासभा के जैनी विरोध पर मिसिल स. 45/13/1930, एन.ए.आई.)।

ऐसे ही कारण इस बात के हो सकते थे कि एक दमिल जाति जिनसे स्वयं अपनी संस्कृति को विकसित किया, स्वयं को अलग रखने की चेतना को क्यों बनाए रखना चाहेगी (ओम वैट, 1998 देखें)।

पंजाब में छुहरा जैसी दलित जातियों ने स्वयं को सिक्ख दर्ज करने अथवा सिक्ख और हिंदू गणनाकार द्वारा हिंदू दर्ज कराए जाने के दबाव की शिकायत की कि उनके धर्म को अर्द्धधर्म लिखा जाए। शुरू में हट्टन ने इस प्रस्ताव का इस आधार पर विरोध किया कि चूंकि उनकी असमर्थता का कारण उनके हिंदू होने की वजह से था, उन्हें हिंदू दर्ज किया जाना चाहिए और इस प्रकार जाति को आर्थिक आधार न देकर शुद्धता तथा अशुद्धता के साथ आंतरिक तौर पर बंधे हुए पक्ष को उजागर किया (गृह सार्वजनिक 45/56/30, एन.ए. आई)। जाति की यही अवधारणा, अन्य धर्मों के दलितों, जैसे दलित ईसाइयों को आरक्षण न देने की वर्तमान नीति में भी दिखाई देती है।

संक्षेप में, 1931 तथा 1941 की जनगणनाओं को विभाजन और स्वतंत्रता से पूर्व के वर्षों में उन सांप्रदायिक ताकतों के बीच विवादों में घसीटा गया जो दूसरों की कीमत पर अपनी संख्या बढ़ाना चाहती थी। इस दौरान, आदिवासियों और जैनियों तथा सिक्खों जैसे अन्य समूहों के विशिष्ट धर्म और संस्कृति खतरे में पड़ गए।

ग) **गणनाकार के लिखाफ शिकायतें** : 1931 और 1941 की जनगणनाओं की तैयारी के दौरान और उसके तुरंत बाद गणनाकार द्वारा एक न एक समुदाय की संख्याओं को बढ़ाने के रूझान के खिलाफ अनेक शिकायतें थी। यह सबसे बड़ा और संभवत: सबसे उग्र मुद्दा था जिसके इर्द-गिर्द गतिशीलता का आरंभ हुआ।

8 मार्च 1831 को लाहौर के इंकलाब में छपी एक रिपोर्ट में कहा गया कि जनगणना के दौरान उनके मुसलमानों को छोड़ दिया गया और जिनकी गणना की भी गई उनके ब्यौरे नष्ट कर दिए गए थे। मोगा में, इस बात के बावजूद कि लोग गणनाकार की आधी रात तक प्रतीक्षा कर रहे, अनेक मुसलमान गलियों को, विशेषकर जामा मस्जिद के आसपास की गलियों को छोड़ दिया गया था (1941 तक, जनगणना का कार्य एक रात में, विशेकर पूर्णिमा की रात और किसी प्रमुख मेले अथवा त्यौहार की रात को होता था जब लोग अपने घरों से बाहर होते थे)। जमादारों और चमारों को भी हिंदू और सिक्ख दिखाया गया था जबकि स्वयं को अधर्मी कहने वालों के साथ दुर्व्यवहार किया गया था। हिंदू जनगणना समिति, लुधियाना के एक पत्र में मुसलमानों द्वारा भारी मात्रा में अनियमित तरीके से की गई जनगणना का विरोध किया गया था जिसके कारण हिंदुओं की संख्या घट गई और उसमें दोबारा से जनगणना की माँग की गई थी।

फरवरी और मार्च 1941 के लिए इंटैलिजेंस ब्यूरो की रिपोर्ट इस मुद्दे पर बढ़ते हुए शेष के दर्शाती है। ऊपरी तौर पर, 8 फरवरी को मुस्लिम केंद्रीय जनगणना बोर्ड की बंगाल में एक गुप्त बैठक में प्रचार के उद्देश्य से जनगणना सप्ताह मनाने का निर्णय लिया गया। पंजाब में गुजरांवाला के एक गाँव में "गणना के दौरान मुसलमान पटवारियों पर पक्षपात का आरोप लगाने वाले हिंदुओं और सिक्खों के खिलाफ मुसलमानों द्वारा बदले की भावना से प्रेरित होकर" एक गुरूद्वारे को जलाने के प्रयास की रिपोर्ट थी। लाहौर के अनेक हिस्सों में जनगणना हुई ही नहीं। (इंटेलिजेंस ब्यूरो के दैनिक सूचना सारांश 3 फरवरी 1941 से उद्धृत; मार्च 1941 के उत्तरार्ध के लिए पंजाब की स्थिति पर रिपोर्ट, सी.आई,ओ. लाहौर की दैनिक रिपोर्ट, 3 मार्च 1941, सभी गृह सार्वजनिक मि.स. 45/11/41, एन.ए. आई. में)।

मुस्लिम लीग ने यह शिकायत की कि हिंदू महासभा बंगाल में कुछ सीमा तक जनगणना को प्रभावित करने में सफल रही थी जैसाकि अखिल बंगाल हिंदू महासभा जनगणना बोर्ड द्वारा 5 मार्च 1941 को जारी एक वक्तव्य में दर्शाया गया जिसमें "उन हजारों गणनाकारों, पर्यवेक्षकों और स्वयंसेवी जनगणना कार्यकर्ताओं को धन्यवाद दिया गया था जिन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सेवाएं दी और हिंदुओं की गणना के लिए रात-दिन मेहनत की" (गृह सार्वजनिक मि.स. 45/11/41, एन.ए.आई.)।

गृह सदस्य, रेजीनाल्ड माक्सवेल को एम.एस.ऐनी तथा भाई परमानंद द्वारा दी गई एक माँग यह थी कि हिंदू और मुसलमान गणनाकारों के कार्य की जाँच दूसरे धर्म के पर्यवेक्षकों द्वारा होनी चाहिए (गृह सार्वजनिक, मि.सं. 45/39/40, एन.ए.आई.)। बंगाल में, बगांल काँग्रेस संसदीय पार्टी ने यह प्रस्ताव रखा कि केवल संयुक्त गणनाकारों से ही जनता में आस्था जाग सकती है, जो एक ऐसी माँग थी जिससे मुस्लिम लीग के नीचे बंगाल सरकार भी सहमत थी (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/40/40, एन.ए.आइ.)।

बाहरी जाँच और संयुक्त गणनाकारों का प्रस्ताव पीट्स द्वारा प्रशासनिक (दोनों धर्मों के गणनाकार पर्याप्त नहीं थे, उनके बीच विवाद को सुलझाने के लिए कोई पद्धति नहीं थी, आदि) और सैद्धांतिक दोनों कारणों से ठुकरा दिया गया। (गृह सार्वजनिक मि.सं. 45/40/40, बगांल पत्र 21.12.1940 पर पीट्स की टिप्पणी)। गणनाकारों की निष्पक्षता का पक्ष लेते हुए और जनगणना की सफलता को प्रतिवादियों पर आधारित बताते हुए, उसने यह भी कहा "बगांल सरकार की भांति, बगांल के नागरिकों पर अविश्वास करने का विकल्प, संपूर्ण तथ्य को मजाक बनाना नहीं है बल्कि उसे पूर्णत: त्याग देने और यह कहने का है कि 'बगांल के नागरिकों पर विश्वास नहीं किया जा सकता अत: हम जनगणना नहीं कर रहे हैं।" 1931 और 1941 में, जनगणना में बाहरी हस्तक्षेप की माँग को न मानते हुए, जनगणना प्राधिकारियों ने यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि जहाँ तक संभव हो, गणनाकार उसी समुदाय के हों, जिसके अधिकांश गणना किए गए व्यक्ति हों, जबकि विशिष्ट वर्गों जैसे, असम, बगांल और पंजाब के लिए, स्वतंत्र गणनाकारों तथा जनगणना पर्यवेक्षकों को प्राथमिकता दी जाती थी। इस कार्य के लिए यूरोपीय लोगों को श्रेष्ठ माना जाता था।

भाषा एक अन्य मुद्दा था, उदाहरण के लिए 1931 में गंजम में, जहाँ उड़िया तथा तेलुगू बोलने वालों के प्रतिशत को लेकर अत्यधिक तनाव था। विभिन्न समूहों ने याचिकाएं दी थी जिनमें उन्हें उड़िया, तेगलू के रूप में मान्यता देने की मांग की गई थी (गृह सार्वजनिक मि.स. 45/56/31; मि.स. 171/31; मि.सं. 328/21; मि.सं. 45/66/31, एन.ए.आई.)। गंजम सेनालीग के अध्यक्ष राव साहिब एन. रामामूर्ति ने बताया कि 1901 की जनगणना में अधिकतर उड़िया गणनाकारों के होने के कारण उड़िया बोलने वालों का प्रतिशित बहुत अधिक था और उन्होंने सवालों का उड़िया में सभी जवाब देने वालों को उड़ियाभाषी दर्शाया था और इसके साथ यह तथ्य भी जुड़ा हुआ था कि उड़ियाभाषियों के लिए विद्यालय

की फीस तेलगू वालों या अन्य की तुलना में लगभग आधी थी। किंतु यहाँ भी बाहर वालों से ब्यौरे की जाँच के लिए प्रार्थना अस्वीकार कर दी गई और एक निष्पक्ष अधिकारी नियुक्त करने की मांग को मान लिया गया (गृह सार्वजनिक मि.स.1/12/31, एन.ए.आई.)।

सारांश में, जनसंख्या को नापने के लिए सांस्कृतिक वर्गीकरण का प्रयोग सूक्ष्म रूप से घातक रहा है जिसके फलस्वरूप जनगणना नाकारात्मक प्रभावों सहित गहन राजनीति का स्रोत रहा है। हालांकि केवल जाति को लोकतंत्र के लिए नाकारात्मक परिणामों का धारक मानकर अलग रखा गया है। और इसलिए इसकी गणना नहीं की गई, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, धार्मिक ब्यौरे भी समान रूप से विवादास्पद रहे हैं। 2001 की जनगणना में एक बार फिर झारखंड में विवाद हुआ जिसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने यह मांग की कि आदिवासियों को हिंदू गिना जाए और आदिवासी मुखियाओं ने उनके अपने धर्म को मान्यता प्रदान करने की मांग की। धर्म पर 2001 में की गई जनगणना का डेटा जिसमें हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों की वृद्धिदर अधिक दर्शायी गई थी, स्व.संघ द्वारा यह दिखने के लिए लिया गया था कि मुसलमानों की संख्या हिंदुओं की कीमत पर बढ़ रही थी। अंत में आँकड़ों को गलत पाया गया क्योंकि इनमें जम्मू और कश्मीर तथा असम में पहले जनगणना ना हो सकने के तथ्य को ध्यान में नहीं रखा गया था।

सोचिए और कीजिए 8.1

लोगों में जनगणना द्वारा प्रेरित जातिगत पहचान में एक श्रेणी के रूप में जाति का समावेश/चर्चा कीजिए।

8.4 जाति के समाजशास्त्रीय बोध पर जनगणना का प्रभाव

ऐतिहासिक रूप से, मानव विज्ञान और जनसांख्यिकी नजदीक से जुड़े हुए हैं। जैसा कि कॉन ने लिखा, "यह कहना अतिश्योक्ति नही होगी कि 1950 तक भारतीय जाति व्यवस्था की प्रकृति, संरचना और प्रकार्य पर विद्वानों और वैज्ञानिकों के मत मुख्यत: जनगणना के कार्य से उत्पन्न डेटा और अवधारणाओं द्वारा बनते थे।" अधिकांशत:, यह इस कारण था कि 1850 से 1950 तक जातिप्रथा पर अधिकतर लेखन उन अधिकारियों द्वारा किया गया जो कभी भारत या उसके किसी जनपद के जनगणना अधीक्षक रहे थे (कॉन, 1990 : 242)। जनगणना स्वयं राज्य द्वारा मानवजाति वर्णन संबंधी डेटा पर शोध में आर्थिक मदद के लिए अवसर प्रदान करती थी जब व्यावसायिक मानव विज्ञानियों के लिए अवसर कम होते थे (विशिष्ट जातियों और जनजातियों पर विनंबंध, मेलों और त्यौहारों के सर्वेक्षण, भाषा विज्ञान अध्ययन और गाँवों तथा शहरी क्षेत्रों के सर्वेक्षणों सहित जनगणना के रूप में किए गए मानवविज्ञानी अध्ययनों की सूची लिए पद्मनाम 1978 देखें)। फिर भी 1941 तक जनगणना आयुक्त मानव विज्ञान को जनगणना से अलग करने का समर्थन करता था। जिससे दोनों को लाभ हो सके : "एक प्रचलित मत मौजूद है कि भारतीय जनगणना का मुख्य उद्देश्य मानव विज्ञान संबंधी हैं..... जनगणना के साथ मानवविज्ञान के इस अत्यधिक संगठन का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह था कि देशभर की दृढ़ता का मूलभूत महत्व धुंधला हो गया जिसे बचाए रखने का एकमात्र तरीका जनगणना था..... .... इसने भारत में मानव विज्ञान संबंधी कार्य के उपयुक्त मनन और आर्थिक मदद पर भी दुष्प्रभाव डाला होगा। ऐसे कार्य प्रतिवर्ष किए जाने चाहिए और इन्हें दस वर्ष की निर्मित अवधि में बलात नहीं किया जाना चाहिए" (भारतीय जनगणना, यीट्स, 1941, खंड 1, भाग 1 : 2)।

मूलभूत स्तर और बृहत जुड़ाव दोनों पर पहचान किए जाने योग्य मापदंडों के लिए जनगणना की आवश्यकता का एक परिणाम यह था कि जैसा कि पंत ने लिखा है, जाति का तात्विकरण': जाति एक इकाई बन गए जिसमें "किसी सामाजिक समूह का नाम, सदस्यों की संख्या, शरीरिक विशेषताएं, सांस्कृतिक प्रथाएँ उनका आवसीय क्षेत्र, संक्षेप में सभी सूचनाओं का योग होता था जो अनेक सर्वेक्षणों के बाद और विभिन्न प्रतिवादियों से प्राप्त होता था जिनका सामाजिक

दृष्टिकोण समान नहीं थी" (पंत, 1987 : 161)। अध्ययनों की बड़ी संख्या पर इसका प्रभाव स्पष्ट था जिसमें जाति व्यवस्था के स्रोतों, प्रजाति, व्यवसाय, सांस्कृतिक, पारिस्थितिक स्पष्टीकरण) पर काफी बहस हुई; जाति की स्पष्ट विशेषताएं (जैसे सजातीय विवाह, सहभोज्यता पर प्रतिबंध); जाति की प्रभावी इकाई (उपजाति, जाति समूह, वर्ण); जाति के स्थान का निर्धारण करने वाले सिद्धांत (शुद्धता-अशुद्धि अन्योन्यक्रियात्मक); जाति व्यवस्था के भीतर और विरूद्ध गतिशीलता (संस्कृतकरण, वर्चस्वधारी जाति प्रतिस्पर्धा, पाश्चात्यकरण की अवधारणाएं, भारतीय मूल्यों पर जोर आदि); क्या जाति भारत के लिए विशिष्ट है अथवा क्या वह स्तरीकरण का सीमित रूप है; और क्या जाति के प्रति विरोध उसकी अपनी ही श्रेणियों के भीतर हो सकता है अथवा संपूर्ण जाति व्यवस्था के विरुद्ध हो सकता है। इन सभी में वर्तमान जातियों को इकाइयों के रूप में लिया जाता है। इसके स्थान पर हमें ऐसे अध्ययनों की आवश्यकता है जो विस्तृत राजनीतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक विकास के उत्तर में, जाति को एक व्यवस्था के रूप में (और व्यक्तिजातियों का संयोजन) परिवर्तित होने के तरीके की जाँच कर सकें।

सोचिए और कीजिए 8.2

जनगणना कार्य में क्या जाति एक आवश्यक समाजशास्त्रीय श्रेणी है? चर्चा कीजिए।

8.5 जनगणना में जाति के समावेश पर विवाद

सभी प्रशासनिक कदमों की भांति, जाति गणना के लोगों के विभिन्न समूहों के लिए लाभ तथा हानि देखे गए हैं। जाति गणना के विराधी जनगणना में जाति पर गतिशीलता के गत अनुभव तथा जाति झगड़ों के वर्तमान सदंर्भ की ओर इशारा करते हुए यह तर्क देते हैं कि नए सिरे से गणना करने से नवीन गतिशीलता और जाति पहचानों को अधिक दृढ़ता मिलती है (श्रीनिवास, 1998, बेटीली 1998)। यह भी तर्क दिया जाता है कि ऐसी गतिशीलता, डेटा की गुणवत्ता को खराब कर देगी। वास्तव में, जनगणना के दौरान, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों से संबंधित एकत्रित डेटा पर पहले से ही राजनीतिक हस्तक्षेप होता है। सिंह (1992 : 25) ने लिखा है कि न्यायालयों में विभिन्न समुदायों द्वारा आरक्षण प्राप्त करने के लिए अ.जा. या अ. ज.जा. का दर्जा लेने हेतु हजारों मामले विचाराधीन हैं। अन्य क्षेत्रों में, हालांकि, वे उच्च प्रथागत प्रस्थिति का दावा करते हैं (आरक्षण के संदर्भ में झूठे ब्यौरों के लिए कुलकर्णी, 1991; रॉयबर्मन 1998 भी देखें)। कुछ समाजशास्त्रीयों का यह भी तर्क है कि नामों की बहुलता तथा संदर्भगत तरीक से उनके प्रयोग के कारण जाति संबंधित डेटा एकत्रित करना कठिन होता है और प्रवास, आधुनिक रोजगार पद्धतियो, अंतर-जातीय विवाहों आदि में होने वाले परिवर्तनों के कारण यह समस्या बिगड़ गई है (ए.एम.शाह, 1998 ; जी. शाह, 1998)।

आमतौर पर लागत, सामाजिक विवाद में वृद्धि तथा वैज्ञानिक दिखने वाले किंतु वास्तविक रूप से अविश्वसनीय डेटा के संदर्भ में राष्ट्र को क्षति होगी।

जातिगणना के समर्थक यह तर्क देते हैं कि जाति का माप लेने से मना करना उच्च जाति के हित का राष्ट्रीय या सार्वभौमिक हित के रूप में मौजूद होने का एक उत्तम उदाहरण है। 1948 में भी, जब व्यापक जाति ब्योरे को छोड़ दिया गया तो कुछ असंतोष फैला था। उदाहरण के लिए, पी.एस. देशमुख ने तर्क दिया, "लोगों से ऐसी अपेक्षा करना कि लोग जाति के उन्मूलन को स्वीकार कर लेंगे, बहु जल्दी था। यही लोग अब जाति-हीन होने के नाम पर अपना शोषण करवाना चाहते हैं। जनगणना का कार्य अति महत्वपूर्ण है और सभी लोगों के लिए समय-समय पर की गई तरक्की को नापने के उत्कृष्ट सूचकांक हैं" (माहेश्वरी 1986 : 142)।

जाति जनगणना की मुख्य माँग पिछड़े वर्ग आयोग से आई, जो अपने कार्य के लिए डेटा के अभाव से पीड़ित था। स्वतंत्रता के बाद, 'अन्य पिछड़े वर्ग' (अ.पि.व.) शब्द प्रचलित हो गया और इसका आशय उन समूहों से है जो अनुसूचित जाति या जनजाति के नहीं हैं किंतु अब भी 'सामाजिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन' से ग्रस्त देखा गया। हालांकि संविधान में 'वर्ग' शब्द का प्रयोग

हुआ है, इसका अर्थ सामान्यत: कुछ जातियों के लिए लिया जाता है (गेलेंटर 1984 : 166)। अनेक ढंगों से, यह दुविधा कि जनगणना में जाति के ब्योरे होने चाहिए या नहीं, इस विषय पर समानांतर बहसों में दिखाए देते हैं कि पिछड़ेपन को किस प्रकार परिभाषित किया जाए– पूर्णत: जाति के संदर्भ में या किसी आर्थिक मापदंड पर (गेलेंटर 1984 : 172-177 देखें)।

उदाहरण के लिए, प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग के अध्यक्ष ने जिसने पिछड़े वर्गों को जाति द्वारा पहचाना, बाद में अपनी सिफारिशों को यह तर्क देकर अस्वीकृत कर दिया कि पिछड़ेपन का जाति परीक्षण, जातिरहित समाज के निर्माण के प्रतिकूल था और उसके स्थान पर पिछड़ेपन के आवासीय, आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक मापदंड की सिफारिश की (गेलेंटर, 1984 : 172)।

नौकरी और शिक्षा संस्थानों तथा जनकल्याण योजनाओं छात्रवृत्तियाँ आदि में आरक्षण को लागू करने के लिए पिछड़े वर्गों की सूचियों की उनके राज्यों के लिए पहचान करने हेतु पिछड़े वर्ग आयोग की आवश्यकता है। जनगणना डेटा के अभाव में, आयोगों ने 1931 की जनगणना से डेटा प्राप्त कर लिए। अनेक ने अपने प्रतिदर्श सर्वेक्षण भी किए हैं, शैक्षिक संस्थानों तथा सरकारी कार्यालयों से डेटा एकत्रित किया है और व्यक्तियों तथा समूहों से आवेदन माँगे हैं (सुंदर 1999 : 123, एफ.एन. 55 में उद्धरत, तृतीय पिछड़ा वर्ग आयोग द्वारा प्रयोग किए गए डेटा को भी देखें)। जहाँ अधिकांस गौण डेटा की आवश्यकता पड़ती रहेगी, अद्यतन जनगणना डेटा के साथ कार्य आसान हो जाएगा। यह तर्क दिया जाता है कि नई जातियों को सूची में शामिल करने या पुरानी को सूची से बाहर निकालने के लिए, अ.पि.व. की नई सूचियाँ तैयार करने में जनगणना डेटा उपयोगी हो सकता है। इसके अतिरिक्त, इससे आरक्षण कोटा के अंतर्गत पिछड़ी जातियों के अनुपाती प्रतिनिधित्व में सहायता मिलेगी। (देशपांडे तथा सुंदर 1998 : 2158 में उद्धरत परिचर्चा)। यद्यपि, लांभान्वित होने वालों की सूची से बाहर निकलना राजनीतिक रूप से कठिन है और इसमें कोई भी राज्य सरकार सफल नहीं हो सकी है। इस प्रक्रिया के दौरान नुकसान उठाने वाली अल्पसंख्यक जातियों को राजनीतिक समर्थन नहीं था (बेली 1999 : 293 देखें)।

जातिगणना के समर्थक इसके योजना में उपयोगी होने का भी दावा करते हैं। पिछड़े वर्गों को लक्ष्य बनाने के लिए व्यक्ति को खंड अथवा जिलास्तरीय डेटा की आवश्यकता होती हैं क्योंकि यह वह स्तर है जहाँ विद्यालय अथवा प्राथमिक चिकित्सा केंद्र बनाने के निर्णय लिये जाते हैं। हालाँकि इस प्रकार के डेटा और वास्तविक सेवाओं के बीच की कड़ी संदिग्ध है। जहाँ स्थानीय सरकारों की कार्यशैली पर कुछ अध्ययन हुए है, उपलब्ध अध्ययन यह बताते हैं कि विद्यालयों के स्थान का निर्धारण आवश्यकता से ना होकर सशक्त स्थानीय समूहों द्वारा होता है। उदाहरण के लिए, पी. सैनत ने दर्शाया है कि किस प्रकार उच्च वर्ग यह सुनिश्चित करते हैं कि ग्राम विद्यालय उनके आवास क्षेत्र में हो क्योंकि वहीं मतदान पर उनके नियंत्रण को सुनिश्चित करता है (सैनत, 1998)। इसी प्रकार अनुसूचित जनजातियों पर डेटा उपलब्ध होने के बावजूद जनजातिय क्षेत्रों में सुविधाओं का अभाव यह दर्शाता है कि दोषारोपण डेटा के अभाव पर ना होकर अन्य घटकों पर होना चाहिए।

दूसरी ओर जाति जनगणना डेटा कुछ समूहों के लिए सुविधाओं के व्यवस्थित अभाव के बारे में जब जागरुकता और मत पैदा करने में उपयोगी भूमिका निभा सकता है। जहाँ व्यक्ति को यह सुनिश्चित करने के लिए कि सभी को मूलभूत सेवाएँ मिले, नागरिक की जाति अथवा किसी गाँव की जाति संरचना जानने की आवश्यकता नहीं है वहीं ऐसी स्थिति में जब सरकार ने सार्वभौमिक प्रावधान करने का दावा किया है, यह डेटा उपयोगी हो सकता है। प्रत्येक गाँव में प्राथमिक विद्यालय के होने के बावजूद यदि जनगणना डेटा यह बताता है कि कुछ जातियों को शिक्षा नहीं मिल रही है तो यह चिंता और संभावित गतिशीलता का मुद्दा है।

जहाँ जातिगणना के विरोधी गतिशीलता बढ़ाने और पहचान को अधिक सुदृढ़ करने में इसकी भूमिका पर जोर देते हैं; जाति गणना के समर्थक इसे असमानता और अंतत: जाति उन्मूलन को

उजागर करके यथास्थिति को चुनौती देने के कदम के रूप में प्रस्तुत करते हैं (देशपांडे, 1998; विजयन उन्नी, 1999 देखें; सुंदर 1999; 100-102 में उद्धृत जनगणना में प्रजाति और मानवजाति पर अमेरिकी तथा ब्रिटेन के संदर्भ में समान तर्क भी देखें)। जहाँ एक ओर जातिगणना के विरोधी अप्रबंधनीय जनप्रतिक्रिया के साथ असमंजस्य दर्शाते हैं वहीं इसके समर्थक सरकार की और उसके द्वारा डेटा के प्रयोग की भोली और अच्छी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। यदि जनगणना का उद्देश्य जाति उन्मूलन है तो यह प्रस्तुत डेटा के उपयोग से संघ द्वारा नहीं बल्कि जनगतिशीलता द्वारा हो पाएगा। केवल गतिशीलता से डरने के बजाय व्यक्ति का ध्यान इसके द्वारा लिए गए रूप पर होना चाहिए। वास्तविक रूप से चुनौती यह सुनिश्चित करना है कि इस प्रकार के डेटा का विशुद्ध जातिवादी पार्टियों द्वारा दुरुपयोग अथवा राजनीति को संकीर्ण करने के लिए न हो।

इस इकाई में प्रस्तुत सामग्री का एक बड़ा भाग नंदिनी सुंदर, 1999 द्वारा लिख गए लेख, 'भारतीय जनगणना : पहचान और असमानता' में दिया गया है।

सोचिए और कीजिए 8.3

क्या आपको लगता है कि जाति को जनगणना में शामिल किया जाना चाहिए? यदि हाँ, तो क्यों? यदि नहीं, तो क्यों?

8.6 सारांश

यह कहना नहीं होगा कि ऊपरी तौर पर, अंग्रेज अधिकारियों द्वारा प्रशासन की सुविधा के लिए भारतीय जनसंख्या की विशेषताओं को गिनने का सरल कार्य राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक लड़ाइयों में सशक्त उपकरण के रूप में उभरा। जनगणना एक राजनीतिक कार्य है जिसमें राजनीतिक प्रभावों वाली संवेदनशील सूचना एकत्रित की जाती है। जनगणना डेटा के अनेक उपयोग किए गए हैं। इस डेटा को विभिन्न समुदायों और धार्मिक समूहों के बीच तुलना करने के लिए प्रयोग किया गया है। जाति संबंधी जनगणना डेटा में सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को समझने और विभिन्न समुदायों को विभाजनशील बनाने के लिए विश्लेषित करने की अत्यधिक संभावना होती हैं। सामाजिक वैज्ञानिकों के सामने डेटा के उपयुक्त प्रयोग का कार्य होता है।

8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अप्पादुरई, अर्जुन 1993, *'ओरियटलिज़्म एंड दि पोस्टकोलोनियल प्रेडीकामेंट'*, सं.सी.ए. ब्रेकेनरिज और पी.वान डेर वियर में 'नंबर इन कोलोनियल इमेजिनेशन', पेनसिलवेनिया यूनिवर्सिटी प्रेस : फीलाडेलफीया।

बेयली सुसान, 1999, *कास्ट, सोसाइटी एंड पॉलीटिक्स इन इंडिया फ्रॉम दि 18 सेन्च्यूरी टू दि मॉडर्न एज।* क्रेंबिज यूनिवर्सिटी प्रेस : केंब्रिज।

कॉन, बर्नार्ड 1990, *'एन एंथ्रोपॉलोजिस्ट अमंग दि हीस्टोरियन्स एंड अदर एस्सेस' में 'दि सेंसस,* सोशल स्ट्रकचर एंड आब्जेक्टीफीकेशन इन साउथ एशिया। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली।

डिर्क्स, निकोलस, 1993, *'दि हॉलो क्राउन'*, यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, एन्न आर्बर सुंदर, नंदिनी, 1999, *'इंस्टीट्यूशनस एंड इनइक्वॅलिटी : एस्सेज़ इन ऑनर ऑफ आंद्रे बेते'* में 'दि इंडियन सेंसस, आइडेंटिटी एंड इनइक्वॅलिटी। ऑक्सफोर्ड यूनविर्सिटी प्रेस : दिल्ली।

इकाई 9

घर एवं परिवार

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 घर एवं परिवार : अभिप्राय

9.3 भारत में संयुक्त तथा एकल परिवार

9.4 भारत में परिवार संबंधी दृष्टिकोण

9.5 सयुंक्त परिवार के विघटन की भ्रांति

9.6 परिवारिक संरचनाओं के प्रकार

9.7 परिवारिक संरचना में परिवर्तन

9.8 परिवार संबंधी परिप्रेक्ष्य

9.9 सारांश

9.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इकाई 9 का उद्देश्य भारत में परिवार को एक संस्था के रूप में देखना है और यह देखना है कि इस संदर्भ में सामाजिक शोध का क्या योगदान हो सकता है। इसी इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- परिवार को परिभाषित कर सकेंगे और परिवार के प्रकार, संरचना एवं उसके गठन के अंतर को समझ सकेंगे;
- परिवार एवं घर में भेद कर सकेंगे;
- परिवार के संयुक्त एवं एकल रूप को समझ सकेंगे और यह पूछ सकेंगे कि क्या यह आवश्यक रूप से विकासात्मक रूप है (अर्थात् परिवार के एक मामले संदर्भ में आधुनिकीकरण पर शोधप्रबंध की जाँच कर सकेंगे);
- ग्रंथों और आनुभविक अध्ययनों में दर्शाए गए परिवार में अंतर कर सकेंगे;
- संयुक्त वं एकल परिवारों के संबंध में घर के विकास के चरणों की प्रक्रिया को जान सकेंगे;
- परिवार के प्रकार्यात्मक, विवाद, सत्ता और सांस्कृतिक आयामों का अध्ययन कर सकेंगे;
- भारत में समकालीन परिवार में आने वाले परिवर्तनों पर चर्चा कर सकेंगे;
- यह पूछ सकेंगे कि संस्था के रूप में परिवार का क्या कोई विकल्प है; और अंत में
- यह देख सकेंगे कि पारिवारिक अध्ययन ने सामान्यत: भारत में उच्च जाति के हिंदू परिवार पर ध्यान दिया है और अन्य समूहों में परिवार पर शोध के अभाव को पहचान सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

परिवार एक विशिष्ट संस्था है क्योंकि इसमें एक ही समय में निजी एवं सार्वजनिक संस्था मौजूद होती है। यह विभिन्न संदर्भो में अत्यंत अंतरंग एवं अत्यधिक सार्वजनिक के बीच में झूलता है।

MAADHYAM IAS way to achieve your dream

परिवार लगभग सार्वभौमिक भी होता है। हम सभी लोग अधिकांश समय परिवारों में रहते हैं। परिवार की अत्यंत स्पष्ट एवं सार्वजनिक मौजूदगी ने इसके विषय में यह छवि बनाई है कि परिवार का समाजशास्त्र लचीला विषय है। अथवा यह इसके विपरीत भी हो सकता है कि यह इतना अंतरंग तथा निजी होता है कि इसे सामाजिक विश्लेषण के स्तर तक नहीं लाया जा सकता है। इन दोनों संभावनाओं में किसी के भी होने के बावजूद ओबेरॉय का मानना है कि सार्वजनिक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति परिवार पर अपनी राय दे सकता है और इस प्रकार इस पर चर्चा को गंभीरता से रोक सकता है। उन अंतर्भेदी भयों के विषय में जो परवार को आलोचनात्मक जाँच के प्रति अति संवेदनशील बना देते हैं, यह कहती है, "यह ऐसा है कि परिवार कि आलोचनात्मक पूछताछ, उस निजी क्षेत्र में भेदन हो सकता है जहाँ राष्ट्र के सर्वाधिक मूल्यवान सांस्कृतिक मूल्य प्रेषित तथा उत्पन्न होते हैं, और यह कि समाज का संपूर्ण तंत्र अव्यवस्थित हो जाएगा, यदि परिवार पर किसी भी प्रकार के प्रश्न उठते हैं अथवा उसे पुनः रचित करने का प्रयास किया जाता है।"

लंबी समयावधि के दौरान, सामाजिक दार्शनिकों ने संपूर्ण इतिहासकाल में, परिवार पर टिप्पणी की है। अपने प्रारंभिक काल में, परिवार समाजशास्त्र के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। आरंभिक ईसाई धर्म में परिवार को दिए गए उच्च दर्जे ने संभवतः उस काल में परिवार पर होने वाले अध्ययनों को प्रभावित किया है। ऐसा 20वीं शताब्दी में साठ के दशक के आंरभ में होता था। भारतीय संदर्भ में भी, लोकप्रियता और ध्यान केन्द्रित करने के विषय में पारिवारिक अध्ययन कई उतार-चढावों से गुज़रे हैं। परिवार केंद्रीय सामाजिक संस्था रहा है। यद्यपि, हाल में, 1950, 60 तथा 70 के दशकों की तुलना में, परिवार पर कम अपर्याप्त ध्यान दिया गया है। भारत में विवाह की सर्वव्यापकता के चलते, 20वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में परिवार के अध्ययन पर कुछ कम ध्यान दिया गया है।

मानव शास्त्र में परिवार के अध्ययन में भी उतार-चढ़ाव आए हैं। विवाह और नातेदारी के साथ बंधे होने के कारण, वंश और मैत्री दोनों प्रकार से रिश्तों से संबंधित नियमों तथा व्यवहार की संरचना करने वाली संस्थाओं का वर्चस्व बढ़ गया (अधिक विवरण के लिए ओबेरॉय 1993 देखें)। हम जानते हैं कि ये सिद्धांत और नियम, नियमित रूप से, परिवार एवं घर से निकाल दिए जाते हैं। किसी कारण से, परिवार का यह आयाम, फोर्टे (1958) के इस विचार कि घरेलू समूह नातेदारी एवं विवाह की एक कार्यशाला है, के बावजूद कम महत्वपूर्ण हो गया। गॉफमैन (1958) के नाटकीय विचार का प्रयोग करते हुए, यह गंभीर रूप से विचारणीय है कि जीवन भर परिवार लोगों के व्यवहार के एक बड़े अंश का अंग होता है। सर्वव्यापी संस्था के रूप में, परिवार लोगों के जीवन रूपी नाटक का मंचन होते देखता है। परिवार के प्रति, इस प्रकार के अभिगम की नातेदारी के उन स्पष्ट सिद्धांतों के अंतर्गत आने की संभावना कम होती है जिनका, मानवशास्त्र अत्यंत रोचकता के साथ अध्ययन करता है। वह परिवार में व्याप्त मौजूदा क्लेष की तुलना अधिक व्यवस्थित श्रेणियों से संबद्ध होता है (समकालीन ब्रिटिश परिवार के क्लेष के विश्लेषण हेतु सिंप्सन 1994 देखें)।

परिवार के रोज़मर्रा की गतिविधियों में होने वाले बहुधा परिवर्तन, कुछ संरचनात्मक सिद्धांतों में स्वयं को ढ़ाल नहीं सके। इस कारण परिवार, पंरपरागत सरचंनात्मक मानव शास्त्र से दूर हो गया। फिर भी, यह एक ऐसा मंच है जहाँ पर लैगिकता तथा पारस्परिकता, क्रम-पंरपरा ओर विनिमय के संरचनात्मक सिद्धांत अभिनीत, नियंत्रित एवं उत्पन्न होते हैं।

यहाँ थोड़ा ठहरकर देखते हैं कि परिवार शब्द का अर्थ क्या है।

9.2 घर एवं परिवार : अभिप्राय

परिवार नामक अवधारणा का मुख्य रूप से अर्थ है पति-पत्नी इकाई (अभिभावक) एवं उनके बच्चों का प्राथमिक समूह। यह परिभाषा तीन प्रकार के संबंधों को ध्यान में रखती है। ये संबंध

हैं : पति-पत्नी का विवाह (अभिभावक) तथा बच्चों के बीच बहन-भाई के संबंध। ये दोनों संबंध अभिभावकों और उनके बच्चों के बीच वंश-विषयक संबंध से जुड़े हैं। (परिवार के अर्थ पर अधिक जानकारी के लिए आप इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ईएसओ-12 की इकाई 6 देख सकते हैं।) हम नीचे देखेंगे कि कुछ परिवारों में ऐसे लोग होते हैं जो एक ही पुरुष अभिभावक के वंशज हैं, जबकि दूसरों में, एक ही अभिभावक के वंशज होते हैं। उदाहरण के लिए, पति-पत्नी, उनके विवाहित पुत्र, उनकी पत्नियाँ तथा बच्चे मिलकर वह प्राथमिक समूह बनाते हैं, जिसकी चर्चा, परिवार के रूप में, इस खंड के आरंभ में की गई है, यद्यपि यह थोड़ा बड़ा है। अत: विवाहित लोगों पर आश्रित लोगों के बची वंश विषयक संबंधों के प्रबंधन के मौजूदा सिद्धांतों के आधार पर परिवार छोटा या बड़ा हो सकता है। अत: परिवार, नातेदारी के सिद्धांतों पर आधारित होता है जिसके सदस्य एक ही आवास में रहते हैं। वे एक घर/क्षेत्र में रहते हैं। यह आवासीय इकाई घर कहलाती है। एक घर के सदस्यों के बीच संबंधों का समूह होता है। ये संबंध उनके स्थान तथा उससे जुड़ी उनके द्वारा निभाए जाने वाली भूमिकाओं से जुड़े होते हैं। घर एक आवासीय अथवा घरेलू इकाई है जिसमें एक या अधिक लोग एक छत के नीचे रहते हैं तथा एक रसोई/चूल्हे पर बना खाना खाते हैं। यह भी हो सकता है कि घर के सभी सदस्य हर समय घर में न रहते हों। भौगोलिक रूप से दूरस्थ घरों में भी एक परिवार के कुछ सदस्य रहते हैं। ये सदस्य दो या अधिक घरों में रहते हुए भी स्वयं को एक ही परिवार मानते हैं। घर एक सह-आवास समूह/इकाई होता है (एक सदस्यीय घरों वाले मामलों के लिए प्रावधान)। अत: रिश्तों एवं आवास के नियम परिवार और घर में भेद करते हैं (इन अवधारणाओं पर विस्तार से जानने के लिए और यह देखने के लिए कि घर किस प्रकार परिवार के विभिन्न आयामों में से एक है, शाह 1973, पृष्ठ 3 देखें)।

कोलेंडा (1998) एक और समाजशास्त्री है जिसने परिवार एवं घर से संबंधित अवधारणात्मक मुद्दों को स्पष्ट करने की दिशा में निरंतर कार्य किया है। उसने 1949 के बाद की 26 मानवजाति संबंधी अध्ययनों तथा घरेलू जनगणनाओं (कोलेडां 1968) के आधार पर भारतीय संयुक्त परिवार के अपने तुलनात्मक अध्ययन में 12-प्रकारीय स्पष्टीकरण योजना प्रस्तावित की है। प्राप्त घरेलू संयोजनों की ये श्रेणियाँ, पाठक को संयुक्त एकल अथवा विस्तृत प्राथमिक प्रकार के परिवारों के पार ले जाती हैं। यह योजना उस अवधारणा को उस प्रकार नहीं उलझाती, जिस प्रकार एक सरल संचुक्त बनाम एकल परिवार की तुलना उलझाती है। ये 12 प्रकार की श्रेणियाँ निम्न हैं : 1) एकल परिवार, अविवाहित बच्चों सहित अथवा उनके बिना दंपत्ति ; 2) संपूरित नाभिकीय परिवार ; 3) उप एकल परिवार ; 4) एक-सदस्यीय परिवार ; 5) संपूरित उप एकल परिवार ; 6) समानांतर संयुक्त परिवार ; 7) संपूरित समानांतर संयुक्त परिवार ; 8) वंशागत संयुक्त परिवार ; 9) संपूरित वंशागत सयुंक्त परिवार ; 10) वंशागत-समानांतर सयुंक्त परिवार ; 11) संपूरित वंशागत समानांतर संयुक्त परिवार ; तथा 12) अन्य, शेष श्रेणी (कोलेंडा की वर्गीकरण योजना के आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए शाह 1973 : 220-227 देखें)। जीवन चक्र में सयुंक्त एवं एकल परिवारों में सतत भेदों को समझने के लिए घरों की श्रेणियाँ किस प्रकार उपयोगी हैं, इसके लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ईएसओ-12 की इकाई 6 देखें।

सोचिए और कीजिए 9.1

1) यदि संभव हो तो, भारत और गुजरात में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में 1951 में घरों के आकार के लिए ए.एम.शाह (1973) की पुस्तक के पृष्ठ 13 पर सारणी 3 देखें। निकटस्थ गाँव और/अथवा शहर में प्रत्येक गली के दस घर चुनिए तथा उनके आकार की एक सारणी बनाइए तथा 1951 के भारतीय जनगणना आँकड़ों की अपने आँकड़ों के साथ तुलना कीजिए। ग्रामीण तथा शहरी भारत और अपने राज्य के 1991 तथा 2001 के जनगणना आँकड़ों की शाह की पुस्तक में दिए गए आँकड़ों के साथ तुलना कीजिए।

MADHYAM IAS

2) घरों के संयोजन के आधार का पता लगाने के लिए शाह (1973) की सारणी 17 देखें। अब आप ग्रामीण तथा शहरी माहौल में बीस घरों से एकत्रित आँकड़ों के ऐसे संयोजन का आधार पता कीजिए।

अपने अध्ययन/परामर्श केंद्र पर, घरों के आँकड़ों ओर ढाँचों में आए अंतर पर चर्चा कीजिए।

9.3 भारत में संयुक्त तथा एकल परिवार

दो प्रमुख हिंदू रचनाओं, रामायण और महाभारत में केंद्रीय परिवार बड़े संयुक्त परिवार हैं। रामायण में दशरथ के पुत्र तथा महाभारत में धृतराष्ट्र और पांडु के पुत्र, अपनी-अपनी पत्नियों सहित जीवन का बड़ा भाग साथ रहकर बिताते हैं। हालातों के कारण अलग होने बाद भी, एक-दूसरे के प्रति चिंता, साथ रहने की आदर भावना और भावनात्मक लगाव दोनों रचनाओं में, परिवार की स्पष्ट दिखाई देने वाली विशेषताएँ हैं। दोनों रचनाओं ने भारत में हिंदुओं को अत्यधिक प्रभावित किया है तथा पुत्रोचित (पिता-पुत्र संबंध) निष्ठा वाला संयुक्त परिवार आदर्श माना जाता है। पारिवारिक एकता को जब कोई खतरा होता है अथवा पुत्रोचित निष्ठा के विषय में युवा पीढ़ी को जब याद दिलाना होता है तब इन परिवारों के उदाहरण दिए जाते हैं। अन्य लोगों के लिए रामायण के राम और सीता के पति-पत्नी के दपंत्ति को आदर्श माना जाता है क्योंकि इनके जीवन में पुत्रोचित निष्ठा का महत्व दांपत्य संबंधों से कम होता है।

(i) अभिभावक-पुत्र और (ii) भाई-बहन के बीच के दोनों संबंधों को वास्तविक जीवन में विभिन्न क्रमचयों और संचयों में पाया जाता है। इनके गठन के तरीके के संदर्भ में, ये संबंध एकल प्राथमिक तथा संयुक्त/विस्तारित परिवारों को अलग रहने में सहयोग देते हैं। एक एकल परिवार में एक पुरुष, उसकी पत्नी एवं अविवाहित बच्चे होते हैं। एकल परिवार में इनमें से किसी रिश्ते के अतिरिक्त रिश्तेदार जुड़ जाते हैं तो यह संयुक्त परिवार बन जाता है। अत: एकल परिवार के साथ पति और/अथवा पत्नी की तरफ के सभी रिश्तेदार एक घर में रहते है तो वह संयुक्त परिवार होता है। समाजशास्त्र/समाजिक मानव-विज्ञान में संयुक्त तथा विस्तारित शब्दों को एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार का परिवार अभिभावक-बच्चे के संबंध के विस्तार पर आधारित एक से अधिक एकल परिवार का संयोजन होता है। इसका अर्थ यह है कि इसमें किसी एक लिंग के बच्चे और उनके जीवनसाथी एवं बच्चों का विस्तार भी शामिल हो सकता है यदि वंश को पुरुष की ओर से देखा जाता है, तो विस्तारित/संयुक्त परिवार पिता-पुत्र संबंध के विस्तार पर आधारित होता है। दूसरी और माता-पुत्री संबंध पर आधारित विस्तार माता के वंश पर आधारित विस्तारित संयुक्त परिवार होता है। भाइयों, उनकी पत्नियों और बच्चों के बीच अनुप्रस्थ रूप से विस्तारित परिवार को भ्रात्रीय अथवा समानांतर परिवार कहते हैं (वंशागत/अनुलंन और पार्श्व/अनुप्रस्थ रूप से विस्तारित परिवारों के उदाहरण के लिए पटेल 2005 में कपड़िया का निबंध देखें)।

एक आदर्श हिंदू संयुक्त परिवार में पुरुष उसकी पत्नी और उनके वयस्क पुत्र, उनकी पत्नियाँ एवं बच्चे और माता-पिता दंपत्ति के छोटे अविवाहित बच्चे होते हैं। इसे पैतृक वंशागत, (नवविवाहित दंपत्ति, पति के पिता के घर में रहता है) परिवार कहते हैं। सबसे बड़ा पुरुष घर का मुखिया होता है तथा प्राधिकार पीढ़ीगत रूप से आयु एवं लिंग के अनुसार भ्रात्रीय (भाइयों के बीच संबंध) संबंधों के अधीनस्थ माना जाता है। परिवार के सदस्य वंशागत अथवा समानांतर रूप से अथवा दोनों तरीकों से रिश्तों के संबंधो से जुड़े रहते हैं। जैसाकि इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ-12 की इकाई 6 में विस्तार से बताया जा चुका है। संयुक्त परिवार को पीढ़ियों की संख्या, आदर्श रूप से तीन अथवा चार पीढ़ीदार परिवार के रूप में देखा जाता है (देसाई 1964, मदान 1965)। संयुक्त परिवार की संपत्ति एक होती है। यद्यपि पारिवारिक संपत्ति पर सभी समान अधिकार नहीं होता है। गोरे (1968) संयुक्त परिवार को वयस्क पुरुष साझेदारों और उन पर निर्भर लोगों के समूह के रूप में परिभाषित करता है अत: कुछ सदस्य परिवार

के सदस्य होने के बावजूद और आवास का तथा पारिवारिक संसाधनों का उपयोग होने का अधिकार के बावजूद साझेदार नहीं होते हैं। परिवार के विभिन्न सदस्यों को संपत्ति अधिकारों दोनों प्रकार की विचारधाराओं में – बंगाल और असम में दयाभाग तथा भारत के अधिकांश अन्य भागों में मिताक्षर) पर हम नारीवादी परिप्रेक्ष्य पर बात करते समय चर्चा करेंगे।

9.4 भारत में परिवार संबंधी दृष्टिकोण

भारत में परिदार पर शोध के लिए विभिन्न अभिगमों का प्रयोग किया गया है। सांस्कृतिक सत्य पर किसी भी ज्ञान के लिए पारिवारिक शोध विभिन्न दृष्टिकोणों से भी किया गया है। इस खंड की इकाई 12 में आप देखेंगे कि अनुभववादी सामाजिक शोध और सामाजिक मानव विज्ञान संबंधी शोध की तुलना में नातेदारी पर भारत-विद्या संबंधी अध्ययनों में भिन्न अभिगम का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार, भारत में परिवार पर भारत-विद्या तथा अनुभववादी अभिगमों के माध्यम से अध्ययन किया गया है। अब हम इन पर चर्चा करेंगे।

क) पाठ-विषयक दृष्टिकोण

हिंदू मत में परिवार का उद्‌गम पितृ-ऋण की अवधारणा से हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को संतानोत्पत्ति द्वारा अपने पूर्वजों का ऋण चुकाना पड़ता है (अन्य दो, शिक्षक तथा ईश्वर के प्रति हैं)। बच्चे का जन्म, विशेषकर पुत्र का जन्म होने मात्र के लिए नहीं अपितु पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए होता था। अगली पीढ़ी का पालन-पोषण करना, अर्थात पुत्रों को बड़ा करने व्यक्ति का स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता था। अपने पिता की चिता को अग्नि देना तथा अन्य मृत्यु-संबंधी संस्कारों को पूर्ण करने का अधिकार एवं कर्त्तव्य, संतान के इसी ऋण को चुकाने तथा उससे बाहर निकलने को दर्शाता है। अतः अंतिम संस्कार (किसी व्यक्ति तथा उसके तीन तत्काल पूर्वज) के विनिमय के आपसी संबंधों द्वारा बंधा हुआ निकटतम समूह हिंदू परिवार कहलाता है। परिवार तीन अथवा चार पीढ़ियों का समूह था और इस पर निर्भर करता था कि किसे और कैसे गिना जाता है अथवा छोड़ा जाता है। श्राद्ध तथा संपत्ति परिवार की अवधारणा से जुड़े हुए थे। हिंदू परिवार का पाठ-विषयक आयाम संपत्ति-धारी और श्राद्ध करने की इकाई का आयाम है। हिंदुओ के धार्मिक ग्रंथ, धर्मशास्त्रों (केन 1930-62 देखें) में दर्शाए गए रिश्तेदार और विवाह की देशज पद्धतियों के साथ अंग्रेजों के उपनिवेशीय प्रशासन के माध्यम से हिंदू परिवार, भारतीय संयुक्त परिवार के साथ राह-अतंक हो गया। मैनी (1972) ने भारतीय संयुक्त परिवार को मानव परिवार के प्राचीन रूप के जीवित उदाहरण के रूप मे दर्शाया। उसने प्राचीन परिवार की रूपरेखाओं को, प्राचीन रोम पर विधि तंत्र तथा सामाजिक संस्थानों के प्रारंभिक स्वरूपों के सेल्टीक एवं स्लेविक जीवन में स्पष्ट रूप में दर्शाया है। मैनी के लिए, पैतृक वंश वाले परिवार निगम की तरह कार्य करता है तथा उसके सदस्य न्यासी की तरह। अनेक आंरभिक भारतीय समाजशास्त्रियों को भारत-विद्या अभिगम में प्रशिक्षित किया गया था। प्रभु (1955(1940)) ने संयुक्त परिवर के पैतृक वंश स्वरूप को अमीर, गरीब, शहरी लोग तथा ग्रामीण लोग, सभी हिंदुओं के पारिवारिक स्वरूप के रूप में बताया है। घूरे (1955) ने भारतीय संयुक्त परिवार के लिए भारतीय-यूरोपीय वंशावली का दावा किया। हिंदू परिवार ने काफी समय से स्वयं को आदर्श रूप में विश्लेषित, टिप्पणित एवं संस्तुतित पाया है। उच्च जाति तथा उच्च वर्गीय भारतीयों ने अपनी पारिवारिक नैतिकता और सिद्धांत पूजा-विषयक पाठों से प्राप्त किए हैं तथा अन्य जातियों के लिए, उनके संस्कृतकरण के दौरान, श्रीनिवास की अवधारणा का प्रयोग करते हुए, यह अनुकरणीय आदर्श बन गया। पूजा-विषयक अवधारणाओं का अंग्रेजों द्वारा लिए गए विधि संदर्भ में, पुनार्थ ने वैचारिक समागम को और भी जटिल बना दिया। "आनुवांशिक शिक्षितों की अपनी परंपराएँ, व्यवहार, पूर्वाग्रह तथा रुचियाँ थीं जिन्होंने उनकी टिप्पणियों तथा अर्थों को प्रभावित किया। यह पर्याप्त रूप से जटिल नहीं था कि अंग्रेजों के शासन के दौरान, भारतीय परिवार संगठन के विषय में कुछ विचार एवं भ्रांतियाँ, अंग्रेजी विधिन्यायालयों तथा न्यायाधीशों और अधिवक्ताओं की नई श्रेणी के माध्यम से, काफी फैल गई। (शाह 1973 : vii में श्रीनिवास की भूमिका)।

इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संस्थाओं पर टिप्पणी करने के लिए परिवार सहित पाठ-विषयक (साहित्यिक, धार्मिक तथा विधि) स्रोतों का प्रयोग किया (इस खंड की इकाई 12 देखें)। कार्वे (1953) ने रिश्तेदारी की शब्दावलियों के साथ भारतीय संबंध पद्धति पर अपने व्यापक सर्वेक्षण में भारत में चार मुख्य प्रकार की संबंध संस्थाओं की पहचान की है। कार्वे के अध्ययन ने द्रविड़ संबंध पद्धति तथा उसके पारिवारिक स्वरूप को भारत के अधिकांश भागों में मौजूद स्वरूप से भिन्न बताया। भारत-विद्या अभिगम के माध्यम से हिंदू संयुक्त परिवार आदर्श तथा प्राय: वास्तविक भारतीय परिवार माना जाने लगा (पारिवारिक अध्ययनों पर भारत-विद्या अभिगम के विस्तृत विवरण के लिए ओबेरॉय 2000 देखें)।

चाहे वह रामायण का परिवार हो अथवा कोई उच्च जाति और उच्च वर्गीय हिंदू परिवार, न तो वर्तमान में और न ही अतीत में, बड़ा संयुक्त परिवार, भारत में सर्वव्यापी प्रकार का परिवार नहीं है। यह पुन: बताया जाता है कि संयुक्त तथा एकल परिवार भारत-विद्या विषयक सरंचनाए हैं। अनुभववादी सामाजिक मानवविज्ञानी तथा समाजशास्त्रीय अध्ययनों के माध्मय से क्षेत्र में प्राप्त परिवार, आदर्श संयुक्त परिवार की तुलना में बहुत अधिक भिन्न है।

ख) क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण

भारतीय परिवार के अध्ययनों पर अपना प्रभाव दिखाने में गूडी (1962) को कुछ समय लगा। यद्यपि, परिवार का अनुभववादी अध्ययन अब भी पूर्वी और पश्चिमी परिवारों के मूलभूत अंतर के प्रभाव में था और इस प्रकार के परिवार तथ्य बन गए क्योंकि अनुभववादी सत्य को दो में से किसी एक प्रकोष्ठ में रखना आवश्यक था। वास्तव में, 'घरेलू समूह' तथा 'घर' शब्द, परिवार का प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जिसके कारण परिवार की जीवंत वास्तविकता समाजशास्त्रीय जाँच के निकट आ गई। हालांकि, अनुभववादी मामलों और वंशावली संबंधित प्रक्रिया के सही आँकड़ों को उपलब्ध करवाने की पहल रिवर्स (1906) में की थी, भारत में पारिवारिक अध्ययनों में, लगभग आधी शताब्दी तक वैधिक तथा पाठ-विषयक प्रभाव का वर्चस्व बना रहा। परिवार की देखी श्रेणी पर प्रवचन पर उपनिवेशीय प्रशासन तथा मानव विज्ञान का प्रभाव था।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बॉक्स 9.1 : एकल एवं संयुक्त परिवार

1950 के दशक से लेकर कम से कम तीन दशकों तक हालांकि, पश्चिम एवं भारत दोनों जगह समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानव विज्ञान ने परिवार ओर उसके विभिन्न आयामों एवं पक्षों पर गहन शोध उपलब्ध करवाया, यह खेद की बात है कि भारत में अनेक समाज विज्ञान शोध विद्यार्थियों को उनके प्रतिवादियों से पूछना पड़ता है कि उनका परिवार नाभिकीय है अथवा संयुक्त। लोगों के मत भिन्न हो सकते हैं। उनके मत, परिवार और घर के अन्य सदस्यों के संबंध में अहं (पैतृक वंश वाले समाज में पुरुष का) के आवास के संदर्भ में, साथ रहने से लेकर अलग रहने तक हो सकते हैं। समाजशास्त्री का कोटिकरण जहाँ आवास के संयोजन से प्राप्त रचना से संबंधित है, लोगों कोटिकरण अहं के आवास की तुलना में घर और/अथवा परिवार के अन्य सदस्यों के संदर्भ पर आधारित है। घर अपने आप में संयुक्त या एकल नहीं होता किंतु विकासात्मक प्रक्रिया के दौरान, आगे बढ़ने अथवा पीछे जाने के कारण इनमें से कोई भी बन सकता है। उदाहरण के लिए, पैतृक वंशागत समाज में विवाहित पुत्र का अपने पिता के घर से बाहर जाना, पुत्र के घर को एकल बना देता है अथवा अलग कर देता है। ऐसा करने से, यह आवश्यक नहीं कि पिता का घर भी नाभिकीय हो जाए। घर में रहने वालों के साथ अथवा अलग रहने वाले व्यवहार को दर्शाने वाले इस पक्ष (संयुक्त अथवा एकल घरों में) की आगे और अधिक जाँच होनी है। यहाँ पर परिवार केवल एक संज्ञा नहीं है बल्कि एक विशेषण है जिसमें अभिनेता ओर एजेंट सम्मिलित हैं।

भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानव विज्ञान के उद्गम के पिछले कुछ दशकों में परिवार पर काफी ध्यान दिया गया था। अपने व्यापक सर्वेक्षण में, दुबे (1974) ने बताया है कि जाति

के बाद पारिवारिक अध्ययनों को सबसे अधिक रुचिकर माना गया था। वह एक दिलचस्प इत्तफाक है और साथ ही तुलनात्मक अध्ययन का एक मामला है कि भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता तथा भारतीय समाज-शास्त्रीय समाज के गठन के बाद, परिवार के समाजशास्त्रीय अध्ययन का, श्रीनिवास के अनुसार, पुस्तक प्रधान दृष्टिकोण से क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण में रूपांतरण हो गया। लगभग इसी समय पर, पाश्चात्य क्षेत्र पर अधारित मानव विज्ञान और समज विज्ञान संबंधी अध्ययन भी सामने आए (गूडी 1958, गूडे 1963)।

इन अध्ययनों से वैधिक तथ पूजा-विषयक आधरित भारत-विद्या विचारधारा के अध्ययनों में रूकावट आ गई। भारत में परिवार का अध्ययन, पाठ-विषयक भारत-विद्या से संदर्भगत हो गया। समाजशास्त्रीयों तथा सामाजिक मानव विज्ञानियों ने परिवार के उन मौजूदा स्वरूपों और संरचनाओं का अध्ययन करना आरंभ कर दिया जिसमें वे वास्तविक रूप से थे, न कि संपत्ति धारी तथा श्राद्ध करने वाले इकाई के रूप में परिवार का पुराना पाठ-आधारित स्वरूप। पूजा-विषयक और वैधिक पाठों का प्रभाव संयुक्त परिवार तथा उसमें आने वाले परिवर्तनों के अध्ययनों पर पड़ता रहा। पारिवारिक अध्ययनों के मूल्य और तथ्य के साथ आदर्श, नियामक तथा व्यवहारात्मक पक्ष की अतिछादन तब तक जारी रहा जब तक घर की अवधारणा ने स्वत: शोध निकाय के रूप में पारिवारिक समाजशास्त्र को इस दुविधा से बाहर नहीं निकाला (शाह 1973)। हिंदू, उच्च जाति, परिवार के उत्तर भारतीय आदर्श को भूल से, अत्यधिक प्रभावी मान लिया गया था। ऐसा कपाड़िया (1958) और दुबे द्वारा भारत में गैर-हिंदू दक्षिण भारतीय समुदायों पर किए गए आंरभिक अध्ययनों के बावजूद था।

ग) प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण : घरेलू विकास के चरण

हमने पहले भी एकल तथा संयुक्त परिवार एक-दूसरे में परिवर्तित होने की निरंतरता के विषय में बताया है। परिवार पर इस प्रकार के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि परिवार कोई स्थाय संस्था नहीं है। यह विकासात्मक चक्र से गुज़रता है। यह चक्र एकल और संयुक्त परिवारों को एक-दूसरे से अंतर्संबद्ध करता है। आकार, संरचना और उसके सदस्यों के स्थान एवं भूमिकाओं में परिवर्तन के साथ, समय के साथ, परिवार का ढाँचा भी परिवर्तित होता है। अत: कोई परिवार न तो सदैव एकल रहता है और न सदैव संयुक्त। इसी प्रकार, सभी एकल परिवार एक जैसे नहीं होते और न ही सभी संयुक्त परिवार समान होते हैं। किसी भी समय में, एकल परिवार में एक या अधिक लोग हो सकते हैं। जब वह संयुक्त में परिवर्तित होता है तो इसमें कम से कम दो और प्राय: अनेक सदस्य हो जाते हैं। आप पहले ही कोलेंडा द्वारा किए 26 अध्ययनों में से विश्लेषित 12 श्रेणियाँ देख चुके हैं। विकासात्मक चक्र की यह प्रक्रिया घर एवं उसके विकासात्मक चरणों के शाह (1973) के अध्ययन द्वारा बेहतर हो गई है। किसी समयावधि के दौरान, कोई घर सदस्यों के जन्म, गोद लेने, विवाह, मृत्यु, तलाक या अलग होने के कारण बढ़ सकता है या कम हो सकता है अथवा दोनों हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, पैतृक वंशज समाज में विवाहित पुत्र का अपने पिता के घर से बाहर जाना पुत्र के घर को एकल अथवा अलग घर बना देता है। किंतु ऐसा करने से यह आवश्यक नहीं कि पिता का घर एकल हो जाए इसलिए किसी समय में समाज के पारिवारिक स्वरूप एक सदस्य से लेकर साथ रहने वाले एक बड़े समूह तक भिन्न हो सकते है। अत: घर शब्द का प्रयोग आवासीय समूह के लिए किया जाता है और परिवार शब्द का प्रयोग नातेदारी, भावनाएँ, रस्मों तथा वैधिक आयामों द्वारा संबंधित समूह के लिए किया जाता है। इसलिए घर शब्द के लिए शाह (1973) संयुक्त अथवा एकल का प्रयोग न करके सरल एवं जटिल शब्दों का प्रयोग करते है।

घर में प्रत्येक सदस्य का दूसरे सदस्य के साथ व्यवहार की संरचना जटिल होती है। घर में प्रत्येक सदस्य के लिए जीवन की आचार-संहिता होती है। समग्र रूप से किसी घर का विश्लेषण करने के लिए उस घर के सभी संबधियों को ध्यान में रखना होता है। 'विकासात्मक प्रक्रिया में ये संयोजनात्मक प्रकार भिन्न तथा अव्यवस्थित न होकर अंतर्संबधित होते हैं। प्रत्येक समाज में विकासात्मक प्रक्रिया के ढाँचे को तीन प्रमुख घटक प्रभावित करते हैं। पहला, जनसांख्यिकीय

घटक होता है जिसमें न केवल जन्म, व्यस्कता तथा मृत्यु शामिल होते हैं अपितु सदस्योंके लिंग, संख्या भी होती है। ये घटनाएँ उद्गम के संदर्भ में जन सांख्यिकीय होती है। जबकि व्यावहारिक रूप में ये सामाजिक होती हैं दूसरा घटक घर में रहने वाले विभिन्न संबंधियों से संबंधित स्पष्ट रूप से निर्धारित नियमों की श्रृंखला होती है तीसरा घटक घर में परस्पर संबंधो का ढाँचा होता है जो मुख्यत: घर में रिश्तेदारों के संबंधो से जुडी आचार-संहिता अथवा नियमों पर निर्भर करता है' (शाह 1973-81-81)। जब एक सरल घर परिवार के सदस्यों के जुड़ने से (जन्म अथवा विवाह द्वारा) जटिल हो जाता है तो इस प्रक्रिया को विलय कहते हैं। इसके विपरीत जब सदस्य कम हो जाते है (मृत्यु, बहिर्विवाह, प्रवसन द्वारा) तो कहा जाता है कि घर का विखंडन हो गया है। घर विलय तथा विखंडन और जुड़ने अथवा घटने की प्रक्रिया से गुजरता है और इस दौरान वह सरल तथा जटिल होता जाता है। प्रत्येक बार घटने से यह आवश्यक नहीं कि घर और परिवार एकल अथवा संयुक्त परिवार में परिवर्तित हो जाए।

सोचिए और कीजिए 9.2

हमने ऊपर देखा कि परिवार अपने आकार, संरचना तथा संयोजन के संदर्भ में स्थाई नहीं रहता है। वास्तव में यह विकास की अवस्थाओं से गुजरता है जो कि अग्रगामी अथवा प्रतिगामी हो सकती है। इसलिए घर एवं उसके विकासात्मक अवस्था की अवधारणा का शोध में स्वत: शोध का महत्व होता है।

अपने माता-पिता और अथवा दादा-दादी की मदद से कम-से-कम चार पीढ़ियों तक का अपने पारिवारिक वृक्ष का चित्र बनाइए। चित्र बनाने के लिए इग्नू के पाठ्यक्रम के ई. एस. ओ. -12 की इकाई 8 और 9 तथा इस खंड की इकाई 12 की मदद लीजिए। वह समय लिखिए जब आपका परिवार एकल था तथा चित्र में दर्शाई गई संपूर्ण अवधि में वह कब संयुक्त बन गया। यह भी बताइए यदि परिवार के कुछ सदस्य अलग घरों में रहते थे किंतु संपत्ति, रस्मों, प्रदूषण, भावनाओं आदि के संदर्भ में संयुक्त रहे हैं।

अपने अध्ययन केंद्र पर चर्चा कीजिए कि किस प्रकार आपके परिवार के विभिन्न घर बसे और किस प्रकार विभिन्न समयों पर पारिवारिक श्रेणियों के विभिन्न स्वरूपों में ये अस्तित्व में थे। इस अभ्यास में आप ये देख सकेंगे कि घरों को साधारण रूप से एकल तथा संयुक्त परिवारों में कोटिकृत करने से समयावधि के दौरान परिवारों के वास्तविक विकासात्मक चरण छिप जाते हैं। परिवारों में विखंडन तथा विलय होता है तथा यह उन घरों द्वारा दिखाई देता है जिनमें पारिवारिक सदस्य रहते हैं। इससे आपसी संबंधों के महत्व तथा परिवार एवं घर के संगठन के सिद्धांतो को समझने में सहायता मिलती है। अपने अध्ययन केंद्र में अपने शैक्षिक परामर्शदाता के साथ परिवार पर अनुभववादी शोध में घर की अवधारणा के महत्व पर चर्चा कीजिए।

भारतीय समाजशास्त्र में वह काल जिसमें पाठ-विषयक दृष्टिकोण से क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ आधुनिकीकरण तथा विकास के विचार के प्रभाव के साथ मेल खाता है। मुंबई, जैसा भी था, को औद्योगिकीकरण और आधुनीकीकरण का शिखर मान लिया गया और शिक्षित समुदाय को मार्गदर्शक। इसलिए मुंबई के परिवार को आधुनिकीकरण तथा औद्योगिकीकरण के प्रभाव का प्रमाण समझा जाने लगा। जैसा कि पटेल (2005) के निबंधों से स्पष्ट हो जाएगा। भारतीय परिवार पर महाराष्ट्र तथा गुजरात में सबसे अधिक ध्यान दिया गया और भारत के अन्य भागों में विशेषकर दक्षिण भारत में काफी कम ध्यान दिया गया।

9.5 संयुक्त परिवार के विघटन की भ्रांति

समाजशास्त्र में सामाजिक मानव विज्ञान के साथ वह एक-रेखीय विकासात्मक मार्ग बांटा जिस पर कालांतर में परिवार को चलना था। मानव समाज के उद्गम तथा प्रकृति पर उसके *एशियंट लॉ* (1861) में मैनी के विकासात्मक मार्ग का स्थिति से अनुबंध में प्रचलित परिवर्तन के रूप

में सार व्यक्त किया गया। मैनी के लिए प्रस्थिति से अनुबंध तक के स्थानांतरण को विवाह की संस्था में गति के माध्यम से देखा जा सकता है जिसका केंद्र परिवार एवं संबंधों (अर्थात स्थिति निर्धारण) से व्यक्तिगत चयन अर्थात् (ठिका निर्धारण) तक है। आगे आने वाला परिवार अंतत: एकल परिवार बन गया जिसमें वैवाहिक दिग्विन्यास मजबूत था जैसे इकाई एकल परिवार। उसने भारतीय संयुक्त परिवार में पैतृक वंशागत परिवार के प्राचीनत्म स्वरूप को पाया। बेकोफेन और एंजेल्स, मैनी के मत से असहमत थे क्योंकि उनका प्राचीन परिवार मातृ वंशज था। एंजेल पर मार्गन के पैतृक वंशज परिवार की संरचना की कल्पना का प्रभाव था। निजी संपत्ति की संस्था और पैतृक वंशज-एक विवाही परिवार के गठन के साथ स्त्री के गरिमा से ऐतिहासिक पतन को दर्शाने के लिए वह विख्यात था। फिर भी परिवार रूपी संस्था के विषय में अपने परिप्रेक्ष्य में वे सभी विकासात्मक बने रहे (संबंधित विस्तृत वर्णन के लिए, पटेल 2005 में जिमर मैन का निबंध देखें)।

हालांकि ओढ़े गए विकासवादी परिप्रेक्ष्य का आरोप खारिज होना था, एक अन्य विश्लेषणात्मक बात है जो संयुक्त परिवार के विघटन के शोध को बल देती है। स्वंतत्रता पश्चात् के भारत से संबंधित अनुभववादी जानकारी की बिना सवाल तीन अथवा चार पीढ़ीयों वाले पैतृक वंशागत हिंदू संयुक्त परिवार की आदर्श तथा पाठ विषयक छवि से तुलना की जाती थी। परिवार का ऐतिहासिक विश्लेषण आज के परिवार के अर्थों को उपलब्ध करवा सकता है जिसमें समाज द्वारा समग्र रूप से अनुभव किए जा रहा धीमी गति का रूपांतरण तथा संपूर्ण रूपांतरण होता है।

परिवार के गंभीर अनुभववादी अध्ययन, अधिक ध्यान से अवधारणात्मक तथा विश्लेषणात्मक श्रेणियों से संबंधित थे और संयुक्तता एवं उसके विभिन्न संदर्भों में अर्थों तथा विभिन्न रूपों जैसे मुद्दे उठाए थे। संयुक्तता के अर्थ और उसके निहितार्थों के प्रश्न पर आलोचनात्क जाँच हुई। दो प्रमुख समकालीन प्रभावों ने न केवल परिवार के क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण को प्रभावित किया बल्कि आगामी दशकों ने भारत में पारिवारिक अध्ययन किस प्रकार उभर कर आए। पहले, 20वीं शताब्दी तक, जनगणनाएँ अनेक पाश्चात्य देशों और उनके उपनिवशों में की गई। घर के आकार पर भारतीय जनगणना के आँकड़ों से पता लगा कि परिवार की पाठ-विषयक भारत विद्या संबंधी छवि की तुलना में भारतीय घर आकार में छोटे हो रहे थे। यह तीन-पीढ़ियों वाले संयुक्त आवासीय इकाई से कहीं अधिक छोटा था। दूसरे, विघटनशील यूरोपीय परिवार पर डेटा के साथ, इस डेटा का अर्थ परिवार सहित सामाजिक संस्थाओं पर विकासात्मक परिप्रेक्ष्य लिया गया था। इस दृष्टिकोण को भारत में प्राप्त जनगणना डेटा से भी समर्थन मिला। विकासशील लोगों तथा युरो-केंद्रीत लोगों के लिए भारतीय परिवार पर जनगणना डेटा तथा निष्कर्ष रोम तक जाने वाले सभी रास्तों के प्रमाण थे, अर्थात् एक विवाह और एकल परिवार अंतिम मंजिल थे। परिवार के आकार में धीमी कमी वाला समझा जाने वाला विकासात्मक पथ गलत है। लेस्लेट और वॉल (1972) ने अतीत में यूरोपीय परिवार के छोटे आकार को दर्शाया है और इसे ऐतिहासिक जनसांख्यिकीकारों का भी समर्थन मिला है। यूरोपीय तथा एशियाई परिवार के ऐतिहासिक अध्ययनों ने घटते हुए आकार की एक तरफ मान्यता तथा परिवार की बदलती हुई संरचना और विषय-वस्तु को चुनौती दी है (निल्क और नेटिंक 1984 तथा याना गिसाको 1979 देखें)। एकल परिवार और अमेरीकी औद्योगिक समाज के बीच तालमेल पर प्रचलित पारसोन्याई शोध प्रबंध, जिसे अन्य समाजों को अंतत: अपनाना है, केवल एक विकासात्मक शोध प्रबंध नहीं था बल्कि अन्य पारिवारिक ढाँचों का विवैधीकरण भी था। इस संबंध में आधुनिकीकरण शोध प्रबंध पर ओबेरॉय (2000-7-13) का अनुबोधक मूल्यांकन देखें।

विकासात्मक परिप्रेक्ष्य का अनुपालन किए बिना भी तुलनात्मक रूप में ऐतिहासिक विश्लेषण संभव है। वेबर (1975) की पुस्तक ***प्रोटेस्टेंट एथनिक एंड दि स्पिरीट ऑफ कैपिटलिस्म*** की पुस्तंक का केंद्र समाजों के प्रकार की पूरी श्रृंखला, जिसमें आधुनिक समाज को अंतिम नहीं माना गया था, न होकर आधुनिक समाज के उद्गम तथा उसके उद्गम की परिस्थितियों पर था। यद्यपि पारिवारिक परिवर्तन के एक-रेखीय विकासात्मक मॉडल को नहीं दोहराया गया किसी अर्थ में

यह मत निकट रूप से संबंधित था कि दंपत्ति तथा उनके बच्चों के साथ नातेदारों के संबंधों की वैवाहिक एकता इस तंत्र की संरचनात्मक आधारशीला थी। बच्चों के सामाजीकरण पर इसका अत्यधिक ध्यान विकसित औद्योगिक समाज के साथ संबंधित था। यह परिवार औद्योगिक समाज के प्रभुत्वशाली आर्थिक रूप की मांगों के साथ विशेष रूप से सहगामी था। विकासशील देश भी सहगामी रूप से व्यवहार कर रहे था। यह अति-सरल मान्यता संयुक्त परिवार के विघटन के शोध प्रबंध में दिखाई दे रही थी। इसमें गंभीर ऐतिहासिक आंकड़ों तथा वैचारिक विश्लेषण का अभाव था (देसाई के निबंध 2005 देखें)। यह मत कि बड़े परिवार तथा नातेदारों के समूह (यद्यपि वास्तविक रूप से नौकर अधिक सामान्य थे) यूरोप की अधिक अमीर उच्च श्रेणी में पाए जाते थे, भी गलत साबित हुआ। योजनाकारों तथा नीतिकारों द्वारा कल्पित मम्मी-पापा और बच्चों के आरामदायक परिवार को बहुत पहले ही वास्तविक न मानकर रूढ़िबद्ध घोषित कर दिया गया था। लेसलेट और वॉल (1972) ने ऐतिहासिक डेटा के आधार पर इसे यूरोपीय परिवार, विशेषकर ब्रिटिश समाज में दर्शाया था। ऐंडरसन (1980) इग्लैड में हाल ही के समय (1961-71) के लिए इसे दर्शाता है और कहता है कि किसी भी समय पर 40% लोग ऐसे घरों में रहते हैं जो इस ढाँचे के अनुरूप नहीं हैं। मात्रिक डेटा को सतही तौर पर देखने में, अर्थात, किसी समय श्रृंखला को बहुत कम समयावधि में देखना अथवा मात्रिक डेटा की आदर्श साथ तुलना करना अथवा घर के आकार ओर संयोजन के विषय में भारत में की गयी प्रारंभिक जनगणनाओं के बाद की प्रक्रिया में खतरा होता है। अनेक समाजशास्त्रियों विशेषकर देसाई (2005) तथा शाह (1973) ने जनगणना संबंधी डेटा पंर बहस की और अवधारणाओं तथा डेटा के अर्थों की विसंगतियों को दर्शाया/यद्यपि, शाह (1999) जनगणना डेटा को उसकी सीमाओं के बावजूद प्रभावी मानता है।

भारतीय अध्ययन सामग्री के संदर्भ में एकल परिवार की औद्योगीकरण के साथ उपयुक्तता स्पष्ट शोधप्रबंध नहीं थी। परिवार घर के अवधारणात्मक अंतर के बावजूद अन्य आयाम सुबोध बने रहे। पाश्चात्य् संस्कृति और पद्धतियों के भारतीय अनुपालन पर सिंगर का कार्य (1968) जो कि दक्षिण भारत के उद्योगपतियों के बीच निजी क्षेत्र को प्रभावित किए बिना और उसमें प्रवेश किए बिना सार्वजनिक क्षेत्र के लिए उपयुक्त बनने हेतु अत्यंत सुव्यवस्थित ढंग से किया गया था, ने पांरपरिक परिवार के मूल्यों तथा आदर्शों के लचीलेपन को दर्शाया। पाश्चात्य तरीकों में ढलना और फिर भी संयुक्त परिवार तथा जातिगत मूल्यों का समर्थन करना सिंगर के भारतीय औद्योगिक परिवार की विशेषता थी। यद्यपि सिंगर का कार्य औद्योगिक समाज और एकल परिवार के बीच पारसोनियाई का तालमेल का प्रत्यक्ष उत्तर नहीं है यह भारतीय परिवार के लचीलेपन का मजबूती से समर्थन करता है। दूसरी ओर संयुक्तता के मुद्दे को संयुक्त आवास के एकमात्र मापदंड से अलग कर दिया गया था। अत: संयुक्त रूप से रहे बिना परिवार की संयुक्तता को बनाए रखना संभव है। यद्यपि एकल आवास, बेटिली (1993) द्वारा कही गई शहरी भारत की नौकरीपेशा श्रेणी में बढ़ रहे हैं, उत्तर भारत में शर्मा (1986) तथा वातुक (1972) द्वारा किए गए क्षेत्र अध्ययन एक मित्र तस्वीर दर्शाते हैं। इनके अनुसार सयुंक्त परिवार की एक प्रशाखा है जो शहर में अलग रहती है तथा सयुंक्त परिवार के सदस्यों के लिए अध्ययन और शहरी कार्य में जुडने हेतु प्रतिरोधक का कार्य कर रही है। कालडेट (1962) और कपड़िया, मोरिसन के लेख तथा जाति और संयुक्त परिवार पर गोष्ठी (2005) ने हुए विचार विमर्श संयुक्त परिवार से एकल परिवार तक होने वाले पारगमत से संबंधित है।

नातेदारी केंद्रित परिवार तथा आवास केंद्रित घर के बीच के अवधारणात्मक अंतर से परिवार को सामाजिक आदर्श ओर सामाजिक तथ्य दोनों रूप में समझने की दृष्टि से अत्यधिक विश्लेषणात्मक स्पष्टता प्राप्त हुई। शाह (1998) ने दर्शाया कि पिछले कई दशकों में संयुक्त परिवारों का अनुपात यदि बड़ा नहीं है तो वह पहले जितना रहा है। कोलेंडा (1970) ने भी संयुक्त परिवार के अस्तित्व की लोकप्रियता को दोहराया। शाह (1973) के लिए घरेलू ढाँचे का नातेदारी वाला आयाम मात्रिक डेटा के सार्थक विश्लेषण के लिए आवश्यक है। नियमों तथा अंतर्संबंधों को छोड़ा नहीं जाना चाहिए।

9.6 पारिवारिक संरचनाओं के प्रकार

हम एकल तथा संयुक्त परिवारों के विषय में पहले ही चर्चा कर चुके हैं। भारत में अनुभववादी क्षेत्र अध्ययनों (शाह 1973, कोलेंडा 1987 और पटेल 2005 में निबंध) से, हमने यह सीखा है कि परिवार सरल ओर एकल घरों के विभिन्न श्रेणी के रूप ले लेते हैं। वंश के सिद्धांत पर आधारित पारिवारिक संरचनाएँ, विभिन्न प्रकार के परिवारों में भेद करती हैं। परिवार के दो मुख्य संरचनात्मक प्रकारों को हम देखते हैं।

i) पैतृक वंशागत परिवार

एक परिवार में संबंधियों के समूह के बीच नातेदारी के वंशागत तथा सहोदर वाले संबंध उसके संरचनात्मक गठन को दर्शाते हैं। पारिवारिक संगठन में नातेदारी की केंद्रीय कड़ी जब पिता और पुत्रों के बीच होती है तो परिवार पैतृक वंशागत होता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ऐसा परिवार एकल और/अथवा संयुक्त हो सकता है। एक संयुक्त पैतृक वंशगत परिवार, वंशागत अथवा पार्श्विक रूप से जुड़ा हो सकता है। हमने यह भी देखा है कि पैतृक वंशागत संयुक्त परिवार को किस प्रकार एक सामान्य भारतीय परिवार माना गया है। इस इकाई में दर्शाए गए अधिकांश अध्ययन, पैतृक वंशागत परिवार के अध्ययन हैं।

ii) मातृ-वंशगात परिवार

अब हम परिवार का एक वैकल्पिक प्रकार देखेंगे जो संरचनात्मक रूप से पैतृक वंशागत नहीं है। वंशगत तथा सहोदर संबंधों वाली रिश्तेदारी वाला परिवार जिसका मुख्य केंद्र माता-पुत्री का रिश्ता तथा वंश सिद्धांत होता है, मातृ-वंशागत परिवार कहलाता है। मातृ-वशांगत परिवार भी एकल अथवा संयुक्त हो सकता है और इसके सदस्यों के जीवन चक्र के आधार पर इसके विभिन्न घरेलू रूप हो सकते है।

दक्षिण भारत का संयुक्त परिवार, विशेषकर मातृ-वंशगत नायरों में, भारतीय पूजा-विषयक ग्रंथों के पाठ-विषयक और ग्रंथ-विषयक परिवार जैसा नहीं था। संपूर्ण दखिण भारत मातृ-वंशागत नहीं है। उत्तर भारत में गांव, गोत्रा तथा सपिंड विजातीय विवाह से अलग दक्षिण भारतीय परिवार का गठन दूर के भाई-बहनों तथा मामा-भाँजी विवाहों से प्रभावित होता है। पैतृक वंशागत पर आधारित नम्बूदरियों (इल्लभ) के संयुक्त परिवार से अलग, नायर परिवार (*तारावड़*) मातृ-वंशागत था। कुछ मामलों में दक्षिण भारत का पैतृक वंशागत परिवार, उत्तर भारत के ऐसे परिवार से भिन्न होता है। केरल में नायरों के बीच परिवार के गठन में भेद होते है उदाहरण के लिए दक्षिण-पश्चिम के केरल और तथा उत्तर केरल के बीच। मालाबार और ट्रेवेनकोर में बहुपति प्रथा के कारण अंतर था। फिर भी तारावड की संस्था शक्शिाली थी। दुबे (1974) की समीक्षा मातृ-वंशागत तंत्रों और उसके भीतर भारतीय तथा गैर-भारतीय विद्वानों के परिवारों के अध्ययन पर गहन कार्य दर्शाती है। सारदामोनी की नवीनतम पुस्तक (1999) ट्रेवेनकोर से संबंधित है जो पुथेनकलाम (2005) द्वारा बताया गया एक क्षेत्र है। दोनों तारावाड़ से संबंधित है और इसे मातृवंश की केंद्रिय विशेषता के अतंरंग रूप से संबंधित प्रभाव को दशार्ते है। भातृ वंश की परंपरा स्त्रियों को कुछ अधिकार देती है जैसे अपनी माता के घर में (तारावंड) रहने और देख-रेख का स्थाई अधिकार। तारावाड में स्त्रियों को प्राप्त अधिक स्वायत्तता मातृवंश का सिद्धांत और उसके फलस्वरूप होने वाले तारावाड़ का गठन, दोनों को दशार्ती है। बहुपति प्रथावादी संघ, पतियों के पास जाना रीतिपरक रूप से प्रदत्त नम्बूदरी पति और इन पतियों के बच्चे *तारावाड* की विशेषताएं थे। *तारावाड* के सदस्य 20 से 30 तक अथवा अधिक होते थे। यह पारिवारिक तंत्र कुछ जटिल था तथा इसे पैतृक वंशागत परिवार के साथ मिलने में कुछ परेशानी हुई थी।

मातृवंश, पितृवंश का विलोम नहीं है इसलिए यह परेशानी है। लैवी-स्ट्रॉस (1971) दक्षिण भारतीय नायर परिवार को कभी-कभी परिवार मानते हैं और अन्य परिवारों की भांति इसे

समूह के रूप में नहीं देखते है। यह मामला तब सुलझता है जब वह यह बताते है कि सामाजिक स्तर पर परिवार उन प्राकृतिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है जिनके बिना समाज का होना संभव नहीं है। दूसरी परेशानी भारतीय परिवार के स्वरूपों में अंतर के कारण होती है जो औद्योगिक पाश्चात्य जगत नाभिकीय परिवार के साथ आसानी से मेल नहीं खाते थे। हॉलाकि पुथेनकलाम (2005) केरल के नायरों में मौजूद मातृ-वंशागत संयुक्त परिवार (*तारावाड़*) को देखने का अवसर देता है फिर भी तारावाड़ की संस्था धीरे-धीरे कमजोर हो गई जैसा कि पुथेन कलाम ने उपनिवेशीय शासन के दौरान बताया है (इस रूपांतरण पर अधिक जानकारी के लिए सारदामोनी (1999) देखें)। यह दावा करना कठिन है कि क्या *तारावाड* का पतन मातृ-वंशागत संयुक्त परिवार के विघटन को दर्शाता है। ऐसा नहीं है कि *इल्लम* ने *तारावाड* का स्थान ले लिया है। यद्यपि *तारावाड़* के विघटन की प्रक्रिया के दौरान, स्त्रियों की स्वायत्ता कम हो गई है। नायर स्त्रियों की स्वायत्तता और अधिकारों में कमी से रिश्तेदारी की संरचना में भौतिकता के महत्व पर शोध प्रश्न लग गया है।

iii) जाति, समुदाय तथा परिवार संरचना

हमने पहले जाना कि भारत विद्या अभिगम ने उच्च जातियों में मौजूद पैतृक वंशागत संयुक्त परिवार को आदर्श भारतीय परिवार मान लिया था। इस पूर्वाग्रह के कारण गैर-पैतृक वंशागत और गैर-हिंदू समुदायों में भारतीय समाज में परिवार के संदर्भ में समस्य उत्पन्न हो गई थी।

चक्रवर्ती और सिंह (1991) ने पाया कि समग्र भारत में एकल परिवारों की संख्या संयुक्त परिवारों से थोड़ी अधिक थी। वास्तव में आकार में बड़ा होने के कारण संयुक्त परिवारों में रहने वाली जनसंख्या का अनुपात भी अधिक है। जनगणना आँकड़ों के आधार पर शाह (1998) ने दिखाया कि पिछले कुछ दशकों ने एकल घरों पर संयुक्त घरों का अनुपात घटा नहीं है। वह कहता है कि जीवनप्रत्याशा में वृद्धि और शहरी जीवन पर दबावों के कारण संयुक्त आवास के बढ़ने की संभावना है, जबकि विसारीया और विसारीया (2003) का अनुमान है कि इन्हीं कारणों से नाभिकीय परिवार बड़ सकते है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि शहरीकरण के कारण परिवारों का एकलीकरण नहीं हुआ है।

विकासात्मक तथा यूरो-केंद्रीत पूर्वाग्रह इतना शक्तिशाली था कि अतीत में परिवार के बृहद संयुक्त रूप के निश्चित प्रमाण न होने के बावजूद, गूडे (1963) ने ऐसा दावा किया और यह भविष्यवाणी की कि परिवार, पाश्चात्य परिवार के स्वरूप को अपनाने की दिशा में बढ़ रहा है (गूडे के विश्लेषण पर विस्तारपूर्वक चर्चा के लिए ओबेराय 2000 : 10-13 देखें)।

यह अब स्पष्ट है कि अधिकांश हिंदुओं द्वारा पैतृक वंशागत हिंदू संयुक्त परिवार को आदर्श माना जाता है किंतु अन्य घटकों में भौगोलिक गतिशीलता के कारण केवल एकल परिवार वाले घर ही नहीं अपितु अन्य प्रकार के घरेलु सयोजनों में वृद्धि हुई है। शाह (1973) प्रवासियों और उनके आवासीय प्रबंधों के बारे में बताता है। शर्मा (1986) और वातुक (1972) ने क्रमशः हिमाचल प्रदेश और उत्तरप्रदेश में ग्रामीण परिवारों की रणनीति पर चर्चा की है जिसमें ग्रामीण परिवार का एक अंश शहर की ओर चला जाता है ताकि नौकरी, शिक्षा आदि द्वारा परिवारों को उच्च दिशा में ले जाने हेतु शहरी संसाधन सुलभ हो सके। इन दोनों अध्ययनों में ग्रामीण परिवारों, ग्रामीण तथा शहरी घरों के माध्यम से परिवार को अधिक से अधिक लाभ दिलाने हेतु आवासीय प्रबंध करते हैं ओर फिर भी संयुक्त परिवार की पद्धतियों से डिगते नहीं है। दोहरे आवास ढाँचे को अपनाकर (ग्रामीण तथा शहरीघर) ऐसा परिवार अपनी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्रतीकात्मक पूँजी में वृद्धि करता है।

निम्न जाति के हिंदुओं में पाया गया है (कॉन सी.एस.डब्ल्यू.आई. 1974, शाह 1998, कोलेंडा 1987) की वे संयुक्त परिवार की पद्धति को नहीं अपनाते है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे संयुक्त परिवार को आदर्श नहीं मानते है। कॉन (1955) ने सेनापुर के चमारों में संयुक्त परिवारों के अभाव के लिए उत्तरदायी घटकों के बारे बताया है। विस्तृत वर्णन के लिए आप

इग्नू के बी.ए. समाजशास्त्र पाठ्यक्रम के ई एस ओ - 12 की इकाई 6 देख सकते है। मैं यह विश्वास के साथ नहीं कह सकता हूँ कि निम्न जातियाँ भी संयुक्त परिवार को आदर्श परिवार नहीं मानती है। निम्न जातियों में परिवार को जानने के लिए सावधानीपूर्वक शोध करने की आवश्यकता है, इसी प्रकार जनजातियों में परिवार, आदर्श, मानक तथा वास्तविक पर बेहतर जानकारी के लिए अध्ययन की आवश्यकता है। हालाँकि मुस्लिम परिवार पर कम से कम कुछ शोध हुआ है (अहमद 1967), भारत में गैर-हिंदू समुदायों में परिवार पर आँकड़ों की कमी है।

सोचिए और कीजिए 9.3

अपने क्षेत्र में पाँच निम्नजाति के और पाँच उच्च जाति के घर लीजिए। इन घरों के संयोजन पर एक सारणी बनाइए। इग्नू के बी.ए. समाजशास्त्र पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 की इकाई 6 का 6.4 देखिए और जानिए कि क्या इन घरों के सदस्यों के अन्य समानांतरों जो (आपके द्वारा चुने गए) घरों में न रहते हों संयुक्त संपत्ति, सहयोग और भावनाओं तथा संयुक्तता की रीति के संदर्भ में संबंध है।

अपने अध्ययन केंद्र पर इन तुलनात्मक निष्कर्षों की चर्चा कीजिए।

9.7 पारिवारिक संरचना में परिवर्तन

भारतीय संयुक्त परिवार पर आधुनिकीकरण शोध प्रबंध के अनुप्रयोग से संबंधित शोध (पटेल 2005 भी देखें) द्वारा कुछ समयावधि में परिवार के आकार, संरचना और संयोजन में हुए परिवर्तन देखने को मिले । पटेल (2005) परिवार को नातेदारी तथा वैवाहिक मानकों एवं पद्धतियों की कार्यशाला के रूप में देखता है। बीसवीं शताब्दी की अंतिम तिमाही में परिवार में होने वाले परिवर्तनों पर बहुत कम अध्ययन हुए हैं। सामाजिक और संरचनात्मक परिवर्तनों ने परिवार के आकार और उसकी संरचना को प्रभावित किया है (संयुक्त परिवार में परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले घटकों के लिए इग्नू के बी.ए. समाजशास्त्र पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 की इकाई 6 देखें)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1960 के दशक में नारीवाद की दूसरी लहर से अब तक परिवार को नारीवादी विद्वानों द्वारा कुछ संदेह से देखा जाता है। स्त्री श्रमिकों की भागीदारी में वृद्धि, लिंग संबंधी कानून, व्यक्तिगत नियम तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रवसन और अन्य बातों के साथ नवीन प्रजनन तकनीकें तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने विकास की परिवार के साथ पारस्परिक क्रियाएं बढ़ी हैं। परिवार ने परिवर्तन का सामना किस प्रकार किया है ? क्या वह 'सांस्कृतिक पिछड़ेपन) शोध प्रबंध अथवा प्रतिरोधकता की दिशा में बढ़ा है; यह देखना अभी शेष है। पिछले दो दशकों में, एक ओर, कुल प्रजननशीलता दर में कमी आई है और दूसरी ओर, जीवन प्रत्याशा में वृद्धि हुई है। इससे पारिवारिक जीवन पर प्रभाव पड़ना निश्चित है। साथ-साथ, विदेशों की ओर गबन में वृद्धि हुई है जिसके कारण खालीपन हो गया है। वैवाहिक टूटन अर्थात् तलाक और साथ ही उच्च जातियों में, जहाँ ये पहले वर्जित था, विधवाओं तथा तलाकशुदा औरतों के पुनर्विवाह में भी वृद्धि हुई है। स्त्री के लिए आज अविवाहित रहना नई बात नहीं है। समाजशास्त्र में इस पर अभी तक गंभीरता से अध्ययन नहीं हुआ है कि परिवार इन परिवर्तनों से किस प्रकार निपटता है। मातृ-वंशागत समुदायों में परिवार में क्या हो रहा है ? भारत में परिवार, नातेदारी और विवाह तथा मातृ-वंशागत समुदायों में होने वाले परिवर्तनों के लिए जैन (1996) और सरदा मोनी (1999) देखें। परिवारों और घरों का निम्नलिखि सदर्भों में क्या होता है : (क) अंतर्जातीय विवाह, (ख) अंतर्धार्मिक विवाह, (ग) आर्थिक मुक्तिकरण तथा, (घ) धर्म परिवर्तन। इस पर अभी तक अध्ययन नहीं हुआ है कि इन संदर्भों का भारत में परिवार गठन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

9.8 परिवार संबंधी परिप्रेक्ष्य

घर की अवधारणाओं, परिवार पर इसके विशेषाधिकार और इस संदर्भ में किए गए अध्ययनों को पढ़ने के बाद हम परिवार के सैद्धातिंक परिप्रेक्ष्यों को पढ़ेंगे।

i) व्यवहारवादी परिप्रेक्ष्य

छोटे शिकारी समूहों से लेकर बड़े औद्योगिक समाजों तक के 250 समाजों मे परिवार की संस्था के आधार पर, मरडॉक (1949) ने दो निष्कर्ष निकाले : यह कि एकल परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है और यह समाज के लिए अपरिहार्य प्रक्रियात्मक समूह है। युद्ध के बाद के संक्रमण अवधि में, विख्यात समाजशास्त्री और समाज सिद्धांतवादी टैल्कॉट पारसन (1959) के समाज एवं परिवर्तन के विषय में सरंचनात्मक व्यवहारवादी और तुलनात्मक सिद्धांत ने एक सामाजिक परिवार के अलग होने, भिन्न होने तथा उसके विशिष्टीकरण को अमेरीकी समाज के उप-तंत्र के रूप में घोषित किया। उसने बढ़ते हुए युद्ध पश्चात विचार को भी नकारा कि घटती हुई लैंगिक नैतिकता और वैवाहिक टूटन के कारण अमरीकी परिवार का बिखरना निश्चित था। पारसन के अनुसार सभी समाजों मे परिवार के दो मूलभूत प्रकार्य अमेरीकी परिवार द्वारा किए जाएंगे। ये बच्चों का प्राथमिक समाजीकरण तथा जनसंख्या के वयस्क लोगों का स्थिरीकरण हैं। इस सदंर्भ में एकल परिवार और औद्योगिक समाज के बीच तालमेल के विषय में कहा गया। पारसन ने कहा कि अधिक विस्तृत रिश्तेदारी वाले समूह द्वारा किए जाने वाले कार्य औद्योगिक समाज में औपचारिक संस्थाओं द्वारा किए जाएंगे और उसमें वैवाहिक रूप से बंधा एकल परिवार भागीदार होगा। इस प्रकार परिवार के दो आवश्यक प्रकार्य किए जाते रहेंगे तथा अमेरीकी परिवार स्थिर बने रहेंगे। पारसन के लिए परिवार के वंशागत और सहोदर संबध उनके मूलभूत स्वरूप में बने रहे। बच्चों पर अभिभावकों की सत्ता और प्राधिकार तथा दंपत्तियों और पीढ़ियों के बीच अनिवार्य तथा अभिव्यक्त प्रकार्यों की मदद से एकल परिवार अपने मूलभूत कार्य करता रहा।

MADHYAM IAS

व्यवहारवादी परिप्रेक्ष्यों के समायोजित तथा सुव्यवस्थित दृष्टिकोण के चलते पारसन को पीढ़ीगत क्रम और अमेरीकी परिवार में काम का बंटवारा व्यवहारवादी लगा। दूसरे उसके लिए आदर्श मध्यमवर्गीय अमरीकी एकल परिवार, विकासात्मक प्रक्रिया की चरम सीमा तक पहुँच चुका था। पारसन के विकासात्मक परिप्रेक्ष्य को गुडे (1963) ने पारिवारिक ढाँचों में विश्वक्रांति पर अपने अध्ययन में अपनाया।

कुछ समय से व्यवहारवादी परिप्रेक्ष्य प्रचलन में नहीं है। श्वेत मध्यमवर्गीय अमरीकी परिवारों को आदर्श एकल परिवार मानने के लिए पारसन की आलोचना की गई। मॉरगन (1975) ने पारसन के परिवार में कोई वर्गीय, क्षेत्रीय, धार्मिक भेद नहीं पाया। मरडॉक की भांति पारसन भी परिवार को सार्वभौमिक मानता था। इसके अतिरिक्त, परिवार के किसी विकल्प की खोज नही की गई थी। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले कहा जा चुका है परिवार में अभिभावक-बच्चों के क्रम और लैंगिक भूमिकाओं में सामंजस्य था किंतु यह केवल आंशिक रूप से सत्य था। परिवार में तनाव और विवाद (वोगल और बैल) तथा शोषणपूर्ण संबंध लैंग (1971) होते है। लीच (1967) ने पाया है कि एकल परिवार के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति भावनात्मक आवेश होता है।

2) टकराव परिप्रेक्ष्य

एंजेल्स की विख्यात रचना द स्टेट फैमिली एंड प्राइवेट प्रोपर्टी (1884 में सर्वप्रथम प्रकाशित) परिवार के विश्लेषण हेतु पहला मार्क्सवादी प्रयास था। पारसन की भांति एंजेल्स ने भी इतिहास के भौतिक अर्थ के साथ विकासात्मक अभिगम अपनाया। लैंगिकता और लैंगिक संबंधों पर प्रतिबंध और स्त्रियों के प्रजनन पर नियंत्रण को राज्य एवं निजी संपत्ति की उत्पत्ति से जोड़ दिया गया। एंजेल्स के कार्य में लैंगिकता और एक पत्नी वाले परिवार पर नियंत्रण में निकट का संबंध था

जो विभिन्न ऐतिहासिक रचनाओं, कल्पानाओं और मॉरगन (1871) के कार्य से लिया गया था। एक पत्नी परिवार पुरुष की प्रधानता पर आधारित था जिसका उद्देश्य परिवार को प्राकृतिक उत्तराधिकारी को सुनिश्चित करने के लिए गैरविवादित पैतृकता स्थापित करना था।

1960 और 1970 के दशकों में आई दूसरी नारीवादी लहर के दौरान मार्क्सवादी विचारों और नारीवाद के विवाह ने परिवार के संदर्भ में मार्क्सवादी अवधारणाओं का प्रयोग किया। पूंजीवाद की मूलभूत ताकतों में से एक के उत्पादक के रूप में नारी, श्रमिकों को प्रजनन और घर की चारदीवारी में बाँध दिया गया तथा उनके सहयोग के लिए कोई भुगतान नहीं किया गया। अन्य शोध के माध्यम से रोबॉथम (1973) ने विस्तार से बताया कि सर्वहारा वर्ग पर पूंजीवादी तथा छिपे हुए कर के लिए प्रजनन किस प्रकार छिपी हुई रियायत का कार्य करता है। बच्चों का पालन पोषण श्रमिकों को आय बाजार में मोलभाव करने से रोकता है। स्त्री पर अत्याचार और पुरुष के क्रोध के प्रति उसके समर्पण को सार्वजनिक क्षेत्र में श्रमिकों की मजबूरी पर उनके वैध क्रोध की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है।

परिवार की मृत्यु में डेविड कॉपर (1972) प्रजनन में आज्ञाकारी तथा समर्पित श्रमिक दल के लिए वैचारिक अनुकूलन डालता है। अत: मार्क्सवादी अर्थों में अभिभावकों के प्राधिकार को भी ऐसे मनुष्य पैदा करने का माध्यम माना जाता है जो पूंजीवादी समाज में क्रमिक सिद्धांत को स्वीकार कर लेंगे। परिवार पूंजीवाद के लिए सहयोगी संस्था के रूप में कार्य करता है। नारीवादी लोग प्रजनन को नारी पर अत्याचार का मुख्य स्रोत मानते है। संपत्ति अधिकार, बच्चों पर अधिकार और इस प्रकार के अन्य अधिकार परिवार में लैंगिक संबंधों से प्राप्त होते हैं (अग्रवाल 1994, 1997)। नारी मुक्ति के लिए और पुरुष के साथ समानता प्राप्त करने के लिए मातृत्व पर काबू पाना होगा। एवरिंधम (1994) नारी की स्वायत्तता के संबंध में (व्यक्ति निष्ठता के रूप में) 1970 के दशक से नारी की स्थिति में परिवर्तन का विश्लेषण करता हैं 'उत्पादन का घरेलू माध्यम, घरेलू इकाई और उसमें निहित पूंजीवादी समाज में नारी के शोषण पर डेल्फी (1970) का शोध प्रबंध है। पूंजीवादी समाज कुछ इस प्रकार कार्य करता है जिससे पारिवारिक विचारधारा तथा भावनाओं के माध्यम से नारी एवं परिवारों का शोषण होता है। उत्पादन के घरेलू माध्यम के जरिए उत्पादन के पूंजीवादी संबंधों का शोषणपूर्ण चरित्र भावुकता के पीछे छिपा रहता है।

3) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

पारीवारिक अध्ययनों को 'परिवार' के ऊपर 'घर' को विशषाधिकार देने में अवधारणात्मक प्रगति के रूप में सफलता प्राप्त हुई जिसके कारण इस क्षेत्र में अधिक तीव्रता से अंतर्सांस्कृतिक तुलनात्मक शोध हुए है। जनगणना में घर शब्द की लोकप्रियता द्वारा संभवत: संख्यात्क संयोजन का दबाव सामने आया, जबकि संबंधों और पारिवारिक संगठन के सिद्धांतों पर कम ध्यान दिया गया। हाल ही में, परिवार के अन्य पक्षों ने शिक्षाविदों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

परिवार तथा विशेष रूप से संयुक्त परिवार की विचारधारा को समझने के प्रयासों के फलस्वरूप कुछ रोचक अध्ययन हुए है। परिवार में भावनाओं पर शोध को कुछ समर्थन मिला हैं। परिवार के विभिन्न सदस्यों के मूल्यों और मानकों तथा परिवार में सामंजस्यता के उद्देश्य से दूसरों के साथ व्यवहार पर (1998) ने टिप्पणी की है (अन्य समाजों पर अधिक विवरण के लिए लींच 1990 देखें)

भारत में प्रजनन के सिद्धांत परिवार में शक्ति अधिकार तथा उम्र और लिंग की आधिकारिता से संबंधित हैं (दुबे 1986, 1997) बीज तथा धरती की सर्वव्यापी प्रजनन अभिव्यक्ति पुरुष को सक्रिय तत्व मानती है, जबकि नारी को निष्क्रिय तत्व माना जाता है। वह परिवार के लिए प्रजननशील संसाधनों की असमान भागीदारी में निष्क्रीय तत्व है; एक माध्यम है (नेपाल में प्रजनन में लिंगो के भिन्न सहयोग के लिए डेल वेली 1993 देखें)। नेपाली माता को केवल एक

निष्क्रिय क्षेत्र नहीं माना जाता है बल्कि उसका सहयोग भ्रूण के कुछ अंगों को बनाने में होता है और पिता का महत्वपूर्ण अंगों को बनाने में। दुबे (1997) बच्चे की पहचान बनाने में माता का महत्व मानता है क्योंकि जातिक्रम में बच्चे को रखने के लिए माता और पिता दोनों की जाति आवश्यक होती है। अतिजातीय विवाह और अधोजातीय विवाह की पद्धतियाँ सपिंड विजातिया विवाह के नियमों की भांति माता-पिता के योगदान से संबंधित इस मान्यता से जुड़ी है। मातृ-वंशागत समुदायों में जैसे खासी, प्रजनन में भिन्न लिंगों के योगदान के विषय में यह मान्यता पैतृक वंशागत समाजों की मान्यता के विपरीत है (नोगब्री 1993 देखें)।

वंश सिद्धांत में, स्वीकृत ज्ञानात्मक चरित्र, मातृ वंशागत और पैतृक वंशागत, दोनों प्रकार के समाजों में, परिवार में किसी व्यक्ति के जीवन की अधिकांश अवस्थाओं में सामाजिक, प्रतीकात्मक, प्रजननशील तथा भौतिक अधिकारों में परिवर्तित हो जाता है (अग्रवाल 1994, ग्रे 1995, ओबेराय 1996, दुबे 1997, और पटेल 1994 देखें)। उत्पादन पर इसके प्रभाव का अध्ययन डायसन और मूर (1981), बासु (1992) द्वारा किया गया है। जीवन चक्र अभिगम के दौरान स्वयत्तता के संबंधित आयामों के लिए पटेल (1994 और 1999) देखें। मैत्री सिद्धांत का प्रचालन करने वाले समुदायों में लैंगिक भागीदारी की कुछ भिन्न समझ पायी जाती है (अधिक जानकारी के लिए ड्यूमोंट 1966 तथा इस खंड की इकाई 12 देखें)।

चैतन्य की संरचना के रूप में घर (नेपाली घरों के लोगों के दृष्टिकोण के लिए ग्रे 1995 देखें) और व्यक्तिगत लाभों (पटेल 1994) से ऊपर उसकी प्राथमिकताएँ, प्रतिदिन के जीवन स्वरूपों में परिवर्तित हो जाती हैं। त्रविक (1990) द्वारा दर्शाया गया प्रेम (तमिल में अप्पू) केवल उत्तेजक अथवा वैवाहिक प्रकृति का भाव न होकर समा[illegible] समग्र भाव है, जो पारिवारिक संबंधों में एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है (परिवार के अन्य सदस्यों के बच्चों से अधिक अपने शिशु के प्रति अभिव्यक्त लगाव पर नियंत्रण को पटेल (1994) में देखें)।

परिवार में समाजीकरण के संदर्भ में लैंगिक लोगों के सामाजिक प्रजनन के संबंध में दुबे (1988), चॉडोरो (1978) तथा गिलीगन (1982) भिन्न मत व्यक्त करते हैं। सेवा की विचारधारा, परिवार में स्त्रियों पर सेवाभाव का बोझ डालती है (डेली 1988)। राज्य कानून के स्तर पर, कल्याण के कार्यक्रमों की आलोचना होती है (रिस्यू और परलीवाला 1996)।

MADHYAM IAS

4) सहयोगात्मक - विवाद परिप्रेक्ष्य

हमने ऊपर देखा कि 1960 का दशक परिवार के संदर्भ में प्रपाठी था। असमान लैंकिग संबधों के साथ-साथ परिवार में प्रेम, दांपत्यता और दमन भी था। युद्ध-पश्चात् विकास परियोजना की आलोचनात्मक जाँच तब हुई जब नारीवादी अर्थशास्त्रियों ने राज्य नीतियों तथा विकास के कार्यक्रमों में विश्लेषणात्मक इकाई के रूप में परिवार पर अनुप्रयुक्त आर्थिक सिद्धांत की कुछ मान्यताओं की निरर्थकता को दर्शाया। परिवार को निर्दयी जगत में सुरक्षित स्थान के रूप में अथवा विघटन के कगार पर खड़ी संस्था के रूप में न देखकर पारिवारिक स्तर पर बोलीगत संबंधों को गंभीरता से पहचानने की आवश्यकता है। इकाई 11 में संयोगात्मक विवाद परिप्रेक्ष्य को हम विस्तार से जानेंगे।

9.9 सारांश

इस इकाई में आपने परिवार को संस्था के रूप में जाना है। यह एक विशिष्ट संस्था है क्योंकि इसमें निजी तथा सार्वजनिक विशेषताएं एक साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। परिवार कमोवेश, एक सार्वभौमिक संस्था है क्योंकि पूरे विश्व में हम सभी किसी एक परिवार के सदस्य हैं। परिवार की यह स्पष्ट तथा सामान्य मौजूदगी यह आभास देती है कि इसे कोई भी समझ सकता है और समाजशास्त्र में यह एक नग्य विषय है अथवा इसके विपरीत है इसलिए परिवार पर शोध प्रतिबंधों से भरा हुआ है क्योंकि इसमें संवेदनशील विवरण भी होते हैं।

यद्यपि पारंपरिक रूप से परिवार को महत्वपूर्ण माना जाता है और संपूर्ण इतिहास में सामाजिक दार्शनिकों ने इसकी प्रकृति को समझने के प्रयास किए हैं।

आपने परिवार और घर शब्दों के अर्थ तथा विवाह ओर नातेदारी के साथ इसके अंतर्संबंधों को जाना है। परिवार में एक प्राथमिक समूह होता है जिसमें पति-पत्नी की इकाई (अभिभावक) और उनके बच्चे होते हैं। घर एक आवास होता है जिसमें कोई परिवार अथवा परिवार का कोई भाग रहता है। परिवार रिश्तेदारी के सिद्धांतों पर आधारित होता है जिसके सदस्य प्राय: एक ही आवास में रहते हैं, जिसे घर कहा जाता है।

रामायण और महाभारत जैसे हिंदू ग्रंथों में वर्णित बड़े संयुक्त परिवारों के विषय में संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन ग्रंथों में वर्णित संयुक्त परिवार के आदर्श स्वरूप को भारत में अधिकांश हिंदू पसंद करते है। पिता-पुत्र संबंध की अवधारणाओं अर्थात् पिता और पुत्र के बीच के रिश्ते को अत्यधिक आदर के साथ देखा जाता है। रामायण का अनुपालन लोगों के लिए आदर्श है क्योंकि इसमें वैवाहिक संबंधों से अधिक पुत्रीय संबंध का महत्व है। आपने जाना कि (i) अभिभावक संतान और (ii) भाई-बहनों के बीच के दो संबंध विभिन्न संयोजनों में वास्तविक रूप से मौजूद होते हैं। यही वह तरीका है जिसके द्वारा एकल मूलभूत तथा संयुक्त/विस्तारित परिवारों में भेद किया जा सकता है।

भारत में परिवार पर शोध के लिए विभिन्न अभिगमों का प्रयोग हुआ है। सांस्कृतिक वास्तविकता पर ज्ञान की भांति, परिवार पर शोध भी विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। इस इकाई में आपने परिवार के पाठ-विषयक दृष्टिकोण तथा क्षेत्र-विषयक दृष्टिकोण को जाना। पाश्चात्य जगत और भारत दोनों जगह समाज-शास्त्र एवं सामाजिक मानव विज्ञान में परिवार पर शोध का 1950 से लेकर लगभग तीन दशक का इतिहास है। भारत के पारिवारिक अध्ययनों पर गुडी (1962) का प्रभाव पड़ने में कुछ समय लगा किंतु परिवार पर होने वाले अनुभववादी अध्ययन देशज और विदेशी दोनों प्रकार के परिवार के बीच के मूलभूत अंतर से प्रभावित रहे। यह एक तथ्य बन गया। यद्यपि 'घरेलू समूह' की अवधारणा तथा 'घर' के विकासात्मक चक्र ने परिवार का एक व्यवहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया जिसने पारिवारिक संरचना और संयोजन की जीवंत वास्तविकता को समाज शास्त्रीय जाँच के करीब लाकर ध्यान आकर्षित किया।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आपने परिवार और नातेदारी के क्षेत्र में, भारतीय समाशास्त्रियों और सामाजिक मानव-विज्ञानियों के योगदानों के बारे में जाना। पारिवारिक अध्ययनों में अत्यधिक रुचि हुआ करती थी (दुबे 1974)। भारत में समाज-शास्त्र और सामाजिक मानव-विज्ञान के उद्गम के समय इसका महत्व जाति के महत्व के तुरंत बाद आता था। संयुक्त परिवार और उसमें होने वाले परिवर्तनों के अध्ययनों में पूजा-विषयक तथा वैधिक पाठों का प्रभाव दिखाई देता रहा। पारिवारिक अध्ययनों में आदर्श, नियामक और व्यवहारिक पक्ष का मूल्य और तथ्य के साथ अति छादन तक जारी रहा जब तक स्वत: शोध प्रणाली के रूप में घर की अवधारणा ने परिवार के समाजशास्त्र को स्वतंत्र नहीं कर दिया।

इस इकाई में 'घरेलू समूह' के प्रक्रियात्क पक्ष को उपलब्ध करवाने वाले 'घर' और उसके विकास के विस्तृत विवरण का आलोचनात्मक रूप से विश्लेषण किया गया है। प्रत्येक समाज में विकासात्मक चक्र की रचना को तीन मुख्य घटक प्रभावित करते हैं जैसे जन-सांख्यिकीय घटक, घर में विभिन्न संबंधियों के आवास से संबंधित स्पष्ट रूप से बताए गए मानक और सदस्यों के अंतर्संबंध। 'विलय' और 'विखंडन' की प्रक्रिया को समझाया गया है।

विकासात्मक शोध प्रबंध से संबंधित संयुक्त परिवार के विघटन की भ्रांति कि औद्योगिक समाज की विशेषता एकल परिवार है जबकि संयुक्त परिवार एशियाई समाजों की विशेषता है। अधिकांश समाज-शास्त्रियों ने परिवार के 'पैतृक-वंशागत' स्वरूप का अध्ययन किया है। हांलाकि कुछ अध्ययनों जैसे केरल के 'नायर' ने 'मातृ-वंशागत' परिवार पर ध्यान दिया है। दक्षिण भारत के संयुक्त परिवार, विशेषकर नायर जो 'मातृ-वंशागत' थे, भारतीय पूजा-विषयक ग्रंथों में बताए

गए पाठ-विषयक और ग्रंथीय परिवार से मेल नहीं खाते थे। दक्षिण भारत के मातृ-वंशागत तथा पैतृक-वंशागत दोनों, उत्तर भारत के पैतृक-वंशागत सयुंक्त परिवारों से भिन्न थे।

इस इकाई में पारिवारिक संरचना में आए परिवर्तनों के बारे में बताया गया है। परिवार को नातेदारी और विवाह के मानकों ओर पद्धतियों की कार्यशाला के रूप में देखा गया है। सामाजिक और संरचनात्मक परिवर्तनों ने परिवार के आकार और संरचना को प्रभावित किया है। 1960 के दशक में नारीवाद की दूसरी लहर के बाद परिवार के विषय में आपने नारीवादी विद्वानों के संदेहास्पद विचारों को पढ़ा।

अंत में इस इकाई में आपके लिए विभिन्न समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। ये प्रकार्यावादी परिप्रेक्ष्य, विवाद परिप्रेक्ष्य जिसमें परिवार पर नारीवादी विचार शामिल थे, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य तथा सहयोगात्मक-विवाद परिप्रेक्ष्य है। अगली इकाई में आप सहयोगात्मक-विवादपूर्ण इकाई के रूप में घर के बारे में और अधिक जानेंगे।

9.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एंडरसन, एम. (ई.डी.) 1980 (1971) *सोश्योलोजी ऑफ दी फैमिली।* पैंग्विन बुक्स: हारमोंडसवर्थ

चक्रवर्ती, सी., और ए.के.सिंह (1991) *हाऊसहोल्ड स्ट्रक्चर्स इन इंडिया।* भारतीय जनगणना, ओकेजनल पेपर वन। भारतीय जनगणना : नई दिल्ली।

दुबे, एल. (1974) *सोश्योलोजी ऑफ किनशिप,* पॉपुलर प्रकाशन मुंबई।

कार्वे, इरावती (1953) *किनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया,* डक्कन कॉलेज मोनोग्राफ सिरीज: पुणे।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

इकाई 10

घर सहयोग-संघर्ष की इकाई के रूप में

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 घर का सामाजिक-आर्थिक गतिविज्ञान

10.3 योग्यताएं, कुशलता, माध्यम और बोध

10.4 सामाजिक प्रौद्योगिकी, सहयोग और विवाद

10.5 सारांश

10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इकाई 10 का उद्देश्य विद्यार्थियों के दिमाग में मानवीय व्यवहार के प्रचलनात्मक स्थान के रूप में परिवार और घर के क्षेत्र में शोध के आधार पर एक महत्वपूर्ण वैचारिक प्रक्रिया का आरंभ करना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप यह देख पाएंगे कि इस इकाई में घर का अर्थ परिवार की एक सह-आवासीय इकाई है और आप:

- घर को पारिवारिक जीवन की कार्यशाला के रूप में देख जाएंगे;
- समझ पाएंगे कि प्रकार्यात्मक तथा विवाद परिपेक्ष्यों ने सहयोगी-विवादपूर्ण परिप्रेक्ष्य में योगदान दिया और नारीवादी विचारधारा ने इस परिप्रेक्ष्य में बड़ा योगदान दिया है;
- समझ सकेंगे कि घर कोई एकीकृत और अभिन्न श्रेणी नहीं है;
- जान पाएंगे कि संभोग, प्रजनन और आर्थिक मुद्दे घर के सदस्यों पर अलग-अलग ढंग से आयु, लिंग, लैंगिक संबंध तथा नातेदारों के साथ संबंधों के अनुसार अतिक्रमण करते हैं;
- जानेंगे कि किस प्रकार सरकार घर और उसके सदस्यों पर अतिक्रमण करती है; और
- देख सकेंगे कि सहयोगी-विवादपूर्ण परिप्रेक्ष्य शुरू में केवल घर की अर्थव्यवस्था पर केंद्रित था किंतु हम इस इकाई में प्रजनन, सरकार, धर्म, समुदाय और हिंसा को शामिल करके इस तर्क का विस्तार करेंगे।

10.1 प्रस्तावना

इकाई 9 में हमने देखा कि घर और परिवार, क्रमश: आवास तथा नातेदारी की तर्ज पर व्यवस्थित होते है। यह आवश्यक नहीं है कि ये दोनों सदैव, सभी स्थानों पर एक-दूसरे के साथ समन्वयवादी हों। देसाई (1964) तथा शाह (1973) ने हमें दिखाया है कि भारत की जनगणना ने घर के सांख्यिक आकार के आधार पर घरेलू डेटा का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में संयुक्त परिवारों का स्थान नाभिकीय परिवार ले रहे थे। परिवार के नातेदारी तथा संयुक्तता के आयोग से अंकीय डेटा की जांच द्वारा इसे चुनौती दी गई थी।

कुछ इसी प्रकार, नारीवादियों तथा विशेषकर नारीवादी अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक सिद्धांत में परंपरागत मान्यताओं को यह चुनौती दी कि घर के सभी सदस्य आर्थिक विश्लेषण के उद्देश्य से समान होते हैं हम देख चुके हैं कि मार्क्सवादियों की भांति, मार्क्सवादी और तर्कवादी नारीवादियों ने परिवार को शोषणकारी तथा दमनकारी संस्था के रूप में देखा जो बदले में पूंजीवादी ढांचे

MAADHYAM IAS

द्वारा शोषण का शिकार था। किंतु तर्कवादी नारीवाद से भिन्न, उदारवादी और समाजवादी नारीवाद ऐसा नहीं सोचता था कि परिवार परिहार्य है और यह कि प्रजनन कार्य अपने हाथ में लेकर प्रौद्योगिकी नारी को मुक्त कर सकती है। उनके लिए, परिवार पितृवंश की मुख्य संस्था था। यह वैकल्पिक संस्था, कि बुज जैसे प्रयासों के बावजूद, संभावना की रूप में नहीं उभरी।

नारीवादी विचारधारा में परिवार विवाद का विषय रहा है। समाजवादी नारीवादी यह सोचते थे कि परिवार और प्रजनन ने नारी को दबाए रखा। उनका उद्देश्य नारी को सार्वजनिक क्षेत्र में लाना तथा पुरुषों की भांति घर के भीतर और बाहर के क्षेत्र में समान बनाना था। सार्वजनिक क्षेत्र में नारी का प्रवेश यह साबित करता है कि नारी पुरुषों के बराबर है। इससे उनका स्तर ब्यूवॉयर की (1972) अभिव्यक्ति में, 'द्वितीय लिंग' तक सीमित नहीं रहेगा। जहाँ समाजवदी नारीवादियों का पुरुषों के साथ समानता का मार्ग सार्वजनिक क्षेत्र में नारी के प्रवेश के माध्यम से था, वहीं उदारवादी नारीवादी उनके लिए स्वतंत्रता, न्याय तथा समान नागरकि अधिकार चाहते थे। वॉलस्टोनक्राफ्ट (1972) ने विवाह के अंतर्गत पत्नी की निर्भरता के विरुद्ध तर्क दिया तथा जीवनसाथी के स्थान पर पत्नी के पुरुष की सफलता के दिखावटी प्रतीक के विरुद्ध भी तर्क दिया। उसने पत्नी के विधिक अस्तित्व की समाप्ति या कम से कम उसके पति के अस्तित्व में उसके विलय तथा समायोजन के विरुद्ध बोला। इस संदर्भ में, वॉलस्टोनक्राफ्ट ने इस बात पर बल दिया कि महिलाओं को शिक्षा, संपत्ति तथा आचार नियम की रक्षा का स्वतंत्र अधिकार है। महिला के नागरिक अधिकारों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि महिलाओं को आर्थिक आवश्यकता के कारण विवाह के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए और पत्नियां अपने पतियों की इच्छा पर निर्भर नहीं रहनी चाहिए।

परिवार में महिलाओं की प्रजनन तथा माँ की भूमिकाएं उन्हें सहजता से सार्वजनिक/निजी द्विभाजन की अनुमति नहीं देती जब नागरिकता अधिकार दांव पर लगे हों। किंतु नागरिकता के रूप में मातृत्व, वॉलस्टोनक्राफ्ट जिसकी समर्थक है, स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर छोड़कर औपचारिक राजनीतिक तथा विधिक सत्ता में पुरुष विशेषाधिकार की समस्या को नहीं सुलझाता है। बिना पुरुषों पर निर्भर हुए मातृत्व और नागरिकता के अधिकारों के बीच की दुविधा को 'वॉलस्टोनक्राफ्ट द्वंद्व' कहते हैं (पेटमैन, 1988)। आज के उदारवादी नारीवादियों की भांति वॉलस्टोनक्राफ्ट लिंग-निरपेक्ष आधारों पर महिलाओं के लिए नागरिकता चाहती थी और साथ ही उस ढांचे के अंतर्गत उनके विशिष्ट गुणों तथा भूमिकाओं, विशेषकर मातृत्व को पहचानना चाहती थी जिसमें महिलाओं की पुरुषों जैसा बनने के बाद ही पूर्ण नागरिक बनने की अनुमति थी। आज नारीवादी किसी वर्ग, प्रजाति में महिलाओं के बीच अंतर को तथा सामुदायिक अंतर को लैंगिक समानता की योजना में व्यवधान के रूप में देखते हैं। इसलिए महिलाओं और पुरुषों के बीच समानता के प्रश्न वर्ग, प्रजाति और समुदाय को काटते हैं (जाति और धर्म)। भारत में लिंग असमानताओं पर व्यापक ब्यौरे के लिए आईसीएसएसआर 1974 देखें। उपरोक्त संदर्भ में, अंतरापारिवारिक भेदभाव का शोध में विशेषाधिकार बढ़ गया।

10.2 घर का सामाजिक-आर्थिक गतिविज्ञान

1970 के दशक तक, आर्थिक विकास पर मानक साहित्य महिलाओं की स्थिति को अपने आप में एक अलग समस्या नहीं मानना चाहता था। लिंग-आधारित विश्लेषण को प्रायः अनावश्यक रूप से विभाजक के रूप में देखा जाता था। आर्थिक विकास के अध्ययनों में, अनेक लेखकों ने संपूर्ण परिवारों (वास्तव में घर) के अभाव को कष्ट का अध्ययन करने तथा उसका हल खोजने का उपयुक्त केंद्र मानने पर जोर दिया और इस प्रकार घरों की वर्ग-संरचना में और किसी विशिष्ट विन्यास में गरीबी-समृद्धि के विश्लेषण के लिए आर्थिक स्तरों में रखा।

जैसा कि ऊपर 10.1 में कहा गया है, नारीवादी सोचते थे कि विशेषकर नारीवादी अर्थशास्त्र साहित्य, 1970 के अंत में तथा 1980 के आरंभ में मानक आर्थिक विकास अध्ययनों के प्रति आलोचनात्मक था। इसके अतिरिक्त, आर्थिक वृद्धि प्रेरित विकास के स्थान पर सामाजिक-आर्थिक

विकास उसी समय वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य और संभावना उभरा। आधुनिकता परियोजना के लिए समाजों/समुदायों को अखंडित, अभिन्न श्रेणियों की तरह लेने के स्थान पर अनेक प्रकार के समाजिक-राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों को समन्वित करना एक चुनौती थी। लिंग संवेदनशील विकासात्मक साहित्य (मोसट 1993) ने भी आर्थिक विकास साहित्य में अभिन्न विश्लेषण की आलोचना की क्योंकि उसका विश्लेषण विकास में महिलाएं (डब्ल्यू आई डी), महिलाएं और विकास (डब्ल्यू ए डी) से लेकर लिंग तथा विकास (जीएडी) अभिगमों से निकला था।

हालांकि गैर-लिंग दृष्टिकोण की कुछ संदर्भों में संभावना हो सकती है, अन्य आय तथा वर्ग श्रेणियों में ये सकल से अधिक तथा भ्रामक हो सकती हैं। सामाजिक और आर्थिक विश्लेषण में, वर्ग, आय, स्वामित्व, व्यवसाय तथा घर की प्रस्थिति जैसे परिवर्तियों के संदर्भ में लिंग एक महत्वपूर्ण मापदंड है। यह अब सर्वविदित है कि पुरुषों की तुलना में घर के भीतर और बाहर दोनों जगह महिलाओं की प्रास्थिति कम है; यहां तक कि महिला प्रधान घरों में भी, महिलाएं आर्थिक संदर्भ में परेशानी का सामना करती हैं। गरीब घरों में महिला-प्रधान घरों की अधिकता है। गरीबी का नारीकरण गरीबी के लैंगिक आयाम के बारे में बताता है। इसलिए बिना लैंगिक आयाम को देखे, घर की गरीबी पर केंद्रित होना, गरीब घरों के कारणों, परिणामों तथा संबंधों को समझने में भ्रांति पैदा कर सकता है। सेन (1987) ने घर के गतिविज्ञान को समझने के लिए लैंगिक आयाम सहित शोध को प्रोत्साहन देने की बात कही। मैं आपको सेन (1993) का संदर्भ देना चाहूंगा जहां उसने परिवार (वास्तव में, घर) के तीन भिन्न विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण लिए हैं और उनके योगदानों तथा कमियों का मूल्यांकन किया है तथा सहयोगी-विवादपूर्ण इकाई वाले परिप्रेक्ष्य को विशेषाधिकार दिया है।

हालांकि मार्क्सवादियों ने परिवार की स्वार्थी तथा व्यक्तिपरक संस्था के रूप में आलोचना की, किंतु इसके विपरीत प्रमाण मौजूद हैं जहां परिवार में स्नेह, देखभाल और त्याग/निस्वार्थता, विवाद तथा हिंसा साथ-साथ रहते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि अभी तक परिवार जैसी संस्था का कोई विकल्प नहीं बना है हालांकि इसका आकार और संरचना तथा साथ ही उसकी नियामक रचना समय के साथ बदल गई है (परिवार के अपरिवर्तनीय में परिवर्तन के लिए पटेल 2005 देखें)। इस संदर्भ में, हम सेन (1993) द्वारा बताई गई परिवार के विषय में तीन प्रकार की मान्यताओं को देखते हैं। एकजुट परिवार (घर), परिवार को ऐसी इकाई के रूप में देखता है जो आय, व्यवसाय, वितरण और आबंटन के बारे में निर्णय अपने सदस्यों के बीच और अन्य व्यय शीर्षों में लेती है। ऐसी स्थिति में, कोई व्यक्ति निर्णय या व्यक्तिगत लाभ आदि नहीं होते, वरन् केवल पारिवारिक निर्णय होते हैं। यह मॉडल घर के सभी व्यक्तियों को एक इकाई में समायोजित करता है और समाज के अन्य घरों को सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से व्यवस्थित संबंधों की भिन्नताएं, आयु, लिंग, नातेदारी को छोड़कर उन्हें केवल उनकी आय, व्यय, संपत्ति स्वामित्व के आधार पर जोड़ता है। पहले वाले सीमाकारक तत्वों को भी विस्तार तथा मोड़ा जाता है जैसा कि विशिष्ट प्रकार से व्यवहार करते समय भी घर के सदस्य योजना बनाते हैं।

सेन द्वारा लिया गया अगला मामला बेकर (1981) की इस मान्यता पर आधारित है कि घर 'अति-व्यापारी परिवार' होता है। बैकर परिवार को आर्थिक दृष्टिकोण से देखता है जहां घर का प्रत्येक सदस्य प्रतिदिन व्यवहार के अतिरिक्त विवाह तथा बच्चे पैदा करने जैसी गतिविधियों द्वारा व्यक्तिगत लाभों को अधिकाधिक करना चाहता है। बेकर इस बात की उपेक्षा कर देता है कि लाभ का यह विस्तार बिना समझौते के– बिना मलकीयत, नियम तथा परंपरा की सीमाओं के नहीं हो पाता (बिकर के बारे में तथा ग्रामीण राजस्थान में सामाजिक रूप से व्यवस्थित तथा स्थित ऊर्वरता व्यवहार में 'एक बच्चा या एक कार' पर उसके शोध पर अधिक जानकारी के लिए पटेल 1994 देखें)। 'सौदाकारी मॉडल', घर के क्षेत्र में तर्कसंगत स्वार्थ के सिद्धांतों को लाता है– परिवार गतिविज्ञान को भ्रमित करने वाले 'सम्मोहक संबंधों के परदे' का एक आवश्यक रहस्यमयनाशक। परिवार की संबंधपटक प्रकृति– हालांकि, घर, सदस्यों की क्रियाओं को उनकी

केवल व्यक्तिगत क्षमता पर केंद्रित करने में ढक जाता है। संभवतः, घर-परिवार के क्षेत्र में 'बातचीत' को मुख्य सिद्धांत माना जाता है जहां पुरुष तथा महिलाएं स्वयं को संबंधों में तथा संबंधों के माध्यम से प्रचलित होते देखते हैं और जहां प्रणाली की संरचनात्मक रिक्तियों तथा द्वैधवृत्तियों के प्रयोग से, सीमाओं को धकेलते हुए, उपलब्ध वैकल्पिक अवधारणाओं का प्रयोग करते हुए, महिलाएं नातेदारी के ढांचों के बीच अपना काम चलाती हैं जो दमनकारी और विशेषकर सामाजिक सुरक्षा के प्रति सरकार के उत्तरदायित्व के अभाव में– समर्थनकारी दोनों होते हैं और उन्हें उनका प्राथमिक सुरक्षा तंत्र प्रदान करते हैं (गणेश 2001 29-30)।

तीसरी मान्यता जो सेन ने ली है, वह 'निरंकुश परिवार' की है। यह अभिगम मानता है कि परिवार का निरंकुश मुख्या सभी निर्णय लेता है तथा अन्य लोग केवल उनका पालन करते हैं। सेन 'महिलाओं की प्रस्थिति' और 'गरीबी का नारीकरण' पर लिखे साहित्य की ओर इशारा करता है जो 'निरंकुश परिवार' के दृष्टिकोण से परिवर्तन को दर्शाता है। इसके अतिरिक्त, वह स्वामित्व की सीमाओं और ऐसे नियमों की उपेक्षा करता है जो सभी समाजों के लिए एक-सी नहीं हैं। अपनी जीवन अवधि के दौरान घर के विभिन्न सदस्यों की स्थिति में धीमे बदलाव के लिए, पटेल 1994 (पाठ 6 और 7) देखें कि किस प्रकार महिलाएं अपने जीवन में किसी अवस्था के बाद अपनी उर्वरता प्राथमिकताओं को प्रबंधित करती हैं। इस प्रबंधन तथा निर्णय लेने की योग्यता स्थिर नहीं रहती बल्कि समय के साथ और घर के सदस्यों के भिन्न अनुभवों के विभिन्न समीकरणों में तथा नियमों, सीमाओं तथा स्वामित्व के साथ बदलती रहती है। यहां पर घर अपने सहयोगी-विवादपूर्ण इकाई के रूप में दिखाई देता है। (लिंग, स्वास्थ्य, शिक्षा, जीवन, लिंग-अनुपाद तथा मानव पूंजी विकास के ऐसे ही अन्य मापदंडों की तुलना और क्षमताओं के लिए सेन 1993 देखें)।

सोचिए और कीजिए 10.1

5 महिलाएं जो विभिन्न आयु सीमा में हों–1-20, 25-30, 35-40, 45-50 तथा 55-65 को साक्षात्कार कीजिए।

घर में उनकी विभिन्न भूमिकाओं के विषय में उनसे पूछिए; सामाजिक, आर्थिक रूप से, निर्णय लेने में। 'भारतीय घरों में महिलाओं की भूमिका तथा प्रस्थिति'' पर लगभग 5 पृष्ठों की एक टिप्पणी लिखिए जिसमें साक्षात्कार के माध्यम से एकत्रित डेटा की तुलना कीजिए। अपने अध्ययन केंद्र पर अन्य विद्यार्थियों के साथ अपनी टिप्पणी मिलाइए।

अनेक समाजों में घर के भीतर और बाहर दोनों जगह महिलाओं की व्यवस्थित रूप से हीन प्रस्थिति, विकासात्मक विश्लेषण में लिंग को अपने आप में एक शक्ति की भांति प्रयोग करने की आवश्यकता की ओर इशारा करती है। महिला प्रधान घरों में महिलाओं की आर्थिक परेशानी महिलाओं के जीवन में अभाव तथा परिवार की गरीबी, दोनों से जुड़ी समस्या है। इसके अतिरिक्त, एक ही परिवार की स्त्रियों और पुरुषों की भिन्न मानसिकता हो सकती है और इससे गरीब परिवारों में महिलाओं की स्थिति विशेष रूप से अनिश्चित हो जाती है (महिला-प्रधान घरों पर विवरण के लिए महिला गरीबी में गुलाटी 1981 रूपरेखाएं देखें)।

पिछले कुछ दशकों में, महिलाओं पर अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य से घर में लिंग रुझान पर काफी लिखित कार्य हो गया है जिससे महिलाओं के प्रति काफी नकारात्मक परिणाम सामने आए हैं। भारत के बड़े भागों में पैतृकवंशागत नातेदारी की प्रधानता के चलते, पुत्रों को प्राथमिकता तथा पुत्रियों का अवमूल्यन का यह प्रमुख कारण है कि समकालीन भारतीय परिवारों की महत्वपवूर्ण विशेषताएं हैं। किंतु सूक्ष्मताओं को जानने और अपनी पकड़ बनाए रखने के लिए यह सामान्यीकरण अत्यंत व्यापक है। घर-परिवार की जांच करना यह देखने के लिए आवश्यक है कि वंश या नातेदारी से प्राप्त न होने वाले नियमों और सिद्धांतों पर कार्य करने के लिए यह किस प्रकार का और कितना स्थान है। घर-परिवार में प्रवेश के संदर्भ में लिंग भेद के स्थल के रूप में घर, इस भेद को स्वीकार करने और इसे आगे फैलाने में सदस्यों के समाजीकरण की एजेंसी के रूप में तथा अनुशासनात्मक क्रिया के लिए उत्तरदायी एजेंसी के रूप में परिवार और

महिलाओं के अवमूल्यन के स्रोत के रूप में वंशागत प्रणाली की विचारधारा के बीच अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। एक ठोस संस्था के रूप में घर, पैतृकवंशागत नातेदारी का केवल एक अंश है। अन्य परंपरागत तथा आधुनिक संस्थाएं पैतृकवंश परंपरा में योगदान देती हैं। इनमें जाति-आधारित संस्थाएं और उनकी विचारधारा, सरकार तथा उसकी नीतियां, धार्मिक संस्थाएं, अर्थव्यवस्था, मीडिया– इस प्रकार बृहद् रूप में संस्कृति तथा समाज। इस प्रकार के जो विचार वे पुरुष और महिला के बारे में प्रस्तुत करते हैं, वे घर-परिवार के तंत्र में भी समाविष्ट होते हैं। उन विचारों का स्रोत, आवश्यक नहीं, कि वंशागत प्रथा ही हो। पैतृक वंशागत प्रथा प्राय: उस समाज को समझाने के लिए प्रयुक्त होती है जो विभिन्न मुख्य संस्थागत स्तरों पर पुरुष प्रधानता को अभिव्यक्त करता है और इस प्रकार के समाज में, नातेदारी सदैव नहीं किंतु प्राय: पैतृकवंशागत होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पारिवारिक संसाधनों के प्रति दावेदारी मुख्यत: नातेदारी के नियमों पर आधारित होती है और इस संदर्भ में, पैतृकवंश असंतुलित है और महिलाओं की हानि की दिशा में कार्य करता है (इग्नू के बी.ए. समाजशास्त्र कार्यक्रम की भारत में समाज ईएसओ-02 की इकाई 6 देखें)। किंतु भारत में पितृवंश की विशिष्ट प्रकृति कुछ सांस्कृतिक अवधारणाओं तथा मूल्यों को भी प्रदर्शित करती है जैसे नियति के रूप में विवाह का विचार, दान, विशेषकर कन्यादान (कुमारी लड़की का दान) का आध्यात्मिक लाभ, विवाहित स्त्री की शुभता और विधवा स्त्री की अशुभता, विवाहोपरांत स्त्री के शरीर के परिवर्तन का विचार और घर के विवाहजन्य संबंधों में उसके प्रथा समावेश का पावन विचार। ये पितृवंशागत पद्धतियों में अंतर्निहित नहीं है किंतु हिंदू भारत के लिए विशिष्ट है और उपमहाद्वीप में स्त्रियों के जीवन की गति के लिए उनमें निश्चित आशय हैं। अधिक आलोचनात्मक रूप से, पारिवारिक विचारधारा सहित घर की कार्यशैली के अनेक पक्ष, जाति की आवश्यकताओं से प्राप्त होते हैं (गणेश 2002:26-27)।

विकासशील देशों में महिलाओं और पुरुषों के जीवन दर में भी व्यस्थित अंतर पाए जाते हैं। एशिया का लिंग अनुपात (प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाएं) केवल 950 है किंतु अफ्रीका यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के निकट है तथा उसका अनुपात 1020 है जो उप-सहाराई अफ्रीका से काफी अधिक है। यहां तक कि एशिया में भी कुछ क्षेत्रों में लिंग अनुपात एक से अधिक है जैसे दक्षिण पूर्व एशिया (1001) किंतु चीन, भारत, बांग्लादेश और पश्चिम एशिया (940) और पाकिस्तान (900) से बहुत कम है। किसी देश के भीतर ही काफी अंतर है : उदाहरण के लिए, भारत में लिंग अनुपात हरियाणा तथा पंजाब में 870 से 880 के बीच है जबकि केरल में यह 1030 है। इससे स्पष्ट है कि यदि भारत में औसत अफ्रीका लिंग अनुपात प्राप्त किया जाता और तब पुरुषों की संख्या दी जाती तो आज भारत में लगभग 30 मिलियन महिलाएं अधिक होतीं (सेन 1988 देखें)। चीन में इसी प्रकार 'लापता महिलाओं' की संख्या लगभग 30 मिलियन है। लिंग विशिष्ट मृत्यु दरें–पुरुषों तथा महिलाओं के बीच सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से असंबद्ध–इन साधारण आंकड़ों में अभिव्यक्त होती हैं जो उस हिमखंड की केवल नोंक है जिसका अधिकांश भाग देख पाना अत्यंत कठिन है। बाद के अध्ययनों (अग्निहोत्री 2000) तथा बोस और शिवा (200?) भारत के विभिन्न क्षेत्रों और कालावधियों में लिंग अनुपात के तीखे अहितकारक अंतरों को उजागर करते हैं।

आज के समय में लिंग भेदभाव पर प्रमाण का कोई अभाव नहीं है। इस क्षेत्र में जॉन हॉडीनॉट ने (1996) साहित्य में योगदान दिया है। फीलीपींस तथा बांग्लादेश से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए, हॉडीनॉट का कहना है कि घरेलू स्तर पर पोषणात्मक पर्याप्तता, घर के एक-एक सदस्य के स्तर पर पर्याप्तता के साथ संबंधित नहीं है। उसके द्वारा प्रस्तुत डेटा दर्शाता है कि अध्ययनाधीन घरों के व्यक्तियों के स्तर पर, घर के पोषण के कुल स्तरों के पर्याप्त होने के बावजूद, उनका पोषण स्तर कम था और इसके अतिरिक्त, घरों के अंतर्गत महिलाओं की तुलना में पुरुषों को भोजन अधिक मिलता है। इस प्रकार के भेदभाव को निश्चय ही, लिंग भेद-भाव के सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूपों के संदर्भ में समझाया गया है। अपने शोध में हॉडीनॉट ने दर्शाया है कि इसके अतिरिक्त भी एक आयाम शामिल है।

अपनी बात कहते समय, वह कार्यकुशलता, बराबरी तथा सौदेबाजी के आर्थिक सिद्धांतों का सहारा लेता है। इनमें से, सर्वप्रथम भोजन का वितरण है जैसे कि घर के पोषणकारी संसाधन उसके अधिक उत्पादनशील सदस्यों को अधिक मिलते हैं। इससे जानबूझकर पुरुषों के हक में भोजन वितरण का आधार बनता है। यहां पर घर की उत्पादकता तथा आय को अधिकतम करना मुख्य तर्क है। इसका एक आशय, लेखक के अनुसार यह है कि लड़कियों के लिए विद्यालय में भोजन के कार्यक्रम रोके जा सकते हैं जब घरों में लड़कियों को दिए जाने वाले भोजन में कमी के घर के आर्थिक रूप से अधिक उत्पादनशील सदस्यों को 'अतिरिक्त' भोजन देकर इसकी 'पूर्ति' की जाती है। घर में लिंग-भेद के पीछे आर्थिक कारण मुख्य होते हैं। किंतु कार्यकुशलता का सिद्धांत अक्षम्य नहीं है क्योंकि ऐसा समय भी आता है जब यह सिद्धांत, समानता के सिद्धांत के पीछे दब जाता है। ग्रामीण भारत से प्राप्त प्रमाण दर्शाता है कि बहुलता के मौसम में पहले वाला सिद्धांत कम कार्यकारी होती है, जिस समय समानता के मुद्दे उभरकर आ जाते हैं।

तीसरा सिद्धांत-सौदेबाजी-गैर-सहयोगी खेल सिद्धांत का सहारा लेता है। हॉडीनॉट (1996) कहता है कि अपने संसाधनों का एकत्रीकरण करने पर घर के सदस्यों को होने वाला लाभ खतरे में पड़ जाता है कोई भी सदस्य 'बाहरी विकल्प' यानी पारिवारिक एकत्रीकरण के प्रबंध से बाहर उपलब्ध किसी आर्थिक अवसर को चुनने की धमकी देता है। इससे घर के भोजन संसाधनों पर बड़े भाग का दावा करने के लिए उसे सौदेबाजी का मुद्दा मिल जाता है। अवधारणा और संचार की यह अनुभववादी समस्या निश्चय ही महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर, यह भी स्पष्ट है कि इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि निजी कल्याण की अवधारणा संभव नहीं है। ऐसे परंपरागत समाज में भी व्यक्तिनिष्ठता की अवधारणाओं में काफी अंतर होते हैं और यहां निजी कल्याण की अवधारणा का अभाव न तो अखंडनीय है ओर न ही सामाजिक विकास के विरुद्ध है। वास्तव में, राजनीतिकरण की प्रक्रिया–लिंग मुद्दे की राजनीति मान्यता सहित–स्वयं ही इन अवधारणाओं में भारी बदलाव ला सकती है।

अनेक समाजों में घर के बाहर और भीतर महिलाओं की व्यवस्थित रूप से हीन स्थिति, विकासात्मक विश्लेषण में लिंग को अपने आप में एक शक्ति मानने की आवश्यकता की ओर इशारा करती है। महिला प्रधान घरों में महिलाओं की आर्थिक परेशानी, महिलाओं के जीवन में अभाव तथा परिवार की गरीबी, दोनों से जुड़ी समस्या है। इसके अतिरिक्त, एक ही परिवार की स्त्रियों और पुरुषों की मानसिकता भिन्न हो सकती है और इससे गरीब परिवारों में महिलाओं की स्थिति विशेष रूप से अनिश्चित हो जाती है। लिंग को ध्यान में न रखते हुए परिवार की गरीबी पर ध्यान देना कारण और प्रभावों दोनों की दृष्टि से भ्रामक हो सकता है।

यह तथ्य कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं का सापेक्ष अवमूल्यन विश्वभर में किसी भी प्रकार से समान नहीं है, विश्लेषण के मापदंड के रूप में लिंग के महत्व को कम नहीं करता है। यह परिवर्तनीयता स्पष्ट अवमूल्यनों के कारणात्मक विशेषताओं के प्रति गंभीर रूप से ध्यान देने का एक महत्वपूर्ण कारण है। एक अत्यंत सरल और अपरिपक्व उदाहरण लेते हुए यह स्पष्ट है कि जीवन और जीवनावधि में पुरुषों की तुलना में महिलाओं को स्पष्ट रूप से मिलने वाले शारीरिक लाभ के बावजूद (जीवन और मृत्यु के मूलभूत मुद्दों पर मिलने वाले ध्यान में जब कुछ समानता होती हैं जैसे पोषण, स्वास्थ्य संबंधी देखभाल और चिकित्सा देखभाल), अल्पविकसित देशों की जनसंख्या में जीवित पुरुषों की संख्या जीवित महिलाओं से कहीं अधिक है जबकि अधिक विकसित देशों में स्थिति एकदम विपरीत हैं। यूरोप और उत्तर अमेरिका में प्रति 100 पुरुषों पर लगभग 106 महिलाएं हैं जबकि विकासशील देशों में समग्र रूप से प्रति 100 पुरुषों पर केवल 97 महिलाएं हैं। चूंकि मृत्यु और जीवन देखभाल तथा उपेक्षा पर निर्भर है और सामाजिक कार्य एवं सार्वजनिक नीति द्वारा प्रभावित है, यह अत्यधिक अपरिपक्व परिप्रेक्ष्य भी लिंग को विकासात्मक अध्ययनों में महत्वपूर्ण मापदंड के रूप में अलग करने से नहीं चूक सकता है।

हालांकि, इस प्रारंभिक मान्यता को कारगर बनाना सामाजिक विश्लेषण में लिंग श्रेणियों तथा लिंग विशिष्ट सूचना के प्रयोग के लिए पर्याप्त ढांचा खोजना कठिन है। सेन (1990) का कहना है

कि यह समस्या इतनी जटिल तथा मूलभूत है कि इसे किसी सरल मॉडल द्वारा 'सुलझाया' नहीं जा सकता किंतु आर्थिक और सामाजिक संबंधों में अवधारणात्मक संरचना और लिंग विश्लेषण के सूचनात्मक आधार को विस्तृत करके इस समस्या को समझने की दिशा में एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है। अत: वह अपने विश्लेषण में निम्नलिखित तत्वों को समाविष्ट करने के लिए घर के अंतर्गत आय और संसाधनों के वितरण को विस्तार देता है।

10.3 योग्यताएं, कुशलता, माध्यम और बोध

सेन (1990) घरेलू प्रबंधन के व्यापक विवादों तथा सहयोग के सहअस्तित्व को समझने के लिए घर की अर्थव्यवस्था के विभिन्न सिद्धांतों को देखता है जैसे ''घरेलू उत्पादन'', ''पारिवारिक आबंटन'' या ''समतुल्यता माप'' के मानक मॉडल। किंतु इनका भी सूचनात्मक आधार अपर्याप्त होता है और लाभ तथा योगदानों के प्रभाव की ये उपेक्षा करते हैं। इस संदर्भ में, न केवल योग्यताएं, कुशलता तथा माध्यम महत्वपूर्ण हैं बल्कि इन गुणों और ऐसी ही अन्य विशेषताओं का बोध भी महत्वपूर्ण है।

इसके बाद 'सहयोगी-विवादों' की दिशा में एक वैकल्पिक अभिगम की रूपरेखा बनाई जाती है जिसमें परिणाम के दिशात्मक उत्तरों के रूप में कुछ गुणात्मक संबंध से लेकर सूचनात्मक आधार में कुछ विशिष्ट परिवर्तियों की पहचान की जाती है। ये संबंध, अंतराघरेलू विभाजनों में बोधजन्य वैधता की अवधारणाओं के समावेश द्वारा 'अधिकारों' की संकल्पना (घर की हानि और बाढ़ के अध्ययन में पहले से ही प्रयुक्त) को तेज करने के आधार पर 'विस्तारित अधिकारों' के प्रारूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की अनेक पहचान होती हैं। पुरुष या स्त्री होना, उनमें से एक है। किसी परिवार का सदस्य होना एक अलग पहचान हैं हमारी रुचियों, आभार, उद्देश्यों और वैध व्यवहार की हमारी समझ इन भिन्न पहचानों के अलग-अलग और कभी-कभी परस्पर विरोधी-प्रभावों से प्रभावित होती हैं। कुछ संदर्भो में पारिवारिक पहचान हमारे बोध पर इतना अधिक प्रभाव डालती है कि अपने व्यक्तिगत कल्याण के विषय में कोई स्पष्ट संकल्पना बनाना हमारे लिए कठिन हो सकता है। कुछ पारंपरिक समाजों (जैसे भारत) में परिवार केंद्रित बोध की अनुभववादी समझ के आधार पर, कुछ लेखकों ने उन समाजों में व्यक्तिगत कल्याण की संकल्पना की संभावना का विरोध किया है (दास एवं निकोलस 1981)। प्राय: यह देखा गया है कि यदि किसी ग्रामीण भारतीय महिला से उसके व्यक्तिगत ''कल्याण'' के विषय में पूछा जाए तो उसे यह प्रश्न समझ में नहीं आएगा और यदि वह उत्तर दे पाए तो वह इस प्रश्न का उत्तर उसके परिवार के कल्याण से संबंधित संदर्भ में देगी। ऐसे संदर्भ में व्यक्तिगत कल्याण के विचार की संभावना कम है। ऐसा महिलाओं के साथ ही नहीं बल्कि पुरुषों के साथ भी होता है। राजस्थान में बड़ी उम्र के लोगों के बीच क्षेत्र कार्य के दौरान ऐसा देखने में आया था (शाह, पटेल तथा लोबो 1987)। अपनी आय तथा अपने लिए एक कमरा होने के प्रश्नों को न तो पुरुषों और न ही महिलाओं ने सार्थक और आवश्यक समझा। वे अधिक से अधिक उन चीजों के निजी खर्चों के विषय में बता सके जो घर में अन्य कोई प्रयोग नहीं करता था, जैसे तंबाकू, नसवार, अफ़ीम आदि।

जहां तक अंतरापारिवारिक विभाजनों में भोजन, चिकित्सासुविधा, स्वास्थ्य देखभाल तथा अन्य चीजों के आबंटन में असमानताएं शामिल थी, पारिवारिक कल्याण के लिए चिंता के साथ निजी रुचियों के बोध का अभाव, निश्चय ही, ऐसा व्यवहार है जो परंपरागत असमानताओं को कायम रखने में मदद करता है। इतिहास में अनेक प्रमाण है कि अत्यधिक असमानताएं अभावग्रस्त लोगों में मित्रता द्वारा प्राय: जीवित रहती हैं। अभावग्रस्त व्यक्ति इस असमान व्यवस्था की वैधता को स्वीकार कर लेता है और उसका भागीदार बन जाता है। उस असमानता के अभाव को उस असमानता (अथवा उस प्रश्न की असंभाव्यता) के अभाव का प्रमाण समझना, बड़ी गलती हो सकती हैं। हम उस उदाहरण की ओर लौट सकते हैं जो मैंने बुज़ुर्गों के साथ अपने क्षेत्र कार्य के अनुभव से दिया था। केवल महिलाओं ने ही नहीं बल्कि पुरुषों ने भी निजी/व्यक्तिगत आय

एवं कमरे से संबंधित प्रश्नों को निरर्थक माना था। ये पुरुष अपने परिवार में अभावग्रस्त नहीं थे और न ही वे वृद्ध महिलाएं अभावग्रस्त थी। यह बोध तथ्यों और उन तथ्यों के बारे में सांस्कृतिक अवधारणों, भावार्थों तथा मूल्यों पर आधारित है जिससे परिवार के सदस्यों के अभाव तथा रुचियों का अध्ययन जटिल हो जाता है।

सेन आगे कहता है कि निजी रुचि और कल्याण केवल बोध से संबंधीत बातें नहीं हैं; इन अवधारणाओं के वस्तुनिष्ठ पक्ष भी है जो उस समय भी ध्यान चाहते हैं जब समवर्ती स्व-बोध मौजूद नहीं होता है। उदाहरण के लिए, अस्वस्थता दर या कुपोषण से संबंधित 'कुचाल' में एक तत्काल भाव होता है जो व्यक्ति के अपने कल्याण से संबंधित विस्तृत प्रश्नों के उत्तर देने के प्रति उसके रुझान या इच्छा की प्रतीक्षा नहीं करता है। वास्तव में किसी व्यक्ति की कुशलता को संभवत: उस व्यक्ति के कार्य और योग्यताओं के संदर्भ में देखा जा सकता है; वह क्या कर सकता या सकती हैं अथवा अस्वस्थता अथवा मृत्यु से बचने के लिए, पढ़ने लिखने और बात करने के लिए, समुदाय की गतिविधियों में भाग लेने के लिए, सबके सामने बिना शर्म आने के लिए सुपोषित होना चाहिए। मुझे लगता है कि यहां पर सेन का अर्थशास्त्र बलपूर्वक लौट कर आता है। वह व्यक्तिवाद के लिए तर्क करता है और यह उपयोगी परंपरा में पश्चिमी उदारवादी विचारधारा के अनुसार हैं।

व्यक्ति की 'कुशलत' और 'माध्यम' के बीच भेद करना भी संभव है। अपनी कुशलता के अतिरिक्त व्यक्ति के विभिन्न लक्ष्य और उद्देश्य हो सकते हैं। हालांकि व्यक्ति की कुशलता और उसके अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के बीच स्पष्ट संबंध होते हैं। माध्यम के रूप में सफलता, आवश्यक नहीं कि व्यक्ति की अपनी कुशलता के साथ संबंधित हो और उसके साथ पहचानी जाए। यह माध्यम पक्ष सबसे अधिक वैध व्यवहार की संकल्पना और व्यक्ति के आभार की समझ द्वारा प्रभावित होता है।

10.4 सामाजिक प्रौद्योगिकी, सहयोग और विवाद

प्रौद्योगिकी की 'सामाजिक' विषयवस्तु को मार्क्स ने 'विभिन्न प्रक्रियाओं का सामाजिक समग्र में संयोजन' नाम दिया। तथाकथित 'उत्पादनशील' गतिविधियां अन्य कार्यों के ऊपर परजीवी हो सकती हैं जैसे गृह कार्य और खाना बनाना, बच्चों की देखभाल या खेत में खाना लाना जहाँ किसान काम कर रहे होते हैं। प्रौद्योगिकी का संबंध केवल उपकरणों और उनकी प्रचालन विशेषताओं से नहीं होता है बल्कि उन सामाजिक प्रबंधों से भी होता है जो उपकरणों के प्रयोग और तथाकति उत्पादनशील प्रक्रियाओं को जारी रखने की अनुमति देते हैं।

उत्पादन और प्रौद्योगिकी के मूल्यांकन में घरेलू गतिविधियों को अनेक विरोधी तरीकों से देखा गया हैं। एक ओर यह सही है कि आजीविका, जीवन और कारीगरों का प्रजनन बाहरी काम के लिए उपलब्ध कार्यकर्त्ताओं के लिए निश्चित रूप से आवश्यक हैं। दूसरी ओर वे गतिविधियां जो उस आजीविका, जीवन अथवा प्रजनन का उत्पादन करती है या समर्थन करती हैं, उन्हें परिणाम में योगदान देने वाला नहीं माना जाता है और उन्हें प्राय: 'अनुत्पादक श्रम' के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

सेन (1990) भौतिक (धन संबंधी), किसी घर में योग्यताएं एवं बोध के सहस्तित्व को संयोजित करने के लिए एक घर का कल्पित उदाहरण देता हैं। वह कहता है, घरा के बाहर या भीतर गतिविधियों के ढांचे का एकीकृत दृष्टिकोण लीजिए जो मिलकर परंपरागत और आधुनिक समाजों में उत्पादन क्रियाएं बनाता है। लिंगों के बीच संबंध उन तरीकों द्वारा बनाते हैं जिनसे ये विभिन्न गतिविधियां एक-दूसरे का समर्थन करती है और अन्य बातों के साथ-साथ एकीकरण के विशिष्ट ढांचों पर निर्भर करती है।

किसी घर की समृद्धि विभिन्न गतिविधियों की समग्रता पर निर्भर करती हैं–धन कमाना, खाद्य सामग्री और अन्य वस्तुएं खरीदना या सीधे उत्पादन करना, खाद्य पदार्थों से खाद्य भोजन

बनाना आदि। किंतु कुल समग्रता के अतिरिक्त सामान्य रूप से लिंगों के बीच विभाजन और विशिष्ट रूप से घर के अंतर्गत विभाजन कार्य के लिंग विभाजन के ढांचे द्वारा भी अत्यधिक प्रभावित होते हैं। विशेष रूप से घर के सदस्य दो भिन्न प्रकार की समस्याओं का एकसाथ सामना करते हैं। एक समस्या सहयोग (कुल उपलब्धताओं में जोड़ना) की हैं और दूसरी समस्या, विवाद (घर के सदस्यों के बीच कुल उपलब्धताओं को बांटना) की है। कौन क्या करता है और कौन क्या निर्णय लेता है, इससये संबंधित प्रबंधों को सहयोग और विवाद की इस संयोजित समस्या के उत्तरों के रूप में देखा जा सकता है। श्रम का लैंगिक विभाजन, सामाजिक प्रबंध का एक भाग है।

प्रौद्योगिकी तथा उत्पादन के विस्तृत दृष्टिकोण के संदर्भ में सामाजिक प्रबंधों को देखने के कुछ दूरगामी प्रभाव होते हैं। पहला, विशुद्ध रूप से 'सांस्कृतिक घटनाएं' माने जाने वाले उत्पादनशील पक्षों की जांच की आवश्यकता की ओर यह इशारा करता है। वास्तव में श्रमिकों द्वारा दिए गए योगदान उन गतिविधियों में व्यय हुए जो प्रत्यक्ष रूप से संकीर्ण रूप से परिभाषित 'उत्पादन' से संबद्ध नहीं हैं। दूसरा, यह सामान्य रूप से सामाजिक प्रबंधों के असमान ढांचों की स्थिरता और जीवन तथा विशिष्ट रूप से अत्यधिक असमान लैंगिक विभाजन पर प्रकाश डालता है। इसका एक उदाहरण अधिकांश समाज़ों में श्रम का लचीला सामाजिक विभाजन है जिसके द्वारा महिलाएं खाना पकाती हैं और बाहर के काम करती हैं जब तक रसोइए का काम करना उसके साथ जारी रह सकता है। तीसरा, सामान्य उत्पादनशील प्रबंधों के संदर्भ में भुगतान किए गए कार्य और बिना भुगतान के कार्य के बीच अंतर है। और चौथा, घर के बाहर और भीतर लैंगिक विभाजनों के विशष्टि ढांचे हैं। सहयोगी प्रबंध की प्रकृति निहितार्थ रूप से वितरणात्मक मानदंडों और विवादों के प्रति घर के उत्तर तथा रुचि के बोध को प्रभावित करती हैं। नातेदारी की पद्धतियां विभिन्न नातेदारी तंत्रों के सदस्य को अनेक गतिविधियों की ओर अग्रसर करती हैं। पितृवंशागत, मात्र वंशागत और द्विवंशाक नातेदारी पद्धतियों वाले समाजों में गतिविधियों के बोध में अंतर हो सकता है। फिर भी हमें दुनिया में बृहत् विचारधारा के रूप में पैतृवंश के प्रसार और प्रभाव को मानना चाहिए। दुबे (2001) ने तीन नातेदारी पद्धतियों की तुलना की है जिनके द्वारा लैंगिक संबंधों की गुणवत्ता और महिलाओं की स्थिति घर के भीतर और बाहर बदलती रहती है।

घर के सहयोगी-विवादपूर्ण इकाई में योग्यताओं, माध्यम एवं बोध के आयाम को जोड़कर सेन (1990) ने इस प्ररिप्रेक्ष्य की परिधि को आय एवं संसाधनों के वितरण के अतिरिक्त अन्य कई आयाम जोड़कर बढ़ा दिया हैं।

सोचिए और कीजिए 10.2

1) दुबे राणा (अध्याय 6) पढ़िये और अपने निबंध में समझाए गए तीन नातेदारी की पद्धतियों में घर में महिलाओं की तुलनात्मक स्थिति पर चर्चा कीजिए अथवा

2) अपनें पड़ोस में पांच घर लीज़िए। प्रत्येक सदस्य की गतिविधियों और खान-पान की एक सूची बनाइए। इस डेटा को लिंग, आयु और घर के मुखिया के साथ नातेदारी के संबंधों की दृष्टि से वर्गीकृत कीजिए।

सदस्यों के बीच कार्य तथा खानपीन में घर के भीतर और बाहर दोनों जगह के अंतर पर चर्चा कीजिए।

10.5 सारांश

इस इकाई 10 में उस परिप्रेक्ष्य पर ध्यान दिया जो घर को सहयोगी इकाई के साथ-साथ विवादपूर्ण इकाई के रूप में देखता है। पिछली इकाई, इकाई 9 में हमने देखा कि परिवार और घर में, भावनाओं में किस प्रकार प्यार और स्नेह के सकारात्मक भावों का ही नहीं बल्कि तनाव, घृणा, दुश्मनी और ईष्या का भी समावेश होता हैं। यह सहयोगी विवादपूर्ण परिप्रेक्ष्य नारींवादी विचार और संघर्ष की पृष्ठभूमि में उभरकर आया। इस विचार ने आर्थिक विश्लेषण को भी प्रभावित

किया। इसने बिना आंतरिक भेदभाव के घर को एकीकृत और समग्र रूप से अध्ययन करने के मूल्य पर प्रश्न चिह्न लगाया। तत्पश्चात् विश्लेष्णात्मक मानदंडों में योग्यताओं, कुशलता, माध्यम, बोध और सामाजिक प्रौद्योगिकी के मुद्दों के समावेश द्वारा प्रगति हुई।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नातेदारी की पद्धतियों के समान गतिविधियों के अलग-अलग अर्थ होते हैं। इसी खंड की इकाई 11 और 12 में यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

हम सहयोग के साथ विभिन्न मात्राओं में विवाद को मिलाकर घर के 'प्रजनन तथा लिंगभेदभाव' आयाम को जोड़ सकते हैं। हम इस मुद्दे पर इस इकाई की प्रस्तावना में चर्चा कर चुके हैं। हम इसमें बोध की भूमिका को शामिल करके यह भी देख सकते हैं कि संसाधनों के वितरण, उर्वरता निणर्यों में विभिन्न सदस्यों के योगदान से संबंधित बोध, सरकार द्वारा उसकी नीतियों के माध्यम से किस प्रकार प्रभावित होता है। इसी अर्थ में घर के ऊपर जाति तथा धार्मिक समुदाय का प्रभाव मजबूत होता है तथा सामाजिक प्रौद्योगिकी, योग्यताओं, माध्यम और घर में गतिविधियों के बोध को प्रभावित कर सकता है। इसमें मताधिकार, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, जीवन साथी के चुनाव, तलाक और पुनर्विवाह, जीवविज्ञानी और सामाजिक प्रजनन, स्वास्थ्य देखभाल की सुगमता आदि शामिल हो सकते हैं। भारत और चीन की जनसंख्या नीतियों ने घर में प्रजनन पर अत्यधिक अलग ढंग से प्रभाव डाला है। सरकार की नीतियों और घर/परिवार का विश्लेषण सहयोगी-विवादपूर्ण परिप्रेक्ष्य से किया जाना चाहिए।

10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्निहोत्री, एस.बी. 2000. *जूवैनाइल सैक्स रेशियो पैटर्न्स इन द इंडियन पौप्यूलेशन: ए फ्रैश एक्सपलोरेशन*. सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

दूबे, एल. 2001. *एन्थ्रोपौलिजिकल एक्सपलोरेशन इन जैन्डर*. सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

गुलाटी, एल. प्रोफाइल्स इन पावर्टी, हिन्दुस्तान, नई दिल्ली।

सेन, अमर्त्य. 1993. *इकोनोमिक्स एंड दि फैमिली*, इन ओबेराय द्वारा सम्पादित. *फैमिली मैरिज एण्ड किनशिप इन इंडिया*। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस। 452-463, दिल्ली।

MAADHYAM IAS

इकाई 11

विवाह और उसके बदलते स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 क्या भारत में विवाह की संस्था सार्वभौमिक है?

11.3 विवाह-क्या और क्यों

11.4 भारत में विवाह की उम्र

11.5 विवाह संबंधी नियम

11.6 जीवन साथी के चयन के तरीके

11.7 वैवाहिक अनुष्ठान और प्रस्थिति

11.8 विवाह विच्छेद

11.9 सारांश

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इकाई 11 का उद्देश्य भारत में विवाह के बदलते स्वरूप का विश्लेषण करना है। इकाई को पढ़ने के बाद आशा है आप:

- भारत में विवाह की प्रथा की सर्वव्यापकता पर प्रश्न कर सकेंगे;
- विवाह की आयु के पक्ष पर चर्चा कर सकेंगे;
- जीवन साथी के चयन के स्वरूप में आए परिवर्तनों पर चर्चा कर सकेंगे;
- विभिन्न समुदायों के विवाह में मूलभूत रीतियों को बता सकेंगे;
- यह बता सकेंगे कि विवाह के साथ संबंधित समूहों के बीच होने वाले संपत्ति और प्रतिष्ठा के भौतिक तथा प्रतीकात्मक स्थानांतरण के दौरान, विवाह किस प्रकार इन समूहों की प्रतिष्ठापरक आकांक्षाओं की निरूपित करता है; और
- तलाक तथा पुनर्विवाह के मुद्दों की जांच कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

हम यह मानकर चलते हैं कि भारत में विवाह, परिवार और नातेदारी की प्रथाएं विश्वव्यापक हैं और क्षेत्र, धर्म, भाषा और जाति, वर्ग तथा व्यवसाय के आधार पर समाजशास्त्रियों को इन प्रथाओं में परिवर्तन पर चर्चा करने की आवश्यकता है। इन परिवर्तनों के चलते इन्हें भारतीय सामाजिक संरचना की इन प्रथाओं के विषय में इनका सामान्यीकरण करना कठित लगता है।

इकाई 11 में जो मूलभूत प्रश्न मैं उठाने जा रहा हूं, वह भारत में विवाह के प्रथा में समान तथा भिन्न तत्वों पर चर्चा की वैद्यता का है। क्या इससे हमें अपने देश में विवाह की प्रथा के मौजूदा स्वरूप को समझने का अवसर मिलता है? विवाह की प्रथा की लगभग सार्वभौमिकता वाली विशेषता को देखने तथा भारत में विवाह की आयु के मुद्दे पर चर्चा करने से, विभिन्न क्षेत्रों में,

विवाह की इन दो विशेषताओं से संबंधित, इनमें मौजूद एकता निरूपित हो सकती है। दूसरी ओर, आप विभिन्नता के संदर्भ में, विवाह तथा भारत में तलाक और पुनर्विवाह की प्रणालियों और इनकी संभावनाओं से संबंधित, विवाह के स्वरूप, जीवनसाथी के चयन के स्वरूप, विवाह की रीतियां और भौतिक एवं गैर-भौतिक विनिमय के रूप में इन विशेषताओं पर चर्चा कर सकते हैं। इनमें से अधिकांश विशेषताएं पुरुष अथवा स्त्री के प्राथमिक विवाह (अर्थात् पहली बार होने वाला विवाह) से संबंधित होती हैं। किसी विधवा/विधुर अथवा विच्छेदित अथवा तलाकशुदा स्त्री/पुरुष के द्वितीय विवाह में बहुत कम धूम-धाम होती है, जिसमें बिल्कुल नहीं या बहुत कम रीतियां होती हैं। इसी प्रकार, जीवनसाथी के चयन का स्वरूप पहले तथा दूसरे विवाह में भिन्न हो सकता है।

भारत में विवाह की प्रथा की समान और भिन्न विशेषताओं को देखने की प्रक्रिया को समाप्त करने के बाद भी आप उन विचारों, मूल्यों, पद्धतियों और विवादों के मंथन को नहीं देख पाए होंगे जो विवाह के बदलते स्वरूप के संदर्भ में मस्तिष्क में आते हैं। हम पाते हैं कि आज विवाह और इसकी ज्ञान मीमांसा की अवधारणा पर अनेक प्रश्न किए जाते हैं। नारीवादियों, दलित विद्वानों और वाम-पंथियों ने विवाह के विषय में मौजूद विचारों की सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों अर्थों में आलोचना की है। कुछ ने प्रत्येक व्यक्ति के निजी जीवन में विवाह की प्रथा की बढ़ती हुई पकड़ को स्वीकार किया है और इसके मौजूदा लाभकारी दृष्टिकोण से इसका समर्थन करने का प्रयास किया है। नारीवादी प्रवचन में, आप पाएंगे कि विवाह एक मुख्य बात है अथवा एक संगठनात्मक मंच है जिसके माध्यम से नारीवादियों ने न केवल दमन को समझने का प्रयास किया है बल्कि ऐसे अनेक समान गतिविधि क्षेत्रों को स्थापित किया एवं उनका समर्थन किया है। विवाह के विषय में संबंधित मुद्दों के अतिरिक्त, मैं आपका ध्यान विवाह की प्रथा और उसके बदलते स्वरूप के विषय में उभरती हुई विचारधारा की ओर आकर्षित करूंगा। मैंने बदलते हुए स्वरूपों तथा उनके सैद्धांतिक महत्व के उदाहरणों को विवाह, परिवार और समुदाय पर एक गोष्ठी, शाह (2005:709), हंसमैन (2005 : 709–712), जॉन (2005 : 712–715), राव (2005:715-718) और रिनचिन (2005:718-721) के योगदानों से लिए हैं। मैं यहां यह स्वीकार करता हूं कि उनके आलेखों ने भारत में विवाह के विचारों के विषय में पुनर्विचार के लिए मामला तैयार करने में मेरी मदद की है।

MADHYAMIAS
achieve your dream

उपरोक्त प्रत्येक पक्ष पर चर्चा के दौरान हम विवाह के स्वरूपों पर बात करेंगे, जिसमें स्वतंत्रता के बाद भारत में आए परिवर्तनों का विशेष संदर्भ होगा। इस विषय के विभिन्न पक्षों पर विवरणों के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के समाजशास्त्र विषय की पठन सामग्री में उपलब्ध विस्तृत बातों के विषय में मैं आपको पहले बता चुका हूं। इन अंशों को पढ़ने से आपको मूलभूत अवधारणाओं की पृष्ठभूमि और स्पष्टीकरणों को जानने में मदद मिलेगी।

हम विवाह के प्रत्येक पक्ष पर कुछ मुख्य समुदायों जैसे हिंदू, मुसलमानों तथा ईसाइयों से उपयुक्त उदाहरणों सहित चर्चा करेंगे। कुछ सतही जानकारी को छोड़कर, जनजातिगत जनसंख्या में पाए जाने वाले विवाह के स्वरूपों को इसलिए नहीं समझाया गया है क्योंकि जनजातियों पर इस पाठ्यक्रम में एक अलग खंड है।

11.2 क्या भारत में विवाह की संस्था सार्वभौमिक है?

विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है इसलिए इसे परिभाषित करना आवश्यक है ताकि इसे सार्वभौमिक संदर्भ तथा अनुप्रयोग प्राप्त हो जाए। इसी के साथ यह एक ऐसा संबंध है जिसने भारत में विवाह की परिभाषा से संबंधित अनेक विवाद उत्पन्न किए हैं। हालांकि यह विवाद केरल के नायरों के संदर्भ में खड़ा हुआ था किंतु इसने सामान्य महत्व का रूप ले लिया। आप 'विवाह' की परिभाषा की समस्याओं पर हुए इस विवाद के विषय में कुछ जानना चाहेंगे।

लीच (1955:107-108) विवाह को "अधिकारों का गुच्छ" मानता था। इनमें निम्नलिखित अधिकार शामिल थे–

- संतान की वैधीकृत करना।
- पति/पत्नी के यौन संबंध, श्रम तथा संपत्ति पर सामाजिक रूप से स्वीकृत अधिकार।
- लोगों और समूहों के बीच विवाहजन्य संबंध स्थापित करना।

एक विशिष्ट मानव विज्ञान संदर्भ के अनुसार उपरोक्त अधिकारों की सूची में कुछ अन्य विशेषताएं जोड़ना संभव है। किंतु यदि आपको विभन्न समुदायों में विवाह का तुलनात्मक अध्ययन करना हो तो आप इस शब्द को अधिक सटीक ढंग से परिभाषित करना चाहेंगे ताकि आपके द्वारा की गई पास-सांस्कृतिक तुलना समान प्रकार की घटनाओं का संदर्भ दे सकें। इस प्रकार की परिभाषाओं को खोजने के लिए टिप्पणी एवं प्रश्न की मदद लेना अति सामान्य बात है। टिप्पणियां एवं प्रश्न (1951:110) विवाह को निम्नलिखित रूप से परिभाषित करती है।

विवाह पुरुष और स्त्री के बीच मिलन होता है जिसमें स्त्री द्वारा जन्म दिए गए बच्चे दोनों साथियों की मान्यता प्राप्त वैध संतान होते हैं।

मुझे आशा है कि भारत में समाज के संदर्भ में विवाह की इस परिभाषा को आप प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लेंगे। किंतु गोह, जिसने केरल के नायर समुदाय पर अध्ययन किया, ने पाया कि नायर लड़कियां और नम्बूदरी ब्राह्मण लड़कों के मिलन को उपरोक्त परिभाषा के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता था (इस विशिष्ट मामले के विवरण के लिए जैन 1996:151-190 तथा इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 के खंड 3 की इकाई 9 देखें)। गोह (1959:32) ने "विवाह' की परिभाषा को निम्नलिखित शब्दों में बदलने का प्रयास किया।

विवाह एक स्त्री तथा एक अथवा अधिक लोगों के बीच स्थापित संबंध है जिसके अंतर्गत, ऐसी परिस्थितियों में जो संबंध के नियमों द्वारा वर्जित न हों, उस स्त्री से उत्पन्न संतान को उसके समाज अथवा सामाजिक स्तर के सामान्य सदस्यों को प्राप्त जन्म-प्रतिष्ठा के सभी अधिकार दिए जाते हैं।

यह परिभाषा विवाह को देखने के लिए, टिप्पणियां एवं प्रश्न में दी गई परिभाषा से अधिक विस्तृत संदर्भ प्रदान करती है। इसमें ईसाई-प्रिटचार्ड (1951: 108-109) द्वारा बताया गया न्यूअर स्त्री-स्त्री विवाह भी सम्मिलित होगा। इसमें उन संघों का मामला भी सम्मिलित है जो संतान को उसके जन्मदाता को छोड़कर किसी पुरुष की वैध संतान मानते हैं। जैसा कि आप जानते हैं कि नियोग भारत के कुछ भागों में पाई जाने वाली अति सामान्य प्रथा है। उदाहरण के लिए, भारत के राजपत्र (1965:541) में हरियाणा में अहीरों, उत्तर प्रदेश में कुछ जाट समुदायों और गिरीजन तथा अनेक जातियों तथा मैसूर में कोडागू में नियोग मैत्री की मौजूदगी के विषय में बताया है। नियोग वह विवाह है जिसमें एक पुरुष का अपने भाई की विधवा पत्नी के साथ विवाह करना होता है।

अब आप जान सकते हैं कि गोह द्वारा दी गई परिभाषा, टिप्पणियां तथा प्रश्न में दी गई परिभाषा का परिष्कृत रूप है। आप समाचार पत्रों में छपने वाले ऐसे अनेक मामलों से भी परिचित होंगे जिसमें युवा पुरुषों तथा स्त्रियों के साथ जाति-आधारित हिंसा होती है क्योंकि वे अपनी जाति अथवा उप-जाति के नियमों के विरुद्ध विवाह करना चाहते हैं। यदि कोई जाटव लड़का, किसी ठाकुर लड़की से विवाह करना चाहे तो उन्हें अपनी-अपनी जाति की पंचायतों के हाथों हिंसा का शिकार होना पड़ता है। मीडिया में इस प्रकार के समय-समय पर बताए जाने वाले मामलों से पता लगता है कि तेजी से बदलते हमारे सामाजिक जगत में विवाह, प्रतिस्पर्द्धात्मक रूप से चुका है। फरनेंडिस (1999) तथा गोपाल (2002) ने बलात् विवाह, बहिष्कार, गैर-कानूनी रोक अथवा अपनी जाति/वर्ग से नियमों के विरुद्ध जाने वालों की हत्या अथवा इनके द्वारा अंत में आत्महत्या के मामलों को दर्ज किया है।

उपरोक्त घटनाएं विवाह तथा उसकी परिधि में आने वाले विभिन्न संबंधों के विषय में प्रश्न पैदा करती हैं। भारत में, धारा 377 के अनुसार कानून सामाजिक तथा अन्य कार्यों के लिए केवल खून के अथवा विवाह के रिश्तों को मान्ता देता है। 1988 में, मध्य प्रदेश की स्त्री पुलिस कर्मियों

द्वारा विवाह के निश्चय की मीडिया में खबरों से 'वैकल्पिक संबंधों' के कुछ ऐसे उदाहरण सामने आए जिनसे पता लगा कि शहरी तथा ग्रामीण भारत में विभिन्न जातियों/वर्गों में विवाह के साथ-साथ कुछ अन्य रिश्ते भी बनने लगे थे। यहां विवाह के अन्य स्वरूपों पर सोचने के लिए आपके लिए चिंतन एवं कार्य अभ्यास दिया गया है जिससे आप यह भी निर्णय निकाल सकें कि क्या गोह की अथवा कोई अन्य परिषाभा जिसे आप जानते हैं, ऐसे मामलों को सम्मिलित करती है।

सोचिए और कीजिए 11.1

क्लीने (1936) ने पश्चिमी मिस्र में समलैंगिक संघों के बारे में बताया है। क्या गोह की विवाह की परिभाषा में यह मामला आता है?

अगस्त 2004 के हिंदुस्तान टाइम्स ने एक खबर छापी, "लड़कियां परिवार से बच रही हैं"। इसमें भोपाल के झुग्गी वाले इलाके में दो युवा लड़कियों का जिक्र था। इनमें से एक लड़की के माता-पिता ने उसकी शादी जबरदस्ती एक आदमी से कर दी किंतु उस लड़की की 'मित्र' ने विवाह को रोका और दोनों लड़कियों ने साथ रहने का निश्चय किया। पुलिस तथा परामर्शदाताओं ने लड़कियों को पुन: उनके परिवार के पास लौट जाने की सलाह दी किंतु लड़कियों ने उनकी बात नहीं मानी। क्या गोह की परिभाषा में यह मामला शामिल हो सकता है?

एक कागज पर इन प्रश्नों के उत्तर लिखिए। उसके बाद 'विवाह' पर स्वयं अपनी परिभाषा बताइए जो परा-सांस्कृतिक तुलनाओं में अधिक उपयुक्त हो।

उपरोक्त परिभाषाओं के साथ एक और समस्या है जिसके अंतर्गत संतानों को वैधीकृत करना विवाह का एक महत्वपूर्ण अंग है। क्या इसका अर्थ यह कि वे सब विवाह जहां संतान पैदा नहीं होती, वे अवैध हैं? क्या विवाह संतानोत्पत्ति से अधिक कुछ नहीं है? मैं आपको बोहनन (1949) का संदर्भ देता हूं, जिसने दाहोमियाई विवाह पर चर्चा की है और स्त्री पर पत्नी के रूप में अधिकार तथा उस स्त्री से उत्पन्न संतानों पर अधिकार के बीच भेद किया है। 5 मई 2005 को टाइम्स ऑफ इंडिया ने अपने मुख्य पृष्ठ पर इस शीर्षक के साथ एक खबर छापी, "व्यक्ति ने हाई कोर्ट से कहा : गर्भवती पत्नी मेरी संतान को नहीं गिरवा सकती"। उसने उच्च न्यायालय से प्रार्थना की कि वह उस व्यक्ति के पितृत्व अधिकार की रक्षा करे। यह ऐसे अधिकार का एक उदाहरण है जिसके विषय में हमें सोचने की आवश्यकता है। मीडिया की खबरों को उद्धृत करने के पीछे मेरा उद्देश्य, विवाह से संबंधित अधिकारों की अवधारणाओं में आने वाले परिवर्तन के लक्षणों को बताना है।

उपरोक्त चर्चा से पता चलता है कि संभवत: लीच (1961:105) सही है जब वह यह कहता है कि "विवाह की सभी सर्वव्यापक परिभाषाएं व्यर्थ हैं" और नीडहैम भी सही है (1971), जो यह मानता है कि पार-सांस्कृतिक संदर्भों में विवाह श्रृंखलाबद्ध समानता को दर्शाता है और सर्वनिष्ठ संरचनात्मक विशेषताओं को नहीं दर्शाता है। तथ्यानुसार, गोह (1959:23) भी विवाह को खुली जांच सूची वाला बहुदेववादी मानता है। आप पूछेंगे कि यदि ऐसा है तो विवाह शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है और ऐसे संबंधों के लिए किसी अन्य शब्द का प्रयोग क्यों नहीं होता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विवाह शब्द का उस संदर्भ में प्रयोग होता है जिसमें वह मौजूद है और इसलिए हमें इसे उस समय तक रखना होगा जब तक हम सर्वसम्मति से इसके लिए कोई अन्य शब्द न खोज लें। भारत में यह संबंध वि-नियामक तथा पैतृक वंशागत सामाजिक वातावरण में प्रचलित रीति एवं कानून द्वारा परिभाषित और स्वीकृत होता है। इस संबंध की परिभाषा में न केवल संभोग से संबंधित व्यवहार के लिए बल्कि अन्य बातों के भी दिशा-निर्देश शामिल है जैसे श्रम को किस प्रकार विभाजित किया जाता है और अन्य दायित्वों और अधिकारों का विभाजन कैसे होना है। विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न बच्चों को विवाहित दंपत्ति की वैध

संतान माना जाता है। दांपत्य जीवन में असामंजस्य की बढ़ती हुई दर के कारण न्यायालयों में पितृत्व के अधिकार बनाम स्त्री के उसके अपने शरीर पर अधिकार से संबंधित विवादास्पद प्रश्न उठ खड़े हुए हैं।

विरासत और उत्तराधिकार के मामलों में, वैधता एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। विवाह का अर्थ केवल यौन संतुष्ट नहीं है बल्कि यह सांस्कृतिक प्रणालियों के समूह का वह माध्यम भी है जिसके द्वारा परिवार को जारी रखना, संबंधों को स्थापित करना और विभिन्न लोगों और समूहों के बीच मैत्री स्थापित करना सुनिश्चित किया जाता है। इस अर्थ में विवाह भारत में लगभग सर्वव्यापक सामाजिक प्रथा है। संस्कृति के भूमंडलीकरण और अर्थव्यवस्था के मुक्तिकरण के साथ विवाहोत्सव भारत में विवाह का सर्वाधिक स्पष्ट संदर्भ प्रदान करता है इसलिए आप मुझसे सहमत होंगे कि 'विवाह' शब्द को छोड़ देना और इस पर मौजूदा अवधारणात्मक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में चर्चा करना अत्यधिक कठिन है।

11.3 विवाह-क्या और क्यों

आप भारत में अनेक समुदायों के धार्मिक ग्रंथों को उद्धृत कर सकते हैं जिनमें विवाह से संबंधित उद्देश्य, अधिकार और दायित्व बताए गए हों उदाहरण के लिए, हिंदुओं में विवाह को एक सामाजिक-धार्मिक दायित्व माना जाता है। प्राचीन हिंदू ग्रंथ, जैसे धर्मशास्त्र (ट्रॉटमैन 1981 देखें), विवाह के तीन मुख्य उद्देश्य बताते हैं। ये धर्म (दायित्व), प्रज (संतानोत्पत्ति) और रति (यौन सुख) हैं। विवाह के ये उद्देश्य दर्शाते है कि सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों ही दृष्टि से विवाह महत्वपूर्ण है। विवाह का महत्व इसलिए भी है कि यह संतान, विशेषकर पुत्र जो न केवल वंश के नाम को आगे चलाते है बल्कि मृतपूर्वजों की तुष्टि हेतु वार्षिक "श्राद्ध" सहित समय-समय पर अन्य रीति-रिवाज भी करते हैं, प्राप्ति के लिए वैधिक तथा सामाजिक रूप से मान्यता प्रणाली भी उपलब्ध करवाता है। अधिकांश हिंदू पुत्रों को माता-पिता की वृद्धावस्था में सहारे के रूप में देखते हैं और परिवार की आर्थिक समृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत मानते हैं। जीवन की चार अवस्थाओं वाली हिंदू व्यवस्था में, विवाह व्यक्ति को गृहस्थ की अवस्था में प्रवेश करने का अवसर देता है। विवाह के बिना पुरुष और स्त्री, दोनों को अपूर्ण माना जाता है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट रूप से पता लगता है कि हिंदुओं के लिए विवाह वि-नियामक, पैतृक-वंशागत परिवार में होता है, जिसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी संस्थाएं अंतधार्मिक विवाहों का कठोर रूप से विरोध करती है।

न्याय पर आधारित, विवाह में अंतर्निहित समानता की अवधारणा का विवाह की अवधारणा की हिंदू संकल्पना में कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि, ऐतिहासिक रूप से, समाज सुधारकों जैसे ज्योतीराव फूले, जिन्होंने अपनी पत्नी सावित्री बाई के साथ 1848 में अछूत लड़कियों के लिए एक विद्यालय और 1854 में उच्च जाति की विधवाओं के लिए घर की स्थापना की थी, द्वारा विवाह के स्वरूप और उसके चलन को बदलने के लिए इतने प्रयोग किए गए। स्त्रियों के लिए आचार संहिता निर्धारित करने वाले नैतिकता और जातिगत शुद्धता के बोझ द्वारा स्त्रियों के दमन के प्रति संवेदनशील ताराबाई शिंदे, जो सत्यशोधक समाज की कार्यकर्त्ता थी, ने फूले के पदचिह्नों का अनुकरण किया और अपने एक आलेख, स्त्री-पुरुष तुलना, में लैंगिक संबंधों की आलोचना की। शिंदे (1882) ने विवाह और वैश्यावृत्ति के यौन अर्थशास्त्र पर टिप्पणी की तथा उन दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू माना। ई.वी. रामास्वामी नायकर ने न केवल पश्चिम भारत में बल्कि दक्षिण भारत में भी हिंदू रुढ़िवाद को चुनौती दी तथा 'आत्म सम्मान विवाहों' के लिए प्रेरणा दी जो विवाह और धार्मिक रीतियों के बीच के संबंध का अवमूलन करते हैं। इसी प्रकार अम्बेडकर द्वारा मनुस्मृति को जलाना और 1927 में हिंदू धर्म पर पहेलियां लिखना तथा पेरियार द्वारा हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियों के गले में जूतों का हार पहनाना, प्रतिदिन के धार्मिक कृत्यों पर प्रहार को दर्शाता है और भारत में विवाह की प्रथा पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता है।

समाज सुधारकों की गतिविधियों के बावजूद, आपका यह तर्क सही हो सकता है कि भारत के अन्य समुदाय भी विवाह को आवश्यक मानते है। इस्लाम में विवाह को "सुन्नाह" (आवश्यकता) माना जाता है, जिसे प्रत्येक मुसलमान को पूरा करना होता है। विवाह सर्वे संबंधित इन विचारों को अधिक प्रभाविक बनाने के लिए, मैं आपको मीडिया में छपी खबरों का संदर्भ देना चाहूंगा कि भारत के मुसलमानों के मामले में, 1 मई 2005 को अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड ने एक आदर्श निकाहनामा जारी किया (सोमवार, 2 मई 2005 का दि हिंदू और टाइम्स ऑफ इंडिया अखबार देखें)। इससे समाज सुधारों को शुरू करने और सामाजिक कुरीतियों को उखाड़ फेंकने के प्रति बोर्ड की निष्ठा का पता लगता है। यह आदर्श निकाहनामा खाने, रहने, पहनने, चिकित्सा ईलाज और देखरेख पर पत्नी के अधिकारों को मान्यता देता है और दहेज को अपराध घोषित करता है। यह दस्तावेज वर्तमान में विद्यालय और कालेज जाने वाली पीढ़ी को ध्यान में रखता है। हालांकि 'तेहरे तलाक' की प्रथा अब भी जारी है, इस दस्तावेज के अनुसार तलाक को अंतिम विकल्प माना जाना चाहिए (इस मामले पर अधिक टिप्पणी इस इकाई के बाद के भाग में देखें)। अन्य धर्मों की भांति ईसाई धर्म भी विवाह को जीवन के लिए महत्वपूर्ण मानता है और पति-पत्नी के परस्पर संबंध को स्थापित करने तथा एक-दूसरे के प्रति दायित्वों को निभाने पर बल देता है।

आप आगे यह कह सकते है कि विवाह महत्वपूर्ण है क्योंकि स्त्री और पुरुषों का एक बहुत कम प्रतिशत अविवाहित रहता है। भारत में नारियों की स्थिति पर समिति की रिपोर्ट के अनुसार (सी. एस.डब्ल्यू.आई. 1974:81), भारत में केवल 0.5 प्रतिशत स्त्रियां विवाह नहीं करती है। भारत में लड़कियां अधिकतर यही मानती है कि विवाह नारी का भाग्य है। भारत में हम लोगों में से अधिकांश के लिए वैवाहित स्थिति वांछनीय है और मातृत्व एक सुखद उपलब्धि है। आप पाएंगे कि पुरुषों और स्त्रियों का एक बहुत कम प्रतिशत अपनी इच्छा से अविवाहित रहता है।

भारतीयों में विवाह की लगभग सर्वव्यापकता के बावजूद, हम पाते है कि विवाह के लक्ष्य सामान्य रूप से विशेषकर शहरी तथा शिक्षित वर्गों में बदल रहे हैं। छोटे परिवार की इच्छा ने स्पष्ट रूप से अधिक बच्चों वाले परिवार की पुरानी अवधारणा को बदल दिया है जिनमें विशेषकर पुत्र माता-पिता की प्रतिष्ठा का स्रोत होते थे। व्यक्तिगत स्तर पर, युवा दपंत्ति विवाह को मुख्यत: संतानोत्पत्ति के लिए न मानकर आत्म-संतुष्टि के रूप में देखते हैं।

दलित महिलाओं में जाति तथा लिंग हिंसा के विरुद्ध तथा अनुलोम विवाह, जिसमें उच्च जाति के पुरुष अपने से निम्न जाति की स्त्रियों के साथ विवाह करते या रहते हैं, को वैधिक स्वीकृति और प्रतिलोम विवाह, जिसमें उच्च जाति की महिलाएं, निम्न जाति के पुरुषों के साथ विवाह करती या रहती हैं, को अस्वीकृति के विरुद्ध कड़ी विरोध क्रांति है। निम्न जातियों और दलित समुदायों में होने वाले सुधारों में दिव्य लोगों जैसे खांडोब तथा येलम्मा के साथ विवाहित महिलाओं और पुरुषों का पुनर्वास शामिल है। किसी दिव्य विभूति के साथ विवाहित एक स्त्री, शिबुबाई लक्ष्मण जाधव के विवाह के विषय के लिए 1 दिसंबर 1908 तथा 1 जुलाई 1909 का *सोमवंशीय मित्र* देखें। एक कार्यकर्त्ता, गनपतराव हनमंतराव गायकवाड ने उससे विवाह करके एक उदाहरण स्थापित किया। भारत में विवाह और उसके बदलते स्वरूप पर चर्चा करते समय हम सीमांत समुदायों के स्तर पर होने वाली गतिविधियों की उपेक्षा नहीं कर सकते और इसलिए उपरोक्त सभी विवरणों को भारत में विवाह की हमारी चर्चा में सम्मिलित करना अनिवार्य है। आप बाल-विवाह का विरोध करने में और लड़की/लड़के के विवाह की न्यूनतम आयु निर्धारित करने हेतु कानून के लिए वातावरण बनाने में समाज-सुधारकों की भूमिका के विषय में पहले से जानते होंगे।

11.4 भारत में विवाह की उम्र

विवाह के लगभग सर्वव्यापक होने के अतिरिक्त, जल्दी विवाह होना भी भारत में सामान्य है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में, शिशु अथवा बाल-विवाह को रोकने के प्रयास

किए गए थे। उन्नीसवीं और आरंभिक बीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन रॉय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतीराव फूले तथा अन्य समाज सुधारकों ने बाल-विवाह का विरोध किया। दास और डे (1998:92) के अनुसार भारत में विवाह की उम्र का वर्तमान स्तर अधिकांश निम्न प्रजननशीलता वाले देशों की तुलना में कम है (इस चर्चा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें)। मैं आपका ध्यान विवाह की उम्र के मामले में विभिन्न धार्मिक समूहों, वर्गों और जातियों की ओर आकर्षित करूंगा।

भारत में विवाह की मध्य उम्र कम है। कानूनों, बाल-विवाह के खतरों से संबंधित जागरूकता को बढ़ाने की बहुमुखी रणनीतियों के बावजूद ऐसा है। राजस्थान से आरंभ करते हुए, जहां विवाह के समय लड़कियों की उम्र 17.5 थी, जोकि 1991 में भारत में न्यूनतम थी, असम में जहां यह 21.1 थी जो 1991 में भारत में उच्चतम थी, विवाह के समय वर्ष 1991 के लिए लड़कियों की औसत उम्र 18.3 थी (भारत की 1991 जनगणना देखें)। समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में हम विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में विवाह मेलों के विषय में पढ़ते है जिनमें कन्या की औसत उम्र 15 वर्ष से कम बताई जाती है। कुछ राज्यों में जैसे उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान, बाल-विवाह अभी जारी हैं (राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना 1998)। टाइम्स ऑफ इंडिया और हिंदू दोनों ने 2005 के अख्तीज त्यौहार के अवसर पर बताया कि कुछ क्षेत्रों में लड़कियों ने इस प्रकार के विवाह मेलों में सम्मिलित होने से मना कर दिया और अपनी पढ़ाई जारी रखने की प्रबल इच्छा अभिव्यक्त की। इन लड़कियों को विवाह के समय लड़कियों की न्यूनतम वैधिक उम्र के 18 वर्ष होने का पता था। विवाह की न्यूनतम उम्र के विषय में जागरूकता से अधिक युवा लड़कियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन तथा अपनी शिक्षा को जारी रखने के चुनाव की सकारात्मक अभिव्यक्ति, भारत में विवाह के बदलते स्वरूप के प्रतीक है। विवाह के समय कम उम्र तथा स्त्रियों की शुद्धता अथवा नैतिकता को बचाए रखने के बीच संबंध के लिए सी.एस.डब्ल्यू.आई. : 1974 देखें।

विवाह के समय लड़कियों की उम्र 1961 में 16.1 वर्ष से बढ़कर 1991 में 19.3 हो गई। वर्ष 1991 के लिए विवाह पर लड़कियों की उम्र के संदर्भ में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में दो साल का अंतर था। दास और डे (1998:109) के अनुसार इससे यह पता लगता है कि विवाह की उम्र में वृद्धि के बावजूद, इस मामले में देश के शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में काफी अंतर मौजूद था।

भारत में विभिन्न समुदायों में विवाह की उम्र में अंतर पर ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, भारत की अनेक पहाड़ी जनजातियों में लड़कियों की विवाह की औसत उम्र 15 वर्ष है जबकि ईसाइयों, पारसियों तथा शहरी क्षेत्रों में रहने वाले कुछ शिक्षित वर्गों में विवाह की उम्र कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम आयु से अधिक है (विवाह की उम्र में वृद्धि करने वाले घटकों के लिए सी.एस.डब्ल्यू.आई. 1974:82 देखें)। भारत में विवाह की उम्र पर आपके अपने लघु आंकड़े एकत्रित करना, चिंतन एवं कार्य 11.2 अभ्यास पूरा करना के लिए अच्छा विचार है।

सोचिए और कीजिए 11.2

विवाह के निम्नलिखित पक्षों पर अपने परिवार और पड़ोस के कम से कम पचास विवाहित लोगों का साक्षात्कार कीजिए। पचास लोगों के इस प्रतिदर्श में कम से कम पचास प्रतिशत महिलाएं होनी चाहिए। प्रश्न पूछने से पहले प्रत्येक व्यक्त की उम्र, लिंग, शैक्षणिक योग्यताएं और धर्म नोट कीजिए।

i) आपके परिवार में क्या कोई 35 वर्ष से अधिक का व्यक्ति अविवाहित है? यदि हां, तो इसके क्या कारण हैं?

ii) आपका विवाह किस उम्र में हुआ था? इस इकाई में हुई चर्चा से अपने उत्तर को जोड़िए और यह पता लगाइए कि व्यक्ति स्वेच्छा से अथवा किसी कारण से अविवाहित रह गया।

अर्थात् व्यक्ति ने अकेले रहने का निर्णय अपनी इच्छा से लिया है अथवा वह शारीरिक अभाव, परिवार की कमजोर आर्थिक स्थिति अथवा दहेज आदि के कारण अविवाहित है। दूसरे, यह पता कीजिए कि व्यक्ति का विवाह न्यूनतन वैधिक आयु से कम अथवा अधिक उम्र पर होने के क्या कारण थे। अपने अध्ययन केंद्र पर अन्य विद्यार्थियों के उत्तरों के साथ अपने उत्तरों की तुलना कीजिए और अपने निष्कर्षों के आधार पर 'मेरे परिवार और पड़ोस में विवाह की उम्र' विषय पर एक हजार शब्दों का एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

11.5 विवाह संबंधी नियम

सभी समाजों में, हम पाते हैं कि ये नियम होते हैं कि कौन किससे विवाह नहीं कर सकता है तथा कौन किससे विवाह कर सकता है।

कौटुम्बिक नियम

कौटुम्बिक के नियम यह निर्धारित करते हैं कि उस श्रेणी से बाहर कौन है जिससे विवाह किया जा सकता है। क्या आप शीघ्रता से ऐसे दस लोग गिना सकते है जिनके साथ किसी भी परिस्थिति में आप विवाह नहीं कर सकते है? यदि हां तो आप कौटुम्बिक नियमों के विषय में पहले से जानते है। कोटुम्बिक का अर्थ अपने निकट संबंधियों के साथ यौन संबंध होता है।

सकारात्मक (साजातीय विवाह) और नकारात्मक (विजातीय विवाह) नियम

विवाह के सकारात्मक और नकारात्मक नियम होते हैं जो यह निर्धारित करते हैं कि किस इकाई में विवाह करना चाहिए और किस इकाई में विवाह नहीं करना चाहिए। सकारात्मक नियम सजातीय इकाई से संबंधित हैं जिसमें व्यक्ति विवाह कर सकता है। भारत में, हिंदुओं में यह इकाई अपनी व्यक्ति की जाति अथवा उपजाति को दर्शाती है।

नकारात्मक नियम विजातीय इकाई से संबंधित है जिसमें व्यक्ति विवाह नहीं कर सकता है। उच्च जाति वाले हिंदुओं में यह इकाई व्यक्ति को गोत्र कहलाती है जिसके अंतर्गत व्यक्ति विवाह नहीं कर सकता (गोत्र विजातीय विवाह के चर्तुवंश नियम के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें)। क्या आपको एक ही गोत्र में दो व्यक्तियों के विवाह से संबंधित समाचार पत्रों की खबरें याद है? खबर के अनुसार स्थानीय जाति पंचायतों ने ऐसे दंपत्तियों के विरुद्ध कार्यवाही की है हालांकि न्यायालयों में ऐसे विवाहों का समर्थन किया है। इस प्रकार के मामले विवाह के नियमों के संबंध में लोगों के बदलते हुए दृष्टिकोण के सूचक है। यहाँ तक कि सजातीय इकाई भी अब विवाह के सकारात्मक नियमों की सर्वव्यापी स्वीकृत इकाई नहीं हैं। अतिजातीय विवाह और अधोजातीय विवाह के नियम सहित सजातीय विवाह के नियमों पर विस्तृत चर्चा के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम ई.एस.ओ.-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें।

अंतर्जातीय/अंतधार्मिक/समलैंगिक विवाह

आधुनिक समय में आपने अनेक अंतर्जातीय और अंतधार्मिक विवाह होते देखे होंगे। वैधिक दृष्टि से ये सभी विवाह वैध होते हैं और सामाजिक दृष्टि से भी ये विवाह पूर्णत: मान्यता प्राप्त करने लगे हैं। जहां तक ये विवाह विलैंगिक मिलन की पद्धति का पालन करते हैं, समाज इन्हें सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकार करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत में कई अन्य वैकल्पिक प्रकार के विवाह भी हो रहे हैं तथा सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में इनके भाग्य का फैसला होने की हमें प्रतीक्षा करनी होगी। इस प्रकार के संबधों में समान लिंग के लोग पति-पत्नी के रूप में रहने का निर्णय करते हैं। ऐसे संबंधों को समझाने के लिए हमें किस शब्द का प्रयोग करना चाहिए, यह अभी स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है कि वैवाहिक संबंधों में वर्तमान विनियामकता के वर्चस्व के कारण अन्य प्रकार के संबंधों को तलाशने की अधिक गुंजाइश नहीं रह जाती है। यह स्पष्ट नहीं है कि मुख्यधारा की संस्कृति में विचित्र अथवा सीमांत लैंगिकताएं, मान्य स्थान प्राप्त कर सकती हैं अथवा नहीं।

मैं, यहां पर भारत में जनजातियों की जनसंख्या के संदर्भ में उस स्थिति के विषय में भी बताना चहूंगा जिसके विषय में बहुत कम कहा गया है। भारत के अधिकांश जनजाति समूहों के पारंपरिक आर्थिक संरचनाओं और सामाजिक-सांस्कृतिक के क्षतिग्रस्त होते ढांचे के साथ, हम पाते हैं कि वे प्रवासी श्रमिकों का स्थान ले लेते हैं। अपने निवास स्थान क्षेत्रों में रहने का अर्थ उनके लिए भूखों मरने जैसा है और आजीविका की तलाश में बाहर निकलने से वे जीविका के स्तर पर बने रहते हैं। इस परिदृश्य के दौरान, अधिकांश जनजाति की महिला श्रमिक यौन शोषण के डर के साथ रहती हैं। क्या फिर इसका कोई अर्थ होगा। यदि हम भारत के जनजाति समुदायों में पारंपरिक तौर पर पाए जाने वाले विवाह के विभिन्न स्वरूपों पर चर्चा करें? इस संदर्भ में, बैनर्जी 1987, मित्रा 1987 द्वारा महिला विकास अध्ययन केन्द्र के तत्वाधान में किए गए अध्ययनों तथा प्रवासी जनजाति महिलाओं पर सेन 1995 और स्केंक-सेंडबर्जन 1995 द्वारा किए गए अध्ययनों को आप लाभप्रद रूप से देख सकते हैं।

विवाहित वयस्कों के लिए नियम

उपरोक्त मुद्दों के अतिरिक्त, हमें उन नियमों को जानने की भी आवश्यकता है जो विवाहित लोगों के आचरण को नियंत्रित करते हैं। वे नकारात्मक नियम, अन्यगमन के नियम हैं जो विवाहित लोगों के पास गमन को प्रतिबंधित करते हैं। इन नियमों के सकारात्मक पहलू को बहुविवाही तथा नियोग अथवा बहन-संग या इस्लाम के अल्पावधिक विवाह (मुत्ता) में देखा जा सकता है, जहां पहले से विवाहित लोगों के पास विशिष्ट विवाहित लोगों के प्रति यौन सुगमता प्राप्त होती है।

विवाह के नियमों का उल्लंघन

विवाह के नियमों पर चर्चा मूलभूत संरचनाओं तथा प्रणालियों पर बेहतर रोशनी तब फेंकती है जब उन्हें नियमों के उल्लंघन के संदर्भ में समझा जाता है। उदाहरण के लिए, जातिगत अथवा उप-जातिगत सजातीय विवाह की प्रभावशीलता का अंतर्जातीय विवाहों की संख्या तथा संबंधियों द्वारा 'देर-सवेर' उनकी स्वीकृति को देखकर ही मूल्यांकन किया जा सकता है। इस संदर्भ में, जाति और वर्ग के अंतर्पृष्ठ का महत्व बढ़ जाता है और जीवन साथी की सापेक्ष वर्गीय स्थिति, कुछ समय बाद अंतर्जातीय विवाह को अधिक स्वीकृत बनाने हेतु प्राय: पर्याप्त शर्त है। इसके अतिरिक्त, तथाकथित शहरी गांवों की संख्या में वृद्धि ने युवा पीढ़ी के भटकावपूर्ण व्यवहार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्वीकृति के स्तरों में अंतर्मार्ग बनाए हैं।

भारत में, हमें विवाह के सामान्यत: उपलब्ध रूप मिलते हैं जैसे एकविवाह (एक समय में एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह) और बहुविवाह (एक पुरुष या एक स्त्री का एक से अधिक साथियों के साथ विवाह)। बाद वाला स्वरूप, अर्थात् बहुतविवाह, अपने दो रूपों, यानी बहुपत्नी विवाह (एक ही समय में एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह) और बहुपति विवाह (एक समय में एक स्त्री का अनेक पुरुषों से विवाह) के साथ देश के अनेक भागों में प्रचलित है। भारत में विवाह के विभिन्न स्वरूपों के विस्तृत विवरण के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ईसीओ-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें। हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथों में हमें विवाह के आठ विभिन्न रूप मिलते हैं (विवरण के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ईएसओ-12 के खंड 4 में हिंदू सामाजिक संगठन पर इकाई 15 देखें)। ये रूप मूलत: उन पद्धतियों के विषय में बताते हैं जिनसे जीवनसाथी की प्राप्ति की जाती है।

अब जीवनसाथी के चयन के नमूनों को एक संक्षिप्त रूप में देखते हैं। जीवनसाथी के चयन पर चर्चा करने से पूर्व, चिंतन एवं कार्य 11.3 अभ्यास पूरा करते है ताकि भारत में विवाह के स्वरूपों में आने वाले परिवर्तनों को समझा जा सके।

MADHYAM IAS

सोचिए और कीजिए 11.3

अपने क्षेत्र के पचास से सत्तर घरों का एक लघु सर्वे कीजिए। यादृच्छिक प्रतिदर्श के आधार पर घरों का चयन कीजिए। चुने गए घरों में जाइए और परिवार में जो भी व्यक्ति उत्तर देने की इच्छा रखता हो, उससे निम्नलिखित प्रश्न कीजिए। प्रश्न पूछने से पूर्व, प्रतिवादी का विवरण नोट कीजिए, जैसे जाति/उपजाति, वर्ग, क्षेत्र, धर्म, मातृभाषा, राष्ट्रीयता और कोई भी अन्य घटक जिसे आप शामिल करना चाहें।

प्रश्न

घर में ऐसे कितने सदस्य हैं जिनका कभी-न-कभी विवाह हुआ है?

प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के विवाह का रूप (अंतर्जात/अंतधार्मिक आदि के संदर्भ में) क्या था?

अपने निष्कर्ष के आधार पर, "मेरे क्षेत्र में विवाह के नियम" पर एक हजार शब्दों का एक निबंध लिखिए।

11.6 जीवन साथी के चयन के तरीके

व्यवस्थित विवाह का लक्ष्य

यह हम लोगों के बीच एक सामान्य अवधारणा है कि भारत में अधिकांश विवाह माता-पिता अथवा बुजुर्गों द्वारा विवाह से संबंद्ध लड़का अथवा लड़की की सहमति से निश्चित या व्यवस्थित किए जाते हैं। जीवन साथी के चयन के इस प्रारूप को हम 'व्यवस्थित विवाह' का नाम देते हैं। स्वेच्छा से चयन द्वारा विवाह के विपरीत, जीवन साथी के चयन के इस स्वरूप को व्यवस्थित पद्धति के रूप में देखा जाता है। प्रचलित रूप में, स्वेच्छा से किए गए विवाह को 'प्रेम विवाह' कहते हैं। कुछ मामलों में जीवनसाथी के चयन के ये दोनों स्वरूप देखने को मिलते हैं। इन दोनों शब्दों के प्रयोग को लेकर कुछ यादृच्छिकता देखने को मिलती है। मुझे लगता है कि शाह (2005:22) ने व्यवस्थित विवाहों के विषय में अवधारणात्मक विचार व्यक्त किए हैं और मैं उनको उद्धरत कर रहा हूं।

हमारा मानना है कि परंपरागत भारत में व्यवस्थित विवाहों में कोई चयन नहीं होता था। बेशक, बाल विवाह के दौर में, बच्चे के पास कोई विकल्प नहीं होता था। हालांकि, इसका अर्थ यह नहीं है कि बच्चे के माता-पिता या अन्य बुजुर्गों के पास चुनने के लिए विकल्प नहीं था। इसके विपरीत, आज समाज के कुछ वर्गों में वयस्कों में होने वाला तथाकथित प्रेम विवाह, अनेक सामाजिक घटकों से प्रतिबंधित था।

उपरोक्त टिप्पणी को ध्यान में रखते हुए, आप भारत में व्यवस्थित विवाहों की मौजूदगी पर निम्नलिखित के संदर्भ में चर्चा कर सकते हैं :

i) सजातीय विवाह के नियम (हिन्दुओं में जाति/उप-जाति से संबंधित) जो कुछ वर्गों में वैवाहिक मैत्री को प्रतिबंधित करते हैं।

ii) विजातीय विवाह के नियम जो उच्च वर्गीय हिंदुओं में गोत्र के अंतर्गत विवाह को सहमति नहीं देते हैं।

iii) हिंदू/मुसलमान तथा द्रविड़ाई भाषाओं में बोलने वाले समानांतर तथा तियक् भाई-बहनों के साथ विवाह के विषय में सकारात्मक/आदेशात्मक (सहमतिपूर्ण) तथा नकारात्मक/निषेधात्मक (असहमतिपूर्ण) नियम।

iv) रीतियां, जो कुछ विशिष्ट प्रकार के संबंधियों अथवा समूहों, विशेषकर जनजातिगत समूहों के बीच विवाह की विशिष्ट इच्छा को दर्शाते हैं।

उपरोक्त सभी घटक, व्यवस्थित विवाह को जीवनसाथी के चयन का अधिक ऐच्छिक स्वरूप बनाते हैं। उच्च वर्गीय हिंदुओं की एक बड़ी संख्या में जन्मपत्रियों को मिलाना (कुछ विशिष्ट खगोलीय परिकलनों के अंतर्गत अपने जन्म से संबंधित पत्रियां) वैवाहिक साथी के अंतिम चयन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। सूचना प्रौद्योगिकी उपकरणों के आने तथा उनकी सरल उपलब्धता के चलते, लड़के और लड़की की जन्मपत्री खगोलशास्त्रियों द्वारा मिलाने के अतिरिक्त, अब कंप्यूटर भी जन्मपत्रियां मिलाने के काम आते हैं। जन्मपत्रियों को मिलाने से संबंधित वेबसाइटों की अधिकता में सूचना प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग को देखा जा सकता है।

स्वेच्छा से विवाह

कानून द्वारा निर्धारित, विवाह की आयु में वृद्धि को देखते हुए और जीवनसाथी को खोजने हेतु सूचना प्रौद्योगिकी की सरल सुगमता के चलते, संबद्ध लड़के/लड़की के लिए स्वेच्छा से जीवनसाथी चुनना अत्यंत सरल है। भारत में लड़के और लड़की के बीच मुक्त व्यवहार पर पारंपरिक प्रतिबंधों को अब लगा पाना लगभग असंभव है और स्वेच्छा से विवाह को प्रोत्साहित करने वाला यह भी एक घटक है। अपने जीवनसाथी के चयन में भागीदारी का माप विभिन्न समूहों के बीच अंतरों को दर्शाता है। उदाहरण के लिए, मुसलमानों में, अधिकतर, माता-पिता, बुजुर्ग अथवा वली (संरक्षक) विवाह निश्चित करते हैं (भारत का राजपत्र 1965:547 तथा सी. एस.डब्ल्यू.आई. 1974:62)। आधुनिकीकरण की ताकतों और अल्पसंख्यक समुदायों में शिक्षा के प्रसार के कारण, इन मामलों में भी स्वेच्छा से अपने जीवनसाथी का चयन उतना ही प्रचलित हैं।

ब्लमबर्ग और आर्की (1980:139) ने भारत में जीवनसाथी के चयन के निम्नलिखित स्वरूपों को पाया :

i) लड़के अथवा लड़की की सहमति के बिना माता-पिता/बुजुर्गों की इच्छा से विवाह।

ii) माता-पिता/बुजुर्गों की सहमति के बिना, स्वेच्छा से विवाह।

iii) माता-पिता/बुजुर्गों की सहमति से, स्वेच्छा से विवाह।

iv) लड़के और लड़की दोनों की सहमति से माता-पिता की इच्छा से विवाह।

v) लड़के अथवा लड़की किसी एक की सहमति से, माता-पिता की इच्छा से विवाह।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

प्राय:, माता-पिता/बुजुर्ग, लड़के के जीवनसाथी के पसंद के विषय लड़के से सलाह करते हैं। माता-पिता/बुतुर्ग, प्राय: लड़की से यह नहीं पूछते कि उसे वह संबंध पसंद है अथवा नहीं। शहरी शिक्षित वर्गों में, लड़के और लड़की की सहमति से व्यवस्थित विवाह सर्वाधिक लोकप्रिय तरीका है। अनेक बार, माता-पिता और कुछ मामलों में संबद्ध लड़का/लड़की समाचार-पत्रों में विज्ञापन द्वारा विवाह निश्चित करते हैं।

11.7 वैवाहिक अनुष्ठान और प्रस्थिति

विवाहोत्सव एवं कार्यविधि

विश्व में अन्य स्थानों की भांति, भारत में भी विवाह की कुछ विधियां एवं कार्य होते हैं। बेशक, इन कार्यविधियों में न केवल धर्म के संदर्भ में बल्कि जाति, संप्रदाय तथा शहरी/ग्रामीण आवास के सदंर्भ में भी अंतर होते हैं। कुछ समुदायों में मूलभूत कार्यविधियों के विवरण के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ईएसओ-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें।

बारात तथा प्रीतिभोज, भारत के सभी समुदायों के विवाहोत्सव की प्राय: सामान्य विशेषताएं हैं। इनका माप प्राय: लड़की तथा लड़के के परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार होता है।

आपको ऐसे बहुत कम वर्ग अथवा समूह मिलेंगे जिनके विवाह में धार्मिक कृत्य नहीं होते हैं। ऐसे विवाह, प्रथागत विवाह कहलाते हैं जिनमें कोई धूम-धाम नहीं होती है। उदाहरण के लिए, हिमालय क्षेत्र में कुछ समूहों के लिए, लड़की की नाक में नथ पहनाना, विवाह का प्रथागत रूप है। विवाह का प्रथागत रूप उन समूहों की विशेषता है जिनमें तलाक तथा दूसरा विवाह स्वीकृत होता है। किसी विधवा या अलग रहने वाली या तलाकशुदा महिला के दूसरे विवाह में साधारण विधियां होती हैं जिससे उसकी वैवाहित स्थिति को दोबारा दर्शाया जाता है (सी.एस.डब्ल्यू.आई. 1974:83)।

विशेष विवाह कानून 1954 के अंतर्गत, रजिस्ट्रार के सामने धर्मनिरपेक्ष तथा आचार विवाह होता है। यह कानून उस सभी भारतीय नागरिकों पर लागू होता है जो अपनी धार्मिक रीतियों के बावजूद, इस कानून के प्रावधानों का प्रयोग करने का निश्चय करते हैं। आचार विवाह द्वारा पारंपरिक विवाहों के व्यय से बचा जा सकता है। वैसे भी, विवाह प्राय: अधिकांश लोगों के लिए अत्यंत खर्चीले होते हैं। अगले भाग में हम देखेंगे कि विवाह में सामाजिक आर्थिक प्रतिष्ठा के भौतिक तथा गैर-भौतिक पक्षों का विनिमय बड़ी संख्या में क्यों होता है।

विवाह तथा प्रतिष्ठा

हम पाते हैं कि अधिकांश समुदायों की तरह भारत में भी विवाह अनुष्ठानों तथा उत्सवों में लड़की वालों तथा लड़के वालों के बीच भौतिक तथा गैर-भौतिक विनियम होता है। ऐसे विनियम, संबद्ध समाज की सामाजिक संरचना को दर्शाते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर (मुख्यत: मातृवंशागत समाज से संबंधित), आप पाएंगे कि ये विनिमय लड़की की ओर से लड़के के परिवार को होता है।

लड़की के स्थानांतरण के अतिरिक्त, विवाह के साथ, दो अन्य प्रकार के भौतिक संपत्ति के स्थानांतरण होते हैं। एक में, संपत्ति, वधू की विपरीत दिशा में जाती है तथा दूसरे में, वह वधू के साथ उसी दिशा में जाती है। पहले को वधू संपत्ति कहते हैं तथा दूसरे को दहेज (सी.एस.डब्ल्यू. आई. 1974:69)। बर्नार्ड तथा गुड (1984:115) के निम्नलिखित आंकड़े वधू संपत्ति और दहेज दोनों में, लड़कियों के संदर्भ में सामान का स्थानांतरण दर्शाते हैं।

कुछ पैतृकवंशागत जनजातियों तथा जातिगत सीढ़ी के निचले तथा मध्यम सोपानों की कुछ जातियों में वधू संपत्ति की प्रथा है। वधू संपत्ति के स्वरूप तथा मात्रा में क्षेत्रगत और जनजातिगत अंतर के लिए सी.एस.डब्ल्यू.आई. (1974:68-72) देखें। शर्मा (1980) ने उत्तर भारत के कुछ भागों के लिए दर्शाया है कि वधू संपत्ति के लिए मोल-भाव आम बात है। कुछ जनजातियों में, लड़की के पिता को वधू संपत्ति के रूप में लड़के की सेवाएं प्राप्त होती हैं। इस प्रकार की 'वधू-सेवाओं' के लिए, बर्नार्ड और गुड (1984:134-136) देखें। अफ्रीका के समुदायों के संदर्भ में मायर (1971:50) तथा आम संदर्भ में गूडी (1976:8) का मानना है कि वधू संपत्ति और वधू दाम, वधू तथा वर के बीच सामान के विनिमय को नहीं दर्शाते हैं। वे विनियम इकाइयों अर्थात क्रमश: वर एवं वधू के परिवारों को दर्शाते हैं। वधू दाम और वधू संपत्ति, इन दोनों शब्दों पर विस्तृत चर्चा के लिए बर्नार्ड तथा गुड (1984:115-117) देखें। गूडी (1973:2 तथा 1976:11) वर (अथवा परिवार के अन्य सदस्य) की ओर से वधू को जाने वाली संपत्ति के स्थानांतरण के लिए 'अप्रत्यक्ष दहेज' शब्द का प्रयोग करता है। भारतीय संदर्भ में, हम इसे 'स्त्रीधनम्' कहते हैं। गूडी, इन चीजों को वधूदाम कहना गलत मानते है। इससे हम दहेज अथवा प्रत्यक्ष दहेज की चर्चा पर आते हैं।

दहेज

विस्तृत अर्थ में, दहेज में वधू की ओर से वर को कीमती उपहार देने को दहेज कहते हैं। संपत्ति के इस प्रकार स्थानांतरण से दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा तथा सम्मान मिलता है। दहेज देकर, लड़की वाले को अपने समुदाय में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तथा लड़के वाले को अपने और अन्य समुदायों में प्रतिष्ठा एवं संपत्ति दोनों मिलती हैं।

1961 में, भारत सरकार ने दहेज निषेध कानून पारित किया। 1984 में फिर 1986 में, सरकार ने इस कानून में संशोधन किए ताकि इसे अधिक कड़ा और प्रभावी बनाया जा सके। उदाहरण के लिए, यदि विवाह के सात वर्ष के भीतर, असामान्य परिस्थितियों में, वधू की मृत्यु हो जाए तो पति तथा उसके परिवार पर दहेज मांगने के लिए सजा हो सकती है। दहेज संबंधी शिकायतों से निपटने के लिए दहेज निषेध कक्ष भी है।

वैधिक प्रावधानों का अर्थ दहेज सहित विवाहों का अंत नहीं है। ऐसे अनेक विकासशील युवा लोग हैं जो दहेज के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते हैं तथा दहेज के बिना विवाह करते हैं; इसी के साथ, ऐसे भी युवा और शिक्षित लोग हैं जो इस प्रथा को स्वीकार करते हैं तथा उन्हें इसमें कोई हानि नहीं लगती। कुछ यह कहकर अपना पीछा छुड़ाते हैं कि उनके माता-पिता (जिनकी इच्छा को वह अस्वीकार नहीं करना चाहते) इस प्रथा को बढ़ावा देते हैं। दहेज की मांग अन्य समुदायों में भी होती है जैसे, मुसलमान और ईसाई। प्रायः, विवाह के उपरांत भी दहेत की मांग के कारण परिवारों में झगड़ा होता है जिससे तलाक हो जाता है। अब हम भारत में तलाक तथा पुनर्विवाह के मुद्दों को देखते हैं।

अगले भाग पर जाने से पूर्व, भारत में दहेज प्रथा की अपनी अवधारणा की रचना हेतु, हम पहले चिंतन एवं कार्य 11.4 अभ्यास पूर्ण कर लेते हैं।

सोचिए और कीजिए 11.4

4 मई 2005 के पृष्ठ 15 पर हिंदू समाचार पत्र के अनुसार, एक जनहित याचिका के संदर्भ में, तीन-सदस्यों की एक पीठ ने आदेश दिया कि 'केंद्र तथा राज्य ऐसे नियम बनाने पर विचार करें जिसके अंतर्गत, सरकारी नौकरी की इच्छा रखने वाला पुरुष यह सूचना देने के लिए बाध्य हों कि क्या उन्होंने दहेज स्वीकार किया था और यदि हां, तो कानून के अनुसार क्या दहेज पत्नी तक पहुंचा है। नियमानुसार, यह सूचना उन लोगों से भी ली जा सके जो पहले से सरकारी नौकरी कर रहे हैं। इसके आगे, रिपोर्टानुसार, "न्यायालय ने राज्य सरकारों को नियमों की धारा 3 और 4 को अधिक प्रचार-प्रसार देने के लिए कहा जिनमें वर तथा वधू को दिए गए उपहारों आदि की सूची हो और संबद्ध राज्य के प्रत्येक जिले में स्वतंत्र प्रभार वाले दहेत निषेध अधिकारी पर्याप्त संख्या में नियुक्त किए जाएं जो लोगों के बीच दहेज-विरोधी शिक्षा के प्रसार के लिए कदम उठाएं।''

पता कीजिए कि आपके परिवार अथवा आपके किसी परिचित परिवार ने विवाह के समय दहेज लिया अथवा दिया था। अपने निष्कर्षों तथा दहेज-विरोधी अभियान को प्रोत्साहित करने हेतु नवीनतम प्रयासों से संबंधित उपरोक्त उद्धरण के संदर्भ में, दहेज के लेन-देन के कारणों एवं परिणामों को दशति हुए "हमारे समाज में दहेज की अवस्थिति'' पर पांच सौ शब्दों की एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

11.8 विवाह विच्छेद

इकाई 11 के आरंभ में आपने पढ़ा कि सटीकता से 'विवाह' को परिभाषित करना सरल नहीं है और इसी प्रकार स्पष्ट शब्दों में 'तलाक' को परिभाषित करना भी सरल नहीं है, सिवाय इसके कि तलाक वहीं ले सकते हैं जिन्होंने विवाह किया हो। प्रायः, विवाह का टूटना केवल एक बार की घटना नहीं होती है। यह कुछ चरणों में होती है। हम ध्यानपूर्वक समझना चाहिए कि तलाक लेना किस परिस्थितियों में संभव है तथा किसी विशिष्ट समाज में संदर्भ में, इसकी स्वीकृत प्रक्रिया क्या है। मिशेल (1961:332) के अनुसार, वैवाहिक स्थिरता, संतान पर "आनुवंशिक अधिकार'' तथा वंश के स्वरूप में एक सामान्य संबंध है। बर्नार्ड तथा गुड (1984:119) के अनुसार,

अन्य सभी बातों के समान होने पर, पैतृकवंशागत समाज में, जहां ये अधिकार सामूहिक वंश समूहों के पास होते हैं, विवाह, स्थिर तथा दीर्घावधिक होना चाहिए; एकदिशीय समाज में, जहाँ

ये अधिकार समूह के पास न होकर व्यक्ति के पास होते हैं, विवाह मध्यम अवधि तथा स्थित होना चाहिए; तथा मातृवंशागत समाज में, जहां आनुवंशिक अधिकार समूहों के साथ बाहर नहीं जाते तथा "द्विपक्षीय समाज" में, जहां ये अधिकार निरर्थक होते है; विवाह अल्प स्थिरता तथा अल्पावधिक होते हैं।

क) तलाक

वैवाहिक संबंध को समाप्त करने की संभावनाएं तथा प्रक्रियाएं, समय के साथ, समुदायों के बीच बदलती रही हैं। भारत में विभिन्न समुदायों में तलाक संबंधी कैसे, कब और क्यों प्रश्नों के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें।

भारत में मुसलमान संगठनों द्वारा 'तिहरे तलाक' की प्रथा में परिवर्तन लाने के लिए किए गए प्रयासों का हम विशेष रूप से उल्लेख करना चाहते हैं (आदर्श निकाह-नामे के विषय में इकाई 11 के अंश में बताया गया उल्लेख देखिए)। 4 मई 2005 के हिंदू समाचार पत्र में शर्मा (2005:15) ने बताया,

आदर्श 'निकाहनामा' के लिए प्रयास करने वाले अनेक समूहों में से एक, आवाज-ए-निस्वान की हसीना खान ने दि हिंदू को बताया कि अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड (AIMPLB) द्वारा प्रस्तुत दस्तावेज "हास्यास्पद" तथा "खतरनाक" था। ...उन्होंने कहा कि हालांकि आदर्श 'निकानामा' पुरुषों को तलाक से बचने की और एक बैठक में 'तलाक' कहने की प्रथा से बचने की सलाह देता है, किंतु वह यह नहीं कहता कि यह गलत है। उन्होंने कहा, "कोई मूलभूत सुधार हुआ ही नहीं है।"

आदर्श 'निकाहानाम' के नाम पर सुधारों से परेशान होकर, एक महिला कार्यकर्त्ता, मुस्कान ने 7 मई 2005 के हिंदू के अनुसार, "भोपाल में अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड (AIMPLB) द्वारा तैयार किया गया आदर्श निकानामा फाड़ दिया"। मुसलमान महिलाओं के अधिकारों पर बहस से महिलाओं को दूसरे-दर्जे का नागरिक मानने का तथ्य सामने आ गया है। यह तथ्य कि तलाक के मुद्दे पर (AIMPLB) कुछ लचीला अभिगम लेकर सामने आया है, दर्शाता है कि बातचीत और मध्यस्थता के लिए कुछ स्थान है। यह विकास, उस परिवर्तन का प्रतीक है जिस पर हमें भारत में विवाह के बदले स्वरूप पर अध्ययन करते समय ध्यान देना चाहिए।

ख) पुनर्विवाह

तलाकशुदा अथवा विधवा/विधुर व्यक्ति के मामले में, पुनर्विवाह भारतीय जनसंख्या के लगभग सभी अंगों में महत्वपूर्ण मुद्दा है। तलाक की दर में वृद्धि के कारण भारत में पुरुषों और महिलाओं, दोनों के दूसरे विवाह की दर में वृद्धि हुई है।

विधवापन, किसी विवाहित व्यक्ति की मृत्यु का प्रत्यक्ष परिणाम होता है और उसके कारण पुरुष और स्त्री दोनों के लिए वैध्व्य के साथ जुड़े अधिकारों, प्रतिबंधों तथा दायित्वों की जांच की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, फूलर (1979:463) ने बताया है कि ब्राह्मण विधुर पुजारी का कार्य नहीं कर सकते हैं। शर्मा (1980:53-54) के अनुसार उत्तर भारत के कुछ भागों में, प्रथानुसार (वैधिक रूप से नहीं), नि:संतान विधवा का संपत्ति पर वंशागत अधिकार नहीं होता है। वह पति के घर को वापस मिल जाती है। विधवाओं पर अनेक नकारात्मक प्रतिबंधों के स्थायित्व के कारण वे पुनर्विवाह के लिए प्रेरित होती हैं। अनेक समुदाय जो पहले विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं देते थे, इस मामले में थोड़े अधिक लचीले हो गए हैं। विधवा तथा विधुर पुनर्विवाह के विस्तृत विवरणों के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ईएसओ-12 के खंड 3 की इकाई 7 देखें।

इस भाग को समाप्त करते हुए, मैं आपका ध्यान, हिंदुओं के उच्च वर्गों में विधवाओं के पुनर्विवाह पर प्रथागत प्रतिबंध की ओर आकर्षित करता हूँ। शिक्षा तथा तुलनात्मक रूप से धनवान और

उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोग इस प्रथा को नहीं मानते तथा उनके यहां कानून ऐसे विवाहों की अनुमति देता है।

पुनर्विवाह के कारण विभिन्न प्रकार के सौतेले संबंध भी बनते हैं। ऐसे संबंधों के सामाजिक पक्ष की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिए एकत्रित किया जाने वाले आंकड़े, इन संबंधियों को देखने तथा उन्हें मानने और साथ ही सौतेले भाई-बहनों के उत्तराधिकार के संदर्भ में होना चाहिए। एकल परिवार के परिवेश में पले तथा बड़े हुए बच्चे इसे नजदीकी संबंधियों का विस्तार मानकर इसका स्वागत करते हैं और आचार-व्यवहार करते हैं। गहन समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इन निष्कर्षों को खोजने की आवश्यकता है।

11.9 सारांश

इकाई 11, भारत में विवाह के बदलते पक्षों पर केंद्रित है। इसी के साथ, इसमें देश के विभिन्न समुदायों में विवाह की समान तथा भिन्न विशेषताओं पर भी चर्चा की गई। हमने भारत में विवाह की सर्वव्यापकता पर प्रश्न उठाया तथा विवाह की प्रथा में गहन परिवर्तनों को दर्शाने वाला रूपों को भी इंगित किया। विवाह के लगभग सभी पक्षों में, अर्थात् विवाह के समय आयु, विवाह नियंत्रक नियम, जीवनसाथी के चयन के स्वरूप, विवाहोत्सव तथा रीतियां, प्रतिष्ठा संबंधी मुद्दे तथा विवाह विच्छेद तथा पुनर्विवाह, हमने भारत में विवाह के संदर्भ में होने वाले परिवर्तनों की प्रकृति पर भी ध्यान दिया है।

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ओबेरॉय, पेट्रीसिया 1993। *फेमिली, किनशिप एंड मेरिज इन इंडिया*। ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस : नई दिल्ली।

जैन, शोभिता 1996। *भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी*। रावत पब्लिकेशन्स: जयपुर (उत्तर, उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण भारत में विवाह तथा उसके बदलते स्वरूपों से संबंद्ध पाठ दो से सात)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 12

भारत में नातेदारी का अध्ययन : वंशक्रम और विवाह-संबंधी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 उत्तर भारत में नातेदारी के अध्ययन हेतु वंशक्रम सिद्धांत का अनुप्रयोग

12.3 दक्षिण भारत में नातेदारी के अध्ययन हेतु वंशाक्रम सिद्धांत का अनुप्रयोग

12.4 सारांश

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

परिशिष्ट 1

अध्ययन का उद्देश्य

आशा है कि इकाई 12 को पढ़ने के बाद आप :

- वंशक्रम और विवाह-संबंध उत्पन्न नातेदारी सिद्धांतों (इकाई 12 के साथ संलग्न परिशिष्ट में दिए गए) को समझा सकेंगे जिन्हें कुछ विद्वानों ने उत्तर तथा दक्षिण भारत की नातेदारी प्रथा का अध्यय करने के लिए प्रयोग किया है;
- भारत में नातेदारी के अध्ययन के लिए दोनों दृष्टिकोणों के अनुप्रयोग को समझा सकेंगे; और अंत में
- यह स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे कि इकाई 12 में नातेदारी के अध्ययन के लिए दोनों दृष्टिकोणों पर चर्चा की दृष्टि से सशक्त हिंदू लोगों में पाए जाने वाले स्वरूपों को दर्शाती है।

MADHYAM IAS

12.1 प्रस्तावना

इकाई 9, 10 और 11 में आपको भारत में परिवार घर तथा विवाह की सामाजिक प्रथाओं को समझाया गया है। परिवार और विवाह से संबद्ध सामाजिक संबंधों को पूरी तरह से समझने के लिए हमें अपनी समझ के स्तर को बढ़ाकर एक अन्य भावपरक स्तर तक ले जाना होगा। अर्थात उन नियमों, प्रथाओं और स्वरूपों तक जो परिवार और विवाह में सामाजिक संबंधों की रचना को नियंत्रित करता है। ये संबंधों के नियम, रीतियाँ तथा स्वरूप हैं।

भारत में, जहाँ क्षेत्रों तथा समुदायों में अधिक विभिन्नता है, हमें नातेदारी का बृहत् क्षेत्र प्राप्त होता है तथा इसकी नातेदारी व्यवस्था की व्यापक तस्वीर प्रस्तुत करना सहज नहीं है। हम देश के दो प्रमुख भौगोलिक क्षेत्रों, यानी उत्तर तथा दक्षिण भागों के विषय में बात करने का प्रयास कर सकते हैं। समाजशास्त्रीय साहित्य ने भी उत्तर और दक्षिण भारत की नातेदारी व्यवस्था की मुख्या विशेषताएँ बताई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत के कुछ नातेदारी के अन्य प्रकार मौजूद नहीं है (ऐसी व्यवस्था के बारे में अधिक जानकारी के लिए जैन 1996 : 151-270 तथा ओबराय 1994 देखिए)।

उत्तरी तथा दक्षिणी भारत की नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रियों ने कुछ दृष्टिकोण अपनाए हैं तथा इकाई 12 में उत्तर तथा दक्षिण भारत की नातेदारी व्यवस्थाओं के

अध्ययन के लिए वंशक्रम और विवाह-संबंध से उत्पन्न रिश्तेदारी संबंधी दृष्टिकोण के अनुप्रयोग की चर्चा की गई है। (नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन की मूलभूत अवधारणाओं और नातेदारी के वंशक्रम और विवाह-संबंध से उत्पन्न रिश्तेदारी संबंधी सिद्धांतों के विषय में स्वयं को अवगत करवाने के लिए इकाई 12 से पहले आपको परिशिष्ट 1 पढ़ना होगा)। उत्तर तथा दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य के लिए मैं आपको इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ.-12 के खंड 3 में नातेदारी-II की इकाई 9 का संदर्भ दे रहा हूँ)।

12.2 उत्तर भारत में नातेदारी के अध्ययन हेतु वंशक्रम सिद्धांत का अनुप्रयोग

भारत में पाए जाने वाले नातेदारी को समझाने के उद्देश्य से इरावती कर्वे (1953 : 93) ने चार सांस्कृतिक क्षेत्रों की पहचान की – उत्तरी, मध्य, दक्षिणी तथा पूर्वी क्षेत्र। कर्वे के अनुसार, आप उत्तरी क्षेत्र को उत्तर में हिमालय पर्वत तथा दक्षिण में विंध्याचल श्रृंखला तक मान सकते हैं। इस क्षेत्र में, अधिकांश लोग संस्कृत से निकली भाषाएं बोलते हैं। इस क्षेत्र में बोली जाने वाली प्रमुख भाषाएँ हैं– हिंदी, बिहारी, सिंधी, पंजाबी, असमिया तथा बंगाली। इतने बड़े क्षेत्र में, आप यह नहीं कह सकते हैं कि केवल एक नातेदारी व्यवस्था होगी। भाषा, इतिहास तथा संस्कृति में अंतर के कारण इस क्षेत्र में व्यापक भिन्नता आ गई है। हालाँकि, व्यापक तथा सामान्य विशेषताओं के आधार पर, आप इस क्षेत्र के समुदायों के नातेदारी संगठनों के ढाँचे को देखने का प्रयास कर सकते हैं। इस क्षेत्र में नातेदारी की मूलभूत रचना ओर प्रक्रिया को चार विशेषताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है। ये हैं– (क) नातेदारी के समूह, (ख) नातेदारी की शब्दावली, (ग) विवाह के नियम ; और (घ) नातेदारों के बीच शुभ-अवरों पर उपहारों का आदान-प्रदान। उत्तर भारत में नातेदारी पर चर्चा के लिए आइए इनमें से हम प्रत्येक विशेषता पर चर्चा करें।

MAADHYAM IAS

क) नातेदारी के समूह

उत्तर भारत के विभिन्न भागों में समाजशास्त्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि सामाजिक लोगों में सहयोग अथवा विवाद के आधार बनते हैं। ये समूह (i) पैतृक वंश, (ii) कुल, (iii) जाति/उपजाति; तथा कभी-कभी (iv) कल्पित नातेदारी जैसे हो सकते हैं। आइए इनमें से प्रत्येक समूह पर चर्चा करें।

i) पैतृक वंश (Patrilineage) : आप कह सकते हैं कि सामान्यत: उत्तर भारत में नातेदारी के संगठनों का आधार एक-दिशीय वंशक्रम समूह होते हैं। जब आप एक दिशा में सहभागी वंश के आधार पर किसी समूह की वंशक्रम सदस्यता खोजते हैं तो उसे एक-दिशीय वंशक्रम समूह कह सकते हैं। उत्तर भारत में, आपको पैतृक वंशक्रम समूह मिलेंगे। इसका अर्थ यह है कि आप पुरुषों की ओर वंश को पिता से पुत्र की दिशा में खोजते हैं। पैतृक वंश के सदस्य विभिन्न परिस्थितियों में सहयोग भी करते हैं और झगड़ते भी हैं। आइए, देखते हैं कि (क) सहयोग, (ख) विवाद; और प्रस्थिति तथा संपत्ति पर उत्तराधिकर के संदर्भ में यह कैसे होगा है।

क) सहयोग

पैतृक वंश के सदस्य रीतिपरक तथा आर्थिक गतिविधियों में सहयोग करते हैं। वे जीवनक्रम की रीतियों में भाग लेते हैं। विवादों को सुलझाने में, वंश के वृद्ध लोग, भीतर ही मामले को सुलझाने का प्रयास करते हैं। वंशक्रम सदस्यों के बीच सहयोग सुदृढ़ होता है क्योंकि वे एक गाँव में पास-पास रहते हैं। चूँकि वंश के सदस्यों की भूमि प्राय: एक ही गाँव में होती है, इसलिए वे अपने-अपने घर भी नजदीक ही बनाते हैं। ऐसी स्थिति में, घर के एक सदस्य से दूसरे सदस्य तक भौतिक संसाधनों का आदान-प्रदान निरंतर चलता रहता है। लुईस (1958 : 22-23),

मिंटर्न और हिचकॉक (1963 : 237), बेरेमॅन (1963 : 173) तथा निकोलस (1962 :174) उत्तर भारत में नातेदारी पर अपने अध्ययनों में सहयोग का स्वरूप बताते हैं। नातेदारी पर उनके द्वारा किए गए अध्ययनों से आप यह कह सकते हैं कि ये अध्ययन वंशक्रम दृष्टिकोण को अपनाते हैं क्योंकि सहयोग और विवाद के ढाँचे की ये वंश समूहों में जाँच करते हैं।

ख) **विवाद**

वंश के सदस्य एक-दूसरे की मदद करते हैं किंतु इनके बीच नातेदारी में झगड़े या विवाद भी होते हैं। उदाहरण के लिए, टी.एन.मदन (1965 : 201) बताते हैं कि कश्मीर के एक गाँव में, किस प्रकार भाइयों के बीच दुश्मनरी के कारण संयुक्त परिवार विभाजित हो जाता है। बाद में, यह दुश्मनी भाइयों के बच्चों के बीच और अधिक गहरी हो जाती है।

ग) **प्रस्थिति और संपत्ति पर उत्तराधिकार**

एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक प्रस्थिति और संपत्ति का उत्तराधिकार कुछ नियमों के अंतर्गत होता है। उत्तर भारत में, प्रस्थिति तथा संपत्ति प्राय: पुरुष वंश को मिलती है। इस कारण, पैतृक वंश का संयोजन अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। वंश के सदस्य आर्थिक तथा वैधिक कारणों से सहयोग करते हैं। वे वैधिक अधिकारों को बाँटते हैं और इसलिए इन अधिकारों को कायम रखने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। वे आपस में झगड़ा भी करते हैं कि उन अधिकारों का अधिक लाभ किसे मिलेगा। प्रधान (1965) ने बताया है कि मेरठ तथा दिल्ली के आसपास के अन्य जिलों के जाट और जमीनों के अन्य मालिक किस प्रकार गाँव की भूमि का कुछ भाग अपने पास रखते हैं तथा वह किस प्रकार वंश से बाहर स्थानांतरित नहीं हो सकता है। वंश में भूमि को रखने के लिए, परिवार के पुरुष सदस्यों को एकजुट रहना पड़ता है। इस मामले में, भूमि पर अधिकार, उनके सामाजिक संगठन का मुख्य सिद्धांत बन गया है।

उत्तर भारत में पैतृक वंशों पर नातेदारी समूहों की विशेषता के रूप में चर्चा करने के बाद, आइए अब हम कुल पर चर्चा करें जो उत्तर भारत में नातेदारी समूहों की दूसरी विशेषता है।

ii) **कुल** (Clan) : वंश वहिर्विवाहपरक (exogamous) इकाई है। इसका अर्थ यह है कि एक ही वंश के लड़का तथा लड़की विवाह नहीं कर सके हैं। ऐसी ही वहिर्विवाहपरक बड़ी इकाई को गोत्र कहते हैं। हिंदुओं में उच्च जाति का प्रत्येक व्यक्ति अपने पिता के गोत्र का होता है तथा वह उस कुल या गोत्र में विवाह नहीं कर सकता है। व्यक्ति को प्राय: वास्तविक रूप में अपने वंश के सदस्यों के पूर्वज के बारे में पता होता है। किंतु कुल का यह पूर्वज प्राय: एक पौराणिक पात्र होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में वंश के सदस्य अधिकतर निकट रहते हैं और इसलिए सहयोग अथवा विवाद के लिए उनके पास अधिक अवसर होते हैं। कुल के सदस्यों के बीच संबंधों में समान लाभ अथवा क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि वे बड़े क्षेत्र में फैले हुए होते हैं और उनके बीच संबंधी काफी दूर के होते हैं। आप देखेंगे कि केवल विवाह के संदर्भ में इन संबंधों का महत्चवूर्ण होना आम बात है। यही कारण है कि अब हम उत्तर भारत में नातेदारी के समूहों की तीसरी विशेषता के रूप में जाति/उपजाति पर चर्चा करेंगे। जातियाँ/उपजातियाँ ऐसी अंतर्विवाहरपरक (endogamous) इकाइयाँ होती हैं जिनमें विवाह हो सकता है।

iii) **जाति/उपजाति** : वंशों और गोत्रों के अतिरिक्त नातेदारी एक गाँव अथवा गाँव के निकटवर्ती समूह में रहने वाले जाति-समूहों के परिवरों में होती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जातियाँ अंतर्विवाहपरक होती हैं अर्थात व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करता है, एक ही जाति समूह के लोग नातेदार हो जाते हैं क्योंकि उनका पहले से ही संबंध होता है अथवा एक-दूसरे के साथ संबंध स्थापित किया जा सकता है। यदि दूसरे लोग सम्मान और प्रतिष्ठा को चुनौती दे तो जाति-भाई प्राय: आगे बढ़कर एक-दूसरे की मदद करते हैं। वे रीति-रिवाजों में भी मिलकर हिस्सा लेते हैं और एक-दूसरे की आर्थिक रूप से मदद करते हैं।

MADHYAM IAS

उपजाति, जाति का सबसे बड़ा भाग है और यह जाति के लगभग सभी कार्य करता है जैसे अंतर्विवाह ओर सामाजिक नियंत्रण। इस संदर्भ में आप कह सकते हैं कि उपजाति की आंतरिक संरचना से वह ढाँचा मिल सकता है जिसमें आप नातेदारी के चलन को देख सकते हैं। उपजाति के सदस्य नातेदारों की भाँति परस्पर सहयोग करते हैं। संदर्भ के आधार पर वे रीति-रिवाजों के क्षेत्र में समान रूप से कार्य करते हैं और सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों में राजनीतिक मित्रों की भाँति काम करते हैं (उपजाति संबंधी अध्ययनों के उदाहरणों के लिए बाक्स 12.3 देखिए)।

बॉक्स 12.1 और 12.2 इकाई के अंत में दिए गए परिशिष्ट-1 का भाग है।

बॉक्स 12.3: उपजाति संबंधी अध्ययनों के उदाहरण

एक बहुत छोटी उपजाति पर अपने अध्ययन में विद्यार्थी (1961 : 53-57) ने बताया कि उपजाति के अधिकांश सदस्यों के साथ अपने संबंध को खोज पाना संभव होता है। दूसरी ओर, अनेक गाँवों में फैली एक उपजाति के मामले में, व्यक्ति अपने कुल संबंधियों के केवल एक अंश के साथ ही संबंध बना पाता है।

बंगाल में विवाह के नियमों पर अपने अध्ययन में क्लास (1966) उपजाति को व्यक्ति की 'प्रभावी जाति' (effective jati) मानता है। यह उपजाति के उन सभी लोगों को दर्शाती है जिनके साथ व्यक्ति का सहयोग अथवा विवाद का वास्तविक संबंध होता है।

उपजाति के नातेदारी में, हमें उन्हें भी शामिल करना होगा जो व्यक्ति से विवाह द्वारा संबंधित होते हैं। यहाँ, प्राय: माता द्वारा बने संबंधियों को जन्मजात-संबंधी और जीवन-साथी द्वारा बने नातेदारों को विवाहजन्य संबंधी कहते हैं। ये संबंधी व्यक्ति के परिवार अथवा वंश या गोत्र के सदस्य नहीं होते हैं। उनसे व्यक्ति को समर्थन देने या उसे सहयोग देने की अपेक्षा होती है और ये लोग अवसर आने पर ऐसा करते भी हैं। जहाँ व्यक्ति का केवल एक वंश, एक गोत्र अथवा एक उपजाति होती है, वहीं व्यक्ति के अनेक संबंधी होते हैं जो उसके वंश/गोत्र/उपजाति के सदस्य नहीं होते हैं।

MAADHYAM IAS

हम यह पहले ही बता युके हैं कि किस प्रकार रैडक्लिफ-ब्राउन जैसे समाजशास्त्रियों ने नातेदारी के अध्ययन के लिए वंशक्रम दृष्टिकोण को अपनाया और व्यक्ति तथा उसके मामा के बीच संबंध के विशिष्ट स्थान के विषय में बताया।

उत्तर भारत में नातेदारी समूहों पर चर्चा के अंत में, संबंधों के दो और समूहों के विषय में बताना गलत नहीं होगा, जो कुछ स्थितियों में महत्वपूर्ण होते हैं। ये कल्पित नाते तथा वे संबंध होते हैं जो व्यक्ति अपन सौतेले भाई-बहनों और अन्य सौतेले संबंधियों के साथ निभाता है।

iv) **कल्पित नाते और सौतेले संबंधी** : शहरी और ग्रामीण लोगों के बीच कल्पित नातों को प्राप्त मान्यता के विषय में भी आपको बताना होगा। प्राय: लोग जो वंशक्रम अथवा विवाहजन्य नातों से संबंधित नहीं होते, वे एक-दूसरे के साथ कल्पित नाते बता लेते हैं। हमें इस प्रथा के प्रमाण अनेक जनजातियों और ग्रामीण अध्ययनों में मिलते हैं। आप बी.बंद्योपाध्याय (1955), एल.दुबे (1956), एस.सी.दुबे (1951), एस.के.श्रीवास्तव (1960) और एल.के.महापात्र (1968, 1969) द्वारा किए गए अध्ययनों को देख सकते हैं। उत्तर भारत में एक गाँव एक ही आवास के आधार पर, असंबंधित लोग प्राय: भाइयों की भाँति व्यवहार करते हैं (कल्पित नातों पर स्पष्टीकरण के लिए बॉक्स 12.4 देखें)। इसी प्रकार, समाज उद्गम वाले मुंबई की चाल में रहने वाले एक निवाह, एक कुल समूह की भाँति व्यवहार कर सकते हैं।

बॉक्स 12.4: कल्पित नातों का स्पष्टीकरण

महापात्र (1969) बताते हैं कल्पित नातेदारी उन लोगों में संबंधियों जैसा व्यवहार पैदा करने की एक प्रणाली है जो किसी विशिष्ट स्थिति में सामान्यत: संबंधित नहीं होते। उदाहरण के

लिए, उत्तरी भारत में जहाँ ग्राम बहिर्विवाह सामान्य बात है, एक इलाके में बहू के भाई का रहना असामान्य है। वह केवल कल्पित संबंध द्वारा भाई प्राप्त कर सकती है। शहरी संदर्भ में, आपने ऐसे छोटे बच्चे अनेक बार देखे होंगे जो किसी वृद्ध पुरुष को 'अकंल' तथा वृद्ध महिला को 'आंटी' बुलाते हैं। इससे यह पता चलता है कि पूरी तरह अंजान लोगों के प्रति हम अपने रोजमर्रा के जीवन में कितनी सरलता से नातेदारी के मुहावरे बना लेते हैं। हालाँकि, ये अस्थायी संबंध वास्तविक नातेदारी के संबंधों और उन संबद्ध व्यवहार के संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते हैं।

सौतेले भाई-बहनों और अन्य सौतेले संबंधियों के बीच नातेदारों के समाजशास्त्रीय अध्ययन बहुत कम हैं। युवा पीढ़ी के समाजशास्त्रियों के लिए खोजबीन के लिए यह नया क्षेत्र है।

ख) नातेदारी की शब्दावली

आइए अब हम यह पता करें कि उत्तरी क्षेत्र के भाषिक क्षेत्र में प्रयोग किए जाने वाले नातेदारी के शब्दों का विश्लेषण हमें नातेदारी की संरचना, उसकी बनावट और प्रत्येक शब्द से संबंधित व्यवहार को समझने में किस प्रकार मदद करेगा। हम पहले (i) उत्तर भारतीय नातेदारी के शब्दों की विवरणात्मक प्रकृति को देखेंगे और फिर (ii) सामाजिक व्यवहार को दर्शाने वाले सामाजिक व्यवहार तथा नातेदारी के शब्दों पर चर्चा करेंगे।

i) उत्तर भारतीय नातेदारी के शब्दों की विवरणात्मक प्रकृति

भाषिक संदर्भ में नातेदारी और संबंधों की अभिव्यक्ति को नातेदारी की शब्दावली कहते हैं। उत्तर भारत के मामले में, शब्दावली की पद्धति को विवरणात्मक कहा जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि नातेदारी के ये शब्द संबंधों को वक्ता की दृष्टि से समझाते हैं।

यहाँ तक कि अत्यंत दूर के संबंधों को भी कुछ शब्दों में सटीक रूप से समझाया जा सकता। जैसे अंकल, आंटी, कज़िन जैसे अंग्रेजी के शब्द आयु और पैतृक/मातृ संबंधों का बोध नहीं कराते हैं। अंग्रेजी के शब्दों से भिन्न, उत्तर भारतीय नातेदारी के शब्द अत्यंत स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए, जब हम चचेरा भाई कहते हैं तो उसे सरलता से पिता के छोटे भाई (चाचा) के पुत्र के रूप में अनूदित किया जा सकता है जो वक्ता से भाई का संबंध दर्शाता है। इसी प्रकार, ममेरे भाई का अर्थ माता के भाई (मामा) का पुत्र होता है। डयूमोंट (1966 : 96) के अनुसार, उत्तर भारतीय नातेदारी की शब्दावली इस अर्थ में विवरणात्मक है कि वह मैं अथवा वक्ता से आरंभ होकर तीन चरणों में मूलभूत संबंधों को समझाती है।

चरण-1 : ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी पुत्रत्व का प्राथमिक संबंध, सहोदर संबंध (भाई/बहन) तथा विवाह शब्दों का प्रथम समूह है।

चरण- 2 : इसके बाद द्वितीय स्तर के संबंध होते हैं। इन्हें दो प्राथमिक संबंधों को जोड़कर बनाया जाता है। जैसे पुत्रत्व + पुत्रत्व, पुत्रत्व + सहोदर, सहोदर + पुत्रत्व, विवाह + पुत्रत्व, विवाह + सहोदर।

चरण- 3 : तीसरे स्तर के संबंधों को पुत्रत्व + विवाह + पुत्रत्व द्वारा दर्शाया जाता है। डयूमोंट (1966) के लिए उत्तर भारतीय नातेदारी शब्दावली, श्रेणीगत शब्दावली नहीं है क्योंकि इसमें नातेदारी के शब्दों को विरोध के सिद्धांतों की संख्या के अनुसार श्रेणीबद्ध नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, मेरा यह मानना है कि पैतृक वंश पर बल देने के लिए उत्तर भारतीय नातेदारी शब्दावली समानांतर और पार-संबंधों के बीच स्पष्ट अंतर को देखती है। अपने भाई के बच्चों को भतीजा (लड़का) और भतीजी (लड़की) कहते हैं। अपनी बहन के बच्चों को भांजा (लड़का) और भांजी (लड़की) कहते हैं। व्यक्ति के समानांतर संबंधी उसके अपने वंश के सदस्य होते हैं इसलिए वे भी उसी गाँव में आसपास रहते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति की बहन के बच्चे अथवा पार-संबंधी भिन्न वंश के सदस्य हाते हैं। वे रहते भी दूसरी जगह पर है। भाई के बच्चों और

बहन के बच्चों के बीच यह अंतर जो उत्तर भारतीय नातेदारी शब्दावली में होता है, दक्षिण भारत में नातेदारी के संदर्भ में भी महत्त्वपूर्ण है (इसके विषय में हम इस इकाई में बाद में चर्चा करेंगे)। अब हम देखते हैं कि नातेदारी के शब्द सामाजिक व्यवहार को किस प्रकार दर्शाते हैं।

ii) सामाजिक व्यवहार को दर्शाने वाले सामाजिक व्यवहार तथा नातेदारी के शब्द

इरावती कर्वे (1953) ने उत्तर भारतीय भाषाओं में नातेदारी के शब्दों की एक सूची दी। उसने नातेदारी की शब्दावलियों का प्रयोग भारत के विभिन्न भागों में नातेदारियों को समझाने और उनकी तुलना करने के लिए किया। उसने शब्दों का अध्ययन किया और निष्कर्षों का प्रयोग प्रभावों को समझने के लिए किया, जिन्होंने उनकी रचना में योगदान दिया (एक और उदाहरण के लिए बॉक्स 12.5 देखिए)।

बॉक्स 12.5: भारत-आर्य नातेदारी के शब्दों का जी.एस.घुर्रे द्वारा विश्लेषण

इरावती कर्वे के अतिरिक्त, हम जी.एस. घुर्रे द्वारा किए गए भारत-आर्य नातेदारी के शब्दों के विश्लेषण का एक उदाहरण दे सकते हैं (1946, 1955)। उन्होंने उत्तर भारतीय भाषाओं में नातेदारी के शब्दों की तुलना के माध्यम से नातेदारी के वैधिक तथा वैचारिक पक्षों को उजागर किया। उदाहरण के लिए, सरयूपरी ब्राह्मणों में 'मान' शब्द वधू लेने का द्योतक है। वैचारिक संदर्भ में 'मान' वधू देने वाले की तुलना में वधू लेने वाले की उच्च प्रस्थिति को दर्शाता है। वैधिक अर्थों में यह इस तथ्य को दर्शाता है कि वधू लेने वाले, वधू देने वालों के साथ संपत्ति को बाँटते नहीं हैं। ('मान' शब्द पर चर्चा के लिए जैन 1996 देखिए।)

नातेदारी के शब्दों का प्रयोग, नातेदार से अपेक्षित व्यवहार को भी स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिए, एक उत्तर भारतीय गाँव पर अपने अध्ययन में, ऑस्कर लुईस (1958 : 189) ने एक व्यक्ति और उसके बड़े भाई की पत्नी के बीच ढाँचे तथा नाते को समझाया। इसे देवर-भाभी का संबंध भी कहते हैं। हँसी-मजाक इस देवर-भाभी संबंध की एक प्रमुख विशेषता है।

एक हँसी-मजाक के संबंध के विपरीत, दूरी बनाए रखने का व्यवहार एक स्त्री तथा उसके पति के पिता के बीच होता है। इसी प्रकार, उसे अपने पति के बड़े भाई से भी दूरी रखनी होती है। पति के पिता को श्वसुर तथा पति के बड़े भाई को भसुर कहते हैं। भसुर शब्द संस्कृत के भ्रातृ (भाई) तथा श्वसुर (ससुर) के योग से बना है। इसलिए इसका संदर्भ उस व्यक्ति के लिए होता है जो ससुर की भाँति होता है।

नारेदारी के शब्दों तथा सामाजिक व्यवहार के संबंध को समझने के लिए यहाँ एक अभ्यास करना उपयुक्त रहेगा।

सोचिए और कीजिए 12.1

निम्नलिखित संबंधों के लिए अपने शब्दों में नातेदारी के शब्द लिखिए :

पिता, पिता का भाई, पिता के भाई का पुत्र, पिता का पिता, पिता के पिता के भाई का पुत्र, भाई, भाई का पुत्र, माता का भाई, माता का पिता, माता के भाई का पुत्र, माता की बहन, माता की बहन का पति, पिता की बहन, पिता की बहन का पति।

अब इन नातदारों में अपने समरक्तों तथा विवाहजन्य संबंधियों की पहचान कीजिए। इसके बाद नातेदारी के प्रत्येक समूह को संक्षिप्त रूप में लिखिए। इसके अतिरिक्त, अपनी भाषा में नातेदारी के शब्दों में आने वाले संबंधियों, यदि हों तो, स्पष्ट रूप से भेद को उजागर कीजिए। अंत में, यह पता कीजिए कि उपर्युक्त नातों के शब्दों में से क्या कोई हँसी-मजाक अथवा दूरी बनाए रखने वाले संबंधों को दर्शाते हैं।

ग) विवाह के नियम

जब भी कोई विवाह होता है तो नए नाते बने हैं। इससे आपको नातेदारी के संगठन के ढाँचों पर चर्चा करने के लिए विवाह संबंधी नियमों के महत्व का स्पष्ट रूप से पता चलता है। उत्तर

भारत के संदर्भ में, आप पाते हैं कि लोगों को उन श्रेणियों का भली-भाँति पता होता है जिनसे विवाह नहीं हो सकता है। समाजशास्त्रीय संदर्भों में, आप इस पद्धति को यह कहकर अभिव्यक्त कर सकते हैं कि उत्तर भारत में विवाह के निषेधात्मक नियम होते हैं। आप यह भी कह सकते हैं कि एक स्पष्ट परिधि के बाहर ही केवल विवाह हो सकता है। बाद में, हम उन सीमाओं पर भी बात करेंगे जिनके भीतर विवाह हो सकते हैं।

बहिर्विवाह के नियम (Rules of exogamy)

पहले हम देखते हैं और यह पता करते हैं कि उत्तर भारत में बहिर्विवाह की सीमा या नियम क्या है और चार-गोत्र का नियम क्या है जो उत्तर भारत में बहिर्विवाह की एक और सीमा निर्धारित करता है।

i) गोत्र बहिर्विवाह

विवाह, व्यक्ति की जन्म संबंधी वंश रेखा की सीमाओं को स्पष्ट रूप से दर्शाता है। किसी व्यक्ति को अपने पितृवंश की किसी कन्या से विवाह करने की अनुमति नहीं है। उत्तर भारत में, पाँच अथवा छह पीढ़ियों तक वंशागत संबंधों को ध्यान में रखा जाता है और इस परिधि के भीतर विवाह संबंध स्वीकृत नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में वंश गोत्र में परिवर्तित हो जाता है और हम गोत्र तथा गोत्र भाई के बारे में बात करते हैं। बहुप्रचलित संस्कृत शब्द 'गोत्र' किसी उपजाति के अंतर्गत एक बहिर्विवाह श्रेणी है। इसका मुख्य उद्देश्य उपजाति के अंतर्गत विवाहों को नियंत्रित करना है। एक ही गोत्र के दो व्यक्ति विवाह नहीं कर सकते हैं।

गोत्र बहिर्विवाह के अतिरिक्त, चार-गोत्र नियम भी है जो उन पुरुषों और स्त्रियों में भेद करता है जो एक-दूसरे के साथ विवाह कर सकते हैं और नहीं कर सकते हैं।

ii) चार गोत्र का नियम

इरावती कर्वे (1953 : 118) के शब्दों में इस नियम के अनुसार, किसी पुरुष को (i) अपने पिता के गोत्र; (ii) अपनी माता के गोत्र : (iii) अपनी दादी के गोत्र; तथा (iv) अपनी नानी के गोत्र की किसी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह नियम उन दो लोगों के बीच विवाह को निषेध मानता है जो उनके आठ गोत्र संबंधों में से किन्ही दो के होते हैं। इसका अर्थ है कि बहिर्विवाह का नियम अपने वंश के भी आगे चला जाता है। एक और प्रकार का बहिर्विवाह, जो उत्तर भारत में मौजूद है, ग्राम बहिर्विवाह कहलाता है। किसी ग्राम में, उसमें रहने वाले एक अथवा दो वंशों के सदस्य होते हैं। एक वंश के सदस्यों को आपस में विवाह करने की अनुमति नहीं होती है।

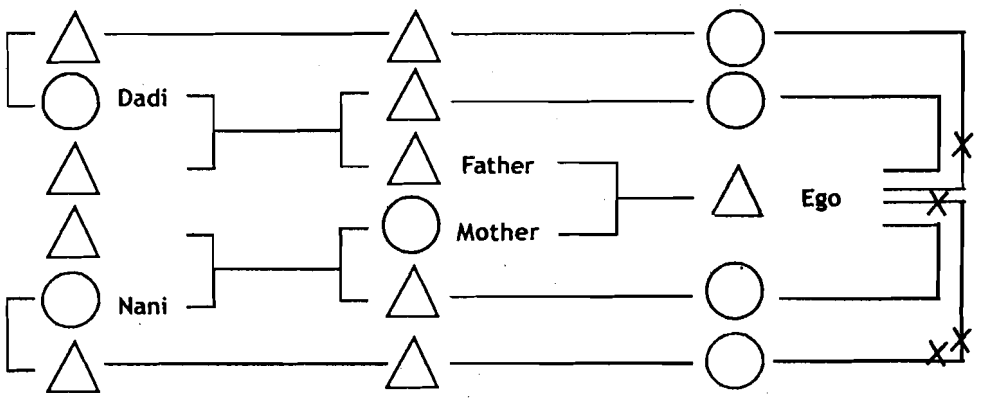

आरेख 12.3: चार गोत्र का नियम

यह सिद्धांत दो से अधिक वंशों वाले ग्रामों पर भी लागू होता है। अन्य शब्दों में, उत्तर भारत में किसी गाँव का एक लड़का और एक लड़की भाई-बहन जैसे होते हैं। इसलिए वे परस्पर विवाह नहीं कर सकते हैं।

यहाँ आपको सावधान करना आवश्यक है। हमने नातेदारी के ढाँचों के संगठन के संदर्भ में वंश, गोत्र तथा उपजाति के विषय में बात की। किंतु हमने कुटुंब, बिरादरी, खानदान, भाईबंधु आदि शब्दों का उल्लेख नहीं किया है। ये शब्द स्थानीय भाषाओं में सामान्य शब्दों (वंश, गोत्र और उपजाति) के बोलचाल में प्रयोग होने वाले विभिन्न अर्थों को दर्शाते हैं। ये स्थानीय शब्द विभिन्न संदर्भों में नातेदारी के प्रबंध के विभिन्न स्तरों को दर्शाते हैं। अपनी चर्चा में, हमने स्वयं को विस्तृत संदर्भ में सामाजिक संरचना और प्रकार्य तक सीमित रखा है और स्थानीय शब्दों के परस्पर विरोधी प्रयोगों से बचने का प्रयास किया है। अब हम उन समूहों को देखते हैं जिनमें उत्तर भारत के संदर्भ में विवाह किया जा सकता है। इन्हें अंतर्विवाह के नियम कहते हैं।

अंतर्विवाह के नियम

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नातेदारी एक गाँव अथवा गाँव के निकटवर्तीर समूह में रहने वाले जाति-समूहों के परिवारों में होती है। जातियाँ अंतर्विवाहपरक होती है इसका अर्थ है कि व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करता है। अब हम अपनी जाति/उपजाति में विवाह के नियमों को देखेंगे।

उपजाति में विवाह

उपजाति के अंतर्गत विभिन्न इकाइयों की प्रस्थिति का विचार स्थानीय शब्दों से संबंद्ध है। लुईस डयूमोंट (1966 : 107) द्वारा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिला के सरयूपारी ब्राह्मण पर किए गए अध्ययन के उदाहरण को लेने पर हम पाते हैं कि इस क्षेत्र के सरयूपारी बाह्मणों की प्रत्येक तीन उपजातियाँ तीन 'घरों' (नातेदारी समूह अथवा वंश) में विभाजित हैं जो प्रस्थिति के अनुसार क्रमबद्ध हैं। विवाह सदैव निम्न से उच्च 'घर' के हिसाब से होते हैं। इसका अर्थ है कि स्त्रियों का विवाह हमेशा उसके अपने 'घर' से उच्च 'घर' में होता है। इस संदर्भ में हम उत्तर भारत की प्रसिद्ध कहावत को भी देख सकते हैं कि 'लता को पीछे नहीं लौटना चाहिए'। यही विचार, उत्तर भारत की एक और कहावत में भी झलकता है कि 'पाँव पूज के लड़की नहीं ले जाएँगे' (अर्थात विवाह के दौर हमने एक बार वर के पैर धो दिए तो उसके परिवार की लड़की नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि इसका अर्थ होगा कि हम उस पक्ष को अपने पैर धोने देंगे अथवा संबंध को विपर्यय होने देंगे)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत के बाह्मणों तथा अन्य उच्च जातियों में बधू लेने वालों तथा बधू देने वालों के बीच क्रमबद्ध संबंध रहते हैं। उत्तर भारत में विवाह के निषेधात्मक नियमों के संदर्भ में, उपर्युक्त विवरण इस नियम को दर्शाता है कि कोई व्यक्ति अपने पिता की बहन की लड़की अथवा अपनी पैतृक वंश की पार-संबंधी लड़की से विवाह नहीं कर सकता है। यह विपर्यय निषेध नियम कहलाता है तथा इसे ऐसे आरेख द्वारा दर्शाया जा सकता है :

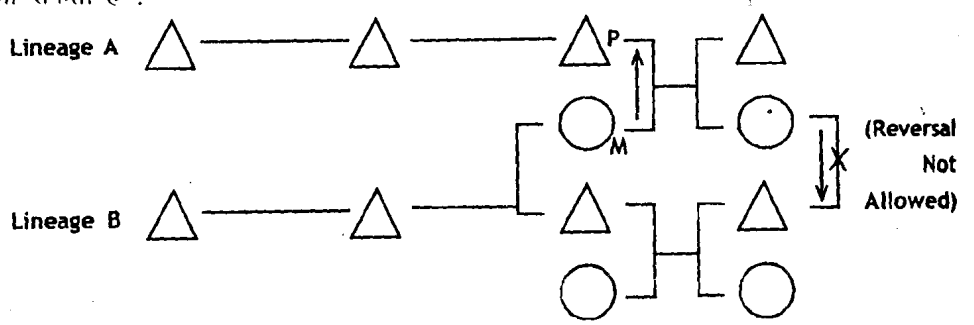

आरेख 12.4 : विपर्यय निषेध नियम

वंश 'ख' ने स्त्री (मा) को वंश 'क' के पुरुष (पि) को विवाह में दिया है। 'वि' को विवाह उत्सवों में 'पाँव पूज) के रूप में उच्च प्रस्थिति का स्थान दिया जाता हैं यदि 'पि' की पुत्री का विवाह वंश 'ख' के पुरुष से होता है तो 'पि' को वही उच्च प्रस्थिति का स्थान वंश 'ख' को देना पड़ेगा। किंतु अति विवाह के नियमानुसार, वंश 'ख', वंश 'क' से निम्न है। इसलिए इस विवाह से संबंधों का विपर्यय हो जाएगा। उत्तर भारत में इस प्रकार के विपर्यय की अनुमति नहीं है। इस कारण पैतृक वंश के पार-संबंधियों के साथ विवाह पर निषेधात्मक लागू होता है।

यहाँ एक अन्य सिद्धांत का उल्लेख भी किया जाना चाहिए। यह पुनरावृत्ति निषेध नियम है। इसका अर्थ है कि यदि पिता की बहन का विवाह किसी परिवार (खानदान) में हुआ है तो अपनी बहन का उसी परिवार में विवाह नहीं किया जाना चाहिए (डयूमोंट 1966 : 104-7)। यहाँ परिवार अथवा खानदान शब्द वंश की छोटी इकाई के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पुनरावृत्ति निषेध के इस नियम का अर्थ है कि मातृवंश के संबंधियों के साथ विवाह पर निषेधात्मक नियम लागू होता है। अन्य शब्दों में, कोई पुरुष अपनी माता के भाई की लड़की से विवाह नहीं कर सकता है। इसे इस प्रकार के साधारण नातेदारी के चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :

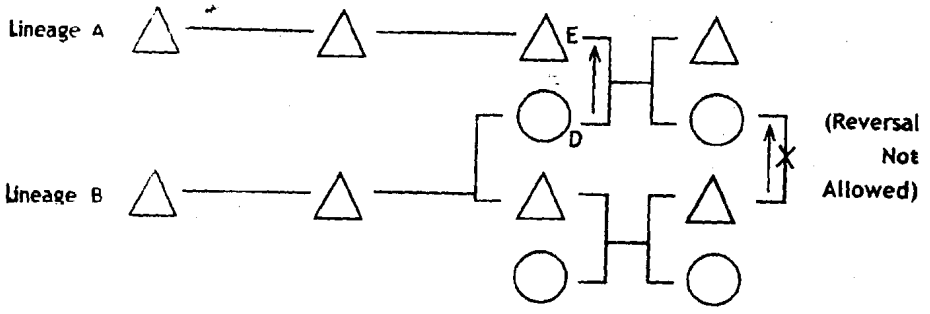

आरेख 12.5 : पुनरावृत्ति-निषेध नियम

वंश 'ख' ने स्त्री 'डी' को विवाह में वंश 'क' के पुरुष 'ई' को दिया है। अगली पीढ़ी में, यदि किसी स्त्री को दोबारा वंश 'क' के पुरुष को विवाह में दिया जाता है तो पुनरावृत्ति होती है। पुनरावृत्ति पर निषेध दर्शाता है कि उत्तर भारत में मातृवंश के पार-संबंधियों से निषेध है। अत: हम पाते हैं कि उत्तर भारत में पितृवंश और मातृवंश, दोनों के पार-संबंधियों के साथ विवाह की अनुमति नहीं है। अन्य शब्दों में, दोनों नियम-विपर्यय निषेध नियम तथा पुनरावृत्ति निषेध नियम, उत्तर भारत में विवाह के निषेधात्मक नियमों को पारिभाषित करते हैं।

उत्तर भारत में विवाह नियमों के संरचनात्मक आशय को उजागर करते हुए कश्मीरी पंडितों पर अपने अध्ययन में टी.एन.मदन (1965) ने घर के परिप्रेक्ष्य में पत्नी देने वाले और पत्नी लेने वाले तीन श्रेणी के बताए हैं (ये टी.एन.मदन ने, इस इकाई में प्रयुक्त वधू देने वाले तथा वधू लेने वाले के स्थान पर प्रयोग किए है) : (i) जो घर को पत्नी देते हैं तथा जो घर से पत्नी लेते हैं, (ii) जो श्रेणी (i) वालों को पत्नी देते हैं ; तथा (iii) जो श्रेणी (i) वालों से पत्नी लेते हैं। इन श्रेणियों में असमान संबंध होते हैं। हालाँकि सम्मान और प्रतिष्ठा, विवाह में स्त्री से विपरीत दिशा में जाते हैं। इसका अर्थ है कि पत्नी लेने वाले, पत्नी देने वालों से श्रेष्ठ होते हैं तथा किसी समूह को पत्नी देने के कारण व्यक्ति को अपने समूह में सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती है। निम्नलिखित आरेख दर्शाता है कि उत्तर भारत में अनुलोम विवाह (hypergamy) का नियम एक ओर स्त्रियों तथा दहेज तथा दूसरी ओर सम्मान एवं प्रतिष्ठा के आदान-प्रदान का कार्य करता है।

यहाँ क, ख और ग मैतृक वंश है जो उच्च से निम्न स्तर के अनुरूप हैं। ऊपर की दिशा का तीर यह बताता है कि वंश ग ने स्त्री तथा दहेज, वंश ख के पुरुष को दिया है। वधू देने वालों के रूप में, वंश ग, वंश ख से निम्न है तथा वंश ख, वंश क से निम्न है। अनुलोम विवाह (hypergamy) का नियम, वधु देने वालों को निम्न स्थान देता है।

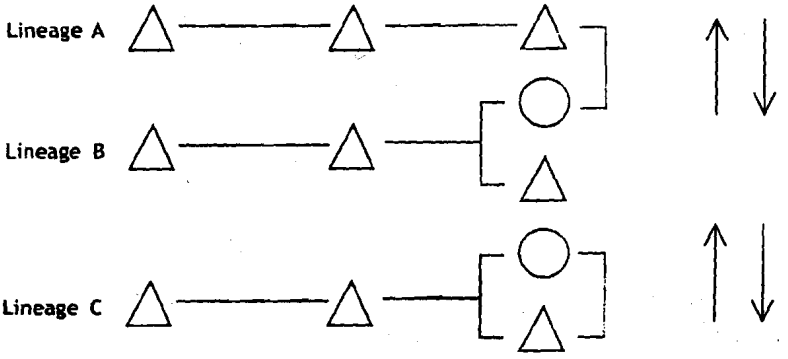

आरेख : 12.6 : उत्तर भारत में विनिमय के रूप में अनुलोग विवाह

इसी के साथ, स्त्री और दहेज को उच्चवर्गीय वंशो में देने से, निम्नवर्गीय वंश अपने समूहों में प्रतिष्ठा और ताकत प्राप्त करते हैं। इसलिए नीचे की दिशा के तीर, स्त्री और दहेज के जाने की दिशा के विपरीत, प्रतिष्ठा तथा सम्मान की दिशा को दशति हैं। अन्य शब्दों में, उत्तर भारत में उपजाति/जाति के क्रमबद्ध वंशों में स्त्री तथा दहेज के बदले प्रतिष्ठा और सम्मान मिलता है।

घ) नातेदारों के बीच शुभ-अवसरों पर उपहारों का आदान-प्रदान

जीवनचक्र के रिवाजों के अवसर पर उपहारों का आदान-प्रदान, नातेदारी की विभिन्न श्रेणियों में ढाँचागत व्यवहार को दर्शाता है। प्राय: वधू लेने वालों की तुलना में, निम्न स्तर वाले वधू देने वाले, विवाह के दौरान उपहार देने का कार्य आरंभ करते हैं और अधिकाधिक संख्या में उपहार देते जाते हैं। अन्य शब्दों में, आप कह सकते हैं कि उपहार लेना तथा देना एक सुपरिभाषित सामाजिक क्रिया है। नातेदारों में उपहारों के आदान-प्रदान के दो उदाहरणों के लिए बॉक्स 12.5 देखें।

बॉक्स 12.5: नातेदारों में उपहारों के आदान-प्रदान के दो उदाहरण

एल. डयूमोंट (1966 : 91) ने बताया कि माता के भाई (सगे संबंधी) तथा पत्नी के भाई (विवाहजन्य संबंधी) के समान प्रकार्य होते हैं। यही नहीं, कुछ समय बाद, जब पत्नी का भाई, बच्चों के लिए माता का भाई बन जाता है तो दोनों में अधिक अंतर नहीं रहता है। मालवा के एक गाँव में नातेदारी पर अपने अध्ययन में ए.सी.मेयर (1960 : 232) ने बताया है कि माता के भाई द्वारा दिए गए सभी उपहार 'ममेरे' कहलाते हैं। माता के भाई द्वारा दिए गए उपहारों की तुलना में, अपने पितृवशं द्वारा दिए गए उपहार 'बान' कहलाते हैं। 'बान' शब्द, उन उपहारों के लिए भी प्रयोग किया जाता है जो अन्य नातेदारों द्वारा दिए जाते हैं जैसे वर की बहन के पति द्वारा वर की पत्नी के भाई को दिया गया उपहार। इससे पता चलता है कि वर की बहन का पति (अथवा उर्ध्वगामी पीढ़ी के संदर्भ में पिता की बहन का पति) वर की पत्नी के भाई (अथवा ऊर्ध्वगामी पीढ़ी के लिए माता का भाई) की तुलना में पितृवंश नातेदार माना जाता है।

MAADHYAM IAS

समाजशास्त्री शब्दावली में, आप इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं — आप वर की बहन के पति को अथवा पिता को अथवा पिता की बहन के पति को पत्नी लेने वाले के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार, हम वर की पत्नी के भाई को अथवा उसकी माता के भाई को पत्नी देने वाले के रूप में देखते हैं। अब यदि 'क' के पत्नी लेने वाले द्वारा (बहन का पति अथवा पिता की बहन का पति) और 'क' के पितृवंश द्वारा 'क' के पत्नी देने वालों (अर्थात माता का भाई अथवा पत्नी का भाई) को उपहार दिया जाता है और उसे भी 'बान' कहते हैं तो हम कह सकते हैं कि 'क' के पत्नी देने वालों के विपरीत, उसके पितृवंश और पत्नी लेने वालों को एक श्रेणी में मिला दिया जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वर की पत्नी के भाई (अथवा माता के भाई) के लिए, वर पत्नी लेने वाला है और वर की बहन पति अथवा पिता की बहन का पति, पत्नी लेने वाला है। पत्नी लेने वालों के ये दो समूह एक ओर हैं तथा पत्नी देने वालों के समूह दूसरी ओर हैं।

विवाह पर उपहार देने की इस प्रथा में हम बॉक्स 12.6 में एक उदाहरण जोड़ सकते हैं।

बॉक्स 12.6 : उत्सवों पर उपहार देने का एक और उदाहरण

डयूमोंट (1966 : 93-5) ने पत्नी देने वालों और पत्नी लेने वालों के बीच (डयूमोंट द्वारा प्रयुक्त शब्द) वही अंतर दर्शाया है जो पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के गाँव में शोक के अंत में उपहार देने के संदर्भ में होता है। यहाँ, मुख्य शोकाकुल व्यक्ति मृतक का पुत्र अथवा कोई पितृवंश होता है। मुख्य शोकाकुल व्यक्ति के सिर पर पगड़ी बाँधने की रस्म कोई विवाहजन्य संबंधी खासतौर पर दामाद पूरी करता है दूसरे शब्दों में, बहन का पति अथवा पिता की बहन का पति पगड़ी बाँधता है। फिर पुन: शैय्यादान की रस्त के लिए, बहन के पति अथवा पिता की बहन के पति को उपहार लेने के लिए कहा जाता है। यह रस्म उनके

पत्नी लेने वालों की स्थिति को प्रबल करती है। पुजारी स्पष्ट रूप से दामादों को आगे आने के लिए कहता है। अत: दोनों प्रकार के विवाहजन्य संबंधियों (पत्नी-लेने वाले पत्नी देने वाले) में से, पत्नी लेने वालों को पत्नी देने वालों की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। अनुलोम विवाह की स्थिति में, पत्नी लेने वाले पत्नी देने वालों से श्रेष्ठ होते हैं और इसलिए उपहार देने की रस्म में वे प्राप्तकर्ता बने हैं तथा पत्नी देने वाले दाता होते हैं।

उड़ीसा में एफ्.जी. बेली (1957) तथा रामपुर में ऑस्कर लुईस (1958) ने भी विवाहजन्य संबंधियों (पत्नी के रिश्तेदार) तथा सगे संबंधियों (माता के रिश्तेदार) से उपहारों का लेन-देन दर्ज किया है। ए.सी.मेयर (1960) के अनुसार, सगे तथा विवाहजन्य संबंधियों द्वारा दिए गए उपहारों का प्रकार्य समान होता है। अर्थात पत्नी लेने वालों की प्रतिष्ठा को बढ़ाना। समाजशास्त्रीय संदर्भ में, उपहारों के इस प्रकार का लेन-देन उत्तर भारत में विवाह की अनुलोम विवाह प्रकृति को दर्शाता है। अन्य शब्दों में, स्त्री को सदैव अपने से उच्च समूह में दिया जाता है तथा उपहारों को देने का क्रम एवं दिशा इस भेद को सदैव बनाए रखता है। इससे उत्तर भारत में नातेदारी की प्रकृति का पता चलता है।

12.3 दक्षिण भारत में नातेदारी के अध्ययन हेतु वंशाक्रम सिद्धांत का अनुप्रयोग

दक्षिण भारत में भौगोलिक रूप से कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल राज्य आते हैं। इन चार राज्यों के लोग द्रविड़ परिवार भाषाएँ बोलते हैं। उत्तर भारत की तरह, दक्षिण भारत में भी विभिन्न नातेदारी होती है। केरल राज्य की विशेषता मातृवंश तथा अंतर्जातीय अनुलोम विवाह की प्रथा है। समान बातों के बावजूद, प्रत्येक राज्य का अपना नातेदारी सामाजिक-सांस्कृतिक ढ़ाँचा है। उत्तर भारतीय नातेदारी की भाँति, हम नातेदारी के चार प्रमुख पक्षों के संदर्भ में समान बातों पर ध्यान देंगे। ये पक्ष हैं (i) नातेदारी समूह, (ii) नातेदारी शब्दावली, (iii) विवाह के नियम; तथा (iv) नातेदारों में उपहारों के आदान-प्रदान की प्रथा।

MADHYAM IAS

i) नातेदारी समूह

दक्षिण भारत की नातेदारी को दो समूहों में बाँटा जा सकता है। ये हैं – पितृवंशीय और विवाहजन्य संबंधी।

पितृवंशीय : उत्तर भारत की भाँति, दक्षिण भारत में भी, अपने तत्काल परिवार के पार विभिन्न श्रेणियों के साथ संबंध होने के तथ्य का अर्थ अपने पितृवंशीय सदस्यों के साथ नजदीक संबंध है। पैतृक स्थानीय निवास के चलते, वंश के सदस्यों को जल्दी-जल्दी मिलने तथा सहयोग देने का अवसर मिलता है। वंश तथा आवास रिश्तों के संबंधों को निर्धारित करते हैं। आप देखेंगे कि दक्षिण तथा उत्तर भारत, दोनों क्षेत्रों में प्रत्येक में ऐसा समूह मौजूद है। उदाहरण के लिए, गफ ने तंजौर जिले के ब्राह्मणों पर किए गए अध्ययन में पितृवंशीय समूहों के विषय में बताया है जो छोटे-छोटे समुदायों में बँटे हुए हैं। गाँव के भीतर प्रत्येक जाति के एक से बारह तक बहिर्विवाह पितृवंशीय समूह होते हैं (एक अन्य उदाहरण के लिए बॉक्स 12.7 देखिए)।

बॉक्स 12.7: मदुरै के प्रमलाई कल्लरों में नातें के समूह का उदाहरण

डयूमोंट (1986) ने तमिलनाडु में मदुरै के प्रमाई कल्लरों पर अपने अध्ययन में कुट्टम नामक पितृवंश परंपरा, पितृस्थानीय और बहिर्विवाह समूहों के संदर्भ में नातेदार के समूहों को समझाया है। कुट्टम के सभी सदस्य एक अथवा अनेक गाँवों का समग्र या एक अंश होते हैं। प्रत्येक कुट्टम अपने पूर्वज का नाम वहन करता है जोकि मुखिया का नाम भी होता है। यह नाम सबसे बड़े पुत्र द्वारा ले लिया जाता है जो समूह में मुखिया का स्थान भी लेता है। रिति-रिवाज, जिनमें कुट्टम के सदस्य भाग लेते हैं, नातेदारी के संगठन की इकाई के रूप में अपने महत्व दशति हैं। कटाई के दौरान, जब भोजन पर्याप्त होता है, समूह के सभी

सदस्यों को आमंत्रित किया जाता है और वे सभी मिलकर कुट्टम के मंदिर में पूजा करते हैं। आर्थिक क्षेत्र में, चूँकि कुट्टम के पुरुष सदस्यों के पास भूमि होती है, हम पाते हैं कि पिता की मृत्यु के बाद, भाइयों आदि में झगड़े होते रहते हैं जबकि विवाहजन्य संबंधियों के बीच मुक्त तथा दोस्ताना संबंध होते हैं। इसलिए कल्लरों में ऐसा कहा जाता है कि भाई मज़ाक नहीं करते हैं। सहभागियों को पंगाली कहा जाता है। दक्षिण भारतीय नातेदारी की शब्दावली की श्रेणीबद्ध पद्धति में वे मामा-मच्चिनन नामक नातेदारी समूह से अलग होते हैं।

विवाहजन्य संबंधी : विवाहजन्य नातेदारों का संबंधी समूह पितृवंश से विपरीत होता है। पितृवंश से अलग संबंधी वे होते हैं जो उस समूह के होते हैं जिसमें व्यक्ति की माता तथा पत्नी पैदा हुई थीं। व्यक्ति के मामा समूह में सगे मामा (माता की ओर के) और विवाहजन्य अथवा मच्चिनन (पत्नी की ओर के) होते हैं। इस समूह के नातेदारों में वे समूह भी होते हैं जिनमें व्यक्ति की बहन ओर पिता की बहन का विवाह होता है। डयूमोंट (1986) ने पितृवंश और विवाहजन्य लोगों के बीच संबंध की प्रकृति को सदैव सुखद और मैत्रीपूर्ण बताया है।

परोक्ष पंगाली : यदि समूह 'क' व्यक्ति का पितृवंश है तथा समूह 'ख' उसका मामा-मच्चिनन (सगे तथा विवाहजन्य संबंधी) तो समूह 'ग' जो समूह 'ख' का मामा-मच्चिनन है, वे समूह 'क' में श्रेणीबद्ध भाई बन जाएँगे। इन श्रेणीबद्ध भाइयों के लिए मुरेक्कु पंगाली शब्द का प्रयोग किया जाता है। (डयुमोट 1950 : 3-26 देखिए)। ये संबंधी, यद्यपि पंगाली के प्रकार माने जाते हैं, वास्तविक सहभागियों के कभी बराबर नहीं होते हैं अथवा संयुक्त पितृवंश संपत्ति के सहभागी नहीं होते हैं। संबंधियों के घेरे के पार, शेष केवल तटस्थ लोग होते हैं।

अब हम दक्षिण भारतीय नातेदारी शब्दावली पर चर्चा करेंगे जो विवाहजन्य संबंधों पर विशिष्ट ज़ोर देती है। मैत्री दृष्टिकोण अपनाने वाले विशेष रूप से विवाहजन्य संबंधों में रुचि लेते हैं।

ii) नातेदारी शब्दावली

द्रविड़ भाषाओं में नातेदारी की स्पष्ट संरचना होती है। लुईस डयूमोंट (1986 : 301) के अनुसार, इस पद्धति की मुख्य विशेषताएँ हैं – (क) यह समानांतर तथा पार संबंधियों में भेद करती है; तथा (ख) यह श्रेणीबद्ध है। आइए इनपर चर्चा करें।

क) **समानांतर तथा पार संबंधी** : समानांतर भाई-बहन वे होते हैं जो समान लिंग के भाई-बहनों के बच्चे होते हैं। इसका अर्थ है कि दो भाइयों या दो बहनों के बच्चे एक-दूसरे के समानांतर संबंधी हैं। विपरीत लिंग वाले भाई-बहनों के बच्चे पार-संबंधी होते हैं। इसका अर्थ है कि एक भाई तथा एक बहन के बच्चे पार-संबंधी हैं। दक्षिण भारत की नातेदारी शब्दावली दोनों प्रकार के संबंधियों में स्पष्ट रूप से भेद करती है क्योंकि समानांतर संबंधी परस्पर विवाह नहीं कर सकते हैं जबकि पार-संबंधी एक दूसरे से विवाह कर सकते हैं। यदि शब्दावली की यह पद्धति इन दो श्रेणियों में भेद न करती तो लोगों के दिमाग में भंयकर दुविधा हो जाती। किंतु चार द्रविड़ भाषाओं में से किसी एक को बोलने वाला कोई भी वक्ता आपको बता देगा कि कभी भी ऐसी शंका पैदा नहीं होती कि कौन समानांतर संबंधी है, जिसके साथ आपको भाई/बहन की तरह व्यवहार करना है और कौन पार-संबंधी है जिसके साथ औपचारिक व्यवहार रखना है। समानांतर संबंधियों को भाई/बहन माना जाता है। उदाहरण के लिए, तमिल में व्यक्ति सभी समानांतर संबंधियों को अन्ना (बड़ा भाई) अथवा तांबी (छोटा भाई) और अक्का (बड़ी बहन) अथवा तंगाची (छोटी बहन) कहता है। पार-संबंधी भाई/बहन नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, तमिल में, पार-संबंधियों को मामा मगल/मगन (माता के भाई की लड़की/लड़का) अथवा अट्टारई मगल/मगन (पिता की बहन की लड़की/लड़का) कहते हैं। निम्नलिखित आरेख इसको अधिक स्पष्ट करता है :

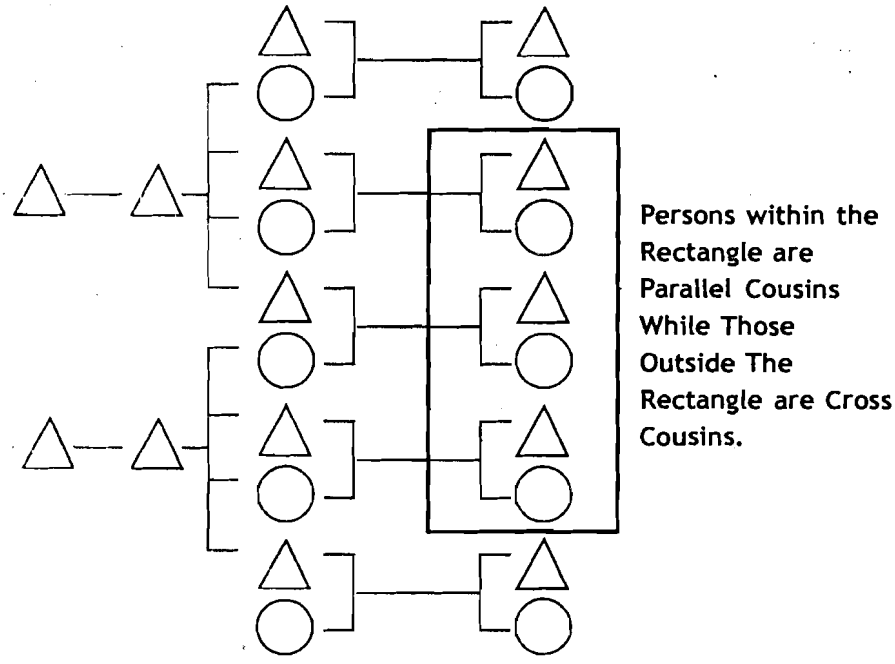

आरेख 12.7 : संबंधियों की दो श्रेणियाँ

नातेदारी की यह पद्धति, निकटस्थ नातेदारों के बीच विवाह की प्रथा के अनुकूल है। यह उन सभी वंशगत रेखाओं को अलग कर देती है जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति किससे विवाह कर सकता है तथा किससे नहीं। शब्दावली यह स्पष्ट रूप से बताती है कि व्यक्ति की अपनी पीढ़ी में, पुरुष या तो भाई होते हैं अथवा जीजा होते हैं। इसी प्रकार, स्त्रियाँ या तो बहनें होती हैं या संभावित पत्नियाँ। आप कह सकते हैं कि, इसी अर्थ में मॉर्गन (1981 : 394) ने द्रविड नातेदारी शब्दावली को 'सुसंगत तथा व्यवस्थित' बताया है।

तुलना करने की दृष्टि से, हम स्पष्ट कर दें कि उत्तर भारत में, सभी संबंधी (समानांतर अथवा पार) सपिंड अथवा भाई/बहन माने जाते हैं। उन्हें एक-दूसरे से विवाह करने की अनुमति नहीं होती है। इस संदर्भ में आप देख सकते हैं कि उत्तर भारत की नातेदारी, दक्षिण भारत की नातेदारी से किस प्रकार भिन्न है तथा किस प्रकार नातेदारी की शब्दावली इस भेद को दर्शाती है।

ख) **नातेदारी की शब्दावली की श्रेणीबद्ध प्रकृति** : आप कह सकते हैं कि द्रविड़ नातेदारी के शब्द, दक्षिण भारत की नातेदारी का प्रतिबिंब हैं क्योंकि शब्दावली की श्रेणीबद्ध प्रकृति समानांतर तथा पार-संबंधियों के भेद से पूरी तरह से मेल खाती है। यह शब्दावली निम्न रूप से श्रेणीबद्ध हो जाती है :

शब्दावली के संदर्भ में, व्यक्ति की अपनी पीढ़ी दो श्रेणियों में विभाजित है :

क) एक समूह में सभी भाई और बहन होते हैं जिसमें व्यक्ति के समानांतर संबंधी और पिता के समानांतर संबंधियों के बच्चे भी शामिल होते हैं।

ख) दूसरे समूह में पार-संबंधी तथा विवाहजन्य नातेदार होते हैं जैसे श्रेणी 'क' (ऊपर) संबंधियों के पत्नी/पति/तमिल में इस श्रेणी को मामा-मच्चिनन कहते हैं।

आप यह भी देख सकते हैं कि किस प्रकार नातेदारों की दो श्रेणियाँ अपनी पीढ़ी तथा अपनी ऊर्ध्वगामी और अधोगामी पीढ़ियों में नातेदारों को विभक्त करती हैं।

अपनी पीढ़ी : यह द्वि-विभाजन व्यक्ति की संपूर्ण पीढ़ी पर लागू होता है। दूसरे शब्दों में, अपनी पीढ़ी में व्यक्ति के अपने सभी नातेदार व्यवस्थित ढंग से वर्गीकृत होते हैं। नातेदारों की कोई

तीसरी श्रेणी नहीं होती है। श्रेणी (क) के लिए तमिल में 'पंगाली' शब्द होता है जिसका अर्थ है – 'वे जो बाँटते हैं'। पंगाली शब्द का सामान्य तथा विशिष्ट, दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं। सामान्य अर्थ में, इसका आशय श्रेणीबद्ध (मुरई) भाइयों से होता है जो संयुक्त संपत्ति में भागीदार नहीं होते हैं। इन सभी को पंगाली (भाई) माना जाता है। अपने विशिष्ट संदर्भ में पंगाली शब्द का आशय केवल उन लोगों से होता है जिनका संयुक्त परिवार की संपत्ति में हिस्सा होता है। यहाँ हमारी रुचि इस शब्द के श्रेणीबद्ध (मुरई) अर्थ में अधिक है।

दोनों श्रेणियाँ (पंगाली और मामा-मच्चिकन) एक-दूसरे के विपरीत तथा विशिष्ट होते हैं। यह वर्गीकरण, जो अपनी ही पीढ़ी के नातेदारों के संदर्भ में ऊपर समझाया गया है, समूहों, वंशों, गाँवों आदि पर लागू होता है। यह द्वि-विभाजन, अपने से ऊपर की पीढ़ी और नीचे की पीढ़ी, दोनों पर लागू होता है।

विवाहजन्य संबंधियों के विवाहजन्य संबंधी

पंगाली और मामा-मच्चिकन की श्रेणियों में श्रेणीबद्ध संबंधों का वर्गीकरण उन लोगों पर भी लागू होता है जो विवाहजन्य नातदारों के विवाहजन्य संबंधी होते हैं। जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं कि नियम यह है कि व्यक्ति को प्रत्येक संबंधी को किसी श्रेणी में रखना आवश्यक है। यदि 'क', 'ख', का विवाहजन्य नातेदार है जो 'ग' का विवाहजन्य संबंधी है तो उपर्युक्त रचना के अनुसार 'क' और 'ग' के बीच में मुरई पंगाली अथवा श्रेणीबद्ध भाई का संबंध है। ऐसा इसलिए है क्योंकि आपसे जो सभी संबंधित है आपका मामा-मच्चिकन नहीं है तो वह निश्चित रूप से आपका मुरई पंगाली या श्रेणीबद्ध भाई होगा।

आयु और लैंगिक भेदभाव

वृद्ध तथा युवा संबंधियों को अलग करने में 'अहम्' की पीढ़ी दो भागों में विभाजित हो जाती है। इसी प्रकार, पिता की पीढ़ी भी दो भागों में विभाजित हो जाती है। तमिल भाइयों तथा बहनों और अहम से बड़े समानांतर संबंधियों को क्रमश: अन्ना/अक्का कहते हैं तथा छोटों को क्रमश: तंबी/तंगाची कहते हैं। इसी प्रकार, सभी भाई/बहनें तथा अपने पिता से बड़े समानांतर संबंधियों को पेरियप्पा/पेरियम्मा तथा छोटों को क्रमश: चित्तपा/सिन्नपा/चिथि सिन्नम्मा कहते हैं। डयूमोट (1986 : 302) कहता है कि लिंग भेदी मैत्री भेद के साथ जुड़ा होता है। ज्यों ही मैत्री संबंध स्थापित करने के लिए भेद आवश्यक नहीं होता, त्यों ही उसका विलय कर दिया जाता है। यही हम दादा-दादी और पोतों पीढ़ी में प्रयुक्त नातेदारी वाले शब्दों में पाते हैं। तमिल में दोनों को पेरन (पोता) तथा पेती (पोती) कहते हैं। इसी प्रकार, नाना/नानी और दादा/दादी के लिए एक शब्द प्रयुक्त होता है यानी दादा/नानी के लिए ताता तथा दादी/नानी के लिए पाटी। दादा-दादी तथा पोते-पोती की पीढ़ियों में लिंग भेद का विलय उस सीमा रेखा को दर्शाता है जहाँ मैत्री के संबंधों का महत्व समाप्त हो जाता है और दोनों को एक ही श्रेणी में एकीकृत किया जा सकता है। दक्षिण भारत में नातेदारी की शब्दावली के उपर्युक्त विवरण से आपको यह नहीं लगना चाहिए कि इस सामान्य चित्र में कोई विभिन्नताएँ नहीं हैं। वस्तुत: कुछ क्षेत्रों में, नातेदारी के शब्दों की विशेषताएँ समाजशास्त्रियों के लिए अत्यधिक रुचिकर हैं। उदाहरण के लिए लुईस डयूमोंट (1986 : 301-309) ने तमिलनाडु के प्रमलाई कल्लर की नातेदारी की विशेषताओं पर विशेष रूप से चर्चा की है। लेकिन यहाँ हम नातेदारी की शब्दावली की केवल सामान्य तथा व्यापक योजना से संबद्ध हैं।

विवाह के नियम

दक्षिण भारत में नातेदारी में विवाह के सकारात्मक नियम होते हैं। इसका अर्थ यह है कि विवाह में एक विशिष्ट प्रकार की मैत्री को प्राथमिकता दी जाती है। आशा है कि आपको याद होगा कि उत्तर भारत में विवाह के निषेधात्मक नियम यह बताते हैं कि किससे विवाह नहीं किया जा सकता है। दक्षिण भारत में विवाह के नियम स्पष्ट हैं कि विवाह किससे किया जा सकता है।

MADHYAM IAS

विवाह कि नियम निम्नलिखित तीन प्रकार के होते है :

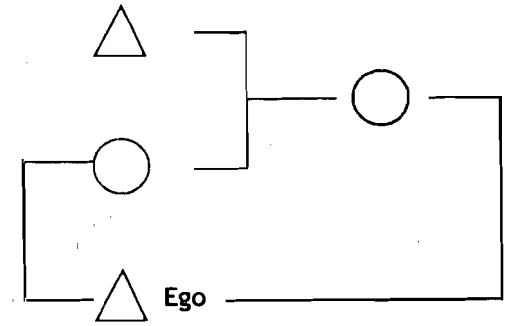

आरेख 12.8 : अपनी बड़ी बहन की लड़की से विवाह

i) दक्षिण भारत की कुछ जातियों में, व्यक्ति तथा उसकी बड़ी बहन की लड़की के विवाह को पहली प्राथमिकता दी जाती है। मातृवंश परंपरा समुदायों (जैसे नायरों) में इसकी अनुमति नहीं होती है। पितृवंश परंपरा दक्षिण भारत में विवाह के इस सकारात्मक नियम को निम्न प्रकार से सरल आरेख के माध्यम से बताया जा सकता है।

यहाँ व्यक्ति का विवाह उसकी बहन की लड़की से हुआ है।

ii) दूसरी श्रेणी का विवाह, जिसे प्राथमिकता दी जाती है, व्यक्ति तथा उसके पिता की बहन की लड़की के बीच होता है। दूसरे शब्दों में, हम यह भी कह सकते हैं कि एक स्त्री अपनी माता के भाई के लड़के के साथ विवाह कर सकती है। लड़की देने वाला परिवार, बदले में, एक लड़की लेने की इच्छा रखता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब एक स्त्री अपने मामा के घर में विवाह करके जाती है तो वह उस परिवार की हो जाती है जहाँ से उसकी माता आई है। अत: इसमें वापसी का सिद्धांत अपनाया जाता है। प्राय: इस प्रक्रिया को पूर्ण होने में दो पीढ़ियाँ लग जाती हैं। नातेदारी के आरेख की मदद से हम यह देखेंगे कि यह नियम किस प्रकार कार्य करता है :

MAADHYAM IAS

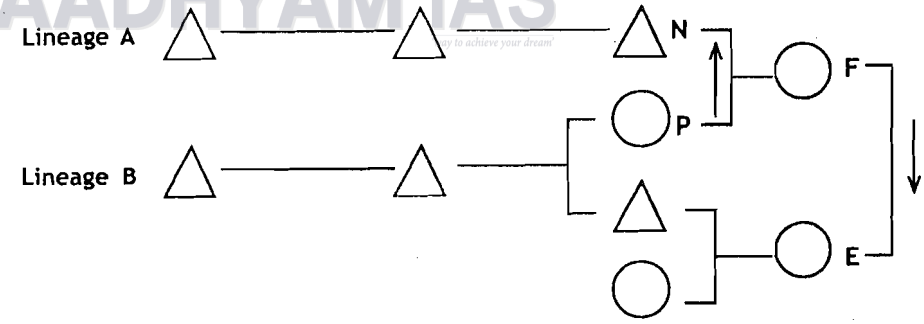

आरेख 12.9 : विवाह में वापसी का सिद्धांत

वंश 'ख' (पी) न स्त्री को विवाह में वंश 'क' के पुरुष (एन) को दिया। अगली पीढ़ी में वंश 'क' ने स्त्री (एफ) को वंश 'ख' पुरुष (ई) को दिया। इसलिए पितृवंश परंपरा पार-संबंधियों के साथ एक पुरुष का विवाह दक्षिण भारत में वापसी के सिद्धांत को दर्शाता है।

iii) तीसरे प्रकार का विवाह एक पुरुष और उसकी माता के भाई की पुत्री के बीच होता है। एक प्रकार से, यह उपर्युक्त (ii) के विपरीत है। कुछ जातियाँ (जैसे तमिलनाडु में कल्लर, कर्नाटक के हविक ब्राह्मण, आंध्र प्रदेश की कुछ रेड्डी जातियाँ) केवल इसी प्रकार के पार-संबंधी विवाह को अनुमति देती हैं। श्रेणी (iii) वाली जातियों में उच्चता अथवा अति-विवाह की अवधारणा सदैव रहती है। उत्तर भारत के वधू लेने वालों में यह प्रवृति जितनी होती है, उतनी दक्षिण भारत में नहीं होती है। किंतु इस प्रकार के विवाह में, गैर-वापसी का सिद्धांत अथवा 'बेल को लौटना नहीं चाहिए' लागू होता है और इसलिए वधू केवल एक ही दिशा में जाती

है। वधू लेने वालों में, वधू देने वालों की तुलना में थोड़ा श्रेष्ठ माना जाता है। इस एक-दिशीय प्रणाली को निम्नलिखित आरेख में दर्शाया गया है :

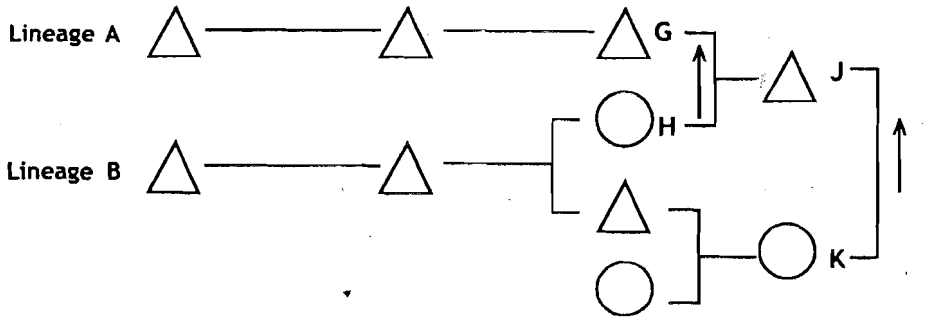

आरेख 12.10 : गैर-वापसी का नियम अथवा पुनरावर्ती का नियम

वंश 'ख' ने स्त्री (एच) को वंश 'क' के पुरुष (जे) को दिया। अगली पीढ़ी में वंश 'ख' ने पुन: स्त्री (के) को वंश 'क' के पुरुष (जे) को दिया। यहाँ अपने मातृवंश परंपरा पार-संबंधी से किसी व्यक्ति का विवाह, दक्षिण भारत की कुछ जातियों में सकारात्मक पुनरावृत्ति के नियम को दर्शाता है।

जब भाई और बहन का एक सेट, भाई और बहन के दूसरे सेट से विवाह करता है तो उनके बच्चों के विवाह के मामले में पितृवंश परंपरा और मातृवंश परंपरा संबंधियों में कोई भेद नहीं होता है। ऐसी स्थिति में (ii) अथवा (iii) प्रकार के लिए प्राथमिकता का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रत्येक सेट के बच्चे दूसरे सेट के पार-संबंधी होते हैं और वे विवाह कर सकते हैं और करते भी हैं। दक्षिण भारत में उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राथमिकता विवाह में, हमें नातेदारी के छोटे समूह के अंतर्गत विवाह के प्रति निश्चितता का भाव मिलता है। यह समूह अपने निकटतम परिवार के तुरंत बाहर होता है। विवाह के माध्यम से परिवार, पहले से मौजूद नातेदारी को अधिक सुदृढ़ करना चाहता है। अत: स्त्री पाती है कि अपनी माता के भाई से विवाह करने पर उसकी माता की माता और सास एक ही व्यक्ति है। अथवा यदि वह अपनी माता के भाई के पुत्र से विवाह करती है तो उसकी माता ही माता और उसके पति के पिता की माता एक ही व्यक्ति है। ये उदाहरण दशति हैं कि वहाँ विवाह सीमित नातेदारी में होते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि दक्षिण भारत में गाम बहिर्विवाह की प्रथा नहीं है। सपिंड तथा विवाहजन्य संबंधी एक ही गाँव में रहते हुए पाए जा सकते हैं। दक्षिण भारत में एक ही गाँव में रहने वाले विवाहजन्य संबंधी प्राय: एक-दूसरे के सामाजिक जीवन सें संबद्ध होते हैं। उत्तर भारत में नातेदारी के संदर्भ में ऐसी स्थिति असामान्य होती है किंतु दक्षिण भारत में वैवाहिक मैत्रियों से संबंधित कुछ प्रतिबंध होते हैं। अब हम इन्हें देखेंगे। वैवाहिक मैत्रियों से संबंधित प्रतिबंधों के लिए बॉक्स 12.8 देखिए।

बॉक्स 12.8 : वैवाहिक मैत्री संबंधी प्रतिबंध

कुछ विशेष नातेदारों के बीच विवाह के संदर्भ में क्या प्रतिबंध है ? कुछ जातियों में एक पुरुष अपनी बड़ी बहन की पुत्री से विवाह कर सकता है। किंतु अपनी छोटी बहन की पुत्री से नहीं। इसी प्रकार, कोई विधवा अपने मृत पति के बड़े अथवा छोटे भाई अथवा उसके श्रेणीबद्ध भाई के साथ विवाह नहीं कर सकती है। यहाँ हम पाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह हेतु प्रतिबंधित व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं। इसके बाद यह नियम भी है कि कोई व्यक्ति अपने परिवार अथवा अपने वंश में विवाह नहीं कर सकता है। कल्लर उपजाति के मामले में वंश को कुट्टम कहते हैं। डयूमोंट (1986 : 184) वंश के सभी व्यक्तियों पर अपने वंश में विवाह करने पर प्रतिबंध होता है।

iv) नातेदारों में उपहारों के आदान-प्रदान की प्रथा

उपहार देने और लेने की पद्धति नातेदारों की विभिन्न श्रेणियों के अलग होने/मिलने को नियंत्रित करने वाले सिद्धांतों को दर्शाती है। यही कारण है कि हम नातेदारी के व्यवहार के इस

पक्ष पर विचार करते हैं। आप दक्षिण भारत में उपहारों ओर उसके बदले में दिए गए उपहारों की दो श्रेणियों में भेद कर सकते हैं।

क) लड़की के परिवार से लड़के के परिवार को अथवा इसके विपरीत दिशा में उपहारों के जाने को विवाहजन्य संबंधियों के बीच आदान-प्रदान की श्रृंखला के रूप में देखा जा सकता है। उपहार-विनियम की यह एक श्रेणी है।

ख) उपहारों के लेन-देन की दूसरी श्रेणी दोनों प्रकार के समूहों में होती है। हम इसे उपहारों का आंतरिक विनिमय कह सकते हैं। कभी-कभी व्यक्ति के लिए दोनों ओर से उपहार लेना और देना संभव हो सकता है। नातेदारों के बीच, विवाह के सकारात्मक नियमों के कारण प्रायः कुछ लोग एक ही समय में दाता और प्राप्तकर्ता दोनों हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, नातों के विलय की पद्धति होती है (उपहारों की दोनों श्रेणियों के उदाहरणों को पहचानने की सोचिए और कीजिए)।

सोचिए और कीजिए 12.5

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए और दक्षिण भारत में नृविज्ञान पर किए गए अध्ययनों से लिए उदाहरणों में दोनों श्रेणियों को पहचानिए।

तमिलनाडु की प्रमलाई कल्लर उपजाति पर अपने अध्ययन में लुई डयूमोंट (1986 : 256) ने वर को पिता द्वारा ..... को दिए जाने वाले धन-रूपी उपहार का उल्लेख किया है। इसे 'परिसम' कहते हैं। वधु का पिता इस धन को अपनी पुत्री के लिए आभूषण लेने के लिए प्रयोग करता है। किंतु उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्राप्त राशि से दुगुना खर्च करे। इसलिए हम कह सकते हैं कि वधू के आभूषणों की कीमत दोनों परिवारों द्वारा आधी-आधी चुकाई जाती है। इस विशेष प्रथा द्वारा ..... के बीच उपहारों के आदान-प्रदान का ..... हो जाता है। यह कम से कम तीन वर्ष तक चलता है।

इसके बाद पहली संतान के जन्म के साथ उपहार विनिमय का एक और चक्र आरंभ होता है। वास्तव में प्रमलाई कल्लर में, जब एक नवविवाहित दंपत्ति विवाह के तीन वर्ष के बाद अथवा एक संतान के जन्म के बाद अपना घर बसाते हैं तो ..... घर की चीजें उपलब्ध करवाता है। इस उपहार को 'वैर पोन सीर' कहते हैं। इसका अर्थ होता है – 'अलग होने का उपहार'। इसलिए 'परिसम' से लेकर 'अलग होने के उपहार' तक हम एक श्रृंखला देखते हैं जिसमें कोई उपहार लिया जाता है और फिर उसे 'दुगुना' करके लौटाया जाता है। यह श्रृंखला वर की ओर से दिए जाने वाले उपहार से आंरभ होती है और वधू की ओर से दिए गए उपहार पर समाप्त होती है। इसलिए यद्यपि दोनों के विवाहजन्य संबंधियों के बीच उपहारों का ..... होता है, यह पूरी तरह से स्पष्ट है कि .... को अधिक देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वर की ओर से दिए जाने वाले उपहार, वधू की ओर से अधिक उपहार प्राप्त करने के लिए सिर्फ बहाने होते हैं।

वधू के परिवार की ओर से, वर के परिवार को दिए जाने वाले उपहारों की प्रकृति को देखने के पश्चात, अब हम ..... के प्रत्येक समूह के अंतर्गत दिए गए और लिए गए उपहारों पर भी चर्चा करेंगे।

विवाह के मौकों पर, वधू तथा वर दोनों के घर में क्रमशः मौजूद नातेदारों से कुछ राशि एकत्रित की जाती है। दक्षिण भारत की गैर-ब्राह्मण जातियों में इसे 'मोइ' कहते हैं। ब्राह्मणों में यही प्रथा 'मोइ लिखना' के नाम से प्रचलित है। किसी व्यक्ति को धन/भेंट-स्वरूप दिए गए उपहार को दर्ज करने का कार्य सौंपा जाता है। इस उपहार के देने में भी .... का सिद्धांत होता है। 'मोइ' उसके दिया जाता है जो ऐसे ही मौकों पर पहले दे चुका

MADHYAM IAS

है अथवा बाद में देगा। लुईडयूमोंट (1986 : 256) बताते हैं कि प्रमलाई कल्लर में, माता का भाई, मोइ देने वाला पहला व्यक्ति होता है। उसके बाद, अन्य नातेदार मोइदान करते हैं। प्राय: इस प्रकार एकत्रित धनराशि विवाह भोज पर होने वाले व्यय में काम आती है।

..... उपहारों के क्रम में, माता के भाई की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होती है। परिवार में एक संतान पैदा होने के बाद, माता का भाई, बच्चे के जीवन में विभिन्न अवसरों पर उपहार देता है। प्रमलाई कल्लर में (डयूमोंट 1986 : 256 देखें) माता का भाई, अपनी बहन के बच्चे को उसके जन्मदिन पर भूमि अथवा धन देता है। एक प्रकार से, हम कह सकते हैं कि ..... द्वारा दिए गए उपहार, उस श्रृंखला की कड़ी होते हैं जो माता के विवाह पर आरंभ हुई थी। तब हम इसे ..... के बीच उपहारों का ..... कहते हैं। अब माता का भाई- मेरे पिता का विवाहजन्य संबंधी, मेरी पीढ़ी में विवाहजन्य संबंधियों के संबंध में, वधू/अथवा वर के संबंधियों के साथ विलय हो जाता है। दूसरे, ... द्वारा दिए गए उपहारों का विशेष स्थान, स्त्री की ओर से पुरुष को दिए जाने वाले मान को भी दर्शाता है। माता की ओर के नातेदारों द्वारा अगली ..... का उपहार देने के संबंध में बनी हुई निरंतरता में यह देखने को मिलता है।

आप कह सकते हैं कि दक्षिण भारत में उपहारों के विनिमय पर नातेदारों के व्यवहार के संदर्भ में, हालांकि वधू देने वालों को प्राप्त उपहारों से अधिक देने पड़ते हैं, फिर भी आदान-प्रदान का तत्व इसमें विद्यमान है। तुलनात्मक संदर्भ में, आप यह भी कह सकते हैं कि उत्तर भारत में, उपहार वधू देने वालों से वधू लेने वालों की ओर एक दिशा में जाते हैं। परिणामस्वरूप, बदले में, वधू देने वालों को अपने समुदाय में अधिक प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त होता है। दक्षिण भारत में, विवाह के सकारात्मक नियम का अर्थ यह है कि उपहारों का लेन-देन केवल निकट संबंधियों में होता है। आदान-प्रदान किए गए उपहारों की संख्या में सदैव अंतर होता है किंतु उनकी दिशा दोनों ओर होनी चाहिए। वह उत्तर भारत की भांति, एक दिशा में नहीं हो सकता (उत्तर तथा दक्षिण भारत की नातेदारी की व्यापक तुलना के लिए इग्नू के बी. ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ-12 के खंड 2 की इकाई 9 देखिए)।

MADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

12.4 सारांश

इकाई 12 में आपने उत्तर तथा दक्षिण भारत में पाए जाने वाले नातेदारी के ढाँचों को समझने के लिए वंशगत तथा विवाह संबंधी दृष्टिकोणों पर चर्चा के लिए नातेदारी की संरचना के मुख्य पक्षों को जाना। ये चार पक्ष नातेदारी समूह, नातेदारी की शब्दावली, विवाह के नियम तथा नातेदारों में उत्सवों पर उपहारों का आदान-प्रदान हैं।

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dube, Leela 1974. *Sociology of Kingship.* Popular Prakashana : Bombay

जैन, शोभिता, 1996, *भारत में परिवार, विवाह औरे नातेदारी,* रावत पब्लिकेशंस : जयपुर

Karve, I. 1994. "The Kinship Map of India", In Patricia Uberoi (Ed.) *Family, Kinship and Marriage in India.* Oxford University Press : New Delhi

Uberoi, Patricia (Ed.) 1994. *Family, Kinship and Marriage in India.* Oxford University Press : New Delhi

नातेदारी के अध्ययन संबंधी दृष्टिकोण

सरलतम शब्दों में आप कह सकते हैं कि नातेदारी से आशय लोगों के उस समूह से है जिन्हें हम खून अथवा विवाह द्वारा अपना संबंधी मानते हैं। मैं आशा करता हूँ कि आप एक श्रेणी में परिवार की तथा दूसरे श्रेणी में वैवाहिक संबंधों की पहचान कर सकेंगे। ये दोनों मूलभूत सामाजिक संबंध हैं जिन्हें नजदीक से जानते हैं।

समाजशास्त्र में, हम सपिंडता जैसे तकनीकी शब्द का प्रयोग करते हैं जिनसे खून के संबंध दर्शाए जाते हैं तथा विवाह द्वारा विवाहजन्य संबंध दर्शाए जाते हैं। दोनों प्रकार की नातेदारी के उदाहरण देना आपके लिए कठिन नहीं है। इसलिए हम जल्दी से अभ्यास पूरा करते हैं ताकि यह जान सकें कि क्या आप वास्तव में ऐसा कर सकते हैं।

सोचिए और कीजिए 12.1

नातेदारी के निम्नलिखित उदाहरणों को पहचानिए और हमारे द्वारा अभी बताई गई दो श्रेणियों में इन्हें विभाजित कीजिए।

उदाहरण

माता और पुत्र, ससुर तथा बहू, माता और पुत्री, श्वसुर तथा दामाद, पिता और पुत्र, सास और बहू, पिता और पुत्री, सास और दामाद, बहन और भाई, भाभी और ननद, दो बहनें, दो भाई, दो दामाद।

उपर्युक्त प्रत्येक उदाहरण को सपिंडता और विवाहजन्य श्रेणियों में रखिए। जैसे-जैसे हम नातेदारी पर अपनी चर्चा में आगे बढ़ेंगे आप पाएँगे कि इस प्रकार की सरल श्रेणियाँ उतनी सरल नहीं होती हैं। किंतु नातेदारी पर अपनी चर्चा के आरंभिक कदम के रूप में, यह अभ्यास पर्याप्त भी है और रोचक भी।

MAADHYAM IAS

यहाँ पर कहना गलत नहीं होगा कि इन संबंधों की सामाजिक मान्यता, वास्तविक जीवविज्ञानी संबंधों से अधिक महत्वपूर्ण है। आपको पता होगा कि नातेदारी के आसपास बने तंत्र भारत में ग्रामीण तथा शहरी, दोनों प्रकार के सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

अब हम भारत में नातेदारी के अध्ययन के मुख्य दृष्टिकोण देखते हैं, अर्थात वे तरीके जिनके द्वारा समाजशास्त्रियों ने भारत के समाज में पाए जाने वाली नातेदारी को समझाया है।

समाजशास्त्रियों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त नातेदारी-संबंधी निष्कर्षों को समझाया है, उनकी तुलना तथा उनका विश्लेषण किया है। नातेदारी के अध्ययन के प्रति दृष्टिकोणों को हम दो शीर्षकों में वर्गीकृत कर सकते हैं – (i) भारत विद्या संबंधी दृष्टिकोण; और (ii) नृविज्ञान/समाजशास्त्र संबंधी दृष्टिकोण। अब हम इन दोनों दृष्टिकोणों पर चर्चा करेंगे।

i) भारत विद्या संबंधी दृष्टिकोण

यदि में यह कहूँ कि भारतीय समाज की सामाजिक संस्थाओं की जड़े, देश की साहित्यिक और ज्ञानपूर्ण परंपराओं में हैं तो आप मुझसे सहमत होंगे। अनेक समाजशास्त्रियों ने हमारी संस्थाओं के भारत विद्या संबंधी तथा विधिक आधारों को समझाने के लिए पाठ्य-स्रोतों की मदद ली है। आप के.एम. कपाड़िया (1947) का उदाहरण दे सकते हैं, जिसने हिंदू नातेदारी को बताने के लिए प्राचीन ग्रंथों का सहारा लिया है। इसी प्रकार आप पी.एच. प्रभु (1954) का एक और उदाहरण दे सकते हैं जिनके द्वारा हिंदू सामाजिक संगठन पर दिया गया विवरण संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हैं। मैं इनमें इरावर्ती कर्वे (1940, 43-44 और 1958) तथा जी.एस. घुर्रे (1946, 1955) का उदाहरण जोड़ूंगा। इन दोनों ने भारतीय नातेदारी पर विस्तृत कार्य किया है। दोनों

ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नातेदारी के ढाँचे को ग्रंथों के स्रोतों के आधार पर समझाया है। उन्होंने विभिन्न प्रकार की नातेदारी पर चर्चा करने के लिए सामाजिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को अपनाया है। इस अर्थ में नातेदारी के अध्ययन के लिए भारत-विद्या दृष्टिकोण ने नातेदारी में निरंतरता और परिवर्तन के तत्वों को समझने के लिए एक ढाँचा उपलब्ध करवाया है।

ii) नृविज्ञान/समाजशास्त्र संबंधी दृष्टिकोण

नृविज्ञान और समाजशास्त्र संबंधी अध्ययनों ने नातेदारी को वंश एवं विवाह संबंधों से बनी रिश्तेदारी के दृष्टिकोण से देखा है। आप पूछ सकते हैं कि 'वंश' तथा 'विवाह संबंध से उत्पन्न नातेदारी' शब्दों का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के संक्षिप्त उत्तर के लिए बॉक्स 12.1 देखिए और विस्तृत उत्तर के लिए इग्नू के बी.ए. पाठ्यक्रम के ई.एस.ओ-11 के खंड 3 की इकाई देखिए।

बॉक्स 12.1: 'वंश' और 'विवाह संबंध से उत्पन्न रिश्तेदारी' शब्दों का अर्थ

वंश शब्द का अर्थ है – 'किसी समूह की सदस्यता और केवल वही' (रिवर्स 1924 : 85-88 देखिए)। 'वंश' शब्द को आप बँटी हुई रुचियों अथवा संपत्ति वाले व्यक्तियों के समूहों के संदर्भ में प्रयोग कर सकते हैं। निधाम (1971 : 10) के अनुसार, माता-पिता से बच्चों तक समूह की सदस्यता स्थानांतरित करने के छह तरीके संभव हैं। ये हैं – (i) पैतृक वंशक्रम (पिता से संतान को) (ii) मातृवंश परंपरा (माता से संतान को) (iii) द्वि-वंशानुगत (एक प्रकार की विशेषताएँ पिता से संतान को और दूसरे प्रकार विशेषताएँ माता से संतान को), (iv) सजातीय (माता और पिता से संतान को बराबर की विशेषताएँ, (v) समानांतर (असमान्य प्रकार का स्थानांतरण जिसमें वंश रेखाएँ लिंग-विशिष्ट होती हैं यानी पुरुष नर संतान को देते हैं और स्त्रियाँ मादा संतान को देती है), (vi) पार अथवा अनुवर्ती (स्थानांतरण का एक और असमान्य प्रकार जिसमें पुरुष मादा संतान को देते हैं और स्त्रियाँ नर संतान को देती है)।

सरलतम शब्दों में विवाह-संबंधों से उत्पन्न रिश्तेदारी का आशय विवाह के बंधन को नियंत्रित करने वाले सकारात्मक और नकारात्मक नियमों से है। नातेदारी में वंशानुगत संबंध और विवाह संबंधों से बने नाते शामिल हैं। लेवी स्ट्रॉस (1949) ने वैवाहिक बंधन को महत्व दिया और मूलभूत संरचनाओं का विश्लेषण किया जो नातेदारी की कुछ विशेष श्रेणियों के साथ विवाह को स्वीकृति देते हैं (सकारात्मक नियम) और अस्वीकृति देते हैं (नकारात्मक नियम)। वैवाहिक संबंधों को इस प्रकार देखने से नृविज्ञान/समाजशास्त्र संबंधी तथ्यों का एक अच्छा समूह प्राप्त होता है जिससे हमें नातेदी को व्यापक ढंग से समझने में मदद मिलती है।

अब हम नातेदारी के अध्ययन के लिए वंशक्रम और विवाह संबंधों से उत्पन्न नातेदारी दृष्टिकोणों पर चर्चा करेंगे।

वंशक्रम दृष्टिकोण

निगम सामाजिक इकाइयों की स्पष्ट स्थापना के नाते ठोस आकार देते हैं। आप और मैं और हम सभी सहयोगी एवं नजदीक से संबद्ध लोगों के समूह का भाग है। इस समूह के सदस्य के रूप में, आप इस प्रकार के लोगों की सहायता और समर्थन पर निर्भर रह सकते हैं। आप पाएँगे के इस प्रकार के सहयोगी स्थानीय समूह सदैव जीवन-साथी और उनके बच्चों के मूलभूत परिवारों से बड़े होते हैं। जब इन समूहों को सहभागी वंश के आधार पर मान्यता दी जाती है अथवा परिभाषित किया जाता है तो इन्हें वंशक्रम समूह कहते हैं।

भारत में, हम प्राय: पितृवंश परंपरा और मातृवंश परंपरा पद्धतियाँ पाते हैं और इन दोनों में से पितृवंश परंपरा अधिक प्रचलित है। वंशक्रम समूह में नातेदारी के विवरण और विश्लेषण ने हमें भारत में नातेदारी की कुछ पद्धतियों की अत्यधिक व्यापक समाजशास्त्रीय जानकारी प्रदान की है (बॉक्स 12.2) देखिए।

बॉक्स 12.2 : वंशक्रम समूहों पर अध्ययनों के उदाहरण

गफ (1956) ने एक तमिल गाँव की ब्राह्मण नातेदारी पर अध्ययन किया और भूमि पर निगम अधिकारों के साथ वंश की एकता पर चर्चा की। उसने बड़े स्तर पर नातेदारी में भूमिकाओं और व्यक्तिगत संबंधों पर ध्यान केंद्रित किया।

मदन ने कश्मीरी ब्राह्मण समाज में संगठनात्मक सिद्धांत के रूप में नातेदारी की भूमिका का विश्लेषण किया। उसने मजबूत पितृवंश परंपरा संबंधी विचारधारा को कश्मीरी पंडितों की नातेदारी को एक विशेषता के रूप में उजागर किया।

वंश समूहों के अध्ययन ने उत्तर भारत में पितृवंश परंपरागत नातेदारी को समझने में हमारी मदद की है। ए.सी.मेयर, टी.एन.मदन, ऑस्कर लुईस जैसे समाजशास्त्रियों/नृविज्ञानियों ने उत्तर भारत में नातेदारी के संगठन पर अपने अध्ययनों में वंशक्रम दृष्टिकोण को अपनाया। उन्होंने नातों के समूहों के विभिन्न स्तरों और उनकी गतिविधियों पर विस्तार से चर्चा की है।

समाजशास्त्र संबंधी अध्ययनों में, समाजशास्त्रियों ने अतीत में 'पितृ' अथवा 'मातृ' उपसर्ग लगाए बिना अथवा लगाकर 'पंक्ति', 'वंश', 'वंशक्रम' आदि शब्दों का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से किया है :

क) निगम वंश समूहों अर्थात उपयुक्त वंश दर्शाने के लिए।

ख) नातेदारी समाज में चयनित विरासत अथवा उत्तराधिकार दर्शाने के लिए।

ग) नातेदारी की शब्दावलियों के अध्ययन में, शब्दावली संबंधी संरचनाओं का संदर्भ देने के लिए हम 'द्वि-वंशक्रम निर्धारण' अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हैं, जो 'द्वि-पक्षीय' पार-संबंधी विवाह' के अनुकूल होते हैं।

घ) उपर्युक्त तीन कारणों में से हम किस वंशक्रम (मातृवंश अथवा पितृवंश अथवा दोनों) को चुनते है, इस बात के बावजूद, वंशक्रम संबंधियों का आशय व्यक्ति के पूर्वजों अथवा वंशजों से है। वंशक्रम संबंधी वे होते हैं जो वंश के प्रत्यक्ष क्रम में पूर्वज माने जाते हैं। वंशक्रम संबंधियों के विपरीत, समानांतर संबंधी होते हैं, वे भी पूर्वज होते हैं किंतु वंश के प्रत्यक्ष क्रम में नहीं आते हैं।

पहले तीन प्रयोग संदर्भ विशिष्ट होते हैं यानी उनका आशय विशिष्ट परिस्थितियों से होता है। यहाँ हम सामाजिक संबंधों तथा समूहों पर बल देते हैं तथा समाजशास्त्री अन्योन्यक्रिया, विशिष्ट समाज के नियमों और रिवाजों के संदर्भ में उनका अध्ययन करते हैं। उदाहरण के लिए, वंशक्रम दृष्टिकोणों का पालन करते हुए रैडक्लिफ-ब्राउन (1924) जैसे विद्वानों ने पितृवंश परंपरा समाज में माता के भाई तथा बहन के पुत्र के बीच संबंध पर चर्चा की है। वे 'पूरक पुत्रत्व' अर्थात पतिृवंश परंपरा समाज में, व्यक्ति के माता की ओर के नातेदारों से संबंध, के विचार का उपयोग करते हैं। मातृवंश परंपरा समाज में, इसका आशय व्यक्ति के पिता की ओर के संबंधियों के साथ स्थापित संबंध से है। यह वह समूह है जिससे व्यक्ति के पिता ने पत्नी ली है। इस कारण से, कुछ समाजशास्त्री, विवाहजन्य संबंधों के प्रश्न को उसी के दृष्टिकोण से समझना चाहते हैं। आप कह सकते कि वंशक्रम दृष्टिकोण में, वंश समूहों के सामाजिक संगठन पर बल होता है। परिणामस्वरूप, नातों के 'विवाहजन्य' पक्ष पर बहुत कम ध्यान होता है। अब हम विवाहजन्य संबंधों से उत्पन्न रिश्तेदारी पर केंद्रित दृष्टिकोण पर विचार करते हैं।

विवाहजन्य संबंधों से उत्पन्न नातेदारी संबंधी दृष्टिकोण

नातेदारी में विवाह के ढाँचे तथा नियम भी होते हैं। जब आप किसी समाजशास्त्री को नातेदारी के इन पक्षों पर विशेष ध्यान दे पाते हैं तो आप कह सकते हैं कि वह नातेदारी के ढाँचे को समझने के लिए विवाहजन्य संबंधों से उत्पन्न रिश्तेदारी संबंधी दृष्टिकोण को अपना रहा/रही

है। भारत में नातेदारी पर हुए अनेक अध्ययन, विवाह को दो समूहों के बीच संबंधों के रूप में तथा नातेदारी की शब्दावली को संबंधों के प्रकार के रूप में देखते हैं। चूँकि विवाहजन्य संबंधों पर ऐसे अध्ययनों की अधिकता है, तो आप यह कहते हैं कि इन अध्ययनों में विवाह संबंधों से उत्पन्न रिश्तेदारी संबंधी दृष्टिकोण को अपनाया गया है।

इस दृष्टिकोण का मुख्य प्रचार लुई डयूमोंट था (1950, 1953, 1957 क तथा ख, 1959, 1962 एवं 1966)। उसने दक्षिण भारत में नातेदारी के क्षेत्र में विवाह द्वारा निभाई गई भूमिका पर ध्यान दिया। डयूमोंट ने द्रविड़ नातेदारी की शब्दावली में दर्शाए गए सपिंडों और विवाहजन्य नातों में विरोध पर भी ध्यान यिा और भारत में सामान्य तौर पर और विशेषकर दक्षिण भारत में नातेदारी को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। लैवी स्ट्रॉस के सिद्धांत के आशयों के बाद, डयूमोंट (1971 : 89-120) ने दक्षिण भारत पर नातेदारी के संरचनात्मक सिद्धांत को लागू किया जिसने पीढ़ी-दर-पीढ़ी अंतरविवाह की पुनरावृत्ति को उजागर किया। इस ढाँचे में नातेदारों के समानांतर और पार-संबंधियों की दो श्रेणियों के वर्गीकरण पर प्रकाश डाला।

नातेदारी के अध्ययन के लिए विवाह संबंधों से उत्पन्न रिश्तेदारी संबंधी दृष्टिकोण ने वधू देने वाले ओर वधू लेने वालों के बीच के अंतर को समझाने में समाजशास्त्रियों की मदद की है। इसके अतिरिक्त, इस पर चर्चा में अतिविवाह (अर्थत वधू लेने वाले सदैव वधू देने वालों से श्रेष्ठ होते है) के संदर्भ में दहेज प्रथा और विवाह में लेन-देन पर विचार भी शामिल होते हैं।

समाजशास्त्रियों और नृविज्ञानियों ने उत्तर भारत में नातेदारी को समझाने के लिए वंशक्रम दृष्टिकोण को अपनाया। ऐसा उन्होंने नातों के चार पक्षों के संदर्भ में किया। दोनों दृष्टिकोण में अंतर में समानता के लिए, दक्षिण भारत में नातेदारी के संदर्भ में विवाह संबंधों से उत्पन्न रिश्तेदारी संबंधी दृष्टिकोण पर चर्चा के लिए भी हम इन्हीं चार पक्षों का प्रयोग करेंगे। इन चार पक्षों पर संक्षेप में नीचे चर्चा की गई है :

i) **नातेदारी समूह** : नाते एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रतिष्ठा और संपत्ति को आगे बढ़ाने का तरीका और सहयोग तथा विवाद के लिए प्रभावी समाजिक समूह उपलब्ध करवाते हैं। आपको वंश के स्वरूप अथवा व्यक्ति के नातों को खोजने एवं उनकी पहचान करने की आवश्यकता है। अन्य शब्दों में, आप उन सामाजिक समूहों को ढूँढें जिनमें नातेदारी सहयोग एवं झगड़ा करते हैं। ये सामाजिक समूह, नातेदारी समूह कहलाते हैं।

ii) **नातेदारी की शब्दावली** : लोगों द्वारा उनके संबंधियों के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों की सूची नातेदारी की प्रकृति को अभिव्यक्त करती है। इसीलिए नातेदारी की शब्दावली को समझाकर आप नातेदरी पर प्रकाश डाल पाते हैं। किसी भी समाज की नातेदारी की अधिकांश विशेषताएँ उस समाज द्वारा प्रयुक्त नातेदारी के शब्दों में झलकती है। प्राय: कोई व्यक्ति एक ही शब्द को उन संबंधियों के लिए प्रयोग करता है जो नातेदारी की एक ही श्रेणी में आते हैं। इस मामले में, इन नातेदारों की समान भूमिकाएँ होती हैं।

विभिन्न नातेदारी के शब्दों की तुलना विश्लेषण हमें नातेदारी की संरचना, संयोजन और प्रत्येक शब्द से संबद्ध व्यवहार को समझने में मदद करते हैं। आप कह सकते हैं कि नातेदारी के शब्द हमारे सामाजिक संबंधों के लिए संदर्भ और कहावत उपलब्ध करवाते हैं। इस अर्थ में नातेदारी के शब्द हमें केवल जैविक और सामाजिक संबंधों के बारे में ही नहीं बताते बल्कि वे सामाजिक जीवन का समग्र रूप से देखने में हमारी मदद भी करते हैं। विशिष्ट लोगों की भाषा, मूल्य व्यवहार का अध्ययन करने से ही हम उनके नातेदारी के शब्दों के महत्व को पूरी तरह से समझ सकते हैं। कई बार एक ही शब्द का प्रयोग भिन्न संदर्भों में भिन्न अर्थ व्यक्त करने के लिए होता है। यही कारण है कि नातेदारी के शब्दों का अध्ययन भाषा और संस्कृति के अध्ययन से निकटता से क्यों जुड़ा हुआ है।

नातेदारी की शब्दावली को समझाते समय, वक्ता को अहम् के नाम से दर्शाना सामान्य है। 'अहम्' शब्द का अर्थ लैटिन भाषा में 'मैं' होता है और यह प्रथम पुरुष एकवचन सर्वनाम को

दर्शाता है। वक्ता अथवा अहम् पुरुष या स्त्री हो सकता है। दूसरे, नातेदारी के शब्द दो प्रकार के होते हैं। एक में संबोधन संबंधी शब्द होते हैं। इसका अर्थ है कि नातेदारी के कुछ शब्दों का प्रयोग तब होता है जब लोग एक-दूसरे को संबोधित करते हैं। इसके बाद कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका प्रयोग कुछ विशिष्ट नातों के लिए होता है। इन्हें संदर्भ के शब्द कहते हैं। कई बार इन दोनों प्रकार के शब्दों को एक ही शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। तीसरे, आप यह भी जानना चाहेंगे कि नातेदारी के बड़े शब्दों को संक्षिप्त रूप में किस प्रकार लिखा जाता है। उदाहरण के लिए, यदि आप माता के भाई की पुत्री लिखना चाहते हैं तो आप 'एम.बी.डी' लिख सकते हैं। इसी प्रकार, पिता की बहन की पुत्री के पुत्र को 'एफ.जेड़.डी.एस.' लिखा जा सकता है। यहाँ पर 'ज़ेड' बहन के लिए तथा 'एस' पुत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार, पिता के पिता के भाई की पुत्री के लिए संक्षेप में एफ.एफ.बी.डी. लिख सकते हैं। नातेदारी के शब्दों को लिखने का यह तरीका तब उपयोगी होता है जब नातेदारी के शब्दों के विभिन्न समूहों के बारे में बताया जा रहा हो। यहाँ पर नातेदारी के शब्दों को संक्षेप में लिखने का अभ्यास करने के लिए आपको अभ्यास पूरा करना होगा।

सोचिए और कीजिए 12.3

निम्नलिखित शब्दों को संक्षिप्त रूप में लिखिए। पिता का पता, पिता की माता, पिता का भाई, पिता के भाई की पत्नी, पिता के भाई का पुत्र, पिता के भाई की पुत्री, माता का भाई, माता के भाई की पत्नी, माता के भाई का पुत्र, माता के भाई की पुत्री, माता की बहन, माता की बहन का पति, माता की बहन का पुत्र, माता की बहन की पुत्री। अपने अध्ययन केंद्र में अन्य विद्यार्थियों द्वारा लिखे गए संक्षिप्त रूपों को आपके द्वारा लिखे गए रूपों से जाँच कीजिए।

iii) **विवाह के नियम** : जिस प्रकार नातेदारी के समूह, किसी समाज में पाए जाने वाली नातेदारी को बताते है उसी प्रकार विवाह संबंधी नियम, वे लोग जो परस्पर विवाह कर सकते/नहीं कर सकते हैं, वधू लेने वालों के बीच संबंध उन संदर्भों के बारे में बताते हैं जिनमें नातेदार होती है। इन मुद्दों पर चर्चा करने से हमें नातेदारी की विषय-वस्तु की जानकारी होती है। इसलिए, किसी भी नातेदारी को समझने के लिए विवाह संबंधी नियमों के विषय में बात करना आवश्यक है।

iv) **उपहारों का आदान-प्रदान** : समाजशास्त्री, नातेदारों की विभिन्न श्रेणियों के बीच सामाजिक संबंधों के विषय में बताना चाहते हैं। चूँकि किसी भी नातेदारी के लिए सदैव दो शब्द होते हैं, नातेदारी के व्यवहार को युग्मों में वर्णित किया जाता है। उदाहरण के लिए, अभिभावक-संतान के बीच का संबंध दो पीढ़ियों के बीच नातों के व्यवहार को दर्शाता है। इस प्रकार विवरसा तभी संभव है जब आप किसी विशिष्ट सामाजिक समूह की नातेदारी का अध्ययन कर रहे हों। इकाई 12 में अपनी चर्चा के संदर्भ में नातेदारी के व्यवहारात्मक पक्ष को समझने के लिए हम उपहारों के आदान-प्रदान की श्रृंखला पर ध्यान देंगे। इस चर्चा से हमें यह पता लगेगा कि नातेदारी के समूह किस प्रकार परस्पर क्रियाएँ करते हैं और किस प्रकार विशिष्ट लोग अपनी भूमिका निभाते हैं।

आप पाएँगे कि उत्तर तथा दक्षिण भारत के संदर्भ में नातेदारी के उपर्युक्त चार आयाम समझाने से आपको दोनों क्षेत्रों में नातेदारी के ढाँचों का पता लग जाएगा। अगले भाग पर जाने से पूर्व, नातेदारी की एक विशेष चर्चा करना आवश्यक है। आपको नातेदारी के आरेखों के विषय में जानना होगा जो अत्यधिक जटिल नातेदारी संरचनाओं को दशति हैं।

नातेदारी आरेख : नातेदारी आरेखों से न केवल विभिन्न प्रकार के नातेदारी समूहों, विवाह संबंधी नियमों तथा उनके आशयों का सरलता से ज्ञान हो जाता है बल्कि अन्य नातेदारी तंत्रों के साथ दृष्टिगत रूप से उनकी तुलना करने की संभावनाएँ को समझाने के लिए सदैव इन आरेखों की मदद लेते हैं। अपनी पुस्तकों में इन्हें समझने के लिए और आपने आरेख स्वयं बनाने के लिए आपको निम्नलिखित नियमों को केवल ध्यान रखना होगा :

क) △ प्रतीक का अर्थ पुरुष है तथा **O** का अर्थ स्त्री होता है। जब इन प्रतीकों को काले रंग से दर्शाया जाता है, अर्थात ▲ और ● तो इसका अर्थ है – इस पुरुष या स्त्री-विशेष की मृत्यु हो गई है।

ख) [प्रतीक (का आशय भाई-बहन के संबंध से है। यह भाई/भाई, बहन/बहन अथवा भाई/बहन के नातों को दर्शाता है। प्रतीक] पति-पत्नी अथवा विवाहजन्य संबंध को दर्शाता है।

ग) [और] प्रतीकों को जोड़ने वाली सीधी रेखा पुत्रत्व संबंध को दर्शाती है अर्थात माता-पिता तथा बच्चे/बच्चों का संबंध।

इसलिए, उपर्युक्त चिह्नों के प्रयोग से नातों को दर्शाया जाता है जिसके द्वारा आनुवंशिक संबंध एवं नातेदारी के सूहों की संरचना को दर्शाया जाता है। हम एक उदाहरण लेते हैं और देखते हैं कि निम्नलिखित आरेख क्या दर्शाता है :

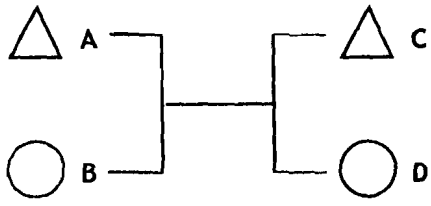

आरेख 12.1 : मूलभूत नातेदारी आरेख

यह आरेख दर्शाता है कि ए का विवाह बी से हुआ है और सी तथा डी, ए और बी के बच्चे हैं। इन्हीं चिह्नों की मदद से इस आरेख को अनंत तक विस्तार दिया जा सकता है। इस उदाहरण में, आप यह दिखा सकते हैं कि सी और डी भी विवाह हैं तथा उनके भी अपने-अपने बच्चे हैं। हम दिखा सकते हैं कि सी का विवाह ई से हुआ है और जी, एच और आई उनके बच्चे हैं। इसी प्रकार, डी. का विवाह एफ से हुआ है तथा जे, के और एल. उनके बच्चे हैं। यह आरेख यह भी दिखाएगा कि जी.एच.आई, जे.के.एल. के पर-संबंधी हैं तथा ए और बी, जी, एच, आई, जे, के और एल के दादा-दादी हैं। इसी प्रकार आप जे, के. तथा एल. की माता के भाई को और जी, एच. तथा आई. कि पिता की बहन को खोज सकते हैं यह आरेख निम्न 12.2 की भांति बनेगा :

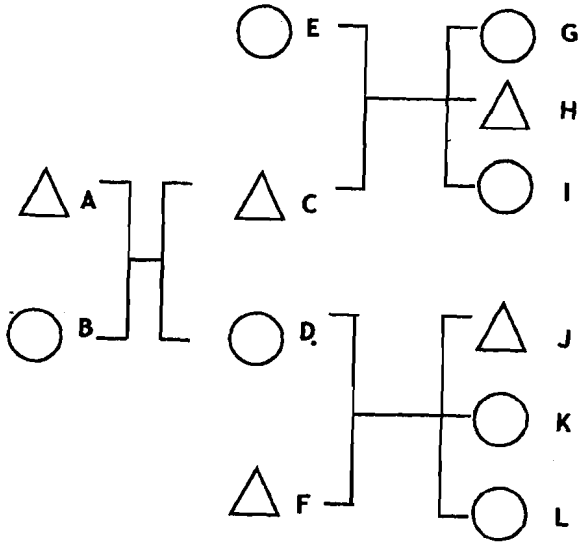

आरेख 12.2 : मूलभूत नातेदारी के आरेख का विस्तार

उत्तर तथा दक्षिण भारत में विवाह संबंधी नियमों के आशय को समझाने के लिए हम कुछ सरल नातेदारी आरेखों का उपयोग करेंगे। अपना संदर्भगत ढाँचा तैयार करने के बाद, अब हम उत्तर भारत में नातेदारी के अध्ययन के लिए वंशक्रम दृष्टिकोण के अनुप्रयोग पर चर्चा कर सकते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 13

कृषिक वर्ग और श्रेणियाँ

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 मार्क्स और वेबर की वर्ग संबंधी धारणा

13.3 कृषीय समाजों की अवधारणाएँ

13.4 कृषक समाज की क्लासिकी धारणा

13.5 कृषीय समाज के रूप में सामंतवाद

13.6 समकालीन कृषीय समाज

13.7 कृषीय समाजों का वर्ग-विश्लेषण

13.8 भारत में कृषीय सामाजिक संरचना और परिवर्तन

13.9 ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के दौरान कृषीय परिवर्तन

13.10 आज़ादी के बाद कृषीय परिवर्तन

13.11 भारत में कृषीय वर्ग संरचना

13.12 सारांश

13.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के वर्ग संबंधी विचारों के बीच अंतर बता सकेंगे;
- कृषीय समाजों की धारणा का वर्णन कर सकेंगे;
- अविभाज्य कृषक समाज की प्रतिष्ठित (क्लासिकी) धारणा को स्पष्ट कर सकेंगे;
- कृषिक समाज के प्रकार के रूप में सामंतवाद के विचार का समीतात्मक रूप में मूल्यांकन कर सकेंगे;
- समकालीन कृषीय समाज का वर्णन कर सकेंगे;
- कृषीय समाजों का वर्ग विश्लेषण कर सकेंगे;
- कृषीय सामाजिक संरचना और भारत में बदलाव की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेंगे;
- भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन के दौरान हुए कृषिक परिवर्तनों के प्रकारों का वर्णन कर सकेंगे;
- भारत के स्वतंत्र होने के बाद हुए कृषक परिवर्तनों का वर्णन करेंगे; और अंततः
- भारत में कृषिक वर्ग संरचना की चर्चा कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

कृषीय समाज लोगों की ऐसी बस्तियाँ और समूह है जहाँ खेती और पशुपालन जीवन यापन के प्रमुख साधन होते हैं। यह तो स्पष्ट है कि कृषि उत्पादन या खेती आर्थिक गतिविधि है। हालांकि, अन्य सभी आर्थिक गतिविधियों की भांति कृषि उत्पादन सामाजिक संबंधों के ढ़ाँचे में किया जाता है। खेती करने वाले लोग विभिन्न समाजिक हैसियत में एक दूसरे के साथ संबंध रखतें है। वे केवल एक दूसरे के साथ संबंध और लेने-देन ही नहीं करते बल्कि उन्हें अन्य श्रेणियों के उन विभिन्न व्यक्तियों के साथ भी नियमित रूप से संबंध रखना पड़ा है जो उन्हें खेती के लिए अपेक्षित विभिन्न प्रकार को सेवाएँ प्रदान करते है। उदाहरण के लिए, भारतीय ग्रामीण क्षेत्र (देहात) में जमीन संबंधों की प्राचीन व्यवस्था के अन्तर्गत, जो भूमि के स्वामी देते थे और खेती करते थे उन्हें कृषि के विभिन्न चरणों में अपेक्षित विविध सेवाओं के लिए अलग-अलग जाति समूह के सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता था। बदले में काश्तकार सेवा करने वाले परिवारों को खेती उत्पादन का हिस्सा देते थे।

अन्य सामाजिक लेन देन में ये सभी आदान प्रदान (विनिमय) एक संस्थागत ढ़ाँचे के तहत होते है। कृषीय समाज के संस्थागत ढ़ाँचे का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है मूस्वामित्व के प्रतिमान और जिनके पास भूमि होती है और जो उस पर खेती करते है उनसे बीच संबंधों की प्रकृति (स्वरूप) जिनके पास अपनी भूमि होती है वे उस पर हमेशा स्वयं खेती नहीं करते और उसे अक्सर काश्तकारों या बटाईदारों को पट्टे पर दे देते हैं। इसी प्रकार जो स्वयं खेती करते हैं या दूसरों से भूमि पट्टे पर लेते है वे श्रमिक को काम पर लगाते हैं। श्रमिक के रोजगार की शर्तें भी अलग-अलग होती हैं। कुछ श्रमिक को नियमित आधार पर नियुक्त करते है जबकि कुछ उन्हें अकस्मिक आधार पर और कुछ उनसे ठेके के आधार पर काम कराते हैं। श्रमिक के रोजगार का रूप और नियोक्ता किसानों या भूस्वामियों के साथ श्रमिक के संबंध का स्वरूप निर्धारित (स्वीकृत) कृषीय संरचना में महत्वपूर्ण पहलू है।

13.2 मार्क्स और वेबर की वर्ग संबंधी धारणा

निर्धारित समाज में कृषीय संरचना और भू-स्वामित्व प्रतिमान काफी लम्बे समय में ऐतिहासिक रूप से विकसित हुए तथापि यह जरूरी नहीं है कि निर्धारित समाज में कृषीय प्रकिया में सम्मिलित ये सभी लोग एव वर्ग निर्मित करें। इनमें से कुछ सामाजिक रूप से परिभाषित विशेषताओं वाली जनसंख्या (जनसमूह समष्टि) की श्रेणी मात्रा भी हो सकते हैं। प्रतिष्ठित समाजशास्त्रीय विचारकों कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर ने वर्ग की संकल्पना पर काफी लिखा है। कार्ल मार्क्स के मानव इतिहास के विश्लेषण और उनके सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के वर्ग सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकल्पनात्मक श्रेणी थी।

मार्क्स का वर्ग का प्रारूप (मॉडल) द्विभाजी है। उन्होंने वर्ग की संकल्पना के माध्यम से प्रभावी या प्रबल व्यक्तियों द्वारा अधिकांश श्रेणियों के शोषण किये जाने के बारे में बताया। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक वर्ग समाज में दो मूल (प्रधान) वर्ग होते हैं। संपत्ति संबंध इस द्विभाजी प्रणाली का अक्ष हैं। उत्पादन साधनों को नियंत्रित करने वाले अल्पसंख्यक गैर उत्पादकों द्वारा बहुसंख्यक उत्पादकों से अतिरिक्त उत्पादन को जबरदस्ती निकालने (प्राप्त करने) के लिए अपनी इस नियंत्रण करने वाली हैसियत का प्रयोग किया जाता हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी ढ़ाँचे में वर्गों को उस संबंधों के संदर्भ में ऐसे परिभाषित किया गया है जैसे लोगों के समूह उत्पादन साधनों से होते हैं। इसके आगे, मार्क्स के मॉडल में आर्थिक प्रमुख राजनीतिक प्रमुख से बंधा हुआ है। उत्पादन साधनों के नियंत्रण से राजनीतिक शक्ति उत्पन्न होती है।

हालांकि मैक्स वेबर मार्क्स की इस बात से सहमत थे कि परिभाषित वर्गों को परिभाषित करने का आधार मूल रूप से आर्थिक संदर्भ हैं लेकिन वेबर की संकल्पना का समग्र मार्क्स से बिल्कुल भिन्न है। मार्क्स के विपरीत, उनका तर्क है कि वर्ग केवल बाजार अर्थव्यवस्थाओं में ही विकसित

होते हैं जिनमें व्यक्ति आर्थिक लाभों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। उन्होंने वर्गों को बाजार अर्थव्यवस्थाओं में एक समान हैसियत रखने वाले लोगों के समूह के रूप में परिभाषित किया और इस तथ्य के कारण उन्हें समान आर्थिक प्रतिफल मिले। इस तरह, वेबर की शब्दावली में व्यक्ति की वर्ग हैसियत उसकी बाजार-स्थिति है या दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्ति की क्रम क्षमता है। व्यक्ति का वर्ग-स्थिति (प्रतिष्ठा-हैसियत) भी उसके जीवन अवसरों को निर्धारित करती है। उनकी आर्थिक स्थिति या 'वर्ग-स्थिति' यह निर्धारित करती है कि समाज में वान्छनीय (सुखद-सुख सुविधा) माने जाने वाली चीज़ों में से वे कितनी चीज़ें खरीद सकते हैं। इस प्रकार, वेबरवादी ढाँचे में वर्ग की संकल्पना को पूर्व-पूँजीवादी कृषक समाजों में लागू नहीं किया जा सका। जहाँ बाज़ार परिधीय परिघटना है।

सोचिए और कीजिए 13.01

अपनी कॉलोनी के परिवारों का अवलोकन करें। आपके परिवार के पड़ोस के अन्य परिवारों के साथ जो संबंध है उनके बारे में समीक्षात्मक रूप से विचार करें। इनमें से किस वर्ग या श्रेणी को उनके व्यवसायों के आधार पर किस को कृषिक वर्ग श्रेणी में रखेंगे, किसे अर्द्ध-ग्रामीण या शहरी वर्ग/श्रेणी में रेखेंगे। सोपान क्रम के संदर्भ में, क्या ये सभी परिवार आपके परिवार के बराबर है। यदि नहीं, तो अपने आस पड़ोस के 10 परिवारों का चार्ट बनाइए और अपने परिवार के साथ तुलना करते हुए उन्हें सोपान क्रमिक ढंग से व्यवस्थित करें।

अपने अवलोकनों और समझ के आधार पर 'मेरे परिवार की स्थिति' या एक पृष्ठ की रिपोर्ट लिखें। इस रिपोर्ट को अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की रिपोर्ट से तुलना करें।

तथापि, इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांत में, वर्ग की संकल्पना सभी अतिरिक्त उत्पादन करने वाले समानों पर लागू होती है। लेकिन मार्क्स अपनी रचनाओं में पश्चिम के शहरी औद्योगिक या पूंजीवादी समाजों पर अधिकांशत: मुख्य केन्द्र बिन्दु है। यह बाद के मार्क्सवादियों, विशेष रूप से लेनिन और माओ पर छोड़ दिया गया, जिन्होंने कृषिक समाजों का विश्लेषण करने के लिए वर्ग की संकल्पना का प्रयोग किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बाक्स 13.1: मार्क्स का दृष्टिकोण

मार्क्स का दार्शनिक दृष्टिकोण हेगले और हेगले के भौतिकवादी उत्तराधिकारी लडविग फ्यूरबाक दोनों से काफी हद तक प्रभावित था। इस प्रकार मार्क्स ने इतिहास का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया वह आर्थिक नियतत्ववाद के लाभ से जाना जाता है। उनका तर्क था कि उत्पादन का तरीका (उदाहरण के लिए मजदूर हस्तशिल्प श्रमिक या माप-शक्ति) इस तथ्य को निर्धारित करने का मूल तत्व है कि समाज की अर्थव्यवस्था और उस समाज की संस्कृति और सामाजिक संरचना किस प्रकार की है। आर्थिक आधार उप-संरचना की ओर इस राजनीतिक, धार्मिक और कलात्मक विशेषताएं सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ मिलता "एक अधिरचना निर्मित करते हैं और बाद वाला पहले वाले पर आश्रित (उसके अनकूल होता है।" (निचैल जी डंकन, संस्करेण 1968-121)

13.3 कृषीय समाजों की अवधाराणाएँ

आधुनिक औद्योगिक समाजों में, वर्ग-संरचना का स्वरूप के मायनों में सर्वत्र एक सामान्य है। कामकाजी वर्ग, उद्योगपति और मध्य वर्गों और शहर में औद्योगिको समाजों जैसे विभिन्न वर्ग समूहों की पहचान करना अपेक्षाकृत आसान भी है। हालांकि, कृषीय समाजों की सामाजिक संरचनाओं में विभिन्न प्रकार की विविधताएँ दृष्टिगत होती हैं। कृषिक वर्ग संरचना का स्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग है। यह स्थिति इस तथ्य से और जटिल हो जाती है कि हाल ही में अधिकांश समाजों में कृषीय संरचनाओं में बुनियादी रूपांतरण हुए हैं।

पश्चिम को अधिकांश विकसित समाजों में, कृषि अर्थव्यवस्था गौण हिस्सा हो गई है और वहाँ अपेक्षाकृत कम लोग खेती करते हैं। भले ही तीसरी दुनिया के देशों में भी कृषि के महत्व में काफी कमी आई है, फिर भी वे अपनी जनसंख्या का बड़ा हिस्सा इस काम में ला रहे हैं। इस तरह कृषीय सामाजिक संरचना की सार्थक समझ (सोच) विकसित करने के लिए हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि कृषीय वर्ग संरचना का कोई भी एक ऐसा मॉडल नहीं है जिसे सभी समाजों में लागू किया जा सकता है। इस विषय के संबंध में कई भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य भी हैं। कृषिक अध्ययन के क्षेत्र शिक्षाविदों का अत्यधिक प्रभावी समूह है जो वर्ग संदर्भों में कृषीय समाजों का समीक्षात्मक विश्लेषण करता है। उनके अनुसार कृषक समाज समष्टि को एक 'प्रकार' हैं, जो मूलभूत रूप से आधुनिक शहरी औद्योगिक समाजों से भिन्न है। इस विषय पर प्रतिष्ठित नृवैज्ञानिक रचनाएँ कृषक समाजों को इसी जनवादी संदर्भों में देखती है।

13.4 कृषक समाज की क्लासिकी धारणा

नृविज्ञानियों ने युद्धोत्तर अवधि (1945 के बाद) के दौरान कृषक समाज की प्रतिष्ठित धारणा विकसित की। यह घटना काफी हद तक पश्चिमी अनुभव से व्युत्पन्न हुई। कृषक समाजों का सामाजिक और आर्थिक जीवन के जनजातीय रूप के विखंडन के बाद विकसित होते देखा गया जब मानव ने भूमि पर खेती करके अपनी जीविका अर्जित करनी प्रारंभ की। उन्होंने छोटे-छोटे व्यक्तियों में भी रहना शुरू कर दिया था। विशिष्ट कृषक समाजों का स्वरूप पूर्व औद्योगिक पाया गया। औद्योगिक क्रांति के प्रारंभ से जैसे-जैसे अर्थव्यवस्थाएँ विकसित हुए वैसे-वैसे पारंपरिक 'कृषक जीवन शैली' में धीरे-धीरे बदलाव प्रारंभ हुए और इन बदलावों ने आधुनिक शहरी जीवन शैलियों को राह प्रदान की।

इस नृवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में किसान वर्ग अनिवार्यत: एक अविभेदित सामाजिक समूह था। कृषकों के सामाजिक और आर्थिक संगठन के संदर्भों में वे सभी एक दूसरे के समान थे। उन्होंने अपने-अपने भूखंडों पर खेती की और इसमें उनके परिवारों ने श्रमिक का काम किया। और उन्होंने मुख्य रूप से अपने-अपने परिवारों के उपभोग के लिए कृषि उत्पादन किया। दूसरे शब्दों में, उनके किसान वर्गों में कोई महत्वपूर्ण वर्ग विभेद नहीं थे। जबकि आंतरिक रूप से किसान वर्ग सजातीय का बाहर से कृषक समाज पर शहरी आभिजात्य वर्ग का दबदबा (प्रमुख) था। 'आदिम या 'जनजातीय' समुदायों के विपरीत कृषक समाजों ने अतिरिक्त (अपेक्षा के अधिक) उत्पादन किया अर्थात उन्होंने अपने-अपने परिवारों उपभोग के लिए प्रत्यक्ष रूप से उन पर आश्रित परिवारों की भरण-पोषण ज़रूरतों से भी अधिक पैदावार का और हालांकि, यह अतिरिक्त उत्पादन उस प्रमुख शासक आभिजात वर्ग को दे दिया गया, जो निरपवार रूप से भूमि कर या भूमि राजस्व के रूप में अधिकांशत: शहर में रहने के, (वूल्फ 1966)

सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भों में कृषकों को मूल रूप से आधुनिक उद्यमियों के अलग रूप में देखा गया। उनकी कार्य के प्रति अभिवृति और उन भूमि के साथ संबंध आधुनिक औद्योगिक समाजों के लाभ-जिज्ञासु उद्यमियों से काफी भिन्न था। रॉबर्ट रेडफील्ड जो किसान वर्ग पर नृवैज्ञानिक अनुसंधान में अग्रदूत थे उनका मानना है कि "किसान वर्ग एक सर्वभौमिक मानव-प्रकार था। भावनाओं और मनोभावों के जरिए उनका अपनी भूमि से लगाव था। उनके लिए कृषि 'जीविका उपार्जन और जीवन शैली था न कि लाभ के लिए एक व्यवसाय था" (रेडफील्ड 1965)

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में इसी ढंग से लिखते हुए रूस के अर्थशास्त्री ए.वी. श्यानोव ने भी मत प्रस्तुत किया कि **कृषक अर्थव्यवस्थाओं** का नियामक (नियंत्रक) तर्क आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं से भिन्न था। औद्योगिक समाजों में जहाँ आर्थिक प्रक्रिया लाभ अधिकतमीकरण के सिद्धांत और पूँजी-नियमों द्वारा नियंत्रित (संचालित) होती है, वहीं इसके विपरीत कृषक अर्थव्यवस्था का वर्ग निर्वाह (जीविका) मूलक है। रूसी ग्रामीण क्षेत्र में खेत के आकार और भूमि की उत्पादकता में विविधता जनसांख्यिकीय कारकों से प्रभावित थी न कि लाभ या वर्ग अंतर के

कारण थी। जैसे-जैसे घर का आकार बढ़ता गया वैसे घर के साथ भोजन और श्रम शक्ति की उपलब्धता की ज़रूरतें भी बढ़ी। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि घर परिवार जितनी भूमि पर खेती करते थे उनकी उस भूमि में वृद्धि हुई। हालांकि, नए सदस्यों के अपने-अपने घर बसा लेने से समय के साथ घरों के आकार घर जाने से जोत आकार भी कम हुआ। श्यानोष के सिद्धांत के सारांश के लिए देखें हेरीसन 1982)।

इस 'क्लासिकी चर्चा, का अनुसरण करते हुए थियोडोर शनीन (1987) ने कृषक समाज का 'आदर्श प्ररूप' विकसित किया। उन्होंने कृषको के 'छोटी कृषि उत्पादक के रूप में परिभाषित किया, जो साधारण उपकरण की सहायता से और अपने-अपने परिवारों की मेहनत से प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अपने उपभोग के लिए और राजनीतिक और आर्थिक शक्ति धारको के नजराना देने के लिए अधिकांशत: पैदावार कर लेते थे। इसके आगे उन्होंने किसान समाजों के चार परस्पर-निर्भर पक्षों का पता लगाया।

1) कृषक परिवार ने सामाजिक संगठन की मूलभूत बहुआयामी इकाई के रूप में काम किया। पारिवारिक खेत ने कृषक संपत्ति, उत्पादन, उपभोग, कल्याण, सामाजिक पुन: उत्पादन, अस्मिता (पहचान), प्रतिष्ठा, मिलनसारिता (समाज शीलता), और कल्याण की प्रमुख इकाई के रूप में काम किया। व्यक्ति के औपचारिक परिवारिक भूमिका-व्यवहार और पितृ सुप्तात्मक सत्ता (प्रभुत्त्व) को स्वीकार करना पड़ता था।

2) भूमि कृषि कर्म जीविका का प्रमुख साधन था। पारंपरिक रूप से परिभाषित सामाजिक संगठन और प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर के कृषक खेती को विशेष गया।

3) कृषक समाजों ने छोटे ग्रामीण समुदाय की जीवन शैली से जुडे विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतिमानों का अनुसरण किया। कृषक संस्कृति प्राय: व्यवहार के परंपरागत मूल्यों के अनुरूप थी और आमने-सामने का संबंध इसकी विशेषता थी।

4) कृषक वर्ग पर हमेशा बाहरी व्यक्तियों का प्रभुत्व (दबदबा) रहा है। इन कृषकों के शक्ति के स्रोतों से परे (दूर) रखा जाता था। शानीन का तर्क था कि उनका राजनीतिक अधीनीकरण भी उनका सांस्कृतिक आश्रितता और आर्थिक शोषक से जुड़ा था।

इस प्रकार के ढाँचे में, हालांकि कृषकों पर बाहरी व्यक्तियों का प्रभुत्व देखा गया लेकिन उन्हें एक दूसरे से अलग रूप में नहीं देखा गया, विशेष तौर से उनकी वर्ग-हैसियत वे संदर्भों में। दूसरे शब्दों में, कृषक समाज की इस प्रतिष्ठित धारणा में कृषक वर्ग के भीतर कोई भी आंतरिक वर्ग भेद नहीं के ..... सामाजिक संगठन की मूल इकाई कृषक घर था।

हालांकि, कृषक समाज की संकल्पना यूरोपीय समाजों के विशिष्ट अनुभव से उभरी थी। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों पर लिखी ऐतिहासिक साहित्य कृतियों को देखने से पता चलता है कि कृषीय समाज इतने सजातीय नहीं थे जितने उन्हें माना जाता था। कृषीय समाज भी आंतरिक रूप से विभिन्न स्तरों में विभेदित थे। उदाहरण के लिए भारत में ग्रामीण समाज विभिन्न जाति समूहों में बंटा था। और कुछ ही समूहों के भूमि पर खेती करने का अधिकार प्राप्त था जबकि अन्य जाति समूह खेतिहरों को अन्य सेवाएँ प्रदान करने के लिए बाध्य था। इसी तरह, यूरोप के कुछ हिस्सों में कृषिदासता (कृषिदास प्रथा) थी जहाँ कृषक वर्ग पर अधिपतियों का आधिपत्य था। ऐसे समाज सामंती समाज भी कहलाते थे।

13.5 कृषीय समाज के रूप में सामंतवाद

ऐतिहासिक तौर पर, सामंतवाद की संकल्पना सामान्यत: उस सामाजिक संगठन के लिए प्रयुक्त हुई है जो जनजातीय समूहों के बस जोत और उनके नियमित खेतिहर बन जाने के बाद यूरोप के हिस्सों में विकसित हुई। 18वीं और 19वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति की सफलता से सामंती समाज विखंडित हुए (समाजों का विघटन हुआ) जिसने आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के विकास के लिए राह बनाई। हालांकि, कुछ वर्षों में सामंतवाद शब्द ने भी एक जातिगत अर्थ

अर्जित कर लिया और विश्व के अन्य हिस्सों में भी पूर्व-आधुनिक कृषिक समाजों का वर्णन करने के लिए इसका प्रयोग प्राय: होता है।

'कृषक समाज' की संकल्पना के साथ तुलना किए जाने पर सामंतवाद शब्द कृषीय वर्ग संरचना की एक बिल्कुल अलग धारणा को प्रस्तुत करता है। सामंती समाजों में खेतिहरों को अधीन वर्ग के रूप में देखा जाता था। जिस भूमि पर वे खेती करते थे वह कानूनी रूप से उनकी अपनी नहीं होती थी। उन्हें उस भूमि पर केवल खेती करने का अधिकार प्राप्त जिस भूमि के कानूनी स्वामी सामान्यत: 'अधिपति'/'सामंत' था राजा होते थे। सामंतवाद में कृषि वर्ग संरचना का विशिष्टता थी। 'पराश्रितता' और 'संरक्षण' की संरचनाएं जो खेतिहरों और 'अधिपतियों के बीच विद्यमान थी। खेती करने वाले किसानों को अपने अधिपतियों के प्रति वफादारी (निष्ठा)' और अनुग्रह (आभार, बाध्यता, मजबूरी) की भावना प्रदर्शित करनी होती थी। निष्ठा की यह भावना केवल भू-स्वामी के भूमि से होने वाली पैदावार के हिस्से को देकर व्यक्त नहीं की जाती थी। बल्कि किसानों के अधिपति के लिए अक्सर काम करने के लिए बाध्य भी होते थे और कई ऐसे काम करते थे जिनके बदले उन्हें कोई भी मजदूरी आदि नहीं दी जाती थी। वे कुछ समय पहले तक भारत के कई हिस्सों में प्रचलित बेगार की प्रथा ऐसी ही प्रथा का उदाहरण है।

13.6 समकालीन कृषीय समाज

19वीं शताब्दी क दौरान पश्चिमी देशों और 20वीं शताब्दी के दौरान शेष विश्व में औद्योगीकरण के प्रसार के अर्थव्यवस्था के कृषीय क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण बदलाव हुए। कृषीय अर्थव्यवस्था में औद्योगीकरण और विकास से आए दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों को हम पहचान सकते हैं। पहला परिवर्तन यह हुआ कि कृषि ने अपना पहले वाला महत्व खो दिया और वह अर्थव्यवस्था का केवल सीमांत क्षेत्र बन गई। उदाहरण के लिए आज अधिकांश पश्चिमी देशों में कुल श्रमिक जनसंख्या का केवल छोटा एक हिस्सा (दो या तीन से दस प्रतिशत तक) इस व्यवसाय के कार्यरत है और इन देखों की कुल राष्ट्रीय आय में इसका योगदान ज्यादा नहीं है। तृतीय विश्व के देशों में भी, कृषि के महत्व में गिरावट आई है। उदाहरण के लिए, भारत में भले ही जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि क्षेत्र में लगा दे लेकिन कुछ राष्ट्रीय आय में इसके योगदान में महत्वपूर्ण गिरावट आई है। भले ही भारत की श्रमिक जनसंख्या का आधा से ज्यादा भाग इस व्यवसाय में लगा है लेकिन कृषि क्षेत्र से राष्ट्रीय आय में इसका योगदान 25% से भी कम है।

कृषीय क्षेत्र में जिस दूसरे महत्वपूर्ण परिवर्तन को अनुभव किया गया वह है इसका आंतरिक सामाजिक संगठन। पिछली शताब्दी के दौरान विश्व के विभिन्न हिस्सों में कृषि उत्पादक के सामाजिक ढाँचे में व्यापक परिवर्तन हुआ है। सामाजिक संगठन के 'सामंतवाद' और कृषक समाजों से पहले के रूप विघटित हुए। इस विघटन ने अधिक विभेदित सामाजिक संरचनाओं को स्थान दिया। यह ज्यादातर औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण का प्रक्रियाओं के प्रभावस्वरूप हुआ। आधुनिक उद्योग में हल जोतने और भूसी निकालने जैसी खेतीबाड़ी की गतिविधियों को बदलने के लिए अनेको किस्म की मशीने व उपकरण उपलब्ध कराए हैं। इन प्रौद्योगिकीयों उन्नतियों ने भू-स्वामियों के लिए तुलनात्मक रूप से कम समय में भूमि के बड़े भाग को खेती करना संभव बना दिया है। वैज्ञानिक शोधों ने रासायनिक उर्वरक और ज्यादा पैदावार करने वाले बीज की किस्मे भी उपलब्ध कराई है। नई खेती प्रौद्योगिकीयों के आने से न केवल भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हुई है बल्कि कृषि उत्पादक के सामाजिक ढाँचे में भी महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं।

सोंचिए और कीजिए 13.02

अपने गाँव के नजदीक किसी अन्य गाँव या अगर आप शहर में रहते हैं तो अपने शहर या नगर किसी नजदीकी गाँव का दौरा करें। इस गाँव के कम से कम ऐसे दो किसानों से बातचीत (इंटरव्यू) करें जिनमें से एक सम्पन्न हो, अच्छी परिस्थिति में हो जो बड़ी भूमि

का मालिक दो और दूसरा जिसके पास भूमि का छोटा सा टुकडा (खंड) हो। उनसे निम्नलिखित पूछें।

i) आपके परिवार में कितने सदस्य हैं। इनमें से कितने सीधे भूमि जोतने के कार्य से जुडे हैं?

ii) वे किस प्रकार के घर में रहते हैं और उनका घर कितना बड़ा है?

iii) फसलों की पैदावार के लिए वे किन उपकरणों और प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करते हैं।

iv) उनके परिवार के सदस्य कितने पढ़े-लिखे हैं? और

v) यदि उनके शहरों व नगरों में लिंक (सम्पर्क) दें तो वे क्या हैं? और कब-कब होते हैं?

उपर्युक्त इंटरव्यू के आधार पर '..... गाँव में कृषिक वर्ग पर दो पृष्ठ का एक निबंध लिखें। अपने निबंध की तुलना अन्य विद्यार्थियों के निबंध से करें और अपने निबंध के संबंध में अपने शैक्षिक परामर्शदाता से चर्चा करें।

कृषि के मशीनीकरण और आधुनिकीकरण से यह संभव हो गया है कि किसान खेतीबाड़ी इसे अपनी उपभोग जरूरतों से पैदावार कर सकते हैं। अतिरिक्त पैदावार बाज़ार में जाती थी। तब किसानों ने ऐसी फसलें उगानी प्रारंभ की जो स्थानीय समुदाय की प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं थी। इन 'नकदी फसलों' की पैदावार केवल मात्र बाजार में बिक्री के लिए की जाती थी। खेतिहरों के नई साधनों (सुविधाओं, आगतों) के खरीदने के लिए नकदी की ज़रूरत पड़ती थी। दूसरे शब्दों में, कृषि के मशीनीकरण से देश और विश्व की व्यापक बाज़ार अर्थव्यवस्था में कृषि का एकीकरण हुआ।

कृषि का मशीनीकरण और व्यापक बाजार अर्थव्यवस्था में उसके एकीकरण से उत्पादन के सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आया इस बदलाव के फलस्वरूप कृषीय क्षेत्र में पूंजीवादी संबंधों का विकास हुआ। कृषि में पूंजीवादी विकास ने पिछले संरक्षण और निष्ठा के संबंधों को नैमित्तिक स्वरूप के संबंधों में रूपांतरिक कर दिया। बाज़ार और धन के बहते प्रभाव का अर्थ था कि जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के बीच संबंध औपचारिक बन गए जिनमें निष्ठा का कोई स्थान नही था।

हालांकि मशीनीकरण की प्रक्रिया से सभी समान रूप से लाभान्वित नही हुए। बाजार क्रिया विधियों में से खेती करने वाले किसानों को विभिन्न प्रकार के आर्थिक दबाव झेलने पड़े। उनमें से कुछ इनमें फंसकर ऋणी (ऋणग्रात) हो गए, अंततः उन्हें अपनी-अपनी जमीने बेचनी पड़ी और वे भूमिहीन मजदूर बन गए। इसी तरह, जो काश्तकारों के रूप में काम कर रहे थे उन्हें उन जमीनों को खाली करना पड़ा जिस पर वे खेती कर रहे और उन्हें भू-स्वामियों ने मज़दूरी करने वाले सेवकों के रूप में नियुक्त भी कर लिया गया। खेती करने वाले जनसमूह में से कुछ तो अमीर बन गए जबकि कुछ के पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े (खंड) बचे हैं। दूसरे शब्दों में, इससे कृषक वर्ग का नए प्रकार के समूहों में विभेदन हुआ। कृषक वर्ग विभिन्न स्तरों या वर्गों में विभाजित हो गया।

किसानों के अपने व्यवसाय के प्रति रवैये में भी बदलाव आया। पूर्व-पूंजीवादी या पारंपरिक समाजों में किसान मुख्य रूप से अपने उपभोग के लिए पैदावार करते थे। खेतों का कार्य अपने ही परिवार की सदस्यों मेहनत-मजदूरी से किया जाता था। कृषक वर्ग के लिए खेती (कृषि) उनके जीविका तथा जीवन शैली का (रहन-सहन) दोनों का स्रोत था।

उन्होंने कृषि के एक उद्यम के रूप में देखना शुरू कर दिया है। वे आधुनिक मशीनों से खेती करने लगे और नकदी फसलें उपजाने लगे हैं जिन्हें बाजार में बेचा जाता था। उनका प्रमुख सरोकार खेती से मुनाफा कमाना बन गया है। इस प्रकार कृषक उद्यम 'किसानों' में रूपांतरित हुए। कृषिक समाजों ने अपना पहले वाला साम्य (संतुलन) भी खो दिया है। सजातीय कृषक वर्ग के विपरीत किसान काफी विभेदित हो गए वे विभिन्न श्रेणियों या वर्गों में बंट गए हैं।

13.7 कृषीय समाजों का वर्ग-विश्लेषण

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है वर्ग की संकल्पना का पहली बार प्रयोग पश्चिमी औद्योगिक समाजों में सामाजिक समूहों का वर्णन करने के लिए किया गया था। कुछ वर्षों बाद शिक्षाविदों ने अर्थव्यवस्थाओं में सामाजिक संरचनाओं को समझने की संकल्पना के लिए भी इसका प्रयोग किया। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लेनिन ने वर्ग विश्लेषण की मार्क्सवादी विधि का प्रयोग करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'दि प्रीलिम्नरी ड्राफ्ट वे कीसिस ऑन द एग्रेरियन क्वेश्चन' में कृषीय व्यवस्था और कृषक वर्ग के वर्ग विभेदन का विश्लेषण प्रस्तुत किया है इसी तरह चीनी क्रांति के नेता **माओक्त तुंत्र** ने 'हाओ टू डिफरेशिएट क्लासेज इन रूरल एरियाज़ में चीनी कृषक वर्ग के अपने विश्लेषण में मार्क्सवादी संकल्पना को लागू किया है। कुछ ही वर्षों में लेनिन और माओं विभिन्न समाजों में कृषिक वर्ग संरचना को समझने/जानने का आधार बन गए।

लेनिन और माओ का सुझाव था कि कृषि में पूँजीवाद कि विकास से कृषि का अविभाज्य सामाजिक स्वरूप टूटकर विभिन्न समाजिक वर्गों में विभक्त हो गयी। अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने अपने-अपने देशों चीन और रूस में कृषक की विभिन्न श्रेणियों और विभिन्न श्रेणियों के बीच एक दूसरे के संबंधों के स्वरूप का पता लगाया। उनकी रचनाओं के आधार पर हम व्यापक रूप में पांच या छह कृषीय वर्गों का पता लगा सकते हैं। वे होंगे भू-स्वामी-भूमि के बड़े भू-भाग के मालिक जो प्रत्यक्ष रूप से भूमि पर काम नहीं करते। सामान्यत: वे अपनी-अपनी ज़मीने काश्तकारों पर पट्टे पर देते हैं। यह रूढिवादी (अनुदार वादी) वर्ग है और उसे कृषि विकास इसलिए नही पसंद क्योंकि उन्हें कम है कि ये विकास ग्रामीण समाज में उनकी पकड़ (अधिकार, दबदबे) को कमजोर बना सकते हैं। **धनी कृषक** वे है जिनके पास अपनी अत्यधिक (प्रचुर मात्रा) भूमि है। वे निरपवाद रूप के अपनी जमीन का हिस्सा काश्तकारों को पट्टे पर देते हैं लेकिन भूमि में उनकी प्रत्यक्ष रुचि होती है। आधुनिक प्रौद्योगिक का इस्तेमाल करना शुरू कर देने के बाद वे मजदूरी करने वाले श्रमिकों को नियुक्त करना प्रारंभ कर देते हैं और पूँजीवाद किसान बन जाते हैं। **मध्यम कृषक** वे हैं जिनके पास अपनी ज्यादा भूमि तो नही होती लेकिन अपनी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए वह भूमि काफी होती है। उनके परिवार के सदस्य मेहनत-मजदूरी का काम करते हैं। न तो वे मजदूर लगाते है न ही वे अन्य व्यक्तियों के साथ श्रमिकों (मजदूरों के रूप में काम करते हैं। **निर्धन कृषकों** के पास अपनी ज्यादा भूमि नही होती। जीवनयापन करने के लिए जीवत रहने के लिए मजदूरी के माध्यम से उन्हें अपनी आय को बड़ाना पड़ता है। भूमिहीन श्रमिक या कृषि-सर्वहारी वर्ग काश्तकार, बटाईदार है, जिन्होंने कृषि में पूँजीवाद का विकास हो जाने पर अपनी-अपनी जमीने गंवा दी। वे मुख्यत: धनी किसानों के अपनी श्रमशक्ति किराए पर देकर जीविका अर्जित करते हैं।

लेनिन के अनुसार ये अस्थायी श्रेणियाँ थी। कृषि में पूँजीवाद के और आगे विकसित हो जाने से कृषिक समष्टि की दो वर्गों में ध्रुवीकरण की ओर प्रवृति होगी एक तरफ बड़े पूंजीवादी किसान और दूसरी ओर ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की बड़ी संख्या।

हालांकि विश्व के विभिन्न हिस्सों में कृषि में पूंजीवादी विकास का वास्तविक अनुरूप इंद्रिय अनुभव लेनिन के पूर्वानुमान को पूरी तरह प्रतीत नहीं होता। भले ही कृषि क्रमिक रूप से बाजार अर्थ व्यवस्था में एकीकृत हो गई है और कृषक वर्ग भी विभिन्न वर्गों में विभाजित हो गया तब इस तर्क को समर्थन करने के प्रभाव बहुत कम हैं कि कृषिक जनसंख्या दो वर्गों में हो रही है। पश्चिमी देशों तक तृतीय विश्व के देशों में मध्यम और लघु खेतिहर न केवल अपने जीवित रहने की व्यवस्था कर लेते हैं बल्कि कुछ देशों में उनके वास्तविक संख्या में वृद्धि हुई है।

13.8 भारत में कृषीय सामाजिक संरचना और परिवर्तन

जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं किसी भी समाज में कृषीय वर्ग संरचना काफी दीर्घ अवधि के दौरान विकसित होती है। यह विभिन्न सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक कारकों द्वारा

ऐतिहासिक रूप से आकार लेती है। ये ऐतिहासिक कारक हर क्षेत्र में अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार यद्यपि हम कृषीय संरचनाओं का विभिन्न संदर्भों में अर्थ निकालने के लिए वर्ग की संकल्पना का प्रयोग कर सकते हैं तथापित ऐसा करते समय हमको विशिष्ट संदर्भ का भी ध्यान रखना होगा।

यह हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं कि, पारंपरिक भारतीय "ग्रामीण समुदाय" और कृषीय सामाजिक संरचनाएं "जजमानी प्रणाली" के ढाँचे के अंतर्गत संगठित थीं। यह विशिष्ट रूप से भारतीय तत्व था। पारंपरिक भारतीय गाँव जजमानों (संरक्षक) और कमीनों (नीच/दास) के बीच विभाजित थे। जजमान वे जाति समूह थे जो भू-स्वामी थे और उस पर खेती करते थे। कमीन वे थे जो जजमानों को विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करते थे। कमीन तो जजमानों के लिए काम करने हेतु बाध्य थे, और जजमानों को अपने कमीनों को खेत के उत्पाद से एक हिस्से का भुगतान करना होता था। उनका संबंध पारस्परिक विनिमय की पद्धति पर आधारित था।

तथापि, पारस्परिक विनिमय की इस पद्धति में सहभागिता सम स्तर पर नहीं थी। जो लोग ऊँची जातियों से थे और भू-स्वामी थे वे उन लोगों की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली थे जो नीच जाति समूहों से थे।

जजमानी प्रणाली के ढांचे के अंतर्गत व्यवस्थित कृषीय संबंधों की संरचना ने जाति व्यवस्था की असमानताओं को सुदृढ़ किया। प्रत्युत्तर में जाति व्यवस्था ने असमान भूमि संबंधों को वैद्यता प्रदान की।

इस सामान्य ढांचे के अंतर्गत, कृषीय संबंधों की वास्तविक संरचना हर क्षेत्र में अलग-अलग थी। उप-महाद्वीप के कुछ हिस्सों में तो ब्राहमणवादी अनुष्ठानों का प्रभाव प्रबल था और कुछ अन्य क्षेत्रों में कृषक मूल्य प्रबल थे। इसका निर्धारित कृषीय व्यवस्था में ब्राहमणों और भू-स्वामियों की जातियों की सापेक्षिक स्थिति पर प्रत्यक्ष प्रभाव था।

समय के साथ-साथ जजमानी प्रणाली विघटित हो गई है और ग्रामीण समाज ने अपनी सामाजिक संरचना में गहन परिवर्तनों का अनुभव किया है। कृषिक वर्ग संरचना भी बदल गई है। ये परिवर्तन अनेकों कारकों द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

MADHYAM IAS

13.9 ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के दौरान कृषीय परिवर्तन

ब्रिटिश उपनिवेशी शासकों की कृषीय नीतियों को उप-महाद्वीप की कृषीय संरचना में परिवर्तन प्रारंभ करने के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारकों के रूप में माना जाता है। इन शासकों ने अपने राजस्व को अधिक से अधिक बढ़ाने के लिए, भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में संपत्ति संबंधों में कुछ मूल परिवर्तन प्रारंभ किए। उपनिवेशी शासकों की इन कृषीय नीतियों के दूरगामी प्रभाव पड़े। बंगाल, बिहार और मद्रास के भागों में तथा संयुक्त प्रांत में उन्होंने पहले के उन जमीदारों को पूरे स्वामित्व अधिकार प्रदान किए जो पहले शासन के दौरान केवल कर एकत्रित करने वाले बेचौलिये थे। अधिकांश कृषक जो वस्तुत: भूमि की जुताई करते थे नए जमीदारों के काश्तकार बन गए। इस प्रकार, वे भूमि पर उत्पन्न होने वाली उपज के हिस्से की बजाय निर्धारित नगद राशि के रूप में राजस्व की मांग करने लगे। यदि खराब मौसम से फसल नष्ट हो जाती थी तब भी किसानों को पूरा राजस्व का भुगतान करना पड़ता था।

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप कृषकों में गंभीर ऋणग्रस्तता व्याप्त हो गई। राजस्व मांगों की पूर्ति के लिए इन किसानों में जो अधिक गरीब थे उन्हें अपनी भूमि गिरवी रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसके कारण आगे चल कर किसानों को अपनी भूमि साहूकारों और बड़े भूस्वामियों के हाथों गँवानी पड़ी। ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े जमीदार और साहूकार प्रभुत्वपूर्ण वर्ग के रूप में उभरे जबकि साधारण किसान पीड़ित होते रहे। उपनिवेशी शासन के दौरान उभरी नई कृषक वर्ग

संरचना में किसानों के समक्ष ऐसा कोई कारण नहीं था जिससे वे अपनी ज़मीनों को सुधारने के लिए कठिन परिश्रम करें। इसके फलस्वरूप कृषि संबंधी उत्पादन कम हो गया। उपनिवेशी शासकों ने फसल के तरीकों में भी परिवर्तनों को लागू किया और स्थानीय कृषकों से खाद्यानों की बजाए कपास जैसी लाभदायक फसलें उपजवाना प्रारंभ कर दिया क्योंकि उन्हें इंगलैंड में कपड़ा मिलों के लिए कपास की जरूरत थी। इन सभी कारणों से बार-बार अकाल की स्थिति उत्पन्न होने लगी और कृषक वर्ग सामान्य रूप से दुखी हो गया बड़े ज़मीदारों ने छोटे और गरीब कृषकों के बल पर खूब लाभ उठाया।

13.10 आज़ादी के बाद कृषीय परिवर्तन

उपनिवेशवादी शासन से मुक्ति के लिए संघर्ष के दौरान राष्ट्रीय नेताओं ने कृषकों को बेहतर ज़िन्दगी उपलब्ध कराने की प्रतिज्ञा करके संघटित किया। 1947 में उपनिवेशी शासकों से सत्ता की कमान हाथ में लेने से पहले ही भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के नेताओं ने कृषीय सुधारों की बहुत जरूरी आवश्यकता के बारे में बोलना प्रारंभ कर दिया था।

स्वतंत्रता के पश्चात् लगभग तत्काल ही भू-सुधारों की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी गई। केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों को निदेर्शित किया कि वे ऐसे कानून पारित करें जो बिचौलिये जमीदारों और भू-स्वामियों का उन्मूलन करेंगे और भूमि के वास्तविक किसान को स्वामित्व अधिकार प्रदान करेंगे। कुछ कानून काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करने की मंशा से बनाए गए थे। राज्यों ने एक घर के लिए भूमि के जोत के आकार पर एक उच्चतम सीमा भी निर्धारित की। अतिरिक्त भूमि राज्य के हवाले करनी पड़ती थी और उसको भूमि हीन लोगों के बीच पुन: वितरित किया जाता था।

बॉक्स 13.02: ग्रामीण भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक

ड्रेज़ एवं सेन (1997 : पृष्ठ 17) का कहना कि 'जमीदारी उन्मूलन' और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कृषि संबंधी प्रचलनों में विकास दोनों, दो घटनाएं थी, जो अपने आप में बहुत अधिक नाटकीय प्रभाव वाली नहीं थीं (उदाहरणार्थ भारत के कुछ हिस्सों सहित, अन्य विकासशील क्षेत्रों में उत्पदाकता वृद्धि और भूमि सुधार, से तुलना में)। ये जनसंख्या के बड़े भाग की आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के व्यापक आधारों को परिभाषित करती है। भूमि सुधारों में बड़े सामांतवादी भू-स्वामियों की शक्तियों को सीमित कर दिया, और ऐसे काश्तकारों, किसानों को बहुसंख्या में स्वामित्व अधिकार दिए जिनके पास पहले भूमि का स्वामित्व नहीं था।

यद्यपि कानून सभी राज्यों द्वारा पारित कर दिए गए थे परंतु, केवल देश के कुछ हिस्सों में ही वांछित प्रभाव प्राप्त किए जा सके थे। भूमि सुधारों के मूल्यांकन पर हुए अध्ययनों ने प्राय: इस बात का संकेत दिया है कि देश में केवल उन हिस्सों में भूमि सुधारों को प्रभावी रूप से कार्यान्वित किया जा सका था जहाँ किसानों को राजनीतिक रूप से संघटित किया गया था और स्थानीय राज्य सरकार सही राजनीतिक इच्छा" रखती थी। इसी भाँति, कुछ कानून, जैसे ज़मीदारी उन्मूलन संबंधी कानून भूमि सीमा संबंधी कानूनों से आधेक सफल थे (देखिए जोशी 1976) किसानों को अपनी भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करने के इरादे से स्वतंत्र भारत की सरकार ने अनेकों विकासात्मक कार्यक्रम भी प्रारंभ किए। इनमें समुदाय विकास कार्यक्रम (सी डी पी), सरकारी और हरित क्रांति प्रौद्योगिकी शामिल थे। इन कार्यक्रमों की रूपरेखा इस प्रकार बनाई गई थी जिससे भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में कृषि की आधुनिक विधियों को प्रारंभ किया जा सके। कृषि करने वाले किसानों को सहायता प्राप्त दरों पर नवीन प्रौद्योगिकी, बीडा और उर्वरक दिए गए। राज्य एजेंसियों ने भी उन्हें सस्ता ऋण प्रदान किया। यद्यपि सिद्धांत में ये योजनाएं हर किसी के लिए थी लेकिन भारत के विभिन्न हिस्सों में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि कृषि को दी गई राज्य सहायता के लाभ ग्रामीण समाज के सभी वर्गों को बराबर

बराबर हिस्सों में नहीं मिल रहे थे। अधिकांश लाभ उन लोगों को मिले जो पहले से ही अमीर और शक्तिशाली थे। तथापि, इस पूर्वाग्रह के बावजूद, इन प्रयासों द्वारा देश के कम से कम कुछ हिस्सों में ही सही, कृषीय अर्थव्यवस्था में महत्पूर्ण परिवर्तन आए। यह बात पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उ.प्र., तटवर्तीय आंध्र और महाराष्ट्र के कुछ भाग, गुजरात, कर्नाटक और तमिलनाडु के संदर्भ में विशेष रूप से सच है।

बॉक्स 13.03 : "हरित क्रांति" और सामाजिक गतिशीलता

1960 और 1970 के दशकों के दौरान पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आधुनिक कृषि प्रचलनों को अपनाने और हरियाणा तथा पंजाब क्षेत्रों के अन्य हिस्सों में उनके अनुगामी विसरण को 'हरित क्रांति' के नाम से जाना जाने लगा। इसके द्वारा क्षेत्र में सामान्य समृद्धि आई। योगेन्द्र सिंह (1988 : 5) का कहना है कि 'हरित क्रांति' केवल कृषि उत्पादनों में वृद्धि का ही नहीं बल्कि उत्पादन प्रक्रियाओं में नवीन प्रौद्योगिकियों के प्रयोग और नए सामाजिक संबंधों की भी सूचक है। ये विकास ग्रामीण अर्थव्यवस्था और समाज में परिवर्तनों के इस चरण को विशिष्ट बनाते हैं। ग्रामीण समाज में अब प्रौद्योगिकी, सामाजिक संबंध और संस्कृति के बीच एक नयी अंत: क्रिया उत्पन्न हो रही है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक गतिशीलता, नई शक्ति संरचना का उद्भव और वांचित वर्गों के शोषण की विधियाँ भी प्रारंभ हुई है। इसने समाज में नए विरोधाभासों को जन्म दिया है।

भूमि की उत्पदाकता बढ़ाने के अतिरिक्त, इन परिवर्तनों ने भारतीय कृषि के सामाजिक ढांचे को भी परिवर्तित किया है। अब भारत के अधिकांश हिस्सों में कृषि व्यावसायिक तौर पर की जाती है। जजमानी संबंधों की पुरानी संरचना थोड़ी बहुत पूरी तरह से विघटित हो चुकी है और उसके स्थान पर भूमि के स्वामी किसानों और उनके लिए काम करने वाले व्यक्तियों के बीच अधिक औपचारिक व्यवस्थाएं प्रारंभ हो गई हैं। कुछ विद्वानों में तर्क दिया है कि ये परिवर्तन यह संकेत देते हैं कि कृषि में उत्पादन का पूँजीवादी स्वरूप विकसित हो रहा है और भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में एक नई वर्ग संरचना उभर रही है (थोर्नर 1982, पटनायक 1990, जोघका 2003 देखिए)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.11 भारत में कृषीय वर्ग संरचना

यह बात हम पहले भी बता चुके हैं कि पारम्परिक भारतीय समाज जाति व्यवस्था के इर्दगिर्द संगन्वित था। कृषीय संबंध जजमानी प्रथा के मानकों द्वारा शासित होते थे। तथापि उपनिवेशी शासकों द्वारा भारतीय कृषि में परिवर्तन प्रारंभ करने के बाद से जजमानी संबंध विखंडित होने लगे। स्वतंत्रता के पश्चात की अवधि के दौरान भारतीय सरकार द्वारा प्रारंभ की गई आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया ने पारंपरिक सामाजिक संरचना को और अधिक कमज़ोर किया। समकालीन भारतीय समाज में जाति एक महत्पूर्ण सामाजिक संस्था तो बनी हुई है लेकिन आर्थिक जीवन व्यवस्थित करने की पद्धति के रूप में इसका महत्व काफी कम हो गया है।

यद्यपि भारत के अधिकांश हिस्सों में कृषि भूमि पर अभी भी पारंपरिक रूप से खेती करने वाले जाति समूहों का स्वामित्व है, परंतु भूमिहीन नीचा काम करने वाले लोगों से उनके संबंध अब जाति प्रणाली के मानकों द्वारा नियंत्रित नहीं किए जाते। नीची जाति के भूमिहीन सदस्य अब कृषि श्रमिकों के रूप में खेतिहर किसानों के साथ काम करते हैं। हम यह कह सकते हैं कि एक अर्थ में, भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में जाति की जगह वर्ग ने ले ली है।

तथापि कृषिक सामाजिक संरचना अभी भी विविधताओं से परिपूर्ण है। डी.एन.घनाग्रे के कथनानुसार भारत में भूमि नियंत्रण और भूमि प्रयोग के संबंध में विशिष्ट वर्ग स्थिति रखने वाले वर्गों और समूहों के सामाजिक संयोजन के बीच संबंध इतने भिन्न और जटिल है कि उन सभी को एक सामान्य योजना में सम्मिलित करना कठिन है" (घनाग्रे 1983)। तथापि, देश

के विभिन्न भागों में कृषीय संबंधों की विशिष्ट विभिन्नताओं के बावजूद कुछ विद्वानों ने उनको कुछ सामान्य श्रेणियों में एक साथ मिलाने का प्रयास किया है। भारतीय कृषीय जनसमूह को सामाजिक वर्गों के ढांचे में श्रेणीबद्ध करने का सबसे पहले प्रयास करने वालों में सुविख्यात अर्थशास्त्री डेनियल थोर्नर (1956) भी थे :

थोर्नर का सुझाव था कि भारत के कृषीय जनसमूह को विभिन्न वर्ग श्रेणियों में विभाजित करने के लिए तीन मानक लिए जा सकते हैं। पहला, भूमि से कमायी गयी आय का प्रकार (जैसे 'किराया' या 'अपनी खेती के फल' या मजदूरी)। दूसरी भूमि में निहित अधिकारों का स्वरूप (जैसे 'स्वामित्व' या 'काश्तकारी' या 'बटाईदारी के अधिकार' या "कोई अधिकार नहीं"। तीसरा वस्तुत: निर्धारित कृषिकार्य की सीमा (जैसे "अनुपस्थितों के रूप में जो बिलकुल काम नहीं करते" या "जो आंशिक कार्य करते हैं" या पूरा कार्य परिवार मजदूर से किया जाता है" या "मजदूरी कमाने के लिए दूसरों के लिए किया गया कार्य")। इन मानकों के आधार पर थोर्नर ने भारत में कृषिक वर्ग संरचना के निम्नलिखित मॉडल का सुझाव दिया।

1) **मालिक**, जिनको मुख्य रूप से मृदा में संपत्ति अधिकारों से आय की प्राप्त होती है और जिनकी सामान्य रुचि यह रहती है कि किरायों का स्तर उच्च बना रहे जबकि मजदूरी-स्तर निम्न बना रहे। वे काश्तकारों उप-काश्तकारों और हिस्सेदारों से किराया एकत्र करते हैं। इनको दो अन्य श्रेणियों में भी विभाजित किया जा सकता है। (क) बड़े भू-स्वामी जिनका बड़े-बड़े भूभागों पर अधिकार होता है जो कई गाँवों में फैले होते हैं, वे अनुपस्थित स्वामी/लगान उपजीवी होते हैं जिनको भूमि के प्रबंधन या सुधार में कोई भी दिलचस्पी नहीं होती, (ख) धनी भू-स्वामी, जिनके पास पर्याप्त जोत क्षेत्रों का स्वामित्व होता है लेकिन यह सामान्यत: उसी गाँव में होता है और यद्यपि ये खेती का कोई काम नहीं करते लेकिन खेती का निरीक्षण करते हैं और भूमि के प्रबंधन और सुधार में व्यक्तिगत रूप से रुचि लेते हैं।

2) **किसान**, वे कामकाजी किसान जो भूमि के लघु खंडों के स्वामी होते हैं और जो अधिकतर अपने और अपने परिवार के सदस्यों के परिश्रम से खेती का कार्य करते हैं। इनके पास मालिकों की तुलना में बहुत कम भूमि होती है। इन्हें भी दो उप-श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। (क) लघु भूस्वामी जिनके पास परिवार की सहायता के लिए पर्याप्त जोत होती है, (ख) वास्तविक काश्तकार जिनके पास किसी भी भूमि का स्वामित्व तो नहीं होता लेकिन वे पर्याप्त रूप से बड़े जोतक्षेत्र पर खेती करते हैं जिससे उन्हें मजदूरों के रूप में काम किए बिना ही अपने परिवारों का भरण पोषण करने में मदद मिलती है।

3) मज़दूर, जिनके पास अपनी कोई भूमि नहीं होती और जो अन्य लोगों के साथ मजदूर या बँटाईदार के रूप में काम करके अपनी जीविका कमाते हैं।

कृषीय जनसमूह का थोर्नर द्वारा किया गया वर्गीकरण भारत में कृषीय परिवर्तन के विद्यार्थियों में बहुत अधिक लोकप्रिय नही हुआ है। अर्थव्यवस्था के कृषीय क्षेत्र में पूँजीवादी संबंधों के विकास ने भी प्राचीन वर्ग संरचना को बदला है। उदाहरण के लिए, भारत के अधिकांश क्षेत्रों में मालिक उद्यमशील किसानों में परिवर्तित हो गए हैं। इसी भाँति, भूमिहीन मज़दूरों में अधिकांश काश्तकार और बँटाईदारों में मज़दूरों के रूप में काम करना शुरू कर दिया है। कृषि में पूँजीवादी विकास ने भी किसानों में उस प्रकार के विभेदीकरण को उत्पन्न नहीं किया है। जैसी कुछ मार्क्सवादी विश्लेषकों ने भविष्यवाणी की थी। इसके विपरीत मध्य स्तर के किसानों की संख्या बढ़ जाती है।

कृषीय सामाजिक संरचना और भारत में परिवर्तन के विद्यार्थियों में जो वर्गीकरण अधिक लोकप्रिय हुआ है वह कृषीय जनसमूह का पाँच या छह वर्गों में विभाजन है। श्रेणियों के संदर्भ में ये सभी लेनिन-माओं आरेखण योजना से लिए गए हैं, लेकिन वास्तविक संक्रियाकरण के संदर्भ में, ये निरपवाद रूप से भूमि के स्वामित्व पर आधारित है, जो अपरिवर्तनीय रूप से ग्रामीण

परिवेश में और गाँव से बाहर भी जनसमूह की अन्य श्रेणियों के साथ उनके संबंधों का भी निर्धारण करता है।

शीर्ष पर वे बड़े भूस्वामी है जो देश के कुछ भागों में अभी भी विद्यमान हैं। उनके पास बहुत बड़े जोतक्षेत्र हैं। किसी न किसी के पास तो ये एक सौ एकड़ से भी अधिक है। तथापि पुराने ज़मीदारों के विपरीत वे काश्तकारों और बँटाईदारों को सदैव अपनी भूमि नहीं देते। उनमें से कुछ अपने खेतों की व्यवस्था आधुनिक उद्योगों की भाँति करते हैं। वे एक प्रबंधक और नियुक्त करते हैं और बाज़ार के लिए उत्पादन करते हैं। कुछ समय से कृषकों को कुल संख्या में उनका अनुपात अत्यधिक कम हो गया है। अब देश के पिछड़े क्षेत्रों में उनकी संख्या अधिक पाई जाती है।

बड़े ज़मीदारों के पश्चात् बड़े किसानों की बारी आती है। उनकी भूमि जोतों का आकार 15 एकड़ से लेकर 50 एकड़ या कुछ क्षेत्रों में इससे भी अधिक पाया जाता है। वे आम तौर से अपने खेतों की व्यक्तिगत रूप से निगरानी करते हैं और मज़दूरों से काम करवाते हैं। उनके खेतों में खेती का काम खेती की मशीनों की मदद से किया जाता है और वे खेती के आधुनिक साधनों जैसे रासायनिक उर्वरकों और संकर बीजों का प्रयोग करते हैं। वे निरपवाद रूप से स्थानीय प्रभावशाली जातियों से संबंधित होते हैं और स्थानीय शक्ति संरचना पर, गाँव और राज्य दोनों स्तरों पर उनका पर्याप्त मात्रा में दबदबा होता है। बड़े जमीदारों का तो पिछड़े क्षेत्रों में अधिक प्रभाव होता है और बड़े किसानों का प्रभाव देश के कृषीय रूप से विकसित क्षेत्रों में अधिक दिखाई देता है।

अगली श्रेणी मध्यम किसानों की है जिनके पास अपेक्षित रूप से छोटी जोत होती है (5 से लेकर 10 या 15 एकड़ के बीच)। सामाजिक रूप से बड़े किसानों की भाँति ये भी अधिकतर स्थानीय प्रभावशाली जाति समूहों से होते हैं। तथापि बड़े किसानों से विपरीत थे खेतों पर अधिकांश कार्य अपने और अपने परिवार के सदस्यों के श्रम के सहारे करते हैं। कटाई और फसल बोने के व्यस्ततम काल में ये सामान्यत: मजदूर लगाते हैं। कुछ समय से किसानों की यह श्रेणी भी आधुनिक साधनों जैसे रासायनिक उर्वरकों और संकर बीज़ों का प्रयोग करने लगी है। आनुपतिक रूप से ये किसानों के सबसे बड़े खंड की रचना करते हैं।

छोटे और सीमांत किसान भारत में किसानों का चौथा वर्ग हैं। उनकी भूमि जोत का आकार छोटा होता है (पाँच एकड़ से कम और कुछ के पास तो एक एकड़ से भी कम)। वे खेती संबंधी सभी कार्य अपने श्रम बल पर ही करते हैं और अपने खेतों पर काम करने के लिए अन्य लोगों को शायद ही कभी लगाते हैं। खेती से प्राप्त अपनी अल्प आय में कुछ और वृद्धि करने के लिए इनमें से कुछ लोग अन्य किसानों के साथ कृषि मजदूरों के रूप में काम करते हैं। समय के साथ साथ ये लोग भी आधुनिक कृषि साधनों का प्रयोग करने लगे हैं और इन्होंने नकदी फसल उत्पन्न करना प्रारंभ कर दिया है जो बाज़ार में बिक्री के लिए उगाई जाती है भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में ये लोग जनसमूह की सर्वाधिक ऋणग्रस्त श्रेणी में से हैं। जैसे जैसे परिवार बढ़ते हैं और जोतों के और अधिक हिस्से होते जाते हैं, वैसे वैसे भारत के अधिकांश भागों में इनकी संख्या बढ़ती जा रही है।

कृषीय जनसमूह की अंतिम श्रेणी भूमिहीन मज़दूरों की है। इनका एक बड़ा जनसमूह पूर्व-अछूत या दलित जाति समूहों से संबंधित है। इनमें से अधिकांश लोगों के पास खेती योग्य अपनी कोई ज़मीन नहीं होती। कुल कृषीय जनसमूह में इनका अनुपात हर राज्य में अलग-अलग है। पंजाब और हरियाणा जैसे राज्यों में ये ग्रामीण श्रम दल के 20 से तीस प्रतिशत भाग का गठन करते हैं और आंध्र प्रदेश जैसे कुछ अन्य राज्यों में इनकी संख्या 50 प्रतिशत तक है। ग्रामीण भारत में ये सर्वाधिक निर्धन हैं। वे आय के असुरक्षित स्रोतों सहित केवल दुखदायी स्थितियों में ही नहीं रहते बल्कि इनमें से अधिकांश को बड़े किसानों से पैसे उधार भी लेने पड़ते हैं और बदले में उन्हें अपना श्रमबल गिरवी रखना पड़ता है। यद्यपि पुरानी तरह की बँधुआ मजदूरी अब प्रचलित नहीं है. तथापि बडे किसानों पर भूमिहीन मजदूरों की निर्भरता अकसर उन्हें अपनी स्वतंत्रता त्यागने के लिए मजबूर करती है जिसके कारण न तो वे अपने नियोजक का चयन कर सकते

हैं और न ही अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों को अपनी मर्जी से चुन पाते हैं।

यह केवल एक सामान्य रूपरेखा है। जैसा पहले भी बताया जा चुका है वास्तविक संबंध हर क्षेत्र में अलग अलग होते हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों का कृषीय इतिहास काफी असमान रहा है और स्वतंत्रता के पश्चात् की अवधि के दौरान विकास के प्रपथ भी काफी भिन्न भिन्न रहे हैं।

13.12 सारांश

कृषीय वर्ग और श्रेणियाँ वे समाज हैं जो अपने जीवन निर्वाह के मुख्य स्रोत के रूप में अधिकतर कृषि पर निर्भर करते हैं। जैसा आपने इस इकाई में पढ़ा है कृषीय बस्तियों और लोगों के समूह अपनी जीविका के लिए भूमि पर खेती और इससे संबंधित गतिविधियों जैसे, पशु पालन करके निर्भर करते हैं। अन्य आर्थिक गतिविधियों की ही भांति कृषि उत्पान भी स्पष्टत: एक आर्थिक गतिविधि है और इस प्रकार यह सामाजिक संबंधों के ढाँचे के अंतर्गत की जाती है। भूमि की खेती में संलग्न व्यक्ति विभिन्न सामाजिक सामर्थ्यों में एक दूसरे से अंत:क्रिया करते हैं। वे केवल एक दूसरे से ही नहीं बल्कि अन्य श्रेणी के उन लोगों से भी अंत:क्रिया करते हैं जो उन्हें भूमि की खेती के लिए अपेक्षित विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करते हैं।

लोगों के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अंत: क्रिया एक संस्थात्मक संरचना के अंतर्गत होती है। कृषीय समाजों की संस्थागत व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है भूमि स्वामित्व के स्वरूप और जिन व्यक्तिओं के पास भूमि है तथा जो लोग भूमि पर जोत करते हैं या वास्तविक खेती करते हैं उनके बीच संबंधों का स्वरूप। किसी भी कृषीय संरचना के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू हैं मजदूर की नियुक्ति का रूप और मजदूर का अपने नियोजक किसानों या भूस्वामियों के साथ संबंध का स्वरूप। आपने इस इकाई में पढ़ा है कि ग्रामीण समाज में जिन लोगों के पास भूमि का स्वामित्व होता है वे निरपवाद रूप से पर्याप्त मात्रा में शक्ति और सम्मान के हकदार होते हैं। भूमि के स्वामियों और उनको विविध प्रकार की सेवाएं प्रदान करने वाले या मज़दूरी के बदले काम करने वाले व्यक्तियों के बीच संबंधों के ये स्वरूप कृषीय वर्ग संरचना कहलाते हैं।

MAADHYAM IAS "way to achieve your dream"

वर्ग क्या है? कार्ल मार्क्स और मेक्स वेबर जैसे प्रमुख विद्वानों और चिंतकों के विचार इस मुद्दे पर अलग अलग है। मार्क्स के अनुसार वर्ग द्विभाजी है। उनका कहना है कि प्रत्येक वर्ग समाज में, दो मूल वर्ग होते हैं। इस द्विभाजी प्रणाली के आधार पर संपत्ति संबंध मुख्य मानदंड की रचना करते हैं। मेक्स वेबर के अनुसार वर्ग 'बाजार स्थिति' या व्यक्ति की क्रय शक्ति पर निर्भर करते हैं। "व्यक्ति की वर्ग स्थिति उसके जीवन अवसरों का भी निर्धारण करती है।" इस प्रकार, वेबर की संरचना में, वर्ग की संकल्पना उन पूर्व-पूँजीवादी किसान समाजों में लागू नहीं की जा सकती जहाँ बाज़ार केवल एक परिधीय तथ्य है। इसकी तुलना में वर्ग की संकल्पना सभी बेशी उत्पादक समाजों में लागू की जाती है।

परंतु कृषीय समाजों की सामाजिक संरचना में विभिन्न प्रकार की विविधताएं देखी जाती है। कृषीय वर्ग संरचना का स्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग होता है। आजकल अधिकांश समाजों में कृषीय संरचनाओं में मूल परिवर्तन हो रहे हैं। पश्चिम के सर्वाधिक विकसित समाजों में कृषि अर्थव्यवस्था का सीमांत सेक्टर बन गया है और उनकी कामकाजी जनसंख्या का केवल बहुत छोट अनुपात ही इसमें नियोजित किया जाता है। तीसरी दुनिया में भी कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों का अनुपात कम होने लगा है लेकिन यहाँ अभी भी काफी मात्रा में लोग कृषि में नियोजित होते हैं।

कृषि अध्ययनों के क्षेत्र में विद्वानों का एक प्रभावशाली समूह है जो कृषीय समाजों का वर्ग के संदर्भ में विश्लेषण करने की आलोचना करता है। उनके विचार से कृषक समाज जनसमूह का 'एक प्रकार' हैं जो आधुनिक शहरी औद्योगिक समाजों से मूल रूप से भिन्न हैं।

इसके पश्चात् आपने अविभेदित कृषक समाज की शास्त्रीय धारणा के बारे में पढ़ा। यह धारणा युद्ध के पश्चात् की अवधि के दौरान विकसित हुई थी। कृषक समाज को पूर्व-औद्योगिक स्वरूप का माना जाता था (1945 के बाद)। यह धारणा अधिकांश रूप से पश्चिम अनुभव से ग्रहण की गई थी। औद्योगिक क्रांति के प्रारंभ के साथ-साथ जब अर्थशास्त्र विकसित हुआ, पारम्परिक "कृषक जीवन शैली" धीरे-धीरे बदलने लगी और इसकी जगह आधुनिक शहरी जीवन शैली ने ली।

थेओडोर शानीन (1987) ने कृषक समाज का 'आदर्श प्रकार' विकसित किया। उन्होंने किसानों को 'लघु कृषक उत्पादकों' के रूप में परिभाषित किया, जो साधारण उपकरणों और अपने परिवार के सदस्यों के श्रम की सहायता से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर, अधिकतर अपने खुद के उपभोग के लिए और राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति के धारकों के आभार की पूर्ति के लिए उत्पादन करते थे। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों पर लिखे ऐतिहासिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि कृषीय समाज उतने समजातीय नहीं थे जितने वे ऐसी रचनाओं में दिखाए गए हैं। कृषीय समाज विभिन्न स्तरों में आंतरिक रूप से विभेदित भी था। उदाहरणार्थ, भारत में, ग्रामीण समाज विभिन्न जाति समूहों में विभाजित था और केवल कुछ समूहों को ही भूमि पर खेती करने का अधिकार था जबकि अन्य जातियों उनको सेवाएं प्रदान करने के लिए बाध्य थी। इसी प्रकार, यूरोप के कुछ हिस्सों में कृषिदास प्रथा थी जहाँ अधिपतियों का किसानों पर दबदबा था। ऐसे समाजों को सामंती समाज कहा जाता था।

अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दियों के दौरान हुई औद्योगिक क्रांति की सफलता के साथ सामंती समाज विघटित हो गया और उसकी जगह आधुनिक पूँजीवादी, अर्थशास्त्र के विकास ने ली। तथापि, समय के साथ सामंतवादी शब्द ने समान्य अर्थ भी अर्जित कर लिया है और अब इसका प्रयोग यूरोप के अलावा, विश्व के अन्य भागों में पूर्व-आधुनिक कृषीय समाजों को वर्णित करने के लिए काफी किया जाता है।

आपने, समकालीन कृषीय समाजों में हुए मूल परिवर्तनों के प्रकारों के बारे में पढ़ा। कृषि में बढ़ते मशीनीकरण, उच्च प्रौद्योगिकी और संचार, सभी के कारण अंत:क्रिया के सामाजिक जालतंत्र के स्वरूप में बदलाव हुआ है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अंत:क्षेप के कारण बढ़ती उपज, बेहतर बीजों आदि से अतिरिक्त खाद्य पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं। 'नकदी फसल' का भाव प्रारंभ किया गया है जिसने गरीब और अमीर के बीच की दूरी को और अधिक बढ़ाया है। इसलिये सामाजिक असमानता बढ़ती है, सामती महत्व समाप्त या कम हो जाता है लेकिन फिर भी बाज़ार संबंध ग्रामीण कृषि क्षेत्र में प्रारंभ हो गए हैं।

आप पहले भी पढ़ चुके हैं कि किसानों का अपने व्यवसाय के प्रति रवैया भी बदल रहा है। पूर्व-पूँजीवादी या पारम्परिक समाजों में, किसान मुख्यत: अपने उपभोग के लिए उत्पादन करते थे। खेतों पर उनके परिवार के सदस्य श्रम करते थे। किसान वर्ग के लिए कृषि करना जीविकोपार्जन का जरिया भी था और उनकी जीवन शैली भी। लेकिन आधुनिक समय में भूस्वामी कृषि को एक उद्यम के रूप में देखने लगे हैं। वे अपने खेतों पर आधुनिक मशीनों से काम करते हैं और 'नकदी फसल' उत्पादित करते हैं जो बाज़ार के उच्च दामों पर बिकती है और इस प्रकार अधिक धन उत्पन्न करती है। इस भाँति लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य कृषीय उद्यम का अंग बन जाता है।

रूस और चीन के दो सुविख्यात् लेनिन और माओं का, सुझाव था कि कृषि में पूँजीवाद के विकास से, किसान जो अभी तक अविभेदित सामाजिक श्रेणी थे, विभेदित या विभिन्न सामाजिक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। अपने अनुभवों के आधार पर, उन्होंने रूस और चीन में क्रमश:, किसानों को विभिन्न श्रेणियों की ओर विभिन्न श्रेणियों के एक दूसरे के साथ संबंधों के स्वरूप की पहचान की तथापि विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में कृषि में पूँजीवादी विकास का वह वास्तविक अनुभव लेनिन की भविष्यवाणी से पूरी तरह से सम्मत होता नहीं दिखाई देता। इस

तर्क की पुष्टि करने के लिए बहुत कम साक्ष्य हैं कि कृषीय जनसमूह दो वर्गों में ध्रुवित हो रहा है। पश्चिम में, तीसरी दुनियाँ के देशों के समान मध्यम और छोटे आकार के किसानों ने केवल अपना अस्तित्व ही नहीं बनाए रखा है बल्कि भारत जैसे कुछ देशों में उनकी संख्या बढ़ भी गई है।

पारम्परिक रूप से भारत में कृषीय समाजों में 'जजमानी प्रथा' नामक, संबंधों का एक प्रतिरूप विद्यमान था जिसमे कार्य के संदर्भों में विभिन्न वर्ग एक दूसरे पर परस्पर आश्रित थे। भूस्वामी संरक्षक या जजमान थे और सेवा प्रदान करने वाली जातियाँ 'बामिन' थी जैसे, बढ़ई, लौहार आदि की जाति। लेकिन धीरे-धीरे, स्वतंत्रता के पश्चात् इस प्रथा का ह्रास हो गया हैं। यह ह्रास दो महत्वपूर्ण कारणों से हुआ, पहला तो जमीदारी प्रथा का उन्मूलन और दूसरा हरित क्रांति।

स्वतंत्रता के बाद की अवधि के दौरान भारतीय सरकार द्वारा प्रारंभ की गई आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया ने पारंपरिक सामाजिक संरचना को कमज़ोर कर दिया। समकालीन भारतीय समाज में जाति एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था तो बनी हुई हैं लेकिन आर्थिक जीवन को व्यवस्थित करने की प्रणाली के रूप में इसका महत्व लगभग समाप्त ही हो गया है। कृषीय वर्ग/जाति संरचना अभी भी वही है; लेकिन यह पारंपरिक रूप की भाँति अब जाति द्वारा परिभाषित नही की जाती/नीची जातियों के भूमिहीन सदस्य कृषि मजदूरों के रूप में अब कृषि करने वाले किसानों के साथ काम करते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि इस अर्थ में भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में जाति ने वर्ग को जगह दे दी है।

अंत में इस इकाई में आपने भारत के कृषीय जनसमूह के वर्गीकरण के बारे में जानकारी प्राप्त की। यह विभिन्न वर्ग श्रेणियों में वर्गीकृत है। इस वर्गीकरण को करने वाले एक सुविख्यात समाजशास्त्री है डेनियल थोमर (1956) हैं। उन्होंने कृषीय वर्ग संरचना को भूमि के साथ उनके संबंधों के आधार पर तीन प्रकारों में विभाजित किया, मालिक, किसान और मज़दूर।

13.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MADHYAM IAS

बेते, ए. 1974, *स्टडीज इन एग्रेरियन सोशल स्ट्रक्चर।* ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

बेते, ए. 1974, *सिक्स ऐसेज़ इन कम्पेरेटिव सोशयोलोजी।* ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

भादुडी, ए. 1984, *द इकोनोमिक स्ट्रक्चर ऑफ बैकवार्ड एग्रीकल्चर।* मेकमिलन, दिल्ली।

देसाई, ए. आर. 1959, *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इन्डियन नेशनलिज़म,* पॉपुलर प्रकाशन, मुबई।

इकाई 14

मज़दूर वर्ग

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 मजदूर वर्ग को परिभाषित करना

14.3 मजदूर वर्ग का संक्षिप्त इतिहास

14.4 मजदूर वर्ग : भारतीय परिदृश्य

14.5 भारत में मजदूर वर्ग का विकास

14.6 भारतीय मजदूर वर्ग की सामाजिक पृष्ठभूमि

14.7 सारांश

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप:

- यह परिभाषित कर सकेंगे कि मजदूर वर्ग से क्या अभिप्राय है;
- सामान्य रूप से मजदूर वर्ग का संक्षिप्त इतिहास बता सकेंगे;
- भारतीय परिदृश्य में मजदूर वर्ग का वर्णन कर सकेंगे;
- भारत में मजदूर वर्ग की वृद्धि का वर्णन कर सकेंगे; और
- भारतीय मजदूर वर्ग की सामाजिक पृष्ठभूमि की व्याख्या कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

14.1 प्रस्तावना

अतिप्राचीन काल से समाजों में असमानता की प्रणाली विद्यमान रही है। सभी समाजों में विभिन्न स्तर व्याप्त रहे हैं। अर्थात् संपत्ति, आय और सत्ता जैसे सभी मूल्यवान संसाधन असमान रूप से वितरित किए जाते रहे हैं। लेकिन ये असमानताएं सभी समाजों में और सभी युगों में एक जैसी नहीं थीं। मध्यकालीन यूरोप में समाज वर्ग या सम्पत्ति में विभाजित थे जिनके फलस्वरूप लोगों के समूहों को अभिजात वर्ग, किसान, नागरिक और चर्च के रूप में जाना जाता था। प्रत्येक समूह की भूमिकाएं और संबंधित कानूनी अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित थे। अन्य जगहों पर दासता व्यापक रूप से प्रचलित थी जहां दासों को यथातथ्य रूप से कोई सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। आप पहले भी पढ़ चुके हैं कि हमारे अपने देश में भी समाज पारम्परिक रूप से जातियों में स्तरीकृत था। जाति समूह विभिन्न मात्राओं में धार्मिक शुद्धता और प्रदूषण का उपभोग करते थे। जाति पर आधारित स्तरीकरण के अवशेष अभी भी दिखाई देते हैं, यद्यपि उनका स्वरूप बदल गया है।

इंग्लैण्ड में 18वीं शताब्दी के मध्य में औद्योगिक क्रांति हुई। इसके समाज में व्यापक एवं विविध परिवर्तन हुए। इससे उद्योग, धर्मनिरपेक्षता और समुदाय जैसी नई संकल्पनाएं प्रारंभ हुईं। इस काल के दौरान 'वर्ग' पर आधारित स्तरीकरण के नये रूप प्रमुख हो गए। यद्यपि 'वर्ग' स्वयं कोई नयी अभिव्यंजना नहीं थी लेकिन अन्य उभरती संकल्पनाओं के साथ इसने भी नवीन अर्थ

अर्जित कर लिया। असमानता की यह प्रणाली स्तरीकरण के पुराने और ज्ञात स्वरूपों से स्पष्टत: अलग थी। पहला अंतर यह था कि वर्ग खुले थे जबकि सम्पत्ति या जातियां बंद प्रणाली थीं। ऐसा कोई कानूनी या धार्मिक बंधन नहीं था जो वर्ग सोपानक्रम में किसी व्यक्ति की गतिशीलता को रोकता। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि वर्ग स्थिति प्रदत्त किए जाने की बजाय अर्जित की जा सकती थी। दूसरे, सभी वर्गों के सदस्यों के कुछ कानूनी अधिकार और कर्तव्य होते है। व्यवहसार में सभी का निर्णय एकसमान कानूनों और न्यायालयों से होता था। अंत में, असमानता के पुराने स्वरूपों के विपरीत, आर्थिक सफलता वर्ग स्थिति का निर्धारण करने की एकमात्र कसौटी थी।

असमानता की प्राचीन प्रणालियों में व्यक्तियों के एक साथ, श्रेणियों में समूहबद्ध किया जाता था जो ध्रुवीय रूप से विपरीत थीं। अत: वहां मालिक और कृषि दास थे, स्वामी और दास थे और हमारे समाज में शुद्ध और अशुद्ध जातियां थीं। इसी भांति, वर्ग आधारित स्तरीकरण में भी मध्यवर्गीय और मजूदर वर्ग (मार्क्सवादी अभिव्यंजनाएं) थीं। सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने से पता चलता है कि ऐसे सभी समूहों में सदस्यता अनिवार्य रूप से आर्थिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती थी। मार्क्स की शब्दावली में, उत्पादन के संबंध वर्ग स्थिति का निर्धारण करते थे अर्थात् वे लोग जो उत्पादन के साधनों के मालिक थे और दूसरे वे जो अपने श्रम के बदले मजदूरी प्राप्त करते थे। यह इस इकाई का मुख्य विषय है अर्थात् वर्ग आधारित समाज में 'अपना श्रम बेचने वाले लोगों' की चर्चा करना। ऐसे लोगों को 'मजदूर वर्ग' कहा जाता है। यद्यपि मार्क्स ने इन लोगों का वर्णन करने के लिए कभी भी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया।

14.2 मजदूर वर्ग को परिभाषित करना

"मजदूर वर्ग कौन और क्या है" यह प्रश्न आसान नहीं है। इसके कई कारण हैं। मजदूर वर्ग एक सम्बद्ध अस्तित्व नहीं है; इसमें अनेकों अंतर और विरोधाभास होते हैं। एक समस्या यह है कि सीमा रेखा कहां खींची जाए। कौन मजदूर वर्ग में आता है और कौन नहीं? यह अंतर कौशल, लिंग, आयु, आय और जाति के संदर्भों में और अधिक बढ़ जाता है। अत: मजदूर वर्ग जटिल, विरोधाभासी और निरंतर परिवर्तनशील अस्तित्व है। लेकिन यह एक अस्तित्व भी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि, लोगों का एक समूह है जिसे 'मजदूर वर्ग' कहा जाता है, जो लोगों की एक समष्टि मात्र नहीं है। यद्यपि मजदूर वर्ग के अंतर्गत भी अंतर और विरोधाभास है जिसे पहचानने और विश्लेषित करने की जरूरत है। तो क्या हम मजदूर वर्ग की कोई एकमात्र परिभाषा प्राप्त कर सकते हैं? उत्तर यह है कि कोई भी एकमात्र ऐसी परिभाषा नहीं हो सकती जिसमें सभी बातें सम्मिलित की जा सकें। ऐसा वर्गों और परिणामी मजदूर वर्ग के बीच सीमाओं के धुंधलेपन के कारण है। उदाहरण के लिए 1970 का एक मजदूर खण्ड के मजदूर के जैसा नहीं है। क्योंकि वर्ग की रचना, आकार और स्वरूप समय के साथ बदल जाता है। अत: परिभाषाओं की श्रृंखला की आवश्यकता है, जिसे सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार बदलना होगा।

सोचिए और कीजिए

मजदूरों को विभिन्न हैसियतों में जैसे सड़क निर्माण; गृह-निर्माण, कुएं खोदना; नालियां साफ करना आदि में काम करते हुए देखें। फैक्टरियों, दफ्तरों, ढाबों, दुकानों में काम करने वाले मजदूरों को ध्यान से देखें जो सामाजिक आर्थिक सोपान की निचली सीढ़ी (स्तर) पर हैं।

अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में भी मजदूरों के बारे में अपने अनुभवों को याद करिए और 'मजदूर वर्ग' की ऐसी परिभाषा दीजिए जो आपके विचार से मजदूरों की विभिन्न किस्मों के व्यापक क्षेत्र के लिए उपयुक्त है। अपनी परिभाषा को अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की परिभाषा से तुलना कीजिए।

MADHYAM IAS

मार्क्स की योजना में, पूंजीवादी समाज में विशिष्ट रूप से दो प्रमुख वर्ग होते हैं मध्यवर्गीय और मजदूर वर्ग। मध्यवर्गीय लोग उत्पादन के माध्यमों के स्वामी होते हैं और मजदूर वर्ग अपने जीवन यापन के लिए वेतन पाने हेतु अपने श्रम को बेचते हैं। एन्जल्स द्वारा साम्यवादी घोषणापत्र को दिए गए एक फुटनोट में इन अभिव्यंजनाओं का मार्क्सवादी अर्थ स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। मध्यवर्गीय का अर्थ है आधुनिक पूंजीवादियों का वर्ग और मजदूर वर्ग से तात्पर्य है आधुनिक मजदूर। अत: मध्यवर्गीय शब्द पूंजीवादी का पर्याय है और मजदूर वर्ग मजदूरी करने वाले वर्ग का।

हाल के वर्षों में मजदूर वर्ग संबंधी मार्क्सवादी दृष्टिकोण के बरक्स दो विचारधाराएं सामने आई हैं जिसमें बिल्कुल अलग ढंग से विश्लेषण किया गया है। पहला विचार है कि मजदूर वर्ग वस्तुत: लुप्त हो रहा है। उद्योग के स्वचालन और ब्लू कॉलर नौकरियां कर रहे लोगों में कमी आने से मजदूर वर्ग का आकार घट रहा है। तथापि, तथ्य यह है कि मजदूर वर्ग ही संपूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो रहा है बल्कि ब्लू कॉलर मजदूर लुप्त हो रहे हैं। दूसरा विचार इसके विपरीत हैं इसके अनुसार पूरा समाज ही मजदूर वर्ग बनता जा रहा है। इसका तात्पर्य है कि विद्यार्थी, अध्यापक, ब्लू कॉलर मजदूर, सफेद पोश कामकाजी लोग (बाबू लोग) और विविध प्रकार के वेतनभोगी कर्मचारी सभी मजदूर हैं। वस्तुत: मजदूर वर्ग समाप्त नहीं हो रहा है बल्कि इसका आधार विस्तृत हो रहा है और इसमें ऊपर बैठे पूंजीपतियों के अलावा सब शामिल हैं। इस विचार में वर्ग सीमाओं की तथाकथित विकृति पर तो बल दिया गया है लेकिन वर्गों के बीच के महत्वपूर्ण सामाजिक अलगावों को अनदेखा किया गया है। इसके अलावा ये अलगाव अभी भी समाज में बहुत प्रचलित हैं।

तथापि यह प्रश्न अभी भी खड़ा है कि मजदूर वर्ग के अंतर्गत कौन आता है? एम. हॉल्मस्टॉर्म (1991) के अनुसार 'सामान्यत: लोग औद्योगिक मजदूरों और कभी कभी अन्य वेतन-अर्जकों और स्व-नियोजित कामगारों को 'मजदूर वर्ग' कहते हैं। सामान्यत: इसका अर्थ है वह समूह जिसकी आर्थिक स्थिति एक जैसी होती हैं, जो उन्हें दूसरों से जैसे संपत्ति के स्वामी, नियोजक और प्रबंधकों से अलग करती है। इसके अनुसार एक सामान्य हित होता है और इन हितों के बारे में आपसी चेतना होती है। इसका अर्थ है कि अन्य वर्गों के समान मजदूर वर्ग का विशिष्ट गुण है 'एक सामान्य हित' और 'आपसी चेतना' की उनकी समझ। तथापि वर्तमान काल में मजदूर वर्ग के अपने आंतरिक विभाजनों और विभिन्न सामाजिक आर्थिक और मानव जातीय पृष्ठभूमियों के कारण मजदूर वर्ग के लिए इन दो संकल्पनाओं को कार्यान्वित करना कठिन हो गया है।

यह पूछना उपयुक्त होगा कि मजदूर वर्ग के बीच संगठित औपचारिक या असंगठित अनौपचारिक औद्योगिक मजदूर, अनियमित सामान्य मजदूर, स्व-नियोजित और छोटे किसान, जैसे बहुत विभाजनों और उपविभाजनों के रहते क्या किसी प्रकार का 'सामान्य हित' विद्यमान है या अनेकों प्रकार के मजदूर भिन्न-भिन्न और द्वंद्वात्मक हितों सहित विभिन्न वर्ग हैं? या ये वर्ग इस तरह सोचते या कार्य करते हैं कि जैसे अपने रोजमर्रा के जीवन में, या कार्य अथवा घर पर वे अलग हितों वाले वर्ग हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर पाना कठिन है। इसका कारण यह है कि जब 'चेतना' शब्द को मजदूर वर्ग की चेतना के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है तो यह एक पेचीदा शब्द बन जाता है। मजदूर वर्ग के संबंध में विचार-विमर्श करते समय एक समस्या यह आती है कि हमें उन लोगों पर विचार-विमर्श कर रहे हैं जो अपने विचारों या धारणाओं को मौखिक या लिखित किसी भी रूप में व्यक्त नहीं कर पाते। मजदूर आंदोलनों या मजदूर संघ आंदोलनों में भी गैर-मजदूर नेता ही भाषण देते हैं न कि मजदूर। दूसरी बात यह है कि मजदूर वर्ग एक समष्टि है जो चेतना के बारे में साधारण बौद्धिक विचार से काफी दूर है। यह एक वस्तुनिष्ठ श्रेणी है चेतना को देखने का सामान्य तरीका धारणा के औपचारिक कथन के संदर्भ में है। तथापि, मजदूर वर्ग और इसके जीवित यथार्थ के संदर्भ में यह बिल्कुल लागू नहीं होता। यह समस्या इस तथ्य से और

अधिक बढ़ जाती है कि चेतना के बारे में किए गए अध्ययन यह मान कर चलते हैं कि चेतना पूरी तरह से मस्तिष्क का और शाब्दिक अभिव्यक्ति का विषय है। परंतु मजदूर को जनमंच या प्रेस की सुविधा प्राप्त नहीं है। अत: औपचारिक प्रश्नों के शाब्दिक प्रत्युत्तर, ऐसी स्थितियों में मजदूरों को अनुमत विकल्पों की सीमित मात्रा को देखते हुए, अपरिहार्य रूप से मजदूर वर्ग चेतना का वह स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो अंतर्निहित यथार्थ की अपेक्षा काफी अधिक रुढ़िवादी है।

14.3 मजदूर वर्ग का संक्षिप्त इतिहास

प्रस्तुतीकरण को सरल बनाने के लिए मजदूर वर्ग के इतिहास को कई युगों में विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि आम धारणा यह है कि मजदूर वर्ग का प्रारंभ पूंजीवाद के उदय के साथ हुआ, लेकिन इसका प्रारंभिक उद्गम पूर्व-पूंजीवादी युग में भी देखा जा सकता है।

क) **पूर्व-पूंजीवाद** : रोम, ग्रीस और चीनी साम्राज्य कालों के दौरान मजदूर वर्ग का आकार बहुत छोटा था। इन साम्राज्यों के दौरान कारीगरों की बजाय मजदूरी के लिए काम करने वाले मजदूर थे। पूंजीवाद के उदय से काफी पहले ही लोहा और कोयला खानों जैसे उद्योगों की रूपरेखा उत्पादन की पूंजीवादी शैलियों पर बनाई जा रही थी। चूंकि इस प्रकार के मजदूरों की संख्या नाममात्र को थी इसलिए इसको एक वर्ग के रूप में नहीं देखा जाता था।

ख) **प्रारंभिक पूंजीवाद** : पूंजीवाद की वृद्धि के साथ-साथ बड़ी संख्या में शहरों का प्रसार होने लगा और इससे बड़ी संख्या में मजदूर वर्ग की आवश्यकता उत्पन्न होने लगी। मशीनों और ऊर्जा को अतिशय लागत का अर्थ था कि लघु-उद्योग उत्पादन न तो प्रतियोगात्मक थे और न ही संभव। बाड़ाबंदी अधिनियमों जैसे कारकों के कारण किसानों को भूमि छोड़कर शहरों की ओर आना पड़ा। अत: पहली बार बड़ी संख्या में ऐसे लोग दिखाई दिए जो एक दूसरे के साथ रहने और काम करने के सामान्य जीवन अनुभव की भागीदारी कर रहे थे।

ग) **पूंजीवाद** : पूंजीवाद के दौरान लोगों के इस नवीन समूह ने खुद को परिभाषित करना प्रारंभ कर दिया। इस नूतन वर्ग चेतना के उद्भव को प्रारंभ करने वाली प्रक्रिया थी उन लोगों का संकेन्द्रण जो एकसमान भौगोलिक क्षेत्रों में घोर निर्धनता की स्थितियों में एकसाथ काम कर रहे थे। मजदूरों को यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ गई कि उनके पड़ोसी और सहकर्मी भूख से पीड़ित हो रहे थे और उत्पादन के माध्यमों के स्वामी समस्त बेशी उत्पादन का लाभ उठा रहे थे। इस संबंध में यह उल्लेख करना जरूरी है कि पूंजीवाद ने निर्दयी शक्ति द्वारा अपना रखरखाव किया जिसका सर्वोत्तम उदाहरण है 'पेरिस कम्यून' को परास्त करना और ब्रिटेन में 'चार्टिस्टों' पर किए गए हमले।

घ) **विश्व युद्ध के दौरान** : वाम दलों द्वारा आगामी युद्ध की विश्व भर में सन 1912 में व्यापक रूप से भर्त्सना किए जाने और लाखों मजदूरों द्वारा न लड़ने की शपथ लिए जाने के बावजूद, अंत में सभी वाम दल अपने शासक वर्ग के साथ हो लिए। युद्ध का पूर्णतया विरोध करने वाला मजदूर वर्ग का एक छोटा भाग ही था जिसमें रूस में बोलशेविक और अराजकतावादी आंदोलन करने वाले बड़े हिस्से में विशिष्ट रूप से शामिल थे। अधिकांश 'समाजवादी दल' जो यूरोप के इर्दगिर्द होने वाले संघर्षों से विकसित हुए थे ने अपने सदस्यों को दब्बूपन के साथ बलिबेदी की ओर अग्रसर कर दिया। इस युद्ध के फलस्वरूप क्रांति हुई और भारी विद्रोह हुआ। वास्तव में यह युद्ध जर्मनी में मजदूरों के उठ खड़े होने पर समाप्त होने वाला था। ऐसा पहली बार हुआ था कि पूरे यूरोप में समाजवादियों ने अधिकांश मामलों में शासक वर्ग के साथ काम करने का चयन किया।

बॉक्स 14.01 स्टालिनवाद

स्टालिवाद के अंतर्गत यूएसएसआर (सोवियत रूस) में सामाजिक नियंत्रण की नयी विधि विकसित हुई। इस विधि में शक्ति (सत्ता) व्यक्तिगत मालिकों को सौंपने की बजाय 'शासक (सरकार)' के हाथों में देने पर विश्वास किया जाता था। इसके मजदूर वर्ग पर महत्वपूर्ण प्रभाव होते थे। पहला तो यह कि मजदूर वर्ग को यह आश्वस्ति होती थी कि वे समाजवाद के अंतर्गत रह रहे है। दूसरा, यह तथ्य कि जीवन स्तर का निर्धारण करने वाली वस्तु थी संसाधनों तक पहुंच न कि संपत्ति जो स्वत:, सामूहिक समाधानों की बजाय व्यक्तिगत समाधान करती है। इसके अतिरिक्त, जहां भी सामूहिक कार्य हुए, उनको बेदर्दी से कुचला गया ताकि सामूहिक कार्य की सफलता की परंपरा का विकास न हो सके। मजदूर वर्ग का प्रारंभिक सुखबोध तब जल्दी ही निराशा में बदल गया जब साम्यवादी दल ने राज्य नौकरशाही के साथ मिलकर खुद को मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि बना लिया।

च) **युद्ध के पश्चात् से 70 के दशक तक** : इस अवधि में पूरे विश्व में औद्योगीकरण और मालिकों की संख्या में बहुत तेजी से बढ़ोतरी हुई। मजदूर वर्ग का जीवन स्तर अत्यंत ऊपर उठ गया। 60 के दशक के उत्तरार्ध में यह विचार प्रचलित हुआ कि वर्ग संघर्ष की राजनीति समाप्त हो गई है। पूंजीवाद जिस आवधिक मंदी से गुजरा उसका उपाय ढूंढ लिया गया और यह स्थिति सभी के शुभ थी। इस अवधि में मजदूर वर्ग सस्ते जन परिवहन, सस्ते घरों, और समाजों के वैयक्तिक परिवारों से युक्त निकाय में विघटित हो जाने से भी विखंडित हो गया था। अब मजदूर अपने सहकर्मियों के साथ उन बड़ी आवासीय बस्तियों में नहीं रहते थे जहाँ सामाजिक संसाधन कम होते थे।

बॉक्स 14.02: जन संचार की भूमिका

70 के दशक के दौरान सामाजिक नियंत्रण की एक नयी विधि भी उपलब्ध हुई जिसके स्वामी पूंजीवादी थे। यह विधि थी जन संचार जैसे टेलीविजन का प्रयोग। पूंजीवादी विचारधाराओं और अच्छाइयों द्वारा निरंतर किए जाने वाले आघात के कारण यह मजदूर वर्ग के विखंडन में और अधिक सहायक हुआ। तथापि, दूसरी ओर टेलीविजन ने वर्ग संघर्ष के नवीन रूपों के विकास को पोषित करने में भी सहायता की। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पूंजीवाद की त्रुटियां हर किसी के घरों में प्रकाशित हो रही थी। यह मजदूर वर्ग में एक नयी चेतना का भाव विकसित करने में सहायक हुआ जो केवल पार-क्षेत्रीय ही नहीं बल्कि पार-राष्ट्रीय स्वरूप का भी था। इस प्रकार दुनियां के एक कोने में हुए पूंजीवाद के अत्याचारों ने विश्व के दूसरे कोने में विद्रोह की चिंगारी उत्पन्न की।

MAADHYAM IAS

छ) **80 का दशक** : 70 के दशक के अंत में जब जीवन स्तर में बढ़ोतरी की गति धीमी होने लगी और विपरीत दिशा में दौड़ने लगी तो पूरे विश्व में औद्योगिक असंतोष फैल गया। युद्ध के बाद का उछाल समाप्त हो गया और पूंजीवाद द्वारा मजदूर वर्ग को शांति के बदले में जो छूट प्रदान की गई थीं अब अचानक इन्हें प्रदान करना उसके लिए असंभव हो गया। पूंजीवाद के लगातार बढ़ते बहु-राष्ट्रीय स्वरूप के पूरे विश्व के मजदूर वर्ग की संरचना पर गहरे प्रभाव पड़ने लगे। बड़े पैमाने वाले, कौशल रहित और अर्धकौशल युक्त भारी इंजीनियरी, खनन और संयोजन संयंत्र पहली दुनिया के देशों में बंद होने लगे या तीसरी दुनिया के सस्ते देशों में स्थानांतरित होने लगे। विनिर्माण में लाभ की दर इस हद तक गिरने लगी कि विनिर्माण इकाई में निवेश किए गए धन की अपेक्षा सट्टे द्वारा बनाया गया धन काफी अधिक था। कम होती उपरी लागतों के नाम पर बड़े पैमाने पर श्रमिकों को निकाल दिया गया। यह बड़े पैमाने पर श्रमिकों और समुदायों की संख्या में कमी लाने का सर्वोत्तम उदाहरण था जिसके कारण मजदूर वर्ग का और अधिक विखंडन हुआ। इस काल में 'सफेद पोश' नौकरियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई जिसने नये मध्यम वर्ग को जन्म दिया। इस बढ़ते हुए नए मध्यम वर्ग जिसमें सट्टेदार और दुकानदार शामिल थे

को सेवा प्रदान करने की आवश्यकता के कारण सेवा क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई। स्थायी रोजगार में भी बहुत कमी आई, अत: स्वैच्छिक सेक्टर नामक रोजगार का एक नया क्षेत्र उभरा। अधिकांश लुप्त नौकरियां पूर्णकालिक और संघवादी थीं और जो नयी बनीं थीं वे अंशकालिक और संघ विरोधी थीं। अंतिम महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि महिला मजदूरों की संख्या में भारी बढ़ोतरी हुई जो अंशत: इदस तथ्य के कारण था कि अधिकांश नयी नौकरियां अंशकालिक थीं और उनके लिए सामान्यत: कम मजदूरी मिलती थी।

ज) **आज का मजदूर वर्ग** : आज के मजदूर वर्ग का स्वरूप सौ वर्ष पहले के मजदूर वर्ग के स्वरूप से काफी भिन्न है। 80 के दशक के अंतिम वर्षों में वाम दलों का एक बड़ा हिस्सा यह सोचता था कि अब समाजवाद संभव नहीं है। अत: सर्वोत्तम संभव विकल्प यह था कि इंद्रधनुषी गठबंधन का गठन किया जाये जो पूंजीवाद को अतिशयताओं को नियंत्रित करने का प्रयास करेगा।

14.4 मजदूर वर्ग : भारतीय परिदृश्य

भारत की बहु-संरचनात्मक अर्थव्यवस्था है जहां उत्पादन के कई पूर्व-पूंजीवादी संबंध और उत्पादान के पूंजीवादी संबंध एक साथ विद्यमान हैं। तदनुरूप से, यहां विभेदित मजदूर वर्ग संरचना विद्यमान है अर्थात्, उत्पादन के संबंधों के विभन्न प्रकार, बेशी का उपभोग और संचयन मिल कर मजदूर वर्ग के अस्तित्व के विभिन्न रूपों को उत्पन्न करते हैं। स्थनीय स्थितियों के साथ यह सर्व-भारतीय समाज की संरचनात्मक विशेषताओं द्वारा और अधिक संयुक्त हो जाता है। इसलिए मजदूर वर्ग की रचना जाति, जनजाति, नृजातीय मूल और स्त्री तथा पुरुष के बीच श्रम के लिंग आधारित विभाजन और संबंधित पितृसत्ता से प्रभावित होती है। इसका अर्थ है कि आतंरिक संरचनात्मक भिन्नताओं और उत्पादन के संबंधों जिनके द्वारा मजदूर लोग रहे हैं और अभी भी हैं, के बावजूद एक ऐसा वर्ग विद्यमान है जो 'मजदूर वर्ग' कहलाता है। अत: भारत में मजदूर वर्ग की वृद्धि का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण हो जाता है। जब हम दो तथ्यों पर विचार करते हैं तो यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। पहला तो यह कि भारत में 19वीं शताब्दी से पहले श्रमिक तो बहुत थे पर श्रमिक वर्ग नहीं था। दूसरा तथ्य यह कि, औद्योगीकरण के साथ उत्पादन को पूंजीवादी विधि की वृद्धि उपनिवेशी स्वामियों द्वारा आरोपित की गई थी।

14.5 भारत में मजदूर वर्ग का विकास

उत्पादन की पूंजीवादी विधि के उदय के साथ आधुनिक मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। उत्पादन की इस विधि के साथ फैक्टरी जैसे उद्योग प्रारंभ हुए। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उत्पादन की फैक्टरी प्रणाली और मजदूर वर्ग का उदय एक साथ ही हुआ। विलोमत:, फैक्टरी उद्योग के बिना कोई मजदूर वर्ग नहीं हो सकता लेकिन केवल मजदूर हो सकते हैं।

पारम्परिक भारतीय अर्थव्यवस्था और उपनिवेशकों से मुकाबला

जैसा ऊपर बताया जा चुका हे, 19वीं शताब्दी मध्य तक, मजदूरों की संख्या तो काफी थी लेकिन कोई मजदूर वर्ग नहीं था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप मार्क्स के वर्णनानुसार इस प्रकार था "...लघु और अत्यंत प्राचीन भारतीय समुदाय.... जो सामान्य भूमि में अधिपत्य पर कृषि और हस्तशिल्प के सम्मिश्रण पर और श्रम के बिना मिलावट वाले विभाजन पर आधारित है, जो वहाँ काम करता है जहाँ भी कोई नया समुदाय प्रारंभ होता है। उपनिवेशी शासन और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शोषण ने इन पारम्परिक और आत्म-निर्भर समाज की उत्पादन प्रणाली को पूरी तरह बरबाद कर दिया। यद्यपि वह प्रक्रिया 1757 में प्लासी के युद्ध में विजय के साथ प्रारंभ थी परंतु यह ब्रिटिश राज के बलात प्रारंभ के साथ तीव्र हुई और पुरानी आर्थिक प्रणाली और श्रम का विभाजन पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया। पुरानी द्वारा उत्पन्न अधिशेष उपनिवेशकों के हाथों में आ गया। जिन्होंने भारत की

पूंजी को इंग्लैण्ड निर्यात करने की सीधी लूटमार शुरू कर दी। साथ-साथ, अंग्रेज पूंजीवादियों ने इंग्लैण्ड के औद्योगिक उत्पादनों को भारत में क्रय-विक्रय करने की आवश्यकता अनुभव की। अत: 1813 के बाद से भारत के साथ मुक्त व्यापार के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए ही नहीं बल्कि अन्य ब्रिटिश कंपनियों के लिए भी खुल गए। इसके साथ इंग्लैण्ड में आयातित भारतीय वस्त्र और रेशम उत्पादों की लागत पर 70 से 80 प्रतिशत तक भारी आयात शुल्क भी लागू किया गया। इस सबका संयुक्त परिणाम यह हुआ कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर दुहरी मार पड़ी। अर्थात् केवल वस्त्र उद्योग ही बरबाद नहीं हुआ बल्कि कारीगर भी भूखे मरने के लिए बाध्य हो गए। भारतीय धातु कर्म उद्योग और अन्य उद्योगों की भी यही हालत थी। इसके अतिरिक्त, भारतीय कच्चा माल ब्रिटिश विनिर्माण उद्योग के लिए अनिवार्य वस्तु था। अत: उपनिवेशकों ने ऐसी व्यापार नीति अपनाई जिसमें उन्होंने भारतीय बाजार को केवल ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादों से ही नहीं भर दिया बल्कि इंग्लैण्ड को भारतीय कच्चे माल और कृषिक उत्पादों की निरंतर आपूर्ति जारी रखी। एक शब्द में, सुकोमल सेन (1997) ने इस स्थिति का वर्णन यह कह कर किया है, कि भारत पूंजीवाद ब्रिटेन हेतु कृषिक और कच्चे माल सहायक के रूप में परिवर्तित हो गया और साथ ही साथ शोषण की सामंती विधियां भी बनी रहीं। इस प्रक्रिया का परिणाम यह था कि "भारतीय कारीगर अपने अर्वाचीन व्यवसाय से जबरन बाहर कर दिये गए। पारंपरिक अर्थव्यवस्था में औद्योगिक और कृषिक उत्पादनों की एकता का जो प्राचीन, अद्भुत संयोजन तत्व निहित था वह ध्वस्त हो गया और भारतीय समाज की संरचना विखंडित हो गई।

निर्माण काल

भारत में ब्रिटिश राज के जबरन अतिक्रमण ने प्राचीन अर्थव्यवस्था का सर्वनाश तो किया लेकिन आधुनिक पूंजी अर्थव्यवस्था की सामर्थ्य द्वारा इसको प्रतिरोपित नहीं किया। इसलिए पारम्परिक कुटीर उद्योग और जुलाहे जो शताब्दियों से अपने कौशलों के लिए प्रसिद्ध थे अपनी जीविका के साधनों से वंचित कर दिए गए और पूरे देश में वे अपनी जड़ों से उखाड़ दिए गए। पुरानी दुनिया के इस अभाव में जिसमें कुछ भी नवीन लाभ नहीं मिले थे लोगों को अत्यंत निर्बल कर दिया। गांवों और शहरों दोनों के हजारों, लाखों कारीगर, शिल्पी, बुनकर, जुलाहे, कुम्हार, और लौहारों के पास खेती करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। इससे भूमि पर घातक दबाव पड़ा। इसके बाद रेल के प्रारंभ होने और कुछ उद्योगों की छुटफुट वृद्धि के साथ ऐसे लोगों का एक समुदाय जो भारतीय समाज के निम्नतम पायदान पर था और जो ग्राम्य जीवन में बेहद तकलीफों और दुर्बलताओं का सामना कर रहा था इन आधुनिक उद्योगों में मजदूरों के रूप में शामिल हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि फैक्टरी मजदूरों की पहली पीढ़ी ग्रामीण लोगों के इस संकटग्रस्त और बेदखल समुदाय से आई थी। बूचनन के अनुसार "फैक्टरी में काम करने वाला वर्ग निश्चित रूप से कृषक जनसमुदाय के क्षुधाग्रस्त समूह से आया था, वस्तुत: लगभग पूरा ही मजदूर वर्ग क्षुधाग्रस्त चौथाई या आठवें हिस्से से था"। 1980 के फैक्टरी कमीशन की रिपोर्ट है कि जूट, कपास, हड्डी और कागज मिलों, चीनी मिलों और बंदूक तथा कारतूस फैक्टरी में काम करने वाले अधिकांश फैक्टरी मजदूर बागड़ी, तेली, मोची, कैबर्त, बैरागी और संकर जैसी नीची जातियों से थे। वे तंती और जुलाहों की जातियों से भी थे। कोयला खानों में काम करने वाले मजदूर जो एकमात्र बड़े समूह बौरी से थे जो एक बहुत नीची सामाजिक कोटि की जाति है जिनकी बहुसंख्या भूमिहीन मजदूरों या रोयटों (royts) के अधीन थी। कोयला खानों में काम करने वाला दूसरा सबसे बड़ा समूह संथालों का था। यह एक जनजाति है, जो असभ्य कृषक थे। खान मजदूरों का शेष भाग ऐसे ही वर्गों से भर्ती किया गया था। विस्थापित मजदूर और गांवों के नीच जाति के लोग भी खानों में काम पर लगाए थे। कोयला खानों में प्रवासी मजदूरों में पासी, लोधा, कुर्मी, अहीर, कोरी, चमार और मुसलमानों की नीची जातियों के लोग भी शामिल थे।

तथापि, अन्य अध्ययनों से संकेत मिलता है कि गांवों से मजदूरों के प्रवास का स्वरूप अलग था। प्रारंभिक मजदूर वर्ग सबसे निर्धन नहीं था। बूचनन के विचार कटौती पर आधारित थे।

मोनिस और चंदावरकर के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि निम्नतम जातियों ने उद्योगों में काम नहीं किया। खान मजदूरों के बारे में कल्पना राय द्वारा किए गए अध्ययन से भी पता चलता है कि ऐसा ही था। इसके दो कारण थे। पहला तो यह एक मजदूरी (वेतन) बहुत कम थी और मजदूरों के लिए यह संभव नहीं था कि वे गांव से अपने परिवार के साथ शहर के लिए प्रवास कर जाएं और फैक्टरियों में काम करें। उसे वेतन पर परिवार का पालन कर पाना कठिन था। अत: मोनिस और राम दोनों के अनुसार प्रारंभ में उन मध्यम जातियों ने ही प्रवास किया–जिनके पास थोड़ी बहुत भूमि थी। वे मजदूर अपने परिवारों को साथ नहीं लाए थे और भूमि से प्राप्त होने वाली पारिवारिक आय/निर्वाह को आपूर्ति के लिए कुछ धनराशि परिवार हेतु भेजा करते थे। दलित/नीची जातियों ने प्रवास नहीं किया, अथवा ये प्रवास नहीं कर पाए क्योंकि गांव में सफाई आदि की गतिविधियों के लिए उनकी जरूरत थी। दूसरी बात यह थी कि भूमिहीन होने के कारण, वे उन अल्प वेतनों पर गुजारा नहीं कर सकते थे। नीची जातियों के बाद में (30-40 वर्षों बाद) दो कारणों से प्रवास किया। फैक्टरियों (जूट ओर कपास) में मजदूरों की कमी होने लगी अत: वेतन में बढ़ोतरी की गई। दूसरा कारण यह था कि ग्राम समुदाय पर ब्रिटिश सरकार से यह दबाव पड़ने लगा था कि अछूतों को गांव से बाहर प्रवास करने की अनुमति दी जाए।

इस इकाई में पहले व्यक्त किए गए विचार बुचमन के और मेक्स वेबर के भी हैं जिसने लिखा है कि भारत में औद्योगीकरण ने नीची जातियों को और समाज के तहछट को आकर्षित किया।

ii) मजदूर वर्ग का उदय

आधुनिक फैक्टरी उद्योगों की वृद्धि के साथ फैक्टरी मजदूरों ने धीरे-धीरे खुद को एक विशिष्ट श्रेणी में आकार प्रदान किया। शहरों में औद्योगिक उद्यम के पास मजदूर वर्ग का संकेन्द्रण मजदूरों को एक वर्ग के रूप में रचना करने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण कारक था। फैक्टरियों में एकसमान स्थितियों और रहन-सहन की सामान्य स्थितियों के कारण मजदूर एकसमान ही सोचने समझने लगे (अर्थात् उनके अनुभव समान थे और हित भी साझे थे) और वे एक ही तरीके से प्रतिक्रिया करते थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में मजदूरों के वर्ग के रूप में निर्माण और वृद्धि के अंतर्निहित मुख्य कारकों में यूरोप के उन्नत देशों से समानताएं मौजूद थी। अत:, फैक्टरियों के मालिकों/पूंजीवादियों द्वारा शोषण किए जाने की चेतना 1888 में तभी प्रकट होने लगी थी जब श्यामनगर जूट मिल के मजदूरों ने प्रबंधक श्री किडी पर हमला किया। इसका अर्थ है कि प्रारंभिक अवस्था में शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रियाएं होने लगीं जो उपद्रव आक्रमण, हमलों और शारीरिक हिंसा के रूप में व्यक्त हुई।

विद्रोह के इन स्वरूपों के साथ-साथ मजदूर वर्ग के संघर्ष के अन्य स्वरूप भी थे। मजदूर वर्ग की ठेठ क्रियाएं जैसे लंबे कार्य घंटों, वेतन कटौती, पर्यवेक्षकों के उपद्रव आदि के विरुद्ध हड़तालों की संख्या बढ़ने लगी और सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। 1879/80 में ही चम्पदानी जूट मिल में प्राधिकारियों द्वारा एकल पाली की नई प्रणाली जो मजदूरों में लोकप्रिय नहीं थी को प्रारंभ करने के प्रयास के विरुद्ध हड़ताल किए जाने का खतरा था। संभवत: इसी हड़ताल की आशंका के कारण इस प्रस्तावित प्रणाली का परित्याग कर दिया गया। परंतु, भारत में मजदूरों में वर्ग रचना की प्रक्रिया में उनके यूरोपी प्रतिपक्षों के विपरीत मूलभूत अंतर थे। भारतीय मजदूर वर्ग की वृद्धि पर इसके व्यापक परिणाम हुए। ये अंतर निम्नलिखित थे :

क) यद्यपि यूरोप में भी कारीगरों और शिल्पियों को उनके व्यवसायों से वंचित कर दिया गया था परंतु उनको शहरों से बाहर जाने और गांवों की अर्थव्यवस्था में भार बढ़ाने के लिए बाध्य नहीं किया गया था। वे जैसे ही अपने पुराने व्यवसायों से निकाले गए उन्हें बड़े उद्योगों में रोजगार मिल गए। भारत में पारंपरिक हथकरघा और कुटीर उद्योग के नष्ट हो जाने के बाद, इसकी जगह आधुनिक उद्योग नहीं प्रारंभ हुए। रोजगार वंचित कारीगरों

और शिल्पकारों को ग्राम की अर्थव्यवस्था पर निर्भर होने के लिए बाध्य होना पड़ा और उन्हें भूमिहीन किसानों और कृषि मजदूरों के रूप में जीविका अर्जन करना पड़ा।

ख) पारंपरिक कुटीर उद्योग के विध्वंस और आधुनिक उद्योगों द्वारा इसका आंशिक रूप से प्रतिस्थापन किए जाने के बीच दो से तीन पीढ़ियों का अंतराल था। अपने-अपने रोजगारों से बेदखल कर दिए गए कारीगर और शिल्पकारी अपने पुराने तकनीकी कौशलों को खो चुके थे और जब उन्होंने आधुनिक उद्योगों में काम करना प्रारंभ किया जब उन्हें प्रारंभिक कौशलों की कोई जानकारी नहीं थी।

ग) कृषक जीवन के साथ अपने दीर्घ और घनिष्ठ संबंध के बाद जब ये मजदूर आधुनिक उद्योगों में कार्यरत हुए और आधुनिक मजदूरों में परिवर्तित हुए तब वे कृषक जीवन की प्रथाओं, आदतों, विभिन्न अंधविश्वासों और वसीयत (विरासत) संपदा के पूरे उत्तराधिकार के साथ आए थे। इन लोगों को ऐसा कोई अवसर नहीं मिला था जिससे वे जातिवाद, प्रजातिवाद और भारतीय सामाजिक जीवन के धार्मिक अंधविश्वासों और मध्यकालीन विचारों के हानिकर प्रभावों से बाहर निकल सकें। वे भारतीय मजदूर वर्ग के रूप में जन्मे थे और दकियानूसी विचारों और पिछड़ी विचारधाराओं से पूरी तरह ओतप्रोत थे। तथापि, उनके कुछ यूरोपीय प्रतिरूपों में भी ये प्रवृतियां व्याप्त थी जैसे ब्रिटिश मजदूर भी ऐसी ही समस्याओं से पीड़ित थे।

भारतीय मजदूरों के जन्म से संलग्न इन विलक्षणताओं ने उनके आधुनिक दृष्टिकोण और वर्ग चेतना के विकास में बाधक तत्वों का काम किया। वस्तुत: ये केवल भारतीय मजदूरों की ही विशेषताएं नहीं हैं बल्कि सभी उपनिवेशों और उपनिवेशों के मजदूर वर्गों की आम विशेषताएं हैं।

iii) संगठित राष्ट्रीय आंदोलन और मजदूर वर्ग को संस्थापन (एकत्रीकरण) 19वीं शताब्दी का अंत और 20वीं श्याताब्दी की शुरुआत की विशेषता है। राष्ट्रीय आंदोलन विशेष रूप से बंगाल और महाराष्ट्र पहले से ही ऐसा विकसित रूप ग्रहण कर चुके थे जिसका पूरे देश की बाद के राष्ट्रीय जागरुकता पर अत्यधिक प्रभाव था। 1905 में बंगाल के विभाजन से और इससे जन व्यापक राष्ट्रीय लहर उमड़ी। इस राजनीतिक विकास ने भारतीय मजदूर वर्ग के लिए अनुकूल स्थिति और अपने आर्थिक संघर्षों के लिए अग्रसर होने और उन्हें आगे तक बढ़ाने के रूप में काम किया। शताब्दी की शुरुआत से लेकर प्रथम विश्व युद्ध के प्रारंभ होने की अवधि में मजदूरों के व्यापक और दृढ़ प्रतिज्ञ संघर्ष उल्लेखनीय हैं। न केवल आर्थिक संघर्षों में बल्कि राजनीतिक संघर्षों में भी भारतीय मजदूर वर्ग ने उपलब्धि हासिल की। इन्हीं संघर्षों के फलस्वरूप देश के प्रथम मजदूर संघ की नींव स्थापित हुई। इसके अतिरिक्त मजदूर वर्ग की संख्या में सहवर्ती वृद्धि के साथ औद्योगीकरणों में प्रगति भी इस बदलती शताब्दी की विशेषता रही।

बॉक्स 14.03 : मजदूर संघ

नियोक्ताओं और राज्य की सामूहिक शक्ति से स्वंय को बचाने के लिए मजदूर वर्ग ने स्वयं को मजदूर संघों में संगठित किया ताकि वे एकता के जरिए अपनी मोलतोल की शक्ति के अभिवृद्ध कर सकें। अत: मजदूर वर्ग के स्वत:प्रेरित प्रयासों से मजदूर संघों का आविर्भाव हुआ। वे ऐसे संगठन नहीं थे जो कुछ सैद्धान्तिक रचना के आधार पर पूर्वनियोजित थे। भारत में संगठनों का मजदूर संघ में क्रिस्टलीकरण प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुआ। (इग्नू 2004, बीएलडी-102 कार्यकर्ता संगठनों का विकास 1, इकाई 1 और 2)

प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्वसंध्या पर भारत में पूंजीवादी विकास की गति बढ़ी। इस दौरान संयुक्त स्टाक कम्पनी की संख्या में वृद्धि हुई अर्थात 1900 में संयुक्त स्टाक फर्मों की संख्या 1360 थी जो 1907 में बढ़कर 2166 हो गई। इस प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत में इसमें वृद्धि हुई जब पंजीकृत फमों की संख्या 2553 तक जा पहुंची। हालांकि युद्ध शुरू हो जाने से भारत का

घोर औपनिवेशिक शोषण हुआ। युद्ध की जरूरतों के लिए सरकार ने व्यापक रूप से देश की औद्योगिक क्षमता का प्रयोग किया। इन सभी में भारत बुर्जआ (मध्य वर्ग) के समृद्ध होने के अवसर मिले। युद्ध के दौरान भारतीय बुर्जआ को होने वाले मुख्य लाभ के प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियों से कम प्रतिस्पर्धा, स्वदेशी माल के लिए देश में तथा देश से बाहर एक बड़ा बाजार युद्ध संविदाएं (ठेके) तुलनात्मक रूप से सस्ती कच्ची कृषि सामग्री, अपेक्षाकृत कम वास्तविक मजदूरी और विनिर्मित सामान के उच्चतर दाम। लेकिन श्रमिक वर्ग के लिए यह समय मुश्किल का था। आकाश को छूती कीमतों ने श्रमिक वर्ग के रहन-सहन के स्तरों को गिरा दिया। विनिर्मित सामान की कीमतें बढ़ने से एक और ग्रामीण क्षेत्र प्रभावित हुए लेकिन दूसरी ओर शहरों के उच्च खास कीमतों का सामना करना पड़ा। औद्योगीकरण के प्रसार से फैक्टरी मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। 1919 में, प्रशासनिक इकाई (देश) के बड़े उद्योगों में 13,67,000 मजदूर नियुक्त किए गए। इनमें से 306,300 सूत की कताई और बुनाई की 297 मिलों में नौकरी में लगे हुए थे; 140,800 रूई से बिनौला (ओराई) कारखाने और 276,100 पटसन (जूट) कारखानों और प्रेसों में नियुक्त थे। रेलवे दुकान में 126,100 कार्यकर्ता नौकरी प्राप्त थे।

अक्तूबर समाजवादी क्रांति ओर उत्तरवर्ती अतिव्याप्त जनसमूह और श्रमिक वर्ग के संघर्ष ने पृष्ठभूमि निर्मित की जिसके अन्तर्गत भारतीय श्रमिक वर्ग के पहले संगठन अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (एआईटीयूसी-इंटक) का आविर्भाव हुआ। दूसरे शब्दों में, प्रथम विश्व युद्ध के अंत, अक्तूबर क्रांति की सफलता और पूंजीवाद के प्रथम सामान्य संकट ने भारत के साम्राज्यवादी-विरोधी संघर्ष को नई सुदृढ़ता (शक्ति) प्रदान की।

श्रमिक वर्ग या साम्राज्य विरोधी संघर्ष में अपना स्थान बना पाने में असफल नहीं रहा। इस संबंध में यह जानना महत्वपूर्ण है कि 1905-08 के दौरान राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि भारतीय श्रमिक वर्ग द्वारा पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध युद्धोत्तर अवधि की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे में प्रारंभ किए गए वर्ग संघर्ष का अभूतपूर्व (नवीन) आयाम है जिसके मजदूरों के वर्ग-जागृति के दृष्टिकोण से ज्यादा महत्व मिला। तब उचित समय में भारतीय श्रमिक वर्ग के केन्द्रीय वर्ग संगठन का उद्भव जब राष्ट्रीय राजनीतिक जागृति अपनी पराकाष्ठा पर थी और वे वर्ग के रूप जागरुक (सचेत) थे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 14.04: ए आई टी यू सी का गठन

अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (एआईटीयूसी) भारत में मजदूर संघों का प्रथम राष्ट्रीय महासंघ है जिसका गठन 1920 में हुआ। यह श्रम से जुड़े अनेकों व्यक्तियों के इस बोध का परिणाम थी कि सम्पूर्ण भारत के मजदूर संघर्ष के कार्य में तालमेल के लिए श्रम के एक केन्द्रीय संगठन की जरूरत है। बाल गांगाधर तिलक, एन.एम. जोशी, बी.जी. वाडिया, दीवान चमनलाल, लाला लाजपत राय, जोसेफ बापतिस्ता और कई अन्य इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने निर्माण के इसके लिए उत्प्रेरक का काम किया।

लाला लाजपत राय एआईटीयूसी के प्रथम अध्यक्ष और जोसेफ बायतिस्ता इसके उपाध्यक्ष बने। इस दौरान मोती लाल नेहरू और विट्ठलाई पटेल भी उपस्थित थे। इटक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से भी काफी समर्थन प्राप्त था। लगभग 107 संघ संबंद्ध या इसके प्रति सहानुभूति पूर्व दृष्टिकोण रखते थे। इन 64 संघों के 140,854 सदस्य थे। इसमें उल्लेखनीय बात थी अहमदाबाद के गांधीवादी मजदूर संघदि टेक्सटाइल श्रम संघ की अनुपस्थिति। यह एक आशाजनक शुरुआत थी और 1929 तक जब तक यह इसका विघटन नहीं हुआ तब निरंतर बढ़ती रहे। (उपाध्याय, एस.बी. 2004 भारत के मजदूर संघों का विकास, एन्ट, बीएलसी 102, असंगठित के संगठित इटका।)

भारतीय उद्योग और अर्थव्यवस्था में व्यापारिक मंदी 1922 में शुरू हो ही चुकी थी और इसके बाद यह निरंतर गहन होती गई। 1929 में विश्व आर्थिक मंदी के प्रभाव और विश्व पूंजीवाद

के सामान्य संकट से सचमुच भारतीय अर्थव्यवस्था को धक्का लगा। भले ही प्रथम विश्व युद्ध ने कुछ अस्थायी फायदों ने इसे कई उद्योग और प्रसार के लिए कई अवसर प्रदान किए और कुछ उद्योगों की सीमित वृद्धि हुई लेकिन सही मायने में भारत के औद्योगीकरण का स्वरूप ऐसा था जिसका कोई मूलभूत दृढ़ीकरण (संस्थापन) नहीं था और जो अव्यवस्थित व गलत ढंग से फैल रहा था। मिल मालिकों ने मजदूरों की मजदूरी कम करने का प्रयास किया। यह विशेष तौर पर भारतीय मजदूर वर्ग का दुर्भाग्य है कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के बीच की गहरी प्रतिद्वन्द्विता का शिकार अन्ततः मजदूर वर्ग ही बनता है। लेकिन मजदूर भीषण आक्रमण के आगे झुके नहीं उन्होंने इसका विरोध किया। अपनी स्थिति के बचाव के लिए भारतीय मजदूर वर्ग को कटु संघर्ष के राह पर अग्रसर होना पड़ा। आर्थिक आक्रमण से मजदूरों के रहन-सहन का स्तर गिर गया था। बम्बई श्रम कार्यालय द्वारा 1921-23 में मजदूर वर्ग बना पर की गई जांच पड़ताल दर्शाती है कि बम्बई मजदूरों द्वारा प्रतिदिन खाए जाने वाले भोजन की मात्रा जेल के कैदियों को उपलब्ध होने वाले भोजन से भी कम थी। मद्रास श्रम विभाग द्वारा की गई जांच पड़ताल से भी ऐसा ही शर्मनाक स्थिति सामने आई।

वर्ष 1926-29 मजदूर वर्ग के संघर्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस अवस्था में भारतीय साम्यवादी आंदोलन ने दृढ़ बुनियाद और प्रगति के लिए प्रयास किया। मजदूर वर्ग आन्दोलन पर साम्यवादी प्रभाव अत्यंत सुदृढ़ था। इस वर्षों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुई। हालांकि सरकार ने इन हड़तालों के साम्यवादी षडयंत्रों का उपनाम देने का प्रयास किया, वे कई मामलों में साम्यवादियों के नेतृत्व वाले ये संघर्ष वस्तुतः कुचली गई समस्याओं वाले पीड़ित मजदूर वर्ग की धीरे-धीरे खोलते हुए असंतोष का तीखी (प्रखर) अभिव्यक्ति थी। प्रखर होते हुए संघर्षों ने साथ-साथ मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण के और अधिक व्यापक करने का काम किया, जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों परं अपनी गतिविधियों के स्वरूप के कारण सीमित था। इसकी अनुक्रिया में सरकार ने उन्मुक्त कठोर (निर्णयपूर्ण) उपायों इस मजदूर वर्ग के आंदोलन के युद्धप्रिय वर्ग द्वारा उखाड़ने का प्रयास किया। तेजी से फैलते हुए मजदूर-वर्ग आंदोलन के सुरक्षित रूप से नियंत्रित करने के लिए एक ओर वे 'मजदूर संघ अधिनियम 1926' लाए और दूसरी ओर मजदूरों के दमनकारी उद्देश्य (मनसूबे) को कसने के लिए श्रम विवाद अधिनियम और 'जन-सुरक्षा' अधिनियम पारित किया। यहाँ तक कि सरकार ने उनके विरुद्ध जनता की राय को उकसाने का प्रयास भी किया।

1931-36 का विश्व आर्थिक संकट सारे आर्थिक संकट का सबसे ऐसा गंभीर और विनाशकारी संकट था, जिसका सामना पूंजीवाद ने शायद ही कभी किया हो। इसने अर्थव्यवस्था, राजनीतिक नींव और बुर्जआ वर्ग की विचारधारा को बिखेर कर रख दिया और इसका समग्र प्रयास यह रहा कि इसने आगे पूंजीवाद के सामान्य संकट को और अधिक गहरा दिया। भारत में इस संकट का प्रभाव ज्यादा घातक था। भरतीय अर्थव्यवस्था में जब जहां 80% लोग कृषि पर आश्रित थे वे कृषि मूल्यों में गिरावट के कारण वियुक्ति बिंदु (breaking point) अर्थात् टूटने की कगार पर आ गए। कृषक-वर्ग की दुर्दशा कल्पनातीत थी, उन्हीं क्रय-शक्ति उनकी/इनती कम नहीं हुई की जितनी इस समय हो गई। सभी उद्योगों में भरती मात्रा में छंटनी की गई और मजदूरी में गिरावट आयी। दूसरे शब्दों में सभी श्रेणियों के कार्यकर्ता इससे नुकसान हुआ। इसी दौरान विश्व आर्थिक संकट के विरुद्ध कड़ा प्रतिरोध की तैयारी हुई और मजदूर वर्ग पर इसके प्रभाव प्रबल थे। उस समय व्याप्त संगठनात्मक फूट के बावजूद मजदूर वर्ग में आर्थिक संघर्ष आंदोलित हुआ। हालांकि तत्कालीन साम्राज्यवादी विरोधी आंदोलन में भी मजदूर वर्ग की बड़े पैमाने पर सहभागिता के कारण संघर्ष के राजनीतिक आयाम के आर्थिक संघर्ष के मुकाबले ज्यादा महत्व मिला।

3 सिंतबर, 1939 में दूसरा विश्व युद्ध प्रारंभ हुआ। भारत के वायसराय ने घोषणा की कि भारत युद्ध के लिए तैयार है। भारतीय अर्थव्यवस्था और विशेष रूप से मजदूर वर्ग पर इसका विध्वंसकारी प्रभाव पड़ा। औपनिवेशिक सरकार ने अर्थव्यवस्था को नया रुख प्रदान किया जिससे औद्योगिक इकाइयों ने दो से तीन पारी में काम करने की शुरुआत की और अवकाश सुविधाओं

में कटौती की गई। यह सब इंग्लैंड की युद्ध संबंधी जरूरतों के मद्देनजर किया गया। जहाँ तक मजदूरों का संबंध था युद्ध पूर्व-अवधि में उनकी आर्थिक स्थितियां दयनीय थीं। और इस नए युद्ध ने उस स्थिति को और बदतर बना दिया। इसका कारण समूचे उद्योग में मजदूरी दरों में तीव्रता से गिरावट। हालांकि 1936 से मजदूरी की दर की प्रवृत्तियां पूर्व स्थिति की ओर लौटी लेकिन कीमतों में आसाधारण रूप से बढ़ोतरी से मजदूरों में वृद्धि की क्षतिपूर्ति नहीं हुई बल्कि सही मायनों में मजदूरों की मजदूरियां कम हो गई। ऐसी स्थिति में भारत के मजदूर वर्ग को मौजूदा रहन-सहन के स्तर को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष करना पड़ा। मजदूर वर्ग ने बम्बई, कानपुर, कलकत्ता, बंगलौर, जमशेदपुर, धनबाद, झारिया, नागपुर, मद्रास, असम के डिगबोले में सरल भाषा में कहे तो देशभर में हड़ताले की। इसके अलावा, भारत में मजदूर वर्ग की सबसे बड़ी कार्यवादी थी युद्ध-विरोधी हड़ताल जो 2 अक्टूबर 1939 को बम्बई में हुई; जिसके 90,000 मजदूर शामिल हुए। अन्य संघर्षों के साथ यह घटना सूचित करती है कि इस अवधि के दौरान भारतीय मजदूर वर्ग का दृष्टिकोण मात्र आर्थिक मांगों तक ही सीमित नहीं था। बल्कि मजदूर वर्ग से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक निकासों के साथ पूरी तरह कदम मिलाकर चला और राजनीतिक संघर्षों में मुख्य भूमिका निभाई। ऐसी घटना में साम्राज्यवादी सरकार ने मजदूर वर्ग के संघर्ष को रोकने के लिए गंभीर आक्रमण करने के निदेर्श दिए।

फासीवाद की पराजय और द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद जिस भारतीय मजदूर वर्ग का आविर्भाव हुआ वह वर्ग अत्यधिक संगठित, वर्ग-सचेत ओर उपनिवेशवाद के विरुद्ध समझौता न करने वाली शक्ति थी। जिस विश्व लोकतांत्रिक राष्ट्रीय स्वतंत्रता बलों ने जिस लहर का अनुसरण किया उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक उन्नति के लिए अभूतपूर्व जोशीले संघर्ष ने देश को संघर्षरत किया। साथ ही साथ मजदूर वर्ग ने प्रखर आर्थिक संघर्ष भी किए। इसका कारण था कि युद्ध के बाद, युद्ध के समय भर्ती किए गए लोगों की भारी मात्रा में छंटनी की गई और मजदूरी में कटौती की गई। इस सभी के विरुद्ध मजदूर वर्ग ने दृढ़ निश्चय के साथ संघर्ष प्रारंभ किया। वर्ष 1946 में हड़तालों की संख्या (1629) में उल्लेखनीय वृद्धि उग्र विरोध का सूचक था। अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस ने छंटनी बंद करने, न्यूनतम मजदूरी के आठ घंटे, कार, स्वास्थ्य बीमा स्कीम, वृद्धावस्था पेंशन, बेरोजगार भत्ता और अन्य का सामाजिक सुरक्षा की मांग उठाई। इन सभी का दमन करने के लिए, सरकार ने पुलिस फायरिंग (पुलिस गोलाबारी) और अन्य कई दमनकारी कठोर उपायों का सहारा लिया। इसमें कई मजदूरों अपने संघर्ष की मर्यादा के लिए अपने जीवन को दांव पर लगा दिया।

जैसे ही भारत आजाद हुआ देश की राजनीति हवा बदल गई। यह तथ्य विशेष रूप से मजदूर वर्ग पर यह बात खास तौर लागू होती थी। आजादी मिलने तक मजदूर वर्ग का राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष उपनिवेशकारी शासकों के विरुद्ध था। इसके अतिरिक्त, यह एक साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक व्यापक राजनीतिक मोर्चा था जिसमें राष्ट्रीय बुर्जआ से लेकर मजदूर वर्ग हर व्यक्ति एक सामान्य उद्देश्य के लिए एकत्रित हुए। लेकिन आजादी मिलने के साथ एक नयी राजनीतिक गतिशीलता (गति की) प्रारंभ हुई जिसमें सत्ता (शक्ति) पूंजीवाद और मालिक के कब्जे में थी। उनके आर्थिक हित प्रत्यक्षत: मजदूर वर्ग के हितों के विरुद्ध थे। मजदूर वर्ग के संघर्ष के इस उद्देश्य में परिवर्तन दिखाई दिया अर्थात अब उनके सही मायनों में उद्देश्य का पूंजीवादी शासन से समाप्त करके समाजवादी की स्थापना करना। इसे विकासशील वर्ग जागरूकता के लिए पूर्व-शर्त माना गया जिसका अहसास अधिकांश भारतीय मजदूर वर्ग को नहीं था।

भले ही आजादी के समाज से वर्गों में असीम आशाएं और आकांक्षाएं उत्पन्न हुई लेकिन इनके साथ-साथ कीमतों में भारी वृद्धि और मजदूरों की वास्तविक मजदूरी के निरंतर गिरावट भी हुई। इसके अतिरिक्त शासक वर्गों ने हाल ही में स्वतंत्रता प्राप्त देश में पूंजीवाद स्थापित करने की राह प्रशस्त किया। अपने यह मशक्कत करने वाले जनसमूह की अत्यधिक तंगहाली और तकलीफों के कारण हुआ जिसने देश भर के मजदूरों में शक्तिशाली विरोध को जन्म दिया।

भारत में मजदूर वर्ग का ऐसा महत्वपूर्ण इतिहास और विकास दिया गया है कि वर्तमान परिस्थितियों में मजदूर वर्ग के स्वरूप और संरचना की समीक्षा करना उपयुक्त है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि बहु-संख्यात्मक अर्थव्यवस्था और आदिकालीन संबंध के प्रभावों के कारण भारत मजदूर वर्ग के रूप में विविधता (विभिन्नता) विद्यमान हैं। इन भिन्नताओं में सर्वोपरि भिन्नता है। भिन्न-भिन्न मजदूरियां जो मजदूर वर्ग के बीच विभाजनों का आधार भी है। मजदूरी के आधार पर चार प्रकार के मजदूर हैं। पहले वे श्रमिक जो कारखाना क्षेत्र में स्थायी कर्मचारी हैं और जिन्हें परिवार मजदूरी मिलती है। 'परिवार मजदूर' से हमारा अभिप्राय है कि श्रमिक से मिलने वाली मजदूरी इतनी होनी चाहिए कि उससे वह न केवल अपनी बल्कि अपने परिवार के सदस्यों की जरूरतों को पूरा कर सके व उनकी देखरेख कर सके। विस्तृत ब्यौरों के लिए देशों (नाथन, देव, 1987) ऐसे श्रमिक अधिकांशत: सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों और पेट्रो रासायनिक, फार्मास्युटिकल्स, केमिक्लस और इंजीनियरिंग के आधुनिक क्षेत्रों में काम करते हैं। दूसरा, मजदूर वर्ग का एक बड़ा और प्रधान वर्ग है जिससे परिवार मजदूरी नहीं मिलती। इसके अन्तर्गत वे श्रमिक आते है कपास जो जूट कपड़ा उद्योग, चीनी और कागज जैसे थोड़े पुराने उद्योगों में काम करते हैं। यहाँ तक की चाय बागान के स्थायी मजदूर भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि मालिकों ने व्यक्तिगत मजदूर के लिए परिवार मजदूर के मानदंड को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। तीसरा, मजदूर वर्ग वह वर्ग है मजदूरी पैमाने पर सबसे नीचे है। ये ठेके पर काम करने वाला बड़ा जनसमूह है उद्योगों में कभी-कभी आकस्मिक मजदूर के रूप में काम करने वाले मजदूर जिसमें भवन-निर्माण, ईट-निर्माण शामिल है और अन्य आकस्मिक मजदूर है। चौथी श्रेणी के अन्तर्गत वे आते है जो इन सबसे नीचे है वे है मजदूर की आरक्षित समुदाय है जो छुट-पुट व्यापार में छुट-पुट वस्तुओं के उत्पादन में कार्य करते हैं। इसमें फेरी लगाने से लेकर गूदड़ बीनना शामिल है। ये सामान्यत: अनौपचारिक सेक्टर में काम करते है और उत्तर जीविता के लिए पर्याप्त मजदूरी की इच्छा से काम करते हैं। अधिकांश मजदूरों की आजीविका जिन्हें परिवार मजदूरी नहीं मिलती का अभिप्राय है कि या तो मजदूर के अन्य गैर-पूंजीवादी सेक्टर से सहायता अतिरिक्त राशि के रूप में कम मिलता है या मजदूर और उसका परिवार अपनी खपत के न्यूनतम स्तर से भी कम कर देते है। इसका अभिप्राय भी यही है कि प्रति घर में एक से ज्यादा आजीविक अर्जक होता हैं और जैसा कि दास गुप्ता (1986) उल्लेख करते है कि पुरुष और स्त्रियां दोनों की बागान या विनिर्भाव में कार्य करते है। इसी के साथ-साथ वे विविध प्रकार की कृषि गतिविधियों से अपनी आजीविका को भी अभिवृद्ध करते हैं। कृषि गतिविधियों में न केवल खेतीबाड़ी बल्कि मुर्गी पालन और दुग्ध उत्पादन की गतिविधियां शामिल हैं। यहाँ तक कि बागान में मजदूरों को कृषि उत्पादन करने के लिए भूखंड दिए गए। ये अनुपूरक कृषि गतिविधियां है जो इन क्षेत्रों में मजदूरी को कम रखने में मदद करती हैं। इस अर्थ में मजदूरों द्वारा उत्पादन के पूंजीवादी-पूर्व संबंधों के अंतर्गत अनुपूरक गतिविधि पूंजीवादी क्षेत्र के लिए एक भेंट है।

मजदूर वर्ग में केवल मजदूरी में ही विभेद नहीं है बल्कि काम करने की स्थितियों के संदर्भ में भिन्नताएं हैं। बेहतर प्रदत्त श्रमिक की नौकरी-सुरक्षा भी ज्यादा है। हालांकि मजदूरी पैमाने के निचले सोपान वाले मजदूरों को केवल नौकरी-सुरक्षा ही नहीं बल्कि अत्यधिक अतिरिक्त आर्थिक उत्पीड़न और व्यक्तिगत बंधन होते है जिसके कारण नागरिक अधिकारों का अभाव होता है। इसी तरह अल्पार्जक (कम कमाने वाले) मजदूरों के लिए काम करने की स्थितियां उच्च-अर्जक मजदूरों की तुलना में बदतर होती है। इस तरह एक ही बागान या कार्यस्थल पर मजदूरों के दो समूहों के लिए सुरक्षा उपायों में स्पष्ट भिन्नता दृष्टिगत होती है। महिला मजदूरों के संदर्भ में तो स्थिति और बदतर हो जाती है। उदाहरण के लिए, महिलाओं के सुरक्षा कारणों से स्टील संयंत्रों के काम करने की अनुमति नहीं है लेकिन इन्हें उसी स्थान पर ठेके पर या मजदूर के रूप में नियुक्ति की मनाही नहीं है।

सोचिए और कीजिए 14.05

अपने नगर/शहर या गांव की स्थानीय फैक्टरी या कुटीर उद्योग का दौरा करें। उस फैक्टरी में किस प्रकार के मजदूर काम करते है पता लगाइए।

जो संगठित सेक्टर में है उनमें से कम से कम दो मजदूरों से उनकी सामाजिक, आर्थिक और जाति-संबंधी पृष्ठभूमियों के बारे में पूछें। क्या उनके गांवों के साथ संपर्क हैं? क्या वे मजदूर संघ के सदस्य हैं। यदि हां, तब मजदूर संघ से जुड़ने के उनके क्या लाभ हैं।

अब आप इस फैक्टरी में कम से कम ऐसे दो मजदूर चुनिए जो असंगठित सेक्टर से हों। जो प्रश्न आपने संगठित सेक्टर के मजदूरों से पूछे थे वही प्रश्न इन्हीं से पूछिए।

इन्हें इंटरव्यू के आधार पर, 'भारत के कारखानों में संगठित और असंगठित सेक्टर के श्रमिकों की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर दो पृष्ठों की रिपोर्ट लिखें। अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की रिपोर्ट के साथ अपनी रिपोर्ट की तुलना कीजिए।

मजदूरी के आधार पर भारत मजदूर वर्ग के बीच ऐसे प्रमुख विभाजनों से आशा की जाती है कि मजदूरों के बीच बड़े स्तर पर गतिशीलता होगी। इस प्रकार एक मजदूर फर्म में अनियत या अनियमित मजदूर के रूप में काम प्रारंभ करेगा और उसके बाद उसी फर्म में या किसी अन्य फर्म में स्थायी रोजगार के लिए अग्रसर होगा। देशपांडे (1979) ने बम्बई श्रम के अध्ययन में पाया कि इसका विपरीत ही सत्य है। अर्थात् नियमित कर्मचारियों में से लगभग 87 प्रतिशत कर्मचारी जिन्होंने अपनी नौकरी बदली वे शुरुआत से ही नियमित कर्मचारी के रूप में आए थे और केवल 14 प्रतिशत ही ऐसे थे जिन्होंने अनियत मजदूर के रूप में नौकरी प्रारंभ की थी। इस संबंध में हैरिस (1982) जिन्होंने कोयम्बतूर में अध्ययन किया बताया कि "श्रम बाजार के क्षेत्रों के बीच व्यक्ति आसानी से अग्रसर नहीं होते। जिन 826 घरों का सर्वेक्षण किया गया उनमें से मात्र 20 से कम मामले असंगठित क्षेत्र से संगठित क्षेत्रों में आने के थे। असंगठित क्षेत्र में कई के पास फैक्टरी में काम करने के लिए अपेक्षित कौशल अनुभव और शिक्षा थी। लेकिन उनके पास सही संपर्क (जुगाड़) नहीं थे या दूसरे तरीके से कहें तो वे सही सामाजिक नेटवर्क से संबंद्ध नहीं थे।'' इसका अभिप्राय है कि गतिशीलता काफी हद तक भर्ती किए जाने वाले तरीकों पर निर्भर करती है। बम्बई मजदूर का ऊपर वर्णित अध्ययन भले ही गैर सरकारी सेक्टर से फिर भी उसने पाया कि भर्तियां मुख्यत: मित्रों और रिश्तेदारों के जरिए होती हैं। सुबह्मण्यम और पपोला (1973) द्वारा अहमदाबाद के अध्ययन में पाया गया कि 91% नौकरियां दूसरे मजदूरों द्वारा परिचय के माध्यम से सुरक्षित थीं। एक तरह से इससे सुविधावंचित समूहों के लिए उच्च मजदूरी वाले रोजगार पहुंच से बाहर हो जाते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में रिक्त स्थानों का बड़ा हिस्सा भले ही रोजगार केन्द्र द्वारा भरे जाते हैं। लेकिन इसका कदाचित यह अर्थ नहीं है कि अनियत या अन्य सुविधावंचित समूहों का इन तक समान पहुंच होती है।

14.6 भारतीय मजदूर वर्ग की सामाजिक पृष्ठभूमि

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि भारतीय मजदूर वर्ग अलग-अलग (विविध) सामाजिक पृष्ठभूमियों से आए जिसमें आदिकालीन अस्मिताएं जैसे जाति, नृजातीयता धर्म और भाषा की बहुत महत्वपूर्ण भूमिकाएं थीं। हाल ही में नए लोगों के लिए घटकों का महत्व कम तो नहीं हुआ परन्तु वे फिर भी अटल (अनुण्ण विद्यमान) हैं। इस संबंध में अहमदाबाद अध्ययन (1973) सूचित करता है कि जहाँ अन्य मजदूरों द्वारा परिचय के माध्यम से नौकरियां सुरक्षित है वहाँ बाद वाला (परिचय के माध्यम से आया व्यक्ति) 35 प्रतिशत मामले रक्त-संबंध के थे और 44 प्रतिशत उसी जाति के ही थे और 12 प्रतिशत उसी मूल स्थान (जन्म स्थान) के थे। अन्य कई अध्ययन रोजगार प्राप्त करने में सगोत्रता संबंधों की भूमिका को सूचित करते हैं (गोरे 1970)। संगोत्रता बंधन रोजगार सुरक्षित रखने में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं बल्कि ये मजदूरी मान

(पैमाने) में नौकरी नियुक्ति (दिलाने) में भी महत्व रखते हैं। पूर्व. कोटा, मुम्बई, अहमदाबाद और बंगलौर के पांच अध्ययनों में काफी उद्योगों को शामिल किया गया और पाया गया कि 61% मजदूर उच्च जाति के हिन्दू (शर्मा 1970) थें। केरल का अध्ययन में भी यह स्पष्ट हुआ कि प्रमुख पदों पर उच्च जाति के मजदूर ही थे। यह अध्ययन इस तथ्य को सूचित करता है कि अधिक आय वाली नौकरियों में उच्च जातियों का प्रभुत्व था जबकि निम्न आय वाली नौकरियों में दलित/आदिवासी का बाहुल्य है। मध्यम से निन्म स्तर को पदों पर मध्य जाति प्रमुख थी। यहाँ तक कि सार्वजनिक क्षेत्र में पिछड़ी जाति, अनुसूचित जाति और जनजाति का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात में नहीं हैं। इसके अलावा, ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में तृतीय और चतुर्थ श्रेणी की नौकरियों में श्रम को जाति आधारित विभाजन का अनुसरण किया जाता है। इसीलिए सफाई कर्मियों के पद दलित और आदिवासी के लिए आरक्षित होते हैं। कोयला खानों में कोयलाटबों के लादने और धकेलने का कठोर शारीरिक श्रम वाला कार्य केवल दलित और आदिवासी ही करते हैं। स्टील संयंत्रों में कोयला भट्टी और विस्फोट भट्टी के भीषण गर्मी में किया जाने वाला उत्पादन कार्य मुख्यत: आदिवासियों और दलितों द्वारा किया है। जैसा कि देशपांडे (1979) बताते है कि इसका कारण है कि शिक्षा और काश्तकारी जैसी 'श्रम पूर्व बाजार विशेषता'। इसलिए जिसके पास ज्यादा भूमि और शिक्षा होती है वे उच्चतर मजदूर सेक्टर में प्रतिष्ठा बनाए रखते हैं (सफल रहते हैं)। लेकिन यदि उच्च और निम्न जाति के लोगों में काशतकारी और शिक्षा के तुलनात्मक स्तर होते हैं तो निम्न जाति के मजदूर की तुलना में मजदूरी का उच्चतर अंश उच्च जाति के मजदूर को मिलता है। ऐसा भर्ती में जाति संबंधों के निरंतर (बढ़ते हुए) महत्व के कारण होता है। जितना जरूरी से उससे अधिक न देने के तथ्य के साथ विभिन्न नौकरियों में श्रम आपूर्ति सुनिश्चित करने के काम में भी जाति अग्रणी होती है। दूसरे शब्दों में दलितों और आदिवासियों की पीड़ाजनक स्थितियां श्रम की आपूर्ति सुनिश्चित करने में मदद करती हैं जिसे केवल जीवन-निर्वाह करने के स्तर पर कार्य के लिए बनाया जा सकता है (नाधन 1987) इस प्रकार, एक तरफ जाति समाज के निम्न वर्गों को मजदूर वर्ग के निम्न स्तर में रखने भूमिका निभाती है, तो दूसरी ओर उच्च जाति श्रम-बाजार में विशेषाधिकार मिलता है। इसके अलावा, जाति केवल विवाह का ही विषय नहीं है और एक हद तक आवास लेकिन इससे अधिक उत्पादन की पूंजीवादी रीति के लिए विभिन्न प्रकार की श्रम आपूर्ति के लिए सामाजिक संबंध का सतत पूल है।

14.7 सारांश

मजदूर वर्ग जो उत्पादन के पूंजीवादी संबंधों की उपज है, औद्योगिक क्रांति और उसके बाद विशेष रूप से इंग्लैण्ड में और सामान्य रूप से यूरोप में औद्योगिकीकरण के साथ अस्तित्व में आया। अन्य युगारम्भों के विपरीत इस उत्पादन के संबंध में, उनके पास सिवाये श्रम के कुछ भी नहीं था जिसे उन्होंने उत्तरजीविता के लिए बेच दिया। दूसरे पटल पर वे पूंजीवादी थे जिनके पास न केवल उत्पादन के सभी साधन थे बल्कि उन्होंने उत्पादन के इन संबंधों से जनित सारा अतिरिक्त उत्पादन भी हड़प लिया था।

धारणात्मक स्तर पर मजदूर वर्ग अत्यधिक साधारण प्रतीत होता है लेकिन यदि इसे परिभाषित करने का प्रयास किया जाए तो समस्या बढ़ जाती है। कारण है इसकी सजातीय अस्तित्व न होना। बल्कि ये जटिल, परस्पर विरोधी और निरंतर परिवर्तनशील अस्तित्व हैं। अन्य कारण है कि मजदूर वर्ग के संदर्भ में 'वर्ग-जागरुकता' की संकल्पना अत्यंत अस्थिर है। इसका परिणाम है कि यह अक्सर प्रचार किया जाता है कि या जो मजदूर वर्ग का आकार छोटा हो रहा है या सिवाय उच्च वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति मजदूर वर्ग है। फिर भी तथ्य यह है कि मजदूर वर्ग अपनी विशेषताओं के साथ पृथक सत्ता (अस्तित्व) है। भारत में कई कारणों जैसे (क) भारत में ब्रिटिश पूंजी का बलात् प्रवेश; (ख) उत्पादक के बहु संबंधों को समकालिक अस्तियां; और (ग) जाति, धर्म और समाज की अन्य नृजातीय विभाजनों जैसी आदिकालीन विशेषताओं वाले मजदूर जनसमूह की कभी समाप्त न होने वाली पहचान, से स्थिति ज्यादा जटिल है।

विश्व तथा भारत दोनों में मजदूर वर्ग के अस्तित्व में आना और आर्थिक और राजनीतिक दोनों स्वरूपों के स्थानीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से प्रभावित हुआ। अत: मजदूर वर्ग पर आगे और अध्ययन करने के लिए इन विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा।

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हॉमस्ट्रोम, एक, 1991, दीपांकर गुप्ता संपादित सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन में 'ईआर दि वर्किंग क्लास'? आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सेन सूकोमल 1997, वर्किंग क्लास ऑफ इंडिया. हिस्ट्री आपफ इमरजेंस एंड मूवमेंट 183-1996 के.वी. बागची एंड कम्पनी, कोलकात्ता

रामास्वामी, ई.ए. एंड यू रामास्वामी 1987, इंड्रस्टी एंड लेबर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 15

मध्य वर्ग

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15.2 वर्ग की संकल्पना

15.3 'मध्य वर्ग' की संकल्पना

15.4 भारत में मध्य वर्ग का विकास

15.5 समकालीन भारत में आधुनिकता और मध्य वर्ग

15.6 मध्य वर्ग में परिवार, विवाह और महिलाओं की स्थिति से संबंधित मूल्य

15.7 सारांश

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के पश्चात् आप:

- वर्ग की संकल्पना का वर्णन कर सकेंगे;
- 'मध्य वर्ग' की संकल्पना पर चर्चा कर सकेंगे;
- भारत में मध्य वर्ग के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेंगे;
- समकालीन भारत में आधुनिकता और मध्य वर्ग के बीच संबंध का वर्णन कर सकेंगे; और
- मध्य वर्ग में परिवार, विवाह और महिलाओं की स्थिति से जुड़े मूल्यों की चर्चा कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

15.1 प्रस्तावना

समकालीन पूंजीवादी समाज में मध्य वर्ग को विश्लेषण करने के दौरान उसमें व्यवस्थित विचार-विमर्श का अभाव रहा है। भारत जैसे समाज में भी इसके संबंध में यही स्थिति है। भारत में मध्य वर्ग कौन सा है इस संबंध में निरंतर बहस होती रही है। फिर भी, भारत में मध्य वर्ग को व्यापक जानकारी अभी भी पूर्ण नहीं है। इस इकाई में, हमने समकालीन समयों में भारत में 'मध्य वर्ग' की संकल्पना को समझने का प्रयास किया है। इस इकाई को हमने चार भागों में विभक्त किया है। पहले भाग में हम विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से वर्ग की संकल्पना पर चर्चा करेंगे, इसके उपरांत दूसरे भाग में हमारी चर्चा का मुख्य केंद्र भारत मध्य-वर्ग की परिभाषा और भारत में मध्य वर्ग का विकास होगा। तीसरा भाग समकालीन भारत में मध्य वर्ग की जानकारी पर आधारित होगा। चौथे भाग में मध्य वर्ग में परिवार, विवाह और सगोत्रता से संबंधित मूल्यों का वर्णन किया जाएगा और अंत में सारांश के रूप अंतिम भाग होगा।

15.2 वर्ग की संकल्पना

मध्य-वर्ग किससे बनता है या इसमें कौन शामिल है और भारत में मध्य वर्ग है या नहीं इस पर संद्धांतिक चर्चा प्रारंभ करने से पहले संकल्पना के रूप में 'वर्ग' को समझना प्रसंगोचित है। शास्त्रीय विचारकों के समय से 'वर्ग' पर अनगिनत विचार प्रस्तुत किए गए। कार्ल मार्क्स ने वर्ग के ऐसे व्यक्तियों के समूह रूप में परिभाषित किया है तो उत्पादक संगठन में एक समान कार्य

करते हैं। मार्क्स के सिद्धांत में विभिन्न ऐतिहासिक कालों में सामाजिक वर्गों से भिन्न-भिन्न नाम दिए गए है जैसे स्वतंत्र व्यक्ति और गुलाम, कुलीन (शिष्ट) और अकुलीन, स्वामी और कृषकदास, श्रेणी प्रमुख और कार्मिक (कारीगर) उत्पीड़क (अत्याचारी) और उत्पीड़ित। अर्थव्यवस्था में वर्गों की स्थितियों में अंतर के आधार पर वर्गों में विभेद किये गए हैं (बेन्डिक्स और लिपसेट, 1967:7)। चूंकि सामाजिक वर्ग उत्पादन प्रक्रिया में वर्ग के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले कार्य के अनुसार निर्मित है अत: प्रश्न उठता है कि उत्पादन संस्था ही सामाजिक वर्ग की मूलभूत निर्धारक क्यों है। इस सिद्धांत की बुनियाद कार्ल मार्क्स की यह धारणा है कि काम मानक की आत्मानुभूति का मूलभूत रहा है। उत्पादन के चार पहुलओं का उल्लेख करते हुए, मार्क्स ने प्रतिपादित किया कि वे स्पष्ट करते हैं कि मानव के लिए आजीविका प्रदान करने के हेतु मानव द्वारा किए जाने वाले प्रयास में इतिहास में होने वाला सारा परिवर्तन अन्तर्निहित है। इसके पश्चात् मार्क्स ने बल देकर कहा कि वर्ग का बुनियादी निर्धारक वह तरीका है जिसमें व्यक्ति रोटी, कपड़ा और मकान की अपनी जरूरतों की संतुष्टि के लिए एक-दूसरे को सहयोग देते हैं। आय, उपभोग प्रतिमान, शैक्षिक गुण या व्यवसाय जैसे अन्य सूचक भौतिक वस्तुओं और प्रतिष्ठा प्रतीकों के वितरण के कई संकेत हैं (वही)। कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए, लिपसेट और बेन्डिक्स ने स्पष्ट किया है मार्क्स के अनुसार व्यक्ति की आय या व्यवसाय उसकी वर्ग स्थिति अर्थात उत्पादन प्रक्रिया में उसकी स्थिति की सूचक नहीं है। मार्क्स का मानना था कि उत्पादन प्रक्रिया में व्यक्ति की स्थिति जीवन को महत्वपूर्ण अनुभव प्रदान करती है। जो अन्ततः उस व्यक्ति की धारणाओं और क्रियाओं को निर्धारित करता है।

जैसाकि मार्क्स ने पाया कि उत्पादन संस्था सामाजिक वर्गों के अस्तित्व के लिए अनिवार्य आधार तो प्रदान करती है परंतु पर्याप्त आधार प्रदान नहीं करती। बुर्जआ और सर्वहारा वर्ग का उदाहरण लेते हुए, मार्क्स ने दर्शाया कि किस तरह अपने सामाजिक वर्ग के आविर्भाव पर चिन्तन मनन किया। सरल शब्दों में कहे तो मार्क्स ने सामाजिक वर्ग को उस सामूहिक जीवन की स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया जो निरंतर उत्पादन संस्था द्वारा सृजित होता है। उन्होंने इसको आगे बढ़ाते हुए कहा कि सामान्य स्थितियों की विद्यमानता और सामान्य रुचियों (हितों) की अनुभूति सामाजिक वर्ग के विकास के लिए पर्याप्त आधार नहीं है बल्कि मात्र अनिवार्य हैं। जब केवल 'समर्थ' वर्ग के सदस्य अपने सामान्य उद्देश्य के संगठित प्रयत्न के लिए संघ (एसोसिएशन) में प्रविष्ट होते है तब के मार्क्स के अर्थ में वर्ग का अस्तित्व होता है। मार्क्स मात्र इस तथ्य के लिए सामाजिक वर्ग को नहीं पहचानते है कि व्यक्तियों के एक बड़े समूह ने समाज की आर्थिक संरचना में बढ़ी वस्तुनिष्ठ स्थिति ग्रहण की थी। बल्कि उन्होंने आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के लिए वर्ग को सफलतापूर्वक संगठित करने की पूर्व शर्त के रूप में आत्मपरक जागरुक्ता के महत्व पर बल दिया। मार्क्स ने अनुभव किया कि पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न दबाव भविष्य में इसके विकास को निर्धारित करेगा। उनके विचार में आत्मपरक जागरुकता सामाजिक वर्ग के विकास में एक अनिवार्य अवयव है और यह पूंजीवाद में अन्तर्निहित विकासशील परस्पर विरोधों से उत्पन्न होगा।

मार्क्स पर लिखते हुए इरिक ओलिक राइट बताते है कि भले ही 'वर्ग कैसे बनता है' इस प्रश्न का उत्तर मार्क्स ने नहीं दिया लेकिन उनकी रचना दो समस्याओं के इर्द-गिर्द घूमती है: वर्ग संबंधी के अमूर्त संरचनात्मक मानचित्रों का विस्तार और कार्यकर्त्ताओं के रूप में वर्गों के मूर्त घटना-संयोग संबंधी मानचित्रों का विश्लेषण (राइट, 1985:6)। वर्गों के अमूर्त संरचनात्मक विवरण से वर्ग संबंधों का विशिष्ट गुणों वाला ध्रुवीकृत मानचित्र समक्ष आता है जो पूंजी में उत्पादन के पूंजीवादी रीति के मार्क्स के अधिकांश विश्लेषण में प्रविष्ट है। इसके विपरीत घटना संबंधी राजनीतिक विश्लेषकों की विशेषता है वर्गों की जटिल तस्वीर, पक्ष-भेद (द्वेष) सामाजिक श्रेणियां, स्तर और राजनीतिक मंच पर अन्य कार्यकर्ता। इसे आगे ओर विस्तृत करते हुए राइट का तर्क है कि वर्ग विश्लेषण में अन्तर वर्ग संरचना और वर्ग रचना के बीच अंतर का आधार है भले ही यह अस्पष्ट या अव्यक्त हो। वर्ग संरचना से अभिप्राय है सामाजिक संबंधों की वह संरचना जिसमें व्यक्ति प्रवेश करते है और जो उनके वर्ग हितों को निर्धारित करती है (वही:9)

दूसरी ओर वर्ग रचना (निर्माण) से अभिप्राय है वर्ग संरचना के भीतर उस के द्वारा निर्मित हितों के आधार पर संगठित गतिविधियों का गठन। सरल शब्दों में कहें तो वर्ग संरचना वर्गों के बीच सामाजिक संबंधों द्वारा परिभाषित है और वर्ग-रचना वर्गों के अन्तर्गत सामाजिक संबंधों से परिभाषित है जो वे सामाजिक संबंध जो संघर्ष में रत समूहों को आगे बढ़ा पाते है।

मार्क्स से संकेत लेकर, मैक्स वेबर ने समुदाय के भीतर शक्ति-वितरण पर आधारित 'वर्गों' स्तर समूहों और 'दलों' ग्रॉफ वर्गीकरण तैयार किया। उन्होंने 'वर्ग' के इस रूप में परिभाषित किया जब (1) अनेक व्यक्तियों के जीवन का विशिष्ट नैमित्तिक घटक इतना सामान्य है कि (2) यह घटना आप के लिए केवल मात्र सामान अवसरों के स्वामित्व (कब्जे) में आर्थिक हितों द्वारा निरूपित हो और (3) वस्तु या श्रम बाजारों की स्थितियों के अन्तर्गत निरूपित है। वेबर के सिद्धांत के अनुसार वर्ग स्थिति अन्ततः 'बाजार स्थिति' ही है (वेबर 1946)। इस बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते है कि जो कारक वर्ग का सृजन करता है वह कारक असंदिग्ध रूप से आर्थिक हित है और केवल यही हित बाजार की विद्यमानता (अस्तित्व) में सम्मिलित हैं।

जोसेफ शूम पीटर का कहना है कि मूलभूत रूप से चार ऐसी समस्याएं है जो समाजशास्त्र में वर्ग सिद्धांत में अब रुकावट डालती हैं। ऐसा करते समय जोसेफ ने दार्शनिक की बजाए वैज्ञानिक और तात्कालिक आर्थिक की बजाए समाजशास्त्रीय तथ्य को ध्यान में रखा। वे चार समस्याएं है: (1) पहली सामान्य वर्ग की प्रकृति की ओर इस समस्या के हिस्से के रूप में समग्र समाज की अत्यावश्यक प्रक्रियाओं में वर्ग का कार्य (2) सामाजिक संसक्ति की समस्या-वे कारक जो प्रत्येक सामाजिक वर्ग को निर्धारित करते हैं। (3) वर्ग-निर्माण की समस्या: यह प्रश्न कि जैविक स्तरीकरण दर्शाति है समग्र समान कभी भी समजातीय क्यों नहीं रहा। (4) यह समस्या उन समस्याओं के समूह से पूर्णतः पृथक है जो व्यक्ति द्वारा निर्धारित ठोस कारणों और स्थिति से जुड़े है ऐतिहासिक रूप से जिन्हें वर्ग संरचना कहा गया है।

शूमपीटर द्वारा परिभाषित वर्ग, वर्ग सदस्यों के समूह से भी कहीं ज्यादा है। समग्र रूप में वर्ग अपनी अस्मिता (पहचान) के प्रति सचेत होता है, स्वयं को उस रूप में उन्नत करता, उसकी अपनी विशिष्ट जीवन और लक्षणात्मक 'आत्मा' होती हैं हालांकि एक प्रसिद्ध परिघटना अन्य वर्गों के सदस्यों के प्रति उनके आचरण से लक्षणात्मक रूप से भिन्न है। वे एक दूसरे से घनिष्ट रूप से संबंध होते है; वे एक दूसरे को बेहतर समझते है; समाजों (समारोहों) में वे ज्यादा तत्परता से कार्य करते हैं; वे वर्गों को नजदीक लाते हैं और बाहरीं व्यक्तियों के विरुद्ध अवरोधों के निर्मित करते है; वे समान दृष्टि से, समान नजरिए से समान दिशा में विश्व के समान खंड में देखते हैं। एक वर्ग के भीतर जो सामाजिक आदान-प्रदान होता है उससे एक खास प्रकार की जीवनशैली विकसित होती है और उसका सकारात्मक या नकारात्मक स्वरूप सामने आता है। एक बार वर्ग का निर्माण होने के बाद वे रुढ़ हो जाते हैं और जिन सामाजिक परिस्थितियों में उनका निर्माण हुआ था उनके विलुप्त होने के बाजवूद बने रहते हैं।

'सामाजिक वर्ग' के इतिहास की ओर संकेत हुए स्टेनिसला ओसोकी ने तर्क प्रस्तुत किया कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से वर्ग समाजशास्त्रियों का प्रिय विषय बन चुका था। उनका मानना है कि 'वर्ग' की संकल्ना के दो उल्लेखनीय रूप हैं।

क) सामजिक वर्ग को संपत्ति-संबंधों के संदर्भ में विभेदित समूह के रूप में देखा जाता है। यह मूल रूप से सामाजिक वर्ग का आर्थिक रूप है।

ख) वर्ग जो सामाजिक संरचना व्यक्ति के समूह की सदस्यता संस्थागत रूप से निर्धारित करती है और जिसमें निश्चित समूह में व्यक्ति का नाम जुड़ जाने से परिवार स्वरूप उसे विशेषाधिकार प्राप्त होता है या उसके साथ भेदभाव किया जाता है, ऐसी सामाजिक संरचना में वर्ग व्यवस्था समूह व्यवस्थाओं के विपरित है। यह जन्म या उच्च पद (अभिजात) की उपाधि जैसे सरकारी दस्तावेजों के कारण नहीं होता बल्कि अथवा प्राप्त की गई सामाजिक प्रतिष्ठा (स्तर) का परिणाम है।

विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में हम वर्ग आश्रयता के संदर्भ में दो या उससे अधिक सहवर्ती प्रकार देख सकते हैं। 'वर्ग समाज' की सभी संकल्पनाओं में जो तीन मान्यताएं (घटनाएं) जो सामान्य दृष्टिगत होती है निम्नलिखित तरीके से उनका उल्लेख किया जा सकता है:

1) सामाजिक संरचना में समूह की अत्यधिक व्यापक व्यवस्था वर्गों द्वारा निर्मित होती है।

2) वर्ग विभाजन का सरोकार उन सामाजिक स्तरों से जुड़ा हैं जो जैविक कसौटियों द्वारा निर्धारित न होकर विशेषाधिकारों और भेदभावों की व्यवस्था से जुड़े होते है। सामाजिक वर्ग में व्यक्तियों की सदस्यता सापेक्षित रूप से स्थायी होती है।

वर्ग को समझने के असंख्य (अनेकों) तरीकों में से व्यक्ति ऐसी तीन या चार विशेषताओं का सार निकाल सकता है। लेकिन यह किसी भी दृष्टिकोण से सामाजिक विचारधारा व इतिहास में समान महत्व नहीं रखते।

1) सामाजिक वर्गों का ऊर्ध्वगामी क्रम: सामाजिक स्तरों की निम्न और उच्च श्रेणियां का अस्तित्व जो विशेषाधिकारों और विभेदीकरणों की व्यवस्था के संदर्भ में जो निम्न या उच्च हैं। ऐसी वर्ग संरचना को स्वीकार करने का अभिप्राय होगा वर्ग स्तरीकरण।

2) स्थायी वर्ग हितों की भिन्नता (पृथकत्व)

3) वर्ग-जागरुकता (सचेत्वनता) - में न केवल वर्ग की पहचान बल्कि वर्ग सोपानक्रम में व्यक्ति के वर्ग की गति की सचेनतना, वर्ग भिन्नता की अनुभूति, वर्ग हित तथा वर्ग एकता ही संभावना भी शामिल है।

4) सामाजिक अलगाव - घनिष्ठ सामाजिक संपर्को का अभाव: सामाजिक दूरी। यूएस में इस परिभाषा के अनुसार, सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का सबसे बड़ा समूह है जिसके सदस्यों में एक दूसरे तक घनिष्ठ सामाजिक पहुंच होती है। समाज एक वर्ग समाज है इस विशेषता के संदर्भ में यदि उसमें सामाजिक मेलजोल के पृथक अवरोध विद्यमान है और यदि अन्त: वैयक्तिक संबंधों के विश्लेषण द्वारा वर्ग सीमाएं खींची जा सकती है। इसमें न केवल सामाजिक अलगाव शामिल है बल्कि इस अलगाव के प्रभाव और उपभोग्य साधनों तक पहुंच की कोटि में भिन्नताओं के प्रभाव भी शामिल है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ये वर्ग कर्साटियाँ एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं है अर्थात एक दूसरे पर आधारित हैं। ये विशेषताएं परस्पर आश्रित है इस तथ्य के मद्देनजर ओसोकी निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्ग की विविध परिभाषाएं हो सकती है। अब यहाँ यह प्रसंगानुकूल प्रश्न है कि हम सामान्यत: भारत में और विशेष रूप से समकालीन समझ के मध्य वर्ग को कैसे परिभाषित करते हैं।

15.3 'मध्य वर्ग' की संकल्पना

मध्य वर्ग ने सामाजिक विज्ञानी के लिए जो समस्याएं प्रस्तुत की विशिष्ट रूप से उनका स्वरूप महानगर संबंधी है और कार्य क्षेत्र राष्ट्रव्यापी है। सी. राइट मिल्स का कथन है कि शहर की आबादी के निम्नलिखित ढंग से स्तरबद्ध किया जा सकता है: (क) वस्तुपकर रूप में (वस्तुनिष्ठता) संपत्ति या व्यवसाय या एक या दोनों स्रोतों से आने वाली आप की राशि जैसे आधारों संदर्भ में वस्तुपरकता (वस्तुनिष्ठता) इन आधारों के संबंध में सूचना वर्तमान तक सीमित रखी जा सकती है या शामिल किया जा सकता है (ख) दी गई सामाजिक श्रेणी या स्तर में सदस्यों को वंशानुक्रम (उत्पत्ति), अन्तर्जातीय विवाह और पेशे संबंधी इतिहास। विषयपरक रूप में, सामाजिक स्तर के कोटि (श्रेणी) निर्धारित करने वाले के अनुसार तैयार किया जा सकता है; (ग) प्रत्येक व्यक्ति से कहा जा सकता है कि वह अपने लिए स्थिति (दर्जा) निर्धारित करे; (घ) इंटरव्यू लेने वाला अपने अन्तर्ज्ञान के आधार प्रत्येक व्यक्ति को श्रेणीबद्ध करें या (ङ) प्रत्येक व्यक्ति के जनसंख्या को स्वीकृत करने और फिर प्रत्येक स्तर पर लोगों के संबंध में अपनी छवि देने को कहा जा सकता है।

डाहरेनडार्फ (1959:51-57) को उद्धृत करने पर ज्ञात होता है कि नए मध्यम वर्ग की वर्ग स्थिति के संबंध में चार भिन्न-भिन्न स्थितियों पहचानी जा सकती हैं। प्रथम स्थित में यह माना गया है कि चूंकि मध्य वर्ग के व्यवसायों में पिछले शासक वर्ग के व्यवसायों से संरनचनात्मक रूप से भिन्नता है अत: नया मध्यम वर्ग मौजूदा पूंजीवादी शासक वर्ग का विस्तार (बैंडिक्स, 1963)। दूसरी स्थिति में यह धारणा रही कि मध्य वर्ग यथार्थत: मजदूर वर्ग के अत्यधिक नजदीक है अत: क्योंकि दोनों समूहों के पास अपने उत्पादन-साधन नहीं होते। शासक वर्ग के साथ उसकी सदृश्यता (समानता) केवल मिथ्या चेतना है और उनके वर्ग हित मजदूर वर्ग के समकालीन है, मध्य वर्ग के एक बार यह अहसास दे जाने पर यह चेतना विलुप्त हो जाएगी। (क्लिनजेंडर 1935 और राइट मिल्स सी.; 1956)। तीसरी स्थिति वह है जब मध्य वर्ग जैसी कोई चीज है ही नहीं लेकिन इसके बजाए विरुद्ध हितों वाले दो अलग समूह है, शासक वर्ग प्राधिकार वाले नौकरशाह और सर्वहारा वर्ग स्थिति वाले सफेदपोश बाबू (डाहरेनडोर्फ, 1959)। अंत में वह स्थिति है जहाँ तक कहा जाता है कि मध्य वर्ग संरचनात्मक रूप से दो भावों वाली स्थिति में है (लॉकवुड, 1958)।

मध्य वर्ग के विकास पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए जॉन उरी का तर्क है कि मध्य वर्ग के उदय सर्वश्री मार्क्स का विवरण अतिरिक्त उगाने के संदर्भ में था जिसके अन्तर्गत यह मांग होती है कि वर्ग जितना उत्पादन किया है उससे ज्यादा उपभोग करें और वृद्धिशील जटिल औद्योगिक संरचना जिसें कार्य करने के लिए गैर-उत्पादक कार्यकर्ताओं की जरूरत थी। 'कलौरीज आफ सरप्लास वेल्यू' में मार्क्स निरंतर यह तर्क प्रस्तुत करते है कि पूंजीवाद के विकास के साथ मध्य वर्ग का विस्तार हुआ। मार्क्स से संकेत लेकर उरी ने प्रतिपादित किया कि मध्य वर्ग के विकास के ऐतिहासिक विश्लेषण दर्शाता है कि बाजार संरचना के साथ उस अत्यधिक महत्वपूर्ण मध्य वर्ग का विकास हुआ जिसके पास उत्पादन के अपने साधन नहीं है लेकिन कार्यस्थल संबंधों की संरचना में उनकी शक्तिशाली काफी मजबूत होती है। (उरी, 1996:283)

मार्क्स और वेबा की भांति, कई आधुनिक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक वर्गों के विभेदीकरण के लिए आर्थिक कारकों को आधार बनाया है। एंथोनी गिडन्स ने विकसति पूंजीवादी समाज में तीन प्रमुखवर्गों की पहचान की। ये तीन प्रमुख वर्ग हैं उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग या मजदूर वर्ग। उच्च वर्ग उत्पादन साधनों में संपत्ति के स्वामित्व पर आधारित है, मध्य वर्ग 'शैक्षिक और तकनीकी योग्यताओं के अधिपत्य' पर आधारित है और निम्न या मजदूर वर्ग 'शारीरिक श्रम के कब्जों' पर आधारित है। गिड्डन्स की राय में, उत्पादन शक्तियों के साथ उनके संबंधों में अन्तर और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक प्रतिफल प्राप्त करने के लिए उनकी विशिष्ट कार्य नीतियां इन वर्गों की विलक्षणताएं हैं। वर्ग के संबंध में अन्य दृष्टिकोण कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य है जहाँ समाज की कार्यात्मक जरूरतें वर्गगत व्यावसायिक प्रतिफलों को निर्धारित करती हैं। एक वैकल्पिक स्पष्टीकरण यह है कि शक्ति (सत्ता) व्यावसायिक प्रतिफलों की निर्धारक है।

मध्य वर्ग की संकल्पना की यह अत्यधिक आधारभूत जानकारी है तो 'भारत में मध्य वर्ग' के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। सर्वप्रथम, भारत में मध्य वर्ग के विकास का अन्वेषण करना महत्वपूर्ण है।

सोचिए और कीजिए 15.01

भारत में 'मध्य वर्ग' संबंधी भाग को ध्यानपूर्वक पढ़ें। अपने परिवार और अपने नजदीकी पड़ोसियों का अवलोकन करें। 'मैं और मेरा वर्ग' पर एक पृष्ठ की रिपोर्ट लिखें जिसमें यह उल्लेख करें कि आपके विचार में आप किस वर्ग के है और क्यों? अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों और अपने शैक्षिक परामर्शदाता के साथ रिपोर्ट पर विचार-विमर्श (चर्चा) करें।

15.4 भारत में मध्य वर्ग का विकास

भारत में मध्य वर्गों पर अपने सैद्धांतिक कृति में बी.बी. मिश्रा (1961) ने निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश शासन से पूर्व पूंजीवादी वृक्ष के प्रेरक (जनक) संस्थानों की भारत में कमी नहीं थी ब्रिटिश पूर्व भारत भारतीय शिल्प उद्योग तथा व्यावयासिक विशेषज्ञता तथा अतिरिक्त रूप से अलग व्यापारी वर्ग का साक्षी रहा है। श्रमिक (श्रेणी) शक्ति पूर्णतया धन-शक्ति बनी रही जिसे किसी भी राजनीतिक प्राधिकरण या सैन्य प्रकृति से समर्थन प्राप्त नहीं था। लोगों और नए शासकों के बीच संपर्क सूत्र के रूप में काम कर रहे मध्यस्थ वर्गों के उभरने के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन भारत में आया। मिश्रा के मत में मौलिक रूप से भारत में सामाजिक संबंधों और वर्ग-संरचना के बीच एक क्रांति थी। उद्भवशील मध्यस्थ वर्ग मध्य वर्ग ही था जिसका विदेशी शासन की प्रगति के साथ मजबूती और सम्पन्नता में वृद्धि होती रही। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी जिन व्यापार संबंधों का अनुसरण कर रही थी, उन्हें स्थापित करके अंग्रेज ने इस वर्ग के निर्माण का धरातल प्रदान किया। इसके अलावा, ब्रिटिश ने अपनी शैक्षिक नीति के एक हिस्से के रूप में देश के प्रशासन में अपनी सहायता के लिए अपने से तुलनीय एक वर्ग सृजित करने का अंग्रेजों ने प्रयास किया। (मिश्रा, 1961:10)। अंग्रेजों का लक्ष्य नए मूल्यों और विधियों का अनुकरण करने वाले वर्ग निर्माण करना था न कि इस विधियों के मूल्यों के आरंभ करने वाले वर्ग का निर्माण करना था। (अहमद एव रेफील्ड 2001:8)

मध्य वर्ग संबंधी अपनी कृति में जैसा कि पवन के. वर्मा बताते हैं कि अपने उद्भव और वृद्धि की परिस्थितियों से सरकारी कर्मचारियों, वकीलों, कालेज अध्यापकों और डाक्टरों जैसे शिक्षित वर्ग के सदस्यों ने भारतीय मध्य वर्ग को निर्मित किया। वर्मा की राय में इस मध्य वर्ग में अत्यधिक रूप से परंपरागत उच्च जातियों का प्रभुत्व था (वर्मा, 1998:27)। अहमद और रेफील्ड का तर्क है कि अपने यूरोपीय प्रतिरूपों के कम से कम हिस्सों में भारतीय मध्य वर्ग के निर्माण में और उनके द्वारा इतिहास में अदा की गई भूमिका में काफी घनिष्ठ साहश्चता है। (अहमद रेफील्ड 2001) । यूरोप में अपने पहले प्रतिरूपों की तरह वाणिज्यिक गतिविधि में प्रवेश करने वाले कुछ या तो एजेंटों के रूप में आए या 17वीं शताब्दी या 18वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में स्वतंत्र रूप से आए व्यक्तियों ने अत्यधिक धन-संपत्ति संचित की और सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की जिनकी आकांक्षा वे परंपरागत समाज में आर्थिक संबंधों की संरचना में करते थे। लेकिन इसके साथ साथ उनके काफी मतभेद भी थे। यूरोपीय मध्य वर्ग स्वतंत्र था जबकि भारतीय मध्य वर्ग विदेशी सत्ता के अधीन था, आरंभ में, मध्य वर्ग ने ब्रिटिश की सत्ता की स्थापना और यूरोपीय वाणिज्य और उद्यम के संवर्धन में मदद की। 'विद्रोह' के बाद ही, ब्रिटिश के साथ शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धी (प्रतिद्वन्द्वी) की राजनीतिक भूमिका के हाथ में लेने के लिए सोचना प्रारंभ किया। समय बीतने के साथ सहयोगी की भूमिका की बजाए मध्य वर्ग के महत्वपूर्ण वर्ग द्वारा अंगीकार की गई प्रतिस्पर्धी की भूमिका प्रमुख हो गई और राज के समाप्त होने तक यह प्रमुखता की भूमिका जारी रही। अहमद रेफील्ड का निष्कर्ष है कि 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारतीय मध्य वर्ग ने ब्रिटिश शक्ति की निरंतरता के प्रति एक गंभीर चुनौती बन कर खड़ा हुआ। यह राष्ट्रीय जागरूकता उत्पन्न करने और राष्ट्र के लोगों में एकता की भावना प्रदान करने के लिए एक साधन-स्वरूप था। (अहमद एवं रेफील्ड, 2001:10)

औपनिवेशिक भारत में मध्य वर्ग को बनाने के अपने अध्ययन में संजय जोशी ने यह समझाने का प्रयास किया है कि आय और व्यवसाय के पारंपरिक समाजशास्त्रीय सूचक मध्यम वर्ग की श्रेणी के समझाने में हमें क्यों ज्यादा सहायक नहीं हो सके। भले ही मध्य वर्ग की आर्थिक पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण थी लेकिन भारत में मध्य वर्ग की शक्ति और संघटन इसके द्वारा नियंत्रित आर्थिक शक्ति जो की न्यूनतम थी, पर आधारित नहीं थी बल्कि यह भावी सांस्कृतिक उद्यमों की सदस्यों की योग्यता पर आधारित थी मध्य वर्ग होने के नाते यह प्रमुख रूप से 'स्व-प्रचलन (रीति)' की धारणा थी (जोशी, 2001:4)। जोशी ने स्पष्ट रूप से कहा कि मध्य वर्ग की परिभाषा और शक्ति आधुनिक रहन-सहन के तरीकों का प्रचार है। विषय जातीयता

(विजातीयता) मध्य वर्ग का एक गुण था। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में नए मध्य वर्ग का त्वरित प्रसार और जनसमूह के दायरे के कई हिस्सों में इसका बढ़ता हुआ प्रभाव भारतीय समकालीन इतिहास में होने वाले परिवर्तनों में से सबसे महत्वपूर्ण घटक है।

बाक्स 15.01: ग्रामीण और शहरी मध्य वर्ग

योगेंद्र सिंह (1991) के अनुसार, यदि हम ग्रामीण मध्य वर्गों की तुलना शहरी मध्य वर्गों के साथ करें तो हमे दोनों में एक मुख्य समानता पाते हैं। एक स्तर पर ग्रामीण मध्य वर्गों और शहरी मध्य वर्गों में वैचारिक सादृश्य दृष्टिगत है क्योंकि दोनों ही रूढ़िवादी और संकीर्ण उपयोगितावादी (स्वार्थवादी) लोकाचार का अनुसरण करते है। लेकिन अन्य स्तर पर शहरी मध्य वर्गों, उपायों और व्यावसायिक गुणों के साथ गहन विरोधी सिद्धांत और अन्तर्द्वंद्व ग्रामीण मध्य वर्ग ही आश्रय देते हैं।

विरोधी सिद्धांत और अन्तर्द्वंद्व कुछ ऐतिहासिक कारणों से पैदा हुआ। कृषि में विकास की प्रक्रिया एक समय के बाद संरचनात्मक प्रौद्योगिकीय स्थिरता के फलस्वरूप धीमी हो गई। उनका मानना है कि तथाकथित धनी कृषि वर्ग ने पिछले कुछ वर्षों में प्रतिकूल मूल्य नीति, कृषि उत्पादकता में स्थिरता, भूजोत के विखंडन, जनसंख्या में वृद्धि और युवकों के लिए रोजगार के अन्य अवसर उपलबध न होने के कारण सामाजिक और आर्थिक स्तर के संदर्भों में अधोगामी गतिशीलता की संभावना का सामना किया। उनका कथन है कि कृषि में यह हरित-क्रांति उत्तर अल्प विकास शहरी और औद्योगिक मध्य वर्गों से ग्रमीण क्षेत्रों के मध्य वर्गों के हस्तांतरण को बढ़ावा देता है। हरित क्रांति के दौर में जो महत्वाकांक्षा अपने चरम पर थी उस महत्वाकांक्षा के स्तर के लिए यह तथ्य धक्के का कारण रहा।

आन्द्रे बेते लिखते हैं कि मध्य वर्ग केवल बहुत बड़ा ही नहीं है बल्कि आन्तरिक रुप से इनमें इतना अधिक अंतर (विभेद) हैं कि इसे भारतीय मध्य वर्ग की बजाए इन्हें मध्य वर्ग कहना ज्यादा उचित होगा। विजातीय सामाजिक संघटन पर बल दिया (बिले, 2005-73)।

निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण के पक्ष हाल ही में आर्थिक नीति की ओर केन्द्रित ध्यान ने मध्य वर्ग, उसके उपाकार, संघटन और उसके सामाजिक मूल्यों में व्यापक रूचि जागृत की है। आन्द्रे बेते भारत में मध्य वर्ग की सापेक्षिक रूप से नयी सामाजिक रचना के हिस्से के रूप में देखते हैं जो धर्म, जाति और सगोत्रता पर आधारित है। बेते की राय में, भारत में मध्य वर्ग मूल्यों की विशेषता का उल्लेख करना कठिन है क्योंकि वे अभी भी निर्माणाधीन प्रक्रिया में है और इन्होंने अब तक स्थायी रूप अर्जित नहीं किया (बेते; 2001:74)। इस रूप में वे गहन और परिव्यापी मत-विरोध है जिसका अर्थ मानकों और मूल्यों के समुच्च में अन्तर्निहित विरोधाभास, विरोध और तनाव है।

पिछले दस वर्षों में (दशक) में मध्य वर्ग की सार्वजनिक चर्चा मीडिया द्वारा अत्यधिक प्रेरित रही है। समाजशास्त्रीय साहित्य में मध्य वर्ग की संरचना में पर्याप्त रूप से कुछ भी उपलब्ध नहीं है। वर्ग मध्य मूल्यों की चर्चा में वर्ग के आधार और संरचक पर विश्वसनीय और व्यवस्थित आंकड़ों का अभाव बाधा है। इसके आकार के संबंधी आकलनों में भिन्नता है इसके अन्तर्गत 10 मिलियन से 250 मिलियन व्यक्ति आते हैं। कोई एवं कसौटी (मानदंड) नहीं है जिसके आधार पर मध्य वर्ग को परिभाषित किया जा सके (बेते, 2001:76)। व्यावसायिक कार्य और रोजगार स्तर ऐसे दो महत्वपूर्ण कसौटियां है हालांकि शिक्षा और आय का भी व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। बैरेली के अनुसार नया मध्य वर्ग न केवल व्यवसाय द्वारा बल्कि शिक्षा द्वारा भी परिभाषित है। भारत में मध्य वर्ग के मूलों की व्युत्पति इतने अधिक औद्योगिक क्रांति या लोकतांत्रित क्रांति से नहीं जितनी की उपनिवेशी शासन से हुई है। पिछले 50 वर्षों से मध्य वर्ग सुदृढ़ रूप से विकसित हुआ है। बढ़ते हुए मध्य वर्ग पर टिप्पणी करते हुए, गुरूचरण दास (दास, 2004) ने कहा है कि यद्यपि मध्य वर्ग में अनेकों व्यवसायों के लोग शामिल है, परंतु

वाणिज्य हमेशा इसके केन्द्र में रहा है क्योंकि भूस्वामी उच्च वर्गों और मजदूरों के निम्न वर्गों के बीच व्यापारी लोग ही मध्यस्थता करते थे। 1991 के बाद अंतिम दशक में और 1980 के बाद अंतिम दो दशक में मध्य वर्ग के विस्तार होने के बाद बीसवीं शताब्दी में उद्यमशीलता संबंधी प्रवाह दृष्टिगोचार हुआ। 1950 से 1980 तक एक वर्ष में 3.5% की दर पर वृद्धि होने के बाद, 80 के दशक में भारत की आर्थिक वृद्धि दर 5.6% तक बढ़ी। 1990 के दशक में यह बढ़ कर 6.3% हो गई। इन दो दशकों में मध्य वर्ग बढ़ कर तिगुने से अधिक हो गया। 1998-2000 के बीच भारत में जोखिम पूंजी निधियों में 2.5 बिलियन डालर आए हैं (मेकेन्जी के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि जोखिम निधियों की उपलब्धता और व्यापार प्रारंभ करने के प्रचुरोद्भवन के बीच सीधा संबंध है)। इस मध्य वर्ग के बारे में लिखते हुए दास ने तर्क प्रस्तुत किया है कि बदलती प्रवृत्तियों के परिणाम के रूप में, भारत में एक नई किस्म का उद्यम उभरा है (दास, 2000:195)। गुरूचरण दास ने यह विचार व्यक्त किया है कि यद्यपि 1991 के बाद सुधारों में कमी आई और ये सुधार अपूर्ण और अनिश्चित भी थे, लेकिन इनके कारण भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। जोसेफ शुमपीटर ने 'उद्यम' शब्द की रचना की थी। पूर्व कालों के विपरीत आजकल लखपति, करोड़पतियों को आदर और सम्मान से देखा जाता है। क्योंकि वे नवीन प्रशंसनीय वर्ग हैं–वें शिक्षित उद्यमशील व्यावसायिक हैं जो विश्वव्यापी ज्ञान अर्थव्यवस्था में नवीन परिवर्तन ला कर गरिमा (महत्व) उत्पन्न कर रहे हैं।

पिछले दशकों में मध्य वर्ग के पर्याप्त उद्भव को आधुनिकता वादियों द्वारा व्यापक रूप से आशा से परिपूर्ण माना जाता है और परंपरावादी इसको भय की दृष्टि से देखते हैं, वे इसको भारतीय समाज में विद्यमान परिवर्तन में एकमात्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास मानते है (कक्कर)। एनसीएईआर द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार मध्य वर्ग की जनसंख्या 1986 में 8% थी जो बढ़ कर 2000 में 18% हो गई जो लगभग 185 मिलियन है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के अनेकों आधुनिक समाजशास्त्रियों के लिए, मध्य वर्ग का उद्भव आधुनिकता का अग्रदूत है लेकिन अत्यधिक प्रासंगिक प्रश्न यह है कि हम आधुनिकता को परिभाषित कैसे करें। क्या मध्य वर्ग को भौतिक प्रगति के आधार पर आधुनिक कहा जाए या मध्य वर्ग की प्रकृति को अधिक गहराई से विश्लेषित किया जाए जिसमें मध्य वर्ग की रचना करने वाले लोगों के सामाजिक संबंधों के निर्माण के लिए आधार पर विचार किया जाए। अगले भाग में, समकालीन भारत में उभरते मध्य वर्ग पर तथा इस वर्ग को हम आधुनिक, पारम्परिक या जैसा कि बेते ने इसे 'संक्रमणकालीन' कहा है यह कह कर परिभाषित करें, इस को समझने पर विशेष रूप से विचार किया जाएगा।

15.5 समकालीन भारत में आधुनिकता और मध्य वर्ग

हम लोग आधुनिक युग में रहते हैं। इस समय प्रौद्योगिकी, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में बहुत तीव्र गति से परिवर्तन होते दिखाई दे रहे हैं। माइक्रोवेव, डीवीडी, पामटॉप कम्प्यूटर, आनुवंशिक परिचालन, क्लोनिंग आदि सभी इस बात की पुष्टि करते प्रतीत होते है कि भूतकाल की तुलना में समकालीन समाज आज प्रौद्योगिकीय रूप से अत्यधिक उन्नत है। वर्तमान जगत अद्भुत रूप से गतिशील प्रतीत होता है। यह ऐसी दुनियां है जो निरंतर परिवर्तन और रूपांतरण की प्रक्रिया में है। मार्शल बर्मन के अनुसार, आधुनिक जगत में रहना "सतत विघटन और नवीनीकरण, संघर्ष और विरोधाभास, संदिग्धता और मनोव्यथा के भंवर" में रहना है (बर्मन 1988:15)। अनिवार्य रूप से, आधुनिकता, जीवन, मूल्यों और व्यक्तित्वों के प्राचीन रूपों के विनाश (विघटन) की और इसके साथ-साथ नवीन जीवन, मूल्यों और व्यक्तित्वों के उत्पादन की सूचक है। इसका एक प्रमुख परिणाम हुआ है 'उपभोक्ता संस्कृति' या उपभोक्तावाद का उद्भव जहाँ संस्कृति उपभोग द्वारा निर्मित होती है केवल उत्पादन द्वारा नहीं। उपभोक्ता संस्कृति कुछ प्रमुख मूल्यों, प्रचलनों और संस्थाओं से बंधी हुई है जो आधुनिकता की परिभाषा, पसंद (चयन), व्यक्तिवाद और बाजार संबंधों के रूप में देते हैं। मुख्य रूप से इस उपभोक्ता सिद्धांत में नवीनीकरण, निरंतर बदलाव और नव परिवर्तन की प्रक्रिया शामिल है।

वर्तमान काल के बारे में सिम्मेल (1972) और केम्पबेल (1987) जैसे विद्वानों के विचारों को विस्तारित करते हुए, यह कहा जा सकता है कि धनोपार्जन के साथ-साथ वस्तुओं का उपभोग भी अपने आप में एक उद्देश्य बन गया है। मूलभूत रूप से ये दोनों ही परंपरा से अलगाव को दर्शाते हैं। 20वीं शताब्दी में हमने उपभोक्ता संस्कृति को पश्चिम में अपनी चरम सीमा तक पहुंचते देखा। इस समकालीन उपभोक्ता संस्कृति के अंतर्गत, जो विकसित हुआ है वह है एक ऐसी 'जीवन शैली' जो वैयक्तिकता, आत्म-अभिव्यक्ति और शैलीगत आत्म-चेतना की संकेतक है (फेदरस्टोन 1991:86)।

प्राय: 'उपयोग' और 'उपभोक्ता संस्कृति' शब्दों का प्रयोग अदल बदल के होता है, लेकिन समाजशास्त्रीय विश्लेषण से ज्ञात होता है कि दोनों के बीच एक निश्चित अंतर है। उपभोक्ता संस्कृति और उपभोग के बीच भेद दिखलाने वाली दो महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं :

क) उपभोग्य वस्तुओं का निरंतर बदलाव जिसमें वस्तुओं के अधिक नये और परिवर्तित रूपों पर जोर दिया जाता है। व्यक्ति इसलिए खरीददारी नहीं करता कि उसको उस वस्तु की जरूरत है बल्कि फैशन के अनुसार चलने के लिए खरीदता है।

ख) एक सामान्य उपभोग–यह समाज के उच्च सोपान तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि सर्वव्यापक हो जाता है।

आधुनिक उपभोक्तावादी समाजों में, लोग अब अपनी-अपनी स्थितियों में जकड़े हुए नहीं हैं। अब जीवन शैलियों में सुधार लाया जा सकता है और निरंतर लाया भी जा रहा है। इसके अतिरिक्त विज्ञापनों के कारण और उपभोक्ता संस्कृति में सक्रिय सहभागी होने के कारण सभी वर्गों के लोगों के लिए यह एक सामान्य बात बन जाती है कि वे प्रतिमाओं और प्रतीकों की प्रचुरता के अधीन हो जाते हैं। इस समय जो विद्यमान है वह अनिवार्य रूप से 'उपभोग का अस्थायित्व (अनिश्चितता) है' अर्थात् सामाजिक जीवन के पिछले स्थायी और सापेक्षिक रूप से नियत स्थानिक और अल्पकालिक आयामों से मुक्त होना (ली 1993:124-133)। उपभोग को संचार की प्रक्रिया में एक अवस्था के रूप में भी देखा जाता है, अर्थात् अर्थ निकालने और विसंकेतन करने के एक कार्य के रूप में। आवश्यकता इस बात की है कि अर्थ के प्राथमिक स्तर से हट सकना, जिसे व्यक्ति साधारण अनुभव के आधार पर गौण (द्वितीयक) अर्थों के स्तर तक समझ सकता है जो अर्थ का वह स्तर है जिसका संकेत दिया है (बोर्ड यू 1979:2)। अत:, आधुनिक समाज में सामाजिक समूहों के लिए यह एक सशक्त प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी सामाजिक परिस्थितियों के वर्गीकरण करने और व्यवस्थित करने की मांग करें तथा सांस्कृतिक वस्तुओं को सीमांकन के माध्यमों और संचारकों के रूप में प्रयुक्त करें जो कुछ लोगों के बीच सीमाएं स्थापित करें और दूसरों के साथ सेतुओं को बनाएं (जेम्सन 1991: प्रस्तावना का XX)। वह प्रक्रिया जिसके द्वारा पसंद विभेदीकरण की प्रक्रिया बन जाती है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं की विभिन्न श्रेणियों के बीच और सामाजिक समूहों के बीच भेदभाव उत्पन्न होते हैं, एक सतत प्रक्रिया है। समकालीन पश्चिमी समाज इसके साक्षी हैं जिसे माइक फेदरस्टोन ने "वस्तुओं का दुगना प्रतीकात्मक पहलू" कहा है। प्रतीकात्मकता केवल उत्पादन और विपणन प्रक्रियाओं की रूपरेखा और बिंबों में ही प्रकट नहीं होती, बल्कि वस्तुओं के प्रतीकात्मक संबंध को जीवनशैली में उन भिन्नताओं पर बल देने के लिए भी प्रयुक्त किया जाना चाहिए और उन पर पुन: बातचीत करनी चाहिए जो सामाजिक संबंधों का सीमांकन करते हैं (फेदरस्टोन 1991:86)। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि आधुनिक उपभोक्ता समाज का एक निर्णायक पहले है स्तरीकरण की खुली प्रणाली की मौजूदगी जिसमें सभी के लिए ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के अवसर उपलब्ध हों।

"परंपरा या आदत द्वारा निजवाचक (परावर्तित) रूप से जीवनशैली अपनाने के बजाय, उपभोक्ता संस्कृति के नये नायक 'जीवनशैली' को एक जीवन परियोजन्य लेते हैं और अपनी वैयक्तिकरण और शैली की अनुभूति को वस्तुओं, वस्त्रों, प्रचलनों, अनुभव, बाह्यकृति और शारीरिक विन्यास में दर्शाते हैं और इस प्रकार वे इकट्ठी एक जीवनशैली तैयार करते हैं" (इबिड:86)।

विज्ञापन, मीडिया और वस्तुओं को प्रदर्शित करने की तकनीकों द्वारा उपभोक्ता संस्कृति, प्रयोग की मूल धारणा को या वस्तुओं के अर्थ को अस्थित करने में समर्थ हुई है और उनको नये बिंब और संकेतों से जोड़ सकी है जो संबंधित भावनाओं और इच्छाओं की एक संपूर्ण श्रेणी को इकट्ठा कर सकते हैं (फेदरस्टोन 1999:274)। इसका परिणाम यह होता है कि लोग उत्पादों के नवीनतर और नवीनतम रूपों को खरीदने के लिए मानसिक रूप से उत्तेजित हो जाते हैं। वस्तुत:, आधुनिक पूंजीवादी समाजों में वस्तुत: सामाजिक संबंधों की प्रमुख अभिसूचक बन जाती है। आधुनिक समाज संस्थात्मक और व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर स्वतुल्यता प्रक्रिया का अनुभव करते हैं जो उत्पादन और आधुनिक प्रणालियों के परिवर्तन तथा सामाजिक संगठन के आधुनिक रूपों के लिए निर्णायक है (गिडन्स 1991:1)।

वास्तविक आधुनिकता केवल भौतिक उन्नति के संदर्भ में नहीं परिभाषित की जा सकती। किसी सामाजिक व्यवस्था को आधुनिक कहा जा सकता है या नहीं इसके बारे में एक व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए हमको इसे बड़े प्रतिबिंब के द्वारा देखना होगा, जैसा लोगों में अंत:वैयक्तिक संबंधों में दिखाई देता है। आधुनिकता के कारण व्यक्तियों को जीवन के सभी क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के विकल्पों का सामना करना पड़ता है। विश्ववाद, उपलब्धि और व्यक्तिवाद आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण घटक हैं। यह व्यक्तियों के सर्वाधिक व्यक्तिगत और निजी पहलुओं जिसमें आत्मा-तादात्म्य भी शामिल है, को प्रभावित करता है। चूंकि परंपरा के बंधन ढीले पड़ गए हैं और दुहराव की बाध्यता समाप्त हो रही है, समाज में व्यक्तियों के लिए नए अवसर बन रहे हैं। अधिक विकल्पों की उपलब्धता का अर्थ है कि लोगों को अधिक निर्णय लेने पड़ते हैं। विकल्प केवल उपभोक्ता वस्तुओं तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि लोगों की व्यक्तिगत जिन्दगी के सभी क्षेत्रों तक फैले हैं। इसके कारण लोगों को सभी सामाजिक संबंधों, सामान्य मूल्यों और नीतियों की स्थितियों के बारे में बातचीत (सौदाकारी) करने का अवसर मिलता है जो स्त्री और पुरुष के बीच, दोस्तों के बीच और माता-पिता तथा बालकों के बीच संबंधों का आधार बनेगा। अब परंपरा व्यक्तियों के निर्णयों और कार्यों का आधार नहीं बनती।

पहले किए गए विचार विमर्श के मद्देनजर जहाँ यह दोहराया गया है कि भारत में उत्तर उदारतावादी काल में बदलती आर्थिक नीतियों द्वारा मध्य वर्ग की वृद्धि की गति तीव्र हुई, यह विश्लेषण करना महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या भारत में भौतिक उन्नति जो मध्य वर्ग के मामले में और अधिक प्रासंगिक है, मध्य वर्ग से संबंधित लोगों के मूल्य और अभिवृत्तियों में ऐसे अनुरूप परिवर्तनों की गवाह है, जिनसे वे 'आधुनिक' कहे जा सकें। दिल्ली जैसे महानगरीय समाज के शहरी जनसमुदाय के बीच किए गए एक अनुसंधान में (चंद्रा 2003), एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि मध्य वर्ग-उच्च और निम्न, से संबंधित लोगों में व्याप्त आधुनिकता के स्तर का सुस्पष्ट रूप से मापा जाए। प्रारंभ में एक वर्ग को उसकी आय, व्यवसाय और निवास क्षेत्र की गुणवत्ता के संदर्भ में निर्धारित किया गया। नई दिल्ली जैसे महानगरीय केन्द्र में रहने वाले लोग पोशाक और खान-पान की आदतों के संदर्भ में आधुनिक प्रतीत होते है। लेकिन जिस अधिक गंभीर मुद्दे की पूरी तरह छानबीन की जानी चाहिए वह यह है कि क्या आधुनिक लोकाचार लोगों की अभिवृत्तियां (आचरण) में गहरे स्तर तक दिखाई देता है। लोगों के अंत:वैयक्तित्व संबंधों की रचना के लिए आधार के विश्लेषण द्वारा ही मध्य वर्ग को 'पारम्परिक' आधुनिक या संक्रमणकालीन में वर्गीकृत करने का प्रयास किया जा सकता है।

उच्च वर्ग और उच्च मध्य वर्ग से संबंधित धनी उपभोक्ता खुद को सामान्य जनसमूह से अलग थलग दिखलाने के लिए एवं अपने जैसे लोगों के साथ सामान्यता बनाए रखने के लिए उत्पादों के क्रय विक्रय में संलग्न रहते हैं। अधिकांश अत्यधिक धनी उपभोक्ताओं के लिए चाहे वह किसी भी आयु और लिंग के हों, नवीनतम उपभोक्ता वस्तुओं (स्थायी) एवं अस्थायी का स्वामित्व इस बात का सूचक है कि वे प्रौद्योगिकीय रूप से अद्यतन हैं और फैशन में हैं। वे डिजायनर लेबलों वाली पोशाकें पहनने और होटल, रेस्त्रां आदि में खाने में पूर्णतया प्रवृत्त रहते हैं। उपभोग में रत रहने को वे आधुनिक स्तर का निर्णायक सूचक मानते हैं। समकालीन युग में उच्च मध्य

वर्ग में भी एयर कंडीशनर, टेलीविजन सेट, कम्प्यूटर और ऐसी ही अन्य वस्तुओं का स्वामी होने को आवश्यक माना जाता है।

पूरे अनुसधांन के दौरान यह देखा गया कि उत्तरदाताओं के इस समूह द्वारा वस्तुओं का चयन करते समय संपन्न लोगों को बराबरी की चेष्टा की जाती है लेकिन आर्थिक प्रतिबंधों के कारण वे अमीरों की तरह जल्दी-जल्दी वस्तुओं को बदल नहीं सकते। उल्लेखनीय रूप से, स्वतंत्रगोत्तर युग में उच्च मध्य वर्ग के लोग भी अंतर्राष्ट्रीय ब्रांडों की उपभोक्ता वस्तुएं खरीद रहे हैं। कुल मिला कर, वे संपन्न वर्ग के समान ही फैशन के प्रति सचेत हैं। वस्तुतः यह प्रतीत होता है कि उच्च मध्य वर्ग ऐसे वस्त्रों का चयन करता है और ऐसी जगहों पर खाने पीने के लिए बाहर जाता है जो उन्हें संभ्रांत वर्ग की श्रेणी में ला सके।

सोचिए और कीजिए 15.2

क्या आप यह सोचते हैं कि आप आधुनिक हैं? आपके विचार से आधुनिकता किससे बनती हैं? "मैं आधुनिक व्यक्ति क्यों हूं या "मैं आधुनिक व्यक्ति क्यों नहीं हूँ?" इस पर दो पृष्ठों का निबंधन लिखिए। अपने अध्ययन केन्द्र पर अन्य विद्यार्थियों के साथ इस निबंध के बारे में चर्चा कीजिए।

दूसरी ओर, पर्याप्त संसाधनों के अभाव के कारण निम्न मध्य वर्ग के उत्तरदाता उपभोक्ता संस्कृति में भाग लेने में असमर्थ हैं। यद्यपि उपभोग की संस्कृति की राजनीति क्षीण नहीं हुई है, लेकिन उनके उपभोग के तरीके में निश्चित रूप से परिवर्तन हुआ है। इस तथ्य पर ध्यान देना जरूरी है कि निम्न मध्य वर्ग के लोग भी 'आधुनिक' कहलाए जाने के अपने प्रयास में अपने उपभोग प्रतिमानों को बदल रहे हैं। अनेकों विनिमय योजनाओं द्वारा यह सुगम भी हो गया है। तथापि स्थायी और अस्थायी वस्तुएं खरीदते समय उपयोगिता के पहलुओं पर और अपेक्षित उत्पाद के मूल्य को महत्व दिया जाता है। कपड़ों के मामले में, युवा पीढ़ी मूल डिजायनर लेबलों की सस्ती नकलों वाले कपड़े खरीद रही है क्योंकि वे सस्ते होते हैं। बाहर खाने की संकल्पना जोर पकड़ रही है। उच्च और उच्च मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग में अंतर यह है कि इस वर्ग के लोग मंहगे रेस्तराओं में खाना नहीं खाते।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 15.02 : महान भारतीय मध्य वर्ग

अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान राष्ट्रीय परिषद (एनसीएईआर) द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार, भारतीय मध्य वर्ग केवल द्रुत गति से बढ़ ही नहीं रहा है, बल्कि यह कारों और एयकंडीशनरों जैसी 'विलास' वस्तुओं के उपभोग को प्रेरित करने वाला खंड भी बन गया है।

मध्य वर्ग जिसके अंतर्गत इस सर्वेक्षण द्वारा 2001-2002 की कीमतों पर 2 लाख और 10 लाख की वार्षिक आय वाले परिवार शामिल किए गए, 2001-02 में कुल 5.7% भारतीय परिवार आते थे। इस मध्य वर्ग के लोगों के पास उस समय देश में मौजूद कुल कारों और ए.सी. का 60% और कुल टीवी, फ्रिजों और मोटर साइकिलों का 25% का स्वामित्व था।

इस प्रक्षेपण के साथ समझ लीजिए कि 2009-10 तक मध्य वर्ग भारत की जनसंख्या का 13% हिस्सा होगा तो आप देखेंगे कि एनसीएईआर कारों और मोटर साइकिलों के लिए बाजार में काफी वृद्धि की संभावना क्यों देखता है। अध्ययन की भविष्यवाणी है कि 2009-10 तक कारों का बाजार एक वर्ष में 20% बढ़ेगा और मोटर साइकिलों के बाजार में 16% प्रति वर्ष की समय वृद्धि होगी।

फ्रिज और रंगीन टीवी निर्माता भी, 10% से 11% की श्रेणी में प्रक्षेपित वृद्धि दरों के साथ इस तेजी को भुनाने की आशा कर सकते हैं। रेडियो, बिजली की इस्त्री, साइकिल और कलाई घड़ियों का बाजार भी बढ़ेगा, यद्यपि यह वृद्धि वर्ष में केवल 7-9% होगी।

दूसरी ओर रिपोर्ट के अनुसार श्वेत श्याम टीवी, स्कूटर और मोपेडों की मांग वास्तव में कम हो जाएगी।

प्रक्षेपित उपभोग उछाल भारत में केवल शहरों तक ही सीमित नहीं है। इसके विपरीत सर्वेक्षण का सुझाव है कि दशक के अंत तक शहरों का बाजार कुछ सापेक्षित रूप से सस्ते उत्पादों के लिए संतृप्त होगा, जबकि ग्रामीण मांग बढ़ेगी। फलस्वरूप 2009-10 तक 80% रेडियो, 65% रंगीन टीवी, 48% मोटर साइकिल, 40% स्कूटर और 33% फ्रिज ग्रामीण जनता के पास होंगे। वास्तव में, प्रक्षेपण है कि ग्रामीण जनता की आय में वृद्धि के साथ-साथ गांवों में कारों की मांग भी इतनी बढ़ जाएगी कि दशक के अंत तक कुल कारों का 11% गांवों में होगा। महान भारतीय मध्य वर्ग-सर्वेक्षण पूरी जनसंख्या को चार आय समूहों में वर्गीकृत करता है। 90,000 रु. वार्षिक आय से नीचेवाले परिवार 'वंचित' कहलाते है और 2001-02 में इनकी संख्या कुल परिवारों के 72% के अंतर्गत थी। सर्वेक्षण के अनुसार 2099-10 तक यह हिस्सा 51.6% तक पहुंच जाएगा।

दूसरे आय वर्ग में 'आकांक्षी' आते हैं–जिनकी वार्षिक घरेलू आय 90,000 और 2 लाख के बीच है। 2001-02 में इस वर्ग की संख्या कुल परिवारों के 22% के अंतर्गत थी, लेकिन दशक के अंत तक इसकी संख्या 34% तक पहुंच जाने की संभावना है।

2001-02 में मध्य वर्ग के परिवारों की संख्या 10.7 मिलियन थी; 2009-10 तक संभावना है कि यह संख्या बढ़ कर 28.4 मिलियन हो जाएगी। सर्वेक्षण एनसीएईआर के वरिष्ठ फैलो और अध्यक्ष राकेश शुक्ला का कथन है "अमीरों की संख्या भी बढ़ रही है''। 2001-02 में 0.8 मिलियन से, दशक के अंत तक इस संख्या की बढ़ कर 3.8 मिलियन हो जाने की संभावना है।

1995-96 में करोड़पति परिवारों की संख्या 5000 थी, लेकिन 2001-02 में यह बढ़ कर 20,000 हो गई। शुक्ला का कहना है कि दशक के अंत तक 1.4 लाख करोड़पति परिवार होंगे। उनका यह भी कहना है कि दशक के अंत तक अधिकांश वंचित (85%) और आकांक्षी (60%) ग्रामीण क्षेत्रों में ही पाए जाएंगे और तीन चौथाई अमीर और दो तिहाई मध्य वर्ग के लोग शहरों में मिलेंगे।

यह रिपोर्ट पूरे भारत वर्ष में 858 गांवों और 660 शहरों में तीन लाख परिवारों में किए गए गहन सर्वेक्षण पर आधारित है। इसमें 20 स्थायी वस्तुओं, सात उपभोग्य वस्तुओं और मेडीक्लेम, जीवन बीमा और क्रेडिट कार्डों जैसी अनेकों सेवाओं को शामिल किया गया था। (टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 24 जून, 2005)

इस प्रकार कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में बदलती हुई आर्थिक नीतियों से, मध्य वर्ग अपनी उपभोग पद्धतियों में रूपांतर का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा है लेकिन उपभोक्ता संस्कृति भारत में शहरों में अभी भी अपनी उदयीमान (नवजात) अवस्था में है। सर्वव्यापी परिघटना बनने के बजाय, उपभोग अभी भी भिन्नताओं के संदर्भ में सीमित है। इसलिए उपभोक्तावाद को अभी भी विकसित होना है। यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि भौतिक प्रगति हो रही है, यद्यपि इसकी गति धीमी है लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक संबंधों की किस्मों में खोज करना अनिवार्य है; मध्य वर्ग से संबंधित लोग यह समझने का प्रयास कर रहे है कि वे सही मायने में आधुनिक हैं या नहीं।

अंतर्वैयक्तिक संबंधों की रचना के संबंध में, यह देखा गया है कि मध्य वर्ग, जैसा कि आन्द्र बेते ने लिखा है कि अभी भी निर्माण की प्रक्रिया में है और इसने अभी भी एक स्थायी रूप नहीं ग्रहण किया है (बीत्ल, 200:74) इस प्रकार इन संबंधों में गहरे और व्यापक विरोध व्याप्त हैं जिनका अर्थ है मूल्यों और मानकों के सेट में विरोधाभास, प्रतिकूलताएं और तनाव।

15.6 मध्य वर्ग में परिवार, विवाह और महिलाओं की स्थिति से संबंधित मूल्य

21वीं शताब्दी में भी विवाह को ऐसी महत्वपूर्ण पारंपरिक संस्था माना जाता है जिसमें सभी को प्रवेश करना है। व्यक्तियों विशेष रूप से महिलाओं के लिए उपलब्ध विकल्प बहुत थोड़े हैं क्योंकि

विवाह और मातृत्व को चरम लक्ष्य माना जाता है। एक महिला की पहचान अधिकतर उसकी वैवाहित स्थिति पर निर्भर रहती है।

शहरी भारत के उच्च और उच्च मध्य वर्ग दोनों में, जो बाह्य रूप से आधुनिक प्रतीत होते है, विवाह को अभी भी जीवन की एक ऐसी रीति के रूप में देखा जाता है जिसके माध्यम से व्यक्ति वयस्कावस्था में प्रवेश करता है। यद्यपि विवाह पुरुष और स्त्री दोनों के लिए अनिवार्य माना जाता है, परंतु महिलाओं के लिए सामाजिक मानकों का पालन अधिक कड़ा हो जाता है। अकेली और अविवाहित रहने के संदर्भ में महिलाओं के पास सीमित विकल्प होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पुरुषों के पास अधिक विकल्प होते है क्योंकि वे अकेले रहने का चयन कर सकते है लेकिन महिलाओं को ऐसी स्वतंत्रता कम ही मिल पाती है।

विशिष्टतापरक मानदंड लगभग सभी वर्गों के लोगों में घनिष्ठ संबंधों की रचना के लिए मानक आधार प्रदान करते हैं। यद्यपि, तयशुदा विवाह जिसमें माता-पिता अपनी संतानों के लिए भावी साथियों का चयन करते हैं, विवाह को ज्यादा पंसद किए जाने वाला स्वरूप हैं लेकिन उच्च और उच्च मध्य वर्गों में कुछ परिवर्तन दिखाई देते हैं। अर्धतयशुदा विवाह, जिनमें लड़के-लड़कियां अपना जीवन साथी खुद ही चुनते हैं लेकिन विवाह तभी करते हैं जब माता-पिता सहमत हों, भी अब होने लगे हैं। ऐसे विवाहों में, अंतर्जाति और अंतधर्मी विवाह संबंधों को भी सहन किया जा रहा है, यद्यपि यह सशर्त किया जाता है। हिन्दू-मुसलमान और हिन्दू-ईसाई विवाह अभी भी वर्जित हैं। ऐसे संबंधों को अस्वीकृत किए जाने के लिए मुख्य कारण यह है कि धार्मिक भिन्नताओं के कारण पति-पत्नी के बीच कुसमायोजन की काफी अधिक संभावना रहती है। जिसके कारण संबंध टूट जाते है। इन विशेष मामलों के अलावा, अधिकांश पारम्परिक मूल्य प्रणाली का ही अनुमोदन करते है। जिसमें एक ही जाति और धर्म के अंतर्गत विवाह करने पर जोर दिया जाता है। तथापि, पिछली पीढ़ियों से अब कुछ परिवर्तन हुए हैं क्योंकि विवाह संबंधों को निश्चित करने से पहले भावी जीवन साथियों को एक या दो बार मिलने की अनुमति दी जाती है। निम्न वर्ग और निम्न मध्य वर्गों में, सामाजिक मानकों का कड़ाई से पालन किया जाता है। विवाह समारोह पारम्परिक तरीके से आयोजित किए जाते है। व्यक्तियों के बीच उपलब्ध विकल्प बहुत थोड़े हैं। निम्न मध्य वर्ग में ऐसे मूल्य और मानक तुलनात्मक रूप से अधिक गहराई तक जमे हुए हैं। मध्य वर्ग से संबंधित लोगों के रवैयों में कुछ अस्पष्टताएं काफी व्यक्त होती हैं क्योंकि प्रश्नावलियों में प्रश्नों के उत्तर देते समय तो वे परिवर्तन के प्रति अधिक खुले विचारों से भरपूर प्रतीत होते हैं लेकिन विस्तृत साक्षात्कारों के दौरान अपने जीवनवृत्त बताते समय अधिक सचेत हुए बिना वे अधिक पारम्परिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। उनके द्वारा अनुमोदित सामाजिक मानकों और मूल्यों के सेट में ऐसे विरोधाभास अंतर्निहित हैं।

इसके अतिरिक्त, पुरुष की 'पालनकर्ता' होने की और स्त्री की 'पोषक' की रूढ़िबद्ध भूमिकाएं स्थायी बना दी गई है। उच्च और उच्च मध्य वर्गों में कुछ परिवर्तन दिखाई देते है। यहाँ पर सतही स्वाधीनता है क्योंकि महिलाएं ऐसे वस्त्रों का चयन कर रही है जो फैशन की दुनियां में नवीनतम हैं। फिर भी, अपने व्यवसायों या विवाह से संबंधित मामलों पर निर्णय लेने के लिए उन्हें पूरी स्वतंत्रता नहीं है। चूंकि विवाह और मातृत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य माना जाता है अत: सभी निर्णय इन्हीं के अनुरूप करने पड़ते हैं। इस उच्च वर्ग में महिलाओं को लाभपूर्ण रोजगार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता क्योंकि यह माना जाता है कि अगर वे ऐसा करेंगी तो इससे उस परिवार की खराब स्थिति प्रकट होगी जिससे वे संबंधित है। महिलाओं के लिए लचीले समय वाले व्यवसाय अनुमादित किए जाते हैं जिससे वे गृह प्रबंधन के अपने प्रमुख कार्यों को सुविधापूर्वक पूरा कर लें और इसलिए उन्हें भूमिका संघर्ष के किसी रूप का सामना न करने पड़े।

यद्यपि समकालीन युग में उच्च और उच्च मध्य वर्ग में महिलाएं पिछली पीढ़ियों की महिलाओं की तुलना में अधिक स्वाधीन प्रतीत होती हैं, तथापि उन्हें पुरुषों का उपांग ही माना जाता है।

अधिकार है। उच्च मध्य वर्ग में, माता-पिता अपनी बेटियों के पढ़ाई में उत्कृष्ट होने पर उतना ही बल देते हैं जितना कि बेटों की पढ़ाई पर। परंतु बेटियों की उच्च शिक्षा पर बल नहीं दिया जाता क्योंकि उच्च शिक्षा को उनके लिए अच्छा वर पाने के मार्ग में बाधक माना जाता है। सामंजस्यपूर्ण वैवाहित संबंध को ऐसी महिलाओं पर निर्भर माना जाता है जो पुरुषों से गौण स्थिति में रहती हैं।

निम्न मध्यवर्ग में भी, शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं के पास सीमित विकल्प दिखाई देते हैं। शिक्षा उन्हें बेहतर पत्नियां और माताएं बनाने के लिए आवश्यक समझी जाती है। महत्वपूर्ण रूप से, अधिकांश महिलाएं लाभदायक रोजगारों में लगी हैं लेकिन वे परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही श्रम बल में शामिल होने के लिए बाध्य की जाती हैं। महिलाओं से अनिवार्य रूप से यह आशा की जाती है कि वे अपने घरों के दायरे के अंदर ही रहें और अपने परिवारों की आवश्यकताओं की पूर्ति करें। इसे एक स्वाभाविक बात माना जाता है। खुद अपने से ही संबंधित मामलों पर निर्णय लेने की भी महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। अत:, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मध्य वर्ग में, उच्च और निम्न दोनों में महिलाएं अभी भी स्व-निर्णायक नहीं हैं। सामाजिक भूमिकाएं पारम्परिक अपेक्षाओं के अनुरूप परिभाषित होती रहती है।

मित्र बनाते समय भी विशिष्टता परक मानक कुछ भूमिकाएं निभाते रहते हैं क्योंकि ऐसे संबंध सामान्यत: वर्ग समानताओं अर्थात एक सी आर्थिक पृष्ठभूमि और मूल्य प्रणाली पर आधारित होते हैं।

अत: यह बड़ी दिलचस्प बात है कि समकालीन युग में भारत में मध्य वर्ग ने न तो स्थायी रूप ग्रहण किया है और न ही इसे 'आधुनिक' कहा जा सकता है।

15.7 सारांश

इस विचार-विमर्श के पश्चात् यह कहने की बलवती इच्छा होती है कि शहरी भारत में मध्य वर्ग, आधुनिक है और यह कथन इस तथ्य पर आधारित है कि भौतिक रूप से इस वर्ग में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है हालांकि इस परिवर्तन की गति धीमी है। यद्यपि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत में उपभोक्ता संस्कृति ने अभी भी सु-संस्थापित रूप नहीं ग्रहण किया है, तथापि यह स्वीकार लेना चाहिए कि भारतीय शहरी मध्य वर्ग की उपभोक्ता पद्धतियां बदल रहीं है। कार, इलेक्ट्रॉनिक वस्तुएं, डिजायनर कपड़े जैसे प्रत्यक्ष प्रतीक व्यक्तियों के उन्नतिशील रवैयों और आधुनिक मानी जाने वाली स्थिति को वर्णित करने के लिए प्रयुक्त किए जा रहे हैं। तथापि, केवल आर्थिक स्थिति के संदर्भों में वर्ग को परिभाषित करना, भारत में वर्ग स्थिति के प्रस्तुतीकरण के लिए पर्याप्त नहीं होगा। इस अभिलेख में हमने इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारत में मध्य वर्ग को समझने के लिए सामाजिक संबंधों के निर्माण के लिए आधार एक महत्वपूर्ण मापदंड है। भारत में मध्य वर्ग को पूरी तरह से आधुनिक कह कर परिभषित नहीं किया जा सकता। नवीनतम इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं का स्वामित्व और प्रौद्योगिकीय रूप से अद्यतन होना मात्र ही आधुनिकीकरण नहीं है।

इसके बावजूद आधुनिकता लोगों के नजरिए में नजर आनी चाहिए जो दूसरों से उनके सामाजिक संबंधों के दौरान दिखाई दे। आधुनिकता अपने साथ सामाजिक लेनदेन के नए रूप विकसित करती है। भारत के शहरी मध्य वर्ग के संदर्भ में, लोगों की जिंदगी और सामाजिक संबंधों में आधुनिकता की बजाए परम्परागत रीति-रिवाजों और मान्यताओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अनिवार्य तौर पर वे परम्परा और आधुनिकता से जूझते रहते है। उनके सामाजिक संबंध अभी भी पारंपरिक अपेक्षाओं, मानकों और लोकाचारों से घिरे हुए है। इस जीवन में अभी भी परम्परागत मूल्य और पितृसत्तात्मकता का बोलबाला देखा जा सकता है।

अंतर्वैयक्तिक संबंधों में विकल्प सामाजिक रूप से नियंत्रित हैं। इसके अतिरिक्त, सामाजिक अनुबंधन उन अपेक्षित लकीरों के अनुकूल विचार और प्रतिक्रियाओं को जारी रखता है जो पुरुष प्रभुत्व वाले समाज की प्रमुख संहिताओं पर बल देते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं

है कि भारतीय वर्ग में कोई प्रगति नहीं हुई है। दीपांकर गुप्ता का कहना है कि "यद्यपि अतीत हमारे वर्तमान में है; लेकिन अतीत पूरी तरह से हमारे वर्तमान में नहीं है (गुप्ता 2000:2006)। रूपांतरण हो रहा है, तभी तो लोग अपनी सोच में दोनों का समावेश कर रहे हैं। लोगों के इन पहलुओं पर शोध करते समय यह प्रकट होता है। आधुनिकता अपने साथ-साथ विरोधाभास और लोगों के दिमागों में दोनों भाव लाती है क्योंकि उनके सामने उपलब्ध विकल्पों की संख्या अनंत है। भारत का शहरी मध्य वर्ग इस तथ्य का अनुभव कर रहा है। अत: अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि सामाजिक व्यवस्था संक्रमणवादी अवस्था में है जहाँ पारम्परिक आधुनिक अतत्यक (काल) में पारम्परिक मूल्य प्रणाली अभी भी प्रमुख है।

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेते आन्द्रे, 2001, इन मिडिल क्लास वेल्यू इन इण्डिया एण्ड वेस्टर्न यूरोप (संपा) इम्तियाज अहमद और हेल्मट रेफील्ड द्वारा सामाजिक विज्ञान प्रेस, नई दिल्ली

गुप्ता, दीपांकर 2000, मिस्टेकन मोडर्निटी इण्डिया बित्वीन वर्ल्डस हार्पर कोलिन्स, नई दिल्ली

वर्मा, पवन, 1998, द ग्रेट इण्डियन मिडल क्लास। वाइकिंग : दिल्ली

राइट, ई. ओ, 1997, क्लास काउन्ट्स : केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस : केम्ब्रिज।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 16

लैंगिक (जेंडर) भेदभाव, जाति और वर्ग

इकाई की रूपरेखा

16.1 प्रस्तावना

16.2 लैंगिक भेदभाव से तात्पर्य

16.3 लैंगिक भेदभाव और जाति

16.4 लैंगिक भेदभाव और वर्ग

16.5 लैंगिक भेदभाव, जाति और वर्ग में क्षेत्रीय विभिन्नताएं

16.6 सारांश

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के पश्चात् आप:

- लैंगिक भेदभाव की संकल्पना को परिभाषित कर सकेंगे;
- लैंगिक भेदभाव और जाति के बीच संबंध का वर्णन कर सकेंगे;
- लैंगिक भेदभाव और वर्ग के बीच क्या संबंध है चर्चा कर सकेंगे; और
- लैंगिक भेदभाव जाति में क्षेत्रीय मिश्रणों का संक्षेप में वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.1 प्रस्तावना

अभी तक आपने भारत के कृषिक वर्गों और श्रेणियों, श्रमिक वर्ग और मध्य वर्ग के बारे में पढ़ा। इस इकाई में हम लैंगिक भेदभाव पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण के तीसरे प्रकार पर चर्चा करेंगे। भाषाओं, रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक प्रथाओं की विविधता भारतीय समाज की विशेषता है। जाति और वर्ग के व्यापक सामाजिक सोपानक्रम के अंदर लैंगिक भेदभाव जाति और वर्ग को विभक्त करता है। समकालीन भारत में लैंगिक भेदभाव जाति और वर्ग का गतिशील परिघटना हैं जो हर क्षेत्र और समुदाय में भिन्न हैं।

चूंकि पिछली इकाइयों में हम जाति के विभिन्न पहलुओं और स्तरीकरण की वर्ग पद्धति के वर्णन पहले ही कर चुके हैं अत: यह इकाई लैंगिक भेदभाव की गति की एकस्तरीकरण पद्धति जो भारतीय समाज में प्रचलित है उसके विविध आयामों पर केन्द्रित होगी। लैंगिक भेदभाव भूमिकाएं महत्वपूर्ण (भौतिक) कारकों, श्रम-विभाजक, परिवार में समाजीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा स्थापित प्रतिबंधों, जाति, विवाह, और समोत्रता संगठन, उत्तराधिकार के असमानत: और स्वास्थ्य, जीवन और जीविका बनाए रखने के लिए संसाधनों तक पहुंच जैसे कई कारकों के बीच परस्पर क्रिया के द्वारा निर्धारित होते हैं। परिवार के भीतर विद्यमान सामाजिक सोपानक्रम भी सुस्पष्ट होते है और लैंगिक भेदभाव, जाति तथा वर्ग के आधार पर मजदूरी-कार्य के दायरे में बाहर से दृष्टिगत होते हैं।

इनमें से कुछ कारक सैद्धांतिक/वैचारिक कारक होते हैं जो ऐसी घरेलू विचारधाराओं (सिद्धांतों), धार्मिक विश्वास, अनुष्ठान और रीति-रिवाज पर आधारित जो असमानता को सुदृढ़ करते हैं

और जिनमें महिलाएं स्वयं सोपानक्रमों के आभ्यंतरीकरण की ओर प्रवृत्त होती हैं। अधिकांश भौतिक और सैद्धांतिक कारकों की हमारे समाज और संस्कृति, हमारी सामाजिक संस्थाओं में गहरी पैठ है ये समाज, संस्कृति और सामाजिक संस्थाएं समाज में महिलाओं की अधीनता के जारी रखने और पुननिर्माण (पुनः प्रवृत्त करने) में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

16.2 लैंगिक भेदभाव से तात्पर्य

लिंग क्या है? शायद सामाजिक विभेदीकरण का प्राचीनतम और सर्वाधिक चिरास्थायी स्रोत है। केवल यह ही एक ऐसा विषय है जिस पर पिछली शताब्दी के अन्तर्गत महत्वपूर्ण रूप से ध्यान दिया गया व विचार किया गया। वे विद्धानों के विचार के रुप में और प्रथाओं के समूह के रुप में जेंडर का संकल्पना रुप में और पुनःसंकल्पना-निर्धारण पिछले तीन दशकों के दौरान हुआ जो निश्चित रूप से इसमें उठाए जाने वाले मुद्दे के गहन राजनीतिक स्वरूप (गुण) को दर्शाता है। इसके अलावा, लैंगिक भेदभाव पुरुषों और महिलाओं एक विशेषताओं के बीच सामाजिक विभाजन और सांस्कृतिक भिन्नताओं के तथा पुरुषत्व और स्त्रीत्व से जुड़ी आम विशेषताओं को भी समाविष्ट करता है। यह याद रखना चाहिए कि भले ही लैंगिक भेदभाव को उन व्यापक सामाजिक संबंधों से अलग नहीं किया जा सकता जिसके जाल में यह फंसा है। यह वर्ग, जाति और लैंगिकता जैसे सामाजिक विभाजनों तथा असानताओं को विभक्त करता है तथा विभिन्न समाजों के बीच एवं एक ही समान में पुरुषत्व और स्त्रीत्व के अर्थ भिन्न-भिन्न होते है। लैंगिक भेदभाव (सेक्स) शब्द के स्थान पर प्रयुक्त नहीं होता क्योंकि यह केवल महिलाओं और पुरुषों के बीच जैविक अंतर को ही बतलाता है। लैंगिक भेदभाव एकात्मकता (एकरूपता) अनेक, विभक्त और सामर्थ्य के रूप से अस्थिर होती हैं जबकि लैंगिक भेदभाव में सदैव नृजातीयता और वर्ग की गतिशीलता का समावेश होता है। आइए जाने कि विभिन्न समाजशास्त्रियों ने लैंगिक भेदभाव की संकल्पना किस प्रकार चर्चा की है।

1) लैंगिक भेदभाव (यौन)

लैंगिक भेदभाव उन सामाजिक रूप से निर्मित तथा सांस्कृतिक रूप से निर्धारित उस भूमिका का उल्लेख करता है जो पुरुष व महिला अपने जीवन में निभाते हैं। विश्लेषक के लिए यह एक संकल्पनात्मक साधन है और इसका प्रयोग श्रम बाजारों और राजनीतिक संरचनाओं तथा घरों में पुरुष और महिलाओं के संबंधों के बीच दृष्टिगत होने वाली संरचनात्मक असमानताओं का उल्लेख करने के लिए किया जाता है। दूसरी और यौन पुरुषों और महिलाओं के बीच के जैविक अंतरों उद्धृत का वर्णन करता है जो भिन्न स्थान व समय में लगभग समान ही हैं। लैंगिक भेदभाव के अन्तर्गत सामाजिक रूप से सृजित भिन्नताओं और पुरुषों और महिलाओं के बीच के संबंधों में प्रत्येक स्थान तथा समय (काल) में बहुत अधिक भिन्नता देखने को मिलते हैं। इसलिए लैंगिक भेदभाव को एक ऐसी धारणा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो एक ऐसे ढांचे का समूह प्रस्तुत करता है जिसमें सामाजिक और वैचारिक निर्माण और लिंगों के बीच भिन्नताओं के रूप का वर्णन किया जाता है। (मैसफील्ड. ए. 1992)

यूनेस्को के 'दि नीड्स आफ विमेन' शीर्षक वाले दस्तावेज के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा प्रस्तुत लैंगिक भेदभाव की परिभाषा महिला व पुरुषों के बीच सामाजिक भिन्नताओं का वर्णन करती है जो ज्ञात हैं, प्रत्येक समाज और संस्कृति में इनमें अत्यधिक अंतर है और समय के साथ जिनमें परिवर्तन होता रहता है। लैंगिक भेदभाव के स्थान पर यौन शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि यह पुरुषों और महिलाओं के बीच के शारीरिक अंतर को बताता है। लैंगिक भेदभाव का प्रयोग सभी क्षेत्रों और किसी भी निर्धारित समाज के संदर्भ में महिलाओं को पुरुषों की भूमिका, दायित्वों, बंधनों और जरूरतों का विश्लेषण करने के लिए किया जाता है। शक्ति संरचना और आर्थिक संबंध लैंगिक भेदभाव के अंतर्गत आते हैं, लैंगिक वैयक्तिकताएं अनेक, विभक्त और सामर्थ्य, रूप से अस्थिर हैं। लैंगिक भेदभाव में सदैव नृजातीयता और वर्ग की गतिशीलता (गति की) सम्मिलित होते है।

MADHYAM IAS

2) लैंगिक भेदभाव का सामाजिक निर्माण

ई.डी.ग्रे (1982-39) जैसे सामाजिक वैज्ञानिकों का मानना है कि सामाजिक निर्माण एक सतत प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और व्यापक सामाजिक प्रक्रियाएं हिस्सा लेते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा चीजों का सामान्य अर्थ (every day sense of things) यथार्थता के सामाजिक निर्माण की नींव डालता है। प्रत्येक निर्माण (सृजन) सामाजिककर्त्ताओं की व्यक्तिगत समझ (सोच) से प्रभावित होता है और इसीलिए इसमें आत्मपरक (आत्मनिष्ठ) पक्षपात स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। समाज में विशेष समूहों और वर्गों की रुचियां भी यथार्थता के सामाजिक निर्माण को रूप प्रदान करती है। इस अर्थ में भी यह पक्षपातपूर्ण होता है। तर्कपूर्ण ढंग से समूहों के आत्मनिष्ठ पक्षपात को नियमित करने और इसे व्यापक आधार प्रदान करने तथा वैध बनाने के दृष्टिकोण के सामान्यत: समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, घटनाओं, रीति-रिवाजों, भाषाओं, विचारधाराओं और संस्थागत ढांचों का प्रयोग विशेष सामाजिक निर्माण को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार जिस सामाजिक निर्माण के माध्यम से हम अपने दैनिक जीवन के अनुभव में अन्य नैतिक निर्णय लेते है और लोगों को धर्म, लिंग, जाति इत्यादि के अनुसार वर्गीकृत करते हैं वे सांस्कृतिक रूप से निर्धारित होते हैं और इन्हें बदला जा सकता है। वे सामाजिक धाराओं, मूल्यों विश्वासों इत्यादी को रूप प्रदान करते है और इनके द्वारा ये मन के बैठाए या अतर्निविष्ट भी किए जाते हैं। समाजीकरण और शिक्षा जैसी सामाजिक प्रक्रियाएं भी विशिष्ट प्रकार के सामाजिक निर्माण के चिरस्थायी बनाने और व्यापक रूप से स्वीकार करने में सहायता करती हैं। लैंगिक भेदभाव ऐसी ही सामाजिक निर्माण की देन है। यह भी समाज के निर्धारित सांस्कृतिक साधन में निर्मित होती है। (कन्नाविरन, के. 2000 एफ डब्ल्यू ई. 1 इग्नू)

लैंगिक भेदभाव या पुरुषत्व व नारीत्व का सांस्कृतिक निर्माण प्रत्येक समाज में संस्थाओं और प्रथाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जाति, वर्ग और विशेष रूप से एक संस्कृतिक में पुरुषों और महिलाओं के बीच शक्ति संबंध संदर्भ में स्तरीकरण और सत्ता प्रणाली को समझने के लिए यह महत्वपूर्ण है।

सोचिए और कीजिए 16.1

अपने परिवार के रीति-रिवाजों और परंपराओं के बारे में सोचिए। कम से कम एक ऐसे अनुष्ठान या समारोह का विवरण लिखिए जो पुरुषों और महिलाओं के बीच अंतर को अभिव्यक्त करता है।

आपके परिवार तथा आपकी अपनी स्थिति में इस अनुष्ठान ने क्या निहितार्थ है। अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ उसके विवरण पर चर्चा कीजिए।

16.3 लैंगिक भेदभाव और जाति

भारत में समाजशास्त्र के इस पाठ्यक्रम के खंड 2 **जाति पर परिप्रेक्ष्य,** में आप भारत में जाति संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत हुए; ब्राह्मण जैसी उच्च जातियाँ इसे किस रूप में देखते है? औपनिवेशिक शासक यानी ब्रिटिश और अन्य यूरोपीय भारत में जाति को किस रूप में देखते थे और जाति संबंधी ऊंच-नीच को उन्होंने किस प्रकार ग्रहण किया था? ऐसा माना जाता है कि भारत में जाति व्यवस्था एक सामाजिक स्तरीकरण है जो वर्गीय विभाजन के ही समान है।

पारंपरिक भारतीय समाज में, उच्च जातियों के अन्तर्गत सामान्यत: वह उच्च वर्ग के और शक्ति जिनके पक्ष में सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संसाधन व शक्तियां थी। निम्न जातियां भूमिहीन श्रमिक या सेवा जातियां थी, जो आर्थिक रूप से निर्धन और राजनीतिक रूप से शक्तिहीन थी ओर जो निम्न स्तर की थीं।

भारत में औपनिवेशक शासन में जब भूमि क्रय करने योग्य (बिचने योग्य) वस्तु बनी तभी इसे तालमेल में उथल-पुथल हुई। उपनिवेशी प्रभाव और विभिन्न व्यावसायिक अवसरों के लिए मार्ग

प्रशस्त होने; मध्य वर्गीय और कुछ निम्न वर्ग भी जातियों एवं आगरा के जाटों के आर्थिक सुधार के फलस्वरूप पारंपरिक शक्ति संरचना अव्यवस्थित हुई ओर सामाजिक गतिशीलता की दर में अत्यधिक वृद्धि हुई। (मिल्टन सिंगार (संपादित) ओम लिंच 1968 में 1968)

भारत में जाति नीति उद्भव के संबंध में कई मत हैं, जैसे कि प्रजातीय उद्भव, व्यावसायिक विशेषज्ञत: के संदर्भ में उत्पत्ति इत्यादि। लेकिन जाति संबंधी किसी भी रचना में इस पर राजनीतिक रूप से सचेत या उसे लैंगिक भेदभाव के संदर्भों में नहीं देखा गया और वे शक्ति, प्रभुत्व और नेतृत्व के मुद्दों को अपने पूरे इतिहास में जाति समाज के प्रमुख मुद्दों के रूप में विचार नहीं करते। कल्पना कन्नाविरान (इग्नूएफडब्ल्यूई-01, खंड-1: पृष्ठ सं. 16) में लिखते हैं कि भारतीयों द्वारा जाति का कोई भी विश्लेषण परिभाषा के आधार पर राजनीतिक है। सह सचेत रूप से चुनता है या अचेतन रूप में निम्न में से किसी एक स्थिति से सारूप्य करता है।

क) जिनके हाथों में पहले से ही सत्ता है उनके एकीकरण के लिए मामला प्रस्तावित करके यथापूर्व स्थिति का समर्थन करना

ख) भारतीय परंपरा की समीक्षा तैयार करने यथापूर्व स्थिति के साथ आलोचनात्मक ढंग से सम्मिलित हो जाना।

यह उल्लेख करना जरूरी नहीं है कि जाति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समीक्षा और भारतीय परंपरा के विस्तार बौद्धिक और राजनीतिक क्रियावादियों, दलित समूहों और ब्राह्मण विरोधी आंदोलनों से आए है अर्थात ये समीक्षाएं जो इन समूहों के जीवन अनुभवों और विश्व के विचारों से उभरीं। ये समीक्षाएं उन व्यक्तियों के सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक वास्तविकताओं में सुदृढ़ रूप से जाति के पुन: केन्द्रित करती है जिनके श्रम और लैंगिकता का प्रभुत्व जातियों वाले जाति समाज में सर्वोच्च समूहों ने पारंपरिक रूप से दुरुपयोग किया है।

वे मानती हैं कि जाति के लिंग पर आधारित करने का एक मात्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यौन सम्बंधित लैंगिकता के कार्यक्षेत्र में ही निहित है। भारत और श्रीलंका के जाति समाजों में स्त्री की शुद्धता से कई अनुष्ठानों को जोड़ा गया जिसके तहत महिलाओं की यौन प्रक्रिया को नियंत्रित किया जा सके। परंतु पुरुष के यौन शुद्धता के लिए कोई अनुष्ठान नहीं बनाया गया।

बॉस 16.2 उत्तर प्रदेश में महिला-पुरुष निम्न अनुपात

लिटेन और श्रीवास्तव (1999:71) अनुसार दुनिया में और भारत में भी उत्तर प्रदेश में महिला-पुरुष अनुपात सबसे कम है। केवल हरियाणा इसका अनुपात है। क्षेत्रीय असमानताओं पर गौर करने पर यह पता चलता है कि निम्न महिला पुरुष अनुपात का केन्द्र हरियाणा नहीं बल्कि उत्तर प्रदेश है। इस क्षेत्र में पूरे राज्य की एक तिहाई जनता से ज्यादा और हरियाणा से लगभगा तीन गुनी जनसंख्या है। साथ ही साथ इस क्षेत्र का महिला पुरुष अनुपात सबसे कम है यानी 0.84।

I) लैंगिक भेदभाव और अनुष्ठानों की रचना

यह सर्वज्ञात है कि अनुष्ठानों से किसी समाज विशेष में लैंगिक भेदभाव रूप के बारे में काफी कुछ पता चलता है। यल्मान (1963) कन्दियान सिंघलियों में दो महत्वपूर्ण उत्सवों (अनुष्ठानों) का उल्लेख करते है।

i) कांदियान बच्चों के लिए एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अनुष्ठान है जो लैंगिक भेदभाव को दर्शाता है यह है लड़कियों के राजस्वला होने से पूर्व उनके कानों को छेदने का अनुष्ठान।

ii) दूसरे और अत्यधिक उल्लेखनीय अनुष्ठान वे हैं जो पुरुषों के यौवन के आगमन पर किया जाता है।

यहाँ और दक्षिण भारत के कई जाति समुदायों के कुछ ऐसे विशिष्ट अनुष्ठान है जो लड़कियों में माहवारी (मासिक धर्म) शुरुआत होने पर किए जाते हैं। लड़की के व्यस्कावस्था में प्रवेश को

धार्मिक विधि के खुलेआम मनाया जाता है और धार्मिक अनुष्ठान किए जाते है। माहवारी महावारी के दौरान उसे झोपड़ी या अलग (बंद) कमरे में रखा जाता है ताकि व न तो दूसरों के प्रदूषित (अपवित्र) करने और न ही उसे कोई नुकसान है(पृथक्करण) आंशिक होता है ताकि उसे उन प्रतिकूल शक्तियों और भूत-प्रतों से सुरक्षित रखा जा सके जो उस अवधि के दौरान उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। प्रथम माहवारी के बाद लड़की की शुद्धि के लिए व्यापक अनुष्ठान किए जाते हैं (यल्माना, एन, 1963:25)

लेकिन केवल लड़कियों को ही ऐसे अनुष्ठानों से गुजरने की क्या जरूरत है। यल्मान बताते है कि जैसाकि सिंहली ग्रामवासियों का ही यह मानना है कि ये अनुष्ठान जितना महिला की उर्वरता से संबंध रखते है उससे ज्यादा उसको सम्मान भी देते हैं। ग्रामवासियों का कहना है कि :

i) यह महिला के गर्भ की जनन क्षमता की रक्षा करता है; और

ii) यह आवश्यक भी है क्योंकि पुरुष के सम्मान और प्रतिष्ठा उनकी महिलाओं के जरिए सुरक्षित व परिरक्षित होती है।

II) जाति और काम भावना और प्रजनन के विधान

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जाति और लैंगिक भेदभाव घनिष्ठ रूप से संबंध है चूंकि महिलाओं की काम भावना का प्रश्न सीधे प्रजाति की पवित्रता पुरुषों के सम्मान से जुड़ा है अत: जाति जितनी उच्च होगी उतना उनका महिलाओं की काम भावना भी नियंत्रित होगी। श्रीलंका और भारत जैसे जाति समाजों में निम्न जातियों की तुलना में उच्च जातियों के अनुलोभ विवाह की व्यापक संस्था प्रचलित है। अनुलोम विवाह जहाँ महिलाएं केवल अपनी या अपने से ऊंची जाति के पुरुषों के साथ सहवास कर सकती है। अपने से निम्न स्तर के पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकतीं। कन्नावीरान (2000:17) का कहना है कि महिलाओं को चूंकि प्रभुत्व जातियों के दृष्टिकोण से देखा जाता है अत: वे पुरुष बीज के लिए मात्र पात्र अर्थात् संतान देने वाली होती हैं। पात्र पवित्रता (यहाँ महिलाओं के गर्भ से अभिप्राय है) संतति (संतान) की पवित्रता को सुनिश्चित करती है और पितृत्व सम्बंधी शंकाओं को शांत करती है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है महिला की काम भावना पर नियंत्रण और चिंता उन जातियों में अत्यधिक होती है जिनमें समाज की भौतिक परिसंपत्तियों पर अत्यधिक स्वामित्व होता है अर्थात् उच्च जातियां और वर्ग में।

विवाह संबंध, अंतर्विवाह, बर्हिविवाह के साथ सरोकार जाति प्रथा के अनुरक्षण के लिए महत्वपूर्ण हैं, जहाँ पुरुष महिलाओं के आदान-प्रदान या उस पर नियंत्रक के माध्यम से व्यवस्था के विनियमित करते हैं, जाति संबंधी किसी भी चर्चा का केन्द्र है। लर्नट के अनुसार विवाह में परिवार के पुरुष सदस्यों द्वारा महिला सदस्य के आदान-प्रदान करने के प्रथागत अधिकार ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विकास किया और परिवार के विकास के लिए परिस्थितियां निर्मित की। भारत में निजी संपत्ति और जाति स्थिरीकरण के विकास से प्रथागत अधिकार ने आर्थिक महत्व अर्जित किया। विवाह बंधनों को गठित करने में प्रमुख विचार परिवार की धन सम्पत्ति को अधिक से अधिकतम बनाना था और अभी भी है। महिलाएं मुफ्त घरेलू श्रमिक बनके न केवल आर्थिक भूमिका निभाती थीं बल्कि बच्चों को जन्म देकर परिवार को आगे बढ़ाती थीं। लर्नर का मानना है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं की अस्तित्व की नहीं बल्कि महिलाओं से प्राप्त काम सुख और प्रजजन को विशेष महत्व दिया जाता था। (लर्नर जी 1986-87-इग्नू 2000 एफडब्ल्यूई. 1 खंड से उद्धृत)

iii) परिवर्तनशील जाति-व्यवस्था और महिलाओं पर इसका प्रभाव

समकालीन भारत में महिलाओं की जाति अस्मिता के कारण कई प्रतिबंध व दबाव काफी कम हुए है। पूँजीवादी भारत में कई सामाजिक वर्ग उभरे हैं। हालांकि इसका अभिप्राय यह नहीं है कि महिलाओं को अधीन रखने का पुरातन प्रचलन विलुप्त हो गया है। नए वर्गो के उद्भव का अभिप्राय है महिलाओं या अपनी जाति व्यवस्था के अन्तर्गत महिलाओं पर नियंत्रण से यह नियंत्रण नए व भिन्न रूपों में है। आइए अगले भाग में लैंगिक भेदभाव और वर्ग संबंधी कुछ मुद्दों का वर्णन करें।

16.4 लैंगिक भेदभाव और वर्ग

परंपरागत और समकालीन भारतीय समाज में महिला की स्थिति से अवगत होने के लिए समाज में महिलाओं की स्थिति को निर्धारित करने में वर्ग संकल्पना को समझना जरूरी है। कई शिक्षा विदों का मानना है कि जाति और वर्ग दो विपरीत ध्रुव हैं। उनके अनुसार जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण, के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति एक इकाई हैं और उन्हें जाति व्यवस्था में समूह के रूप में दर्जा प्रदान किया गया है। अत: जाति से वर्ग, वंशानुक्रम से स्तरीकरण संकीर्ण से खुली और एक रूपी के कई खंडों में विभक्त व्यवस्था- इन सबमें परिवर्तन होता रहता है। वस्तुत: जाति और वर्ग दोनों ही यथार्थ और अनुभव जन्य तथा अंत:क्रियात्मक एवं सोपानक्रमिक दोनों है तथ्य यह है कि दोनों एक दूसरे में समाविष्ट है। (कौर, कुलदीप 2000 : 34, डब्ल्यूईडी-01, खंड-3, इग्नू)

कैथेलीन गॅफ ने सामाजिक गठन के रूप में उत्पादन रीति के अपने विश्लेषण के अन्तर्गत जाति और वर्ग संबंध का उल्लेख किया है जिसमें एक ओर तो जाति, संगोत्रता, परिवार और विवाह के बीच ओर दूसरी ओर उत्पादन शक्तियां जो उत्पादक संबंधों के बीच संबंध दृष्टिगत होते हैं। भारत में जाति और संगोत्रता के विवेचन में जाति संबंधों के मुख्य मान्यताओं के रूप में लिया गया है। कुछ शिक्षाविदों ने तो वर्ग संबंधों और उत्पादक रीति के सदंर्भ में वर्ण और जजमानी व्यवस्था का (जिसके बारे में आप खंड-4 **जाति पर प्ररिप्रेक्ष्य** में पढ़ चुके हैं) वर्णन तक कर डाला। अत: हम कह सकते है कि जाति वर्ग को आत्मसात करती है और वर्ग में जाति समाविष्ट हैं। गॅफ इग्नू में 1980 उद्धृत : डब्ल्यूईडी-01, खंड-3

जाति-वर्ग संबंध शहरी और ग्रामीण भारत में कामकाजी महिलाओं की स्थिति से संबंद्ध है। आन्द्रे बेते ने अपनी पुस्तक 'सिक्स एसेज इन कम्पेरिटिव सोशयोलोजी' में इस पहलू को उजागर किया। इसमें वह संगत प्रश्न पूछती है। जिन परिवारों के पुरुष खेतों में काम करते है लेकिन रीति-रिवाजों के कारण महिलाओं को ऐसे कार्यों को करने की मनाही है ऐसे परिवारों को हम किस रूप में देखते है? उच्च जाति के परिवारों में इसका काफी चलन है। यहाँ तक कि मध्यवर्ती और निम्न वर्ग की जातियों के कुछ परिवार जिन्होंने ग्रामीण समुदाय में अपनी सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने के विचार से इस मानदंडों (धारणा) को अपनाया है वे आर्थिक रूप से धनी हो गए हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी स्थिति से महिलाओं को दिए समान व्यवहार को मापा जा सकता है। महिलाओं को काम न करने देने से केवल परिवार की स्थिति का ही उन्नयन हुआ है। लेकिन जैसा कि बेते (1947) ने कहा यह एक जाति से दूसरी जाति में भी पैदा होता है और परिवार विशेष की आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर भी निर्भर करता है।

बॉक्स 16.3: उत्तर प्रदेश में निम्न जातियों का 'संस्कृतिकरण'

संस्कृतिकरण का नकारात्मक पहलू (निम्न जातियों द्वारा उच्चतर प्राप्त करने के लिए उच्च जातियों की जीवन-शैली और मानदंड व मूल्यों को अपनाना) सामान्य ऊर्ध्वगामी आर्थिक गतिशीलता का परित्याग करती प्रतीत होती है। हालांकि इस आर्थिक गतिशीलता से महिलाएं घरेलू कष्ट हुआ है और उनकी स्थिति (वे गृहिणी बन कर रह गई हैं) एक महत्व कम हो जाता है। (ड्रेज एण्ड सेन ए. 1995 : 158)

आन्द्रे बेते के शारीरिक श्रम (मजदूर) के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन-प्रक्रिया पर टिप्पणी की है। वह दशति हैं कि किस प्रकार पहले महिलाओं को परिवार के खेतों से हटाया (निकाला) गया। अंतत: आर्थिक गतिशीलता के साथ पुरुष भी या तो काम से हट गए या उन्होंने किसान की अपनी भूमिका से बदल कर पर्यवेक्षक की भूमिका में आ गए। अत: खेतों पर मजदूरी से महिलाओं को हटाना ग्रामीण प्रदेश में उच्च सामाजिक स्तर (स्थिति) का प्रतीक हैं। जीवन-शैलियों में विभिन्नता के कारण एक जाति से दूसरी जाति में या एक वर्ग से दूसरे वर्ग में दायित्वों में भी अंतर हैं। जाति की पृष्ठभूमियों में अंतर होने के बावजूद जातियों के पुरुषों की तुलना में महिलाओं की स्थिति में अंतर नहीं है। जहाँ तक 'पतिव्रता' की विचारधारा का

सबंध जो सभी जातियों में महिलाओं को पुरुष सत्ता के बनाए रखने का निर्देश देता है। सभी जातियों और वर्ग की महिलाओं पर लागू होता है। (कौर, कुलदीप 2000:35 डब्ल्यूईएजे, खंड-3 में उद्धृत)

नए सामाजिक वर्ग और महिलाओं की प्रस्थिति

भारत के वर्गों पर किया गया अध्ययन दर्शाता है कि यह एक अत्यधिक जटिल परिघटना है। वस्तुत: विभिन्न जनसमुदायों में नए वर्गों का उदय एक असमान (विषम) परिघटना है। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है ब्रिटिश अवधि के दौरान, भारतीय समाज कुछ नई शक्तियों से प्रभावित था उदाहरण के लिए शिक्षा की पश्चिमी प्रणाली, नई भूव्यवस्थाएं और रेल जैसे, नई यातायात सुविधाओं का प्रावधान। इस परिघटना से जाति/वर्ग संबंधों में काफी बदलाव आया ग्रामीण क्षेत्रों में एक नए वर्ग का उद्भव हुआ विशेष रूप से बंगला प्रेसीडेन्सी (प्रदेश) में जमींदार नामक नया वर्ग उभरा। बन्दोबंत (भू-व्यवस्था) के अन्तर्गत स्वामित्व का अधिकार जमींदार को प्रदान किया गया। नई भू-व्यवस्था के अुनसार, कई जमींदारों द्वारा नियत राजस्व का भुगतान न कर पाने के कारण उनकी बड़ी संपदाओं के कुछ भागों की नीलामी कर दी गई। इसके बदले में भू-स्वामियों को नए वर्ग की प्रविष्टि हुई जो मुख्यत: व्यापारी और साहूकार (महाजन) थे। जमींदारों के अलावा, किसानों ने भी ग्रामीण भारत के महत्वपूर्ण सामाजिक वर्ग गठित किया। भारत में किसान एक सजातीय श्रेणी नहीं है। इसके अन्तर्गत (i) धनी वर्ग, (ii) मध्य वर्ग और (iii) निर्धन किसान आते हैं। कृषक वर्ग के साथ-साथ शिल्पी वर्ग ने भी ग्रामीण समुदाय के महत्वपूर्ण हिस्सा निर्मित किया। शिल्पियों में प्रमुखत: बटई, लौहार, कुम्हार और सुनार थे।

उपर्युक्त वर्णित वर्गों में हर वर्ग की महिलाओं की स्थिति दूसरे वर्ग की महिला की स्थिति में अन्तर है। उपर्युक्त वर्गों में सामान्यत: महिलाओं के स्थान गौण है। रोचक तथ्य यह है कि यह परिघटना सभी समकालीन कालों में विद्यमान है। नीचे कुछ तालिकाएं दी गई है जो विभिन्न आर्थिक वर्गों की महिलाओं की स्थिति को प्रदर्शित करती है।

तालिका 1

भारत के औद्योगिक श्रेणी के अनुसार मुख्य महिला कार्यकर्त्ताओं का प्रतिशत वितरण, 1981 और 1991

	1981			1991		
औद्योगिक श्रेणी	**कुल**	**ग्रामीण**	**शहरी**	**कुल**	**ग्रामीण**	**शहरी**
कृषक	33.09	36.04	4.63	34.22	38.53	5.13
कृषि-मजदूर	46.34	50.36	16.65	44.93	49.32	15.61
पशुधन-वानिकी, मछली पालन, शिकार, वृक्षारोपण और सहायक गतिविधियां	1.83	1.84	1.77	1.60	1.61	1.52
खनन एवं उत्खनन	0.35	0.31	0.69	0.34	0.29	0.68
विनिर्माण, प्रक्रमण, सेवा और मरम्मत						
क) घरेलू उद्योग	4.57	3.77	10.44	3.53	2.93	7.53
ख) घरेलू उद्योग के अलावा	3.60	2.11	14.59	3.88	2.34	14.14
निर्माण	0.87	0.56	3.10	0.66	0.27	3.30
व्यापार और कॉमर्स	2.04	1.12	8.92	2.26	1.10	10.01
परिवहन, भंडारण और संचार	0.37	0.11	2.24	0.32	0.08	1.94
अन्य सेवाएं	6.94	2.88	36.97	8.26	3.48	40.14

स्रोत : भारतीय जनगणना, 1991, अंतिम जनसंख्या कुल, सीरिज-1, भारत, 1992 का दस्तावेज 2, महापंजीयक और जनगणन आयुक्त, भारत नई दिल्ली 1993

उपर्युक्त तालिका स्पष्ट रूप से नियमित करती है कि औद्योगिक श्रेणी में महिला कार्यकर्त्ताओं का प्रतिशत पिछले वर्ष में बन्द है न केवल महिला विनिर्वेश और कृषि श्रमिकों के प्रतिशत में वृद्धि हुई है बल्कि अधिकतम क्षेत्र महिलाओं को रोजगार प्रदान करते है।

तालिका 2
संगठित क्षेत्रों में महिलाएं
(लाखों में)

.	सार्वजनिक क्षेत्र		निजी क्षेत्र		कुल	
वर्ष	पुरुष	महिलाएं	पुरुष	महिलाएं	पुरुष	महिलाएं
1971	98.7 (92.0)	8.6 (8.6)	56.8 (84.0)	10.8 (16.0)	155.6 89.0)	19.3 (11.0)
1981	139.8 (90.3)	14.9 (9.7)	61.0 (82.5)	12.9 (17.5)	200.5 (87.8)	27.93 (14.1)
1991	167.1 (87.7)	23.4 (12.3)	62.4 (81.3)	14.3 (18.8)	229.5 (85.9)	38.81 (14.1)
1993	168.4	24.7	63.0	15.5	231.4	40.27

स्रोत : डीजीई और टी, श्रम मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

उपर्युक्त तालिका उल्लेख करती है कि निजी क्षेत्र उधम में रोज़गार प्राप्त व्यक्तियों में महिलाओं की संख्या ज्यादा है।

तालिका 3
रोज़गार आंकड़े, 1991

भारत/राज्य	महिलाओं का रोज़गार (हजारों में) 31.3.99 तक		
	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल
भारत	**2810.7**	**2018.4**	**4829.2**
1. आंध्र प्रदेश	216.3	183.0	399.3
2. अरुणाचल प्रदेश	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता
3. असम	73.2	238.9	312.1
4. बिहार	90.1	17.4	107.5
5. छत्तीसगढ़	-	%	%
6. दिल्ली	90.7	29.3	120.1
7. गोवा	14.9	7.4	22.3
8. गुजरात	144.7	78.1	222.8
9. हरियाणा	63.4	24.5	87.9
10. हिमाचल प्रदेश	38.8	5.7	44.5
11. जम्मू और कश्मीर	20.7	1.9	22.6
12. झारखंड	%	%	%
13. कर्नाटक	234.6	310.5	545.1
14. केरल	191.5	275.2	466.7
15. मध्य प्रदेश	162.5	26.7	189.3
16. महाराष्ट्र	350.6	207.8	55.84
17. मणिपुर	17.4	0.8	18.2
18. मेघालय	14.6	4.3	18.9
19. मिजोरम	10.4	0.6	11.0
20. नागालैण्ड	1.6	1.1	12.7
21. उड़ीसा	83.9	10.9	94.8
22. पंजाब	100.7	31.1	131.8
23. राजस्थान	129.6	42.0	171.5

MADHYAM IAS

24.	सिक्किम	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता
25.	तमिलनाडु	414.0	325.7	739.8
26.	त्रिपुरा	17.5	4.7	22.1
27.	उत्तर प्रदेश	184.9	54.4	239.3
28.	उत्तरांचल	%	%	%
29.	पश्चिम बंगाल	111.7	128.8	240.4
30.	अण्डमान और निकोबार	3.1	0.1	3.3
31.	चंडीगढ़	12.4	4.7	17.1
32.	दादर और नागर हवेली	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता
33.	दमन और द्वीव	0.2	1.4	1.6
34.	लक्ष्य द्वीप	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता	लागू नहीं होता
35.	पांडिचेरी	6.6	1.5	8.1

स्रोत : भारत, श्रम मंत्रालय, डीजीईटी, रोजगार समीक्षा, जनवरी-मार्च 1999, पृ. 23

इस पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि उपर्युक्त तालिका दर्शाती है कि विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति में उतार-चढ़ाव आए। हालांकि पूर्वोत्तर प्रदेश में विशेष रूप से खासी और गोरा जावियों में महिलाओं की स्थिति आर्थिक और सामाजिक दोनों रूपों से उच्च है। मेघालय में खासीयों में पैतृक संपत्ति पर महिलाओं का अधिकार होता है। खासी परिवार संरचना की विशष्टिता है कि संपत्ति पर महिलाओं का अधिकार होता है। वास्तव में वे अर्थव्यवस्था की केन्द्र होती है और सबसे छोटी पुत्री सभी धार्मिक अनुष्ठान करती है फिर भी बाहरी जगह पर पुरुषों का प्रभुत्व है। उनके यहाँ कहावत है कि युद्ध और राजनीति पुरुषों के लिए है तथा संपत्ति और बच्चे महिलाओं के लिए (टपलुर नांगबटी 1994)।

सोचिए और कीजिए 16.2

पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था या मातृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं की स्थिति के संबंध में अपने अनुभव की छोटी सी घटना का विस्तार से वर्णन कीजिए। लगभग एक पृष्ठ की संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के साथ विद्यार्थियों की टिप्पणी के साथ इसकी तुलना कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.5 लैंगिक भेदभाव और वर्ग में क्षेत्रीय विभिन्नताएं

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है लैंगिक भेदभाव वर्ग और जाति संबंध अत्यधिक जटिल और प्रबल परिघटना है। भारत के उत्तरी क्षेत्र में विद्यमान पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था तथा ब्राह्मणों, ठाकुरों, कायस्थों और बनियों का परिवार में महिला के गौण स्थान प्राप्त है। ऐसे परिवारों में शक्ति (सत्ता) परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्यों या परिवार के अन्य पुरुषों के कब्जे में होती है। बाल विवाह, बाध्य विधवापन, सती, पर्दा इत्यादि जैसे प्रचलित रीति-रिवाज महिलाओं की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डालते है। समाजीकरण चलन तथा ऊपर वर्णित रिवाजों ने लड़कियां/महिलाओं को परिवार में अधीनस्थ या गौण स्थिति ग्रहण करने के लिए विवश किया। इसके अलावा ऐसे परिवारों के महिला के शिक्षा का कोई महत्व नहीं होता। क्षेत्र में किए गए अध्ययन दर्शाते है कि पितृतंत्रात्मक परिवारों में हिंसा की घटना की संख्या ज्यादा पाई गई है। वीणा मजूमदार के अनुसार 'हमें याद है कि इस क्षेत्र (भारत) में दुनिया की सबसे ताकतवर महिला शासक हुई परंतु वे इस सामाजिक व्यवस्था को नहीं बदल सकीं और पितृसत्तात्मक संस्थाएं बनी रहीं। हमें इस बात का भी गर्व है कि उन्होंने राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा की ओर पूरे विश्व में तौसरी दुनिया के हितों को आगे करते हुए मज़बूत नेतृत्व दिया। परंतु वे भी वैश्विक और राष्ट्रीय सामाजिक ढांचे में सत्ता की दास बनी रहीं और जमीन से जुड़े प्रजातंत्र की रक्षक या सर्जक नहीं बन सकी। यहाँ तक कि वे महिलाओं की समाज में दोयम दर्जे की स्थिति को समाप्त करने का काम आरंभ भी नहीं कर सकीं।"

लीला दुबे ने भी अपनी रचना 'विमेन एंड किनशिप: कम्पेरिटिव प्रोसपेक्टस आन जेंडर इन साउथ एंड साउथ ईस्ट एशिया' में कहा है कि दक्षिण एशिया की यह शिष्टिता है कि महिला के जन्म लेने, जन्म के बाद जीवित रहने और गर्भावस्था और बाल बच्चे के जन्म देने के खतरों से बचते हुए स्वस्थ जीवन जीने के अधिकार से वंचित रखा गया है। विभिन्न जातियों वर्गों और यहां तक कि क्षेत्रों में महिलाओं के महत्वहीन समझने का प्रभाव महिलाओं के शैक्षिक स्तर तथा भारत की कुल आबादी में उनके अनुपात पर पड़ा। नीचे दी गई तालिकाएं भारत में महिलाओं की साक्षरता दर तथा स्त्री-पुरुष अनुपात के निरूपित करती है। भारत में जहाँ महिलाओं की स्थिति का संबंध है ये स्वत: स्पष्ट है।

तालिका 4

लिंग के अनुसार साक्षरता और साक्षरता दरें : 2001

क्र.सं.	भारत/राज्य/संघ शासित प्रदेश*	साक्षरता दर #		
		व्यक्ति	पुरुष	महिला
	भारत	6538	7585	5416
1.	जम्मू और कश्मीर	5446	6575	4182
2.	हिमाचल प्रदेश	7713	8602	6808
3.	पंजाब	6995	7563	6355
4.	चंडीगढ़	8176	8565	7665
5.	उत्तरांचल	7228	8401	6026
6.	हरियाणा	6859	7925	5631
7.	दिल्ली	8182	8737	7500
8.	राजस्थान	6103	7646	4434
9.	उत्तर प्रदेश	5736	7023	4298
10.	बिहार	4753	6032	3557
11.	सिक्किम	6968	7673	6146
12.	अरुणाचल प्रदेश	5474	6407	4424
13.	नागालैण्ड	6711	7177	6192
14.	मणिपुर	6887	7787	5970
15.	मिजोरम	8849	9068	8613
16.	त्रिपुरा	7366	8147	6541
17.	मेघालय	6331	6614	6041
18.	असम	6428	7193	5603
19.	पश्चिम बंगाल	6922	7758	6022
20.	झारखंड	5413	6794	3938
21.	उड़ीसा	6361	7595	5097
22.	छत्तीसगढ़	6518	7786	5240
23.	मध्य प्रदेश	6411	7680	5028
24.	गुजरात	6997	8050	5860
25.	दमन दीव	8109	8840	7037
26.	दादरा नगर हवेली	6003	7332	4399
27.	महाराष्ट्र	7727	8627	6751
28.	आंध्र प्रदेश	6111	7085	5117
29.	कर्नाटक	6704	7629	5745
30.	गोवा	8232	8888	7557
31.	लक्षद्वीप	8752	8315	8156
32.	केरल	9092	9420	8786
33.	तमिलनाडु	7374	8233	6455
34.	पाण्डेचेरी	8149	8889	7413
35.	अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	8118	8607	7529

MADHYAM IAS

तालिका 5
जनसंख्या और लिंग अनुपात

क्र.सं.	भारत/राज्य/ संघ शासित प्रदेश*	साक्षरता दर #			
		व्यक्ति	पुरुष	महिला	लिंग अनुपात (प्रति 100 पुरुषों पर महिलाएं)
	भारत	1027015247	531277087	495738169	933
1.	जम्मू और कश्मीर	10069917	5300574	4769343	900
2.	हिमाचल प्रदेश	6077248	3085256	2991992	970
3.	पंजाब	24289296	21963362	11325934	874
4.	चंडीगढ़	900914	508224	392690	773
5.	उत्तरांचल	8479562	4316401	4163161	964
6.	हरियाणा	21082989	11327658	9755331	861
7.	दिल्ली	13782976	7570890	6212086	821
8.	राजस्थान	56473122	29381657	27091456	922
9.	उत्तर प्रदेश	166052859	87466301	78586558	898
10.	बिहार	82878796	43153964	39724832	921
11.	सिक्किम	540493	288217	252276	898
12.	अरुणाचल प्रदेश	1091117	573951	517166	901
13.	नागालैण्ड	1988636	1041686	946950	909
14.	मणिपुर	2388634	1207338	1181296	978
15.	मिजोरम	891058	459783	431275	938
16.	त्रिपुरा				
17.	मेघालय				
18.	असम				
19.	पश्चिम बंगाल				
20.	झारखंड				
21.	उड़ीसा				
22.	छत्तीसगढ़				
23.	मध्य प्रदेश				
24.	गुजरात				
25.	दमन दीव				
26.	दादरा नगर हवेली				
27.	महाराष्ट्र				
28.	आंध्र प्रदेश				
29.	कर्नाटक				
30.	गोवा				
31.	लक्षद्वीप				
32.	केरल				
33.	तमिलनाडु				
34.	पाण्डेचेरी				
35.	अंडमान और निकोबार द्वीप समूह				

MADHYAM IAS

16.6 सारांश

इस इकाई में भारतीय संदर्भ में लैंगिक भेदभाव जाति और वर्ग के बीच के घनिष्ठ संबंध की जांच करने का प्रयास किया गया है। लैंगिक भेदभाव जाति और वर्ग की गहन परिभाषाएं भी बताई गई है। भारत की विभिन्न जातियों में महिलाओं की स्थिति के विश्लेषण का वर्णन किया गया है। लैंगिक भेदभाव के संदर्भ में जाति और वर्ग के बीच संबंध को भी स्पष्ट रूप समझाया गया है बाद तालिकाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों जैसे सार्वजनिक एक निजी

क्षेत्रों, में महिलाओं की सहभागिता की चर्चा करने का प्रयास किया गया। अंततः पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक परिवार में महिलाओं की स्थिति में पाई जाने क्षेत्रीय भिन्नताओं की चर्चा की गई। राज्यवार महिलाओं की साक्षरता दर और लिंग अनुपात का उल्लेख करने वाली तालिकाओं में क्षेत्रीय भिन्नताएं भी निरूपित की गई है।

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देसाई नीरा एवं थक्कर, ऊषा, 2001, *वूमेन इन इंडियन सोसायटी,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली

टिपलुट नांगबरी, 1994, *जैंडर एंड दि खासी फैमिली स्ट्रक्अचर* इन पेट्रिशिया ओबराय (सं.), फैमिली, किनशिप एंड मैरीज इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

शब्दावली

समाजवृत्त (Sociography) : इससे अभिप्राय है गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों प्रकार का वर्णनात्मक अध्ययन। सर्वप्रथम इसका प्रयोग फर्डीनेंड टोनीज़ द्वारा किया गया जिसने सांख्यिकीय के प्रयोग पर काफी बल दिया उनके अनुसार समाजवृत्त का अर्थ है वर्णनात्मक समाजशास्त्रीय अध्ययन जिसमें सांख्यिकी का प्रयोग किया जाए।

अधिराजत्व (Suzerainty) : एक देश का दूसरे देश पर शासन करने का अधिकार।

अनुभवजन्य (empirical) : अध्ययन का कोई भी क्षेत्र जिसमें सुस्पष्ट सिद्धांत हो या न हो, उसे पूछताछ (जाँच) के एक ऐसे अलग क्रम के रूप में देखा जाता है जिससे या तो (क) सामाजिक संबंधों का विश्लेषण करने के लिए संकल्पनात्मक भाषा की शुरुआत होती है अथवा (ख) जो सामाजिक जीवन के सच या असत्यता की जाँच किए बिना उसके कुछ पहलुओं का सिद्धांत या स्पष्टीकरण की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। (डंकन जी 1968 : 65)।

रूढ़िवादी : वे शोधकर्ता या विचारक जो पारंपरिक क्रम में बदलाव का विरोध करते हैं।

उपयोगितावादी तर्कबुद्धिवाद : यह जेरमी बेंथम (1745-1832) के नाम से जुड़ा दार्शनिक दृष्टिकोण है। बेंथम के विचार में नैतिकता और मनोविज्ञान इस मूल तथ्य पर आधारित हैं कि सुख वेदना से बेहतर है। उपयोगिता अत्याधिक खुशी है और उपयोगिता को अधिकतम करना मानव जाति का समुचित अंत है। (1 वहीं 1968)।

अर्थ क्रियात्मक : समस्याओं को नियत या निर्धारित विचारों या सिद्धांतों के माध्यम से सुलझाने की बजाए उन्हें व्यावहारिक और तर्क संगत तरीके से सुलझाना ।

जनांकिकीय (जनसांख्यिकीय) : एक निश्चित अवधि में जनसंख्या में जन्मों, मृत्यु रोगों इत्यादि की संख्या में होने वाले परिवर्तन।

संरचनात्मक : समाज में संस्थागत सामाजिक संबंधों के नेटवर्क से संबंद्ध कुछ भी।

सैद्धांतिक (वैचारिक) : धारणाओं और विचारों का समूह, विशेष रूप से ऐसे मान्यताएँ व विचार जो व्यक्तियों के एक विशिष्ट समूह में होती है और उनके व्यवहार पर प्रभाव डालती है।

क्षेत्र-विचार (दृष्टिकोण) : अध्ययन क्षेत्र के प्रत्यक्ष (स्वत:) अवलोकन या क्षेत्र कार्य पर आधारित समाज विज्ञानियों का मत। इससे

MAADHYAM IAS

यह देखता है कि कोई प्रणाली (प्रथा) उदाहरण के लिए जाति प्रथा, भारत के विभिन्न समुदायों में वस्तुत: किस प्रकार करती है।

विनिवेशीकरण : यह उपनिवेश की एक प्रक्रिया है, जैसे भारत का स्वतंत्र होना।

विभेदित : जब समाज के प्रत्येक हिस्से पर अलग कार्य या विशेषज्ञा का दायित्व लेता है।

मशीनीकरण : प्रौद्योगिकीय उन्नति जब शारीरिक श्रम (मजदूर) निर्भरता मशीनों के प्रयोग पर परिवर्तित हो जाती है।

आधुनिककीकरण : ज्यादा आधुनिक या समकालीन बनने की प्रक्रिया। यह प्रौद्योगिक के प्रयोग, मूल्यों, विश्वासों, और विचारों इत्यादि में परिवर्तन पर ध्यान देती है।

संरक्षण : उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों को नकद और दयालुता के संदर्भ में सुरक्षा प्रदान करने की संस्था और बदले में उनसे सेवाएँ प्राप्त करना या मालिकों और कृषको के बीच संबंध।

निष्ठा : निष्ठा का अर्थ है आभार की वह भावना जो किसान या निम्न जातियों उस स्वामी या उच्च जाति के भूस्वामी के प्रति अनुभव करते थे जो उन्हें सुरक्षा देता था।

MADHYAM IAS

बंधुता : विवाह द्वारा बना संबंध 'बंधुता' कहलाता है।

गोत्रज : पुरुष वंशानुक्रम या पिता के पक्ष के जरिए संबंधित।

सहबंध (गठजोड़) : संगोत्रता अध्ययन के संदर्भ में विवाह के पश्चात दो परिवारों के बीच बंधन का संबंध सहबंध कहलाता है।

कुल/गोत्र : एक समूह का इस विश्वास के माध्यम से एकीकृत होना कि उनके पूर्वज एक हैं।

ग्रोत्र : भारतीय समाज के संदर्भ में सामान्य गोत्र वाली उपजाति कुल (गोत्र) कहलाती है।

समरक्तता : इसका संबंध खून के रिश्ते हैं। व्यक्ति के सभी खून के रिश्तेदार उसके रक्त संबंधी होते हैं।

वंशानुक्रम : पूर्वज से उद्गम (व्युत्पत्ति, विकास) वंशानुक्रम कहलाता है। व्युत्पत्ति के विभिन्न तरीके हैं अत: मानव समाजों में विभिन्न प्रकार वंशानुक्रम व्यवस्थाएँ (पद्धतियाँ) पाई जाती हैं।

अंतर्विवाह : समूह के भीतर ही विवाह करने की अनिवार्यता अंतर्विवाह नियम कहलाता है।

बहिर्विवाह : समूह के बाहर विवाह करने की अपेक्षा बहिर्विवाह नियम कहलाती है।

अनुलोम विवाह : बराबर या अपेक्षाकृत उच्च समूह या उपजाति में विवाह करना अनुलोम विवाह नियम कहलाता है।

नवस्थानिक : इससे अभिप्राय है विवाह के बाद निवास के इस प्रकार में पति और पत्नी अपना स्वतंत्र घर बसाते हैं।

पतिस्थानिक : निवास के इस प्रकार में, विवाह के पश्चात विवाहित दम्पति अपने पति के पिता के परिवार के साथ रहते हैं।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

References

Abraham, J.H. 1973 *The Origin and Growth of Sociology.* Penguin: Harmondsworth

Agarwal, Bina. 1994, *A field of one's own: Gender and land rights in South Asia.* Cambridge University Press: Cambridge

Agarwal, Bina. 1997 *'Bargaining' and gender relation: Within and beyond the household. Feminist economics* 3, 1:1-51,

Ahmad. I. ed. 1976 *Family, Kinship and Marriage among Muslims in India.* Manohar: New Delhi

Ambedkar, B, R. 1978, *Caste in India: Their Mechanism. Genesis. and Development, in Dr Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches,* vol 1, in Education Department, Government of Maharashtra, Bombay .

Anderson, B. 1991, *Imagined Communities,* Verso, London

Anderson, M. (ed.) 1980 [1971], *Sociology of the Family,* Penguin Books, Harmondsworth

Beteille Andre 1975, *The Structure of Hindu Society.* Orient Longman: New Delhi

Appadurai, Arjun 1993 *Number in the Colonial Imagination, in Orientalism and the Postcolonial Predicament,* ed. C. A. Breckenridge and P. Van der Veer, University of Pennsylvania Press: Philadelphia

Atal, Yogesh 1971 *Professionalisan of Sociologist,* Economic and Political Weekly, VI(6,), pp. 431-433,

Baden-Powell, B.H. 1992 *The Land Systems of India.* Clarendon Press: Oxford

Bailey, F.G. (1960) *Tribe, Caste and Nation.* OUP: Bombay

Bailey, F.G. 1957 *Caste and the Economic Frontier : A Village in the Highland of Orissa.* Manchester University Press: Manchester

Bailey, F.G. 1957 *Caste and the Economic Frontier.* Manchester University Press: Manchester

Banerjee, N. 1987 *Women's Work and Family Strategies: A Case Study from Bankura, West Bengal,* (unpublished report) Centre for Women's Development Studies: New Delhi

Barnard, Alan and Anthony Good 1984 *Research Practices in the Study of Kinship.* Academic Press: London

Barrier, N. Gerald. 1981 *Introduction,* in *The Census in British India*: New Perspectives. (ed.) Barrier. Manohar: Delhi

Basham, A., 1954 *The Wonder that was India.* Grove Press: New York

Basu, Alaka. 1992 *Culture, the status of women and demographic behaviour: Illustrated with the case of India.* Clarendon Press: Oxford

Basu, Deepika. 1993 *The working class in Bengal-Formative Years,* K.P. Bagchi & Company, Calcutta & New Delhi.

Bayly, Susan, 1999 *Caste, Society and Politics in India from the 18th century to the Modern Age,* Cambridge University Press, Cambridge.

Beauvior, S.de. 1972 *The second sex.* Harmondsworth: Penguin

Bendix, R. 1963, *Work and Authority in Industry: Ideologies of Management in the Course of Industrialisation.* New York: Harper

Berman, Marshall. 1988, *All that is Solid Melts into Air: The Experience of Modernity*: New York: Penguin

MADHYAM IAS "way to achieve your dream"

Berreman, G.D. 1963 *Hindus of the Himalaya*. University of California Press: Berkeley & Los Angeles

Berreman, G.D. 1991 (Orig.1970), 'The Brahmanical View of Caste,' *Contributions* to *Indian Sociology (ns.)*, 5:16,-23,

Beteille, A. 1996 *Caste, Class and Power : Changing Patterns of Stratification in a TanjoreVillage*. OUP: Delhi. (first published in 196,5).

Beteille, Andre. 1998 (11 June). '*Casting out Caste: Looking Back in Dismay*', Times of India.

Beteille, Andre. 2002 *Sociology: Essays on Approach and Method*. Oxford: Delhi

Bhaqttacharyya, Gayatri 2004 *Bhudev Mukhopadhyay and reverse Anthropology in Journal of the Anthropological Society of India*, Vol. 39, No.2.

Bhattacharyya, Swapan Kumar 1990 *Indian Sociology: The Role of Benoy Kumar Sarkar*. University of Burdwan: Burdwan

Bierstedt, Robert. (ed.&intr.) *The Making of Sociology*. Modern Library: New York

Blumberg, R. L. and Dwarki, L. 1980, *Indian Educated Women*. Hindustan Publishing Corporation: New Delhi

Blunt, E.A. 1911, *Report on the census of the United Provinces of Agra and Qudh* (cited in J. H. Hutton, 1963, *Caste in India*. Oxford University Press: London

Bohanan, L. 1949 Dahomean Marriage : A revaluation, *Africa* 29: 273-287. Popular Prakashan: Bombay

Bose, A. and V. Shiva. *Darkness at Noon*, Voluntary Health Association of India: New Delhi

Bose, N K. 1932 *Canons of Orissan Architecture*, R. Chatterjee: Calcutta

Bose, Nirmal Kumar. 1962, *Hindu Samajer Gadan*. Viswabharati, Tr with intr. By, Calcutta

Bougle, Celestine. 1927 *Essais sur regime des caste*, English translation by D.F. Pocock. 1971. Cambridge University Press: Cambridge

Bourdieu, Pierre. 1979 *Distinction- A Social Critique of the Judgement of Taste*, (Transl. by Richard Nice). Routledge and Kegan Paul: Great Britain

Buchanan, D.H. 1961 *Development of Capitalist enterprise in India*. New York

Burghart, Richard. 1993 'A Quarrel in the Language Family: Agency and Representations of Speech in Mithila,' *Modern Asian Studies*, 274, pp. 761-804

Campbell, Colin. 1987 *The Romantic Ethic and the Spirit of Modern Consumerism*. Oxford, Basil Blackwell

Census of India. 1921, Vol I, Part I, Report by J. T. Marten. Calcutta: Superintendent of Government Printing, 1924.

Census of India. 1931, Vol I, by J.H. Hutton. rpt. 1986, with an Introduction by K.S. Singh, Gian Publishing House, Delhi.

Census of India 1941, Vol I, Part I by M.W.M. Yeatts, Census Commissioner for India, Government of India Press, Simla.

Census of India 1951, Vol I, India, Part 1-A - Report by R.A. Gopalaswami, Registrar General, India and ex-officio Census Commissioner for India. 1953, Government of India Press, Delhi.

Census of India, 1971, Indian Census in Perspective, by S.C. Srivastava. Census Centenary Monograph No. 1, Office of The Registrar General, New Delhi.

Centre for Women's Development Studies 1998 Census 2001: Issues and Perspectives, Discussion Note.

Chakravorty, C. and A.K. Singh 1991 *Household structures in India*, Census of India, Occasional Paper 1: New Delhi

Champakalakshmi. 2002 '*Cultural Technologies of Colonial Rule*', The Hindu, Nov. 3

Chant, S. 1992 *Women and Migration in Developing Countries.* Belhaven: London

Chaudhuri, Maitreyee (ed.). 2003, *The Practice of Sociology.* Orient Longman: New Delhi

Chodorow, N. 1978 *Reproduction of Mothering: Psychoanalysis and the Sociology of Gender.* University of California Press: Berkeley

Cline, W. 1936 *Notes on the People of Siwah and el-Garah in the Libyan Desert*, George Banta Pub. Co., Menasha

Cohn B.S. 1987 'The command of a Language and the language of a Command', in *Subaltern Studies: Writing on South Asian History and Society,* Vol. VI. ed. Ranjit Guha. Oxford University Press: Delhi

Cohn, Bernard S. 1968 The Study of Indian Society and Culture, In Milton Singer and B.S. Cohn (ed.) **Structure and Change in Indian Soceity**, Wenner-Gren Foundation for Anthropological Research, Inc., New York

Cohn, Bernard. 1990 'The Census, Social Structure and Objectification in South Asia,' in *An Anthropologist among the Historians and Other Essays.* Oxford University Press: Delhi

Cohn, Bernard. S. 1955 '*The Changing Status of a Depressed Caste*', in.) *Village India*, ed. Mckim Marriot. University of Chicago Press: Chicago

Conlon, Frank F. 1981 'The Census of India as a Source for the Historical Study of Caste and Religion,' in *The Census in British India*, ed Barrier, Manohar: Delhi

Cooper, D. 1972 *The death of the family.* Pengiun Books: Harmondsworth

CSWI 1974 *Towards Equality,* Report of the Committee on the Status of Women in India. Ministry of Education and Social Welfare, Government of India: New Delhi

Dahiwale, S. M. 1998 (31 July), 'Why Caste Numbers Still Count,' *Times of India.*

Dahrendorf, R. 1959 Class and Class Conflict in an Industrial Society. Routledge: London

Dalley, G. 1988 *The Ideologies of Caring*, Macmillan: London

Dalton, E. T. 1872, *The Tribal History of Eastern India*, Office of the Superintendent of Government Printing: Calcutta

Das Gupta, Monica. 1987 Selective discrimination against female children in rural Punjab, India. *Population and development review* 13, 1:77-100.

Das Gupta, Ranjit 1986 From peasants to tribesmen to plantation workers, EPW, January.

Das, Gurcharan. 2000, 'Middle Class Values and the Changing Indian Entrepreneur' in Middle Class Values in India and Western Europe, (ed.) by Imtiaz Ahmad and Helmut Reifeld. Social Science Press: New Delhi.

Das, N.P., Dey Devamoni 1998 *Female Age at Marriage in India, Trends & Determinants Demography,* 27(1) (Sp. Issue on the Golden Jublee Years —— www.hsph.harvard.edu/Organisations/healthnet/SAsia/suchama/1299/

MAADHYAM IAS

Das, V. and R. Nicholas 1981 *'Welfare' and 'Well being in South Asian Societies', SSRC Joint Committee on South Asia.* Social Science Research Council: New York

Dasgupta, B. (1978), ed. *Village Studies in the Third World.* Hindustan: Delhi

Davis,M,1976, 'A Philosophy of Hindu Rank from Rural West Bengal' *Journal of Asian Studies,* 36:5-24.

Desai, A.R. 1976 *The Social Background of Indian Nationalism.* Popular Prakashan: Bombay

Desai, I.P., Gore, M.S. and Chitnis, S. (ed.), 1967 Papers on the Sociology of Education in India. NCERT Publications: New Delhi

Desai, I.P. 1964 *Some Aspects of Family in Mahuva* Asia Publishing House: Bombay

Deshpande, L.K. 1979 The Bombay labour market. Department of economics, Bombay university Bombay

Deshpande, Satish and Nandini Sundar 1998 (August 8-14), *'Caste and the Census: Implications for society and the social sciences,'* Economic and Political Weekly, pp. 2157-2159.

Deshpande, Satish, 1998 (18 August), *'Counting on Caste for Social Justice,'* Times of India: New Delhi

Dhanagare, D.N. 1983 *Peasant Movements in India, 1920-50.* Oxford University Press: Delhi

Dhanagare, D.N. 1993 Themes and Perspectives in Indian Sociology. Rawat Publication: Delhi

Dirks N. B. 2001 *Castes of Mind. Colonialism and the Making of Modern India.* Permanent Black

Dirks, Nicholas. 1993 *The Hollow Crown.* University of Michigan Press: Ann Arbor

Djurfeldt, G. and S. Lindberg 1975 *Behind Poverty: The Social Formation in a Tamil Village,* SIAS Monograph Series no.22, Curzon Press: London

Dreze, J. & Sen, A. (ed.) 1997 Indian Development Selected Regioal Perspectives. Oxford University Press: Delhi

Dube, L. 1975 *'Woman's World – Three Encounters'* in A. Beteille and T. N. Madan (ed.) **Encounters and Experience,** Personal Accounts of Fieldwork. Vikas: Delhi

Dube, Leela 1986 Seed and earth: The symbolism of biological reproduction and the sexual relations of production. *In* Leela Dube, Eleanor Leacock and Shirley Ardener, eds. *Visibility and power: Essays on women in society and development,* pp.22-53. Oxford University Press: Delhi

Dube, Leela 1987 *Women and Kinship: Comparative Perspectives on Gender in South and South-East Asia.* Vistaar Publications: New Delhi

Dube, Leela. 1988 On the construction of gender: Hindu girls in patrilineal India. *In* Karuna Chanana, (ed.) **Socialisation, education and women: Explorations in gender identity,** pp.166-192. Orient Longman: New Delhi

Dube, S.C. 1955 *Indian Village.* Routledge and Kegan Paul: London

Dube, S.C. 1960 *A Deccan Village,* in M.N. Srinivas ed. *India's Village.* Asia Publishing House: London. (first published in 1955).

Dube, S.C. 1977 *Indian Sociology at the Turning Point,* in Sociological Bulletin, Vol. 26,(1).

Dube, S.C. 1958 India's Changing Villages. Cornell University Press University Press: New York

Dumont, L. 1950 *Kinship and Alliance Among the Pramalai Kallar. Eastern Anthropologist* 1: 1-3.

Dumont, L. 1953 *The Dravidian Kinship Terminology as an Expression of Marriage Man,* 54, 34-39.

Dumont, L. 1957 *Hierarchy and Marriage Alliance in South Indian Kinship,* Occasional Paper 12, Royal Anthropological Institute, Ditchling Press Limited: London

Dumont, L. 1959, *Dowry in Hindu Marriage as a Social Scientist Sees it,* The Economic Weekly 11: 519-520.

Dumont, L. 1962, *'Tribe' and 'Caste' in India,* Contribution to Indian Sociology 6: 120-122.

Dumont, L. 1966, (b). *North India in Relation to South India; Marriage in India: The Present State of the Question,* Contribution to Indian Sociology 90-114.

Dumont, L. 1986, *South Indian Sub-Caste: Social Organisation and Religion of the Pramalai Kallar.* Oxford University Press: New Delhi

Dumont, L. 1970 *Homo Hierarchicus : The Caste system and its Implications.* Chicago University Press: Chicago

Duncan, J. 1807 *Historical Remarks in the coast of Malabar.* Asiatic Research: Calcutta

Duttgupta, Bela. 1972 *Sociology in India,* Sociological Research Centre: Calcutta

Dyson, Tim and Mick Moore. 1983 *On kinship structure, female autonomy and demographic behaviour in India, Population and development review* 91:35-60.

Elwin, Verrier. 1943 *The Aboriginals.* Oxford University Press,

Engles, F. 1972 *The origin of the family, private property and the state.* Lawrence & Wishart: London

Epstein, T.S. (196,2) *Economic Development and Social Change in South India.* Manchester University press: Manchester

Evans-Pritchard, Edward E. 1951 *Kinship and Marriage among the Nuer.* Oxford: Clarendon

Everingham, Christine. 1994 *Motherhood and modernity: An investigation into the rational dimension of mothering,* Open University Press: Buckingham

Featherstone, M. 1991 *Consumer Culture and Post Modernism.* Sage Publications: London

Fernandez, Bina. 1999 *Protection from Violence, Joint Suicides Too Many, Humjinsi*: A resource Book on Lesbian, Gay and Bisexual Rights in India, India Centre for Human Rights and Law, Mumbai

Ferriera, J.B. & S. S. Jha (eds.) 1976 *The Outlook Tower: Essays in Urbanization in Memory of Patrick Geddes.* Popular Prakashan: Bombay

Forbes, Geraldine Hancock. 1975 *Positivism in Bengal.* Minerva: Calcutta

Forrester D. B. 1980 *Caste and Christianity, Attitudes and policies on caste of Anglo-Saxon protestant mission in India.* Curzon: London

Fourth World Conferences on Women. Beijing, 1995, Government of India, Department of Women and Child Development, MHRD.

MAADHYAM IAS

Fuller, C. J. 1979, *Gods, Priests and Purity: On the Relation between Hinduism and the Caste System.* **Man,** (NS) 14: 459-476.

Galanter, M. 1984 *Competing Equalities: Law and the Backward Classes in India.* Oxford University Press: Delhi

Ganesh, K. 2001, *Maps of a Different Journey: Themes in the Work of Leela Dube,* (forward to Dube, L. 2001, Anthropological Explorations in Gender, Sage: 13-32) New Delhi

Gazetteer of India. 1965, (volume 1) Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, New Delhi.

Ghurye G. S. 1969 *Caste and Race in India.* Popular Prakashan: Bombay

Ghurye, G.S. 1946 *Some Kinship Usages in Indo-Aryan Literature,* Journal of the Anthropological Society of Bombay, New Series, 1(1).

Ghurye, G.S. 1955, *Nomenclature of Kin,* Sociological Bulletin 4(1): 45-84.

Giddens, Anthony. 1991, *Modernity and Self Identity: Self and Society in the Late Modern Age.* Stanford University Press: California

Gilligan, C. 1982 *In a Different Voice: Psychological Theory and Women's Development.* Harvard University Press, Cambridge

Gillis, John. R. 1997 *World of their Own Making: A History of Myth and Ritual in Family Life.* Oxford University Press: Oxford

Glaberman, Martin. 1997 *Marxist Views of The Working Class,* Lecture series on "The Working Class in Canada": Toronto.

Goffman, I. 1958 *The Presentataion of Self in Everyday Life.* Anchor Books: New York.

Goldthrope, J. and Lockwood, D. 1963 *Affluence and the British Class Structure,* in Sociological Review 11, pp.133-63.

Goode, W.J. 1963, *World Revolution and Family Patterns,* The Free Press of Glencoe: London

Goody, Jack, R. 1973, *Bridewealth and Dowry in Africa and Eurasia,* IN J. R. Goody and S. J. Tambiah (eds) *Bridewealth and Dowry* Cambridge University Press, Cambridge. Pp 1-58.

Goody, Jack, R. 1976 *Production and Reproduction: A Comparative Study of the Domestic Domain.* Cambridge University Press: Cambridge

Goody, Jack. (ed.) 1958 *The Developmental Cycle in Domestic Groups.* Cambridge University Press: Cambridge

Gopal, Meena. 2002 The Time is Now: Need for Liberating Perspectives on the Critique of the Family, Paper presented at the Tenth National Conference, Indian Association for Women's Studies, Bhubaneshwar, October 17-20

Gore, M.S. 1970 *Immigrants and neighbourhoods- two aspects of a life in a metropolitan society,* Bombay

Gough E.K., 1956 *Brahmin Kinship in Tamil Village,* **Eastern Anthropologist** 58 : 826-849.

Gough, E. Kathleen. 1959, *The Nayars and the Definition of Marriage,* **Journal of Royal Anthropological Institute** 89: 23-34.

Gough, E.K. and Schneider, D.M. (ed.) 1962 *Matrilineal Kinship.* University of California Press: Berkeley

Gough, Kathleen. 1955 In Mckim Marriott (ed.), *Village India,* Chicago University Press: Chicago

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

Gould, H.A. 1958 *The Hindu Jagmani System: A Case of Economic Particularism,* **Southwestern Journal of Anthropology** 144:428-437.

Government of India, 1965, *Gazetteer of India,* Volume 1, Publication Division. Ministry of Information and Broadcasting, New Delhi.

Guha, Ranajit. 1963, *A Rule of Property of Bengal: an Essay on the Idea of Permanent Settlement,*

Gulati, L. 1993 *In the Absence of their Men,* Sage: Delhi

Gupta, D. 1984 *Continuous Hierarchies and Discrete Caste,* **Economic and Political Weekly**, *1*946.

Gupta, D. ed. (1992) *Social Stratification.* Oxford University Press: Delhi

Haldar, Gopal. 1967 *Cultural Confusion of Modern India,* in **Visvabharati Journal of Philosophy.**

Harris, John. 1982, (ed.) *Rural Development: Theories of Peasant Economy and Agrarian Change.* English Language Book Society, Hutchinson. (part 2 and 3)

Harrison, Mark. 1982 *Chayanov's theory of peasant economy,* in John Harriss (ed.) *Rural Development: Theories of Peasant Economy and Agrarian Change.* English Language Book Society, Hutchinson.

Harriss, J. 1982 *Capitalism and Peasant Farming: Agrarian Structure and Ideology inNorthern Tamil Nadu.* OUP: Bombay

Harriss, john. 1982 *Character of an urban economy-two aspects of life in a metropolitan society,* Bombay.

Hayward, Ruth Finney. 2000, *Breaking the Earthenware Jar,* Lessons from South Asia to End Violence against Women and Girls: UNICEF

Hensman, Rohini. 2005 *Revolutionising the Family,* **Economic and Political Weekly**, XL (8): 709-712.

Hiebert, Paul G. 1971 *Konduru: Structure and Integration in a South Indian Village.* University of Minnesota Press: Minneapolis

Hoddinot, J. 1996 *The Intra-household Distribution of Food: An Economic Perspective,* **Social Change**, 26, (2): 45-56.

Hutton, J.H. 1963, 1983, (Orig. 1946) *Caste in India,* Oxford University Press: Bombay

IGNOU, 2000, *Foundation Course in Women's Empowerment and Development,* FWE-01, Block-1, pp. 3-20.

IGNOU, 2000, *Women's Empowerment and Development,* Block-3.

Inden, R. 1990 *Imagining India,* Blackwell: Cambridge

Indian Census Through a Hundred Years, Part I & II, (ed.) by D. Natarajan, Census Centenary Monograph No. 2, Office of The Registrar General, New Delhi, India.

Indian Council of Social Science Research (ICSSR). 1974 *Towards Equality: Report of the committee of status of women in India (CSWI),* New Delhi.

Jackson, Stevi and Scott, Sue, Gender. 2002, *A Sociological Reader,* Routledge, London.

Jain, Shobhita 1996 *Bharat mein Parivar, Vivah aur Natedari.* Rawat Publications: Jaipur

Jameson, Frederic. 1991 *Post Modernism or Cultural Logic of Late Capitalism,* Duke University Press: Durham

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

Jodhka S.S. 2002 *Nation and Village: Images of Rural India in Gandhi, Nehru and Ambedkar*, **Economic and Political Weekly**, Volume 37 (32) August 10 2002, pp. 3343-54.

Jodhka S.S. 2003 *Agrarian Structures and their Transformations*, in Veena Das (ed.) Oxford India Companion to Sociology and Social Anthropology, (Volume II) Oxford University Press: Delhi

John, Mary E. 2005 *Feminist Perspective on Family and Marriage: A Historical View*, **Economic and Political Weekly** XL (8): 712-715.

Jones, Kenneth W. 1981, *Religious Identity and the Indian Census*, in *The Census in British India*, (ed.) N.G. Barrier Manohar, Delhi.

Joshi, P.C. 1976 *Land Reforms in India: Trends and Perspectives*. Allied Publishers: New Delhi

Joshi, Sanjay 2001 Fractured Modernity: Making of a Middle Class in Colonial North India. Oxford University Press: New Delhi

Kane, P.V. 1930-62, *History of Dharmasastra*, 5 vols. Bhandarkar Oriental Research Institute: Poona

Kapadia, K. M. 1958 (1955) *Marriage and Family in India*, Oxford University Press: Bombay

Karve, I. & Malhotra, K.C. 1968, *A biological comparison of eight endogamous groups of the same rank*, Current Anthropology 9 pp 109-16.

Karve, I. 1940 *Kinship Terminology and Kinship Usages in Rigveda and Atharveda, Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute:* 69-96, 109-199 and 213-234.

Karve, I. 1943-44, *Kinship Terms in the Mahabharata*, **Bulletin of Deccan College Research Institute:** 4(3), Poona.

Karve, I. 1953 *Kinship Organisation in Northern India*. Deccan College Post Graduate and Research Institute: Poona

Karve, I. 1958 *What is Caste? Caste as Extended Kin*, **The Economic Weekly** 10:125-138.

Karve, I. 1965 *Kinship Organisation in India* (Second Revised Edition). Asia Publishing House: Bombay.

Karve, I. 1994 *The Kinship Map of India*, In Patricia Uberoi (ed.) Family, Kinship and Marriage in India. Oxford University Press: New Delhi

Kaviraj, Sudipta. 1992 *The Imaginary Institution of India*, in Subaltern Studies VII, (ed.) P. Chatterjee and G. Pandey, Oxford University Press: Delhi

Kertzer, David and Tom Fricke (eds), 1997 *Anthropological Demography: Towards A New Synthesis*, University of Chicago Press: Chicago

Ketkar, S.V. 1909 *History of Caste in India*, Ithaca: New York

Khan, Hussain C.G. 1994 *Marriage and Kinship Among the Muslims in South India*, Rawat: New Delhi

Klass, M. 1966 *Marriage Rules in Bengal*, American Anthropologist: 68, 951-970.

Klingender, F.D. 1935, *The Condition of Clerical Labour in Britain*, Martin Lawrence: London

Kolenda, P. 1970 *Family Structure in Village Lonikand*, India: 1819, 1958, and 1967', *Contributions to Indian sociology*, N. S. 4: 50-72.

Kolenda, P. 1963, *Toward a Model of The Jajmaini System*, Human Organization, 22:11-31.

Kolenda, Pauline. 1987 *Regional Differences in Family Structure in India*, Rawat Publications: Jaipur

Kothari, R.1970 *Caste in Indian Politics*, Orient Longman: New Delhi

Kulkarni, Sharad, 1991(2 February), *Distortion of Census Data on Scheduled Tribes*, **Economic and Political Weekly**, pp. 205-208.

Laing, R.D. 1971, *Self and Others*. Penguin Books: Harmondsworth

Laslett, P. (ed.). 1972 *Household and Family in Past Time*. Cambridge University Press: Cambridge

Laxmi, M. 2001 *Women's Interests and Welfare State*, **Economic and Political weekly**, 36, (10): 826-28.

Leach, E.R. 1967 *A Runaway World?* BBC Publication: London

Leach, Edmund R. 1955 *Polyandry, Inheritance and Definition of Marriage*, **Man** 55: 105-113.

Leach, Edmund R. 1961 *Rethinking Anthropology*, Athlone Press: London

Lee, Martyn, 1993 *Consumer Culture Reborn - The Cultural Politics of Consumption*. Routledge: London

Levi-Strauss, C. 1971 *The Family*, in Shapiro, H. (ed.) Man, Culture and Society, OUP: London, pp. 333-357.

Lewis, O. 1965 *Village Life in Northern India: Studies in a Delhi Village*, University of Illinios: Urbana

Lewis, O. 1958 *Village Life in Northern India*, University of Illionis Press: Urbania

Lewis, Oxcar. 1954 *Group Dynamics in a North Indian Village : A Study of Factions*, P.E.O. Planning Commission, Government of India: New Delhi

Lieten, G.K. & Srivastava, R. 1999 Unequal Partners, Power Relations, Devolutions and Development in Uttar Pradesh. Sage Publications: New Delhi

Lockwood, D. 1958 *The Blackcoated Worker*, Allen and Unwin: London

Lohia, Rammanohar. 1964, *The Caste System*, Rammanohar Lohia Samta Vidyalaya Nyasi, Hyderabad

Lynch, O. M. (ed.) 1990 *Divine Passions: The Social Construction of Emotion in India*, Oxford University Press: Delhi

Lynch, Owen, M.1974 *The Politics of Untouchability*, National Publishing House: Delhi

Madan T.N. and Gopala, Saran, (ed.), 1962 Indian Anthropology (Essays in Honour of D.N. Majumdar), Asia Publishing House: Bombay

Madan, T.N. 1962 *The Hindu Joint Family, Man* 62 (145) 88.

Madan, T.N. 1965 *Family and Kinship A Study of the Pandits of Rural Kashmir*, Asia Publishing House: New Delhi

Mahapatra, L.K. 1968 *Ritual Kinship in Orissa*, Proceeding of the 8th International Congress of Anthropological and Archaeological Science.

Mahapatra, L.K. 1969 *Structural Implications of Ritual Kinship in Peasant Societies*. (Unpublished Paper) Delivered as an Address at Amsterdam University.

Maheshwari, Shriram. 1996 *The Census Administration under the Raj and After*, Concept Publishing Co: New Delhi

Maine, Henry, S. 1972 1861 *Ancient Law*, Everyman Edition: London

Mairet, Philip, 1957 *Pioneer of Sociology: The Life and Letters of Patrick Geddes*: London

MADHYAM IAS

Majumdar, D.N. 1955, (ed.) *Rural Profiles (1)* Ethnographic and Folk Culture Society: Lucknow

Majumdar, D.N. 1958 *Caste and Communication in an Indian Village*, Asia Publishing House: Bombay

Mannheim, Karl. 1953, *essays in Sociology and Social Psychology.* R.K.P.: London

Marriott, Mckim 1955 *Village India: Studies in the Little Community*, The University of Chicago Press: Chicago

Marriott, Mckim and R.B. Inden. 1977 *Toward an Ethnosociology of South Asia Caste System,* in The New World, (ed.) K A David, Aldine Publishers, The Haque, Mouton: Chicago

Marriott, Mckim. 1978 *Social Structure and Change in a* U.P.Village, in India's Villages, M.N.Srinivas (ed.) Media Promoters& Publishers: Bombay

Marx, Karl. 1954, *Capital,* Vol. I, Foreign languages publishing house: Moscow

Marx, Karl. 1867 (Lawrence & Wishart, London-1970 produced an English Translation)

Marx, Karl. 1956 *Capital, Vol.* 2. Progress: Moscow

Marx, Karl. 1972 *Theories of Surplus Value*, Vol. 3, Lawrence and Wishart, London.

Mathur, K.S. 1991 *Hindu Values of Life: Karma and Dharma*, in T.N. Madan (ed.), Religion in India, Oxford University Press: New Delhi

Mayer, A.C. 1960 *Caste and Kinship in Central India: A Village and its Regions*, Routledge and Kegan Paul: London

Mayer, A.C. 1975 *On Becoming Participant Observer*, in A. Beteille and T. N. Madan (ed.) Encounters and Experience: Personal Accounts of Fieldwork, Vikas: Delhi

Mayer, P. 1993 *Inventing Village Tradition: The Late 19th Century Origins of the North Indian Jajmani System*, Modern Asian Studies, 27(2).

Mencher, J, 1974 *The Caste System Upside Down, or the not-So-mysterious East*, **Current Anthropology**, 15:469-478.

Mencher, J.P. 1975 *Viewing Hierarchy from the Bottom Up*, in A. Beteille and T. N. Madan (ed.) Encounters and Experience: Personal Accounts of Fieldwork, Vikas: Delhi

Mencher, J.P. 1978 *Agriculture and Social Structure in Tamil Nadu: Past Origins, Present Transformations and Future Prospects*, Allied: Delhi

Mencher, J.P. and Golberg, H. 1967 *Kinship and Marriage Regulations Among the Namboodiri Brahmins of Kerala*, Man 2: 87-106.

Mies, M. 1980 *Indian Women and Patriarchy.* Concept: New Delhi

Minturn, and Hitchcock, J.T. 1963 *The Rajputs of Khalapur, India*, in B.B. Whiting (ed.) Six cultures: Studies of Child Rearing, John Wiley and Sons, London, pp. 203-361.

Mishra, B.B. 1961, 1972 *Theories of Surplus Value*, vol.3, Lawrence and Wishart London

Mitchell, Duncan G. (ed.) 1970 *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul: London

Mitchell, Duncan G., 1968, *A Hundred Years of Sociology*, Gerald Cuckworth and Co. Ltd.: London

Misra, B.B. 1964 The Indian Middle Classes, Oxford University Press: London

Mitra, M. 1987 *Women's Work and Household Survival Strategies: A Case*

Study of Santhal Women's Lives and Work, (unpublished report). Centre for Women's Development Studies: New Delhi

Mohanty, S.P. and A.R. Momin. (eds.), 1996 *Census as Social Document,* Rawat Publications: Jaipur & New Delhi.

Morgan, D.J. H. 1996 *Family Connections,* Polity Press: Cambridge

Morgan, L. H. 1877, 1985 *Ancient Society,* Macmillan and Co:, London

Morgan, Lewis Henry. 1871 *Systems of consanguinity and affinity of the human family,* Smithsonian Institution: Washington

Moser, C.I.N. 1993 *Gender Planning and Development: Theory, Practice and Training,* Routledge: London

Mukerjee, R.K. 1961, *A Note on Village as Unit for Studies of Rural Society,* **Eastern Anthropology,** 14:3-17.

Mukherjee, Ramkrishna. 1973, (Indian Edition) *Rise and fall of East India Company.*

Mukherjee, Ramkrishna. 1979, *Sociology of Indian Sociology,* Allied Publishers: Bombay

Mukherji, Dhurjati Prasad. 1958 *Diversities,* People's Publishing House: New Delhi. (Reprint)

Murdock, George Peter. 1949 *Social structure.* Macmillan Company: New York

Namoria, C.B. 1988 *Social Problems and Social Disorganisation in India,* kitabmahal: Allahabad

Nath, J.P. 2002 *Socialist Leadership in India* ,Kanishka Publishers: New Delhi

Nathan, Dev 1987 *Structure of working class in India,* EPW, Vol. XXII, No. 18.

National Perspective Plan. 1988, *National Perspective Plan for Women's Developmen,* Centre for Women's Development Studies: New Delhi

Needham, Rodney 1971 *Remarks on the Analysis of Kinship and Marriage,* IN Rethinking Kinship and Marriage, ASA Monograph 11, Tavistock: London

Nesiah Devanesan 1997 *Discrimination with Reason? The Policy of Reservations in the United States, India and Malaysia.* Oxford University Press: Delhi

Nicholas, R.W. 1962 *Villages of the Bengal Delta : A Study of Ecology and Peasant Society,* Doctoral Dissertation. University of Chicago: Chicago.

Nongbri, Tiplut. 1993 *Gender and the Khasi family structure, In* Patricia Uberoi, (ed.) Family, kinship and marriage in India, pp.176-86, Oxford University Press: Delhi

Notes and Queries on Anthropology. 1951. (sixth edition). Routledge & Kegan Paul, London.

Omvedt, Gail 1994 *Dalits and the Democratic Revolution: Dr. Ambedkar and Dalit Movement in Colonial India.* Sage Publications: New Delhi

Omvedt, Gail. 1998, (18 July), *Castes and the Census,* **The Hindu.**

Orenstein, H.1965, *A. The Structure of Hindu Caste Values: A Preliminary Study of Hierarchy and Ritual Defilemen',* **Ethnology** 4:1-15.

Ossowski, S. 1963 *Class Structure in the Social Consciousness,* Routledge: London

Padmanabha, P. 1981, *Indian Census and Anthropological Investigations,* Office of the Registrar General, New Delhi.

Pant, Rashmi. 1987 *The Cognitive Status of caste in colonial ethnography: A review of some literature of the North West Provinces and Oudh,* **The Indian Economic and Social History Review,** 24, 2, pp. 145-162.

Papola, T.S. & K.K. Subramaniam. 1973 *Structure of a local labour market*, EPW, Feburary.

Parsons, Talcott. 1959 [1949] *The social structure of the family, In* Ruth Anshen, (ed.) *The family: Its function and destiny* (revised edition), pp. 241-74, Harper: New York

Patel, Tulsi. 1994 *Fertility Behaviour: Population and Society in a Rajasthan Village*. Oxford University Press: Delhi

Patel, Tulsi. 1999, *The Precious Few: Women's Agency, Household Development and Fertility in a Rajasthan Village,* Journal of Comparative Family Studies, 30: 429-452.

Patel, Tulsi. 2000 *Women and Migration in India,* In Vishwanathan, S. (ed.) Structure and Transformation. Oxford University Press: Delhi. pp. 131-151.

Patel, Tulsi. 2005 *Family in India: Structure and Practice,* Sage: New Delhi

Pateman, C. 1988 *The Patriarchal Welfare State,* In Gutmann, A (ed.) Democracy and the Welfare State, Princeton University Press: Princeton

Patnaik, U. (ed.) 1990 *Agrarian Relations and Accumulation: The 'Mode of Production Debate in India,* Oxford University Press: Delhi

Prabhu, Pandharinath H. 1995 [1940] *Hindu social organization: A study in socio-psychological and ideological foundations,* 4th edition, Popular Prakashan Bombay

Pradhan, M.C. 1965, *The Jats of Northern India : Iheir Traditional Political System,* The Economic Weekly, 17 : 1821-1824, 1855-1864.

Press (Reprinted in 1985 from New Delhi: Motilal Banarsi Dass)

Radhakrishnan, P. 1996 *Mandal Commission Report: A Sociological Critique,* in Caste: Its Twentieth Century Avatar (ed.) M. N. Srinivas,Viking, New Delhi

Raj, K.N. (ed.) 1985 *Essays on the Commercialization of Indian Agriculture,* Oxford University Press: Delhi

Ramakrishnan, N. 2005 *Remembering Ram Manohar Lohia, Counter Punch,* (online)

Rao, Anupama 2005 *Sexuality and the Family Form,* Economic and Political Weekly XL (8): 715-718.

Rastogi, P.N. 1970 *Structure, Function and Process, A Cybernertic Approach to Social Phenomena,* In Proceedings of the 4th International Conference of American Cybernetic Society: Washingtion

Ratcliffe, Peter. 1996 *Social Geography and Ethnicity: a theoretical, conceptual and substantive overview,* in Ethnicity in the 1991 Census, Vol. 3, Social Geography and Ethnicity in British geographical spread, spatial concentration and internal migration, (ed.) Ratcliffe, HMSO: London

Raychaudhri, Tapan 1988 *Europe Reconsidered,*. Oxford: Delhi

Reddy, O. Chinappa 1990 *Report of the Karnataka Third Backward Classes Commission,* Vol. 1, Government of Karnatka Press.

Redfield, R. 1965 *Peasant Society and Culture,* Uni-versity of Chicago Press: Chicago

Redfield, R. 1965 *Peasants and Peasant Societies and Culture,* University of Chicago Press: Chicago

Report of the Indian fiscal commission 1921-22, London.

Rinchin. 2005 *Querying Marriage and Family,* Economic and Political Weekly, XL (8): 718-721.

Risley, H. H. and E.A Gait. 1903, *Introduction*, in *Census of India 1901*, Vol. I, India Part I, Report. Superintendent of Government Printing, Calcutta

Risley, H.H. (ed. by W. Crooke) 1969 (1908), *The People of India*, Oriental Books, Delhi

Risley, H.H. 1891 (1981) The *Tribes and Caste of Bengal*. Secretariat Press: Calcutta

Risseeuw, Carla and Rajni Palriwala. 1996 *Introduction: Shifting circles of support, In* Rajni Palriwala and Carla Risseuw, (eds.), Shifting circles of support: Contextualising gender and kinship in South Asia and Sub-Saharan Africa, pp.15-47, Sage Publications: New Delhi

Rose, Gordon 1968 *The Working Class*. Longman: London

Rowbotham, S. 1973 *Woman's Consciousness*, Man's world. Penguin Books: Harmondsworth

Roy Burman. 1998, (12 December) B*ackward Classes and the Census: Putting the Record Straight*, **Economic and Political Weekly**, pp. 3178-3179.

Rudolph, I., L.& Rudolph, Susanne, Hoeber. 1987 (1969) *The Modernity of Tradition: Political Development in India*, Orient Longman: Chicago

Sainath, P. 1998 (15 March), A *Dalit Goes to Vote*, **The Hindu.**

Saraswati, B.N. 1977 *Brahmanic Ritual Traditions*, Indian Institute of Advanced Study: Simla

Sardamoni, K. 1999 *Matriliny Transformed*, Sage Publications and Altamira Press: New Delhi

Sarkar, Benoy Kumar. 1937 *The Positive Background of Hindu Sociology*, Panini: Allahabad

Schenk-Sandbergen, L. 1995 *Women and Seasonal Labour Migration*. Indo-Dutch studies on development Alternatives-16, Sage publications: New Delhi

Schumpter, J. 1949 *The Theory of Economic Development*, Harvard University Press: Cambridge

Seal, Brajendranath 1958, *The Positive Sciences of the Hindu*, Manohar: Delhi

Sen, Amartya 1987 *Hunger and Entitlements*, Helsinki: World Institute for Development Economics Research.

Sen, Amartya. 1990 *Gender and Cooperative Conflicts*, In Tinker, I. (ed.) Persistent Inequalities, Oxford University Press: New York, 123-149.

Sen, I. 1995 *Sukhvasin: The Migrant Woman of Chhattisgarh*, Firedrich Ebert Stiftung New Delhi

Sen, Sukomal 1997 *Working class of India-History of emergence & movement*, 1830-1996, K.P. Bagchi & Company: Calcutta

Sesai, I.P. 1952 *High School Students in Poona*, Bulletin of the Deccan College Research Institute, 12: Poona

Seth, V.N. 1990 *Critical Review of Major Trends in Caste Studies in India*, in G. C.Hallen (ed.) Sociology in India: Perspective and Trends Vol.III, M/S. Rohini Publications, Meerut, India

Shah, A. M. (1973) *The Household Dimension of Family in India: A Field Study in a Gujarat Village and a Review of Other Studies*. Orient Longman, Delhi, University of California Press: Berkeley

Shah, A. M. 1998 *Family in India: Critical Essays*, Orient Longman: New Delhi

Shah, A.M. 1998 *Can the Caste Census be Reliable?*, **Economic and Political Weekly**, Vol. XXXIII, No. 39: 2498-2499.

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

Shah, A.M. 1999, *Changes in the family and the elderly,* Economic and political weekly, 34, 20:1179-82.

Shah, A.M. 1972, *The Indian Journal of Sociology*, 1920, **Sociological Bulletin**, 21(1), 62-67.

Shah, A.M., T. Patel and L. Lobo. 1987, *Social Support and the Elderly in Rural India,* Draft Report. United Nations University: Tokyo.

Shah, Arvind M. 2005 *Family Studies: Retrospect and Prospect*, **Economic and Political Weekly,** XL (1): 19-22.

Shah, Chayanika 2005 *Marriage, Family and Community*, A Feminist Dialogue, **Economic and Political Weekly,** XL (8): 709.

Shah, Ghanshyam 1998 (22 May), *Caste-based census will compound past blunders*, Times of India. New Delhi.

Shanin T. (ed.) 1987 *Peasants and Peasant Societies* (second edition). Blackwell: London.

Sharma, Ramvilas. 2000 *Shram Vibhajan Aur Jati Pratha* in *Gandhi, Ambedkar, Lohia Aur Bhartiya Itihas ki Samasyain,* (hindi), Vani Prakashan: New Delhi, pp. 683-687.

Sharma, B.R. 1970 *The industrial worker-some myths and realities,* **EPW**, May.

Sharma, Ursula. 1980 *Women, Work and Property in North-west India,* Tavistock: London

Sharma, U. 1986 *Women's Work, Class, and the Urban Household: A Study of Shimla. North India,* Tavistock: London

Shinde, Savitribai. 1882 *Stri-Purush Tulana,* Mentioned in O Hanlon, Rosalind 2002, Caste, Conflict and Ideology: Mahatma Jotirao Phule and Low Caste in 19th Century, Western India. Cambridge University Press: Cambridge

Shivanandan, P. 1979 *Caste, class and economic opportunities in Kerala- an empirical analysis,* EPW, Annual number.

Simmel, Georg. 1972 *The Philosophy of Money,*(Transl. by Tom Bottomore & David Frisby), Routledge and Kegan Paul: Massachusetts

Simpson, B. 1994 *Bringing the "Unclear Family" into Focus: Divorce and Remarriage in Contemporary Britain,* Man (N.S.) 29: 831- 851,

Singer, Milton. 1968 *The Indian joint family in modern industry,* In Milton Singer and Bernard Cohn, (eds), *Structure and change in Indian society,* pp.423-52, Wenner- Gren Foundation: New York

Singh, Baljit (ed.), 1955 The Frontiers of Social Sciences (In honour of Radhakamal Mukherjee), Macmillan & Co.: London

Singh, K. S. 1992 *People of India: An Introduction*, Anthropological Survey of India: Calcutta

Singh, Yogendra. 1991 *Country-Town News : Social Transformation in Contemporary Indian Society,* in K.L. Sharma & Gupta D. (ed.) Country-Town Nexus, Rawat: Jaipur

Singh, Yogendra. 1979 *On the History of Sociology in India,* in Mohini Mullick (ed.). Social Enquiry: Goals and Approaches. Manohar: Delhi

Singh, Yogendra. 2004 *Ideology and Theory in Indian Sociology,* Rawat: Jaipur & New Delhi.

Singh, Yogendra 1988 Contemporary Social Transformation in India: Processes and Contradictions, ICSSR Seminar on India since Independence, Dec. 26-30, 1988 Parliament Annexe: New Delhi

MADHYAM IAS

Singh, Yogendra 1973 Modernization of Indian Tradition. Thomson Press: Faridabad.

Sinha, Surajit. 1962, *State Formation and Rajput Myth in Tribal Central India*, **Man in India**, 42 (1)pp 35-80.

Smith, Richard Saumarez. 2000, *From local tax to global statistic: The census as local record*, **Contributions to Indian Sociology**, 34 (1).

Srinivas, M.N. 1952 *Religious and Society among the Coorgs of South India*, Clarendon Press: Oxford

Srinivas, M.N. 1955 *Village Studies and Their Significance*, in D.N. Majumdar, (ed.) *Rural Profiles* Volume 1, Ethnographic and Folk Culture Society, Lucknow

Srinivas, M.N. 1960, (ed.) *India's Village*, Asia Publishing House: London (first published in 1955).

Srinivas, M.N. 1962 *The Study of Disputes in an Indian Village*, in Caste in Modern India, Asia Publishing House Ltd.: Bombay

Srinivas, M.N. 1976 *The Remembered Village*, OUP: Delhi

Srinivas, M.N. 1978 *Village Studies, Participant Observation and Social Science Research in India,* in B. Dasgupta, (ed.) *Village Studies in the Third World*, Delhi, Hindustan: London

Srinivas, M.N. 1994 *The Dominant Caste and Other Essays*, OUP: Delhi

Srinivas, M.N. 1962 *Caste in Modern India and other essays*, Asian Publishing House: Bombay

Srinivas, M.N. and E.A. Ramaswamy 1977 *Culture and human fertility*. Oxford University Press: Delhi

Srinivas, M.N.& Panini, M.N. 1986, *The Development of Sociology in India*, in, T.K.Oomen & Partha N. Mukherji (eds.), Indian Sociology: Reflections & Introspections, Popular Prakashn: Bombay

Srinivas, M.N. 1966 *Social Change in Modern India*, Allied Publishers: New Delhi

Srinivas, M.N. (ed.) 1998 (7 May), *Divide and Rule: Counting on Caste in Census,* Times of India, New Delhi.

Srivastava, Gouri, 2000 *Women's Higher Education in the 19th century,* Concept Publishes: New Delhi

Srivastava, V. K. 2003 *Understanding People of India: Some Insights from Anthropology,* in Understanding people of India: An Anthropological Insight, (eds) A.K. Kalla and D. K. Bhattacharya, Department of Anthropology, University of Delhi: Delhi

Sundar, N. 1999 *The Indian Census, Identity and Inequality,* in Institutions and Inequality: Essays in honour of Andre Beteille, (eds), R. Guha and J. Parry, Oxford University Press: Delhi

Thorner, A.1982 *Semi-Feudalism or Capitalism? Contemporary Debate on Classes and Modes of Production in India*, **Economic and Political Weekly**, Vol. 17(49-51) pp 993-99; 2061-86.

Thorner, D. 1956 *The Agrarian Prospects of India,* Uni-versity Press: Delhi

Trautman, Thomas R. 1981 *Dravidian Kinship,* Cambridge University Press, Cambridge.

Trawick, Margaret. 1990, *Notes on love in a Tamil family,* University of California Press: Berkeley

Uberoi, P. (ed) 1993, *Family, Marriage and Kinship in India,* Oxford University Press: Delhi

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

Uberoi, P. 2000 *The Family in India: Beyond and Nuclear Versus Joint Debate.* Institute of Economic Growth: Delhi

Uberoi, Patricia (ed.) 1994 *Family, Kinship and Marriage in India,* Oxford University Press: New Delhi

Unnithan, T.K.N., Indra Deva and Yogendra Singh (ed.), 1965 *Towards a Sociology of Culture in India,* Prentice-Hall of India: New Delhi

Urry, J. 1996 *Towards a Structural Theory of the Middle Class,* in Class: Critical Concepts (ed.) by John Scott, Routledge: London

Vatuk, Sylvia 1972 *Kinship and urbanization: White collar migrants in north India.* University of California Press: Berkeley

Vijayanunni, M. 1999, (19 November) *Caste can't be cast off,* **Indian Express,** New Delhi

Visaria, Pravin and Leela Visaria. 2003 *Forthcoming. India's population: Its growth and characteristics, In* Veena Das, (ed.), The Oxford Companion Encyclopaedia of Sociology and Social Anthropology, Oxford University Press: New Delhi

Weber, M. 1958 *The Religion of India : The Sociology of Hinduism and Buddhism,* The Free Press: Glencoe I11.

Wilk, R. R. and R. Mc. Netting. 1984 *Households: Changing forms and Functions,* In R. McC. Netting et al (eds.) Households: Comparative and Historical Studies of the Domestic Group, University of California Press: Berkeley, pp. 1-28.

Wiser, W.1936 *The Hindu Jajmain System,* Lucknow Publishing House: Lucknow

Wiser, W.H. 1969 *The Hindu Jajmani System,* Lucknow Publishing House: Luchnow. (first published in 1936)

Wolf, E. 1966 *Peasants,* Prentice-Hall, Inc.: New Jersey.

Wollstonecraft, M. 1792 *Vindication of the Rights of Woman.* Penguin: Harmondsworth

Wright Mills, C. 1956 *White Collar: The American Middle Classes,* Oxford: New York

Yanagisako, S. 1979, *Family and Household: The Analysis of Domestic Groups,* Annual Review of Anthropology, 8: 161-205.

Ambedkar, B.R. 1978, (a), *Annihilation of Caste,* in Dr Babasaheb Ambedkar:Writings and Speeches, Vol. 1, Education Department, Government of Maharashtra: Bombay

Ambedkar, B.R. 1987 *The Hindu Social Order-Its Essential Principles,* in Dr Babasaheb Ambedkar:Writings and Speeches, Vol. 3, Education Department, Government of Maharashtra: Bombay

Oomen, T.K. 1989 *The Cohesive Role of Sanskritization and Other Essays,* Oxford University Press: Delhi

Srinivas, M.N. 1954 *Varna and Caste : Collected Essays,* Oxford University Press: New Delhi

Kolenda, P. 1997 *Caste in Contemporary India : Beyond Organic Solidarity,* Rawat Publications: Jaipur

Gould, Harold 1987 *The Hindu Caste System : The Sacrilization of a Social Order,* Chanakya Publications: Delhi

MADHYAM IAS "way to achieve your dream"

इकाई 17

जनजाति, क्षेत्र और सामान्य संपत्ति संसाधन

इकाई की रूपरेखा

17.1 प्रस्तावना

17.2 आरंभिक इतिहास

17.3 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था और सामान्य संसाधन

17.4 जनसंख्या वृद्धि तथा सामान्यों की असंभावना?

17.5 सामान्यों की संस्कृति

17.6 निष्कर्ष

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप जान पाएँगे :

- "सामान्यों" की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास;
- भारत में "सामान्यों" और मिश्रित अर्थव्यवस्था का संबंध;
- जनसंख्या वृद्धि तथा "सामान्य"; और
- "सामान्य" की संस्कृति।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.1 प्रस्तावना

क्षेत्र और सामान्य संपत्ति संसाधन की अवधारणाएँ, जनजाति की अवधारणा के साथ निकट से संबंधित हैं। वास्तव में, कोई व्यक्ति अनंत काल से जनजातियों को संपोषित करने वाले क्षेत्रों को सोचे बिना, जनजातियों के विषय में नहीं सोच सकता है। जनजातियाँ "सामान्य संपत्ति संसाधनों" पर कार्य करने के लिए भी जानी जाती हैं जो उन्हें आजीविका देने के अतिरिक्त, सामाजिक और भावनात्मक रूप से बाँधती भी हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि "सामान्यों" (जिन्हें "सामान्य संपत्ति संसाधन" भी कहते हैं) और जनजातियों की अवधारणाएँ अविलग रूप से अंतर्संबंधित हैं। वास्तव में, "सामान्य" जनजातियों के जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसलिए, हम "सामान्य" की अवधारणा और उससे संबंधित पक्षों को भारत में जनजातियों के विशिष्ट संदर्भ में समझेंगे।

किंतु "सामान्य" का अर्थ क्या है? "सामान्य" को परिभाषित करना सरल नहीं है—यह न तो निजी संपत्ति है और न ही सार्वजनिक संपत्ति है; न यह व्यावसायिक फार्म है, न सामुदायिक समूह, न व्यापारिक संस्था, न राज्य उपयोगी, न ही ईर्ष्या जन्य निजी प्लॉट और न ही राष्ट्रीय अथवा नगर उद्यान। स्वीकृत अर्थ है कि, "सामान्य", एक प्राकृतिक संसाधन है जिसे स्थानीय समुदाय बाँटते हैं और जो यह निर्णय लेते हैं कि कौन क्या और कैसे उपयोग करेगा। हमारा उद्देश्य यहाँ उन सिद्धांतों को समझना है जो भारत में जनजातियों के विशिष्ट संदर्भ में "सामान्य" का उपयोग निर्धारित और परिभाषित करते हैं।

17.2 आरंभिक इतिहास

रोम के लोगों ने तीन प्रकार की संपत्ति के अन्तर को स्पष्ट किया: वे चीजें जो किसी व्यक्ति या परिवार द्वारा रखी जा सकती हैं, वे चीजें जो राज्य सार्वजनिक उपयोग के लिए बनाता और अलग रखता है, जैसे सार्वजनिक इमारतें और सड़कें तथा प्राकृतिक चीज़ें जिन्हें सभी उपयोग करते हैं जैसे, हवा, पानी और वन्य पशु। इसे रोमन कानून के भय सार, जस्टिनीयन संस्थान में केंद्रीकृत किया गया था जिसके अनुसार : "प्राकृतिक नियमों के अनुसार, ये सभी वस्तुएँ मानव जाति के लिए सामान्य हैं—हवा, बहता पानी, समुद्र और फलस्वरूप, समुद्र तट।"

इंग्लैंड में मध्यकाल के दौरान, सामान्य, गाँव के लोगों द्वारा बाँटी गई भूमि होते थे जिनका उपयोग चारे की खोज, शिकार, फसल उगाने और लकड़ी काटने के लिए किया जाता था। 1215 में, मैग्ना कार्टा ने वनों और मछली पालन क्षेत्रों को, सभी के लिए उपलब्ध संसाधनों में रख दिया। अनेक राज्यों ने अपने संविधानों में यह घोषणा कर दी कि प्राकृतिक संसाधन लोगों के लिए हैं और सरकार लोगों के कोषाध्यक्ष का कार्य करेगी। इस दृष्टि से, "सामान्य" को समुदाय' के संदर्भ में परिभाषित किया जाता है।

18वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति से आरंभ करके, जब श्रम एक वस्तु बन गया तथा भूमि के आस-पास बाड़ा लगा कर सामान्यों को अलग कर दिया गया तो समुदाय की अवधारणा बदल गई। यह निजीकरण का आरंभिक रूप था, पहले भूमि मालिकों द्वारा और धीरे-धीरे औद्योगिक निगमों द्वारा और बाद में दोनों को मिलाकर। इस समीकरण से खुले प्रतिस्पर्द्धी बाजार के माध्यम से विकास को बढ़ावा मिला। इसके समानांतर, सरकार की देख-रेख में विकास का एक अन्य मार्ग निकला।

ये शासन व्यवस्था, सुगमता नियंत्रित करने के तरीके से भिन्न थीं। विश्व के विभिन्न भागों में विभिन्न ढंग से कार्य करती थीं। हमारी यहाँ रुचि भारत में हैं।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

17.3 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था और सामान्य संसाधन

भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग चुना—यहाँ निजी क्षेत्र भी था और सार्वजनिक क्षेत्र भी था। भारत में विदेशी राज्य ने लापरवाही से प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया जिसके दौरान अनेक स्थानीय समुदाय, विशेषकर, जनजातिय वन आवासी बेघर हो गए। भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी राज्य तथा निजी क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों का बुरी तरह दोहन करता रहा। यह औद्योगिक विकास के लिए सही था। अनेक जनजातिय और कृषक आंदोलनों ने इसका विरोध किया।

हालाँकि, साठ के दशक में जब लापरवाही के कारण उद्योग के प्राकृतिक संसाधन आधार का अवमूल्यन होने लगा तो सरकार ने अपनी नीति बदल दी। एक ओर "प्रकृति के संसाधन" जैसे वन्य जीवन उद्यान, राष्ट्रीय उद्यान तथा जैव क्षेत्र साधन के बाड़े बनाए गए। इन्हें मुख्यतः औद्योगिक उत्पादन के लिए जैव विषमता को संरक्षित करने के लिए बनाया गया था। इसके अतिरिक्त, सरकार ने प्राकृतिक साधन खनन की भी अनुमति दे दी। दूसरी ओर, सामुदायिक अधिकार जैसे जीविका हेतु उपयोग के अधिकारों को उन क्षेत्रों में पहचान दी गई। इसके कारण लाखों लोग बेघर हो गए तथा उन्हें पर्याप्त और उपयुक्त मुआवजा भी नहीं मिला। कई स्थानीय समुदायों ने भी कष्ट भोगा क्योंकि उनकी आजीविका का संसाधन आधार उनसे छीन लिया गया था।

शोध से पता लगा कि ऐसे समुदायों की एक बड़ी संख्या को उनके सामान्यों से वंचित कर दिया गया। उदाहरण के लिए, एन.एस. जोधा ने बताया कि सामान्य संपत्ति संसाधनों को अवमूल्यित कर दिय गया है और इनकी उत्पादकता पहले से बहुत कम हो गई है।

फलस्वरूप, ग्रामीण धनाढ्य लोग इन पर बहुत कम निर्भर रहते हैं। इन संसाधनों से अल्प मात्रा में भोजन लेना इनके लिए लाभकारी नहीं है। दूसरी ओर, ग्रामीण गरीब (छोटे किसान और भूमिहीन श्रमिक) जिनके पास सीमित विकल्प हैं अधिकाधिक ऐसे संसाधनों द्वारा प्रदत्त कम लाभकारी विकल्पों पर निर्भर करते हैं। गाँवों में, जहाँ जोधा ने अध्ययन किया है, 84 से 100 प्रतिशत ग्रामीण गरीब लोग ईंधन, चारे और भोजन के लिए सामान्य संपत्ति संसाधन पर निर्भर करते हैं; अमीर किसानों का यही अनुपात 20 प्रतिशत से अधिक नहीं है (राजस्थान के अत्यधिक सूखा क्षेत्रों को छोड़कर); और मध्यवर्गीय फार्म परिवार अमीरों[2] से अधिक संख्या में इन संसाधनों पर निर्भर करते हैं।

मधु सरीन ने कहा कि "वन-निर्भर ग्रामीणों की गरीबी और पृथक्करण के कारण अत्यधिक वन नाश हुआ है और सरकारी वन विभाग सदैव वन समुदायों के साथ झगड़े में उलझे रहते हैं। वास्तव में, यह सरकारी वनों में गरीब और पृथक किए गए वनवासियों की सुगमता को नियंत्रित करने में सरकार की अक्षमता , जिसके कारण संयुक्त वन प्रबंधन का जन्म हुआ। भारत की कुल भूमि क्षेत्र में से 23 प्रतिशत सरकार के वन हैं जो देश के सबसे बड़े भूमि-आधारित सामान्य संपत्ति संसाधन का प्रतिनिधित्व करते हैं। संयुक्त वन प्रबंधन देश के 540 लाख जनजाति के लोगों और अन्य पिछड़े वन समुदायों, विशेषकर महिलाओं के लिए विशेषकर उपयोगी है क्योंकि वे आज भी आजीविका और अपनी अन्य आवश्यकताओ[3] के लिए मुख्यतः वनों पर निर्भर रहते हैं।"

73वाँ संशोधन काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ। इसके कारण स्थानीय समुदाय अपनी परंपरा के अनुसार अपने सामान्य संसाधनों का प्रबंधन करते हैं। इस उपाय के माध्यम से सरकार ने बजारोन्मुख और सरकार-प्रायोजित विकास के कारण पैदा हुए अभावों और तनावों के प्रति समुदाय की प्रतिक्रिया को वैधता प्रदान की। सामान्य संपत्ति संसाधन भारत (और अन्य विकासशील देशों) के विभिन्न पारिस्थितिक क्षेत्रों में सामुदायिक संपत्ति का महत्वपूर्ण अंग हैं। वे अनेक भौतिक उत्पादों के स्रोत हैं; रोजगार तथा आय के अवसर देते हैं और वृहत् सामाजिक और पारिस्थितिक लाभ उपलब्ध करवाते हैं।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

ये कदम सामान के औद्योगिक उत्पादन के लिए संसाधनों के प्रभावी उपयोग को सुनिश्चियत करने, पूँजी एकत्रीकरण में मदद करने, सस्ते श्रमिक उपलब्ध करवाने और यथा संभव सामुदायिक अधिकारों की रक्षा हेतु उठाए गए थे। सामान्य संपत्ति संसाधनों में मत्स्य पालन, वन्य जीवन, भूमि और भूमिगत जल, पहाड़ तथा वन शामिल हैं। इन संसाधनों का उपयोग "छोड़ने" और "घटाने" का प्रकार्य था। छोड़ने का अर्थ यह है कि सशक्त उपभोक्ताओं द्वारा संसाधन की भौतिक प्रकृति पर नियंत्रण करना महँगा पड़ सकता है और अतिशयता की स्थितियों में असंभव हो सकता है। यह दूसरी बात को समझाता है; इस मामले में, उपभोक्ता अन्य लोगों के कल्याण में इसे "घटा" सकने में सक्षम होता है।

औद्योगिक विकास की यह प्रक्रिया (जो निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों का संयोजन थी) सार्वभौमिकरण के कारण तेज हो गई। जैसा कि कहा जा चुका है, यह बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं और माँगों को पूरा करने के लिए जरूरी था। इस विकास का परिणाम विपरीत हुआ; इसके कारण संसाधनों से वंचित लोग और गरीब हो गए तथा इन संसाधनों से जुड़े लोग अधिक अमीर हो गए। दूसरे शब्दों में, यह "छोड़ने" और "घटाने" का उदाहरण है।

बॉक्स 17.1 : औद्योगिक विकास और "सामान्य" संसाधन

जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ी, औद्योगिक उत्पादन विस्तृत तथा सघन होता गया और इसने मानवीय श्रम की मात्रा के साथ उत्पादों में प्राकृतिक तत्व का स्थान ले लिया।

इस प्रक्रिया के दौरान, यह बाहरी जगत की अमानवीय प्रकृति के साथ संबद्ध हो गया, प्रकृति के तीन वरदान जो हमें मानव बनाते हैं, शरीर, मस्तिष्क और आत्मा। इस दौरान नाभिकीय-सैन्य प्रचालन विकसित हो गए और उन्होंने सामान्यों–प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण कर लिया। एक ओर जहाँ नाभिकीय-सैन्य ताकत बढ़ी, वहीं राष्ट्रीय सुरक्षा धीरे-धीरे कम हो गई। एक ओर, जहाँ जनसंख्या में वृद्धि हुई वहीं भूमि की वहन क्षमता घट गई।

जनसंख्या वृद्धि और तीव्र भारी औद्योगिक विकास ने सामान्यों के सतत अपघटन को निर्धारित किया। कम लोगों को सुलभ होने से, आज स्थिति यह हो गई है कि वे सभी लोगों के लिए दुलर्भ हो गए हैं क्योंकि वे न केवल अपघटित हो गए हैं बल्कि पुनरुजीवित करने की उनकी क्षमता भी समाप्त हो गई है। प्रकृति के पंच तत्वों धरती, वायु, जल, अग्नि और आकाश द्वारा परिभाषित प्रकृति के सभी क्षेत्र सदा के लिए अपघटित होते जा रहे हैं।

हवा और पानी जैसे प्राकृतिक चीजों की सभी को आवश्यकता होती है। ये औद्योगिक जगत द्वारा प्रदूषित हो गए हैं और इस प्रदूषणकारी प्रक्रिया से संबद्ध लोग इस प्रदूषण के दुष्प्रभाव झेल रहे हैं। इसके कारण हवा और पानी भी बिकाऊ हो गया है। इसका अर्थ यह है कि कभी जो सभी का था, आज कुछ के पास रह गया है।

इस प्रक्रिया में प्रकृति के संसाधनों के दोहन, उनके पुनर्त्थान की दर से कहीं अधिक तेज दर से किया गया है। यहाँ प्रकृति में बाहरी जगत के प्राकृतिक संसाधन ही नहीं बल्कि मनुष्यों के भीतर की प्रकृति भी शामिल है। उससे प्रकृति के पुनरुजीवित और दोबारा ठीक होने की क्षमता भी कम हो गई है। उसी कारण एड्स (AIDS) जैसे रोग हो रहे हैं क्योंकि बीमारी के प्रतिरोध की क्षमता कम हो गई है। दूसरे शब्दों में, हमारे द्वारा किया गया भोजन या तो स्वच्छ नहीं था या कम पौष्टिक था। इसने हमारे अनुवांशिक कोड को प्रभावित करना आरंभ कर दिया। हमारी खाद्य सुरक्षा धीरे-धीरे कम हो रही है क्योंकि खाद्य उत्पादन[4] भी कम हुआ है और भोजन की गुणवत्ता अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखने जैसी नहीं है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.4 जनसंख्या वृद्धि तथा सामान्यों की असंभावना?

अपनी "सामान्यों की त्रासदी "[5] में गैरेट हार्डिन (1968) ने तीव्र जनसंख्या वृद्धि की परिस्थितियों में सामान्यों को बचाए रखने की असंभावना पर विचार किया है। उसके तर्क की कुछ मुख्य बातें यहाँ संक्षेप में दी गई हैं। मैं हार्डिन की पुस्तक से आवश्यक गद्यांश उद्धृत कर रहा हूँ।

> "सामान्यों की त्रासदी[6] इस प्रकार विकसित होती है। एक भूमिखंड की कल्पना करें। यह अपेक्षित है कि कोई भी चरवाहा अधिक से अधिक मवेशी सामान्य पर लाना चाहेगा। इस प्रकार का प्रबंध संतोषजनक रूप से सदियों तक चल सकता है क्योंकि जनजातिय युद्ध, शिकार और बीमारियों के कारण आदमी और पशुओं, दोनों की संख्या भूमि की वहन् क्षमता से कम रहती है। अंत में, हालॉकि, वह दिन आता है जब सामाजिक स्थिरता का चिर स्वप्न सत्य हो जाता है। इस समय, सामान्यों का वंशागत तर्क ग्लानि रहित रूप से त्रासदी उत्पन्न करता है। तर्कसंगत व्यक्ति होने के कारण, प्रत्येक चरवाहा अपने लाभ को बढ़ाना चाहता है। प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः, कमोवेश जागरूकता के साथ, वह पूछता है, "अपने पशुओं के दल में एक और जानवर जोड़ना मेरे लिए कैसे फायदेमंद हो सकता है?
>
> "इस लाभ में एक सकारात्मक तथा एक नकारात्मक तत्व होता है।

1) सकारात्मक तत्व, एक पशु अधिक जुड़ने का प्रकार्य है। चूँकि चरवाहे को सभी लाभ एक अतिरिक्त पशु बेचने से ही मिलते हैं, तो सकारात्मक लाभ लगभग +1 है।

2) नकारात्मक तत्व, एक अतिरिक्त पशु के कारण होने वाली अधिक चराई है। चूँकि, अतिरिक्त चराई का प्रभाव सभी चरवाहों को बाँटना पड़ेगा, अतः चरवाहे के किसी विशिष्ट निर्णय का नकारात्मक लाभ नही होता है।"

यही त्रासदी होती है। प्रत्येक व्यक्ति ऐसी व्यवस्था में बँधा है जो उसे अपने पशु समूह को असीमित रूप से बढ़ाने के लिए बाध्य करती है— वह भी ऐसे संसार में जो सीमित है। सभी लोग "नाश" की ओर बढ़ रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति सामान्यों की स्वतंत्रता में विश्वास रखने वाले समाज में अपना लाभ देख रहा है। सामान्यों में स्वतंत्रता सबके नाश को जन्म देती है।"

"राष्ट्रीय उद्यान सामान्यों की इसी त्रासदी का एक उदाहरण हैं। उद्यान स्वयं प्रसार में सीमित है ....., जबकि जनसंख्या असीमित रूप से बढ़ रही है। उद्यानों में आने वाले लोग जिन मूल्यों को खोज रहे हैं वे धीरे-धीरे नष्ट हो रहे हैं। साधारणतः, हमें इन उद्यानों को सामान्य नहीं मानना चाहिए अन्यथा ये किसी के लिए भी काम के नहीं रह जाएँगे।"

विपरीत ढंग से, सामान्यों की त्रासदी प्रदूषण की समस्या में दोबारा दिखाई देती है। यहाँ सामान्यों में से कुछ निकालने का प्रश्न नहीं है बल्कि कुछ अंदर डालने की बात है— मलजल, रसायन, विघटनाभिक और पानी में गर्म अपशिष्ट पदार्थ; हवा में जहरीला और खतरनाक धुआँ, नजर के सामने ध्यानाकर्षक और भद्दे विज्ञापन चिह्न लाभ का परिकलन अब भी पहले की तरह होता है। तर्कयुक्त व्यक्ति पाता है कि अपने अपशिष्ट पदार्थों को छोडने से पहले साफ करने की कीमत, उन्हें छोड़ने की कीमत से अधिक है। चूँकि यह सभी के लिए सत्य है, हम सभी "अपना घर गंदा" करने में लगे हैं।"

"खाद्य टोकरी के रूप में सामान्यों की त्रासदी से निजी संपत्ति या कुछ ऐसी ही चीज द्वारा बचा जा सकता है। किंतु हमारे आस-पास के हवा और पानी को ऐसे नहीं बचाया जा सकता, इसलिए गंदगी के ढेर की तरह सामान्यों की त्रासदी को विभिन्न तरीकों, केंद्र नियमों या दंड प्रावधानों द्वारा रोका जाना चाहिए ताकि प्रदूषक को प्रदूषण फैलाने से, उसे साफ करना अधिक सस्ता पड़े। हमें इस समस्या के समाधान में उतनी सफलता नहीं मिली है, जितनी पहले वाली में मिली है। वास्तव में, निजी संपत्ति के बारे में हमारी विशिष्ट अवधारणा, जो हमें पृथ्वी के सकारात्मक संसाधनों को समाप्त करने से रोकती है, प्रदूषण का समर्थन करती है। किसी नदी के तट पर लगी फैक्ट्री का मालिक— जिसकी संपत्ति नदी के बीच तक फैली है—उसे प्रायः यह समझने में तकलीफ होती है कि उसे अपने दरवाजे के पास से बहते पानी को गंदा करने का अधिकार क्यों नहीं है। सामान्यों के इस नए परिप्रेक्ष्य के अनुसार कानून में काट-छाँट करने की आवश्यकता है।

सोचे और करें 17.01

तीव्र जनसंख्या वृद्धि की स्थिति में "सामान्यों" की असंपोष्यता पर गैरेट हार्डिन का तर्क प्रस्तुत कीजिए।

मूलभूत स्तर पर, चूँकि हवा और पानी द्रव्य हैं, अभी मनुष्य अपने जीवन, परिस्थिति, समय, आवास-स्थान, संपत्ति और प्रदूषण से उत्पन्न होने वाली समस्या से निपटने के

माध्यम के आधार पर प्रदूषण को झेलते हैं। इसी प्रकार, वनों में कमी, अनेक पौधों और पशुओं की जाति का लोप विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित कर सकता है —इससे विनाश (प्राकृतिक और मानवीय) हो सकते हैं जैसे बाढ़, भूकंप, बीमारी और रोग आदि.....)।

इस घटना का एक अन्य पहलू है—प्रायः समस्या का सामना करने वाले लोग समस्या के लिए उत्तरदायी नहीं होते हैं। सिद्धांततः प्रत्येक व्यक्ति को जीवन जीने का और फलस्वरूप हवा और पानी पर अधिकार है इसलिए किसी को भी हवा और पानी से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए। स्वच्छ पानी को बोतलों में डालना या ऑक्सीजन कक्ष बनाना कोई समाधान नहीं है क्योंकि इसका उपयोग वही लोग कर पाते हैं जो इसके लिए पैसा खर्च कर सकते हैं तथा शेष लोगों को स्वच्छ हवा और पानी से वंचित रहना पड़ता है तथा अपनी तकलीफों से बचने के लिए दवाइयों पर निर्भर रहना पड़ता है। पर्यावरण के लिए अच्छी तकनीकें और प्रदूषणकारियों के लिए दंड तथा गैर-प्रदूषणकारियों के लिए फायदा देने पर भी प्रयास किए जा रहे हैं। इससे समस्या नहीं सुलझती क्योंकि इन कदमों को सर्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता और इस प्रकार इनका लाभ संपूर्ण मानव जाति को नहीं मिल सकता।

यह स्पष्ट है कि सामान्यों पर अधिकार केवल गरीबों को जीविका सुनिश्चित करने के लिए संपत्ति पर सामुदायिक अधिकारों तक सीमित नहीं रखा जा सकता है। इससे अधिक, यह सुरक्षा और सभी के लाभ हेतु प्राकृतिक संसाधनों के संपोष्य उपयोग से संबधित है। दूसरे शब्दों में, समर्थ लोगों को यह समझना चाहिए कि उसके दुरुपयोग के परिणाम कमजोर लोगों तक पहुँचते हैं (ये लोग संसाधन के निकट भी हो सकते हैं और दूरी पर भी)।

यदि हम "अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम लाभ" को अपना लक्ष्य मान लें तो यह स्पष्ट है कि मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था में उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता जैसा कि "दि वेल्थ ऑफ नेशन्स" (1776) में ऍडम स्मिथ ने कहा था कि कोई व्यक्ति जो "केवल अपना फायदा चाहता हो", "जनहित ... को बढ़ावा देने के लिए किसी अदृश्य शक्ति द्वारा प्रोत्साहित" होता है। हार्डिन के अनुसार, "ऍडम स्मिथ ने यह नहीं कहा कि यह पूर्णतः सत्य है और न ही शायद, उनके किसी अनुयायी ने ऐसा कहा था। किंतु उन्होंने विचारों की एक सशक्त धारा में योगदान दिया है जिसने सदैव तर्कसंगत विश्लेषण पर आधारित सकारात्मक क्रिया के साथ हस्तक्षेप किया है, जिसके अनुसार, ऐसी प्रवृत्ति जो यह मानती है कि व्यक्तिगत रूप से लिए गए निर्णय, वास्तव में, संपूर्ण समाज के लिए सर्वोच्च निर्णय होंगे। यदि यह सोच सही है तो उत्पादन में सरकार के गैर-हस्तक्षेप की वर्तमान नीति का जारी रहना औचित्यपूर्ण है। यदि यह सही है तो हम यह मान सकते हैं कि लोग उपयुक्त जनसंख्या बनाने के लिए व्यक्तिगत उत्पादकता को नियंत्रित करेंगे। यदि यह सोच सही नहीं है तो हमें अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं पर पुनर्विचार करना होगा ताकि हम यह देख सकें कि इनमें से कौन-सी बचाव के लायक हैं।" हार्डिन का कहना है, "अति जनसंख्या के दुष्प्रभावों को तकनीकी समाधानों द्वारा या औद्योगिक व्यवस्था द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छोड़े बिना नियंत्रित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, समुद्र-फार्मिंग या गेहूँ के नए प्रकार विकसित करने की समस्या नहीं सुलझेगी। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या बढ़ाने से वस्तुएँ नहीं बढ़ती है।"

तो क्या सरकार "अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम वस्तुएँ" सुनिश्चित कर सकती है? हम देख चुके हैं कि सरकार हिंसा की प्राथमिक उत्प्रेरक बन गई है विशेषकर, जब वह प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित हो। सरकार ने युद्ध लड़े हैं और आतंक की स्थितियाँ पैदा कर दी है : हम लोग बड़े प्राकृतिक स्रोतों, बड़े बाँधों, उद्योगों, सैन्य स्टेशनों, सड़कों आदि के निर्माण के कारण होने वाले आवास परिवर्तन से परिचित हैं। ऐसे समान मामलों में,

राज्य जनहित के नाम पर गलत काम करता है, जिसका अर्थ है कि ये देश की क्षेत्रीय सीमाओं की जनसंख्या के लिए अच्छे माने जाते हैं। ये शब्द (जनहित और सामान्य लाभ) राष्ट्रीय सुरक्षा के रूप में परिभाषित किए जाते हैं और औद्योगिक उत्पादकता को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार, सरकार या बाजार अकेले अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम लाभ सुनिश्चित नहीं कर सकते हैं। इसका कारण है कि इन दोनों का प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार है। ये दोनों काफी लाभ देते हैं जहाँ कोई ऐसा आंतरिक नियंत्रक नहीं है जो यह बता सके कि उन्हें पोषित करने वाले सामान्यों का विघटन करते हुए उन्हें कब रूकना है। वास्तव में, वे प्राकृतिक संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं और उनमें गरीबों के लिए विकल्पों की अभिकल्पना के तरीकों में अंतर होता है जो प्राकृतिक संसाधनों पर अपना नियंत्रण खो देते हैं और इस प्रकार आजीविका-विहीन हो जाते हैं — सरकार और बाजार केवल रोजगार उपलब्ध करवा सकते हैं जिन्हें पैदा करना कठिन होता है। विशेषकर गैर-शहरी परिवेश में, अधिक आजीविका के अवसर पैदा करने के विचार से ही, समुदाय-आधारित सामान्यों की अवधारणा स्थापित हुई थी।

हार्डिन का निष्कर्ष

".... सामान्य, यदि औचित्यपूर्ण हैं, तो केवल कम जनसंख्या घनत्व की परिस्थिति में ही तर्कसंगत है। मानव जनसंख्या में वृद्धि के कारण, सामान्यों को किसी एक पक्ष के बाद दूसरे में छोड़ा जाना है .... पैदा करने की स्वतंत्रता सबका नाश कर देगी ..... अन्य अधिक मूल्यवान स्वतंत्रताओं को संरक्षित और पोषित करने का एकमात्र तरीका पैदा करने की स्वतंत्रता को त्यागना है और वह भी शीघ्र .... ऐसे ही, हम सामान्य की इस त्रासदी का अंत कर सकते हैं।"[7]

बॉक्स 17.2 : मनुष्य पर समस्याओं के उपसमूह

समकालीन प्राकृतिक विज्ञान की शाखाओं में यह बात विकसित हो गई है कि समस्याओं का एक उपसमूह है, जैसे जनसंख्या, आण्विक युद्ध तथा पर्यावरणीय भ्रष्टाचार, जिनका कोई तकनीकी समाधान नहीं है। समकालीन समाज वैज्ञानिकों के बीच एक और मान्यता है कि समस्याओं का एक उपसमूह है, जैसे जनसंख्या, आण्विक युद्ध, पर्यावरणीय भ्रष्टाचार और रहने योग्य शहरी वातावरण का पुनरुद्धार, जिनके लिए वर्तमान में कोई राजनीतिक समाधान नहीं हैं। इन दोनों उपसमूहों में अधिकांश महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं जो समकालीन मनुष्य के संपूर्ण अस्तित्व के लिए खतरा हैं।[8]

पैदा करने की स्वतंत्रता का त्याग केवल सीमित अर्थ में ही सार्थक है। इसे संपूर्णता से नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका अर्थ न केवल प्रजनन प्रक्रिया का बल्कि सामाजिकता के गहन अर्थ का भी नाश होगा जो भविष्य के साथ विश्व में हमारे होने को परिभाषित करता है। किसी तकनीकी समाधान की असंभावना को मानना यह इंगित करता है कि शायद हमें समस्या को किसी अन्य ढंग से समझना होगा, यानी भिन्न संदर्भगत अर्थों में।

उदाहरण के लिए, हमें सोचना चाहिए कि यह प्राकृतिक जगत्, जो प्रकृति की एक अभिव्यक्ति है, पर सभी का अधिकार है क्योंकि यह किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं है। इसके अतिरिक्त, बाँटने की प्रक्रिया तब तक संभव नहीं है, जब तक हम यह निर्धारित नहीं करते कि प्रत्येक व्यक्ति का कितना अंश है और उसे वह उत्पादन तथा वस्तुओं को बनाने के लिए किस प्रकार प्रयोग करना है। इसी कारण, प्राकृतिक संसाधनों को कानून एवं प्रथा[9] द्वारा "संपत्ति" माना गया है। दूसरे शब्दों में, वह क्या है जिसे बाँटा जा सकता है?

"अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम लाभ" आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था को परिभाषित करता है। यह लक्ष्य अप्राप्य है क्योंकि उत्पादन और पैदावार की औद्योगिक प्रक्रियाएँ, संरचनाएँ और व्यवस्थाएँ स्वयं को पोषित रखने के लिए सस्ते श्रम की बड़ी संख्या की माँग करती हैं। इसके अतिरिक्त, अधिकतम लाभ का मानकीकरण नहीं किया जा सकता है। किसी के लिए अधिकतम, किसी अन्य के लिए न्यूनतम हो सकता है। इसलिए, इस लक्ष्य को पाने के लिए, मानकीकरण की आवश्यकता है, जोकि असंभव है क्योंकि इससे उस स्वतंत्रता का अवमूल्यन होता है जिसकी यह अभिव्यक्ति है। यह फिर एक दिव्य वस्तु बन जाती है। इसका कोई तकनीकी समाधान नहीं हैं।

17.5 सामान्यों की संस्कृति

बाँटने और विनिमय का भाव अंतर्निहित है — एक ऐसा भाव जिसे सभी बाँटते हैं। बाँटने का एक तरीका विनिमय के माध्यम से है और दूसरा तरीका समान परिस्थिति का अंश बनना है। विभिन्न समुदायों ने इस संबंध को अपने-अपने सांस्कृतिक जगत्-दृश्य की दृष्टि से परिभाषित किया है।

अंतरण खेती संपोष्य होती है क्योंकि वह व्यक्तिगत अधिकारों और सामूहिक उत्तरदायित्व के संदर्भ में भूमि और वन के संबंध को परिभाषित करती है। संक्षेप में, अंतरण खेती ऐसी प्रणाली है जिसमें फसलों को बारी-बारी से काटकर वन के भूखंडों को रिक्त छोड़ दिया जाता है जिससे वन पुनर्जीवित हो सके। इस प्रणाली के श्रेष्ठ उदाहरण में एक परिवार दो वर्ष में एक बार एक रिक्त स्थान से दूसरे पर चला जाता है और ऐसा कम से कम चौबीस रिक्त स्थानों पर किया जाता है। इस प्रणाली का आंतरिक तर्क यह है कि किसी रिक्त स्थान पर एक वर्ष खेती करके उसे अड़तालीस वर्षों के लिए छोड़ दिया जाता है। इन अड़तालीस वर्षों में इस रिक्त स्थान पर पुनः वनारोपण हो जाता है। यहाँ यह देखना महत्वपूर्ण है कि किसी भी समय पर अलग-अलग रिक्त स्थान पुनर्जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं में होते हैं। परिवार या लोगों के समूह (ये भिन्न परिवारों के हो सकते हैं) के पास उनके द्वारा किए गए कार्य के आधार पर उनकी पैदावार पर अधिकार होता है। जब किसी रिक्त स्थान को खाली छोड़ दिया जाता है तो वह "सामान्य" बन जाता है जहाँ से समूह के लोगों द्वारा ईंधन की लकड़ी, जड़ें और अन्य वन उत्पाद लिए जा सकते हैं। इस प्रणाली से पुनर्जीवन के लिए समय मिल जाता है। किसी खाली छोड़े गए रिक्त स्थान का सामान्य बनने का एक कारण यह होता है कि वन का पुनरुद्धार सामूहिक उत्तरदायित्व है। दूसरे शब्दों में भूमि पर किसी का कोई अधिकार नहीं होता है। केवल श्रम के उत्पाद के उपयोग का अधिकार होता है और उसके साथ सामान्यों के उपयोग को वन उत्पाद तक सीमित रखने और पुनर्जीवित होने देने का दायित्व भी होता है।

बस्तर, छत्तीसगढ़ में अबुझगढ़ के कोइटरों के बीच इस प्रणाली के पीछे वैश्विक दृष्टि यह होती है कि वन तलुरमुट्टी (धरती माता) का होता है। किसी आवासीय क्षेत्र की क्षेत्रीय सीमा वास्तव में उतनी ही होती है जितना किसी विशिष्ट तलुरमुट्टी का क्षेत्र होता है। यानी, तलुरमुट्टी की सहमति के बिना आवासीय क्षेत्र के लिए रिक्ती बनाना संभव नहीं है। कोइटरों का मानना है कि जहाँ ऐसा नहीं किया जाता, वहाँ शांति नहीं रहती — लोग बीमार हो जाते हैं, फसलें नहीं उगतीं और वनों में बाघ और साँप जैसे जानवर आवास में घुसकर प्रतिदिन के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, तलुरमुट्टी के प्रति सभी कर्त्तव्यों को पूरा करके स्थिर सामाजिक जीवन जिया जा सकता है। इनमें नए खेती चक्र को आरंभ करने से पूर्व और नई फसल तथा आम, इमली जैसे फल खाने से पूर्व प्रसाद चढ़ाया जाता है। तलुरमुट्टी के साथ संबंधों में किसी प्रकार की अव्यवस्था, सामाजिक जीवन को खराब कर देती है।

MADHYAM IAS

कसेर गयाता की संस्था इस संबंध को निभाती है। किसी विशिष्ट वंश का कोई व्यक्ति कसेर गयाता कहलाता है। वह आवासीय क्षेत्र और तलुरमुट्टी की ओर से देख-रेख करता है। उसे आवास का पावन इतिहास पता होता है — यहाँ सीमाओं के भीतर पावन स्थल बने होते हैं। यह स्थान कार्य स्थान के आस-पास होते हैं। इन सभी पावन स्थानों में से, सबसे पवित्र वह स्थान है जहाँ तलुरमुट्टी का मंदिर स्थित है। यहाँ कोई गतिविधि नहीं की जा सकती है।

वार्लियों में, "किसान फसल को नष्ट करने वाले चूहों के लिए जहरीला खाना डालने से मना कर देता है, "किंतु फसल पर पहला अधिकार चूहे का होता है".... वार्ली किसान कहता है ...."जब कोई शेर या तेंदुआ झुंड में से किसी बकरी या भेड़ को ले जाता है तो बुजुर्ग कहते हैं : "जो भी खाने योग्य है, खाया जाएगा, जानवर भी भूखे होते हैं।"[10]

मूल्य सामान्यों के श्रम सिद्धांत के अनुसार, हम जगत के उस भाग में रहते हैं, जहाँ मानव श्रम का निवेश नहीं हुआ है। इसलिए मनुष्य उसका मालिक नहीं बन सकता। इसमें संपूर्ण प्रकृति— मानव तथा गैर-मानव शामिल हैं। यह प्रकृति जगत "प्रकृति की क्रिया" द्वारा बनाया गया है जो मनुष्य के कार्य या श्रम पर निर्भर नहीं करता है। कार्य करने के लिए प्रकृति में स्व-चालित प्रणालियों के लिए आवश्यक समय और स्थान का मापक कई हजार वर्षों का होता है। इन प्रणालियों से प्रकृति की प्रचुरता तथा विषमता में रचनात्मक और सतत रूप से सहयोग मिलता है। इसमें प्रकृति की पुनर्जीवन की क्षमता होती है।

औद्योगिक क्रांति के लगभग चार सौ वर्षों के इतिहास में हमने देखा है कि रचनात्मक स्व-नियंत्रित प्रणालियों के लिए समय और स्थान कम हो गया है जिसके कारण विभिन्नता तथा प्रचुरता अब असीमित और अपरिमित नहीं रह गई हैं। इससे न केवल प्रजातियों के जीवन बल्कि स्वयं जीवन की मूलभूत परिस्थितियों का ह्रास हुआ है। अपने अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर हम पुनरुद्धार तथा पुनर्जीवित होने की क्षमता के ह्रास का सामना कर रहे हैं।

सोचें और करें 17.02

क्या "सामान्य" का विचार मन शरीर और आत्मा की स्वतंत्रताओं से जुड़ा हुआ है? अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इस संकट से उबरने के लिए मनुष्य और प्रकृति के संबंध को प्रकृति के लिए अपनी रचनात्मक क्षमता को दोबारा प्राप्त करने के लिए आवश्यक स्थान और समय उपलब्ध करवाना पड़ेगा। समय और स्थान पर प्रकृति के अधिकार को पहचान कर तथा इन अधिकारों का उल्लंघन न करने वाले अभिकल्पना तंत्रों के उपयोग को स्वीकृति देकर, प्रकृति के इस कार्य को मनुष्य के कार्य से बचाया जा सकता है। वास्तव में, मनुष्यों को प्रकृति से केवल उतना ही लेना चाहिए जितने से दूसरे लोगों को कमी न महसूस हो और प्रकृति को कार्य करने के लिए रचनात्मक प्रक्रियाओं के लिए स्थान और समय भी मिल सके।

17.6 निष्कर्ष

प्रकृति की स्व-नियंत्रक क्षमता एक उपहार है। मानव अस्तित्व की संभावना के लिए यह एक स्थिति है। प्रकृति के कार्य को स्थान और समय कैसे मिल सकता है जब प्रकृति के साथ मनुष्य का संबंध समूहों द्वारा संचालित होता है?

सामान्यों का विचार संपत्ति तक सीमित न होकर मन शरीर और उससे संबंधित आत्मा की स्वतंत्रताओं तक सीमित है। एक चीज जो समान है वह स्वतंत्रता है जिसके बिना न

तो मन है और न ही आत्मा। ये तीनों प्रकृति के उपहार हैं। हम स्वतंत्र नहीं हो सकते जब तक हम एक दूसरे के साथ सहयोग न करें। ऐसा इसलिए है क्योंकि कोई भी व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता में अपने बूते पर नहीं रह सकता। हालाँकि, दूसरों के सहयोग से वह रह सकता है। यानी, मेरी स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता से जुड़ी हुई है। आजाद होने के लिए एक शर्त स्वतंत्रता है। "स्वयं" से आजादी, स्वतंत्रता का श्रेष्ठतम रूप है। इसके बिना दूसरा आजाद नहीं रह सकता। संपत्ति संबंध को यह सुनिश्चित करने के लिए अभिकल्पित किया जा सकता है कि उत्पादन के लिए इसका उपयोग करने की प्रक्रिया में कोई अन्य नहीं होता। इस प्रकार के संपत्ति संबंध भारत में वनवासियों के लिए "सामान्य" होते हैं। पावन बाग इसका एक उदाहरण है। ये सामान्य पुनरुद्धार और नवशक्ति का स्रोत होते हैं। पावन बागों को उनकी स्व-पुनरुद्धार तथा स्व-प्रजनन की क्षमता "सामान्य" की श्रेणी में लाती है। इस क्षमता का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है; यह अनमोल है क्योंकि इसके समय और स्थान का मापक, मानवीय मापक से कहीं बाहर है। इसलिए प्रकृति का वह क्षेत्र, जिसे मापा नहीं जा सकता; अनछुआ रह जाता है। यह अगम्य है।

इस समस्या के कोई तकनीकी समाधान नहीं है, यानी कोई तकनीक या प्रौद्योगिकी इसे माप नहीं सकती। इस कारण ये "सामान्य" बनते हैं। ये "सामान्य" अपरिहार्य हैं और इस कारण लोगों के इसके साथ संबंध हैं। इस प्रकार सामान्यों के पुनरुद्धार के लिए संघर्ष सामुदायिक स्वामित्व के पुनर्स्थापन तक सीमित नहीं हैं। यह इस समझ पर आधारित होना चाहिए कि प्रकृति के पास भी अभिव्यक्ति का इतना ही अधिकार है और यही हमारी आजादी है। समझाए गए सांस्कृतिक तंत्र केवल इस बात का उदाहरण हैं कि भारत के अनेक भागों की भूमि पर क्या मौजूद है। उनसे हम अर्थव्यवस्था के प्रबंधन के वैकल्पिक सिद्धांतों को सीखते हैं। ये हो सकता है, सार्वभौमिकीय न हों। हालाँकि, उसी कारण उन्हें स्व-अभिव्यक्ति के लिए स्थान दिया जाना चाहिए और उन्हें निजी या सार्वजनिक संपत्ति में रूपांतरित नहीं किया जाना चाहिए।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS

प्रभु, प्रदीप 2003. प्रकृति, संस्कृति तथा विषमता : जीवन के देशी ढंग। स्मितु कोठारी, इम्तियाज अहमद तथा हेल्मट रेफील्ड, (संपा.), *"दि वैल्यू ऑफ नेचर इकालॉजिकल पॉलिटिक्स इन इंडिया"*, नई दिल्ली : रेनबो प्रकाशन।

सिंह छहत्रपति, 1986. *कॉमन प्रॉपर्टी एंड कॉमन पॉवर्टी- इंडियाज फॉरेस्ट्स, फॉरेस्ट डवेलर्स एंड दि लॉ*, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

अंत टिप्पणी

1. अंतिम बार 1 अगस्त 2005 को देखी गई वेबसाइट

   http://www.friendsofthecommons.org/index.html

2. एन.एस. जोधा सामान्य संपत्ति संसाधन और भारत के सूखे क्षेत्र उनासेल्वा में ग्रामीण गरीबी की गतिकी - सं. 180 - खंड 46 - 1995/1।

3. एम. ´सरीन भारत में संयुक्त वन प्रबंधन : उनासेल्वा में उपलब्धियाँ और असंबोधित चुनौतियाँ - सं 180 - खंड 46 - 1995/1

4. "गिरता खाद्यान्न उत्पादन और भोजन की उपलब्धता देश के सामने दो सबसे बड़ी समस्याएँ हैं। जिस प्रकार हम कृषि पर ध्यान देते हैं उसमें कुछ बहुत भारी गड़बड़ी है। 70 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या के कृषि और समान गतिविधियों में कार्यरत होने तथा लगभग इसी प्रतिशत के किसानों के औसत 0.2 हेक्टेयर भूमि पर गुड़ाई करने

के चलते और तमाम परेशानियों से जूझने के कारण, इस संतुलन को ठीक करने का समय आ गया है ...." स्मितु कोठारी, इम्तियाज अहमद तथा हेल्मट रेफील्ड, 2003 सं. में विषमता तथा भोजन सुरक्षा की राजनीति पर देवेन्द्र शर्मा। दि वेल्यू ऑफ नेचर इकोलॉजिकल पॉलिटिक्स इन इंडिया। नई दिल्ली, रेनबो प्रकाशन।

5. "सामान्यों की त्रासदी", गैरेट हार्डिन, विज्ञान, 162 (1968) : 1243-1248 में।

6. दार्शनिक व्हाइटहेड के बाद "त्रासदी" शब्द : "नाटकीय त्रासदी का सार दुख नहीं है। यह चीजों के ग्लानिरहित भाव से कार्य करने की सच्चाई में है।" वह आगे कहता है, "भाग्य की इस अवश्यंभाविता को केवल मानव जीवन में किस्सों के संदर्भ से दर्शाया जा सकता है जिनमें वास्तव में दुख होता है। क्योंकि केवल इन्हीं के द्वारा, नाटक में पलायन की निरर्थकता को दिखाया जा सकता है।"

7. "सामान्यों की त्रासदी", गैरेट हार्डिन, विज्ञान 162 (1968) : 1243-1248 में।

8. बेटिल क्रो (1969) सामान्य की त्रासदी का पुनरागमन - डब्ल्यू. एच. फ्रीमैन, 1977 सामान्यों का प्रबंधन गैरेट हार्डिन एवं जॉन बेडेन में पुनर्मुद्रित।

9. संपत्ति को दो श्रेणियों में बाँटा जाता है : निजी एवं सामान्य। निजी संपत्ति के अंतर्गत, केवल एक व्यक्ति और उसके परिवार का संसाधनों और पूंजी से होने वाले लाभ पर विधिक अधिकार होता है। सामान्य संपत्ति के अंतर्गत, सुगमता और लाभ एक व्यक्ति या उसके परिवार तक सीमित नहीं होते बल्कि अनेक लोगों द्वारा सार्वजनिक रूप से बाँटे जाते हैं। सार्वजनिक संपत्ति को फिर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है: एक वह जो व्यवस्थित श्रम का उत्पाद है और दूसरा, जो प्राकृतिक श्रम का उत्पाद है। पहली श्रेणी में सार्वजनिक यातायात, मनोरंजन के स्थान, सेवा कार्यालय, अस्पताल, आदि होते हैं। इन चीजों को अब सार्वजनिक संपत्ति कहा जाता है। दूसरी श्रेणी में प्राकृतिक वन, तालाब, नदियाँ, खनिज, ईंधन, रेत, मिट्टी, चूना और अन्य प्रकार के पत्थर आदि होते हैं। छत्रपति सिंह की कॉमन प्रॉपर्टी एंड कॉमन पॉवर्टी इंडियाज फॉरेस्ट्स, फॉरेस्ट ड्वेलर्स एंड दि लॉ। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली. 1986 पृष्ठ 11.

10. प्रदीप प्रभु. प्रकृति, संस्कृति और विषमता : जीवन के अपने ढंग। स्मितु कोठारी, इम्तियाज अहमद तथा हेल्मट रेफील्ड, 2003 सं. में। दि वेल्यू ऑफ नेचर इकोलॉजिकल पॉलिटिक्स इन इंडिया। नई दिल्ली, रेनबो प्रकाशन .... पृष्ठ 77.

MAABHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 18

जनजाति और जाति

इकाई की रूपरेखा

18.1 प्रस्तावना

18.2 जनजातियों में रूपांतरण

18.3 संस्कृतिकरण

18.4 हिंदूकरण

18.5 भाषा

18.6 गलतफहमी का आधार

18.7 समुदाय के रूप में जनजाति

18.8 निष्कर्ष

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप समझ सकेंगे :

- जातियों में जनजातिय रूपांतरण की प्रकृति;
- जनजातियों की तुलना में संस्कृतिकरण और हिंदूकरण की प्रक्रियाएँ;
- जनजातिय पहचान के विशिष्ट घटक के रूप में भाषा;
- जनजातिय पहचान के संबंध में गलतफहमी का आधार; और
- जनजाति का सामुदायिक जीवन।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

18.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता के बाद के समय में जनजाति को जाति से अलग दिखाने के प्रति न केवल अधिक ध्यान दिया गया है बल्कि अधिक व्यवस्थित प्रयास भी किए गए हैं। तथापि, आजतक विद्वान किसी व्यवस्थित मापदंड तक नहीं पहुँच पाए हैं। सामान्यतः, उन्होंने एक को दूसरे से अलग दिखाने के लिए विभिन्न मापदंडों का आधार लिया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि ये दोनों, दो भिन्न सामाजिक संगठनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जातियों को श्रम के अनुवांशिक विभाजन, वंशानुक्रम, शुद्धता और प्रदूषण के सिद्धांत, नागरिक एवं धार्मिक अक्षमताओं आदि के द्वारा नियंत्रित माना जाता रहा है। दूसरी ओर, जनजातियों में उन विशेषताओं का अभाव पाया गया है जो जातियों में थीं। ये दोनों प्रकार के सामाजिक संगठनों को भिन्न सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित माना जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि नातेदारी के बंधन जनजातिय समाज को नियंत्रित करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के बराबर समझा जाता है। वंशानुक्रम और वंश को स्वामित्व और उत्पादन तथा खपत की मुख्य इकाई माना जाता है। इसके विपरीत, असमानता, निर्भरता तथा अधीनस्थता जाति समाज के अभिन्न अंग हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि जनजातियों में उतना भेद नहीं होता जितना जाति समूहों में होता है। जाति

समूह धर्म के दोनों पक्षों के प्रत्येक के लिए विभिन्न रूप, प्रथाएँ और व्यवहार पेटर्न बनाए रखते हैं। जनजातियों और जातियों को उनके सदस्यों के मनोवैज्ञानिक स्वरूप के संदर्भ में भी भिन्न दिखाया जाता है। जनजातियाँ खाने, पीने, संभोग, नाच या गाने के संदर्भ में प्रत्यक्ष और विशुद्ध संतोष महसूस करती हैं। इससे अलग, जातियाँ इन सुखो के बारे में कुछ उभयमुखता दिखाते हैं।

इसके अतिरिक्त, "जाति" समाज में, गाँव को सांस्कृतिक रूप से विजातीय होने की अपेक्षा की जाती है और प्रत्येक जाति प्रथागत परंपराओं का विशिष्ट संयोजन अपनाती हैं। दूसरी ओर, जनजाति के लोग अपने समाज को सजातीय होने, या कम से कम विजातीय न होने की अपेक्षा करते हैं (मेंडेलबॉम, 1970 : 577)। इस और कुछ अन्य ऐसे प्रयासों से, भारत में जनजाति की अवधारणा के संदर्भ में कुछ छवियाँ तथा मान्यताएँ विकसित की गई हैं। इनमें शोषणकारी वर्गों का अभाव और संगठित राज्य संरचनाएँ; नातेदारी के संबंधों की बहु-प्रकार्यात्मकता, सर्वव्यापी धर्म; सामाजिक-आर्थिक इकाई की अंश प्रवृत्ति; समान लक्ष्यों के लिए शीघ्र सहयोग; उथला इतिहास; विशिष्ट प्रतिबंध; प्रथाएँ तथा नैतिक संहिताएँ; युवा आवास; तकनीक का नीचा स्तर; सामान्य नाम, क्षेत्र, वंश, भाषा, संस्कृति आदि (पाथी, 1992 : 50)।

हालाँकि, विरोधाभासी किंतु सत्य की दृष्टि से, निम्नांकों के ये समूह जिनके संदर्भ में जनजातियों को गैर-जनजातियों से अलग बताया जाता है, यानी, भारत में जनजाति कहलाने वाले समूहों की बड़ी संख्या जाति विचार को नहीं मानती है। और ये समूह भी, जो इन विशेषताओं को मानते हैं, मुश्किल से इन विशेषताओं के संदर्भ में, एक दूसरे के साथ समान संबंध रखते हैं। एक तरफ, ऐसे समूह हैं जो पूर्णतः इन विशेषताओं को मानते है और दूसरी ओर ऐसे समूह हैं जिनमें ये विशेषताएँ नहीं हैं। हालाँकि, इनमें से अधिकांश बीच में हैं जो थोड़ा बहुत इन विशेषताओं को मानते हैं। इसलिए, जनजातियों से संबंधित मान्यताएँ भ्रांतिकारक और काफी सीमा तक गलत हैं। इन विशेषताओं को मानने के संदर्भ में, समूहों के बीच इतने भेदभाव के बावजूद, इन सभी को जनजाति माना गया है। हालाँकि, केवल एक चीज जो इन सभी में समान है, वह, बेटेली के अनुसार, यह है कि ये सभी कमोबेश हिंदू सभ्यता के बाहर हैं। और चूँकि जनजातियों की पहचान, राजनीतिक और प्रशासनिक कारणों के प्रबंधन से भी संबंधित है, इसका विश्लेषण करने के लिए कोई प्रयास नहीं किए गए हैं। इसकी अपेक्षा, इन्हें सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

18.2 जनजातियों में रूपांतरण

उपनिवेशी मानवजाति विज्ञान में, जनजाति को जाति से अलग दर्शाने के अंग्रेज प्रशासकों/विद्वानों द्वारा दिखाई गई चिंता ने भी जनजाति की विशिष्ट अवधारणा को जन्म दिया। अर्थात् जनजातियाँ शेष जनसंख्या से कटकर रहती थीं और उनसे कोई अंतर्संबंध अथवा परस्पर क्रिया नहीं होती थी। इसके विपरीत पश्चात-उपनिवेशी मानवजाति विज्ञान का प्रमुख मुद्दा जनजातियों के शेष समाज या सभ्यता के साथ निकट संबंधों को दर्शाना रहा है। यह संबंध हालाँकि भिन्न-भिन्न रूपों में देखा गया है। सिन्हा (1958) जनजातियों को छोटी परंपरा के ऐसे आयाम के रूप में देखते हैं जिसे बड़ी परंपरा के संदर्भ में देखे बिना ठीक से समझा नहीं जा सकता है। इसके विपरीत बेटेली (1986 : 316) जनजातियों की भारत और इस्लाम जगत की भाँति, जनजाति एवं सभ्यता के सह-अस्तित्व के संदर्भ में राज्य एवं सभ्यता से बाहर रहने के रूप में अधिक देखते हैं। इस प्रकार हालाँकि, यह अंतर बना रहता है, इन दोनों को कटा हुआ न मानकर परस्पर क्रियाकारक माना जाता है। जहाँ जनजातियों को राज्य से बाहर भी समझा गया है, जैसा प्रायः होता है, उन्हें सभ्यता के प्रभाव से बाहर नहीं समझा गया है। इसलिए जनजातियों

को सभ्यता के साथ निरंतर क्रियात्मक रूप में देखा गया है। फलस्वरूप, जनजातिय समाज को स्थिर न मानकर परिवर्तनशील माना गया है।

जनजातिय समाज के रूपांतरण को जिस प्रभावी रूप में देखा गया है, वह सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने वाले समाज में समाहित होकर जनजाति द्वारा सभ्यता का अंश बनने की दिशा में बढ़ने के संदर्भ में है। इतिहासकारों और मानव विज्ञानियों दोनों ने अतीत के संदर्भ में यह देखा है। ओसांबी (1975) ने जानजातीय तत्वों को सामान्य समाज में मिल जाने के विषय में कहा है। इसी प्रकार, एन.के. बोस (1941) ने जनजातियों के हिंदू समाज में मिल जाने का संदर्भ दिया है। इस प्रकार का दावा समर्थन विहीन नहीं रहा है। अनेक मानवविज्ञान संबंधी शोध अब भी जनजातियों के हिंदू समाज में मिलने अथवा जनजातियों के जाति में बदलने की घटनाओं की ओर इशारा करते हैं। जनजातियों ने जाति संरचना के नियमों को मान लिया है और उसमें मिल गई हैं। इस प्रकार, पड़ोसी हिंदू कृषकता से उन्हें अलग बताना अत्यंत कठिन है। इस श्रेणी की कुछ प्रचलित जनजातियाँ भील, भूमिज, मांझी, खासा और राजगोंड हैं। वास्तव में जनजातियों पर अधिकांश सामाजिक मानवविज्ञान संबंधी शोध जनजातियों के जाति में रूपांतरित होने के संदर्भ में हैं। यह श्रेष्ठ रूप से प्रसिद्ध मानवविज्ञानियों द्वारा दिए गए जनजातियों के वर्गीकरण में दर्शाया गया है। भिन्न विद्वानों ने भिन्न रूप से वर्गीकरण किया है किंतु सभी ने हिंदू समाज में विलय की अवस्था का उल्लेख किया है। कुछ प्रचलित वर्गीकरण नीचे दिए गए हैं।

रॉय बर्मन (1972) ने अपने आरंभिक शोध में जनजातियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया : (1) हिंदू समाज में समाविष्ट जनजातियाँ, (2) सकारात्मक रूप से हिंदू समाजोन्मुख जनजातियाँ, (3) नाकारात्मक रूप से उन्मुख जनजातियाँ और (4) हिंदू समाज से संबंधित जनजातियाँ। विद्यार्थी (1977) ने जनजातियों को इस प्रकार बताया : (1) वन में रहने वाली, (2) ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली, (3) अर्ध संस्कार युक्त (4) संस्कार युक्त और (5) समाविष्ट। एलविन (1944) ने जनजातियों को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया। ये थीं : (1) शुद्ध जनजातिय समूहों में से सर्वशुद्ध, (2) मैदानी इलाकों के संपर्क में और इस प्रकार परिवर्तनशील किंतु जनजातिय रहन-सहन को बनाए रखने वाली, (3) हिंदू समाज के निचले स्तर पर रहने वाली, (4) पूर्णतः हिंदू आस्था को अपनाकर आधुनिक जीवनशैली के साथ रहने वाली। विद्यार्थी द्वारा प्रयुक्त वर्गीकरण के मापदंड में तर्कसंगत समानता का अभाव है। एलविन ने तो यहाँ तक लिखा कि संपूर्ण समस्या यह थी कि पहले और दूसरे वर्ग के जनजातिय लोगों को बिना तीसरे वर्ग के दुख और विघटन को सहे किस प्रकार सीधे चौथे वर्ग की ओर ले जाने में सफलता मिले। दुबे ने भी जनजातियों का वर्गीकरण एलविन की भाँति ही किया है। ऐसे कई अन्य लोग हैं जिनमें बोस, फुक्स आदि शामिल हैं जिन्होंन कोई विशिष्ट वर्गीकरण नहीं बनाया किंतु उन्होंने जनजातियों द्वारा हिंदू समाज में समाविष्ट होकर निचले अथवा ऊंचे स्थान प्राप्त करने का उल्लेख किया है।

ऐसे विद्वान भी हैं जो हमें जनजातियों के रूपांतरण की ऐसी अवधारणा से सचेत करते हैं। अपने बाद के लेखों में रॉय-बर्मन (1983, 1994) ने बताया है कि यदि जनजातियों के कृषक वर्ग में रूपांतरण को तय नहीं मानना है तो भारतीय संदर्भ में जनजाति के जाति में रूपांतरण को भी निश्चित नहीं माना जा सकता है। ऐसा उसने बोस और श्रीनिवास के मॉडलों की आलोचना द्वारा बताया है। उसने हिंदूओं में परिवर्तित जनजातियों की जाति से रक्षा के अभाव के बारे में बताया है। पाथी (1992 : 50-51) ने ऐतिहासिक और संदर्भगत प्रमाण के अभाव के कारण जनजातियों के जाति में रूपांतरण की हावी होती प्रवृत्ति पर प्रश्न चिह्न लगाया है। फिर भी वह कोसांबी के दृष्टिकोण का समर्थन करता है जब वह कहता है कि भारतीय इतिहास का संपूर्ण पाठ्यक्रम दर्शाता है कि जनजातिय तत्वों को सामान्य समाज में मिलाया जा रहा है।

सोचें और करें 18.01

क्या जनजातियों के जाति में रूपांतरण की कोई प्रक्रिया है? अपने वाक्यांश का उत्तर दीजिए।

ऐसा समझा जाता है कि जनजातियों का जातियों में रूपान्तरण कतिपय विधियों से हुआ है जिन्हें विभिन्न प्रकार से अवधारित किया गया है। कोसाम्बी (1975) मानता है कि जनजातियों ने हिन्दू समाज में अपने विलय के लिए हिन्दू समाज की तकनीक को प्रमुख विधि के रूप में अपनाया। बोस (1941) के अनुसार विलयन का हिन्दू विधि उत्पादन की संगठनात्मक पद्धति के अन्तर्गत काम करती है। वह कहता है कि जनजातियाँ उस व्यवस्था में इसलिए खिंच आती हैं क्योंकि इस व्यवस्था में उन्हें सुरक्षा मिलती है और यह व्यवस्था अप्रतियोगी है। संस्कृतिकरण को भी एक विधि के रूप में देखा जाता है जिसके द्वारा जनजातियाँ हिन्दू समाज में विलय होती हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण विधि जिससे जनजातियों का विलय हिन्दू समाज में होता है जिसे सिन्हा (1962, 1987) राज्य का गठन कहता है। उसके कथनानुसार गाँव के अन्तर्गत संस्कृतिकरण, हिन्दूकरण तथा सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को उचित ढंग से नहीं समझा जा सकता जबतक कि राज्य निर्माण की विस्तृत संदर्भ में परीक्षा नहीं की जाती। वह आगे लिखता है कि राज्य निर्माण ने जनजातीय व्यवस्था का रूपान्तरण क्षेत्रीय जाति व्यवस्था में करने के लिए एक निर्णायक सामाजिक-राजनीतिक रूपरेखा प्रदान की।

18.3 संस्कृतिकरण

जैसा कि पहले देखा गया है कि सामान्यतः यह माना जाता है कि गैर-जनजातियों के संपर्क में आने वाली जनजातियों में कुछ परिवर्तन हुआ है और यह परिवर्तन सामाजिक प्रक्रियाओं की जटिलता के माध्यम से हिंदू समाज में समाविष्ट होने की दिशा में हुआ है। विद्वानों ने इन प्रक्रियाओं को भिन्न-भिन्न ढंग से देखा है। इन प्रक्रियाओं को समझने के लिए विभिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है, जिनमें संस्कृतिकरण और हिंदूकरण हैं। समय-समय पर, मानवविज्ञानियों ने संस्कृतिकरण के स्थान पर सत्रीयकरण और राजपूतकरण जैसे विशिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। ये शब्द विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं हालाँकि वास्तविकता में ये प्रक्रियाएँ मिलती-जुलती हैं। इसके बावजूद, सामाजिक वैज्ञानिकों में इन्हें एक-दूसरे के स्थान पर पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया है। अनेक बार इन शब्दों के स्थान पर संस्कारयुक्त, समावेश, मिलना जैसे शब्दों के प्रयोग से समस्याओं को सुलझाया गया है। हालाँकि, मुख्य प्रक्रियाएँ, जिनके द्वारा जाति में जनजाति के रूपांतरण को समझा जाता है, हिंदूकरण और संस्कृतिकरण हैं।

प्रश्न यह है कि हिंदूकरण, संस्कृतिकरण आदि जैसी प्रक्रियाएँ जो जनजातिय समाज में होती हैं, क्या जनजातिय समाज का स्थान परिवर्तन करके हिंदू समाज में उनके समावेश का मार्ग प्रशसत करती हैं? क्या दूसरी संस्कृति को अपनाने के कारण कोई जनजाति, जनजाति न रहकर जाति बन जाती है? वास्तव में, पूर्व में उल्लिखित सभी विद्वान ऐसा ही सोचते थे। इन विद्वानों के लिए, जनजातियों का अस्तित्व जाति समाज पर अनिर्भर नहीं रह जाता है। तथ्य यह है कि हो सकता है कि ऐसा पहले होता हो किंतु आजादी के बाद, भारत में ऐसा नहीं होता है।

चूँकि जनजातियों द्वारा हिंदू समाज की संस्कृति को अपनाना या जाति में उनका रूपांतरण संस्कृतिकरण/हिंदूकरण के कारण हुआ है, आरंभ में ही, इन शब्दों और अवधारणाओं, विशेषकर संस्कृतिकरण की उपयुक्तता की जाँच करना महत्वपूर्ण है।

संस्कृतिकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसमें निचली स्तर के समुदाय अपने क्षेत्र की प्रभावी जाति की जीवनशैली को अपनाते हैं। इस प्रक्रिया से, निचली जातियाँ, जाति अनुक्रम में ऊपर के स्थान पर आ जाती हैं। कई बार, ऐसी प्रक्रिया को समझाने के लिए क्षत्रीयकरण या राजपूतकरण जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अब इस प्रक्रिया को जाति समाज के अंतर्गत सामाजिक परिवर्तन की गतिकी को समझने के लिए होता है। हालाँकि, समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवविज्ञानियों ने इस शब्द और अवधारणा का विस्तार जनजातिय समाज में चल रहे कुछ परिवर्तनशील प्रक्रियाओं को समझाने के लिए क्या यह विस्तार वैध है? मेरे विचार से, यह विस्तार जिस संदर्भ में इसे प्रयोग किया जा रहा है, जनजातिय समाज के संदर्भ में बिल्कुल उपयुक्त नहीं है। यह अनुपयुक्त है क्योंकि यह मानता है कि जनजातियाँ पहले हिंदू समाज का भाग हैं और बाद में वे जाति समाज का अंग हैं। जनजातियों को, संक्षेप में, इसलिए जनजाति माना गया है क्योंकि वे हिंदू और जाति समाज दोनों से बाहर हैं। यानी, जनजाति वह समाज है जो जाति-हिंदू समाज से बाहर रहती है। क्या संस्कृतिकरण की ऐसी कोई प्रक्रिया हो सकती है जिसकी जनजाति के जाति-हिंदू समाज का अंश बने बिना कल्पना की गई है? इस प्रक्रिया की यह माँग है कि जनजातियों को पहले हिंदू समाज में प्रवेश करना चाहिए।

सोचें और करें 18.02

क्या जनजातियों के बीच संस्कृतिकरण होता है? चर्चा करें।

प्रश्न यह उठता है कि क्या हिंदूकरण संस्कृतिकरण के समान है। ये दोनों वस्तुतः अंतर्संबंधित है किंतु जनजातियों के संदर्भ में संबंधित प्रक्रियाओं को संस्कृतिकरण की अपेक्षा हिंदूकरण कहना अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि जाति अनुक्रम में ऊपर की ओर बढ़ना जनजातियों के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। निश्चय ही जाति संगठन के बाहर हिंदू आस्था और प्रथाओं की कल्पना करना संभव नहीं है। इस प्रकार, हिंदूकरण के साथ सदैव जाति प्रस्थिति जुड़ी रहती है। किंतु जनजातियों से संबंधित जाति प्रस्थिति को "निम्न जाति प्रस्थिति" माना जाता है। यदि ऐसा है तो जनजातियों के मामले में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया कहा है? इस प्रक्रिया के माध्यम से जनजातियों को क्या लाभ होता है? उन्होंने उच्च प्रस्थिति के लिए भी दावा नहीं किया है (हरदिमान, 1987 : 158-159)। इसकी अपेक्षा बाहरी लोग इस प्रकार की प्रस्थिति जनजातियों पर थोपते हैं। वास्तव में हिंदूकरण के बाद भी जनजातियाँ कमोवेश हिंदू समाज की अनुक्रमिक संरचना से बाहर रहती है। यदि ऐसे कोई भी दावे होते तो ये किए गए होते, जैसा कि हम उनके पड़ोसी हिंदू और भाषाविज्ञान समुदाय की बृहत् सामाजिक संरचना में प्रविष्ट होने के बाद देखेंगे।

जनजातियों के मामले में संस्कृतिकरण की अवधारणा से जुड़ी समस्या यहाँ समाप्त नहीं होती है। संदर्भ समूह की भी एक समस्या है। साहित्य से यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता है कि कौन-से जाति समूह, जनजातियों ने (शाही अथवा प्रमुख वंशों को छोड़कर) अपने-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त की है। शाही/प्रधान वंश ने सदैव राजपूतों की बराबरी की है और उनके साथ वैवाहिक संबंध बनाए हैं। इस प्रकार जहाँ जनजातिय समाज का ऊपरी स्तर हिंदू जाति समाज के साथ जुड़ गया, अन्य लोग हिंदू समाज के बाहर रहते रहे हालाँकि हो सकता है उनमें हिंदूकरण की प्रक्रिया मौजूद रही हो। वंश अनुक्रम में ऊपर चढ़ना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं रहा है। इसके चलते, भारत में जनजातियों के संदर्भ में संस्कृतिकरण की अपेक्षा हिंदूकरण के विषय में बात करना अधिक उपयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त जनजातियाँ यदि कुछ जातियों को श्रेष्ठ मानती हैं तो वह उनकी जाति प्रस्थिति के कारण नहीं, बल्कि उनके जागीरदार, ठेकेदार, लंबरदार आदि होने के कारण है।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि फिर किसी उच्च प्रस्थिति को प्राप्त न करने के बावजूद जनजातिया स्वयं को हिंदूकृत क्यों करती हैं? क्या वे बृहत् समाज में मिल जाना चाहती हैं? हो सकता है कि ऐसा अतीत में होता हो किंतु वर्तमान में ऐसा नहीं है। आज, प्रभावी समुदाय के विचारों, मूल्यों और प्रथाओं को अपनाने की प्रक्रिया किसी जाति प्रस्थिति को अपनाकर उस समाज का अंग बनने की अपेक्षा प्रभावी समुदाय के जैसा बनने की है।

18.4 हिंदूकरण

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनजातियों को जाति के रूप में अधिकांशतः संस्कृतिकरण की अपेक्षा हिंदूकरण के कारण दर्शाया गया है। वास्तव में, जनजातियों को जाति के रूप में दर्शाने के लिए सामाजिक मानवविज्ञान संबंधी साहित्य में यही आधार लगता है। और फिर भी उन्हें सिर्फ इसलिए जाति कहा जा सकता है कि वे हिंदूकृत हो गए हैं? क्या हिंदूकरण की प्रक्रिया किसी समूह को जाति का नाम देने के लिए पर्याप्त है? क्या किसी जनजाति के लिए सरलता से उपलब्ध होकर भी जाति व्यवस्था से बाहर रहना अर्थात किसी जाति की अपेक्षा जनजाति के सामाजिक संगठनात्मक सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित रहना संभव नहीं है? इस प्रकार की बातों पर या तो पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया अथवा उन शोधकार्यों में इनकी उपेक्षा हुई है जहाँ जनजातियों को जाति अथवा सभ्यता के ढाँचे पर प्रारूपित किया गया है। यदि हिंदू समाज को जाति समाज के बाहर नहीं समझा जा सकता तो जनजाति का जाति अथवा हिंदू समाज में रूपांतरण समस्यापूर्ण है। वास्तव में जनजातियों के जाति में रूपांतरण का संपूर्ण तर्क त्रुटिपूर्ण लगता है।

सैद्धांतिक रूप से हिंदू सामाजिक संगठन के अर्थ में हिंदू समाज का जाति नामक भाग बने बिना हिंदू आस्था और प्रथाओं के किसी रूप को अपनाने के अर्थ में हिंदू बनना संभव है। दूसरी ओर यदि हिंदू समाज और जाति संगठन अलग नहीं किए जा सकते तो जनजाति के जाति में रूपांतरण का हिंदूकरण अकेला कारण नहीं हो सकता है। वस्तुतः कई अन्य पक्ष हैं जिन पर समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों को ध्यान देना चाहिए। ये ऐसे पक्ष हैं जैसे क्या जनजातियाँ हिंदूकरण/संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाने के बाद सचमुच जाति समाज की संरचना का अंग बन जाती हैं? वे कौन-सा जाति नाम अपनाती हैं और जाति अनुक्रम में उनका सही स्थान क्या होता है? यह स्पष्ट नहीं है कि किसी प्रक्रिया में लिप्त समूह उसी स्थान पर रहते हैं अथवा अस्पृश्यों की भाँति उनमें कोई अनुक्रमिक व्यवस्था होती है। यह भी कि छोटा नागपुर के अधिकांश गाँवों की भाँति जहाँ बनिए, बाह्मण, राजपूत और अन्य एक ही गाँव में जनजातियों की तरह रहते हैं, ऐसे गाँवों में जहाँ जनजाति और जातियाँ दोनों रहते हैं, उनकी क्या भूमिका होती है? वास्तव में, समाज के जाति सदस्यों के साथ जनजातियों की परस्पर क्रिया की प्रवृत्ति शुद्धता-अशुद्धता की अपेक्षा बाजार और आर्थिक अंतर्निर्भरता द्वारा अधिक नियंत्रित होती है। इसके अतिरिक्त गाँव में उनका जीवन नातेदारी के सिद्धांत और अनुक्रमिक व्यवस्था के अभाव पर आधारित होता है। संक्षेप में हिंदू आस्था और प्रथाओं को अपनाने के बाद भी जनजातियाँ समाज की जाति संरचना पर सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रथागत रूप से निर्भर नहीं होती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना मुश्किल है कि जाति संरचना के परिप्रेक्ष्य से जनजाति कहे जाने वाले लोगों का अध्ययन करना क्या उपयुक्त है? हालाँकि मानवविज्ञानियों ने बिल्कुल यही किया है। उन्होंने जाति को वहाँ खोजने का प्रयास किया हैं जहाँ वह मौजूद नहीं है।

बॉक्स 18.1 : जनजातियों के हिंदूकरण का विरोधाभास

जनजातियों में हिंदूकरण अथवा संस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं को संपूर्ण समूह के रूप में नहीं अपनाया है। उनके बीच सामान्य पद्धति यह है कि उनमें से केवल एक हिस्सा

ईसाई धर्म अथवा हिंदू धर्म अथवा इस्लाम आदि द्वारा प्रदान किए गए जीवन के नए ढंग को अपनाता है। यदि ऐसा है तो क्या हम एक ही समूह के कुछ लोगों को जाति तथा शेष को जनजाति कह सकते हैं? क्या एक ही समूह, एक ही समय पर जाति और जनजाति बन सकता है? किसी ऐसे गाँव की अनुभाविक वास्तविकता, जहाँ जनजातियाँ अल्पसंख्यक हैं और हिंदू समाज में समाविष्ट हो गई हैं, उन गाँवों और क्षेत्रों तक जाती हैं जहाँ जनजातियाँ अल्पसंख्या में न हो ओर जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया के होने के बावजूद उन्होंने अपनी पुरानी पहचान न त्यागी हो। हालाँकि जहाँ जनजातियों ने हिंदूकरण को पूर्णतः अपना लिया है, वहाँ उन्हें स्वयं को जाति के अनुसार काफी सीमा तक ढालना पड़ता है। उन्होंने स्वयं को जाति तक बताया है और अन्य लोगों ने भी उन्हें जनजाति न कहकर जाति के रूप में संबोधित किया है। इस संदर्भ में असम तथा पश्चिम बंगाल के कोछ - राजबोंगशीयों का उल्लेख किया जा सकता है। किंतु किसी संपूर्ण समूह का एक भिन्न मूल्य व्यवस्थ की ओर जाना एक असाधारण घटना है। किंतु हाँ ऐसी बात भी हुई है वहाँ उसने अनुक्रमिक जाति संरचना को जन्म नहीं दिया है। संपूर्ण समूह उसी स्तर का बनने की प्रवृत्ति रखता है। यह समूह पड़ोसी क्षेत्रीय समुदाय की जाति संरचना के साथ भी पर्याप्त रूप से संयोजित नहीं हुआ है।

जनजातियों का जाति में रूपांतरण के प्रश्न की जाँच के दौरान, इस चर्चा को जनजातियों और जाति समाज के संबंध तक सीमित रखना पर्याप्त नहीं है। यह भी देखने की आवश्यकता है कि स्वयं जनजातियाँ जाति समाज को किस प्रकार देखती और स्वयं को उससे संबद्ध करती हैं। हिंदू आस्थाओं और प्रथाओं को अपनाने के बाद जनजातियाँ स्वयं को कैसे देखती थीं? वे स्वयं को जनजाति के रूप में देखती थीं या जाति के रूप में? जिन महत्वपूर्ण तरीकों से जनजातियों ने हिंदूकरण या संस्कृतिकरण को अपनाया था, उन्हें मानवविज्ञानी "धार्मिक/सांस्कृतिक आंदोलन" मानते हैं। इस आंदोलन को जनजातियों के बीच प्रचलित रूप से भगत आंदोलन कहा जाता है। वास्तव में, हिंदूकरण/संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के बावजूद, जनजातियाँ अपने एक भाग को जनजाति और एक को जाति नहीं मानतीं। उन्हें जनजातियों की प्रस्थिति से दूर हटा नहीं माना जाता है। इसकी अपेक्षा, अपने जीवन को बदलने के लिए अपनाए गए धार्मिक मूल्यों के आधार पर जनजातियों को विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। इसलिए उन्हें ईसाई, भगत, सरन, आदि अलग-अलग बताया गया है।

यह एक रोचक बात है कि जनजातियाँ हिंदूकृत किए जाने के बाद भी स्वयं को हिंदू न बतलाकर भगत बताती हैं। बाहरी लोगों, जनगणना अधिकारियों और मानवविज्ञानियों ने उन्हें "हिंदू" बताया है। मानवविज्ञानियों ने उन्हें जाति भी बताया है। हालाँकि, जनजातियाँ स्वयं को बाहरी लोगों और सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त तथा समझे गए अर्थ में विभिन्न जातियों के रूप में नहीं मानती हैं। इस विशिष्ट पहचान का यह पक्ष, जनजातियों द्वारा चलाए गए आंदोलनों विशेषकर स्वायत्तता, भूमि, वन और रोजगार से संबंधित आंदोलनों से अधिक अन्यत्र कहीं इतनी स्पष्टता से नजर नहीं आता है। इन आंदोलनों में, जाति और जनजाति के बीच का अंतर काफी अधिक रहा है। और फिर भी हिंदूकृत की गईं जनजातियों ने जाति श्रेणियों की अपेक्षा उन समूहों के साथ एकजुटता दिखाई है जो स्वयं को जनजाति मानते हैं। संक्षेप में, जनजातियों को जाति समाज नामक हिंदू समाज की संरचना में एकीकृत करने के लिए हिंदूकरण की प्रक्रिया आवश्यक तो है किंतु पर्याप्त नहीं है। एकीकृत होने के लिए, जनजातियों को जाति व्यवस्था के सामाजिक संगठन, यानी, कमोबेश एक गैर-आनुभाविक सत्य की ओर बढ़ना होगा।

MAABHYAM IAS

18.5 भाषा

उपरोक्त चर्चा से पता चलता है कि बिना पहले हिंदू समाज की संरचना में जुड़े, जाति बन पाना संभव नहीं है। जहाँ पर यह एकीकरण हुआ, वहाँ जनजातियों के क्षेत्रीय समुदाय की भाषा में दूसरी संस्कृति को अपनाना, एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही है। यह जानना महत्वपूर्ण है कि सामाजिक संगठन के रूप में जातियाँ केवल किसी भाषिक समुदाय में ही कार्य कर सकती हैं। इसलिए, किसी जनजाति के लिए किसी क्षेत्रीय भाषिक समुदाय जैसे बंगाली या उड़िया या असमिया समुदाय में मिलने के बाद ही जाति बन पाना संभव है। दूसरी संस्कृति को अपनाने की यह प्रक्रिया, जो क्षेत्रीय समुदाय और इस प्रकार जाति समाज में संयोजन के लिए अत्यधिक केंद्रीय है, दुर्भाग्य से समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा उपेक्षित है। वास्तव में, बिना पहले भाषिक समुदाय में संयोजित हुए, जाति समाज में संयोजित होना संभव नहीं है। इसी प्रकार, जनजातियों को न केवल जातियों के विरोध में बल्कि क्षेत्र के प्रभावी समुदाय के विरोध में भी देखा गया। प्रभावी समुदाय निश्चय ही भाषिक समुदाय था। भिन्न भाषा का प्रतिनिधित्व करने के अतिरिक्त, वह भिन्न धर्म, प्रथाओं, सामाजिक संगठन और जीवनशैली का भी प्रतिनिधित्व करता है।

इससे एक रोचक प्रश्न पैदा होता है कि सहज और "जाति जैसी" होने के बाद जनजातियों को जाति मानना चाहिए अथवा जनजाति अगर वे अपनी भाषा पर कायम रहती हैं? आखिरकार, जैसा कि पहले देखा गया है, जनजातियों को भाषा अथवा भाषिक समुदाय का विरोधी माना जाता रहा है। क्या वे एक ही समय में जनजाति और जाति दोनों हो सकती हैं? यह बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों न केवल भिन्न भाषिक समुदाय हैं बल्कि दो भिन्न सामाजिक संगठन भी हैं। क्या फिर जनजातियों को सिर्फ इसलिए जाति मानना चाहिए क्योंकि उनमें हिंदूकरण की प्रक्रिया चल रही है? क्या जनजातियाँ अपनी भाषा, संस्कृति, प्रथा, सामाजिक प्रथाएँ आदि को बनाए रखते हुए भी हिंदूकरण और संस्कृतिकरण के कारण जाति बन सकती हैं? यहाँ हिंदू धर्म या हिंदुओं का जनजातियों पर प्रभाव महत्वपूर्ण है। इससे हालाँकि वे हिंदू नहीं बन जातीं। हिंदू बनने के लिए, उन्हें हिंदू समाज की संरचना में मिलना पड़ेगा, जो क्षेत्रीय भाषिक समुदाय की संरचना में मिलने से ही संभव है। केवल धर्म के आधार पर जनजातियाँ, गैर-जनजातियों से भिन्न नहीं होती हैं। यही उपनिवेशी मानवजाति विज्ञानियों ने किया था।

हालाँकि मानवविज्ञानियों ने जनजातियों को एक से अधिक मापदंडों के आधार पर भिन्न बताया है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषा तथा जाति का सामाजिक संगठन हैं। इस प्रकार, जनजातियों को इसलिए जनजाति माना गया है क्योंकि वे प्रभावी क्षेत्रीय समुदाय से बाहर रही हैं और इस प्रकार, सभ्यता की जटिलता से बाहर रही हैं। हालाँकि धर्म और भाषा सहित, संस्कृति के स्तर पर हुए परिवर्तनों के चलते, यह कहना कठिन है कि जनजातियाँ जातियाँ बन सकती हैं। सचमुच, काफी कुछ क्षेत्रीय भाषिक और हिंदू समाज की सामाजिक संरचना के साथ उनके संबंध पर निर्भर करता है। वस्तुतः, क्षेत्रीय समुदाय की संरचना में जनजातियों के संयोजन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएँ केवल धर्म और भाषा नहीं है बल्कि क्षेत्रीय समुदाय की संगठनात्मक संरचना भी हैं।

संस्कृति को अपनाने से संबंधित पक्षों में, भाषा को अपनाना मेरे विचार से धर्म को अपनाने से अधिक महत्वपूर्ण है हालाँकि धर्म एकदम महत्वहीन नहीं है। दुर्भाग्य से, समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने भाषा को कभी वह स्थान नहीं दिया जो जनजातियों के जाति में रूपांतरण में उसे दिया जाना चाहिए। फिर भी, इन प्रश्नों में न जाते हुए, मानवविज्ञानियों ने तुरन्त यह निष्कर्ष निकाला है कि जनजातियाँ जाति बन रही हैं अथवा हिंदू समाज में संयोजित हो रही हैं।

MAADHYAMIAS

यह भी ध्यान रखने की बात है कि किसी बड़े समाज में विलय का यह अर्थ नहीं है कि जनजातियाँ समाज की भाँति नहीं रहती हैं। तो क्या वे सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण समाज नहीं रह जाती हैं? क्या बंगाली समाज उसके भीतर पाश्चात्यकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के चलते समाज नहीं रह जाता है? विसंगति यह है कि कोई भी बंगाली समाज के अस्तित्व और पहचान को अस्वीकार नहीं करता है किंतु यही प्रक्रिया यदि जनजातीय समाज में होती है तो सामान्य व्यवहार इसके अस्तित्व को नकारने का होता है। यह कि जनजातियाँ उतना ही समाज की तरह मौजूद होती हैं जितने अन्य समाज होते हैं, दुर्भाग्य से जनजातीय समाज के लिए नकारा जाता है जब वह किसी वृहत् समाज के साथ मिलन के संदर्भ में परिवर्तित होती है। मानवविज्ञानियों ने परिवर्तन के छोटे से संकेत से भी उन्हें बड़े समाज में मिलाने की तेजी दिखाई है। परिवर्तन या दूसरी संस्कृति को अपनाने की प्रक्रिया पर बल देने के उनके उत्साह में, निरंतरता का वह पक्ष जिसके विषय में मानवविज्ञानी को वृहत् भारतीय वास्तविकता के संदर्भ में बात करना अच्छा लगता है, जनजातीय सामाजिक वास्तविकता के संदर्भ में पूर्णतः उपेक्षित रह गया है।

चर्चा इस बात की ओर संकेत देती है कि समाजशास्त्रियों/सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष मानवजाति विज्ञान, अवधारणा और यहाँ तक कि तर्क की भी अपर्याप्तता पर आधारित हैं। उन तरीकों को लेकर कोई जाँच नहीं हुई है, जिनसे हिंदूकृत जनजातियाँ, जातियों से जुड़ी हुई हैं और वे तरीके जिनसे वे अपने मूल समूह के साथ संबंधित हैं। साथ ही, यह जानने का भी कोई प्रयास नहीं किया गया है कि क्या संस्कृतियों को अपनाने वाली जनजातियाँ जाति संगठन अथवा जनजाति के संगठन के सिद्धांत से नियंत्रित हैं? इस प्रकार के मुद्दे जो जनजाति के रूपांतरण के समर्थक तर्क के लिए महत्वपूर्ण हैं, दुर्भाग्य से भली-भाँति विश्लेषित नहीं हुए हैं। न केवल ये बल्कि संस्कृतिकरण और हिंदूकरण की अवधारणाएँ भी ऐसे रूपांतरण के समर्थन में तर्क देने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18.6 गलतफहमी का आधार

जाति संबंधी अवधारणाओं ने सदैव विद्वानों से यह कहलाया है कि जनजातियाँ, जातियों में बदल रही हैं। वास्तव में, इसका अर्थ यह है कि इस गतिशीलता के कारण जनजातियाँ भारतीय समाज के अन्य अंगों की भाँति हो गई हैं और अब जनजातियाँ नहीं रह गई हैं। सचमुच, उनमें जनजातियों जैसा कुछ भी शेष नहीं रह गया है। इसके कारण ऐसा विचार पैदा हो गया है जिसमें जनजातियाँ/जनजातीय समाज, जाति, कृषक अथवा सामाजिक रूप से भिन्न होकर जनजातियाँ नहीं रह गई हैं। इस प्रकार जातियों/भारतीय संदर्भ में जनजातीय समाज के अध्ययन में एक पक्ष और आ गया है। अध्ययन करने से पूर्व, हमें उस दिशा का पता है जिस ओर जनजातीय समाज बढ़ रहा है। जनजातीय समाजों के अध्ययन के अतिरिक्त यह कहीं अन्यत्र इतना स्पष्ट नहीं है। अन्य जगह, जहाँ जनजातियाँ सभ्यता की जटिलता के साथ संबंधित नहीं हैं, ऐसी समस्याएँ पैदा नहीं होतीं क्योंकि वहाँ जनजातियों का अध्ययन उनके अपने अधिकारों के अंतर्गत और उन समाजों में चल रही प्रक्रियाओं के संदर्भ में किया जाता है। वे उस अंत बिंदु के संदर्भ में अध्ययनाधीन नहीं होती जिनका प्रतिनिधित्व सभ्यता का अंग होने वाले समुदाय करते हैं जैसा कि भारत के मामले में हुआ है। इस प्रकार, जहाँ अध्ययन का केंद्र जनजातियों का परिवर्तन और उस प्रक्रिया के दौरान उनका राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्र बन जाना होता है, भारत में वह केंद्र जनजातियों के जाति, कृषक और स्तरित श्रेणी में परिवर्तन का तरीका रहा है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जनजातियाँ, जनजातीय समाज नहीं रह जाती हैं। और चूँकि ये सामान्य भारतीय समाज की विशेषताएँ हैं, जनजातियों को सामान्य

भारतीय समाज में समाविष्ट माना जाता है। इसका निष्कर्ष यह है कि जनजातियाँ, इन प्रक्रियाओं के माध्यम से जनजातियाँ नहीं रह जाती हैं और इस प्रकार एक पृथक समाज और पहचान नहीं बनाए रखती हैं। जनजातियों पर मुख्य रूप से इस दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है कि वे किस प्रकार सभ्यता की मुख्यधारा में शामिल हो रही हैं। फलस्वरूप, जाति की वास्तविकता सुरक्षित रहती है किंतु जनजाति समाप्त हो जाती है और जनजातियों के बाहरी जगत के साथ अधिक संपर्क में आने के साथ यह अधिक व्यापक रूप से फैलेगा। जनजातियों के अध्ययन में भारत में इतना आनुभविक और अवधारणात्मक दृश्य उस तरीके के कारण है (1) जिससे मानवविज्ञान साहित्य में जनजातियों को देखा जाता है और (2) जिस संदर्भ में उन पर खोज होती है। संक्षेप में, जनजातियों का उनकी तरह से नहीं बल्कि सामान्य भारतीय समाज के संदर्भ में अध्ययन किया गया है जिसकी प्रमुख विशेषताएँ जाति, कृषक और सामाजिक भेदभाव था।

अब मानवविज्ञान में जनजातियों की अवधारणा में, तीन विशिष्ट किंतु अंतर्संबंधित तत्व शामिल हैं। प्रारंभ में, जनजातियों को समाज के रूप में देखा गया है। यह अन्य समाजों की भाँति एक समाज है। यानी, इसमें लोग रहते हैं; इसकी सीमाएँ हैं और समाज के लोग नियमों के तहत रहते हैं जो उन पर कुछ नियमित और एक-दूसरे के प्रति विशेष प्रकार से व्यवहार करना आरोपित करते हैं। समाज के रूप में जनजाति की विशेषता उसकी सीमाओं के माध्यम से जुड़ी होती है। साथ ही, जनजातियों की सीमाएँ निर्धारित हैं — भाषिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक। ये सीमाएँ सदस्यों की विधिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाओं को सीमित करती हैं।

दूसरे, जनजातियों को समाज के रूप में भी देखा जाता है, ऐसा समाज जो अन्य प्रकार के समाजों से भिन्न है। उदाहरण के लिए, गोडेलियर (1977 : 30) जनजातीय समाजों की कुछ सकारात्मक और नकारातम्क विशेषताएँ देखता है। नकारात्मक विशेषताओं में सकारात्मक पहलुओं तथा आधुनिक समाज की विशेषताओं का अभाव होता है, जैसे, अशिक्षित, असभ्य, गैर-औद्योगिक, गैर-विशिष्ट आदि। सकारात्मक वे हैं जिनका आधुनिक समाजों में अभाव है जैसे, नातेदारी संबंधों पर आधारित सामाजिक संबंध, सर्वव्यापी धर्म, समान लक्ष्य के लिए सहयोग आदि।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तीसरे, जनजातियों को सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन में एक विशिष्ट अवस्था का प्रतिनिधित्व करने के रूप में भी देखा जाता है और जो समय के साथ, नई अवस्था की ओर बढ़ेगी जैसे राष्ट्र, राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद। अब, जब ये तीन विशिष्ट पहलू इस अवधारणा का निर्माण करते हैं, बाद के दो ने पहले को ढँक दिया है जिसके कारण जनजातियों का अपना अलग और स्वतंत्र अस्तित्व है। इस प्रक्रिया के दौरान हालाँकि हुआ यह है कि जनजातियों को मुख्य रूप से एक अवस्था और समाज के प्रकार के रूप में देखा गया है। उन्हें ऐसे समाज के प्रतिनिधि के रूप में देखा गया है जिसमें आधुनिक समाज की सकारात्मक विशेषताओं का अभाव है।

इसे भिन्न अंग से व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि, उनमें आदिवासी, सरल, अशिक्षित और पिछड़े हुए समाज व्याप्त हैं। शिक्षा, विशेषज्ञता, आधुनिक व्यवसाय, नई प्रौद्योगिकी आदि के कारण इनके गुणों में हुए परिवर्तनों के चलते, जनजातीय समाज अब जनजातीय नहीं रह गया है। यदि यह रूपांतरण जाति की दिशा में है तो इसे जाति समाज माना जाता है। यदि संदर्भ कृषक का है तो इसे कृषक समाज माना जाता है और यदि रूपांतरण की सामान्य दिशा, सामाजिक भेदभाव है तो इसे सामाजिक रूप से भेदभाव युक्त समाज माना जाता है। अंत में, परिणाम यह होता है कि जनजातीय समाज, जनजातीय नहीं रह जाता और यह सही है कि यदि इसे अवस्था और विशिष्ट गुणों के संदर्भ में देखा जाता है। किंतु जैसा कि पहले कहा गया है, जनजाति भी एक समाज है,

जो किसी भी अन्य समाज के जैसा है किंतु जनजातीय समाज को नकारने के साथ इसे भी नकारा जाता है जैसे परिवर्तित स्थिति के कारण। इसी के साथ, स्वतंत्र और अलग जीवित इकाई के रूप में जनजाति का अस्तित्व दाँव पर लग जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान, मानवविज्ञानियों और सामाजिक वैज्ञानिकों ने उस संदर्भ की उपेक्षा कर दी है जिसमें यह शब्द जनजाति भारतीय समाज में प्रयुक्त होने लगा था।

सोचें और करें 18.03

क्या आपको लगता है कि भारत में जनजातियों का अध्ययन उनके अपने अधिकारों के संदर्भ में न होकर सामान्य भारतीय समाज के संदर्भ में हुआ है? अपने वक्तव्य का औचित्य बताइए।

भारतीय संदर्भ में जनजातियों की पहचान मुख्यतः उनके सभ्यता से बाहर रहने के कारण हुई थी। फिर "जनजाति" की अवधारणा के प्रयोग में भारतीय सामाजिक वास्तविकता को समझाने में कुछ गड़बड़ी है। ऐसी समस्याएँ उत्पन्न नहीं हों यदि जनजातियाँ, गैर-जनजातीय समाज के साथ सहअस्तित्व में न आएँ। निश्चय ही, उपरोक्त के जैसी समस्याओं का समाधान "देशी" लोग शब्द के प्रयोग से हो सकता है। ऐसी समस्या की जड़ें अवधारणा और भारत में जनजातीय समाज में रूपांतरण को समझने के लिए अवधारणात्मक ढाँचे में हैं। भारतीय समाज में "जनजाति" शब्द के प्रयोग के साथ मूलतः कुछ गलती और गड़बड़ी है।

18.7 समुदाय के रूप में जनजाति

इस कारण भारत में जनजातियों के अध्ययन के लिए संदर्भगत बातों के विषय में यह परामर्श है कि जनजातियों द्वारा अपनी पहचान और स्वयं को संबोधित करने वाले शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। यह एक सामान्य अनुभव है कि जनजाति की व्यापक श्रेणी में लाए गए समूह और समुदाय स्वयं को जनजातियों के संदर्भ में नहीं पहचानते (शिक्षितों को छोड़कर), बल्कि अपनी जनजातियों के नामों द्वारा पहचानते हैं जैसे संथाल, ओराओन, खासी या गारो आदि। इतिहास में भी इसी प्रकार जनजातियाँ एक-दूसरे को पहचानती और संबोधित करती थीं। रे (1972: 8-10) 'भारत में जनजातीय स्थिति' नामक पुस्तक के अपने प्रारंभिक निबंध में यही बताता है! वह लिखता है कि हम जानते हैं कि उस समय लोगों के जनसमुदाय होते थे जैसे सवारा, कुल्लूतास, कोल्ला, भिल्ला, खास, किन्नर और असंख्य ऐसे लोग जिन्हें आज हम "जनजाति" के रूप में जानते हैं जिनके आज भी वही नाम हैं। फिर भी जिन शब्दों और अवधारणाओं से उन्हें इतने लोग जानते हैं, वे "जनजातियाँ" नहीं थीं बल्कि "जन" थे जिसका अर्थ लोगों का समुदाय था।

इस प्रकार, यहाँ जो बात समझाई जा रही है वह यह है कि भारत में जनजातियों का अध्ययन उनके वास्तविक समुदायों, यानी संथाल, खासी, गोंड, आदि के संदर्भ में होना चाहिए। यदि जनजातियों का अध्ययन इसी प्रकार किया जाएगा, तो आज की भाँति आने वाली समस्याएँ सुलझ जाएँगी। जनजातीय समाज में या तो जाति की दिशा में, कृषक, सामाजिक भेदभाव या धर्म की दिशा में होने वाला रूपांतरण सार्थक होता है और वह किसी भी प्रकार संबद्ध समूह की पहचान को प्रभावित नहीं करता है। ये रूपांतरण इसलिए सार्थक होते हैं क्योंकि जनजातियां, किसी प्रकार का समाज होने और समाज की अवस्था होने के अतिरिक्त, समाज भी होती हैं। इसका अर्थ है कि जनजातीय अध्ययनों में संदर्भगत बातें जाति, कृषक या सामाजिक विषमता न होकर बंगाली, असमिया, गुजराती आदि क्षेत्रीय समुदाय जैसे समूह या समुदाय होती हैं।

जनजातियों के साथी जाति या कृषक नहीं होते जैसा कि अब तक हुआ है बल्कि जातियों और कृषकों को समाविष्ट करते समुदाय या समाज होते हैं क्योंकि जाति या कृषक संपूर्ण समाज न होकर उसका केवल अंश होते हैं। दूसरी ओर, जनजातियाँ किसी अन्य समाज की भाँति संपूर्ण समाज होती हैं जिनमें उनकी अपनी भाषा, क्षेत्र, संस्कृति, प्रथा आदि होती हैं। इसलिए, समाज होने के कारण उनकी तुलना "जातियों" से न करके अन्य समाजों से करनी चाहिए, जैसा कि समाजशास्त्रीय और मानवविज्ञान संबंधी लेखों के मामले में हुआ है। निश्चय ही, यह परिप्रेक्ष्य हलपति, हुबला आदि छोटे जनजातीय समूहों के मामलों में उपयोगी नहीं होगा।

18.8 निष्कर्ष

"जनजाति" और "जाति" का विचार भिन्न सामाजिक श्रेणियाँ हैं। भारत में जनजातियों को भारतीय समाजों की वृहत् श्रेणियों का हिस्सा मानकर समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी इन दो भिन्न सामाजिक श्रेणियों को गलत मानते रहे हैं। आज तक विद्वान जाति और जनजाति के बीच भेद करने वाला कोई व्यवस्थित मापदंड नहीं बना पाए हैं। सामान्यतः, उन्होंने अनेक मापदंडों के आधार पर एक को दूसरे से अलग बताने का प्रयास किया है।

सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है कि ये दोनों दो भिन्न प्रकार के सामाजिक संगठन हैं। जातियों को आनुवंशिक श्रम विभाजन, वंशक्रम, शुद्रता और अशुद्रता के सिद्धांत, धार्मिक अक्षमताओं आदि द्वारा नियंत्रित माना जाता है। दूसरी ओर जनजातियों में जाति की विशेषताओं का अभाव है। सामाजिक संगठनों के दो प्रकार भिन्न सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित माने जाते हैं।

इसलिए, इन दोनों श्रेणियों को सही परिप्रेक्ष्य में समझे जाने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, जनजातीय अध्ययनों में संदर्भगत बातों में जाति, कृषक या सामाजिक विषमता की श्रेणियाँ नहीं होनी चाहिए, बल्कि उनका अध्ययन "समूह" या "वास्तविक समुदाय" के रूप में किया जाना चाहिए जैसा कि क्षेत्रीय समुदायों में होता है। यह एक सामान्य अनुभव है कि जनजाति की व्यापक श्रेणी में लाए गए समूह और समुदाय स्वयं को जनजाति नहीं मानते (शिक्षितों को छोड़कर) बल्कि जनजातियों के नामों से पहचानते हैं जैसे, संथल, ओराओन, खासी, गारो आदि। इस सत्य से जनजातीय रूपांतरण की प्रक्रिया संस्कृतिकरण और हिंदूकरण, जनजातीय पहचान में भाषा का तत्व, जनजातीय पहचान की गलतफहमी का मुद्दा और जनजातियों का सामुदायिक जीवन की अवधारणा को सही परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक हो जाता है।

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेली एफ.जी. 1961, "ट्राइब" एंड "कास्ट" इन इंडिया। *कांट्रिब्यूशन्स टू इंडियन सोशयोलॉजी (5)*।

बेटेली, ए. 1960. *"दि डेफीनेशन ऑफ ट्राइब"*, सेमिनार, (14)।

घुर्रे, जी.एस. 1963. *दि शिडयूल्ड ट्राइब्स*, मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन।

वी. एल्विन, 1944. *दि एबोरीजिनलस*, मुंबई : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

इकाई 19

जनजातियों पर वेरियर एल्विन और जी.एस. घुर्रे के परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

19.1 प्रस्तावना

19.2 जनजातीय प्रश्न का गठन : एल्विन एवं घुर्रे

19.3 जनजातीय आवाज़ का इतिहास

19.4 राष्ट्रवादी स्वतंत्रता संग्राम और जनजातियाँ

19.5 संविधान-सभा बहस और जनजातीय लोग

19.6 निष्कर्ष

19.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप समझ सकेंगे :

- जनजातीय प्रश्न का गठन;
- जनजातीय आवाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि;
- राष्ट्रवादी स्वतंत्रता संग्राम और जनजातियाँ; और
- जनजातीय मामलों पर संविधान-सभा बहस।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.1 प्रस्तावना

भारत में जनजातियाँ विभिन्न क्षेत्रों, संस्कृतियों और भाषिक समूहों की होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे वन में ही निवास करें। कुछ उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों से होती हैं, कुछ रेगिस्तानों से, कुछ वनवासी होती हैं। कुछ काम और आजीविका के लिए शहरों में प्रवसन कर जाती हैं।

इस खंड में, आप भारत में जनजातियों की विषमता और भारत में बृहत् समाज में उनके स्थान के विषय में पहले ही जान चुके हैं। जनजातियों पर वेरियर एल्विन और जी.एस. घुर्रे के परिप्रेक्ष्य पर इस इकाई 19 में, हमने उस बहस पर चर्चा की है जिसकी जड़ें स्वतंत्रता पश्चात् भारत में हैं। एल्विन ने यह तर्क दिया कि जनजातियाँ, विशिष्ट समुदाय होती हैं अतः, उन्हें अपने प्राकृतिक वातावरण में सुरक्षा चाहिए। किंतु जी.एस. घुर्रे की "एक समाजशास्त्री" का यह मानना था कि जनजातियाँ बृहत् हिंदू समुदाय का अंग है और उन्हें उसी रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। जनजातियों पर बहस पर इस इकाई में विस्तार से चर्चा की गई है।

19.2 जनजातीय प्रश्न का गठन : एल्विन एवं घुर्रे

भारत में जनजातीय लोगों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता भारतीय संविधान की पाँचवीं और छठी अनुसूची में दिए गए विधिक प्रावधानों से घिरी हुई है। उनकी जनसंख्या चंडीगढ़,

दिल्ली, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, लक्ष्यद्वीप तथा पांडिचेरी को छोड़कर सभी राज्यों में है। भारत को उत्तरी और दक्षिणी भागों में बाँटने वाली एक बड़ी भौगोलिक पट्टी में इनकी जनसंख्या का एक बड़ा भाग रहता है। यह पट्टी उत्तरपूर्वी सीमांत क्षेत्र, पश्चिम बंगाल में संथल परगना और छोटानागपुर क्षेत्र और बिहार, उड़ीसा तथा आंध्र प्रदेश और मध्य भारत में मध्य प्रदेश से लेकर पश्चिमी भारत में राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र तक फैली हुई है। इस पट्टी[1] के बाहर, उत्तर और दक्षिण भारत में जनजातीय लोगों के छोटे-छोटे इलाके हैं।

जनजातीय और गैर-जनजातीय लोगों के बीच परस्पर क्रिया के भिन्न इतिहासों के कारण, जनजातीय जनसंख्या में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से विषमता है। ऐसे केवल कुछ ही क्षेत्र हैं जहाँ जनजातियाँ वनवासी हैं और अंतरण खेती करती हैं जैसे, बस्तर (मध्य प्रदेश) में अंबुझगढ़ और कोरापुट तथा फुलबानी (उड़ीसा में)। हालाँकि, इनमें से अधिकांश बंजर भूमियों में रहते हैं और कस्बों और नगरों में तथा स्थिर खेती के क्षेत्रों में रहते हैं। उनकी आजीविका का तरीका स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ाने से दफ्तरी कार्य या छोटी दूकानें चलाना या छोटे उद्योग चलाना होता है। आर्थिक रूप से, इनकी एक बड़ी संख्या गरीब है क्योंकि वे या तो भूमिहीन श्रमिक हैं या वे छोटे अनुत्पादक भूमि पर खेती करते हैं। कुछ अमीर हैं तथा कुछ मध्यवर्गीय हैं।[2] जनजातीय लोग निम्नलिखित श्रेणियों में फैले हुए हैं : कृषक, कृषि श्रमिक, पशुधन, वनविद्या श्रमिक, खनन श्रमिक, निर्माण श्रमिक, व्यापार और वाणिज्य क्षेत्र में श्रमिक, परिवहन में श्रमिक, भंडारण तथा संचार क्षेत्र, और अन्य सेवाओं में श्रमिक (इसमें सफेद पोश काम, विद्यालय में अध्यापक आदि शामिल हैं)।

सांस्कृतिक रूप से, भारत की जनजातीय भाषाओं को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है: ऑस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ाई और भारतीय आर्यन।[3] ग्रिग्सन के "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया" में 179 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ दर्ज हैं। 179 भाषाओं में से 116 को जनजातीय भाषाएँ तथा बोलियों का दर्जा दिया गया है, केवल नागालैंड की जनजातियाँ ही 55 बोलियाँ बोलती हैं।[4] उनकी भाषिक कला के संदर्भ में, वे यदि बहु-भाषिक नहीं तो द्विभाषी तो हैं ही। गैर-जनजातीय लोगों के साथ वर्षों तक परस्पर क्रिया के कारण अधिकांश जनजातीय लोगों ने स्वयं को हिंदू या ईसाई धर्म या बौद्ध अथवा इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर लिया और वे अपने परंपरागत कार्य से भी दूर हो गए हैं। इससे न केवल उनकी भाषिक क्षमता बल्कि विचारधारा पर भी प्रभाव पड़ा है। एक ओर आधुनिक विकास ने ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी है जो उनकी मातृभाषा के उपयोग को कम करती हैं और दूसरी ओर उनकी मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग करती है। यह असामान्य नहीं है कि परिवर्तित जनजातीय लोग अपनाए गए धर्म की विषय-वस्तु के बारे में बात करने के लिए अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। केवल घने जंगलों में रहने वाले लोग ही आज भी अपने ही धर्म को मानते हैं। धर्म परिवर्तन करने वाले लोगों से भिन्न, उनकी मातृभाषा ही उनके विचारों की भाषा होती है।

पाँचवीं और छठी अनुसूची में उल्लिखित विधिक प्रावधानों का स्रोत 1935 के कानून में है जिसके अंतर्गत जनजातीय लोगों के जीवन को नियंत्रित करने वाले भिन्न कानूनों ने कुछ क्षेत्रों को बनाया, छोड़ा और आंशिक रूप से अलग किया। एल्विन ने बताया :

"इस कानून की धारा 52 और 92 में प्रांतीय विधायिका के प्रचालन से मुख्य रूप से कुछ आदिवासी क्षेत्रों (वर्जित अथवा आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्र माने गए) के आरक्षण का प्रावधान था। प्रांतों के प्राधिकार का कार्य पालन "वर्जित और आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्रों" तक फैला हुआ है किंतु वर्जित क्षेत्रों का प्रशासन राज्यपाल के पास उसकी इच्छानुसार होता है और आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्रों का प्रशासन मंत्रियों के पास होता है जिसमें कानून की धारा 52(ई) के अंतर्गत शांति और अच्छे प्रशासन का विशेष

उत्तरदायित्व राज्यपाल पर होता है। इस प्रकार राज्यपाल के पास संघीय अथवा प्रांतीय विधायिका के विधान के अनुप्रयोग को नियंत्रित करने का अधिकार और इन दोनों क्षेत्रों में नियम बनाने का अधिकार होता है।"[5]

इस कानून के बाद घुर्रे ने जनजातीय प्रश्न का गठन किया। जनजातीय स्थिति पर तीन विचार हैं : कोई परिवर्तन नहीं और पुनर्जीवनवाद; पृथक्करण और संरक्षण; तथा अंत में आत्मसात्करण।[6] यह इस बात का द्योतक था कि वह 1943 में जनजातीय स्थिति को किस प्रकार देखता था। उसने उन्हें तीन वर्गों में विभाजित देखा :

"पहला, राज गोंड और अन्य जिन्होंने सफलतापूर्वक युद्ध किया और जिन्हें हिंदू समाज में काफी उच्च प्रस्थिति के सदस्यों के रूप में मान्यता मिलती है; दूसरा, वह बड़ा समूह जो आंशिक रूप से हिंदू बना दिया गया है और जो हिंदूओं के साथ अधिक निकट संपर्क में आया है; और तीसरा, पहाड़ी अंग जिन्होंने, "उनकी सीमाओं पर दबाव डालने वाली बाहरी संस्कृतियों के प्रति सर्वोच्च प्रतिरोधक क्षमता का प्रदर्शन किया है।"[7]

इस वर्गीकरण में उससे ईसाई प्रभाव छूट गया। एल्विन के दृष्टिकोण में, "दूसरी श्रेणी ने संपर्कों के कारण नैतिक ह्रास और अपघटन को सहा है जिससे तीसरी श्रेणी अधिकांश रूप से मुक्त रही है।"[8]

जनजातीय लोगों के भविष्य के संदर्भ में एल्विन हिंदू समर्थक तथा मिशनरी विरोधी था। **1944 में उसने लिखाः**

"मिशनरियों को आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्रों से बाहर निकाल लेना चाहिए; हम चाहते हैं कि इन क्षेत्रों में संपूर्ण शिक्षा की जिम्मेदारी सरकार ले ले। हमारी माँग है कि जितना मिशनरियों ने प्राप्त किया है, सरकार को उससे दुगना प्राप्त करना चाहिए। इन लोगों को पिछड़ा हुआ रखने में हमारी कोई रुचि नहीं है। यदि ये लोग हिंदू समाजिक व्यवस्था में अपना स्थान क्षत्रियों का रखना चाहते हैं तो इन्हें मुक्त विचारधारा की कलाओं में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए और प्रतिष्ठा की परंपराओं और साहस की शिक्षा दी जानी चाहिए।"[9]

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उसकी तरह घुर्रे ने कहाः

"तथाकथित आदिवासियों को गैर-आदिवासियों के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना उनकी अपनी परंपराओं और प्रथाओं के अनुसार उन्हें अपना जीवन जीने देना निश्चित रूप से वांछनीय और उतना ही प्राकृतिक है जितना उनके प्रशासन के लिए अन्य लोगों को जिम्मेदारी देना है। किंतु इस उद्देश्य के लिए पूर्ण संस्था के संचालन से इन्हें वर्जित रखने का आश्य यह है कि ऐसे जीवन के लिए सुविधाओं का सामान्य समुदाय द्वारा वंचित रखे जाने की संभावना है यदि तथाकथित आदिवासियों को उसी प्रशासनिक और राजनीतिक तंत्र में रखा जाता है। इतिहास में ऐसा व्यक्त नहीं है।"[10]

यह स्पष्ट है कि एल्विन और घुर्रे दोनों ने हिन्दू पद्धति में विलय की वकालत की है। 1950 में संविधान-सभा में बहस के बाद आंशिक रूप से आंशिक वर्जित क्षेत्रों को और वर्जित क्षेत्रों को पाँचवीं और छठी अनुसूची के क्षेत्र बना दिया गया। जनजातीय विकास कार्यक्रम आरंभ किए गए और घुर्रे-एल्विन के मतों पर कोई प्रश्न नहीं किया गया। वास्तव में जनजातीय लोगों के पास मुख्य धारा का हिस्सा बनने तथा हिंदू धर्म में आत्मसात होने या ईसाई धर्म का हिस्सा बनने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आज पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में गैर-सरकारी संस्थाओं तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए भूरिया समिति की रिपोर्ट तथा उसके बाद 1996 का कानून भारत में जनजातीय लोगों के लिए स्व-शासन के सत्य की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। ये मुद्दे भारत के

उत्तर-पूर्व सीमांत क्षेत्रों में छठी अनुसूची के क्षेत्रों में जनजातीय स्वायत्तता की माँग को दोहराते हैं। 1996 के कानून ने इस बात पर जोर दिया कि, "परंपरागत जनजातीय प्रथाओं और कानूनों की वैधता बनी रहनी चाहिए। आधुनिक तंत्रों के साथ उनके सामंजस्य में निरंतरता होनी चाहिए। समिति ने ऐसा महसूस किया कि जनजातीय क्षेत्रों में नई पंचायती राज संरचना का गठन करते समय परंपरागत संस्थाओं को आधारशिला मानकर परंपरा और आधुनिकता का मिश्रण करना उचित है जिस पर आधुनिक अतिसंरचना का निर्माण होना चाहिए।"[11]

यह विधिक नियम किस सीमा तक जनजातीय लोगों को स्व-शासन के लिए तैयार करते हैं? स्व-शासन का अर्थ क्या है जब ऐसे कुछ जनजातीय लोग हैं जो वह नहीं बन सके हैं जो वे नहीं हैं यानी उन्होंने गैर-जनजातीय धर्मों और संस्कृतियों को नहीं अपनाया है? उनकी परंपरा का कितना अंश शेष है जो आधुनिक तंत्रों के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकता है?

शायद इन प्रश्नों का उत्तर एल्विन-घुर्रे की संरचना के साथ दे पाना संभव नहीं है। कारण यह कि पहला, जनजातीय लोगों का वर्गीकरण तीन विशिष्ट श्रेणियों में होता है, दूसरे, गैर-जनजातीय लोगों के साथ जनजातीय लोगों के संबंध को राज्य के दृष्टिकोण से देखा जाता है। अंत में, जनजातीय लोगों की आवाज को सुनने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है क्योंकि यह 1935 के कानून के पारित होने से पहले के उनके संघर्षों के द्वारा कही गई है। दूसरे शब्दों में, घुर्रे के विचार राज्य द्वारा स्थापित विधिक नियमों को वैधता प्रदान करते हैं। वास्तव में, यह एक प्रकार की आक्रमण-विरोधी पद्धति है क्योंकि यह परंपरागत मूल्यों का समर्थन करती है किंतु उसकी संपोष्यता के मौजूदा आधार वन जीवन जगत को छीन लेती है।

जनजातीय वनवासी और अन्य समुदाय समवर्ती भौगोलिक स्थान का हिस्सा रहे हैं और उनकी अन्योन्यक्रिया ने उप-महाद्वीप की सभ्यता संस्कृति को समृद्ध किया है। उदाहरण के लिए, देवी माँ और शिव की पूजा को समृद्ध किया गया तथा औषधीय पौधों की जानकारी को एकत्रित तथा संकलित किया गया। मध्यकालीन भारत में हिंदू धर्म के ऐतिहासिक प्रारंभ के साथ, मनुष्य और ईश्वर के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच, स्वयं और समाज के बीच, जगत् में रहने और ईश्वर की अनुपस्थिति में रहने के बीच, तर्क तथा धार्मिक विश्वास के बीच परंपरागत अनुक्रम की अवधारणा विकसित हुई।

यह अनुक्रम हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के बीच स्थायी कृषीय समुदायों की विशेषता था। इसके विपरीत जनजातीय समाज की प्रकृति पशुधन खेती तथा बंजारापन थी। उनके बीच परस्पर क्रिया की प्रकृति और नियमितता अधिक नहीं थी। स्थायी और अस्थायी लोग तीन भिन्न प्रकार के मानव आवासों में फैले हुए थे : मैदान, कस्बा तथा नगर और वन। मैदानों और कस्बों तथा नगरों में हिंदू और मुसलमान रहते थे तथा वनों में जनजातीय लोग रहते थे। केंद्र और सीमांतों की कोई अवधारणा नहीं थी। प्रभावी तथा मुख्यधारा या परिधीय तथा अंतक की भी कोई अवधारणा नहीं थी। बाद की यह अवधारणा उपनिवेशवाद के कारण विकसित हुई।

बॉक्स 19.1 : जनजातीय स्थिति का पाश्चात्य दृष्टिकोण

यूरोप तथा ब्रिटेन के लोग ठंडे इलाकों में रहते थे; वनवासी दूरस्थ क्षेत्रों में रहते थे। तदानुसार, वनवासियों और बाहरी लोगों के बीच सामाजिक दूरी की प्रकृति, भारत के मामले में भौगोलिक निकटता द्वारा तथा यूरोप और ब्रिटेन के मामले में भौगोलिक दूरी द्वारा नियंत्रित थी। इस अंतर ने उसी प्रकार योगदान दिया जिस प्रकार गैर-जनजातीय लोग, जनजातीय वनवासियों की विचित्रता को देखते थे। इसका प्रक्रियात्मक

प्रभाव हुआ। इसने वनवासियों को समझने के लिए प्रयुक्त परिप्रेक्ष्यों तथा श्रेणियों के चयन को निर्धारित किया।

जब अंग्रेजों और यूरोपियाइयों ने 16वीं शताब्दी में ऑस्ट्रेलिया में आदिवासियों को खोजा, तो इससे पाश्चात्य चेतना के लिए अचानक और नाटकीय ढंग से सांस्कृतिक अनिरंतरता की समस्या पैदा हो गई। 18वीं शताब्दी तक "यह समस्या विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय संदर्भों में मौजूद थी .... लेखक सहमत थे ... कि आज आदिवासी कहे जाने वाले उन समाजों की तुलना पाश्चात्य सभ्यता से करना संभव है .... इसके अतिरिक्त, उन्हें शक था कि सांस्कृतिक अनिरंतरता कभी आम विकास की गवाह के रूप में मौजूद है।[12]

ऐतिहासिक विकास का यह दृष्टिकोण यूरोप[13] के इतिहास में एक विशिष्ट बिंदु पर उभर कर आया (ऑबेरॉय, 1978)। 17वीं और 18वीं शताब्दी के बाद से प्राकृतिक विज्ञान ने "प्रकृति" और संसार में मनुष्य के स्थान का निर्धारण किया।

प्राकृतिक विज्ञान के तरीकों को सामाजिक विज्ञान ने यांत्रिकीय रूप से अपना लिया था। उदाहरण के लिए, इसका परिणाम यह था कि मानव विज्ञान ... ने यह दावा स्थापित किया कि पिछड़े वर्ग के लोगों के प्रशासन और शिक्षा के संदर्भ में उसका तत्काल व्यावहारिक मूल्य है। इससे एक प्रश्न निकला प्रशासन की ऐसी समस्याओं के संदर्भ में मानवविज्ञान संबंधी जाँच-पड़ताल के किस प्रकार का व्यावहारिक मूल्य है देशी लोगों के नियंत्रण[14] पर मानवविज्ञान के अनुप्रयोग के संदर्भ में संस्कृति की ऐतिहासिक तथा प्रकार्यात्मक व्याख्या" क्या है?

इसी विचारधारा के अनुकरण में उपनिवेशी शासन ने भारत के वनवासियों की तुलना ऑस्ट्रेलिया अफ्रीका तथा प्रशांत महाद्वीप के आदिवासियों से की तथा उन्हें "पिछड़े", "आदिवासी" तथा "असभ्य" जनजातीय लोग बताया। भारत के आजाद होने के बाद, यह उपनिवेशी ज्ञान ने केंद्र में बहस तथा चर्चाएँ जारी रखीं। नेहरू का "पंचशील", इसी ज्ञान के आधार पर गठित था। वह आज भी हमारे साथ है।

MAABHYAMIAS
'way to achieve your dream'

इन अनिरंतरताओं को रेखीय ऐतिहासिक विकास के ढाँचे में व्यवस्थित किया गया तथा समझा गया है और यह औद्योगिक उत्पादन के क्रम के अनुसार है। तदानुसार, सामाजिक संरचनाएँ सरल से जटिल, आदिकालीन से आधुनिक तकनीकों तक, असभ्य से सभ्य सामाजिक जीवन तक और अतार्किक से तार्किक तथा विचारधारा के तर्कसंगत तरीकों और आचार-संहिताओं तक प्रगति करती है।

19.3 जनजातीय आवाज़ का इतिहास

जनजातीय स्थिति को समझने का एक अन्य तरीका है। अपने जीवन में अंग्रेजों के अतिक्रमण का विरोध करने वाले वे प्रथम थे। हिंदुओं और ईसाइयों के दबाव और सरकार के विकास कार्यक्रमों को अपनाने के दबाव के विरुद्ध प्रतिरोध के इस लंबे समय के दो महत्वपूर्ण परिणाम हुए। जनजातीय लोगों के अंतर्गत एक वर्ग संरचना विकसित हो गई। गैर-जनजातीय जगत पर विभिन्न प्रतिक्रियाओं को समझने के लिए घुर्रे के वर्गीकरण को पढ़ा जा सकता है और सरकार ने प्रशासन के अपने उपकरण विकसित किए।

राजगोंड और अन्य जनजातियों की प्रथम श्रेणियाँ मुख्यधारा में जुड़ गईं और उन्हें आत्मसात कर लिया गया। मुख्यधारा के समाज के अंतर्गत उन्हें काफी उच्च प्रस्थिति के सदस्यों के रूप में मान्यता मिली और उनमें पुनर्जीवन तथा संरक्षणा की प्रवृत्ति थी। समय के साथ वे उच्च जनजातीय लोग बन गए।

इसके विपरीत, तीसरी श्रेणी, पहाड़ी वर्ग ने, घुर्रे के अनुसार अपनी सीमाओं पर दबाव डालने वाली बाहरी संस्कृतियों के विरुद्ध सर्वाधिक प्रतिरोध दर्शाया और वे मुख्यधारा से अलग हो गए। आज वे घने जंगलों में रहते हैं और अंतरण खेती करते हैं जैसे बस्तर, मध्य प्रदेश के अंबुझगढ़ में, उड़ीसा के कोरापुट और फुलबानी में।

द्वितीय श्रेणी के जनजातीय लोगों के बड़े समूह, कुछ हिंदू और कुछ ईसाई, ने विकास के कारण परेशानी उठाई। अधिकांश मध्यवर्गीय हैं जिनके पास कम या बिल्कुल भूमि नहीं है। ऐसे बहुत से लोग गरीब हो गए।

प्रशासन के सरकारी उपकरणों के विकास का संक्षिप्त इतिहास तब आरंभ होता है जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1650-51 में अपना पहला कारखाना स्थापित किया।[15] जल्द ही उनका उद्योग फैलने लगा। 1757 में प्लासी के युद्ध के वर्ष तक "भारत बढ़ते हुए स्तर पर चांदी का सामान प्राप्त करता रहा (1750 में ईस्ट इंडिया कंपनी का निर्यात 1.10 मिलियन पौंड हो गया था) किंतु यह बिल्कुल बंद हो गया क्योंकि अंग्रेजी कंपनी यहाँ से पैदा राजस्व से अपनी खरीद का खर्चा पूरा करती थी...।[16] 1765 में, उन्होंने बंगाल में दीवानी का अधिकार (राजस्व एकत्रीकरण) मुगलों से ले लिया।[17] चार साल बाद 1769-70 के बंगाल के सूखे ने कारीगरों और कृषकों सहित कुल जनसंख्या के एक-तिहाई लोगों को समाप्त कर दिया और एक-तिहाई भूमि बर्बाद हो गई। इसके कारण 1772 में वित्त संकट पैदा हुआ जिसकी वजह से कपंनी के मामलों में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा।"[18]

1772 में वॉरन हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल बनकर (दूसरी बार) भारत आया। 1773 में, संसद ने नियंत्रण कानून पारित किया "जिसने कंपनी को दिवालिया होने से बचाया और उसकी मदद के लिए एक परिषद बनायी गयी।"[19] उसे ऐसी स्थिति से निपटना था जिसे "क्लाइव पीढ़ी कही जाने वाली कंपनी कर्मचारियों की एक पीढ़ी ने खड़ा किया था, जिसने जल्द लाभ के लिए बेशर्मी से बंगाल को लूटा और किसी समय में एक उर्वर प्रांत को दुविधाजनक बना दिया।[20]

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उसने एक सांस्कृतिक नीति तैयार की जिसका उद्देश्य "भारतीय भाषाओं में सक्षम और भारतीय पंरपराओं के प्रति उत्तरदायी एक उन्मुखी सेवा उच्च वर्ग बनाना था.... न केवल सामाजिक क्रियाओं के स्तर पर बल्कि बुद्धिमत्ता विनिमय के स्तर पर भी। अर्थात् ठोस भारतीय प्रशासन के आधार पर भारतीय संस्कृति, जैसा कि प्रकिवल स्पीयर ने कहा था।"[21] इस वर्ष, जनजातीय लोगों के साथ पहला संपर्क तब हुआ जब "कंपनी के सेना के एक अधिकारी, कप्तान कैमेक ने छोटानागपुर के शासक के साथ अपनी पगड़ी बदली... जिसने अंग्रेजों की प्रभुता को स्वीकार कर लिया।"[22]

यह कदम प्रशासन का मजबूत सांस्कृतिक-बौद्धिक आधार रखने के लिए उठाया गया था।[23] इसके कारण 1784-1838 के बीच एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की और बाद में 1800-1813 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। पहली संस्था ने भारत-विद्या के क्षेत्र में शोध को बढ़ावा दिया तथा दूसरी संस्था ने सार्वभौमिक शिक्षा की शुरुआत की। शिक्षा प्रणाली ने मध्य वर्ग की स्थापना की जिसका उपयोग अंग्रेजों ने प्रशासन चलाने के लिए किया। एशियाटिक सोसायटी ने शोध और भूमि व्यवस्था रिपोर्टें लिखने के लिए आधार तैयार किया जो कर का निपटान करने का आधार थीं। जिन्हें लाभ हुआ, वे पढ़ने और लिखने वाली परपंरा के थे — द्विज हिंदू तथा अमीर मुसलमान। जनसंख्या का एक बड़ा भाग जो मौखिक परंपरा के लोग थे — व्यवसायी जातियाँ छूट गई थीं।

ये कदम जनजातियों के संघर्ष द्वारा व्यक्त उनकी आवाजों को स्थान देने और समझने के लिए राज्यों हेतु बौद्धिक-सांस्कृतिक ढाँचे के गठन के कारण पैदा हुए संकटों से निपटने के लिए उठाए गए थे।

सांस्कृतिक नीति के गठन के बाद, 1778 में पहरियाओं ने "कंपनी द्वारा डाक मार्ग बनाने के प्रयास के खिलाफ विद्रोह किया, जिसे अतिक्रमण के रूप में देखा गया था।'[24] इसके बाद कोली उपद्रव हुआ (1784-1785) और फिर छोटानागपुर, के तमर में विद्रोह हुआ (1789; 1794-1795)। राजस्व कमाने के लिए, अंग्रेजों ने भूमिव्यवस्था (1793) के रूप में भूमि और राजस्व की व्यवस्था की। उन्होंने मेनचेस्टर में कपड़े की मिलों के लिए कपास और नील उगाने के लिए अवस्थिति खेती को व्यावसायिक खेती में बदल दया। उसके बाद छोटे और बड़े विद्रोह की कम से कम चालीस घटनाएँ दर्ज की गईं — 1857 तक़ जनजातीय लोगों द्वारा, जोकि 1857[25] में महान् संथल विद्रोह तथा भारतीय संग्राम का वर्ष था।[26]

सरकार ने एक ओर अलग संथलों और सरकार के बीच मध्यस्थों का वर्जित होना, कोमीटोई बंधवा मजदूर प्रथा का उन्मूलन करके प्रतिक्रिया दी.... और दूसरी ओर 1858 का राजसी उद्घोषणा तैयार की, जिसमें प्रत्येक समुदाय को अपनी संस्कृति का अधिकार दिया गया जो समुदायों के बीच अन्योन्यक्रिया के इतिहास यानी द्विभाषिका विशेषताओं से अनभिज्ञ था।

सांस्कृतिक मतभेद के संदर्भ में, इसने गैर-हस्तक्षेप को प्रशासन के सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया। यह कहा गया,

(i) भारत के सभी लोगों को समान और निष्पक्ष कानून की सुरक्षा प्राप्त होगी; (ii) किसी भी जाति, जनजाति, प्रजाति या वर्ग के लोग अंग्रेजी सेवाओं में मुक्त और निष्पक्ष प्रवेश मिल सकेगा; (iii) कानून का गठन और पालन करने में, भारत की विभिन्न जातियों, जनजातियों और प्रजातियों के लोगों के प्राचीन अधिकारों, प्रयोग तथा प्रथाओं को उचित सम्मान दिया जाएगा; और (iv) अंग्रेज सरकार किसी भी व्यक्ति की धार्मिक आस्था या पूजा में हस्तक्षेप नही करेगी।[27]

सांस्कृतिक नीति की यह प्रथम राजनीतिक अभिव्यक्ति थी। विभिन्नता पर अंतर्निहित सामाजिक सिद्धांत को भारत पर 1880 के दशक की पुस्तकों से पढ़ा जा सकता है — "भारत या भारत जैसा कभी कोई देश नहीं था, जिसमें यूरोपीय विचार के अनुसार, किसी प्रकार की भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक एकता थी। केवल प्राकृतिक क्षेत्र थे कि इन क्षेत्रों के लोग कभी स्वयं को भारतीय मान सकें, यह कि उन्हें लगे कि वे एक महान् देश के निवासी हैं।" इसमें आगे लिखा , "भारत अंग्रेजी सत्ता की रचना थी और यह कि सत्ता के सावधानीपूर्वक प्रयोग पर निर्भर था और इसका अस्तित्व मुख्य रूप से कृत्रिम था।[28] इसने स्व-निर्धारण की पद्धति के लिए ढाँचा तैयार किया जो बिना सरकारी सहयोग के संभव नहीं था।

1858 और 1935 के बीच, विद्रोह की अट्ठाइस[29] घटनाएँ दर्ज की गईं। इस दौरान वन कानून 1858 ने आरक्षित वन बना दिए तथा आरक्षित क्षेत्रों में वन ग्रामों की अनुमति थी। 1895 तक अनेक वन ग्राम स्थापित कर दिए गए। अधिग्रहण कानून 1894 ने अगले चरण के लिए आधार रखा। 1890 में अंतरण पर रोक आरंभ हो गई जब वन ग्राम नियम जारी किए गए (प्रसाद, 1994)। सरकार द्वारा ले ली गई भूमि के बदले मुआवजा दिया जाता था — 1895 तक इन गाँवों को रयीतवाड़ी मार्ग बनाने के लिए, इनका स्थायित्व पर्याप्त रूप से स्थापित हो गया था (प्रसाद 1994 147)।

जनजातीय लोगों की स्थितियों को सुधारने के लिए अनेक आदेश जारी किए गए और पूर्वी गोदावरी एजेंसी के इन आदेशों को एजेंसी ट्रैक्ट इंटरेस्ट तथा भूमि हस्तांतरण कानून 1917 के नाम से संकलित करके जारी हुए। अन्य जनजातीय क्षेत्रों में समान कानून पारित करने के लिए यह एक मॉडल के रूप में सामने आया। इस कानून की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसने जनजातीय लोगों से बाहरी लोगों को भूमि का हस्तांतरण रोक दिया।[30]

आदिवासी जनजातीयों की विशेष सुरक्षा एजेंसियों द्वारा अधिसूचित क्षेत्रों तक सीमित नहीं थी और 1919 में भारत सरकार कानून 1919 के अंतर्गत यह प्रावधान था कि, "परिषद का गर्वनर जनरल अंग्रेज भारत के किसी भी क्षेत्र को "पिछड़ा क्षेत्र" घोषित कर सकता था और भारतीय विधायिका का कोई भी कार्य ऐसे पिछड़े क्षेत्रों पर लागू होगा केवल यदि गर्वनर जनरल का ऐसा निर्देश हो।" 1919 का यह कानून भारत सरकार कानून 1935 और भारत सरकार (वर्जित एवं आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्र) आदेश 1936 का पूर्वगामी था। "वर्जित क्षेत्र" वे पिछड़े क्षेत्र थे जिनमें जनजातीय लोग रहते थे और जिन पर शासक विधायिका अथवा प्रांतीय विधायिका के कानून केवल प्रांत के राज्यपाल के साथ लागू होने थे। इस प्रावधान का उद्देश्य आधुनिक क्षेत्रों के लिए तैयार कानून का पिछड़े क्षेत्रों तक विस्तार को रोकना था जहाँ आदिवासी जनजातीयाँ उनकी विशेष परिस्थिति के लिए अनुपयुक्त कानूनों द्वारा प्रतिकूल रूप से प्रभावित हो सकती थी।[31] सभी विद्रोह जनजातीय लोगों की भूमि और उनके आर्थिक संसाधनों पर बाहरी लोगों के अतिक्रमण के विरुद्ध अंतिम प्रयास थे।

अनिवेशीय प्रशासन की पद्धति में गैर कानून फिरोतियाँ और भ्रष्ट पुलिस की दमनकारिता रम्पा विद्रोह के तत्काल कारण थे जो पूर्वी गोदावरी जिले में मार्च 1873 में आरंभ हुआ।

इनमें सबसे महत्वपूर्ण बिरसामुंडा (1895-1900) और तानाभगत आंदोलन (1913-1921) थे। 1856-57 में संथल विद्रोह के फलस्वरूप सरकार द्वारा किए गए संशोधनों का मुंडाओं तक विस्तार नहीं किया गया हालांकि वे भी उसी समस्या से पीड़ित थे ... इसके फलस्वरूप भूमि का अलग होना सभी जनजातीय लोगों के लिए एक कठोर चोट थी। बिरसा आंदोलन का उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता था। तानाभगत आंदोलन मिशनरी और अंग्रेजों के विरुद्ध था ... वे जनजातीय लोगों को बुरी आदतों और कमजोरियों से मुक्त कराना चाहते थे और उन्होंने किराया देने से मना कर दिया क्योंकि उन्होंने वनों को साफ किया था तथा इस नाते वे भूमि के मालिक थे। उनकी मांग स्व-शासन, राजपाट का उन्मूलन, किराया न देना, प्रत्येक मनुष्य के बीच आदर्श समानता थी।"[32]

इन आंदोलनों के फलस्वरूप जनजातीय सुधार, समाज सुधार तथा विकास का आरंभ करने के लिए बनाई गई संस्थाएँ अस्तित्व में आ गईं।[33] इन आंदेलनों की विशेषता पुनर्जीवनवादी-पिछड़े वर्गोन्मुखी होना है।[34] "साइमन कमिशन और सरकार ने मौजूदा राजनीतिक संरचना के अंतर्गत जनजातीय समस्या का समाधान खोजना चाहा। गठित नीतियाँ गैर-यथार्थवादी थी .... जनजातीय लोगों के लिए आबंटित अधकांश धनराशि गैर-जनजातीय लोगों ने ले ली। इस प्रकार जनजातीय लोगों की भावनाओं का ध्यान रखने में सरकार विफल हो गई।[35]

भारत सरकार कानून 1935 द्वारा सरकार ने प्रतिक्रिया व्यक्त की जिसने भारत में आधुनिक शासन और प्रशासन की संरचना के अस्तित्व की विधिक आधारशिला तैयार की। शाही उद्घोषणा के आशय के अनुसार (जैसा कि पहले कहा जा चुका है जो वॉरेन हेस्टिंग्स सांस्कृतिक नीति के अनुकूल थी), इसमें वनवासियों और जनजातीय लोगों के लिए वर्जित तथा आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्र थे जिन्होंने इन लोगों को मुख्यधारा से अलग कर दिया।

सोचें और करें 19.01

विभिन्न जनजातीय बातों और उस पर भारत में अंग्रेज सरकार की प्रतिक्रिया पर चर्चा कीजिए।

भारत सरकार कानून 1935 के अंतर्गत जनजातीय आंदोलन की प्रकृति बदल गई और 1936 में पहली बार चुनाव हुए। पार-जनजातीय आंदोलनों ने अपनी आवाज बुलंद कर दी। उदाहरण के लिए, छोटानागपुर कैथोलिक सभा, छोटानागपुर आदिवासी महासभा। 1949 में, यह महासभा समाप्त करके नई क्षेत्रीय पार्टी (झारखंड पार्टी) बनाई गई।[36]

19.4 राष्ट्रवादी स्वतंत्रता संग्राम और जनजातियाँ

राष्ट्रवादी स्वतंत्रता संग्राम की जड़ें जनजातीय और कृषक आंदोलनों में नहीं थीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने न तो दमनकारी कानूनों पर, न सांस्कृतिक नीति पर कोई प्रश्न किया। वह इन आंदोलनों की विरासत का लाभ नहीं ले सकी क्योंकि उसने अपनी सांस्कृतिक नीति को आंतरिक बनाया हुआ था : जनजातीय के विषय में सोच या बातों को उसने अस्वीकार नहीं किया। न ही कोई ऐसा प्रश्न पूछा गया कि क्या सरकारी नियंत्रण नितांत आवश्यक था। कांग्रेस ने सुरक्षा को औचित्यपूर्ण बताया तथा वर्जित करने की निंदा की। यह देखा गया कि, इसने बाद में विकास के कार्यक्रमों का मार्ग प्रशस्त किया। ऐसी अपेक्षा थी कि इससे जनजातीय लोगों को औद्योगिक आधुनिकीकरण की पद्धति अपनाने में मदद मिलेगी।

1936 फैजपुर घोषणा में कांग्रेस ने वन समुदायों के वर्जित करने पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी :

"इस कांग्रेस की राय में वर्जित एवं आंशिक वर्जित क्षेत्रों को पृथक रखने के पीछे का अभिप्रेत, उस क्षेत्र की सम्पति एवं खनिज को विस्तृत नियंत्रण और दोहन को बाहर करके, वहाँ के निवासियों की जीविका का शोषण तथा दमन करने का है।"[37]

"... आदिवासियों के हित सर्वश्रेष्ठ आधुनिक प्रभाव (जैसे शिक्षा) के प्रति उनका रुझान और संरक्षण नियमों के कार्यान्वयन द्वारा ही पूरा हो सकता है। वन उत्पाद का औद्योगीकरण आदिवासी समाज की प्रगति के लिए आवश्यक समझा जा सकता है।"[38]

जनजातीय विरोध को उनकी अनुकूलन, अपनाने और परिवर्तित होने की अक्षमता के सूचक के रूप में देखा गया। जिन्होंने उनके आत्मसातकरण का समर्थन किया, उन्होंने अंग्रेजी शासन के अंतर्गत मुख्यधारा के विकास के नियमों को मान लिया। वे स्वतंत्रता संग्राम में जनजातीय वनवासियों द्वारा दिए जा सकने वाले योगदान से अनभिज्ञ थे। जनजातीय विरोधों में दर्शाए जाने के बावजूद उनके ज्ञान तथा उनके जीने के ढ़ंग के साथ उसके संबंध से जुड़े प्रश्नों की उपेक्षा की गई।

यह उस स्थिति से मेल खाती थी जो जवाहरलाल नेहरू ने जनजातीय स्थिति के बारे में सोची थी। 1952 में "अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित क्षेत्रों" पर पहले सत्र में उन्होंने कहा :

"हमने आधा शताब्दी या उससे भी अधिक तक स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी और उसे प्राप्त किया। अन्य किसी भी चीज के अतिरिक्त, वह संघर्ष एक महान् मुक्तिदायक बल था। उसने हमें स्वयं से ऊँचा उठाया ... हमें याद रखना चाहिए कि करोड़ों भारतीयों का यह अनुभव जनजातीय लोगों ने नहीं बाँटा था।"[39]

यह स्पष्ट है कि उन्होंने अंग्रेज शासन के विरुद्ध संघर्ष और विरोध किया किंतु अन्य भारतीयों के साथ अपने अनुभव बाँटने का उनके पास कोई मार्ग न था क्योंकि एक ओर, वे वर्जित क्षेत्रों में राजनीतिक रूप से अलग हो गए थे और दूसरी ओर, वे तथाकथित प्रभावी समाज के समाज बहिष्कृत लोग थे। इस प्रकार वे बाहरी लोग थे। जनजातीय लोगों की स्थिति को मुख्यधारा के प्रशासन की इस विधि के दृष्टिकोण से अब नहीं समझा जा सकता है।

19.5 संविधान-सभा बहस और जनजातीय लोग

संविधान-सभा की बहस में भी "वर्जित" और "आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्रों" की वैधता पर प्रश्न नहीं किया गया अथवा इस बात पर कि जनजातीय लोग पिछड़े हुए थे। न ही उन्होंने जनजातीय और कृषक आंदोलनों की परंपराओं द्वारा यह जानने का प्रयास किया कि स्वतंत्र भारत के निर्माण में उनके योगदान का तरीका क्या था। वे ऐसी समस्या से निपटना चाहते थे जो ऐसी स्थिति से पैदा हुई है जिसमें सांस्कृतिक बहुवाद तथा राजनीतिक-आर्थिक असमानता साथ-साथ मौजूद हैं, अर्थात् सामाजिक और सांस्कृतिक मतभेदों के सवालों पर गैर-हस्तक्षेप की धर्मनिरपेक्ष नीति की बिना पुनः जाँच किए सामाजिक संरचना में सामाजिक न्याय। इसी समस्या से निपटने के लिए अनुच्छेद 16(4) तथा अनुच्छेद 335 बनाए गए थे (इस पर बाद में चर्चा की जाएगी)। इस पर तथा अन्य मुद्दों पर बहस अंग्रेजों द्वारा पीछे छोड़ी गई प्रशासन की उदारवादी राजनीतिक परंपरा के सैद्धांतिक ढाँचे के अंतर्गत थी।

जनजातीय लोगों के लिए संवैधानिक प्रावधान इस बहस के अंश के रूप में बनाए गए थे। यह तर्क दिया गया था कि राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतंत्र के सिद्धांत न्याय की उपयुक्त परिस्थितियों को पैदा करेंगे। इन्हें सरकार के लिए निर्देशात्मक सिद्धांतों में शामिल किया गया। निर्देशात्मक सिद्धांतों पर चर्चा के दौरान डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने कहा :

"जैसा कि मैंने कहा था, एक प्रक्रिया के रूप में हमारा संविधान बताता है कि संसदीय लोकतंत्र क्या होता है। संसदीय लोकतंत्र से हमारा आशय है "एक व्यक्ति, एक मत" ... हमें अपने संविधान में राजनीतिक लोकतंत्र स्थापित करने का कारण यह है कि हम किसी भी कारण से किसी भी तरह की स्थायी तानाशाही नहीं लाना चाहते। हमने राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना की है, हमारी यह भी इच्छा है कि हम आर्थिक लोकतंत्र के आदर्श को भी स्थापित करें। हम मात्र ऐसी प्रक्रिया नहीं बनाना चाहते जिससे लोग आएँ और सत्ता झपट लें। संविधान उन लोगों के सामने भी आदर्श रखना चाहता है जो सरकार बनाते हैं। वह आदर्श आर्थिक लोकतंत्र है जिसका अर्थ, जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं समझता हूँ कि "एक व्यक्ति एक मत" है। प्रश्न यह है कि : क्या आपको पता है कि आर्थिक लोकतंत्र कैसे लाया जा सकता है? लोगों के अनुसार, ऐसे तरीके हैं जिनके द्वारा आर्थिक लोकतंत्र लाया जा सकता है; कुछ ऐसे लोग हैं जो व्यक्तिवाद को आर्थिक लोकतंत्र का श्रेष्ठ रूप मानते हैं; कुछ ऐसे हैं जो समाजवादी राज्य को श्रेष्ठ आर्थिक लोकतंत्र मानते हैं; कुछ ऐसे हैं जो कम्युनिस्ट विचारधारा को श्रेष्ठ आर्थिक लोकतंत्र मानते हैं।"

इस बात को ध्यान रखते हुए कि ऐसे अनेक तरीके हैं जिनसे आर्थिक लोकतंत्र लाया जा सकता है, हमने जानबूझकर निर्देशात्मक सिद्धांतों की भाषा में कुछ ऐसा प्रयोग किया है जो अधिक निश्चित और रुढ़िगत नहीं है।[40]

राजनीतिक और आर्थिक लोकतंत्र के पीछे एक व्यक्ति, एक मत का सिद्धांत है। इस प्रकार, मत आर्थिक समानता के राजनीतिक अधिकार को बताने और परिभाषित करने का एक उपकरण है। यह संपत्ति के अधिकार (अनुच्छेद 300 ए) में बताया गया है।

मिलकर ये आधुनिक औद्योगिक कार्य तथा उद्यम के लिए औद्योगिक उत्पादन प्रक्रिया तथा उत्पादक क्षमताओं की आर्थिक तथा राजनीतिक संरचनाओं का निर्धारण करते हैं। इस संरचना तथा प्रक्रिया की लोकतांत्रिक प्रकृति को कार्य की अन्य परंपराओं के प्रति व्यवहार से परखा जा सकता है : सह अस्तित्व तथा लोगों के लिए जाने-पहचाने आजीविका के साधनों को बढ़ाने के लिए उनके पास स्थान नहीं था। वास्तव में, यह उसे नष्ट करने का समर्थक था।

इस सिद्धांत द्वारा परिभाषित अर्थव्यवस्था की प्रकृति कार्य संस्कृति और लोगों की उत्पादक क्षमताओं पर आधारित नहीं होती है। क्या इससे उत्पादक होने की कलाएँ विकसित होती हैं और क्या इससे न्यूनतम आजीविका सुनिश्चित होती है? इसलिए इस सिद्धांत को दोबारा बनाने की आवश्यकता है। उत्पादक क्षमता किसी कार्य को केवल करने की क्षमता नहीं होती। यह अलग होने का दुख, सामाजिक क्षेत्र में उत्पात और आधुनिक जगत में रहने की अनिश्चितताओं से निपटना है। निपटने की यह तैयारी, स्व-शासन की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है। लोकतंत्र का राजनीतिक और आर्थिक आयाम "एक व्यक्ति एक मत" से अधिक है। यह ऐसी तैयारी की स्थिति से जुड़ा है। इनका बृहत् अर्थ समझने के लिए हमें एक ओर राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों तथा उत्पादक क्षमता के बीच संबंध को और दूसरी ओर कार्य करने की क्षमता तथा जीवन के बहुवादी तरीकों को समझना होगा। यह संबंध सामान्य कल्याण का विचार बनाता है।

इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर, निदेशात्मक सिद्धांत अनुच्छेद 16(4) तथा अनुच्छेद 335 के बीच विरोधाभास को नहीं सुलझाता है। पहला वाला अनुच्छेद सभी नागरिकों को ऐसी सामाजिक संरचना में अवसर की समानता देता है जहाँ सत्ता और लाभ कुछ लोगों के अधिकार में हैं। दूसरा वाला अनुच्छेद अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का नौकरियों और पदों पर दावे का समर्थन करता है। अनुच्छेद 335 पर बहस इस बात पर केंद्रित थी कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए नौकरी में आरक्षण होना चाहिए अथवा नहीं। उस बहस के कुछ अंश यहाँ दिए गए हैं।

MADHYAM IAS
"way to achieve success"

श्री पंडित ठाकुर दास भार्गव : ..... जहाँ तक अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का प्रश्न है, उनके लिए आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं है। इन लोगों के लिए जो सुरक्षा कानून में दी गई है वह अनुच्छेद 335 में है जो कहता है :" संघ या राज्य के मामलों के संदर्भ में प्रशासन की कार्यकुशलता, सेवाओं तथा पदों पर नियुक्ति करते समय नियमित रूप से, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के दावों को ध्यान में रखा जाएगा।" इसलिए, एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण की कोई बात नहीं थी। मुझे ध्यान है कि अल्पसंख्यक समिति की एक उप-समिति में, यह मुद्दा उठा था और फिर हमने यह सुनिश्चित किया था कि आरक्षण बिल्कुल नहीं होगा। अब, पीछे से, चोरी-छिपे, अनुच्छेद 320 के (4) में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण बीच में डाला जा रहा है। मेरा कहना यह है कि लोक सेवा आयोग के सदस्यों को जब संविधान का यह स्पष्ट निर्देश है, जिसे उन्हें मानना चाहिए, कि प्रशासन की कार्यकुशलता को बनाए रखने के साथ नियमित रूप से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के दावों को ध्यान में रखना चाहिए, तो यह प्रावधान निरर्थक हो जाएगा और साथ ही, मैं कहूँगा कि एक प्रकार से यह अनुच्छेद 335 के प्रभाव को समाप्त कर देगा। इसलिए, मैं चिंतित हूँ कि जहाँ तक अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का संबंध है, उनके दावों को केवल आरक्षित नियुक्तियों के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि सभी नियुक्तियों के संदर्भ में ध्यान रखा जाना चाहिए। क्योंकि यदि वे आरक्षित हैं तो इसका अर्थ है कि उनके दावों को ध्यान में रखा जाएगा। बात यह है कि उनके दावे केवल आरक्षित पदों तक सीमित रह जाएँगे और अन्य पदों के संदर्भ में, उनके दावों पर ध्यान नहीं दिया जाएगा।

अब जैसा कि सदन को पता है, अनुच्छेद 16(4) का प्रावधान सभी नागरिकों को अवसर की समानता को खराब करने का एक नकारात्मक प्रावधान जैसा है, जिनमें कुछ लोग अत्यधिका समृद्ध हैं और अन्य उतने समृद्ध नहीं हैं और प्रावधान यह है कि नियुक्तियों या पदों में आरक्षण के लिए प्रावधान करने से राज्य पर कोई रोक नहीं है। यदि कोई पद आरक्षित नहीं है तो इस प्रावधान से न तो किसी पिछड़े वर्ग का और न ही किसी अन्य वर्ग का कोई लाभ होने वाला है। जब सदन ने पदों का आरक्षण निश्चित नहीं किया है, मुझे नहीं लगता कि 16(4) को आरक्षण के लिए रखना सही होगा। जब सदन ने हमेशा के लिए निश्चित कर लिया कि कोई आरक्षण नहीं होगा, तो ये शब्द (16 (4)) यह भ्रांति पैदा करेंगे कि आरक्षण संभव है।[41]

श्री टी.टी. कृष्णमचारी : क्या माननीय सदस्य कृपया यह बताएँगे कि अनुच्छेद 335 लागू कैसे होगा?

श्री पंडित ठाकुर दास भार्गव : क्या इसे केवल आरक्षण द्वारा लागू किया जा सकता है? यदि ऐसा है तो हमने इस पर निर्णय क्यों नहीं लिया?[42]

श्री आर.के. सिद्धव : माननीय राष्ट्रपति जी, ... मेरा यह मत है कि यदि किसी को सुरक्षा या विशेषाधिकार चाहिए तो वह केवल अनुसूचित जातियाँ हैं ... क्योंकि मैंने कई बार कहा है कि उस वर्ग पर हमने थोड़ा अन्याय किया है तथा उस अन्याय के निराकरण के लिए, हमने उन्हें विशेष रूप से यह सुरक्षा दी .... मैं अपने मित्र देशमुख के इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हूँ कि "पिछड़ा वर्ग" शब्दों का प्रयोग किया जाए .... मैं पूर्णतः इसका विरोध करता हूँ .... यद्यपि "पिछड़ा वर्ग" शब्द मौजूद है, मैं इसे अनिच्छा से स्वीकार करता हूँ और यदि मेरा बस चले तो मैं यह कहता कि "पिछड़े वर्ग" जैसे शब्द होने ही नहीं चाहिए।[43]

श्री महावीर त्यागी : एक और अनुच्छेद में सांप्रदायिक संक्रमण डालने की क्या आवश्यकता है .... यह कि अनुसूचित जातियों का अभ्यावेदन ऐसा-ऐसा होगा, उसे देने का तरीका यह-यह होगा, कि अनुसूचित जातियों को सेवाओं या पदों में इसे देने के लिए नियम लोक सेवा के परामर्श से नहीं बनाए जाएँगे, इत्यादि। यह सब, मेरे अनुसार, बिल्कुल अनावश्यक है और निश्चित रूप से इससे अनुसूचित जाति के लोगों को कोई लाभ नहीं होगा। हममें से कुछ का मानना है कि विशेष आरक्षण को उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर थोपा गया था। मगर हमें बताया गया था कि यह केवल एक निर्देशात्मक अनुच्छेद है और यह भावी सरकारों की नीति को दिशा-निर्देश देगा।[44]

इन बहसों में, सुरक्षा का प्रश्न, अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा अलग हो गए लोगों के स्थान के बड़े प्रश्न के संदर्भ के बिना संबोधित किया गया था। न तो इसमें अंग्रेज शासकों द्वारा पीछे छोड़ी गई अर्थव्यवस्था का संदर्भ है और न ही लोगों की सांस्कृतिक पूंजी तथा पदार्थों के भंडारों का। इस कारण भारत द्वारा लिए जाने वाले आत्मनिर्भर विकास तथा प्रगति के मार्ग पर चर्चा करना संभव नहीं था। जिस कल्याण को प्रोत्साहित करने का उद्देश्य निर्देशात्मक सिद्धांतों का था, वह व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याण को बिना उसके कार्य संस्कृति और लोगों की उत्पादक क्षमताओं से संबंध को विचार कर परिभाषित करता है।

उदाहरण के लिए, जनजातियों के लिए भूमि को अलग करने से रोकने के कानून आर्थिक तथा राजनीतिक लोकतंत्र के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, कार्य परंपरा के अनुकूल तथा औद्योगिक उत्पादन तंत्र के संदर्भ में भूमि और उत्पादन के अन्य माध्यमों को परिभाषित करने की स्वतंत्रता की भी आवश्यकता है। तदानुसार, जनजातीय विरोध को केवल भूमि ही नहीं बल्कि उनके आवास के रूप में वन, उनकी कार्य संस्कृति, अंतरण खेती तथा उनके जगत दृष्टिकोण के अधिकार की अभिव्यक्ति के रूप

MADHYAM IAS

में देखा जा सकता है। ये अधिकार अपनेपन के भाव के लिए आवश्यक हैं, जो भविष्य निर्माण में लोकतांत्रिक योगदान के लिए सबसे आवश्यक है। यह इस पर निर्भर नहीं करता है कि खेती का यह प्रकार वैज्ञानिक तर्क और विकास के मानदंडों के अनुसार है अथवा नहीं।

कल्याण और सामाजिक न्याय का विचार संपत्ति के अधिकार पर आधारित है जिससे अपनेपन का भाव सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है। इसलिए राजनीतिक और आर्थिक लोकतंत्र की अवधारणा को समझना अत्यंत महत्वपूर्ण है। "राज्य नीति के निर्देशात्मक सिद्धांतों" के अनुपालन में अनुच्छेद 300 ए कहता है कि राज्य जनहित में किसी भूमि को ले सकता है :

कानूनी प्राधिकार के बिना किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा।

"संविधान के मसौदे" में यही अनुच्छेद 24 था। इस अनुच्छेद पर चर्चा में, इस अनुच्छेद का औचित्य और आशय बताया गया :

श्री जवाहरलाल नेहरू : यदि जन प्रयोग के लिए संपत्ति की आवश्यकता है तो यह सर्वविदित कानून है कि वह राज्य द्वारा, यदि आवश्यक हो तो, उसका मुआवजा देकर ली जानी चाहिए और कानून में उस मुआवजे के निर्धारण के तरीके भी दिए गए हैं ... किंतु आज अधिकाधिक समुदाय को समाज सुधार, सामाजिक यांत्रिकी आदि की योजनाओं से निपटना पड़ता है, जिनके भूमि या रचना के छोटे-से टुकड़े की व्यक्तिगत प्राप्ति के दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता है। समस्याएँ पैदा होती हैं — प्रत्येक अन्य समस्या के अतिरिक्त, समय का प्रश्न। यहाँ एक कानून का अंश दिया है जो समुदाय राज्य की प्रगति और सुरक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक मानता है और यह ऐसा कानून है जो करोड़ों लोगों को प्रभावित करता है। निश्चय ही, आप ऐसे अत्यंत लंबे, विस्तृत तथा निरंतर कानून को न्यायालय के लिए नहीं छोड़ सकते। अन्यथा करोड़ों लोगों का भविष्य प्रभावित होगा; अन्यथा संपूर्ण राज्य की आधारशिला तक इसकी संपूर्ण संरचना हिल सकती है .... हम परिवर्तन के महान् दौर से गुजर रहे हैं .... आप व्यक्ति की रक्षा कैसे करेंगे? मैंने बात यहाँ से आरंभ की थी कि इसके दो तरीके हैं — व्यक्ति का अभिगम और समुदाय का अभिगम। किंतु उन लोगों को छोड़कर, जो अपनी सुरक्षा स्वयं कर सकते हैं, हम आज व्यक्ति की रक्षा कैसे कर सकते हैं? ऐसे लोग कम होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में, राज्य को ही व्यक्ति के संपत्ति के अधिकार की रक्षा करनी होगी। उसके पास संपत्ति हो सकती है किंतु वह उसके लिए बेकार हो सकती है क्योंकि किसी का एकाधिकार बीच में आकर उसे उसकी संपत्ति का आनंद उठाने से रोक सकता है। यह विषय इसलिए कोई सरल विषय नहीं है ..... क्योंकि पूंजीवादी दिशा और समाजवादी दिशा दोनों दिशाओं में अनेक बलों के कार्य करने से व्यक्ति वह अधिकार पूर्णतः खो सकता है[45] .....

श्री दामोदर स्वरूप सेठ : यह स्पष्ट नहीं है कि क्या "सार्वजनिक प्रयोग के लिए संपत्ति की प्राप्ति" शब्दों में भूमि तथा उद्योगों का सामाजीकरण अथवा लोगों के एक समूह से दूसरे समूह तक संपत्ति का आवश्यक हस्तांतरण शामिल है। यह हो सकता है कि इन शब्दों का अर्थ केवल सरकार, स्थानीय स्व-प्रशासित संस्थाओं, तथा अन्य चैरिटेबल और सार्वजनिक संस्थानों के सामान्य उपयोग के लिए संपत्ति की प्राप्ति हो तथा इसे राष्ट्रीयकरण या सामाजीकरण तक विस्तार नहीं दिया जा सकता है। अतः इस विषय पर स्पष्टीकरण की आवश्यकता है और वह स्पष्टीकरण, मेरी विनम्र राय से, तब तक संभव नहीं है जब तक हम इस विचार को न त्यागें या मैं कहूँ कि यह सिद्धांत कि मनुष्य का संपत्ति पर प्राकृतिक अधिकार है और यह विचार भी कि संपत्ति व्यक्तित्व को दर्शाती है। और संपत्ति पर कोई भी आक्रमण स्वयं व्यक्तित्व के साथ हस्तक्षेप है .... मनुष्य का

संपत्ति पर कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है। संपत्ति पर दावा कानून द्वारा प्राप्त होता है और इसे समुदाय से मान्यता मिलती है। समुदाय ने ....संपत्ति के संदर्भ में कानून में सुधार का अधिकार सदैव अपने पास रखा है और वह लोगों के सामान्य, सामाजिक तथा आर्थिक हित में वह संपत्ति को उसके मालिकों से ले लेता है। संपत्ति एक सामाजिक संस्थान है और सभी अन्य सामाजिक संस्थानों की भाँति, यह नियमों का विषय तथा सामान्य हितों का दावा है।

..... यह समझा जाना चाहिए कि सभी लोगों की संपत्ति राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में राज्य का मुख्य आधार है और निजी संपत्ति के अधिकार को समुदाय के रास्ते में बाधा या उसके लिए हानिकारक नहीं होने दिया जा सकता है। राज्य के पास लोगों के सामान्य हितों में कानून द्वारा संपत्ति को नियमित, सीमित तथा वंचित रखने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। संपत्ति से वंचित रखने की स्थिति के रूप में मुआवजे के सिद्धांत को पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता : मृत्यु कर बिना मुआवजे के आंशिक रूप से वंचित रखने का एक प्रकार है और यह विश्व के अनेक प्रगतिशील देशों की वित्तीय व्यवस्थाओं की एक आवश्यक विशेषता है ....

यह लगभग सर्वव्यापी रूप से मान्यता प्राप्त बात है कि संपत्तियों के मालिकों को पूर्ण मुआवजा सामाजिक और आर्थिक सुधार की किसी भी बड़ी परियोजना को साकार नहीं होने देगा। आपात स्थिति में शोषण के उन्मूलन और सामान्य आर्थिक कल्याण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से बड़े उद्योगों का सामाजीकरण करने के लिए माँगी या प्राप्त की गई संपत्ति का बाजार मूल्य संपत्ति के हर वर्ग के मालिकों को देना राज्य के लिए संभव नहीं है। अतः आंशिक मुआवजे का सुझाव दिया जाता है .... जो एक माध्यम है जो न तो सामाजीकरण में बाधा डालेगा न ही साथ में बड़ी संख्या में लोगों को आजीविका से वंचित करेगा।[46]

प्रो. टी.के. शाह : .... मेरे विचार से किसी भी जनापयोग के लिए, भूमि को प्राप्त करना, स्थायी अथवा अस्थायी किसी भी प्रकार की संपत्ति को प्राप्त करना किसी भी समुदाय का अंतर्निहित अधिकार है जिसमें कोई अपवाद नहीं होना चाहिए .....

इसलिए मैंने यह सुझाव दिया है कि ऐसी किसी भी संपत्ति को सार्वजनिक उपयोग के लिए बिना "सार्वजनिक उपयोग" का अर्थ बताए प्राप्त किया जा सकता है बशर्ते उसका मुआवजा यदि हो तो, दिया जाए ... सभी संपत्तियाँ मुआवजे के योग्य नहीं होतीं और न ही संविधान में मुआवजे का अधिकार बिना योग्यता या सुधार के स्पष्ट होना चाहिए.....[47]

कांग्रेस ने जनजातीय लोगों के पिछड़े या आदिवासी कहे जाने पर कोई प्रश्न नहीं किया, न ही ऐसा कोई प्रश्न किया गया कि क्या राज्य नियंत्रण पूर्णतः आवश्यक होगा और यह कि क्या "वर्जित" क्षेत्रों द्वारा ऐसा किया जा सकेगा? वर्जित होने को औचित्यपूर्ण बताने या उसकी निंदा करने पर बहस हुई जिसमें यह तथ्य उपेक्षित रह गया कि "वर्जित करना" अंग्रेजी शासन के विरोध का एक परिणाम था।

"वर्जित करना" वन में रहने वाले लोगों के प्रति सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार की एक अभिव्यक्ति थी। आत्मसात्करण का समर्थन करने वालों ने उपनिवेशी शासन के अंतर्गत मुख्यधारा के विकास के नियमों का समर्थन किया और वे आजादी के लिए वनवासियों के योगदान से अनभिज्ञ थे।

सोचें और करें 19.02

जनजातीय मामलों पर संविधान-सभा की बहस की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आज तीन स्थान हैं बाएँ, बीच में तथा दाएँ। सभी सहमत हैं कि वनवासियों के रूप में, प्रकृति के साथ रहने वाले जनजातीय लोगों का कोई भविष्य नहीं था। उनमें मुख्यधारा का भाग बनने और उसमें उनके स्थान और स्थिति की प्रक्रिया के संदर्भ में अंतर था। इसी प्रकार मुख्य शब्दों की उनकी परिभाषाएँ भी भिन्न हैं।

19.6 निष्कर्ष

आज सभी जनजातीय लोग वनवासी नहीं हैं। वे भारत जैसे बड़े जगत के छोटे जगत रूप हैं। डी.डी. कोसांबी ने उस बृहत् सामाजिक संदर्भ को समझाया था जिसमें ये जनजातीय लोग भारत में स्थित हैं। "एक ही प्रांत, जिले या शहर में भारतीयों के बीच सांस्कृतिक अंतर, देश के विभिन्न भागों में भौतिक अंतरों जितने विस्तृत हैं। आधुनिक भारत में टैगोर के रूप में विश्व साहित्य का एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व हमें मिला। टैगोर के अंतिम निवास के बहुत निकट ऐसे अनेक अशिक्षित आदिवासी मिल सकते हैं जिन्हें टैगोर के बारे में पता न हो। इनमें से कुछ तो अभी भोजन इकट्ठा करने की ही अवस्था से बाहर नहीं निकल सके हैं। बैंक, सरकारी दफ्तर, फैक्ट्री या वैज्ञानिक संस्थान जैसी आधुनिक शहर की कोई इमारत किसी यूरोपीय स्थापत्यकार या उसके भारतीय प्रशिक्षु ने बनाई हो सकती है। गरीब कारीगरों ने, जिन्होंने उसे बनाया, प्राचीन उपकरण प्रयोग किए .... विज्ञान की अवधारणा उन मनुष्यों की मानसिक पहुँच से बाहर है जो वनों में या खेतों के किनारे गरीबी में जीते थे। अधिकांश बाढ़ के कारण वन में रहने पर बाध्य थे और वे शहरों में सबसे सस्ते श्रमिक बन गए।"[48]

पाँचवीं और छठी अनुसूचियों के अंतर्गत सुरक्षा का उद्देश्य वनवासियों के अधिकारों की रक्षा करना है। उन अधिकारों की पूर्ण रूप से रक्षा करना है जो भारतीय नागरिक को प्राप्त हैं। इन्हें यह शक्ति 1894 के भूमि अधिग्रहण कानून से मिलती है। नागरिक के अधिकार उन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकते जो राज्य को नागरिकों पर प्राप्त हैं। दूसरे शब्दों में सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों को दिशा देने की शक्ति राज्य के व्यक्ति को उसका नागरिक बनाती है।

MAADHYAM IAS

1894 का कानून उपयुक्त दशाओं के निर्माण के मार्ग में रोक लगाता है। उदहारण के लिए, उसके अंतर्गत प्राप्त भूमि अधिकांश मामलों में "सामान्य" थी। इस प्रकार सांस्कृतिक अधिकारों का हनन होता है क्योंकि सामान्य न केवल जीवन के आवश्यक तत्वों के भंडार हैं बल्कि उनके साथ ऐसे "अर्थ" भी जुड़े हैं जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनरोत्पादन की प्रक्रियाओं को पुनर्जीवित करते हैं। पावन बाग, चरागाह, जल नहरें, नदियाँ, पहाड़ ऐसे "सामान्यों" के कुछ उदाहरण हैं। यहाँ तक प्रश्न उठता है! सांस्कृतिक अधिकार रह कहाँ जाते हैं जबकि सामान्यों पर अधिकार का सदैव हनन होने का खतरा बना रहता है? "मूलभूत अधिकारों" के अध्याय में संविधान में यह बताया गया है। यह परिभाषा 1894 के कानून को वैधता देती है और बदले में, यह कानून इस परिभाषा के पक्ष को कार्यान्वित करता है — उस भौगोलिक क्षेत्र की क्षेत्रीय एकता जो वह क्षेत्र भी है जिस पर राज्य का शासन है। दूसरे शब्दों में, यह कानून प्रवृत्ति को समान रूप से दर्शाता है। अर्थात् वह अंतरों को उस सीमा तक अनुमति देता है जहाँ तक वह समानता को कम नहीं करता है।

1894 का भूमि अधिग्रहण कानून महत्वपूर्ण है। एक ओर यह कानून जनहित की अवधारणा पर आधारित है, दूसरी ओर यह स्वयं राष्ट्र-राज्य और कौन नागरिक है की विशिष्ट व्याख्या की अवधारणा है।

"दसवीं लोकसभा की शहरी तथा ग्रामीण विकास पर स्थायी समिति" (1994-95) भूमि अधिग्रहण कानून 1894 पर आठवीं रिपोर्ट के अनुसार, "सार्वजनिक उपयोग, विकास

कार्य और जन संस्थाओं के लिए आवश्यक भूमि के अधिग्रहण के लिए और अधिग्रहण के कारण मुआवजे की राशि के निर्धारण के लिए, पहला भूमि अधिग्रहण कानून मार्च 1894 की पहली तारीख को लागू किया गया। हालाँकि, आजादी के बाद के समय की आवश्यकताओं का पूरा करने के लिए इसे समय-समय पर संशोधित किया गया। यह जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर संपूर्ण भारत पर लागू होता है। नागालैंड में विधानसभा ने राज्य में इसके सशक्तिकरण के लिए इसे अपनाया नहीं है।"

भूमि अधिग्रहण कानून में व्यक्ति को सामूहिक समृद्धि के लिए अपनी भूमि का बलिदान देना पड़ता है। तदानुसार, "क्षेत्रीयता", जो राष्ट्र-राज्य को बनाता है, को राज्य द्वारा संरक्षित वह क्षेत्र मानना चाहिए जिस पर राज्य के पास सार्वजनिक हित के नाम पर पूर्ण अधिकार होते हैं और राज्य द्वारा इन अधिकारों का प्रयोग "भूमि अधिग्रहण कानून 1894" द्वारा स्वीकृत है। दूसरे शब्दों में, नागरिक वह है जिससे भूमि को लिया जा सकता है और जिसे भूमि दी जा सकती है। राष्ट्र-राज्य की सीमाओं के भीतर जन्म लेने का यह दायित्व है।

1894 के भूमि अधिग्रहण कानून ने ऐसा राजनीतिक वातावरण तैयार किया जिसने वनवासियों के दूसरी संस्कृति को अपनाने की सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं को राजनीतिक अखाड़े में बदल दिया। यह क्रिया राष्ट्र-राज्य को क्षेत्रीय इकाई के रूप में परिभाषित करने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। तदानुसार, राष्ट्र-राज्य में अनेक समवर्ती भौगोलिक क्षेत्र हैं जिन पर उसका अधिकार है। इस क्षेत्र के अंतर्गत, सरकार के पास सार्वजनिक हित में कोई भी भूमि ले लेने का अधिकार होता है बशर्ते वह इसका समतुल्य मुआवजा (भूमि में) दे। वनवासियों के क्षेत्रों को "संरक्षित क्षेत्र" की उद्घोषणा, राजस्व न देने वाले सभी वनों को बंजर कहने की उद्घोषणा तथा अंतरण खेती के स्थान पर स्थायी खेती को बढ़ावा देकर स्थायी आवास को बढ़ावा देना, 1894 के भूमि अधिग्रहण कानून द्वारा प्रोत्साहित राजनीतिक गतिविधियों के उदाहरण हैं।

1894 का भूमि अधिग्रहण राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पक्षों के बीच मतभेद का अधिक जीवंत उदहारण है। इस कानून द्वारा समर्थित सार्वजनिक हित स्पष्ट रूप से संविधान की अनुसूची में परिभाषित है। इस अनुसूची में दी गई गतिविधियों के लिए अधिग्रहीत भूमि अधिकांशतः सामान्य हैं अथवा किसी समुदाय या लोगों के समूह के लिए सामान्य संपत्ति होती है। यहाँ, "हित" की दो अवधारणाएँ हैं — एक राज्य द्वारा और दूसरी समुदाय द्वारा परिभाषित है — "राष्ट्र राज्य" की पहचान समुदाय के सांस्कृतिक अधिकारों के बलिदान पर आधारित है, संविधान के लिए एक राजनीतिक इकाई है — राष्ट्र राज्य। हालांकि सामान्यों में सामूहिक अधिकारों के दृष्टिकोण से, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र-राज्य की राजनीतिक पहचान दृढ़ रहती है बशर्ते सामान्य तथा सामुदायिक अधिकार/सांस्कृतिक अधिकार भी मजबूत और विस्तृत किए जाते हैं। ऐतिहासिक अनुभव बताता है कि गतिविधियों की सूची से वास्तव में, लोगों को लाभ कम और हानि अधिक हुई है। इस अनुभव को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र-राज्य की पहचान, जो भूमि अधिग्रहण कानून 1894 के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है और जिसे यह कानून दृढ़ करता है जिस पर कोई राष्ट्र-राज्य टिका रहता है — यह भूमि उसके लोग, उनकी संस्कृति और उनका समुदाय हैं।

इसलिए 1894 के इस कानून की दोबारा जाँच करना जरूरी है ताकि पूरक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों को परिभाषित करने के लिए राजनीतिक और सांस्कृतिक राष्ट्र के लिए हित की स्थितियाँ बनाना संभव हो सके। एक तरीका यह देखना है कि सांस्कृतिक अधिकार, राजनीतिक अधिकारों का आधार बन सकें। अब तक राजनीतिक "अधिकार" ने सांस्कृतिक अधिकारों का निर्धारण किया है। "स्वराज्य" के लिए यह एक आवश्यकता है।

1894 के कानून की इन मान्यताओं और आशयों का खुलना राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान, संविधान-सभा की बहस के माध्यम से आज के समय तक हुआ है और इससे सांस्कृतिक हित, राजनीतिक हित के अधीनस्थ रह गया है। सत्ता सार्थकता का एक प्रकार्य है; विचार तभी सार्थक होते हैं जब वे निश्चय का भाव पैदा करते हैं।

बॉक्स 19.2 : वनवासियों को मुख्यधारा की तुलना में समझना

वनवासियों की स्थिति को अब मुख्यधारा के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता है। तदानुसार, समान आचार संहिता के प्रश्न के स्थान पर सभ्य समाज की अवधारणा लाने की आवश्यकता है। इस सुझाव का मानना है : अब तक समान आचार संहिता का विचार मुख्यधारा तथा वनवासियों के बीच अंतर से प्राप्त हुआ है और समान आचार संहिता में सभ्य समाज शामिल नहीं है; इसके विपरीत यह मुख्यधारा के विचार को प्रोत्साहन देता है।

मूलभूत मान्यताओं को दर्शाने के लिए इतना कहना पर्याप्त होगा कि भारत के संविधान के अनुच्छेद में, जनजातियों को भारतीय लोगों की सूची में तब तक नहीं बताया गया है; उन्हें "अल्पसंख्यक" कहा गया है। आगे, इसी श्रृंखला में अनुच्छेद 25, 30(1), 25(2) बताते हैं :"सभी अल्पसंख्यकों, चाहे वे धर्म पर आधारित हों या भाषा पर, अपनी इच्छा से शैक्षिक संस्थान स्थापित करने और उसे चलाने का अधिकार है (अनुच्छेद 30(1))"। हालाँकि, एक ओर राज्य को धार्मिक प्रथाओं से संबद्ध आर्थिक, वित्तीय या किसी भी अन्य धर्मनिरपेक्ष गतिविधि को नियंत्रित करने या रोकने का अधिकार है (अनुच्छेद 25(2))। दूसरी ओर, राज्य "समाज कल्याण एवं सुधार उपलब्ध करवाएगा तथा सभी वर्गों और श्रेणियों के सार्वजनिक हित के हिंदू धार्मिक संस्थानों को खोलेगा (अनुच्छेद 252 (ख))।"

दूसरे शब्दों में, हिंदू धर्म पर कोई प्रश्न नहीं किया गया है; वह सार्वजनिक हित की उसी प्रकार पूर्ति करता है जिस प्रकार राज्य द्वारा भूमि का अधिग्रहण सार्वजनिक हित की पूर्ति करता है। इसलिए, वह एक नियम है जो सार्वजनिक हित को बढ़ावा देता है और इसलिए, यह राज्य का उत्तरदायित्व है कि इसे सभी लोगों के लिए समान रूप से उपलब्ध करवाए। यहाँ से समान आचार संहिता की विषयवस्तु प्राप्त होती है। हिंदू नियामक व्यवस्था के प्रति इस आचार संहिता की प्रवृत्ति की निंदा करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह अधिकार के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक पक्ष के बीच उपनिवेशी असमानता का साझीदार है; इन्हीं कारणों से यह धर्म तथा कार्य संस्कृति के बीच संबंध की उपेक्षा करता है और एक ऐसे सभ्य समाज की रचना करने के लिए आदान-प्रदान तथा सहयोग की प्रक्रिया में मदद करने, जहाँ सांस्कृतिक और सामाजिक परंपराएँ राजनीतिक और आर्थिक असमानता के साथ सह-अस्तित्व में रहती हैं, के स्थान पर, इसके विपरीत यह मतभेद बढ़ाता है और लोगों के सामाजिक जीवन में हिंसा तथा भय की स्थितियाँ पैदा करता है।

समस्या यह है : वे कौन-से सामाजिक प्रबंध हैं जो ऐसे सांस्कृतिक नियमों के उद्‌भव में मदद करते हैं जो अपनी सामाजिक प्रस्थिति के तर्क के आधार पर उन विरोधी बलों द्वारा अलग-थलग पड़े लोगों के बीच सहयोग और विनियम को प्रोत्साहन देते हैं, जो राजनीतिक तथा आर्थिक रूप से असमान जगत में सांस्कृतिक तथा सामाजिक भेदभावों से पैदा होते हैं। ऐसे सामाजिक प्रबंध सभ्य समाज की संरचना का एक महत्वपूर्ण अंग होते हैं।

19.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

फ्यूरर-हेमनडोर्फ, क्रिस्टोफ, 1992. *ट्राइब्स ऑफ इंडिया — दि स्ट्रगल फॉर सर्वाइवल*। दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992

घुर्रे जी.एस., 1963. *दि शिड्यूल्ड ट्राइब्स*, तीसरा संस्करण ("तथाकथित आदिवासी एवं उनका भविष्य" शीर्षक से पहले प्रकाशित, 1943)। बाम्बे : पापूलर प्रेस।

वशुम, आर., 2005 (2000). *नागाज राइट टू सेल्फ-डिटरमिनेशन : एन एंथ्रोपॉलिजीकल-हीस्टोरिकल पर्सपेक्टिव*। नई दिल्ली : मित्तल प्रकाशन (द्वितीय संस्करण)

अंत टिप्पणियाँ

1. अधिक जानकारी के लिए देखिए यूनिस रज़ा और ऐजाज़ुद्दीन अहमद। 1990. जनजातीय भारत की एटलस। नई दिल्ली, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी।

2. कम से कम 92 जिलों में, 95 प्रतिशत से भी अधिक जनजातीय श्रमिक खेती, कृषीय श्रम, मत्स्य उद्योग, शिकार जैसे प्राथमिक आर्थिक गतिविधियों तथा अन्य संबद्ध गतिविधियों और खनन आदि में लगे हुए हैं। वे मध्य-भारतीय जनजातीय पट्टी पर एक समवर्ती समूह बनाते हैं। इस क्षेत्र में राजस्थान तथा महाराष्ट्र प्रत्येक में 11 जिले, मध्य प्रदेश में 28 समवर्ती जिले, आंध्र प्रदेश और बिहार प्रत्येक में 6 जिले, पश्चिम बंगाल में 3 जिले तथा उड़ीसा में 1 जिला है। (मूनिस रज़ा 1990 : 381-82)।

3. भाषिक क्षेत्रों को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है : ऑस्ट्रो-एशियाई परिवार क्षेत्र में दो विभाजन हैं, मॉन खेर तथा मुंडा। तिब्बती-चीनी में दो विभाजन हैं, तिब्बती-हिमालयाई तथा तिब्बती-बर्मी। तीसरा द्रविड़ाई परिवार क्षेत्र है। चौथा द्रविड़ाई-मुंडा क्षेत्र है। पाँचवां भारतीय-आर्य क्षेत्र है और छठा आर्य-द्रविड़ क्षेत्र है। (मूनिस रज़ा 1990 : 40-42)।

4. मूतिस रज़ा। 1990 : 226.

5. एल्विन : लॉस ऑफ नर्व (0)।

6. जी.एस. घुर्रे। अनुसूचित जनजातियाँ तृतीय संस्करण (प्रथम "तथाकथित आदिवासी एवं उनका भविष्य" प्रकाशित, 1943) पापुलर प्रेस, मुंबई 1963 (पृष्ठ 173)।

7. जी.एस. घुर्रे। अनुसूचित जनजातियाँ तृतीय संस्करण (प्रथम "तथाकथित आदिवासी एवं उनका भविष्य" प्रकाशित, 1943)। पॉपुलर प्रेस, मुंबई 1963 (पृष्ठ 24)।

8. जी.एस. घुर्रे। अनुसूचित जनजातियाँ तृतीय संस्करण (प्रथम "तथाकथित आदिवासी एवं उनका भविष्य" प्रकाशित, 1943)। पॉपुलर प्रेस, मुंबई, 1963 (पृष्ठ 23)।

9. पारिस्थितिकीय रोमानीवाद के विरुद्ध अर्चना प्रसाद, वेरियर एल्विन तथा मेकिंग आफ ऐन्टी मार्डर्न ट्राइबल आइडेंटिटी, दिल्ली, थ्री एस्सेस कलेक्टिव 2003 (पृष्ठ 91-92)।

10. (घुर्रे 1944 तथाकथित आदिवासी एवं उनका भविष्य)।

11. क्या भूरिया समिति की रिपोर्ट ने जनजातीय वनवासियों की जीवन-परिस्थिति को संबोधित किया है? भूरिया समिति की रिपोर्ट यह तर्क देती है कि पंचायती राज कानून 1992 (भारतीय संविधान का 73वां संशोधन) का जनजातीय अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार स्वराज्य को बढ़ावा देगा और उसे मजबूत करेगा। यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि 73वाँ संशोधन (पंचायती राज कानून 1992), भूरिया समिति द्वारा सुझाए गए कुछ

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सुधारों के साथ क्या भारत के विभिन्न भागों में जनजातिगत वनवासियों के बीच स्व-शासन और स्व-राज्य को बढ़ाने हेतु उपयुक्त और पर्याप्त स्थितियाँ बना सकेगा। इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भूरिया समिति द्वारा बताया गया संवैधानिक ढाँचा क्या उन लोगों के परिवर्तित जीवन के लिए उपयुक्त और पर्याप्त है।

रिपोर्ट यह सुझाव देती है कि 73वें संशोधन को अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार देने के लिए निम्नलिखित सिद्धांतों का प्रयोग किया जा सकता है —

क) "परंपरागत जनजातीय प्रथाओं और नियमों की वैधता बनी रहनी चाहिए। यहाँ आधुनिक प्रणाली के साथ सामंजस्य में निरंतरता रहनी चाहिए। समिति ने महससू किया कि जनजातीय क्षेत्रों में नयी पंचायती राज संरचना बनाते समय पारंपरिक संस्थाओं को आधारशिला मानकर, जिन पर आधुनिक अतिसंरचना बनाई जाए, परंपरा को आधुनिकता के साथ मिश्रित किया जाना चाहिए (रिपोर्ट : पृष्ठ 6 (13.1))"।

ख) "भूमि अधिग्रहण कानून 1894 अव्यावहारिक आधारों पर बना हुआ है। कानून की मूलभूत कमियों को दूर करना होगा। इसके लिए स्थानीय ग्राम समुदाय की सहमति आवश्यक है। स्थानीय ग्राम समुदाय की सहमति से ही पुनर्वास पैकेज का संचालन होना चाहिए। रिपोर्ट पृष्ठ 9 वी"।

ग) "ग्राम सभा को पारंपरिक रूप से बताए गए विभिन्न कार्य करने चाहिए। विशेष तौर पर भूमि, वन, जल, वायु ... आदि ... का प्रबंधन। इसमें संसाधन भी होने चाहिए। इस अधिकार को ग्राम पंचायतों की कार्यशैली में स्वतः सिद्ध मानना चाहिए (रिपोर्ट : पृष्ठ 8 (21.ii))"।

यह रिपोर्ट एक ओर ग्राम सभा को प्राकृतिक संसाधनों पर स्वतः सिद्ध अधिकार देना चाहती है और दूसरी ओर यह भूमि अधिग्रहण कानून 1894 पर कोई प्रश्न न करके जनजातीय लोगों के आवास परिवर्तन की अनुमति देती है। यह विरोधाभास दर्शाता है कि ग्राम सभा के माध्यम से जनजातीय लोगों की भागीदारी दिखावा है, निरर्थक है तथा इसमें कोई दम नहीं है। रिपोर्ट में बताए गए प्रकार्य और शक्तियाँ अधिक नौकरशाही को जन्म देंगी। ऐतिहासिक अनुभव ने बताया है कि यह उन्हें केवल और अधिक दूर करेगा। यह रिपोर्ट को वैधता प्रदान करने वाले राष्ट्र-राज्य के बृहत् राजनीतिक ढाँचे की ओर ध्यान आकर्षित करता है। 1894 का यह कानून क्षेत्रीय और संपूर्णता नामक पक्ष को प्रचलित करता है। इस पर इस लेख के अन्य अध्याय में चर्चा की जाएगी।

इसमें संदर्भित "परंपरा" न तो स्पष्ट रूप से परिभाषित है और न ही उल्लिखित है। अनेक अध्ययन बताते हैं कि वन-कटाई, गरीबी और दूसरी संस्कृति को अपनाना वनवासियों के सामाजिक संदर्भ को परिभाषित करते हैं। संविधान-सभा के संविधान बनाते समय उनकी जीवन स्थिति की आज की उनकी मौजूद स्थिति के साथ तुलना स्पष्टतः दर्शाती है कि वनवासियों की कार्य की परंपरा पर आधुनिकता का दबाव बढ़ता जा रहा है : एक ओर वनों की कटाई है जो राजनीतिक रूप से केंद्रित औद्योगिक उत्पादन प्रक्रिया है जिसमें प्राकृतिक वनों का तेजी से ह्रास हो रहा है तथा इस दौरान उनकी प्रकृति तक पहुँच कम हो रही है तथा दूसरी ओर, संस्कृतिकरण तथा पाश्चात्यकरण है जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक पूंजी को नष्ट कर रहा है।

12. क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस। 1977. स्ट्रक्चरल एंथ्रोपॉलोजी खंड-II। मोनीक्यूलेटन द्वारा फ्रेंच से अनूदित। ग्रेट ब्रिटेन : एलेन लेन (पृष्ठ 313)।

13. जे.पी.एस. ऑबेरॉय। 1978. साइंस एण्ड कल्चर। दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

14. ए.आर. रेडक्लिफ-ब्राउन। 1958. मेथड इन सोशल एंथ्रोपॉलोजी। शिकागो : शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस (पृष्ठ 39-41)।

15. विंसेंट स्मिथ। दि ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चौथा सं., पर्सिवल स्पियर द्वारा संपादित। दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1981 (12वाँ छापा) (पृष्ठ 465)।

16. शिरीन मूसवी। भारतीय आर्थिक अनुभव 1600-1900 : एक मात्रिक अध्ययन। के.एन. पाणिकर, टेरेन्स जे. बाएरेस और उत्सा पटनायक द्वारा संपादित "मेकिंग ऑफ हिस्ट्री" एस्सेस प्रेसेंटेड टू इरफान हबीब। दिल्ली, तूलिका, 2000 (पृष्ठ 343)।

17. रोमिला थापर तथा माजिद हयात सिद्दीकी। छोटानागपुर : पूर्व-उपनिवेशी तथा उपनिवेशी स्थिति। आर.डी. मुंडा तथा संजय बासु मलिक में। झारखंड आंदोलन - भारत में स्वायत्तता के लिए स्वदेशी लोगों का संघर्ष, आई.डब्ल्यू.जी.आई.ए. दस्तावेज सं. 108. कोपेनहेगन, 2003 (पृष्ठ 44)।

18. विन्सेंट स्मिथ। ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया - चौथा सं. पर्सिवल स्पियर द्वारा संपादित। दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1981 (12वाँ छपा) (पृष्ठ 502)।

19. डेविड कॉफ। ब्रिटिश ओरियंटेलिज़म एंड दि बंगाल रेनिसांस — दि डायनामिक्स ऑफ इंडियन मार्डनाइज़ेशन 1773-1835. बर्कले, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969 (पृष्ठ 16)।

20. डेविड कॉफ। ब्रिटिश ओरियंटेलिज़म एंड दि बंगाल रेनिसांस — दि डायनामिक्स ऑफ इंडियन मार्डनाइज़ेशन 1773-1835. बर्कले, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969 (पृष्ठ 13)।

21. डेविड कॉफ। ब्रिटिश ओरियंटेलिज़म एंड दि बंगाल रेनिसांस — दि डायनामिक्स ऑफ इंडियन मार्डनाइज़ेशन 1773-1835. बर्कले, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969 (पृष्ठ 17)।

22. रोमिला थापर तथा माजिद हयात सिद्दीकी। छोटानागपुर : पूर्व-उपनिवेशी तथा उपनिवेशी स्थिति। आर.डी. मुंडा तथा संजय बासु मलिक में। झारखंड आंदोलन - भारत में स्वायत्तता के लिए स्वदेशी लोगों का संघर्ष, IWGIA दस्तावेज सं. 108. कोपेनहेगन, 2003 (पृष्ठ 44)।

23. इन समस्याओं पर काबू पाने के लिए उठाए गए कदमों ने अंग्रेजी पूर्वदेशीयता, उपयोगितावाद और ज्ञानमयी सामाजिक सिद्धांत।

24. शचि आर्य। जनजातीय सक्रियता विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशन्स। जयपुर तथा नई दिल्ली, 1998 (पृष्ठ 138)।

25. शचि आर्य। जनजातीय सक्रियता विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशन्स। जयपुर तथा नई दिल्ली, 1998 (पृष्ठ 137-167; 216)।

26. शचि आर्य। जनजातीय सक्रियता विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशन्स। जयपुर तथा नई दिल्ली, 1998 (पृष्ठ 151-152)।

27. (मेहता 1991 : 73 में उद्धृत)।

MAADHYAM IAS

28. (जान स्ट्रेक्थी। एम्ब्री 1989 : 9-13 में इंडिया लंदन 1888)। इस विचार की एक अन्य अभिव्यक्ति यह थी "असंख्य राजनीतिक उप विभाजनों का कारण, जो अंग्रेजी सत्ता द्वारा लाए गए एकत्रीकरण से पूर्व उपमहाद्वीप के इतिहास की विशेषता थी, निश्चित रूप से प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों, प्रथाओं तथा परंपराओं की विभिन्नता थी जिसके पास सर्वोच्च शक्ति थी फिर भी उसे राजनीतिक एकता बनाने में सफलता नहीं मिली और केवल कुछ ही वर्षों के लिए "जब कोई ऐसी ताकत नहीं थी, ये राज्य सैंकड़ों की संख्या में, निरंतर गतिशीलता की स्थिति में परस्पर विरोधी अणुओं की तरह हैं। ऐसी विस्मयकारी विषम गतिशीलता को किस प्रकार भारत के इतिहास की भाँति क्षणभंगुर क्षेत्रीय सैद्धांतिकता के इतिहास न होकर सुगम बना सकती है (एम्ब्री 1989 : 11)"
29. शचिर्य। जनजातीय सक्रियता-विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशंस। जयपुर तथा नई दिल्ली, 1998 (पृष्ठ 216)।
30. (फ्यूरर हेमेनदोफ 1992 : 38-39)
31. फ्यूरर हेमेनदोफ 1992 : 39
32. शचिर्य। जनजातीय सक्रियता-विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशंस। जयपुर तथा नई दिल्ली, (1998 (पृष्ठ 144-146)।
33. शचिर्य। जनजातीय सक्रियता-विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशंस। जयपुर तथा नई दिल्ली, (1998 (पृष्ठ 150)।
34. शचिर्य। जनजातीय सक्रियता-विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशंस। जयपुर तथा नई दिल्ली, (1998 (पृष्ठ 149)।
35. शचिर्य। जनजातीय सक्रियता-विरोध के स्वर। रावत पब्लिकेशंस। जयपुर तथा नई दिल्ली, (1998 (पृष्ठ 151)।
36. के.एस. सिंह। आर.डी. तथा एस. बसु मलिक में छोटानागपुर में जनजातीय स्वायत्तता आंदोलन। झारखंड आंदोलन - भारत में स्वायत्तता के लिए स्वदेशी लोगों का संघर्ष। IWIGIA दस्तावेज संख्या 108, कोपेनहेगन 2003 (पृष्ठ 91)।
37. प्रसाद 1994 : 249-250
38. प्रसाद 1994 : 250-251
39. (प्रसाद 1994 : 256-257)।
40. कैड खंड VII 19 नवंबर 1948 : 494
41. कैड खंड X 14 नवंबर 1949 : 495
42. कैड : पूर्व संदर्भ 496
43. कैड : पूर्व संदर्भ 498
44. कैड : पूर्व संदर्भ 499
45. कैड खंड IX 10 सितंबर 1949 : 1192, 1194-95
46. कैड खंड IX 10 सितंबर 1949 : 1200
47. कैड पूर्व संदर्भ 1218
48. कोसांबी 1986 : 2

MADHYAM IAS

इकाई 20

जनजातियों में सामाजिक विभेदीकरण

इकाई की रूपरेखा

20.1 प्रस्तावना

20.2 सामाजिक विभेदीकरण की परिभाषा

20.3 सामाजिक विभेदीकरण के प्रकार

20.4 सामाजिक विभेदीकरण का सोरोकिन द्वारा दिया गया वर्गीकरण

20.5 जनजातियों के बीच सामाजिक विभेदीकरण

20.6 निष्कर्ष

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित को समझ सकेंगे :

- सामाजिक विभेदीकरण की अवधारणा;
- सामाजिक विभेदीकरण की परिभाषा;
- सामाजिक विभेदीकरण के प्रकार;
- भारत में विशेष संदर्भ के साथ जनजातियों के बीच सामाजिक विभेदीकरण; और
- सामाजिक विभेदीकरण के विभिन्न सिद्धांतों तथा आधार जैसे, नातेदारी और वंश, लिंग, आयु, स्थान तथा अनुक्रम, व्यवसाय, शिक्षा, धर्म, भाषा तथा अन्य।

MADHYAM IAS way to achieve your dream

20.1 प्रस्तावना

अपनी सामाजिक प्रक्रियाओं तथा ऐतिहासिक प्रारम्ब में, सभी मनुष्य स्वेच्छा अथवा अनिच्छा से सदैव, किसी न किसी (मूलभूत) समूह के साथ संबद्ध रहे हैं। लोगों के सामूहिक प्रभाव उस समूह की प्रकृति और प्रकार को आकार देते हैं जिसमें वे रहते हैं। साथ ही, इस प्रकार गठित समूह व्यक्तिगत रूप से सदस्यों के कुल व्यवहार का निर्धारण करता है। इस प्रकार हमें एक-दूसरे से अलग लगने वाले व्यक्तित्व तथा समूह प्राप्त होते हैं। हमें सरल समतावादी समाज से लेकर अत्यंत स्तरित तथा जटिल समाज भी मिलते हैं। फिर भी समतावादी समाजों में, हमें भूमिका के विभेदीकरण तथा स्तरीकरणों के तत्व देखने को मिलते हैं। इस प्रकार के विभेदीकरण को, हम "सामाजिक विभेदीकरण" कहते हैं। सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया तब घटित होती है जब वंशागत तथा सामाजिक रूप से प्राप्त व्यक्तिगत मतभेदों का प्रयोग सामाजिक कार्यों की पूर्ति तथा सामाजिक स्थानों को भरने के आधार के रूप में किया जाता है।

सामाजिक विभेदीकरण एक बृहत् अवधारणा है। यह प्रभावी प्रक्रिया भी है। सामाजिक विभेदीकरण के परिणाम को दो तरीकों से देखा जा सकता है— "भूमिकाओं की जटिलता और सम्बद्ध प्रतिस्थितियाँ जिनमें सामाजिक संस्थाएँ भी शामिल हैं।" की तरह तथा "इन संस्थानों को प्रतिच्छेद करने वाली भूमिकाओं की तरह" (स्टेबिन्स 1987)। इनमें से कुछ

भूमिकाएँ हैं श्रम का विभाजन, सामाजिक विभेदीकरण, लिंग, आयु तथा मानव विज्ञान। ये भूमिकाएँ इन संस्थानों के केंद्र तथा बाहरी सिरों दोनों तरफ कार्य करती हैं। ये विभेदीकृत भूमिकाएँ दी गईं या प्राप्त की हुई हो सकती हैं।

ये प्रदत्त भूमिकाएँ जन्म से या किसी विशिष्ट आयु पर प्राप्त की हुई भी हो सकती हैं। लिंग, आयु, प्रजाति, राष्ट्रीयता, बहुसंख्यता तथा आयु दी गई भूमिकाओं के उदाहरण हैं। अर्जित भूमिकाएँ वे होती हैं जो व्यक्ति अपने जीवन काल में अर्जित कर लेता है। प्राप्त भूमिकाओं के उदाहरण अन्य चीजों के साथ हैं — सत्ता, लिंग, सामाजिक वर्ग तथा व्यवसाय। उदाहरण के लिए, व्यक्ति नारीवादी, प्रधानमंत्री, अमीर आदमी अथवा औरत की भूमिका को अर्जित करता है।

सामाजिक विभेदीकरण, श्रम विभाजन तथा सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणाओं से निकट से संबद्ध है। किंतु ये एक जैसी अवधारणाएँ नहीं हैं। इसलिए, स्पष्ट रूप से समझने के लिए इन अवधारणाओं के बीच के अंतर के लिए संक्षिप्त विवरण की आवश्यकता है। आधुनिक समाजशास्त्र में प्रायः सामाजिक विभेदीकरण को श्रम विभाजन से बड़ी अवधारणा के रूप में समझा जाता है। श्रम के सामाजिक विभाजन के विश्लेषण में, संपूर्ण ध्यान समाज के समूह और संगठनात्मक प्रकार्यों पर केंद्रित होता है। जबकि, सामाजिक विभेदीकरण के विश्लेषण में, अन्य बातों के साथ विसामान्यता (deviance) आयु तथा सामुदायिक प्रस्थिति जैसी पार-संगठनात्मक भूमिकाओं के पक्ष तक शामिल होते हैं।

सामाजिक विभेदीकरण को सामाजिक स्तरीकरण से अलग बताने के लिए स्तरीकरण को ऐसे अनुक्रम वाली प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सामाजिक असमानताएँ स्थापित होती हैं तथा प्रायः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को चली जाती हैं। सामाजिक स्तरीकरण के मॉडल जीवन में अवसर तथा उनका एक-दूसरे के साथ संबंध देखते हैं जो मुख्यतः वर्ग, लिंग, समुदाय, प्रजाति, व्यवसाय, आयु, मर्यादा, सत्ता, धर्म, राजनीति, स्थान आदि पर आधारित होते हैं। हालाँकि, सामाजिक विभेदीकरण की अवधारणा को सामाजिक स्तरीकरण से अधिक विस्तृत शब्द माना जाता है।

MADHYAMIKAS
'way to achieve your dream'

20.2 सामाजिक विभेदीकरण की परिभाषा

सामाजिक विभेदीकरण को विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। हम पहले कुछ परिभाषाएँ देखेंगे। आइसनस्टेट के अनुसार, सामाजिक विभेदीकरण "ऐसी स्थिति है जो प्रत्येक छोटी या बड़ी सामाजिक इकाई में मौजूद होती है क्योंकि विभिन्न विशेषताओं वाले लोग विभिन्न कार्य करते हैं तथा विभिन्न भूमिकाएँ निभाते हैं .... (कौन-से कार्य तथा भूमिकाएँ) अनेक तरीकों से निकट से अंतर्संबंधित होते हैं।"

रिज़र (1979) की सामाजिक विभेदीकरण परिभाषा के अनुसार यह एक "वंशानुक्रम पद्धति है जिसमें वंशागत तथा सामाजिक रूप से अर्जित व्यक्तिगत अंतर सामाजिक कार्यों को करने तथा सामाजिक स्थानों को भरने का आधार बनते हैं .... (जो प्रक्रिया) सामाजिक असमानता और सामाजिक स्तरीकरण का पूर्वगामी है।"

स्टेबिंस (1987) सामाजिक विभेदीकरण को ऐसे परिभाषित करता है कि यह "विस्तृत सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें लोगों के बीच आयु, लिंग, व्यक्तिक्रम, मानवजातीय और सामाजिक स्तरीकरण की भूमिकाओं के आधार पर भेद किया जाता है।"

सोरोकिन (1962, 1972) सामाजिक विभेदीकरण को दो मुख्य श्रेणियों के संदर्भ में परिभाषित करता है, अर्थात् अंतरासमूह विभेदीकरण (किसी समूह के अंतर्गत विभेदीकरण) और अंतरसमूह विभेदीकरण (दो अथवा अधिक समूहों के बीच विभेदीकरण)। उसके

अनुसार, अंतरासमूह विभेदीकरण, समूह के समूहों में विभाजन द्वारा प्रदर्शित होता है जो किसी समूह में भिन्न कार्य करते हैं। परिवार में पति एवं पत्नी के बीच श्रम का विभाजन अंतरासमूह विभेदीकरण का उदाहरण है। जब उपसमूहों को "उच्च" तथा "निम्न" या "श्रेष्ठ" तथा "हीन" के रूप में श्रेणीबद्ध किया जाता है तो अंतरासमूहों को स्तरित कहा जाता है। दूसरी ओर अंतरसमूह विभेदीकरण एक अधिक विस्तृत अवधारणा है जिसमें सामाजिक समूहों अथवा सामाजिक प्रणालियों के विभेदीकरण को दर्शाया जाता है। इन समूहों में हाई स्कूल फुटबाल क्लब जैसे छोटे सामाजिक समूह तथा विश्व धार्मिक संगठन जैसे बड़े सामाजिक समूह शामिल होते हैं।

हरबर्ट स्पेंसर (1967) का मानना है कि अपेक्षा सरलतर से अधिक जटिल समाजों की ओर किसी समाज के विकास की प्रक्रिया में, व्यक्तिगत घटक विभेदीकृत हो जाते हैं किंतु वे परस्पर अंतर्निर्भर होते हैं। सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया के प्रकार्यात्मक सिद्धांत पर, स्पेंसर (1967 : 8) का मत है :

"जैसे-जैसे (समाज का) विकास होता है, उसके घटक भिन्न हो जाते हैं : यह संरचना में वृद्धि को दर्शाता है। इसके भिन्न अंश एक साथ एक समय पर भिन्न प्रकार की गतिविधियों में शामिल हो जाते हैं। ये गतिविधियाँ केवल भिन्न नहीं होती बल्कि इनके अंतर इस प्रकार संबंधित होते हैं कि वे एक-दूसरे को संभव बनाते हैं। इस प्रकार दी गई विपरीत सहायता के कारण अंशों के बीच परस्पर निर्भरता बनती है और ये परस्पर निर्भर अंश एक-दूसरे के साथ रहते हुए संपूर्ण तत्व बनाते हैं जो किसी व्यक्तिगत जीव वाले सामान्य सिद्धांत पर गठित होता है।"

20.3 सामाजिक विभेदीकरण के प्रकार

सामाजिक विभेदीकरण को अनेक तरीकों से श्रेणीबद्ध किया गया है। यहाँ हम कुछ ऐसे वर्गीकरणों को देखेंगे जो समाजशास्त्रीय साहित्य में पाए जाते हैं। समाज में "श्रम के विभाजन" की अवधारणा के विषय में दुर्खिम का मानना है कि यह एक प्रकार का सामाजिक विभेदीकरण है। वइ इस घटना को समाज में मौजूद एकता की प्रकृति के साथ समझाता है। वह समाज में दो प्रकार की एकता बताता है, अर्थात्, यांत्रिकीय एकता तथा जैविक एकता। यांत्रिकीय एकता का अर्थ उस घटना से है जो सामान्यतः छोटे और अशिक्षित समाजों में देखी जाती है जिनमें मूल्यों, आस्था एवं व्यवहार, परंपरा तथा नातेदारी के प्रति वफादारी, साधारण श्रम का विभाजन तथा भूमिकाएँ, प्रकार्यों में थोड़ी विशेषज्ञता और व्यक्तिगतता की थोड़ी सहनशीलता होती है। दूसरी ओर, जैविक एकता वह सामाजिक एकता है जो आधुनिक औद्योगिक समाज में पाई जाती है जिसमें एकता जटिल श्रम विभाजन, सहयोग तथा अत्यधिक विशेष भूमिकाओं और प्रकार्यों पर आधारित है। जीवविज्ञानी जीवाश्म के प्रकार्यात्मक एकता के साथ समरूपता के कारण इस प्रकार की एकता "जैविक एकता" कहलाती है।

स्वालास्तोगा (1988) चार मुख्य प्रकार के रूप बताते हैं। ये हैं :(1) 'प्रकार्यात्मक विभेदीकरण अथवा श्रम का विभाजन; (2) स्थान विभेदीकरण; (3) प्रथा विभेदीकरण; तथा (4) प्रतिस्पर्द्धा विभेदीकरण। स्वालास्तोगा के अनुसार, प्रकार्यात्मक विभेदीकरण उसी सीमा तक होता है कि लोग भिन्न कार्य या व्यवसाय करते हैं। समाज में स्थान विभेदीकरण वांछित सामान और सेवाओं, प्रस्थिति, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि के विभेदीकृत वितरण के मूलभूत प्रकृति सभी ज्ञात मानव समाजों और पशु समाजों में पाई जाती है। प्रथा विभेदीकरण से आशय किसी परिस्थिति से प्राप्त हुए परिणाम से है जहाँ उपयुक्त व्यवहार के नियम एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रतिस्पर्द्धात्मक विभेदीकरण उस सीमा तक होता है कि किसी एक समूह की सफलता के कारण अन्य समूह असफल होते हैं।

सोरोकिन (1962; 1972) द्वारा दिया गया सामाजिक विभेदीकरण का वर्गीकरण सर्वाधिक संपूर्ण वर्गीकरणों में से एक है। वह सामाजिक विभेदीकरण को "एकबंद" और "बहुबंद" समूहों में वर्गीकृत करता है। निम्नलिखित में, हम उसके वर्गीकरण को देखेंगे ताकि सामाजिक विभेदीकरण के कथन की विषय वस्तु का हमें प्रर्याप्त ज्ञान हो सके।

20.4 सामाजिक विभेदीकरण का सोरोकिन द्वारा दिया गया वर्गीकरण

सोरोकिन द्वारा दिए गए सामाजिक विभेदीकरण के वर्गीकरण को निम्न प्रकार से सरल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सोरोकिन सामाजिक विभेदीकरण को दो मुख्य श्रेणियों में उनके बंद और विभेदीकरणों के आधार पर वर्गीकृत करता है।

i) **एकबंद समूह**

एकबंद समूह वे होते हैं जिनके सदस्य किसी एक मुख्य मूल्य या रुचि से बंधे रहते हैं। ये मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं —

क) जैवसामाजिक मूल्यों के आधार पर प्रबंधित (अर्ध प्रबंधित या प्रबंधित जैसे) समूह जैसे, (1) प्रजाति; (2) लिंग; (3) आयु

ख) विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर प्रबंधित (अर्धप्रबंधित या प्रबंधित जैसे) समूह, जैसे,

1) नातेदारी समूह;
2) समूह जैसे, पड़ोस, क्षेत्रीयता पर आधारित;
3) भाषा, संस्कृति और इतिहास के समुदाय पर आधारित राष्ट्रीय और मानव जाति समूह;
4) राज्य (यानी, सरकारी) समूह;
5) व्यवसाय संबंधी समूह;
6) आर्थिक समूह;
7) धार्मिक समूह;
8) राजनीतिक समूह;
9) वैचारिक तथा सांस्कृतिक समूह (विज्ञान, दर्शनशास्त्र, कला, व्यवहार, शिक्षा खेल-कूद, आदि);
10) छोटा समूह जिसमें विशिष्ट लोग हों (विद्वान पुरुष अथवा महिला, विख्यात नेता और ऐतिहासिक व्यक्ति)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ii) **बहुबंद समूह**

ये समूह दो या उससे अधिक एकबंद मूल्यों के संयोजन से बनते हैं :

क) मुख्य पारिवारिक संरचनाएँ (एक जैसे सभी परिवारों का साथ होना);

ख) वंश एवं जनजातियाँ;

ग) राष्ट्र;

घ) जातियाँ;

ड.) सामाजिक व्यवस्थाएँ; (सत्ता वर्ग)

च) सामाजिक वर्ग।

सोचें और करें 20.1

सोरोकिन द्वारा दिए गए सामाजिक विभेदीकरण के वर्गीकरण पर चर्चा कीजिए।

20.5 जनजातियों के बीच सामाजिक विभेदीकरण

जनजातियों के बीच सामाजिक विभेदीकरण मुख्य रूप से वंश समूहों, लिंग, और आयु पर आधारित होता है। जनजातियों के बीच सामाजिक विभेदीकरण सभी समाजों (जनजातियों) के लिए समान नहीं होता है। जनजातियों में उनकी सामाजिक व्यवस्था, प्रथा और आस्था तंत्र के अनुसार सामाजिक विभेदीकरण में भेद होते हैं। मातृ वंशागत समाज की पद्धतियाँ और प्रथाएँ पितृ वंशागत समाज से भिन्न होती हैं। मातृ वंशागत और पितृ वंशागत समाजों में विभेदीकरण के तरीकों में भी अंतर होता है। इसलिए, जनजातियों के बीच विभेदीकरण पर विचार करते समय इसको एक रूप प्रतिमान विचारणीय नहीं होते, इसमें समानता का अर्थ नहीं है। निम्नलिखित में, हम जनजातियों के बीच विभेदीकरण के कुछ प्रकारों पर विशेष रूप से भारत के संदर्भ में चर्चा करेंगे।

i) नातेदारी तथा वंश समूहों के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

जनजातीय समाजों में नातेदारी और वंश समूह सामाजिक विभेदीकरण के सबसे मूलभूत तथा महत्वपूर्ण आधार हैं। व्यक्ति की प्रस्थिति, उसके अधिकार तथा कर्तव्य मुख्यतः नातेदारी और वंश पद्धतियों द्वारा निर्धारित होते हैं। इसे प्रदत्त भूमिकाओं तथा प्रस्थितियों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। प्रदत्त भूमिकाओं तथा प्रस्थितियों का यह आशय जनजातीय लोगों के परंपरागत जीवन के लिए पूर्णतः आवश्यक है।

नातेदारी उन लोगों को दर्शाती है जो खून या विवाह के रिश्ते से जुड़े हैं। रिवर्स (1914) के शब्दों में नातेदारी "जीवविज्ञानी संबंधों की सामाजिक मान्यता" है। जन्म या खून द्वारा संबंधित सदस्यों को रक्त संबंधी (consanguineal) (एक व्यक्ति/सजात वालों के) संबंधी कहते हैं और विवाह द्वारा संबंधित सदस्यों को वैवाहिक संबंधी (व्यक्ति के/वैवाहिक स्वजन) कहते हैं। नातेदारी के तंत्रों से लोगों को संबंधियों, उनके अधिकारों तथा आवश्यकताओं की विभिन्न श्रेणियों के बीच अंतर बताने में मदद मिलती है और लोगों को सामाजिक समूह या नातेदारी समूह बनाने में सहयोग मिलता है। वंश का एक थोड़ा संकुचित शब्द है जिसका अर्थ संस्कृति के उन नियमों से है जो व्यक्ति के माता-पिता से उसके संबंधों को स्थापित करते हैं। वंश समूह उन रिश्तेदारों के सामाजिक समूह हैं जिने सदस्य/वंशज एक ही पूर्वज से रेखीय रूप से संबधित होते हैं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की प्रस्थिति, कमोवेश, अनुवांशिकीय संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। प्राथमिक सामाजिक समूह के सदस्य नातेदारी से संबधित होते हैं।

नातेदारी की पद्धति मुख्य रूप से दो श्रेणियों में वर्गीकृत है — वर्गीकरणीय और विवेचनीय (मॉरगन, 1871 के बाद)। वर्गीकरणीय नातेदारी पद्धति, नातेदारों का विवरण शब्दावली द्वारा देने का तरीका है जिसके एक से अधिक अर्थ होते हैं और नातेदारी की सीमा भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, अपने परिवार से बाहर के लोगों के लिए शब्दावली का प्रयोग, जैसे "पिता", "माता", "भाई", "बहन" दूसरी ओर, विवेचनीय पद्धति, वह पद्धति है जिसमें विशिष्ट संबंधों के लिए विशिष्ट शब्द/शब्दावलियों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, "पिता", "माता", "भाई" और "बहन" जैसे शब्द, जो केवल अपने परिवार के सदस्यों के लिए प्रयोग किए जाते हैं।

वंश समूह मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं — एकरेखीय वंश समूह तथा सजातीय (अथवा अरेखीय) वंश समूह। एकरेखीय वंश उस समूह के लिए प्रयुक्त होता है जहाँ वंश पिता

या माता की ओर से देखा जाता है। पिता की ओर से देखे जाने वाले एकरेखीय समूहों को पितृवंशागत समूह कहते हैं तथा माता की ओर से देखे जाने वाले समूहों को मातृवंशागत समूह कहते हैं। एकरेखीय समूह फिर से चार प्रकार के होते हैं : वंश ....., गोत्र, फ्रेटरी सभाग और अर्धांशवंश ..... । आकार के आधार पर इन चारों को कम से अधिक के क्रम में इस प्रकार लगाया जाता है, वंश, गोत्र, फ्रेटरी अर्थवंश द्विअंशक वंश।

वंश का अर्थ उस एकरेखीय वंश समूह से है जिसमें वंश को दस लगातार पीढ़ियों तक देखा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं— पितृवंश (पुरुष की ओर से देखा गया वंश) और मातृवंश (स्त्री की ओर से देख गया वंश)। कुछ समाजों में, वंश में विभाजन (उप-विभाजन) और उनके फिर उप-विभाजन भी होते हैं। गोत्र ऐसा एकरेखीय वंश समूह है जिसमें प्रायः दस या अधिक पीढ़ियाँ होती हैं। किसी वंश के सदस्य मानते हैं कि वे एक ही पूर्वज के वंशज हैं। कुछ जनजातीय समाजों में, ऐसे वंश होते हैं जिनके दो या अधिक वंशानुक्रम होते हैं।

फ्रेटरी में दो या अधिक गोत्र होते हैं। भारत में, फ्रेटरी मुख्यतः उत्तर-पूर्व हिमालय क्षेत्र और मध्य क्षेत्र की जनजातियों में पाए जाते हैं। आओ नागा, राजकोंड तथा मुरिया कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनमें फ्रेटरी पद्धति होती है।

बॉक्स 20.1 : भारत में सामाजिक विभेदीकरण के नमूने (Models)

भारत में सामाजिक विभेदीकरण के रूप की प्रकृति पर कोई सहमति नहीं हुई है। ऐसा भारत में जनजातीय सामाजिक संरचनाओं के विभिन्न प्रकारों के कारण है। हालाँकि, कुछ ऐसे रूप हैं जो भारत के जनजातीय समाजों में अधिक प्रचलित हैं। मानवविज्ञानियों ने निम्नलिखित प्रचलित मॉडल बताए हैं —

टी.सी. दास (1953) ने सुझाव दिया है कि भारत में जनजातीय संगठन सात प्रकार के हैं। इस वर्गीकरण का आधार क्षेत्रों या इकाइयों में अंतर है। इन सात प्रकारों को निम्नलिखित प्रकार से दर्शाया जा सकता है :

1) परिवार - स्थानीय समूह - जनजाति
2) परिवार - गोत्र - जनजाति
3) परिवार - अर्धवंश - जनजाति
4) परिवार - गोत्र - phratries - जनजाति
5) परिवार - गोत्र phratries - अर्धवंश - जनजाति
6) परिवार - गोत्र - उप-जनजाति - जनजाति
7) परिवार - उप-गोत्र - शुद्रजातीय गोत्र अथवा चयनित गोत्र - जनजाति

किंतु दुबे (1971) का मानना है कि भारत में जनजातीय संरचना में परिवार, फिर गोत्र, phratries और अंत में जनजाति होती है। भारतीय जनजातीय संरचना के लिए, न्यूनतम क्षेत्र में चार क्षेत्र होते हैं, अर्थात्, व्यक्तिगत परिवार, गोत्र या स्थानीय समूह वाले परिवार और जनजाति वाले गोत्र।

अर्धवंश (फ्रेंच, *मोइती*, अर्ध) में दो एकरेखीय वंश समूह होते हैं। उदाहरण के लिए, मणिपुर के मोयोन नागाओं में इस प्रकार की अर्धवंश प्रणाली होती है। इसे "दोहरा संगठन" भी कहते हैं। ये विजातीय, अजातीय या सजातीय हो सकते हैं। यह प्रणाली अनेक भारतीय जनजातियों में पाई जाती है जैसे, तमिलनाडु में नीलगिरी पहाड़ों के टोडा, उत्तर-पूर्वी

क्षेत्र के नागा (आओ, अनल, मोयोन और मोनसेंग आदि) मध्य हिमालय क्षेत्र के थारस और पूर्वी क्षेत्र (उड़ीसा में) के बोंडोस। अनल नागाओं में समाज/जनजाति दो विजातीय हिस्सों (अर्धवंशों) — *मोचल* और *मोशम* — में विभाजित है। एक ही अर्धवंश समूह के सदस्य परस्पर विवाह नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक अर्धवंश में phratries होते हैं। आओ नागाओं में अजातीय प्रकार का अर्धवंश होता है। आओ जनजाति के दो अर्धवंश — *मोंगसेन* तथा *चुंगली* फिर से अनेक गोत्रों में विभाजित होते हैं। गोत्र के स्तर पर, विजातियता की प्रणाली होती है।

ii) लिंग के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

सामाजिक विभेदीकरण का सबसे मूलभूत आधार मनुष्यों का पुरुषों और स्त्रियों में जीवविज्ञानी विभाजन है। प्रत्येक समाज में लिंग के आधार पर भूमिकाओं का विभाजन होता है। स्त्री का अधिकांश श्रम तथा समय घर के काम-काज में व्यतीत होता है। यह मुख्यतः इसलिए है क्योंकि स्त्रियाँ बच्चों को पैदा करती हैं, उन्हें दूध पिलाती तथा पालती हैं। जैसा कि हम अनेक समाजों में देखते हैं, महिलाएँ प्रायः हलके-फुलके कार्य करती हैं तथा भारी काम पुरुष करते हैं क्योंकि पुरुष, महिलाओं से अधिक बलवान होते हैं। हालाँकि, इनमें से कुछ बातें कुछ समाजों के लिए गलत हो सकती हैं वहाँ महिलाएँ शारीरिक श्रम में भी पुरुषों से अधिक कार्य करती हैं जबकि पुरुष अनेक क्षेत्रों में महिलाओं पर निर्भर रहते हैं।

कुछ कृषक समाजों में, जहाँ लोगों को उनका भोजन तथा अन्य आवश्यकता की पूर्ति अपने वातावरण से होती हैं महिलाओं के पास कृषि तथा घरेलू भूमिकाओं का काफी बड़ा हिस्सा होता है। महिलाएँ बच्चे पैदा करती हैं और उन्हें पालती हैं, घरेलू काम करती हैं, जैसे खाना बनाना, खाना परोसना, खेतों में काम करना, पानी लाना, ईंधन की लकड़ी लाना, धरती साफ करना, पौधे उगाना, फसल को काटना तथा भंडारों में भरना। वह सब्जियाँ और फसलें, अपने घरों के पास उगाती हैं। कुछ महिलाएँ इस उपज को पास के बाजार अथवा गाँव के बाजारों में भी बेचती हैं। इस प्रकार, महिलाएँ पूरे वर्ष प्रतिदिन किसी न किसी काम में लगी रहती हैं। यह कार्य अत्यधिक व्यस्ततापूर्ण होते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

पुरुष प्रायः भारी काम करते हैं जो घर से बाहर होते हैं जैसे युद्ध, शिकार, मछली पकड़ना और गाएँ आदि चराना। घर के निकट, वे लकड़ी काटना, हल चलाना, वन काटना और नहरें आदि बनाने का कार्य करते हैं। पुरुष बढ़ईगिरि, व्यापार और वाणिज्य के काम से भी जुड़े हैं। घर में, पुरुष अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से जुड़े फैसले लेते हैं। पुरुष गाँव की नीतियाँ तथा कानून बनाते हैं। वे गाँव के निर्णयकर्ता भी होते हैं। यही परंपरा परिवार में भी रहती है जहाँ पति परिवार में मुख्या होते हैं और परिवार के सभी निर्णय लेते हैं। पुरुष गाँव का प्रशासन भी संभालते हैं। महिला को गाँव के परिषद या प्रशासन का हिस्सा बनने की अनुमति नहीं है।

श्रम के कई क्षेत्रों में पुरुषों और महिलाओं की भूमिकाएँ *ये अतिव्याप्ति* होती हैं। उदाहरण के लिए, महिलाएँ नदी में मछलियाँ पकड़ती हैं। वे झूम खेती के लिए वन की कटाई का काम भी करती हैं। महिलाएँ सिंचाई के लिए नहरों के काम में भी लगी हैं। इसी प्रकार, पुरुष भी ईंधन की लकड़ी लाते हैं तथा बुवाई तथा कटाई में सहयोग देते हैं।

ऐसे सामाजिक विभेदीकरण के अतिरिक्त, हम अनेक जनजातीय समाजों में, लिंग के आधार पर पृथक्करण देखने को मिलता है। उदहारण के लिए, तंगखुल नागाओं (उत्तर पूर्व भारत तथा उत्तर पश्चिमी म्यानमार में स्थित) के बीच लड़के और लड़कियों के लिए युवा विश्राम तंत्र हैं जिन्हें मायरलोंग (लड़कों के लिए विश्राम गृह) तथा शानाओलोंग (लड़कियों के लिए विश्राम गृह) कहते हैं।

iii) आयु के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

सभी समाजों में आयु के आधार पर जनसंख्या का विभाजन होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की किसी भी समय पर शारीरिक तथा मानसिक क्षमता और परिपक्वता समान नहीं होती है। मानव विकास की अवस्थाएँ होती हैं — बचपन से लेकर बड़े होने तक और फिर वृद्ध होने तक। जो कार्य एक वयस्क कर सकता है, बच्चा उस कार्य को नहीं कर पाता है। इसी प्रकार, वृद्ध लोग भी वे कार्य नहीं कर पाते हैं जो कोई युवा कर सकता है। इस प्रकार, हमें युवा लोगों पर बच्चों और वृद्ध लोगों की निर्भरता का विचार प्राप्त होता है।

जनजातियों में, कमोवेश, जीवन की अवस्थाओं की प्रक्रिया होती है। एक बालक को जीवन के अगले चरण यानी युवावस्था में प्रवेश करने के लिए कुछ रीति-रिवाजों का पालन करना पड़ता है। रीति का अर्थ समुदाय द्वारा लड़के तथा लड़कियों की औपचारिक मान्यता है ताकि वे समाज की परंपराओं और प्रथाओं के अनुसार वयस्क की भूमिका निभा सकें। ऐसी प्रथा को प्रायः "मार्ग प्रथा" कहते हैं। नागाओं के बीच आयु वर्ग विभेदीकरण के उत्तम उदाहरण हमें मिलते हैं। बॉक्स 1.2 में, हम नागाओं के बीच आयु तथा लिंग आधारित विभेदीकरण देखेंगे। अन्य भारतीय जनजातियों में भी लगभग ऐसी ही पद्धतियाँ पाई जाती हैं (यहाँ उनकी चर्चा नहीं है)।

बॉक्स 20.2 : नागा शयनागार पद्धति

नागा शयनागार पद्धति एक परंपरागत शिक्षा संस्थान है जो आयु तथा लिंग पर आधारित है। दो प्रकार के शयनागार होते हैं — लड़कों का शयनागार और लड़कियों का शयनागार। किंतु सामान्यतः, हम एक ही शयनागार पद्धति पाते हैं जिसमें दोनों प्रकार की पद्धतियाँ होती हैं। किसी पद्धति का हिस्सा/सदस्य बनने के लिए, व्यक्ति को आयु के कुछ मापदंड पूरे करने होते हैं। तंगखुल नागाओं में, इस पद्धति को लोंग (लड़कों के शयनागार को मायारलोंग; लड़कियों के शयनागार को शनाओलोंग) कहते हैं। आओ नागा इन्हें अरिचू कहते हैं। निम्नलिखित में, हम आयु समूह पद्धति था आओ नागाओं की अरिचू पद्धति देखेंगे।

आओ नागाओं की एक परंपरा थी जिसमें, एक युवा बालक (विशेषकर नर बालक) को वयस्क बनने के लिए कुछ प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता था। लगभग 15 वर्ष की आयु प्राप्त करने वाले लड़के को अरिचू पद्धति में स्वयं को पंजीकृत करवाना होता था। इस पद्धति में प्रवेश से पूर्व, लड़के को अपने माता-पिता तथा दादा-दादी से मूलभूत ज्ञान अर्जित करना होता था। प्रायः पाँच से सात आयु वर्ग अथवा अवस्थाएँ होती हैं।

अरिचू पद्धति की पहली अवस्था जूइर है। यह शारीरिक परीक्षण की अवस्था है जिसमें नए लोगों के लिए काफी कठिन प्रशिक्षण होता है। तेनापांग याँगा आयु वर्ग (अर्थात् युवा आयु) दूसरी अवस्था है। इनका मुख्य कार्य छोटे सदस्यों को सिखाना है। अधिकांश सदस्य इस अवस्था पर विवाह कर लेते हैं। तेकुमचेत याँगा अथवा तेपुइजुँगा तीसरी अवस्था है जहाँ सदस्य अपनी संस्था के मालिक बन जाते हैं। इन्हें कठिन कार्य तथा सजा से छूट होती है। जुज़ेन अथवा चुज़ेज (परिपक्व अवस्था) आयु वर्ग में वरिष्ठ सदस्य होते हैं। वे अरिचू पद्धति की संपूर्ण स्थिति की देखभाल करते हैं। पेनेर अथवा बेंचा आयु वर्ग (वृद्ध आयु वर्ग) इस पद्धति की अंतिम अवस्था है। इसके बाद से, कोई सदस्य गाँव के प्रशासन संबंधी मामलों में हिस्सा ले सकता है। अरिचू से बाहर निकलने वाले किसी भी व्यक्ति को इतना सक्षम माना जाता है कि वह किसी भी ऐसी जिम्मेदारी को निभा सकता है जिसकी किसी औसत आओ व्यक्ति से अपेक्षा हो सकती है।

(**संदर्भ** : इमचेन, 1993 : वशूम 2000)

अनेक समाजों में, वयस्कावस्था के दौरान "विवाह" एक और महत्वपूर्ण अवस्था है। समाज द्वारा अन्य बातों के अतिरिक्त विवाहित व्यक्ति से कुछ ऐसी भूमिकाओं को निभाने की अपेक्षा की जाती है जो आवश्यक नहीं होतीं और अविवाहित लोगों से अपेक्षित नहीं होती है। नागाओं में, कोई व्यक्ति विवाह द्वारा ही ग्राम परिषद में सदस्यता के योग्य हो पाता है।

iv) स्थान तथा अनुक्रम के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

जनजातीय जगत् में, कुछ सदस्यों और/अथवा परिवारों को वंशानुक्रम के आधार पर मान्यता दी जाती है। वंश के आधार पर उनकी प्रस्थिति निर्धारित होती है। विभेदीकरण की यह अवधारणा "स्थान" पद्धति कहलाती है। समाज में यह अवधारणा एक प्रकार के अनुक्रम का संदर्भ देती है जहाँ कुछ वंश अन्य वंशों से श्रेष्ठ माने जाते हैं तथा उन्हें कुछ विशेष सम्मान, प्रस्थिति एवं अधिकार प्राप्त होते हैं।

अनेक समाजों में, उच्च कुल के सदस्यों को "शाही" खानदान का माना जाता है तथा निचले कुल वालों को सामान्य समझा जाता है। किंतु सामान्य लोगों में भी कोई अनुक्रम हो सकता है। नागाओं में, कमोवेश, गाँव के मुखिया की सर्वश्रेष्ठ प्रस्थिति होती है। गाँव का मुखिया होने के अतिरिक्त, उसे कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त होते हैं जैसे खेती के काम अथवा समय-समय पर मकान के निर्माण में गाँव वासियों की मुफ्त तथा स्वयं सेवा। पुनः किसी गोत्र या phratry के परिवारों में भी, वंशजों की वरीयता के आधार पर परिवार की स्थिति का निर्धारण होता है। कोनयाक नागा सामाजिक स्थान पद्धति का उपयुक्त उदाहरण है। इस प्रकार का स्थान-निर्धारण उप-हिमालयी क्षेत्र के भूतिया तथा थरुस, आंध्र प्रदेश के अंध आदि में भी पाया जाता है।

थरुसों में, समुदाय (जनजाति) दो हिस्सों में विभाजित होती है — "श्रेष्ठ" तथा "निम्न"। श्रेष्ठ वर्ग में कुरी नामक अनेक सजातीय उप-विभाजन होते हैं। पाँच कुरी अर्थात् बाथा, बिर्तिया, दहैत, बदवैत और माततुम, जो समूह राणा ठाकुर कहलाता है, स्वयं को थारु समुदाय के अन्य समूहों से श्रेष्ठ मानती हैं। ये समूह परस्पर विवाह एवं भोज भी नहीं करते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आंध्र प्रदेश के अंध में भी समुदाय के भीतर अनुक्रम की अवधारणा होती है। बरताती तथा खलताती नामक दो उप-जनजाति वर्गों में, पहले वाला वर्ग, स्वयं को दूसरे से श्रेष्ठ मानता है। ये दोनों वर्ग भी परस्पर विवाह नहीं करते हैं।

v) व्यवसाय के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

जनजातीय समाजों में दो किंतु मिलते-जुलते तरीकों में भूमिकाओं के विभेदीकरण को हम समझ सकते हैं — परंपरागत और आधुनिक। परंपरागत अर्थ में, हम परिवार की भूमिका को मुख्यतः संसाधनों के उत्पादन तथा खपत पर आधारित महत्वपूर्ण घटक के रूप में देखते हैं। पारिवारिक पंरपरागत ढाँचे में व्यवसाय के संदर्भ में सामाजिक विभेदकरण, दोबारा, मुख्य रूप से लिंग, आयु, विशेषज्ञता तथा अन्य प्रस्थितियों जैसे पिता, माता, पुत्र या पुत्र आदि होने पर आधारित होता है। इस संदर्भ में, प्रत्येक से अपेक्षा होती है कि वह अपनी भूमिका को समाज के नियमों के अनुसार निभाए। हालांकि अनेक मामलों में, सदस्यों के व्यवसाय सुनिर्धारित नहीं होते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक व्यक्ति जो एक व्यवसाय में अच्छा है, वह अन्य व्यवसाय और भूमिकाएँ भी करता है। उदाहरण के लिए, एक किसान अच्छा कारीगर भी होता है तथा इसका विपरीत भी हो सकता है। इसी तरह, गाँव के स्तर पर भी, गाँव वालों द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ भूमिकाओं तथा प्रस्थितियों के संदर्भ में, भूमिका के विभेदीकरण होते हैं। गाँव के मुखिया से उसकी प्रस्थिति के अनुसार कुछ भूमिकाएँ निभाने की अपेक्षा की जाती है। उसे गाँव का संस्थापक तथा गाँव

का प्रथम नागारक माना जाता है। अपनी प्रस्थिति के कारण वह विशिष्ट भूमिकाएँ तथा प्रकार्य पूरे करता है। बदले में, उसे सम्मान मिलता है और गाँव की कुछ सेवाएँ दी जाती हैं, चाहे वे खेती के संबंध में हों तथा उसे देय कुछ अन्य सेवाएँ हों।

आधुनिक समय में, इन परंपरागत नियमों में से अनेक दिखाई नहीं देते हैं। पुरानी प्रथाओं के स्थान पर नई प्रथाएँ आ गई हैं। आधुनिक शिक्षा, आधुनिकीकरण, तथा व्यवसाय और विशेषज्ञता के विस्तार के आवश्यकता के कारण अधिक विस्तृत और विभेदीकृत भूमिकाओं तथा व्यवसायों की माँग पैदा हुई है। आज एक शिक्षित जनजातिगत व्यक्ति शायद ही कृषि या किसी अन्य पारंपरिक व्यवसाय में लगा दिखे। वह गांव से बाहर जाकर अपने लिए कोई अच्छा काम देखता है। ऐसे भी जनजातिगत लोग हैं जिन्होंने विदेश जाकर अच्छा धन कमाया है। ऐसे शिक्षित जनजातीय लोग जो धन कमाने के लिए अपने गाँव से बाहर चले गए, वे अपने जीवन और व्यवहार में परिवतर्न का अनुभव करते हैं। वे गाँव के जीवन से जितना अधिक दूर रहते हैं, उनकी संस्कृति तथा गाँव से संबंध टूटने की संभावना उतनी ही अधिक होती है। बहुत से ऐसे शिक्षित जनजातीय लोगों के लिए, गाँव की स्थितियाँ उनकी जीवन-शैली में अब उपयुक्त नहीं साबित होती हैं। यही बात अकुशल तथा अर्द्धकुशल कारीगरों के लिए भी सत्य है। इसलिए व्यवसाय के आधार पर विभेदीकरण भी आधुनिक जनजातीय स्थिति में अत्यधिक रूप से मौजूद है। व्यवसाय और पेशे के इस प्रकार के विभेदीकरण के कारण जनजातीय समाजों में भी एक प्रकार की वर्ग व्यवस्था उभर आई है।

vi) शिक्षा के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

आधुनिक समय में सामाजिक विभेदीकरण के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण घटक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि "शिक्षा" समकालीन जगत में सबसे प्रत्यक्ष रूप से व्यवसायिक उपलब्धियों अथवा अर्ध्वगामी व्यवसायिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। यह सत्य संसार के अन्य देशों में हुए अध्ययनों से प्रमाणित होता है जहाँ व्यवसायिक गतिशीलता तथा उपलब्धियाँ पर शिक्षा का प्रभाव "व्यवसायिक विरासत के प्रत्यक्ष प्रभावों से भी परे है" (रेमिराज़, एट आल 1980; पोर्टर, 1979)। हालाँकि, शिक्षा को निरपेक्ष और आत्मनिर्भर घटक नहीं समझा जाना चाहिए। शिक्षा सदैव वर्ग, जाति, प्रजाति और स्थान की पृष्ठभूमि से प्रभावित रही है। यह बात विश्व के विभिन्न भागों में रह रहे जनजातीय तथा स्वदेशी लोगों के संदर्भ में भी काफी सत्य है।

भारत में जनजातीय लोगों के बीच सामाजिक विभेदीकरण, कमोवेश, दर्शाता है कि बाहर जाकर जो शिक्षित जनजातिगत लोग अच्छी नौकरियाँ ढूँढते हैं, वे स्वयं को भिन्न परिस्थिति में पाते हैं जिसके कारण वे वातावरण में स्वयं को ढालते हैं और उसके नियमों और संस्कृति को अपनाते हैं। इस बीच, उन्होंने (जनजातिगत लोग) स्वयं मौलिक सामुदायिक जीवन से अलग पाया, चाहे वह आदत या व्यवहार या अन्य बातों के साथ संसार के प्रति दृष्टिकोण हो। यह प्रकृति उन जनजातिगत लोगों के साथ भी सत्य है जिन्होंने गाँव से बाहर काम किया और अब नई जगह बस गए हैं। इन शिक्षित जनजातीय लोगों के दूसरी पीढ़ी के बच्चों ने अपने समुदाय के अधिकांश सांस्कृतिक मूल्यों तथा नियमों को खो दिया है। ऐसे भी हैं जो अपने समुदाय से बिल्कुल अलग रहे हैं। इसलिए, जनजातीय लोगों में सामाजिक विभेदीकरण को प्रभावित करने वाला शिक्षा का तत्व अधिकांश जनजातीय क्षेत्रों में काफी प्रभावी हो गया है।

vii) धर्म के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

जनजातीय समाजों में, हम धर्म के आधार पर दो प्रकार का सामाजिक विभेदीकरण देखते हैं, जो "प्रदत्त" तथा "अर्जित" घटकों पर आधारित है। परंपरागत समाजों में, प्रदत्त स्थानों

तथा प्रस्थितियों के कारण हमें भूमिका विभेदीकरण देखने को मिलता है। इस प्रकार, का विभेदीकरण जनजाति से जनजाति में अलग-अलग होता है। हालाँकि, इसके पीछे सिद्धांत यह दर्शाता है प्रत्येक जनजाति कुछ सदस्यों, चाहे बड़े या छोटे, पुरुष या महिला, की भूमिकाओं को मान्यता देती है। उदाहरण के लिए, तंगखुल नागाओं में, गोत्र के मुखिया की धार्मिक जिम्मेदारियाँ होती हैं। इसी तरह, गाँव का मुखिया भी धार्मिक भूमिकाएँ निभाता है, चाहे वह कृषि चक्र आरंभ करना हो, बीज बोना हो, कटाई हो, आदि।

आधुनिक समय में, सामाजिक विभेदीकरण का तरीका काफी जटिल और जनजातीय समाजों में भी काफी भिन्न हो गया है। मौजूदा विभिन्न धार्मिक समूहों तथा संस्थाओं ने जनजातीय लोगों की भूमिकाओं और विभेदीकरण को विस्तृत कर दिया है। एक जनजातीय समूह भिन्न धर्म को मानने वाले दूसरे जनजातीय अथवा गैर-जनजातीय समूह से अलग होता है। एक ही धार्मिक समूह में भी, भिन्न संस्थानों और संप्रदायों ने सामाजिक विभेदीकरण पैदा कर दिया है। ईसाई जनजातिय लोगों में, विभिन्न मान्यताओं की चाहे वे रोमन केथोलिक, बेप्टिस्ट, मेथोडिस्ट, यीशु का गिरिजाघर, सप्त दिवस एड्विंटिस, आदि हों, समुदाय के बाहर और भीतर अपनी संस्थाएँ होती हैं। इसके कारण गाँव में भिन्न धार्मिक मान्यताओं वाली भिन्न संस्थाओं और संगठनों को बनाने की आवश्यकता पैदा हुई। बहु-मान्यतावादी गाँव या जनजाति विभिन्न संस्थाओं के अंतर्गत विभिन्न भूमिकाएँ और कार्य करती हैं। इस प्रथा के कारण विभिन्न धर्मों तथा/अथवा आस्थाओं के मानने वालों का सामाजिक विभेदीकरण हो जाता है। इसी तरह, बहृत् परिदृश्य में, कुछ तंत्रों का सामाजिक समूह, चाहे वे संप्रदाय, मान्यता या धर्म हो, अपने-अपने आस्था तंत्रों और धार्मिक पद्धतियों के अनुसार एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, ईसाई हिंदू से, सिख बौद्ध से, मुसलमान हिंदू से आदि भिन्न होता है। धर्म की असमानता के आधार पर इस प्रकार का सामाजिक विभेदीकरण जनजातिगत लोगों में भी होता है।

viii) भाषा के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जनजातीय समाजों में सामाजिक विभेदीकरण लाने में भाषा भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भाषा के अंतर के आधार पर इसमें कई ढंग देखे जाते हैं। यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि एक ही जनजातीय भाषा बोलने वाले लोग निकट लगते हैं क्योंकि वे स्वयं को इसी आधार पर जनजातिगत बंधु मानते हैं। हम अन्य मानदंडों के अतिरिक्त, भाषा के आधार पर सामाजिक समूहों का विभेदीकरण पाते हैं, चाहे वह जनजाति समुदायों के बीच हो या जनजाति और गैर-जनजातीय समुदायक के बीच।

किसी बहु-भाषिक स्थिति में समान जनजातीय समूह में भी सामाजिक विभेदीकरण होता है। कुछ ऐसे विभाजन हैं जो अन्य चीजों के साथ भाषाओं की समानता और असमानता के आधार पर होते हैं। वे मुख्यतः अपना संबंध तथा अपनी वफादारी अपने सांस्कृतिक तथा भाषिक क्षेत्र के साथ करते हैं। भाषा विभेदीकरण के अतिरिक्त, प्रत्येक गाँव के जीवन से संबंधित अपनी पहचान और मामले होते हैं। प्रत्येक गाँव का अपना स्व-शासित तंत्र (सरकार) होता है जो गाँव और गाँववासियों के कल्याण तथा सुरक्षा का ध्यान रखता है। वहाँ गाँव का मुखिया, विभिन्न गोत्रों के प्रतिनिधि तथा गाँव के आम लोग होते हैं। वे इस पद्धति को एक प्रकार के समाजवाद पर आधारित लोकतांत्रिक रूप से चल रही लघु-सरकार मानते हैं। तंगखुल नागा इस प्रकार की स्थिति का बहुत उपयुक्त उदाहरण है। इसलिए, भाषा और/अथवा बोली विभेदीकरण भी सामाजिक पृथक्करण तथा सामाजिक विभेदीकीरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ix) संगठन के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

जनजातीय समाजों में, एक प्रकार से दूसरी प्रकार के संगठन की संरचना मुख्यतः नातेदारी और संबंधों पर आधारित होती है। गोत्र संबंध, जो प्रायः एक या अधिक गाँवों में फैले हुए हैं, सामान्यतः अधिकांश समाजों में मौजूद हैं। ये संगठन मुख्यतः सहयोग और/अथवा किस भी परिस्थिति में सुरक्षा के लिए आरंभ किए गए हैं। जनजातीय समाजों का नातेदारी और संबंधों के उत्तरदायित्व के परे संबंध होता है जैसे कुछ लक्ष्यों तथा लाभ की प्राप्ति के लिए राजनीतिक संबंध और गठजोड़। लोग भी कुछ प्रतीकों को मानने तथा कुछ प्रथाओं में भाग लेने से किसी संगठन का हिस्सा बन जाते हैं। कभी-कभी, वे संप्रदाय संगठन भी कहलाते हैं क्योंकि ये सदस्य या अनुयायी किसी विशिष्ट देवता को संबोधित प्रथाओं में भाग लेते हैं। इन्हें "गुप्त समाज" भी कहते हैं क्योंकि दिव्य शक्तियों द्वारा जो दिव्य शक्ति या कला या ज्ञान वे प्राप्त करते हैं, मुख्यतः संगठन से बाहर सदस्यों के सामने नहीं बताई जाती है।

लिंग तथा आयु पर आधारित संगठन भी होते हैं। उदाहरण के लिए, धर्म निरपेक्ष और/अथवा धार्मिक उद्देश्यों के लिए भी महिला समाज होते हैं। आयु वर्ग के आधार पर भी, उत्तरपूर्वी भारत के अनेक जनजातीय समाजों में "युवा क्लब" नाम से अविवाहित पुरुषों और महिलाओं के लिए युवा संगठन होते हैं। फिर भी, कुछ समाजों में, वैवाहिक प्रस्थिति के आधार पर संगठन होते हैं। उदाहरण के लिए, तंगखुल नागाओं में, हमें "गहरलोंग" नामक विवाहित पुरुष संगठन देखने को मिलते हैं जिनका उद्देश्य गाँव के सामान्य कल्याण तथा विकास में सहयोग देना होता है।

लोग "क्रेडिट संगठन" या "कोपेरेटिव" के रूप में आर्थिक कारणों से भी संगठन चलाते हैं। पद्धति के अनुसार, संगठन के सदस्य समय-समय पर एक निश्चित राशि देते हैं और बारी-बारी से लॉटरी के आधार पर पैसा लेते हैं। मणिपुर के जनजातीय लोगों में, इस पद्धति को "अरूप" (यानी "दोस्ती" या "सहयोग") कहते हैं।

x) क्षेत्र तथा भौतिक वातावरण के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण

MADHYAM IAS

क्षेत्रीय या भौतिक सामाजिक विभेदीकरण जनजातीय समाजों की एक विशिष्टता है। क्षेत्रीय विभेदीकरण की अवधारणा आंध्र प्रदेश के चेंचु जैसे सरल जनजातीय समाज से लेकर मीजों और नागा जैसे अधिक विकसित जनजातीय समूहों में भी मौजूद है। हिमाचल प्रदेश के गद्दी जैसे समाजों में भी क्षेत्रीयता की अवधारणा देखी जाती है। क्षेत्रीयता तथा अवधारणाओं का विचार, हालाँकि, जनजातीय समूहों में भिन्न-भिन्न होता है। नागाओं में, ग्राम संरचना के माध्यम से क्षेत्रीय विभेदीकरण की एक विशिष्ट परंपरा है। एक नागा गाँव या तो गणतंत्र होता है या राजा के अधीन, जिसमें आत्मनिर्भर और स्वतः स्पष्ट ढाँचे के सभी तत्व होते हैं। ये प्रणालियाँ लोकतंत्र और समाजवाद के सिद्धांतों द्वारा कार्य करती हैं। गाँव में अन्य बातों के साथ, सुनिर्धारित तथा कड़ा द्वोत्रीय नियंत्रण होता है। किसी गाँव के पास दूसरे गाँव के नियंत्रण का अतिक्रमण का अधिकार नहीं होता है। अनेक गाँव मिलकर "जनजाति" नामक एक बड़ा सामाजिक समूह बनाते हैं। कुछ नागा जनजातियों में, जनजाति का एक प्रकार का द्विविभाजन होता है लेकिन उसमें क्षेत्रीय विभेदीकरण कायम रहता है। उदाहरण के लिए, रेंगमा नागा और कोनयक नागाओं में दोहरा क्षेत्रीय विभाजन होता है। ऐसे विभाजन भारत में विभिन्न जनजातियों में भी पाए जाते हैं।

कई बार, किसी कारणवश, मुख्य गाँव में से नए गाँव बनते हैं। किसी मुख्य गाँव में, तीन या चार से अधिक छोटे और आत्मनिर्भर गाँव हो सकते हैं। कुछ जनजातीय समाजों में, एक गाँव में उप-विभाजन या स्थान भी होते हैं। सामान्यतः, प्रत्येक क्षेत्र या इकाई में विशिष्ट रूप से एक गोत्र का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए, नागा गाँवों में,

विशिष्ट क्षेत्र होते हैं जहाँ कोई गोत्र अधिक होता है। ऐसे स्थानों को, अंगामी नागा और तंगखुल नागा क्रमशः "खेल" तथा "तंग" कहते हैं। प्रत्येक "खेल" या "तंग", वास्तव में, गाँव का अंश होने के बावजूद एक छोटा-गाँव होता है। हालाँकि, हाल के वर्षों में, ये परंपरा धीरे-धीरे विभिन्न बाहरी प्रभावों से समाप्त हो रही है। इस प्रकार के क्षेत्रीय स्थानीय समूह अन्य भारतीय जनजातियों जैसे छत्तीसगढ़ के कमार, आंध्र प्रदेश के चेचु में भी देखे जाते हैं।

इस सिद्धांत पर, भूमिकाएँ मौसम आदि के आधार पर विभेदीकृत होती हैं। समाज में विभिन्न प्रकार के मौसम होते हैं जो विभिन्न मौसमों में किए जाने वाले विभिन्न कार्यों में अंतर पैदा करते हैं। मौसम में कम परिवर्तन वाले समाजों में भी, कुछ मौसम-संबंधी परिवर्तन होते हैं जिनसे उनकी भूमिकाएँ विभेदीकृत होती हैं। अतः मौसम में परिवर्तन भी सामाजिक विभेदीकरण पैदा करने में अपनी भूमिका निभाता है।

सोचें और करें 20.2

जनजातीय लोगों में कौन-कौन से प्रकार के सामाजिक विभेदीकरण पाए जाते हैं? संक्षेप में बताइए।

20.6 निष्कर्ष

मानव समाज सदा से समाजों में विभाजित रहा है। ये समाज, मानव समाज को सामान्यतः निरुपित करते हैं और समाज के भीतर सदस्यों के बीच एकता के लिए प्रयासरत रहते हैं। सामाजिक विभेदीकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के भीतर ही विभिन्न प्रस्थितियाँ, भूमिकाएँ, स्वर तथा समूह मौजूद होते हैं। सामाजिक विभेदीकरण को अनेक भिन्न तरीकों से वर्गीकृत किया गया है।

इस इकाई में, हमने पिटरिम ए. सोरोकिन द्वारा दिए गए सामाजिक विभेदीकरण के व्यापक वर्गीकरण को देखा। सोरोकिन ने सामाजिक विभेदीकरण को संबंध और विभेदीकरणों के आधार पर दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जिन्हें उसने "एकबंध समूह" (एक मुख्य मूल्य या रुचि जैसे प्रजाति, लिंग, आयु, नातेदारी समूह, जातीय समूह, व्यवसायिक समूह, आर्थिक समूह, धार्मिक समूह, राजनीतिक समूह आदि की प्रकृति के आधार पर एक तंत्र में बंधा समूह) तथा "बहुबंध समूह" (दो या अधिक एकबंध मूल्यों जैसे गोत्र, जनजातियाँ, जातियाँ, राष्ट्र, वर्ग आदि के सोंजन से बना समूह)।

जनजातियों तथा सरल समाजों में सामाजिक विभेदीकरण मुख्यतः वंश, लिंग, आयु, स्थिति तथा अनुक्रम पर आधारित होते हैं। जनजातियों में सामाजिक विभेदीकरण के ढाँचे सामाजिक तंत्र, परंपरा तथा आस्था पद्धतियों में परिवर्तनों के अनुसार एक-दूसरे से अलग होते हैं। किसी समाज के अंतर्गत विभेदीकरण के तरीके में भी परिवर्तन होते हैं। भारत की विभिन्न जनजातियाँ इस परिवर्तन का कोई अपवाद नहीं हैं।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बाउल्स, एस. 1971. असमान शिक्षा तथा श्रम के सामाजिक विभाजन का प्रजनन। *रिव्यू ऑफ रेडिकल पॉलीटिकल इकोनॉमिक्स*, 3 : 1-30

मेलिनोस्की, ब्राउनिसलॉ, 1960 (1944). *ए साइंटिफिक थियोरी ऑफ कल्चर एंड अदर एस्सेज़*। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

टोनीज़, फर्डिनेंड 1957 (1887). *कम्यूनिटी एंड सोसाइटी*। चार्ल्स् पी. लूमिस द्वारा अनूदित एवं संपदित्। ईस्ट लेंसिंग : मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस।

इकाई 21

धर्म और राजनीति

इकाई की रूपरेखा

21.1 प्रस्तावना

21.2 धर्म और राजनीति की व्याख्या

21.3 धर्म के अध्ययन के उपागम

21.4 भारत में धर्म और राजनीति : ऐतिहासिक समीक्षा

21.5 समकालीन भारत में धर्म और राजनीति

21.6 धर्मनिरपेक्षता

21.7 रूढ़िवाद (Fundamentalism)

21.8 निष्कर्ष

21.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- धर्म और राजनीति की संकल्पना को परिभाषित कर सकेंगे;
- धर्म के अध्ययन के कुछ प्रमुख उपागमों का वर्णन कर सकेंगे;
- भारत में ऐतिहासिक रूप से धर्म और राजनीति के बीच अंतःसंबंध का वर्णन कर सकेंगे; और
- समकालीन भारत में धर्म और राजनीति के प्रमुख पहलुओं की रूपरेखा बना सकेंगे।

MAADHYAM IAS "way to achieve your dream"

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में धर्म शब्द का प्रयोग वेबर द्वारा दिए गए अर्थ में किया जा रहा है। इस बात पर बल दिया जाता है कि "पावन" धारणाओं ने धर्मनिरपेक्ष क्षेत्र में सदैव अपनी उपस्थिति अनुभव कराई है। इस दृष्टि से, धर्म को धर्मनिरपेक्ष जगत की ओर उन्मुखता के एक प्रकार के रूप में इस अर्थ में देखा जाता है कि यह ज्ञान, और समाज के मूल्य तथा प्रतिमानों का स्रोत है। इस प्रकार,देखे जाने पर धर्म एक विचारधारा, विचार प्रणाली है जो पावनता के क्षेत्र में स्थित है। यद्यपि "अन्य जगत" से संबंधित होने और अकसर "आंतरिक" और व्यक्ति तथा समूह के "आध्यात्मिक क्षेत्र" से संबंधित होने के कारण, यह "इस दुनिया" में रहने वाले व्यक्तियों और समूहों से इस अर्थ में संबंध रखता है कि यह उन्हें जीवन से सामंजस्य करने का तरीका बताता है।

राजनीति की परिभाषा धर्म की परिभाषा जितनी जटिल नहीं है। यह सामान्यतः स्वीकारा जाता है कि राजनीति "इस दुनिया" अर्थात् धर्मनिरपेक्ष दुनिया में मजबूती से स्थित क्रियाकलापों का (समुच्चय) सेट है। ये वे गतिविधियाँ हैं जो शक्ति की प्राप्ति, संग्रहण, अनुरक्षण और समेकन हेतु की जाती हैं। राजनीतिक क्रियाकलापों में वे क्रियाकलाप भी शामिल हैं जिनमें पवित्र क्षेत्र के प्रतीकों और रूपकों का प्रयोग ऐसे उद्देश्यों के निर्धारण

और प्राप्ति के लिए किया जाता है जो धार्मिक नहीं है। ये क्रियाकलाप समुदायों के लिए विशिष्ट स्थान बनाने के लिए किए जाते हैं और इनमें अंतर्निहित निश्चित ध्येय शक्ति प्राप्त करना होता है। इस इकाई में आप समाजों में धर्म और राजनीति के बीच संबंध के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। धर्म और राजनीति के संबंध के बारे में समझने से पहले हम इसका अर्थ समझने का प्रयास करेंगे।

21.2 धर्म और राजनीति की व्याख्या

धर्म और राजनीति अभिन्न हैं, वे एक जटिल रूप में हमेशा से ही आपस में जुड़े रहे है। रोमिला थापर के अनुसार, "...धर्म और राजनीति के बीच अतीत में जटिल आयाम थे और उन्हें किसी ऐसी सरल एककारणात्मक व्याख्या द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता जो हर चीज को न्यूनतमवादी धार्मिक प्रयोजन में बदल देती है। धर्म जब तक व्यक्ति के विचारों के अंदर रहता है तब तक यह एक निजी मामला होता है। जब इन विचारों को सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया जाता है और इनसे सार्वजनिक क्रियाओं जैसे पूजा के लिए स्मारक बनाना और समान विश्वास वाले लोगों को राजनीतिक और सामाजिक समारोह करने के लिए संगठित करना आदि के लिए प्रेरित किया जाता है तब धर्म एक विशिष्ट व्यक्तिगत मामला नहीं रह जाता। इस स्थिति में यह विश्वास की वस्तु नहीं रहता क्योंकि आस्तिक व्यक्तियों के संगठन के रूप में इसकी रचना से समाज की कार्यविधि प्रभावित होती है। इसकी धार्मिक पहचान (अस्तित्व) में ये कार्य सम्मिलित होते हैं। जिनकी अभिव्यक्ति मठों, मंदिरों, मस्जिदों, सरायों, चर्च, यहूदी उपासना गृह, गुरुद्वारे जैसी संस्थाओं द्वारा होती है। इनकी भूमिका का निर्धारण केवल उस धर्म के संदर्भों में नहीं होता जिनसे ये संबंधित होते है। बल्कि समाज की संस्थाओं के रूप में उनके कार्यों के संदर्भ में भी होता है:..." (थापर, 2004 : 229-30)।

हम धर्म को किस प्रकार जान सकते हैं? धर्म को विभिन्न लोगों द्वारा विभिन्न तरीकों में जाना, समझा जाता है। धर्म को समझने के लिए दार्शनिकों, धर्मविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के अलग-अलग परिप्रेक्ष्य होते हैं। तथापि, समाजशास्त्रियों द्वारा धर्म को प्रमुख रूप से एक सामाजिक परिघटना के रूप में देखा गया है। हर समाज के धार्मिक विश्वास, अनुष्ठान और संस्थाएँ होती हैं। धर्म प्रायः हमारे दैनिक जीवन के बारे में हमारे बोध को प्रभावित करता है। अनेकों समाजों में धर्म एक दूसरे से लोगों के संबद्ध होने के तरीके को प्रभावित करता है। हमारे धार्मिक विश्वास प्रायः हमारी सामाजिक अंतःक्रिया हेतु मार्गदर्शन करते हैं। कुछ समाजों में धर्म एकीकृत करने वाला कारक हो सकता है। परंतु कुछ समाजों में यह द्वंद्व (संघर्ष) का कारण भी हो सकता है।

व्यापक रूप से धर्म संबंधित है

क) विश्व के सभी भागों में समूह के रूप में मनुष्यों के अनुभव से;

ख) मनुष्यों के बीच, जीवन के संभवतः सभी क्षेत्रों में संबंध से; और

ग) मानव जीवन के सभी दैनिक तथ्य, जैसे "शिक्षा, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि से"।

(केनेडी, एम. 1992 : पृष्ठ 9, इग्नू, बी डी पी ऐच्छिक पाठ्यक्रम, ई एस ओ-05, समाज और धर्म, खंड 1)

अतः यह स्पष्ट है कि धर्म सामाजिक परिघटना है। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है यह राजनीति से जटिल तरीके में संबंधित है। चूँकि, यह सामाजिक परिघटना है और उस समाज की संस्कृति का हिस्सा है जिसे हम उत्तराधिकार में प्राप्त करते है। अपने माता-पिता के धार्मिक विश्वासों, मूल्यों और प्रचलनों के अनुसार सामाजिक बनते हुए बड़े

होते हैं। यह अलग बात है कि परिपक्वता के बाद हम इस धर्म को नकार दें और दूसरा अपना लें या हो सकता है कि किसी भी धर्म का हिस्सा न बनें।

एक संवृति के रूप में धर्म को परिभाषित करना बहुत कठिन है। धर्म की धारणा का केंद्रीय विचार है "धर्मनिरपेक्ष" और "अपवित्र" के विपरीत "पावन"। यह संवृति का एक विशिष्ट वर्ग, ज्ञान का एक प्रकार, स्थान और समय में क्रियाकलापों का भिन्न रूप और भूमिकाओं तथा व्यक्तियों का वर्गीकरण है" (मदान, टी.एन. 1991 : 2)।

चार भागों में हम धर्म और राजनीति के बीच संबंध की खोजबीन करेंगे। पहले भाग में धर्म के बारे में विभिन्न समाजशास्त्रीय और मानवजातीय दृष्टिकोण की जानकारी दी गई है और इस संरचना में धर्म के बोध का निर्धारण किया गया है, दूसरे भाग में भारत में ऐतिहासिक रूप से धर्म और राजनीति के बीच संबंध की समीक्षा की गई है; तीसरे भाग में समकालीन भारत में धर्म और राजनीति के बीच इस संबंध का साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता और मूलतत्ववाद के उदय, धार्मिक राष्ट्रवाद के रूप में अभिव्यक्तियों का वर्णन किया गया है। चौथे भाग में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

21.3 धर्म के अध्ययन के उपागम

सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में धर्म का अध्ययन अनेकों समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवतावादियों के ध्यान का मुख्य केंद्र रहा है। आगे धर्म के कुछ प्रमुख उपागमों की विहंगावलोकन प्रस्तुत है।

i) प्रकार्यवादी उपागम

इस उपागम की मूल धारणा यह है कि समाज के विभिन्न भाग इसके मूल्यों और प्रतिमानों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। तथा समाज का प्रत्येक भाग संपूर्ण समाज के अनुरक्षण के लिए कोई एक सकारात्मक कार्य करता है। धर्म समाज के लिए सहमतिजन्य और समेकित संरचना, उपलब्ध कराता है। दुर्खाइम के लिए "पावन" सर्वाधिक बुनियादी धार्मिक विचार या तथ्य था। उनके अनुसार ....

"धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और प्रथाओं का एकीकृत समुच्चय है, अर्थात् उन वस्तुओं का जो निषिद्ध हैं और अलग रखी गई हैं उन विश्वास और प्रथाओं का समुच्चय है जो उन सभी व्यक्तियों को जो उनका पालन करते हैं एकमात्र नैतिक समुदाय में जोड़ देते हैं जिसे चर्च कहते हैं" (1965 : 62)। हमारे नजरिए से महत्वपूर्ण बात है (क) "अलग कर दी गई वस्तुएँ का पहलू और (ख) नैतिक समुदाय का विचार, जो प्रमुख रूप से सामूहिक वस्तु है (इबिड : 63)। जो "अलग कर दिया गया" है वह केवल आलौकिक वस्तुएँ ही नहीं हैं बल्कि आलौकिक या जादुई शक्तियों युक्त व्यक्ति, स्थान (मंदिर, मस्जिद, चर्च), कुछ घटनाएँ और क्रियाएँ (जैसे जन्म, मृत्यु, विवाह, गृहण आदि) भी हैं। "अलग कर दी गई वस्तुएँ" से तात्पर्य है जो नियमित या साधारण से हट कर कुछ और हैं।

"पावन" की धारणा और अधिक तीव्र हो जाती है जब "लौकिक" या "धर्मनिरपेक्ष" से उसकी तुलना की जाती है। दुर्खाइम ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि यही बात धार्मिक पहलू का मूल तत्व है।

दुर्खाइम का कहना है .... "सभी धार्मिक विश्वासों में, चाहे वे सहज हों या जटिल, एक सामान्य विशेषता पाई जाती है कि वे वस्तुओं के एक वर्गीकरण को पूर्वमान्यता देते हैं। वास्तविक और आदर्श, जिनके बारे में लोग दो वर्गों या विरोधी समूहों में सोचते हैं, जो सामान्यतः दो भिन्न संदर्भों द्वारा निर्दिष्ट किए जाते हैं जिन्हें "लौकिक" और "पावन" इन शब्दों द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है (इबिड : 52)।

दुर्खाइम की रुचि धर्म के ऐतिहासिक उद्गम का पता लगाने में नहीं थी बल्कि वे धर्म के अस्तित्व के लिए समाजशास्त्रीय कारणों का पता लगाने से सरोकार रखते थे। यह तथ्य उन्हें सामाजिक जीवन के लिए मनुष्य की आवश्यकता में प्राप्त हुआ। उनके लिए धर्म सामूहिक परिघटना थी, जो सामाजिक अंतःक्रिया से उत्पन्न हुई। उन्होंने आस्ट्रेलियाई आदिवासियों का अध्ययन किया। वे इस प्रचलित विद्वत्तापूर्ण विचार से सहमत थे कि आदिवासी टोटेमवाद सबसे अधिक सरल था और यह धार्मिक जीवन का "प्रारंभिक रूप" था। उनका विचार था कि यदि कोई व्यक्ति टोटेमवादी विश्वासों के उद्गम को ढूँढने में सफल होता है तो उसी समय "मानवता में धार्मिक भावनाओं के उदय की ओर ले जाने वाले कारणों" की खोज कर लेना संभव था (इबिड : 195)।

इन आदिवासियों में टोटेमवादी समूहों की विस्तृत विवेचना करते हुए दुर्खाइम ने धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की जड़ों को सामाजिक अंतःक्रिया में स्थित पाया।

अंत में, उन्होंने कहा कि "कुल की सामूहिक और अज्ञात शक्ति, कुल का ईश्वर, टोटेमवादी सिद्धांत, इसलिए स्वयं कुल के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता (इबिड : 236)। आस्ट्रेलियाई केस — धार्मिक जीवन के प्रांरभिक रूप — से सामान्य निष्कर्ष निकालते हुए दुर्खाइम इस विचार पर पहुँचे कि समाज धार्मिक भावनाओं और संरचनाओं का स्रोत और धारक है और इसलिए यह भगवान का अपने सदस्यों का भी स्रोत और धारक है और अपने सदस्यों में यह "अनवरत निर्भरता की भावना" उत्पन्न करता है (इबिड : 237)। इस भाँति धर्म के बारे में दुर्खाइम की व्याख्या में धर्म को सामाजिक जीवन की प्रकृति से ही लिया गया है।

सोचें और करें 21.01

आपने अभी धर्म और समाज की दुर्खाइम की संकल्पना के बारे में पढ़ा। अपने परिवार/समुदाय के पाँच सदस्यों से बात करिए और कहिए कि वे अपने धर्म के पाँच अनिवार्य तत्वों का वर्णन करें और यह भी बताएँ कि दैनिक जीवन में इसका कैसे पालन किया जाता है।

"मेरे समुदाय में धर्म और समाज पर संबंधी परिप्रेक्ष्य" पर एक पृष्ठ की रिपोर्ट लिखिए। अपनी रिपोर्ट की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की रिपोर्ट से कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ए.आर. रेडक्लिफ ब्राउन ने अनुष्ठान के अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में सामाजिक अखंडता बनाए रखने में धर्म की भूमिका पर ध्यान केंद्रित किया है। धर्म के अध्ययन में विश्वासों की बजाय अनुष्ठानों पर बल देने का उनका विचार डब्ल्यू. रॉबर्टसन स्मिथ द्वारा प्रभावित था। उन्होंने दुर्खाइम का ध्यानपूर्वक अनुसरण तो किया लेकिन सीमित रूप से किया। वे समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद के ब्रिटिश स्कूल के विद्वान मालिनोवस्की और अन्य विद्वानों के साथ इस प्रश्न पर बहुत अधिक चिंतित थे कि धर्म कहीं भी और किसी भी समय सामाजिक अखंडता बनाए रखने में योगदान देता है। ब्राउन के अनुसार...

"लोगों का व्यवस्थित सामाजिक जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के सदस्यों के दिमागों में कुछ विशिष्ट भावनाएँ मौजूद हों, जो व्यक्ति के व्यवहार को दूसरों के संबंध में नियंत्रित करती हैं। अतः अनुष्ठान के विशिष्ट सामाजिक प्रकार्य दर्शाये जा सकते हैं, जब उन्हें अपने प्रभाव के लिए उन भावनाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचरित करना, बनाए रखना और नियंत्रित करना पड़ता है, जिन पर समाज की संरचना निर्भर करती है ...." (1952 : 157)।

ई.ई. इवान्स प्रिटचार्ड (1965) रेडक्लिफ ब्राउन से सहमत नहीं हैं। अज़ान्डे (1937) पर उनके निबंध में आलौकिक घटना की व्याख्या में कार्य से अर्थ की ओर परिवर्तन दिखाया गया है। उन्होंने अजान्डे में जादू टोना की व्याख्या करते हुए कहा कि यह मनुष्य के दुर्भाग्य के लिए कारण कार्य संबंध की विधि है। उनके बाद के लेख "न्यूअर रिलीजियन" (1956) में भी सीधे प्रकार्यवाद से अर्थ की समस्या की ओर परिवर्तन देखा जा सकता है, यद्यपि उन्होंने बहुत स्पष्ट तथ्यात्मक विश्लेषण नहीं किया। जब उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में न्यूअर धार्मिक विचार और अनुष्ठानों की व्याख्या की तो यह व्याख्या दुर्खाइम से मिलती जुलती थी। गुजरात (1973) में धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं के अध्ययन में डेविड पोकोक विषयनिष्ठ अर्थ की समस्या से सरोकार रखते हैं और संकीर्ण प्रकार्यवादी उपागम के लिए विकल्प प्रस्तुत करते हैं।

वेणुगोपाल (1998) का विचार है कि धर्म व्यावहारिक स्तर पर भी प्रकार्यात्मक हो सकता है। दैनिक जीवन में लोग बीमारी, दुर्भाग्य, मृत्यु आदि जैसी तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते हैं जो घर के सामान्य जीवन-प्रवाह को अस्त-व्यस्त कर देतीं हैं। ऐसी स्थितियों में धर्म, अनुष्ठान और जादू ऐसी सांत्वना प्रदान करते हैं जो धन संपत्ति और विशेषाधिकार नहीं दे सकते (1998 : 91)।

मेर्टोन (1968) और पार्सन्स (1975) ने धर्म की प्रकार्यात्मक भूमिकाओं का वर्णन किया है। मेर्टोन ने सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में शुद्धिवादी नैतिकता और विज्ञान के उदय में निश्चित संबंध दर्शाया है। शुद्धिवादी आस्था से उत्पन्न कठिन परिश्रम और इस जगत के सुधार हेतु प्रतिबद्धता की भावनाएँ वैज्ञानिक स्वभाव विकसित करने में प्रभावी थीं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि, धर्म की तार्किकता ने वैज्ञानिकों के जीवन को प्रभावित किया। रॉबर्ट बोयले, जॉन रे, न्यूटन और अनेकों अन्य वैज्ञानिक केवल प्रसिद्ध वैज्ञानिक ही नहीं थे, वे नई नैतिकताओं के प्रति भी समर्पित थे। उन्होंने अपने वैज्ञानिक शोधों द्वारा ईश्वर की महिमा की प्रशस्ति के रूप में भौतिक जगत के सुधार में योगदान दिया (वेणुगोपाल; 1998 : 91)।

टेलकॉट पार्सन्स ने दर्शाया कि पश्चिम में समाज की मानकीय व्यवस्था ईसाई धर्म के धार्मिक आधार वाक्यों पर निर्भर करती थी; उसने यह स्वैच्छिक प्रकार के कार्यों के लिए प्रेरित किया, जहाँ लोग समाज में दूसरों के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध होते हैं (इबिड)।

प्रकार्यवाद में वृद्धि की सैद्धांतिक पद्धति की बजाय सहमतिजन्य पद्धति पर ध्यान दिया जाता है। इसमें धर्म की भूमिका को मुख्यतः वर्तमान के संदर्भ में देखा जाता है और यह विषयपरक अर्थ की समस्याओं और धर्म के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं को संबोधित नहीं करता।

ii) वेबर और सांवृतिक उपागम

इवांस-प्रिटचार्ड के "न्यूअर रिलीजियन" के प्रकाशन के साथ से ही धर्म के समाजशास्त्रीय और सामाजिक मानवशास्त्रीय अध्ययन दृश्य घटना विज्ञान की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। इसे "मैक्स वेबर के लेखनों में प्रत्याशित प्रवृत्ति" कहा गया है (मदान, 1991 : 6)।

बॉक्स 21.1 : दृश्य घटना विज्ञान/दृश्य प्रपंचशास्त्र

यदि अपने कोर पाठ्यक्रम एम एस ओ-002 अनुसंधान कार्यप्रणालियाँ और प्रणालियाँ पुस्तक 1, पृष्ठ 81 में आपने दृश्य घटना विज्ञान/दृश्य प्रपंचशास्त्र (Phenomenology) के बारे में जो पढ़ा है उसे याद करेंगे तो आप जान जाएँगे कि दृश्य घटना विज्ञान/दृश्य प्रपंचशास्त्र का क्या अर्थ है। तथापि, आपको पुनः याद दिलाने के लिए हम फिर से सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए इस संकल्पना और सैद्धांतिक दृष्टिकोण की विवेचना करेंगे।

MADHYAM IAS

दृश्य प्रपंचशास्त्र(फेनोमेनोलोजी) को एक पद (शब्द के रूप में सबसे पहले दर्शनशास्त्र में व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई जो हेजल के लेखन फेनोमेनोलोजी ऑफ माइन्ड 1987 में इस शब्द के प्रयोग के फलस्वरूप प्राप्त हुई। लेकिन आधुनिक युग में दृश्य प्रपंचशास्त्रीय परंपरा का प्रमुख स्रोत एडमुंड हुस्सर्ल (1859-1938) के लेखनों में पाया जाता है। "हुस्सर्ल के दृश्य प्रपंचशास्त्र के प्रमुख सरोकार इस शब्द के मूल में ही व्यक्त किए गए हैं, जो "फिनामा" शब्द के संज्ञा रूप के समुच्चयबोधक से लिए गए हैं जिसका अर्थ है दिखाई देना (प्रतीत होना) और तर्क करने के लिए शब्द। मानव तर्क का उद्‌गम मानव अनुभव की बुनियादी व्यवस्था में आभास (प्रतीति) की संरचना में ढूँढा जाना है" (मिशेल, डमकन सी. (संपादक) 81-141)। इस प्रकार दृश्य प्रपंचशास्त्र में ज्ञान के स्रोत पर और मनुष्य किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हैं, इस पर विचार किया जाता है।

वेबर के धर्म के समाजशास्त्र में दुर्खाइम के दृष्टिकोण के लिए एक वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है जो "सामाजिक तथ्यों" के "बाह्य स्वरूप" और "निग्राहिता" पर जोर देता है, जो सामूहिक प्रस्तुतियाँ भी हैं। वेबर के धर्म के समाजशास्त्र का सार सामाजिक यथार्थ के "व्याख्यात्मक बोध" पर उनके द्वारा जोर दिए जाने में निहित है जिससे कारणात्मक व्याख्या प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से "धार्मिक व्यवहार" के बारे में जानकारी संबंधित व्यक्ति के व्यक्तिपरक अनुभवों, विचारों और उद्देश्यों के दृष्टिकोण से ही प्राप्त की जा सकती है — संक्षेप में कह सकते हैं कि धार्मिक व्यवहार के "अर्थ" के दृष्टिकोण से प्राप्त की जा सकती है (1964 : 1)।

वेबर ने अन्य बातों के साथ-साथ एक ओर तो धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं के बीच संबंध तथा दूसरी ओर राजनीति के धर्मनिरपेक्ष क्षेत्र, अर्थशास्त्र, लैंगिकता (sexuality) आदि की जाँच करने के लिए प्राक्लीपिकों एवं तथाकथित धर्मों (जैसे, हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म और, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम) का अध्ययन किया। वे दुर्खाइम के समान नहीं हैं जिसने धर्म और धार्मिक परिवेश के बीच संबध पर तो विशेष ध्यान दिया परंतु अर्थव्यवस्था पर ध्यान नहीं दिया। "प्रोटेस्टेंट नीतिशास्त्र और पूँजीवाद की प्रवृत्ति" में वेबर ने प्रोटेस्टेंट नीतिशास्त्र और पश्चिमी यूरोप में तर्कसंगत पूँजीवाद के उदय के बीच कारण संबंध के लिए तर्क किया।

वेबर का कथन था कि "केवल आधुनिक पश्चिमी जगत में ही नियत पूँजी, मुक्त श्रम वाले तर्कसंगत पूँजीवादी उद्यम, तर्कसंगत विशिष्टीकरण और कार्यों का सम्मिश्रंण, बाजार अर्थव्यवस्था में एकसाथ बद्ध पाए जाते हैं ..... और यह भी देखा जाता है कि केवल आर्थिक आधार ही संवृत्ति की कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं प्रदान करते" (वेबर : 279)।

उन्होंने कैल्विन के प्रोटेस्टेंटवाद के नीतिशास्त्र को देखा और दावे के साथ कहा कि इस नीतिशास्त्र के निर्णायक तत्व थे पूर्वनियति और "बुलावा" के विचार, जिनका अर्थ है यह धारणा कि व्यक्ति का भाग्य और उसके कार्य दोनों ही ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित हैं। पूर्वनियति के इस विचार से कैल्वनिवादियों में चिंता उत्पन्न हो गई। इस चिंता का सामना करने के लिए कैल्विन ने इस आशा में अपना विश्वास केंद्रित किया कि "ईश्वर उनकी मदद करता है जो अपनी मदद खुद करते हैं। इस भाँति वह अपनी मुक्ति या अभिशंसा इसके बारे में अपनी दृढ़ धारणा खुद ही बनाता है" (1930 : 115)।

इससे सांसारिक यतित्ववाद की उत्पत्ति हुई जिसका अर्थ है तात्कालिक संतुष्टि पर नियंत्रण, जो पूँजी के संचय और विस्तारित निवेश का अनभिप्रेत परिणाम था, जिससे पूँजीवाद पोषित हुआ। इस तरह ईसाइयतियों ने (तपस्वी) "जीवन के बाजार में कदम रखे" (इबिड : 154)।

इस प्रकार यूरोप में पूँजीवाद औचित्यीकरण की प्रक्रिया का एक पहलू था जो ईसाई धर्म के अंतर्गत धर्म-वैज्ञानिक बहसों (विचार-विमर्शों) द्वारा सुगम बना दिया गया। वेबर अन्य विश्व धर्मों से संबंधित आर्थिक नैतिकताओं की जाँच करने हेतु यूरोप से बाहर गए। भारत में धर्मों की जाँच करने के बाद उन्होंने एक मूल निष्कर्ष यह निकाला कि "भारतीय धार्मिकता उन धार्मिक नैतिकताओं का पालना (अवलम्ब) है जिन्होंने अधिकतम सीमा तक सैद्धांतिक रूप से, व्यावहारिक रूप से और दुनिया का निराकरण (Abrogated) किया है (1958 : 323)। परंतु भारत में धर्म का अध्ययन करने वाले मिल्टन सिंगलर (1972) और अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों ने पाया कि यह कथन सत्य नहीं था। क्षेत्र स्तर पर सिंगलर के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया। हिंदू व्यापारियों में अपने धार्मिक जीवन को अपने व्यावसायिक जीवन से अलग रखने की क्षमता थी और जैनधर्म तथा बौद्धधर्म दोनों में ऐसी विशेषताएँ थीं जो लाभ एवं उद्यम की नैतिकताओं के समीप थीं।

वेबर "रहस्यवाद" या सांसारिक संलग्नता को त्यागने की अभिरुचि, और तर्कसंगत सक्रिय यतित्ववाद, जो सांसारिक है और विश्व पर शासन करने की इच्छा रखता है, के बीच भेद दिखलाते हैं। अतः वेबर के धर्म के समाजशास्त्र के मुख्य विचारणीय विषयों में धर्म का भविष्य और आधुनिक समाज में मानव अस्तित्व का स्वरूप शामिल थे। उनके विचार से मानवजाति का धार्मिक भाग्य लोगों द्वारा "खुद उन विश्व छवियों द्वारा जिन्हें वे गढ़ते हैं और सामाजिक संस्थाएँ जिन्हें वे बनाते हैं" सचेतन रूप से निर्मित किया जाता है। इस क्षेत्र में समकालीन लेखनों पर वेबर का भारी प्रभाव था।

पीटर बर्जर धर्म को वह विशिष्ट मानव क्रिया मानते हैं जिसके द्वारा व्यापक, सार्थक, पावन ब्रह्मांड निर्मित होता है (बर्जर 1973)। एक सांस्कृतिक मानवविज्ञानी क्लिफोर्ड गीर्टज़ धर्म को सांस्कृतिक प्रणाली मानते हैं — प्रतीकों की एक प्रणाली जिसमें एक विश्व दर्शन और संबंधित आचरण संहिता अंतर्निहित है। ये दोनों ही समाज वैज्ञानिक व्याख्यात्मक बोध के महत्व पर बल देते हैं। बर्जर के लिए, धर्म जीवन में "अर्थ" ढूंढने (पाने) का एक तरीका है, सामाजिक जीवन को वैधता प्रदान करने और अव्यवस्था दूर करने में इसकी मदद करने वाला है। गीर्टज के लिए धर्म वह है जो नैतिक समस्याओं और सामाजिक द्वंद्वों के बीच में मानव जीवन को सार्थक बनाता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

iii) संरचनात्मक उपागम

धर्म के अध्ययन में एक प्रमुख समकालीन सैद्धांतिक विकास क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस द्वारा मानवशास्त्र में प्रारंभ किए गए संरचनात्मक आंदोलन से लिया गया है। लेवी-स्ट्रॉस (Levistrauss) विचारों के रूपों, वर्गीकरण की विधियों, पौराणिक कथाओं आदि के अंतर्गत "पावन" के अध्ययन की कल्पना करते हैं। वे धार्मिक रूपों के साथ "टोटेमवाद" के तादात्म्य से असहमत हैं। वे टोटेमों को वर्गीकरण की विधियाँ मानते हैं। (लेवी-स्ट्रॉस 1963 और 1966 देखिए)। उनका दावा है कि पवित्र वस्तुओं का महत्व न तो उपयोगिता के संकीर्ण विचारों पर निर्भर करता है और न उनके सामाजिक एवं नैतिक चरित्र पर, बल्कि यह तो मूर्त विचारों की ठोस अभिव्यक्ति के रूप में उनकी उपलब्धता पर निर्भर करता है। आदिम मानवों की "सोच" सभ्य लोगों से अलग नहीं होती लेकिन उनके प्रतीक अलग होते हैं। धार्मिक प्रणालियाँ जिनमें मिथक और अनुष्ठान शामिल होते हैं वे संचार के चिह्नों की प्रतीकात्मक प्रणालियाँ होते हैं जो प्रकृति और संस्कृति के बीच तथा ब्रह्मांड की व्यवस्था और सामाजिक जीवन के बीच सादृश्यमूलक तर्क सततताओं द्वारा स्थापित होते हैं।

भारतीय अध्ययनों में लूइस डूमोंट संरचनात्मक दृष्टिकोण के सर्वाधिक विख्यात अन्वेषकों में से हैं। उनकी कृति "होमो हेरारकीकस" (1967) में धार्मिक मूल्यों — पवित्र और अपवित्र की धारणाओं को जाति प्रथा का एकमात्र आधार माना गया है।

लेवी-स्ट्रॉस और डूमोंट दोनों के लेखनों में सामाजिक संवृति या सांस्कृतिक तथ्य "चेतना की दहलीज" पर आधारभूत "अव्यक्त" संरचनाओं की व्यक्त अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते है।। संरचनात्मक विश्लेषण का कार्य यह है कि इस संबंध को स्पष्ट किया जाए और यह दर्शाया जाए कि समाजों में आधारभूत संघटक तत्वों के संदर्भ में अंतर नहीं होता बल्कि यह अंतर उस तरीके में होता है जिसमें ये तत्व विविध पद्धतियों में आपस में संबंधित होते हैं।

भारत में धर्म का संरचनात्मक विश्लेषण करने वाले कुछ अन्य समाज वैज्ञानिक हैं वीना दास (1977) और जे पी एस उबेरॉय (1996)। इन्होंने अनुष्ठानों की व्याख्या विचारों की कुछ मूलभूत श्रेणियों (जैसे समय, स्थान, पवित्रता, शक्ति और शुभ होने) के संदर्भ में और सामाजिक संबंधों की संरचना के संबंध में की है।

इन सभी उपागमों में एक तथ्य सामान्य है कि इनमें धर्म को सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। विश्वासों की प्रणालियाँ, परंपराएँ और प्रथाएँ खुद में महत्वपूर्ण नहीं हैं, वे केवल उस तरीके में महत्वपूर्ण हैं जिसमें ये व्यक्त की जातीं हैं और समाज में व्यक्तियों और समूहों के बीच अंतःक्रियाओं में कार्यान्वित की जातीं हैं। यह समाजशास्त्रीय रूप से सामाजिक अंतःक्रियाओं के लिए आधार के रूप में महत्वपूर्ण है जिसकी प्रक्रिया में, प्रतीकों, रूपकों, भाषा और आलांकारिक कौशलों के प्रयोग से यह सीमाओं को निर्धारित करता है और अलग-अलग अकसर-द्वंद्वात्मक व्यक्तियों की रचना करता है।

इस दृष्टि से धर्म हमेशा से व्यक्तित्व का आधार और सीमाओं का प्रतीक रहा है। धर्म की सारभूत विषयवस्तु सृष्टि संबंधी धार्मिक और पराभौतिक स्वतः महत्वपूर्ण नहीं है, यह तब महत्व प्राप्त करती है जब व्यक्तियों और समूहों द्वारा राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

इस इकाई में धर्म पर विचार करते समय किसी भी विशिष्ट धर्म की सारभूत विषयवस्तु या उसके अनुष्ठान संबंधी पहलू के संदर्भ में विचार नहीं किया गया है अपितू यहाँ धर्मनिरपेक्ष जगत के साथ इसके संबंध के संदर्भ में विचार किया गया है। दोनों क्षेत्रों के बीच सबंध के गतिशील पहलू को महत्वपूर्ण माना गया है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सामान्य क्षेत्रों की बजाय अस्तित्व की व्यावहारिक विधियों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। विल्फ्रेड केंटवैल स्मिथ जिसने धर्म की संग्राही श्रेणी को विश्वास और परंपरा में विखंडित किया है, अर्थात् "आंतरिक" और "बाह्य" मामले के शब्दों में — "धार्मिक परंपरा इस दुनिया का हिस्सा है, यह मानव क्रिया का उत्पाद है; यह विविधतापूर्ण है, यह तरल है, यह बढ़ती है, बदलती है, यह संचित करती है ....." (मदान 1998 में) धर्म को इसकी धार्मिक परंपराओं के पहलू की दृष्टि से देखा जाता है, जहाँ इसे ऐसी विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिवेश में उन लोगों द्वारा संचालित की जाती है जिनको इससे लाभ प्राप्त होता है जैसे राजनीतिक दल या निहित स्वार्थों को प्राप्त करने के इच्छुक करिश्माई व्यक्ति।

बॉक्स 21.2 : सहस्त्राब्द आंदोलन : बिरसा मुंडा (1874-1901)

जनजातीय भारत में सर्वाधिक प्रसिद्ध सहस्त्राब्द आंदोलन था छोटानागपुर, बिहार में बिरसा मुंडा आंदोलन (1874-1901)। मुंडा जनजातियों में उनके नेता बिरसा के नेतृत्व में हुआ यह आंदोलन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले आंदोलनों के समान ही विरोधपूर्ण और पुनर्जीवन संचार करने वाला था। इस आंदोलन द्वारा बिरसा की जाति के लोगों के संघर्ष और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई और इसने उनमें पहली बार राष्ट्रवाद के भाव उत्पन्न किए। यह धार्मिक और राजनीतिक आंदोलन का

सम्मिश्रण था और इसमें उस प्राचीन जगत की पुनर्रचना करने का अनुरोध था जो भारत में उपनिवेशी शासन के प्रभाव के अंतर्गत समाप्त हो गया था। (सिंह, के.एस. 1983)। बिरसा मुंडा और उसका आंदोलन 1874-1901, छोटानागपुर में सहस्त्राब्द आंदोलन का अध्ययन। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : कलकत्ता)।

इस अर्थ में धर्म एक महत्वपूर्ण सामाजिक शक्ति है, जो समाज में कार्यसंचालन करती है और इसकी संरचना में योगदान देती है।

सोचें और करें 21.02

क्या आप किसी सामाजिक-धार्मिक आंदोलन के बारे में जानते हैं। जिसने उन लोगों के जीवन में परिवर्तन किया है जो सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थ में इसका अनुपालन करते हैं; उदाहरणार्थ, अतीत में हुआ भक्ति आंदोलन, छोटानागपुर बिहार में जनजातियों का बिरसा मुंडा आंदोलन आदि।

इस धार्मिक आंदोलन की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और इसकी वर्तमान स्थिति के बारे में एक पृष्ठ की रिपोर्ट लिखिए। अपने अध्ययन केंद्र के शैक्षिक परामर्शदाता और अन्य सहपाठियों के साथ रिपोर्ट की चर्चा करिए।

21.4 भारत में धर्म और राजनीति : ऐतिहासिक समीक्षा

जब हम भारत के इतिहास की प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक समीक्षा करते हैं तो देखते हैं कि भारत में धर्म और राजनीति के बीच अंतःक्रिया के मानक समय-समय पर बदलता रहा है और इसके सामाजिक परिणाम भी परिवर्ती रहे है। (शर्मा, टी.आर. 1988 : 41)। शर्मा यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भारत में एक तत्व जो इसके पूरे इतिहास के दौरान प्रचलित रहा है, यद्यपि इसकी मात्रा (परिमाण) भिन्न-भिन्न रहा है, वह है राजनीतिक उद्देश्यों और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धर्म का प्रयोग। भारत में धर्म ने हमेशा राजनीति की सेवा की और राजनीति ने अक्सर धर्म की सेवा की है। धर्म कभी भी खुद को राजनीति से विलग नहीं कर पाया और न ही राजनीति खुद को कभी धर्म से मुक्त रख सकी। इस प्रकार, हमारे इतिहास की सभी अवस्थाओं में हम धर्म के राजनीतिकरण को किसी न किसी प्रत्यक्ष या अप्रकट रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि भारत में धर्म और राजनीति के बीच यह अंतःक्रिया ऐतिहासिक रूप से चार चरणों में देखी जा सकती है। पहला चरण सिंधु घाटी सभ्यता से इस्लाम के आगमन तक विस्तारित हुआ, दूसरा इस्लाम के आगमन से 1857 के भारतीय विद्रोह तक, तीसरा 1857 से 1947 में भारत की स्वतंत्रता तक और चौथा 1947 के आगे तक। इन चारों ही चरणों के दौरान धर्म और राजनीति के बीच घनिष्ठ अंतःक्रिया थी लेकिन इन चरणों के दौरान इस अंतःक्रिया की प्रवृति, गहनता और स्वरूप में अंतर था।

पूर्व-औपनिवेशिक भारत में पवित्र और धर्मनिरपेक्ष परिप्रेक्ष्य विकट रूप से अंतर्ग्रथित (गुँथे हुए) थे। भारतीय समाज निरंतर होने वाले परिवर्तनों का साक्षी रहा है जिन्होंने राजनीतिक पद्धतियों, व्यावसायिक संरचनाओं, संस्कृति और धर्म को प्रभावित किया। भारत में धर्म तनाव, नवीनता और यहाँ तक कि आधुनिकीकरण का भी प्रमुख स्रोत रहा है (देखिए वेणुगोपाल, 1998)। भारत में परिवर्तन प्रारंभ करने में, खास तौर से राजनीतिक आंदोलनों और सुधार आंदोलनों में परिवर्तन लाने में धार्मिक मुहावरों का प्रयोग महत्वपूर्ण रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अनेकों सामाजिक सुधार आंदोलन हुए। इकाई के इस भाग में कुछ राजनीतिक और समाज सुधार आंदोलनों पर विचार किया गया है।

यद्यपि ब्रिटिश शासन ने प्रशासन, परिवहन, संचार और अर्थव्यवस्था में तो दूरगामी परिवर्तन किए, लेकिन इसने पारंपरिक सामाजिक बंधनों में व्यवधान उत्पन्न किया और संस्कृति को विखंडित भी किया। इसी समय बंगाल में राममोहन राय, उत्तर में दयानंद सरस्वती, महाराष्ट्र में ज्योतिराव फुले ने शिक्षा में सुधार और सामाजिक-धार्मिक लक्ष्य प्रारंभ किए और राष्ट्रीय जीवन के बारे में नजरिया भी प्रदान किया। उन्होंने भारतीय परंपरा तथा पश्चिमी ज्ञान दोनों से प्रेरणा ली। वे तर्कवादी और उदार सिद्धांतों से प्रभावित थे जिनके अनुसार समाज की मूल इकाई एक व्यक्ति था जिसे नागरिक और मानव के रूप में देखा जाता था। पुरुषों और स्त्रियों के लिए स्कूल और कॉलेज प्रवर्तित करने में उन्होंने संगठन की पश्चिमी विधियों का प्रयोग किया। उनका उद्देश्य संस्कृति के संदर्भ में राष्ट्रीय, चेतना उत्पन्न करना था। इन सुधार आंदोलनों के कारण जन जागरूकता उत्पन्न हुई जिसने बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक जागरूकता के लिए मार्ग प्रशस्त किया। स्वाधीनता संग्राम प्रारंभिक अवस्थाओं में बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र ओर तमिलनाडु आदि राज्यों के शिक्षित मध्यम-वर्गों का उत्पाद था। उदार शिक्षा के साथ-साथ, धार्मिक लहर ने भी स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए युवकों को प्रेरित किया। (वेणुगोपाल, 1998)।

महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक ने गणपति पूजा को बड़े पैमाने पर दोबारा प्रचलित किया। यह तब राजनतीक बैठकों के लिए मिलन स्थान के रूप में काम करने लगा। बंगाल में, रास बिहारी घोष, बिपिन चंद्र पाल और उनके साथियों ने राजनीतिक चेतना विकसित करने के लिए दुर्गा पूजा के इर्द-गिर्द केंद्रित धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त, भारत के इन प्रांत और अन्य प्रांतों में सामाजिक-धार्मिक नाटकों द्वारा जनता को राजनीतिक संदेश प्रदान किए गए। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गाँधी जी ने अधिसंख्यक भारतीय जनता को एकीकृत और संघटित करने तथा गतिशील बनाने के लिए "राम राज्य" की हिंदू-धारणा को प्रयुक्त किया।

1947 के बाद के भारत में धर्म और राजनीति के बीच संबंध की अभिव्यक्ति साम्प्रदायिकता की वृद्धि, धर्मनिरपेक्षता के विकास और रूढ़िवाद के उदय में दिखाई देती है। अगले भाग में इसी विषय पर विशिष्ट चर्चा की गई है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

21.5 समकालीन भारत में धर्म और राजनीति

आज भारत में मुख्यतः जिन विषयों पर बहस केंद्रित की जाती है वे हैं साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता, रूढ़िवाद/धार्मिक राष्ट्रवाद। समकालीन भारत में धर्म और राजनीति को विकास की एक भिन्न अवस्था से गुजरते हुए देखा जा सकता है जहाँ व्यक्तियों की क्रियाओं को "धर्म" की बजाय अन्य स्वार्थ निर्देर्शित करते हैं।

यह दावे के साथ कहा जाना चाहिए कि प्रारंभ में सांप्रदायिकता धर्म के संबंध में प्रमुखता में नहीं है। "इसे इस रूप में परिभाषित किया जा सकता है ....." एक विचारधारा जो धार्मिक समुदाय को ऐसा राजनीतिक समूह मानती है जो इसके सामाजिक और आर्थिक हितों और सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा और संवर्धन के लिए प्रतिबद्ध है। इस प्रकार यह राष्ट्रवाद का स्थानापन्न है। समूह द्वारा अधिकृत (या अधिकृत करने की इच्छा) क्षेत्र को "पवित्र भूमि" या "पवित्र की भूमि" माना जाता है जो "पाकिस्तान और खलिस्तान" शब्दों का अर्थ है। लूइस डूमोंट का कहना है कि, सांप्रदायिकता की संरचना में जो धार्मिक तत्व प्रवेश करता है वह धर्म की केवल छाया मात्र लगता है, अर्थात् धर्म को सभी क्षेत्रों में जीवन का सार और निर्देशक नहीं माना जाता, इसे केवल एक व्यक्ति की भिन्नता का चिह्न माना जाता है, कम से कम अन्य समूहों के विरुद्ध एक राजनीतिक समूह तो वस्तुतः माना ही जाता है (मदान, 1991)। भारत के संदर्भ में, जिस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया जाना है वह है — क्या भारत में साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगों के स्थायित्व का (जारी रहने को) द्वंद्वपूर्ण धर्मों के तात्विक "धार्मिक" विचार से कोई संबंध

है? इस भाग में हिंदू और मुसलमानों के बीच होने वाले सांप्रदायिक दंगों की समीक्षा करके इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिक झगड़े का ऐतिहासिक विश्लेषण, इसके कारण और स्थितियों का स्वरूप अत्यधिक विवादास्पद रहा है। ज्ञानेन्द्र पांडे (2000), सेन्ड्रिओ फ्रीटेश (1989), आयशा जलाल (1985) आदि इतिहासकारों के एक समूह के अनुसार हिंदू मुस्लिम चेतना और द्वंद्व काफी हद तक आधुनिक निर्मितियाँ हैं जिनमें ब्रिटिश उपनिवेशी शासकों ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। उन्होंने या तो सोची समझी "फूट डालो और राज्य करो" नीतियों द्वारा या ऐसे तरीकों द्वारा जिनमें उन्होंने भारत की विविध जनता को श्रेणीकृत, वर्गीकृत और विशिष्टीकृत करने के तरीकों के द्वारा, यह भूमिका निभाई। इसका एक उदाहरण है कि उन्होंने कुछ जनजातियों को अपराधी जनजातियों के रूप में श्रेणीबद्ध किया। हिंदू और/या मुस्लिम सांप्रदायिक चेतना या सांप्रदायिकता के ये व्याख्यात्मक विचार विचारधारा के स्वरूपों के रूप में वर्ग, समूह और संभ्रांत राजनीतिक हितों से संबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उनके लिए सांप्रदायिक चेतना की वृद्धि संघर्ष का एक साधन है, या तो ब्रिटिश के विरुद्ध संघर्ष अथवा राजनीतिक लाभ और प्रभुत्व के लिए हिंदू और मुसलमानों के बीच संघर्ष। संघर्ष के दौरान होने वाली सांप्रदायिक हिंसा अकसर सांप्रदायिक प्रवचन के अंतर्गत रचित द्वंद्वों का परिणाम थी। उनका मानना है कि सांप्रदायिकता एक आवरण है जो मुख्यतः राजनीतिक और आर्थिक कारणों की विविधता को छुपा लेती है।

इतिहासकारों का दूसरा समूह (सी.ए. बेले 1985), गेबोरीयू (1985) का विचार है कि अतीत और वर्तमान के बीच अधिक सततता है जो पीछे कम से कम 18वीं शताब्दी के प्रारंभ तक और कुछ अन्य लोगों के विचार से मुगल शासन के प्रारंभिक काल तक फैली हुई है। उनके विचार से वे अंतःधर्मी द्वंद्व और दंगे जो समकालीन हिंदू-मुस्लिम द्वंद्वों के समान हैं पूर्व-आधुनिक कालों में भी विद्यमान थे। वे अपने धार्मिक महत्व और उन सशक्त सांप्रदायिक पहचानों के अस्तित्व पर विशेष बल देते थे जो उनकी पूर्वगामी थीं (ब्रास, 2003)।

MAADHYAM IAS

तथापि, आधुनिक भारत में हम अभी भी अतीत के उपनिवेशी शासकों की "फूट डालो और राज्य करो" नीति के अवशेष (चिह्न) देखते हैं। भारत में दो सबसे बड़े समुदायों, हिंदू और मुसलमानों के बीच बड़े विभाजन की ओर ले जाने वाला मन में जमा हुआ विचार राष्ट्र के राजनीतिक वातावरण तथा इसके विभिन्न धर्मों के अनुसार घटता बढ़ता रहता है। ब्रास का कहना है कि "समानताएँ जो भी हों सततताएँ और निरंतर जारी रहने वाले मुहावरे 19वीं शताब्दी के पहले भी पाए जा सकते हैं, उन पर ज्यादा जोर देना व्यर्थ होगा। उपमहाद्वीप में बहुजातीय हिंदू और मुसलमान समूहों का समेकन और उनके बीच विद्यमान भेदभावों का राजनीतिकरण अत्यधिक आधुनिक परिघटना है जो आधुनिक राज्य तंत्र पर नियंत्रण के लिए प्रयत्न से गहराई से जुड़ा हुआ है और इसमें हिंदुओं द्वारा अधिकारपूर्ण उत्तराधिकार का दावा और मुसलमानों की ओर से आत्म निर्धारण का दावा शामिल है। सत्ता के लिए उन संघर्षों के दौरान, जो ब्रिटिश शासन के दौरान विकसित हुए थे और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीव्र हुए और 1947 में भारत के विभाजन में पराकाष्ठा पर पहुँचे, हिंदू-मुस्लिम भेदभावों का लेखा बनाया गया जिसने दोनों समुदायों में गहरी जड़ें जमाई हैं और आंशिक रूप से स्व-संपोषित संवेग अर्जित किया है जो साथ ही साथ राजनीतिक प्रतियोगिता द्वारा भी पोषित होता रहता है (ब्रास, 2003)।

भारत में हिंदू-मुस्लिम दंगों पर लिखने वाले एक सर्वाधिक उत्कृष्ट लेखक, अली असगर इंजीनियर इस बात को दावे के साथ यह कहते हुए कि सांप्रदायिक द्वंद्व का धर्म से ज्यादा संबंध नहीं है बल्कि राजनीतिज्ञों द्वारा अपने निहित स्वार्थों के लिए इसके प्रयोग से ज्यादा संबंध है, समुदायों के रूप में न तो हिंदुओं या मुसलमानों को, सांप्रदायिक दंगे भड़काने

के लिए दोष देते हैं। उनके विचार से एक ओर तो राजनीतिज्ञ और दूसरी ओर हिंदु-मुसलमानों के बीच आर्थिक प्रतियोगिता सांप्रदायिक दंगों को भड़काने के लिए उत्तरदायी है। उनका मानना है कि छोटे-मोटे झगड़े उन क्षुद्र विचार वाले राजनीतिज्ञों की करतूत होते हैं, जो अपने राजनीतिक लाभ हेतु, ऐसी करतूतें करते हैं जिनके कारण झगड़े होते हैं और उनके फलस्वरूप अनेकों व्यक्तियों को अपनी जान गँवानी पड़ती है पर इन राजनीतिज्ञों को इससे कोई पापशंका नहीं होती। कभी-कभी राजनीतिक आंदोलन खुद ही हिंसा का कारण होते हैं, जैसा हिंसाकारी हिंदुओं की "रामशिला पूजा" की शोभायात्रा के दौरान हुआ जब आंदोलन के दौरान वे बाबरी मस्जिद गिराने और उसके स्थान पर राम का मंदिर बनाने के लिए ईंटें लेकर अयोध्या जा रहे थे। इन शोभायात्राओं के फलस्वरूप देशभर में दंगे भड़क उठे। इस प्रकार, इंजीनियर के विचार से भारत में सांप्रदायिक दंगों का प्रमुख कारण है किसी भी कीमत पर राजीतिक लाभ की प्राप्ति का लक्ष्य। यह स्पष्ट है कि द्वंद्वरत समुदायों के सभी सदस्यों से लेकर राज्य के संभ्रात बुद्धिजीवियों द्वारा दंगों की निंदा किए जाने के बावजूद दंगे होते रहते हैं।

दंगों (द्वंद्व) की इस सततता की व्याख्या करने के लिए ब्रास ने कार्यात्मक विश्लेषण की मेर्टोनिअन विधि का प्रयोग किया है। उनके विचार से दंगों द्वारा विशिष्ट वैयक्तिक समूहों, संगठन और यहाँ तक कि संपूर्ण समाज की ठोस उपयोगी तरीकों से स्वार्थ सिद्धि होती है जो उनके लिए लाभदायक है। आगे "कार्य" शब्द के अधिक, प्रचलित प्रयोगों अर्थात् "प्रयोग" या "उपयोग" का प्रयोग करते हुए वे भारत में हिंदू-मुस्लिम दंगों के जारी रहने (सततता) की कार्यात्मक उपयोगिता के बारे में बताते हैं कि ये विविध स्वार्थों, समूहों, संस्थाओं और संगठनों जिनमें अंततः राज्य (सरकार) भी शामिल है के लिए भी उपयोगी हैं। इन परिस्थितियों में भारतीय जनजीवन से इन हिंसक दंगों के उन्मूलन के लिए समाज में एक व्यापक मतैक्य उत्पन्न करना संभव नहीं है (इबिड)।

इस प्रकार, इस प्रचलित धारणा के विपरीत कि दंगे नियोजित नहीं बल्कि अनायास होते हैं। और मन में बंद तनाव के परिणाम के रूप में या तो अनपेक्षित रूप से शुरू हो जाते हैं जो आकस्मिक परिस्थितियों में फूट सकते हैं या नहीं भी फूटते, ब्रास का विचार है कि ये दंगे .....अतिसावधानी से नियोजित होते हैं और प्रारंभ से लेकर अंत तक समायोजित होते है।। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि ये नाटकीय निर्माण, नुक्कड़ नाटक प्रस्तुतियाँ होते हैं, जिन्हें स्वतः प्रसूत के रूप में दिखाने का अभिप्राय होता है, लेकिन इनमें अनेकों लोगों को विविध भूमिकाओं और कार्यों में शामिल किया जाता है जिसमें श्रोताओं की रुचि को प्रेरित करना, घटनाओं का प्रस्तुतिकरण के लिए किसी अनुकूल विषय में नाटकीकरण और विस्तांरण और अंत में घटना का निर्माण शामिल है .... (वे) ड्रामाई निर्माण हैं, विशिष्ट व्यक्तियों, समूहों और दलों की रचनाएँ हैं, जो संस्थात्मक दंगा नेटवर्कों द्वारा हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक विरोध और वैरभाव के तर्कमूलक ढाँचे के अंतर्गत काम करते हैं, जो परिणामस्वरूप ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया के विशिष्ट रूपों का निर्माण करते हैं जो दंगों को राजनीतिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग बनाते हैं ...." (उपर्युक्त)

21.6 धर्मनिरपेक्षता

भारत में बँटवारे और उसके साथ हुए साम्प्रदायिक विध्वंस तथा विवश (बलात्) प्रवास एवं स्वतंत्रता के कारकों से एक गंभीर बहस छिड़ गई कि नए राष्ट्र-राज्य का क्या स्वरूप होना चाहिए : धर्मनिरपेक्ष अर्थात् सभी के लिए समान अधिकारों वाला बहुल-समुदाय? समाजवादी? या हिंदू? (पांडे : 2001)

पाकिस्तान एक बड़े मुस्लिम देश के रूप में उभर कर सामने आया, जिसे देखकर भारत में हिंदू राष्ट्रवादी प्रेस (पत्रकार) के कई भागों ने इस बात पर जोर देना शुरू कर दिया कि भारत में कोई मुसलमान नहीं रहना चाहिए (उपर्युक्त)।

यह हिंदू राष्ट्रवाद का उदय था, जिसके साथ-साथ, और अधिक स्पष्ट रूप से, दूसरा और अधिक समावेशी राष्ट्रवाद भी उभरा, जिसने भारतीय समाज के मिश्रित स्वरूप पर बल दिया और भारत के इतिहास तथा आत्म-चेतनता में हिंदू तत्व को उस प्रकार की प्रमुखता देने से इनकार किया। इसे बाद में "धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद" कहा गया, जिसे नेहरू ने "वास्तविक" या भारतीय "राष्ट्रवाद" कहा। यह भारतीय संविधान का राष्ट्रवाद था (उपर्युक्त)।

राष्ट्रीय संविधान में धर्मनिरपेक्ष भारतीय राज्य व्यवस्था के भविष्य-निरूपण के बारे में राष्ट्रीय मतैक्य प्रतिबिम्बित होता है जो राष्ट्रीय संग्राम के दौरान उत्पन्न हुआ था। यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि चर्च और शासन के विलगाव के अर्थ में धर्मनिरपेक्षता (पश्चिम में इसका यही अर्थ है) भारत में प्रासंगिक नहीं है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है विभिन्न विश्वासों (धर्मों) के अनुयायी नागरिकों के साथ व्यवहार करने में राज्य द्वारा निष्पक्षता का बर्ताव (सर्व-धर्म समभाव)।

पश्चिम में धर्मनिरपेक्ष समाज का उदय उत्पादन की आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की वृद्धि, वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप हुआ। वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि से तो धार्मिक और वैज्ञानिक जगत के संज्ञानात्मक कार्य में कमी आती है, वहीं आधुनिक औद्योगिक समाजों के उदय के साथ विभेदीकरण की एक प्रक्रिया शुरू हो गई है जिसमें समाज के विविध हिस्से और उनके कार्य ज्ञान के आधार पर और अधिक विशिष्टीकृत होते जा रहे हैं। इस प्रकार, भारत में धर्मनिरपेक्षता की धारणा पश्चिम से अलग है। आदर्श धर्मनिरपेक्षता से विसामान्यताएँ डॉ. अम्बेडकर के इस आग्रह पर आधारित थीं कि धर्म (हिंदू) के प्रभाव, जैसे जाति प्रथा, इस देश में इतने अधिक हैं कि वे जन्म से लेकर मृत्यु तक, जीवन के हर पहलू को समेटते हैं। उन्होंने कहा कि जब तक सरकार के पास अधिकार नहीं होगा तब तक हमारे विधानमंडल के लिए किन्हीं भी सामाजिक उपायों का अधिनियमन करना असंभव होगा। गांधी का भी यह मानना था कि कुछ मामलों में धर्मनिरपेक्ष कानून का प्रयोग सामाजिक बुराइयों से निपटने के लिए किया जा सकता है।

MADHYAM IAS

भारत की धर्मनिरपेक्षता पर भारतीय जनता के अद्वैतवादी विश्वदर्शन के प्रभावों के साथ साथ भारत के बहु-समाज और भारत के अनुभव को प्रभावों से भी धारण करती हैं। अतः "छत्र संकल्पना" के रूप में इसका वर्णन बिलकुल सही है — जिसका अर्थ है सार्वभौमिक सहनशीलता पर आधारित सर्व-समावेशी संकल्पना — जिसमें राज्य (शासन) को समाज के सुधारक की भूमिका सौंपी गई है जिसमें धर्म सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करता है।

भारत में धर्मनिरपेक्षता के प्रयोग के बारे में बुद्धिवादियों में संदेह बढ़ता जा रहा है कि धर्मनिरपेक्षता भारत के लिए अच्छी है या नहीं, खास तौर से पिछले पाँच वर्षों में देखी गई राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप यह संदेह और बढ़ रहा है। "देश में होने वाली सामाजिक और राजनीतिक अशांति धर्मनिरपेक्षता के केस को कमजोर नहीं बनाती : यह उसे मजबूत बनाती है ....." (बीटल, 2000)।

धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि यह मानव मामलों से धार्मिक भावावेश को दूर कर देगी, बल्कि इसलिए है कि यह कुछ हद तक जनजीवन में धार्मिक भावावेश की अभिव्यक्ति को निष्क्रिय और हलका कर देगी। ....."कोई कितने भी प्रबल रूप से यह इच्छा करे कि धर्म और राजनीति अलग रहें, किसी लोकतंत्र में राजनीतिक नेताओं को धार्मिक भावनाओं से अनुचित लाभ उठाने से रोकना या धार्मिक नेताओं को राजनीतिक मैत्री करने का प्रयत्न करने से रोकना असंभव है ....." (उपर्युक्त)।

भारत ब्रिटेन और फ्रांस जैसे पश्चिमी देशों से जनसांख्यिकीय और सांस्कृतिक रूपों से अलग है। भारत के धार्मिक अल्पसंख्यकों की मात्रा कुल जनसंख्या के अनुपात में चाहे

छोटे से ही अनुपात में है, लेकिन उनकी पूर्ण संख्या बहुत अधिक है। यहाँ धार्मिक तादात्म्य की भिन्नताओं का कम या ज्यादा समय में शांतिपूर्ण समावेश या बलपूर्ण धर्म-परिवर्तन द्वारा नष्ट होने का कोई प्रश्न नहीं है। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्षता से यह सुनिश्चित होता है कि कोई भी धार्मिक सिद्धांत या समुदाय किसी दूसरे के ऊपर अनुचित प्रभुत्व नहीं कर सकता और केवल ऐसी संस्थाओं को पोषित नहीं कर सकता जो धार्मिक माँगों के प्रति उदासीन हैं।

धर्मनिरपेक्षता सभी धर्मों के प्रति समान आदर के अर्थ में अथवा सामाजिक जीवन के विशिष्ट क्षेत्रों में धर्म से उदासीनता के अर्थ में, संयमन का तत्वविचार है, जो इसे प्रजातांत्रिक राजनीति से खासतौर से संगत बनाता है। जब राजनीतिक दल राजनीतिक सहायता जुटाने के लिए धार्मिक भेदभावों को बढ़ाते या उनका लाभ उठाते हैं तो इसे क्षति पहुंचती है (देखें बीटल, 2000)।

21.7 रूढ़िवाद (Fundamentalism)

अमरीकी रूढ़िवादियों के अनुभव और 1979 की ईरानी क्रांति के आधार पर मदान रूढ़िवाद का वर्णन जिस रूप में करते हैं; वह है (i) प्रेरणा का समर्थन, अंतिम प्राधिकार, निर्भ्रान्तता, विश्वास के स्रोत के रूप में धर्मग्रंथ की पारदर्शिता, ज्ञान, नैतिकताएँ और आचरण; (ii) रूढ़िवाद के प्रतिक्रियात्मक स्वरूप को (मान्यता), यह मूल आवेग नहीं है — उदाहरण के लिए जैसे परंपरानिष्ठा है, बल्कि यह संभावित खतरे या संकट की प्रतिक्रिया है; (iii) विरोध की असहनशीलता, सत्य पर एकाधिकार की अपेक्षा.....; (iv) सांस्कृतिक समालोचना अर्थात् यह विचार कि किसी विशिष्ट काल में समुदाय या सामाजिक जीवन यापन के तरीके में पूरी तरह से सब कुछ सही नहीं है; (v) परंपरा का अनुरोध, लेकिन ऐसे चुनिंदा तरीके से जो अतीत और वर्तमान के बीच सार्थक संबंध स्थापित करता है, इस प्रक्रिया के दौरान परंपरा को पुनः परिभाषित करता है और उसका आविष्कार भी करता है; (vi) राजनीतिक शक्ति (सत्ता) हथियाना और राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य का पुनर्निर्माण करना; और (vii) करिश्माई नेतृत्व। (मदान, 1998 : 27-28)।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

परंतु रूढ़िवाद को प्रायः परंपरानिष्ठा, पुनरुज्जीवनवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, परंपरावाद और सांप्रदायिकता के बराबर बताया जाता है। परंपरावाद और सांप्रदायिकता को तो विशेष रूप से रूढ़िवाद से मिला ही दिया जाता है अतः तीनों के बीच संक्षेप में अंतर बताना आवश्यक होगा। रूढ़िवाद की तुलना में परंपरावाद सबसे शांत है और यह धर्म के पवित्र क्षेत्र पर ही खोज करके संतुष्ट रहता है। यह धर्म को अन्य क्षेत्रों, खास तौर से राजनीति से मिला कर नहीं चलता। सांप्रदायिकता और रूढ़िवाद में सक्रियतावाद एक सामान्य तत्व है, संप्रदायवादियों के लिए एक विशिष्ट "इतर" होता है लेकिन रूढ़िवादियों के लिए "हम" बनाम "शेष" का भाव होता है क्योंकि "शेष" का अर्थ है "अन्य सामान्य"। इसके अतिरिक्त, रूढ़िवाद अपने समर्थकों के समुदाय को परिभाषित करने के लिए इसके दार्शनिक और धार्मिक आधारों पर गहराई तक विचार करता है। यह अंदर की ओर (मन में) अभिमुख होता है और आत्म-उत्पादक होता है। (गुप्ता 1996 : 206)।

यह सर्वविदित है कि अत्यधिक सहनशीनता और कैथोलिकता भारत की जनता के मानस की स्थायी सामान्य विशेषताएँ हैं। इस तथ्य के बावजूद कि भारत बहु-धर्मी, बहु-जातीय, बहु-भाषायी और बहु-सांस्कृतिक राष्ट्र है, रूढ़िवाद भारतीय लोगों के समग्र रूप के लिए विदेशी है। राष्ट्रवादी आंदोलन भी कुल मिलाकर बुनियादी स्तर या जनता के स्तर पर सर्व-समावेशी था, भारत के संविधान में भी राष्ट्रीय आंदोलन के मूल्य प्रतिबिंबित होते हैं।

तथापि मदान द्वारा ऊपर वर्णित रूढ़िवाद की सात विशेषताओं में से कुछ विशेषताएँ भारतीय राज्य-व्यवस्था में भी देखी या पहचानी जा सकतीं हैं। भारत में अतीत में भी और वर्तमान में भी हिंदुओं, मुसलमानों, सिखों तथा ईसाइयों में हमेशा ही रूढ़िवादी शक्तियों के पॉकेट या अंतः क्षेत्र (enclave) "एन्क्लेव" विद्यमान रहे हैं। वस्तुतः भारतीय जनता रूढ़िवाद के किसी न किसी रूपांतर खास तौर से, सांप्रदायिकता, धार्मिक राष्ट्रवाद और आतंकवाद के आकर्षी घातक आक्रमणों से पीड़ित होती रही है।

इसके कई कारण हैं। लेकिन पिछले पाँच या छह दशकों के दौरान यह परिघटना भारतीय राज्यव्यस्था के "लोकतंत्रीकरण" से घनिष्ठ रूप से संबंधित है और इसके साथ-साथ यह राजनीतिक "सत्ता" की मात्राओं के अंतःक्षेपण आदि से भी संबद्ध है।

इस्लामी रूढ़िवाद का आधार सर्व-इस्लामवाद की संकल्पना में है जिसकी अभिव्यक्ति तबलीकी (धर्म-परिवर्तन या धर्मांतरण) जैसे आंदोलनों में होती है और जो परिणामस्वरूप हिंदू रूढ़िवाद (शुद्धि आंदोलन) को पोषित करता है।

सर्व-इस्लामवाद के अंतर्राष्ट्रीय बहुशाखन भी हैं। उदाहरणार्थ, कुछ इस्लामी राज्य भारत में इस्लामी रूढ़िवादी ताकतों की सहायता (समर्थन) करते रहे हैं। अस्सी के दशक में यह तथ्य राजनीतिक दृश्य की अत्यंत प्रमुख विशेषता थी (मीनाक्षी पुरम धर्म-परिवर्तन)।

अब हम समकालीन भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका के कुछ उदाहरणों की विशेष रूप से चर्चा करना चाहेंगे। पहला उदाहरण है पाकिस्तान के पिता एम.ए. जिन्ना का जो अपनी धार्मिकता के लिए कभी भी विख्यात नहीं थे। उनका तर्क था कि इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच सांस्कृतिक भेदभावों की सराहना करने के लिए किसी को धार्मिक होने की जरूरत नहीं है। उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि भारतीय इस्लाम का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य पाकिस्तान के अलग राष्ट्र-राज्य के लिए औचित्य निमार्ण करता है। उनके विचार से इस्लाम और हिंदू धर्म, धर्म शब्द के अर्थानुसार पूरे अर्थों में धर्म नहीं बल्कि अलग-अलग और विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं और ये दो अलग सभ्यताओं से संबंधित हैं, जो मुख्यतः द्वंद्वात्मक विचारों और संकल्पनाओं पर आधारित हैं ..... (उपर्युक्त)।

अब अस्सी के दशक में प्रारंभ सिख आतंकवाद का उदहारण लीजिए। "सिख मूलतत्ववाद" एक "प्रतिक्रियात्मक" परिघटना है। यह रक्षा तंत्र है, जहाँ आक्रमणशीलता "..... परंपरा-विरोधी सिखों सभी समुदायों के धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों और सांप्रदायिक हिंदुओं की धमकियों और कुछ विशिष्ट प्रक्रियाओं, जिनमें प्रमुख हैं; आधुनिकीकरण, सांस्कृतिक विखंडन और राजनीतिक प्रभुत्व के भय के लिए आवरण है" (मदान 1998)। ये ऐसे भय और चिंताएँ हैं जिनसे मूलतत्ववादी चाहते हैं कि प्रत्येक सिख घिरा रहे।

सांस्कृतिक पहचान के लिए इस संभावित धमकी (खतरे) की वृद्धि की ऐतिहासिक और राजनीतिक गतिकी पर विस्तार से विचार करना यहाँ संभव नहीं है। लेकिन संक्षेप में कह सकते हैं कि इस भय और चिंता के चलते केवल अलग सिख राज्य "खालिस्तान" की माँग ही नहीं उत्पन्न हुई बल्कि सिखों, मुसलमानों ओर हिंदुओं के अनुप्रस्थ में मूलतत्ववाद का उदय भी हुआ। यह "कुछ धार्मिक समुदायों खास तौर से सिखों की, अपने खुद के सामुदायिक जीवन के आचरण में धर्म और राजनीति के अलगाव को अस्वीकार करने के उनके अधिकार की मान्यता के लिए माँग....." (मदान 1998) में भी अभिव्यक्त होता है।

21.8 निष्कर्ष

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद भारत की स्वीकृत विचारधारा है। इसका आधार राष्ट्रीय आंदोलन है। इसके अनुसार सभी धर्मों से समानता का व्यवहार किया जाता है जिसका अभिप्राय है कि राज्य की कार्यप्रणाली पर किसी भी धर्म का प्रभुत्व नहीं होगा। लेकिन "धर्मनिरपेक्ष" शब्द

का अर्थ यह नहीं है कि राज्य का धर्म से अलगाव है बल्कि इसका अर्थ है कि राज्य सभी धर्मों के प्रति तटस्थ है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धार्मिक समदूरी है, लेकिन अलग रहना (विलग्नता) नहीं। यहाँ धर्म भारतीय नागरिकता का निधार्रक नहीं है, यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

भारत में जन राजनीति के लिए धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और धार्मिक राष्ट्रवाद दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठनात्मक साधन रहे हैं, जिन्होंने राजनीति में भावावेश उत्पन्न किए हैं — जो कभी-कभार बहुत हिंसात्मक भी थे। इसने मुख्यतः दो स्वरूप अपनाए हैं, मुस्लिम और हिंदू राष्ट्रवाद। मुस्लिम राष्ट्रवाद बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उभरा। इसके कारण 1947 में पाकिस्तान का जन्म हुआ। हिंदू राष्ट्रवाद को मुस्लिम राष्ट्रवाद का प्रतिबिंब माना जा सकता है। हिंदू राष्ट्रवादियों के अनुसार, हिंदू धर्म केवल भारत के बहुसंख्यक समुदाय का धर्म ही नहीं है बल्कि यह हिंदू धर्म ही है जो भारत को इसकी विशिष्ट राष्ट्रीय पहचान प्रदान करता है; अन्य धर्मों को हिंदू केंद्र में ही सम्मिलित होना चाहिए। (वार्ष्णेय, 2002)। हिंदू राष्ट्रवादी भारत के भाग्य को आकार देने और राजनीतिक रूप से हिंदू एकता निर्मित करने के लिए सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रमुखता रखने का आग्रह करते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि भारतीय राज्य-व्यवस्था उप-महाद्वीपी और जटिल है। बहुलवाद इसकी विशेषता है। 1947 से भारत ने लोकतंत्र की राजनीतिक संस्कृति स्वीकारी है। इस लोकनीति में, धर्म और राजनीति के बीच की गतिकी ने धर्मनिरपेक्षता, सांप्रदायिकता का उदय, धार्मिक राष्ट्रवाद औरा मूलतत्ववाद जैसी अनेकों समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। सबसे बढ़कर इसने यह अतिसंवेदनशील प्रश्न भी उठा दिया है कि भारत की राष्ट्रीय पहचान का स्वरूप क्या है — भारत क्या है? और भारतीय कौन हैं?

21.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दुर्खाइम, इमाइल, 1965 (1915). *ऐलीमेंटरी फॉर्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ*, जो डब्ल्यू. स्वेन, एफड्री प्रेस, न्यूयॉर्क द्वारा अनुवादित।

मदान, टी.एन. (संपा.) (1991). *रिलीजियन इन इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

MADHYAM IAS

इकाई 22

धर्म और संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

22.1 प्रस्तावना

22.2 संस्कृति : अर्थ और परिभाषा

22.3 धर्म : अर्थ और परिभाषा

22.4 सैद्धांतिक व्याख्या : धर्म और संस्कृति के बीच बंधन

22.5 समाजशास्त्रीय व्याख्या : पवित्र और धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के बोध हेतु तीन दृष्टिकोण

22.6 भारत में धर्म और संस्कृति

22.7 निष्कर्ष

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- संस्कृति और धर्म की संकल्पना का अर्थ और परिभाषा बता सकेंगे;
- धर्म और संस्कृति के बीच बंधन की सैद्धांतिक व्याख्या कर सकेंगे;
- पवित्र और धर्मनिरपेक्ष या लौकिक व्यवस्था के बोध हेतु तीन क्लासिकी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का वर्णन कर सकेंगे;
- संस्कृति और धर्म को समझने के लिए कुछ अन्य दृष्टिकोण का वर्णन कर सकेंगे; और
- भारत में संस्कृति और धर्म के बीच संबंध की व्याख्या कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

22.1 प्रस्तावना

समाज विज्ञानों में दो विषय दर्शन और समाजशास्त्र प्रबलता से लगातार यह खोज करते रहते हैं कि सभी संस्कृतियों के धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ क्यों होतीं हैं, और वे उनके बारे में अत्यंत संवेदनशील क्यों होते हैं। पारंपरिक, आधुनिक और उत्तर आधुनिक सभी समाजों में धर्म के किसी न किसी रूप का व्यवहार किया जाता है और धर्म को समाज में हर जगह एक महत्वपूर्ण घटक माना जाता है। कुछ "समाजवादी" राज्यों में भी, जहाँ धर्म से केवल सीमान्त भूमिका निभाने की अपेक्षा की भी जाती है, वहाँ भी धर्म ने असाधारण दृढ़ता दिखाई है। यह देखा गया है कि ऐसे राष्ट्र राज्यों में जनजीवन में धर्म का अनुपालन करने पर पाबंदी लगी होने के बावजूद लोग यहाँ पर किसी न किसी प्रकार के धर्म का अनुपालन करते हैं। वामपंथी "समाजवादी" जगत में हाल ही में हुए राजनीतिक और सांस्कृतिक विकासों द्वारा एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था के रूप में धर्म का महत्व स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है। उदाहरणार्थ पोलेंड में 1990 के दशक के दौरान लेस वालेशा नामक एक केथोलिक राजनीतिक नेता साम्यवादी शासन को गिराने में सहायक (साधक) थे।

भारत जैसे विविधतापूर्ण और विषमजातीय समाज में, धार्मिक पंथों, संप्रदायों और दिव्य विश्वास की प्रणालियों की बहुलता पाई जाती है। भारतीय संस्कृति में विश्वास की प्रणालियों और धार्मिक आदेशों को हमेशा से अत्यधिक महत्व दिया जाता रहा है। अतः, हमारे विषय के संदर्भ में संस्कृति और धर्म के बीच संबंध के स्वरूप पर प्रणालीबद्ध समाजशास्त्रीय चर्चा करना महत्वपूर्ण हो जाता है। परंतु इस चर्चा में, ऐसे संबंधों के स्वरूप के बारे में हमें व्यापक और विद्वतापूर्ण दृष्टिकोणों और संकल्पनात्मक विचारों का ध्यान रखना होगा। इस प्रकार की चर्चा समाजशास्त्रीय रूप से तब उपयोगी हो जाती है जब इसे ज्ञान के समाजशास्त्र के वैश्विक ढ़ाँचे में रखा जाये जहाँ से भारतीय स्थिति को समझने के लिए निष्कर्ष निकाले जाएँ।

यह भी, निस्संदेह, समान रूप से सत्य है कि सभी समाजों में, जिनमें वे समाज भी शामिल हैं जहाँ धर्म को शासक संभ्रांत वर्ग का राजनीतिक और आर्थिक सहयोग प्राप्त होता है, उल्लेखनीय संख्या में नास्तिक लोग पाए जाते हैं। समाजशास्त्रियों द्वारा अक्सर उठाया जाने वाला विचारणीय प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों है कि कुछ व्यक्ति और समूह धर्म में सच्चे दिल से विश्वास करते हैं और उसका अनुपालन करते हैं; जबकि उसी समाज या संस्कृति में अन्य व्यक्ति और समूह धर्म के बारे में शंकालु होते हैं। इससे समाजशास्त्र की दो महत्वपूर्ण संकल्पनाओं अर्थात् धर्म और संस्कृति के बीच के जटिल संबंध का मुद्दा भी उठता है। काफी समय से बिना प्रतिबंध के यह सिद्ध हो चुका है कि धर्म एक जटिल विषय है, खास तौर से जब इस पर वैयक्तिक की बजाय संपूर्ण सामाजिक संदर्भ की दृष्टि से विचार किया जाता है और इसलिए इस विषय पर समाज वैज्ञानिकों द्वारा गहन अध्ययन करने की जरूरत है। इस इकाई में धर्म और संस्कृति के बीच संबंध के बहुमुखी मुद्दे से संबंधित विचारणीय मुद्दों पर संकल्पनात्मक स्तर पर चर्चा करने का और इस विश्वास के आधार पर भारतीय परिदृश्य को समझने का प्रयास किया जाएगा।

"धर्म और संस्कृति" विषय पर चर्चा महत्वपूर्ण बहस इस लिए रही है क्योंकि सदा की भाँति आज भी धर्म को सभी समाजों का एक निर्णायक आयाम माना जाता रहा है। शहरीकरण, औद्योगीकरण और उद्योगोत्तर संदर्भ में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के बावजूद धर्म और इसकी प्रथाएँ समकालीन मानव जीवन के लगभग सभी पहलुओं का स्पर्श करती हैं। धर्म के समाजशास्त्र में धर्म को इसकी विविध अभिव्यक्तियों जैसे सामाजिक संस्था, सांस्कृतिक प्रक्रिया और ऐसे विश्वासों और क्रियाकलापों की पद्धति के रूप में समझने का प्रयास किया जाता है जो प्रचलित सामाजिक स्थितियों द्वारा स्वरूप ग्रहण करतीं हैं और बदले में इन स्थितियों को स्वरूप प्रदान करती हैं। यद्यपि धर्म निरपेक्षीकरण और वैश्वीकरण जैसे नवीन विकासों ने पूरी दुनिया में धार्मिक आचरण के कई पहलुओं को चुनौती दी है, तथापि धार्मिक भावना अभी भी समकालीन समाज की एक प्रमुख विशेषता है। हाल ही के दशकों में यह सामान्यतः देखने में आया है कि विभिन्न देश अक्सर उस धर्म के आधार पर विशिष्ट खण्डों (जैसे ईसाई का इस्लामिक राष्ट्र) में बँटे हुए हैं जिसका वे समर्थन और अनुरक्षण करते हैं। यही नहीं बल्कि ऐसे भेदभाव से उन लोगों के प्रति जो उस धर्म से संबंध नहीं रखते यदि बाहरी घृणा नहीं तो अंदरूनी शत्रुता और चिड़चिड़ाहट तो पनपती ही है।

संस्कृति और धर्म के बीच संबंध पर समाजशास्त्रीय चर्चा इसके ऐतिहासिक महत्व के कारण भी महत्वपूर्ण हो जाती है। आधुनिक समाज विज्ञान युग के अनेकों प्रमुख बुद्धिजीवियों ने संगठित और संस्थागत धर्म का विरोध किया। एक अर्थ में, यूरोप में आधुनिक बुद्धिवादी प्रस्तावों के मूल स्वरूप की रचना चर्च के उन सिद्धांतों से संस्कृति और समाज की मुक्ति के आंदोलन के रूप में हुई थी जो मध्यकालीन यूरोप पर राज कर रहे थे। तब इस आंदोलन का वर्णन धर्म और धार्मिक संस्था के सैद्धांतिक स्वरूप से

वैज्ञानिक स्वरूप के मुकाबले के रूप में था। जब समाजशास्त्र का जन्म हुआ उस काल के प्रगतिशील बुद्धिजीवी धार्मिक विश्वास प्रणाली के सैद्धांतिक अनुगमन का कट्टर रूप से विरोध करते थे। वे धार्मिक तर्क वितर्कों से वंचित सांस्कृतिक प्रणाली बनाने के लिए तैयार थे। ये सभी कारण संस्कृति और धर्म के बीच संबंध पर एक संकेंद्रित बहस करने की आवश्यकता की और निदेशित करते हैं। यह विचार-विमर्श समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति की कार्य प्रणाली के संदर्भ में करना चाहिए। इस इकाई में आगे यह प्रयास इस विषय पर उपलब्ध वृहत् समाजशास्त्रीय साहित्य की सहायता से किया जाएगा।

इस संबंध में, भारतीय "पवित्रम्मान्य " (Sacred cow) पर मानवविज्ञान के सांस्कृतिक पारिस्थतिकी शास्त्र द्वारा भारतीय पवित्र गाय पर प्रस्तुत किया गया प्रसिद्ध तर्क स्मरण करने योग्य है। भारत में गंभीर कुपोषण की समस्या से अत्यंत प्रतिकूल गाय वध पर यह हिंदू निषेध का मामला है। मार्विन हेरिस (1975) ने दर्शाया कि भारतीय पारिस्थितिक व्यवस्था में पशुधन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक ओर धार्मिक प्रथाएँ और दूसरी ओर सांस्कृतिक और पारिस्थितिक कारणों के बीच घनिष्ठ संबंध वे मुद्दे हैं जो यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। इस समाज को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए भारत में संस्कृति और धर्म के बीच संबंध में इस प्रकार की समाज शास्त्रीय अंतर्दृष्टि की वृद्धि करने की आवश्यकता है। यदि धर्म और संस्कृति के बीच संबंध को समझने का प्रयास किया जाए तो मानव व्यवहार और प्रकृति के बीच के अत्यंत जटिल संबंध को और अच्छी तरह से समझा जा सकता है। भारतीय समाज की सांस्कृतिक और धार्मिक प्रणालियाँ, अनिवार्य रूप से, उप-प्रणालियों के रूप में व्यापक सामाजिक संरचना के अंतर्गत कार्य करतीं हैं।

22.2 संस्कृति : अर्थ और परिभाषा

"समाज" नामक सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप और निष्पादन को समझने में संस्कृति की केंद्रीयता के कारण समाजशास्त्रीय शोध में संस्कृति की संकल्पना पर विशेष ध्यान दिया जाता है। समाज में व्यक्ति के अध्ययन में इसकी केंद्रीय स्थिति के कारण संस्कृति समाजशास्त्रीय साहित्य के शायद सर्वाधिक चर्चित और विचारणीय विषयों में से एक है। मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को समझने के लिए, इस संकल्पना ने समाजशास्त्रियों, सांस्कृतिक, मानव वैज्ञानिकों, साहित्य के विद्वानों और सामाजिक मनोवैज्ञानिकों आदि का ध्यान आकर्षित किया है। इसकी बहुमुखी और बहुआयामी विशेषताओं सहित, संस्कृति के अध्ययन को पिछले कुछ दशकों से काफी अधिक महत्व दिया जा रहा है।

साधारण बोलचाल में संस्कृति शब्द का प्रयोग अक्सर कला, साहित्य, संगीत आदि में संस्कारित रुचियों के संदर्भ में किया जाता है। परंतु इस शब्द का समाजशास्त्रीय प्रयोग अधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें एक समाज की पूरी जीवन शैली शामिल की जाती है। अतः धर्म और संस्कृति के बीच बहुत घनिष्ठ संबंध होता है। संस्कृति की व्याख्या कभी-कभी भौतिक और अ-भौतिक संदर्भों में की जाती है। पुस्तकें, पेन, स्कूल, फैक्टरियाँ, पहिए आदि जैसी वस्तुएँ तो भौतिक संस्कृति की परिचायक हैं लेकिन भाषा, विचार, धार्मिक विश्वास, प्रथाएँ, मिथक जैसी अधिक अमूर्त रचनाएँ अ-भौतिक संस्कृति का अंग हैं।

व्याख्याओं के समान ही संस्कृति शब्द की परिभाषा भी व्यापक है। सामान्य अर्थों में संस्कृति को "जीवन यापन की रूपरेखा" (क्लूकहोन 1949)या योजनाओं, युक्तियों, नियमों, भूमिकाओं, निर्माणों-क्रियाविधियों का समुच्चय (सेट) या जिसका कम्प्यूटर की शब्दावली में "सामाजिक व्यवहार के लिए क्रमादेशन" (गीर्टज 1978), कहकर वर्णन किया जाता है, के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। दोनों ही परिभाषाएँ समाज में संस्कृति के महत्व और जीवन्तता की ओर संकेत करती हैं। संस्कृति परिवेश से अनुकूलन

करने के मानवीय तरीके तथा सीख कर अर्जित की गई, जीवनयापन की रूपरेखा की परिचायक है।

संस्कृति उपलब्ध या अर्जित की जाती है यह नैसर्गिक या आरोपित नहीं होती। यह मानव समाजीकरण — अर्थात् अंतःक्रिया और सीखने की सतत् तथा आगे चलने वाली प्रक्रिया जिसके द्वारा हम एक व्यक्तिगत पहचान और समायोजन करने तथा विकास के कौशल अर्जित करते हैं, द्वारा प्राप्त की जाती है। अर्जन की इस प्रक्रिया का मूल तत्व एक मानव समूह से अगले समूह में ले जाया जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संप्रेषित कर दी जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम किस प्रकार के व्यक्ति बनते हैं इस पर संस्कृतीकरण अर्थात् किसी संस्कृति में उस सीमा तक लीन हो जाना जहाँ जीवनयापन की विशिष्ट रूपरेखा "केवल नैसर्गिक" और अनिवार्य रूप से प्रदत्त लगती है — का प्रबल प्रभाव पड़ता है। हममें से अधिकांश लोग अपनी सांस्कृतिक प्रथाओं के बारे में कोई प्रश्न नहीं पूछते और उन पर आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डालते क्योंकि वे नैसर्गिक रूप से हमारी हैं और वे हमारे लिए कोई बाहरी तत्व नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार में संयोग से जन्म लेता है और वह उस विशिष्ट समूह के सदस्य के रूप में एक संस्कृति अर्जित करता है। क्योंकि सांस्कृतिक विशेषताएँ एक निश्चित समुदाय के अंतर्गत पहचाने जाने योग्य और विशिष्ट होतीं हैं अतः किसी सांस्कृतिक तत्व या प्रथा की वांछनीयता या अवांछनीयता पर कोई सामान्यीकृत और सार्वभौमिक निर्णय नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रणाली केवल उसके सदस्यों के ही लिए उपलब्ध होती है और बाहरी एजेंट किसी संस्कृति की उपयुक्तता का निर्णय उस संस्कृति से बाहर के मानकों द्वारा नहीं कर सकते। किसी संस्कृति और उसकी प्रथाओं की आलोचना या औचित्य प्रतिपादन सार्थक रूप से केवल अंदर से उभर कर ही आ सकता है।

सोचें और करें 22.1

ऐसी 10 वस्तुओं की सूची बनाइए जो भौतिक संस्कृति की हों और 5 ऐसी वस्तुओं की जो अभौतिक संस्कृति की हों और जो आपके धर्म से संबंधित हों और आपके समाज/समुदाय में मिलती हों। "मेरी संस्कृति और मेरे विश्वास" पर एक पृष्ठ का निबंध लिखिए। अब अपनी सूची और निबंध की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की सूची और निबंध से करिए।

संस्कृति सामान्यतः भौतिक और अभौतिक दो प्रकार बताए जाते हैं। यद्यपि इस विभेद में कुछ धारणात्मक अति व्याप्ति है। अनेकों भिन्न-भिन्न वर्ग जो किसी समूह के जीवन निर्वाह की रूपरेखा बनाते हैं, जैसे परिष्कृत विज्ञान और प्रौद्योगिकी से लेकर खिलौने और बच्चों के खेल; कला और संगीत की महान कृतियों से लेकर रसोई के बरतन; पवित्र समारोहों और पूजा के कार्यों से लेकर हाथ मिलाने और "नमस्ते" कहने की प्रथाएँ; किसका स्वाद अच्छा है किसका नहीं से संबंधित विश्वास; यहाँ तक कि यौन (सैक्स) से संबधित जीवन की रूपरेखा की रचना जीवनपर्यंत सीख कर ही होती हैं। यह हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं कि सांस्कृतिक अर्जन में सीखने का प्रमुख महत्व है। सीखने की मात्रा ही संस्कृति को और समूह के अंतर्गत संस्कृति से संबंधित कार्यक्रम को समझने की हद और दर का निर्धारण करती है। इस भाँति संस्कृति किसी व्यक्ति की जीवनशैली को परिभाषित करती है। व्यक्ति के जीवन में सीखने संबंधी सभी अनुप्रयोगों में, धर्म अर्जित करने का विशिष्ट स्थान है। इससे व्यक्ति को समूह के अंतर्गत अपनी सामाजिक क्रियाविधि में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अतः, धर्म पर समाजशास्त्रीय चर्चा निरपवाद रूप से

संस्कृति पर और समाज के इन दो महत्वपूर्ण तत्वों के बीच पारस्परिक संबंध पर विस्तृत चर्चा करने की ओर अग्रसर करती है।

संस्कृति में मानव समाज के सभी साझे उत्पाद, वस्तुनिष्ठ और विषयनिष्ठ तत्व शामिल हैं। समाज में व्यक्ति के जीवननिर्वाह के सभी पहलू संस्कृति से प्रभावित होते हैं। वस्तुतः, पार्सन्स के अनुसार, सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था एक दूसरे से मुक्त होकर विद्यमान नहीं रह सकती और ऐसा कोई भी विभेद केवल निष्कर्षण और विश्लेषण के लिए बनाया गया है। संस्कृति अन्य सभी सामाजिक संस्थाओं के लिए मंच बनाती है। इन संस्थाओं में परिवार, नातेदारी, विज्ञान, अर्थव्यवस्था, राजतंत्र और धर्म शामिल हैं।

धर्म और संस्कृति घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं और समाज नामक जटिल सामाजिक तत्व से अलग नहीं किए जा सकते। क्लिफोर्ड गीर्टज का कथन है कि "असांस्कृतिक मनुष्य वस्तुतः, विद्यमान नहीं होते, न कभी विद्यमान थे और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस तरह के लोग विद्यमान हो ही नहीं सकते।" हमारी मानव जाति की अभूतपूर्व सफलता मानव संस्कृति के अस्तित्व पर ही निर्भर करती है। हम संस्कृति की रचना करते हैं और बदले में संस्कृति हमारी रचना करती है। हमारी साझी सांस्कृति ही वह तत्व है जो हमारे सामाजिक जीवन को संभव बनाती है। अतीत से कोई संस्कृति अगर संप्रेषित नहीं होगी तो प्रत्येक नई पीढ़ी को मानव अस्तित्व (जीवन) की अधिकांश प्रारंभिक समस्याओं को फिर से सुलझाना पड़ेगा। संस्कृति के बिना हमको शायद हर सुबह आग का आविष्कार करना पड़ेगा।

दुनिया भर में विभिन्न प्रकार की अनेकों संस्कृतियाँ पाई जाती हैं और प्रत्येक संस्कृति अपने स्वरूप और विचार-तत्वों की दृष्टि से अद्‌भुत है। संस्कृति संबंधी भिन्नताओं का उन प्रकार्यो के संदर्भ में स्पष्टीकरण किया जा सकता है, जो तत्व सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए करते हैं और हमारे इर्द-गिर्द के संपूर्ण परिवेश के अनुकूलन के रूप में उन तत्वों के पारिस्थितिक महत्व के संदर्भ में। यह बात सच है कि मनुष्यों के प्रवास और गतिशीलता के कारण सांस्कृतिक विनिमय होते हैं और कभी-कभी व्यापार तथा वाणिज्य या तीर्थाटन आदि के लिए भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के लोगों के बीच अंतःक्रिया होती हैं और हो सकता है इसी के परिणामस्वरूप एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में प्रसार होने लगा हो।

संक्षेप, में हम कह सकते हैं कि, सभी संस्कृतियों में पाँच मूल तत्व निहित होते हैं : विश्वास (संसार कैसे संचालित होता है इसके बारे में विचार) मूल्य (जीवन के अर्थ के बारे में विचार); मानक और संस्वीकृतियाँ (व्यवहार के लिए मार्गदर्शी निर्देश) अर्थपूर्ण प्रतीक (विचारों और मूल्यों की भौतिक प्रस्तुतियाँ); और भाषा।

22.3 धर्म : अर्थ और परिभाषा

अपने पारंपरिक रूप में भारतीय संस्कृति ने धर्म को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। **धर्म** की संकल्पना (इसके सांस्कृतिक अर्थ से उधार लेकर कर्त्तव्य के रूप में अस्पष्ट शैली में अनुवादित) भारत में हजारों वर्षों से हिंदुओं की संस्कृति के लिए मार्गदर्शी ज्योतिपुंज रही है। यद्यपि धर्म शब्द बहुत विशाल है और इसका क्षेत्र रिलीजन शब्द (आस्तिकता, विश्वास) की तुलना में व्यापक है, धार्मिक आदेशों ने सांस्कृतिक प्रथाओं के सभी रूपों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अकसर यह कहा जाता है कि **वृत्ति धर्म** (व्यावसायिक कर्त्तव्य), **राज धर्म** (शासक का कर्त्तव्य), **मानव धर्म** (मनुष्य के रूप में कर्त्तव्य), **सामान्य धर्म** (सामान्य दायित्व) और इसी तरह के अन्य धर्म, जैसा पहले वर्णन किया गया है, यथार्थतः धर्म के अनुष्ठानात्मक कार्य के अंग नहीं हैं।

भारतीय संदर्भ में, धर्म विश्व की व्यवस्था का वर्णन करता है और आवश्यक नहीं कि आलौकिक शक्ति के किसी कार्य का वर्णन करे। उदाहरण के लिए, जब उपनिषद कहते हैं : "सत्यम वद् धर्माचरा" (सच बोलो, अपने कर्त्तव्य का पालन करो)। व्यक्ति को सलाह दी जाती है कि वह कोई धार्मिक कार्य करने की बजाय सांस्कृतिक प्रणाली के उच्च मूल्यों के अनुसार काम करे। दूसरे शब्दों में, दैनिक क्रियाओं को पूरा करना धर्म है और धार्मिक कार्यों और अनुष्ठान को करना ही हमेशा धर्म नहीं कहलाता। धर्म के इस पहलू पर आगे और विचार करने से पहले, हमें धर्म की समाजशास्त्रीय संकल्पना पर इसके सामान्य अर्थ में स्पष्ट रूप से विचार कर लेना चाहिए।

भारत विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के लिए स्वदेश है। भारत का प्रमुख धर्म हिंदू धर्म है, लेकिन इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म, यहूदी धर्म और विश्व के अन्य अनेकों धर्म के अनुयायी भी यहाँ निवास करते हैं। परंतु, धर्मनिरपेक्षता के आगमन से, विशेष रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था, राज्यतंत्र, विज्ञान और संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में आगमन से भारतीय धार्मिक परिदृश्य में प्रमुख परिवर्तन हुए हैं। वस्तुतः, हमने जब शासन का धर्म निरपेक्ष रूप अपनाया उसके बाद से ही भारत में धर्म का अर्थ ही बदल गया है। धर्म और समाज की अन्य संस्थाओं के बीच संबंधों ने आधुनिक भारतीय के जीवन में धर्म के स्थान में आमूल परिवर्तन दिया है। भारत में पहले यह धारणा थी कि समाज में प्रत्येक सदस्य का अपना-अपना धर्म होता है, परंतु अब यह माना जाता है कि धर्म भी अन्य सामाजिक संस्थाओं जैसी एक संस्था है जिसे किसी न किसी प्रकार के सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता है।

हम यह जान चुके हैं कि सभी समाजों और संस्कृतियों में धर्म विद्यमान है। प्रारंभिक पश्चिमी विचार कि "केवल पश्चिम ही धार्मिक था और अन्य लोग ईश्वरीय कृपा से वंचित हैं" काफी पहले ही अर्थहीन सिद्ध हो चुका है। भारत, मिश्र और चीन जैसी प्राचीन संस्कृतियों की हजारों वर्ष पहले ही अत्यंत जटिल और व्यापक धार्मिक प्रणालियाँ होती थीं। धर्मशास्त्रियों ने तो विश्व के केवल कुछ हिस्सों में ही धर्मों के विद्यमान होने के बारे में बताया था परंतु समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने कॉम्टे, स्पेंसर और बाद में दुर्खाइम और वेबर के शास्त्रीय लेखनों के वर्णनों धर्म की विश्वव्यापकता को हमेशा से ही स्वीकार किया है। परंतु धर्म की विश्वव्यापकता के मुद्दे का फैसला करने से यह कठिन समस्या उत्पन्न हो गई है कि सभी संस्कृतियों में धर्म का कोई न कोई रूप क्यों होना चाहिए और व्यक्ति के जीवन में धर्म की इतनी प्रमुख भूमिका क्यों होनी चाहिए।

इस विषय की कुछ युक्तिसंगत व्याख्याएँ की गई हैं। सभी भक्तों के लिए ईश्वर का प्रारंभिक प्रकटीकरण (दैवी संदेश) एक बोधगम्य धर्मशास्त्रीय व्याख्या है जिसने मध्य युगों के दौरान काफी ख्याति प्राप्त की। लेकिन ऐसी व्याख्या वैज्ञानिक जाँच के क्षेत्र से बाहर है, वैधता के संदर्भों में अतर्कसंगत है और तर्कसंगत जाँच के संदर्भ में स्वीकार्य नहीं हो सकती। इस अनिश्चितता के विकल्प के रूप में समाजशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर अधिक तर्कसंगत और विषयनिष्ठ तरीके से विचार किया है, और ऐसा करते समय उन्होंने अकसर सांस्कृतिक मानवविज्ञान, मनोविज्ञान और साहित्य जैसे अन्य समान विषयों से अंतर्दृष्टि और तर्कवाक्य गृहण किए हैं।

बॉक्स 22.1: धर्म और मनोविज्ञान

संस्कृति में धर्म की प्रधानता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या इस तथ्य पर अत्यधिक निर्भर करती है कि धर्म तनाव, चिंता और कुंठा के शांतिदाता के रूप में काम करता है। सभी मनुष्य तनाव से गुजरते हैं और यह तर्क दिया जाता है कि ऐसी बहुत सी स्थितियों में धर्म पीड़ित व्यक्ति के तनाव को कम करने के लिए सांत्वना देने वाले के रूप में काम कर सकता है। तथापि, हम जानते हैं कि जिंदगी में हमेशा ऐसा नहीं

होता। अक्सर यह देखने में आता है कि, कुछ मामलों में तो स्वयं धर्म सांत्वनादाता की बजाय, तनाव और चिंता का स्रोत बन जाता है।

धर्म अपनी सर्वव्यापक उपस्थिति में और सार्वभौमिक है। इस बारे में समाजवादियों और मानवविज्ञानियों ने हमें ठोस प्रमाण उपलब्ध कराए हैं। प्रागैतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट रूप से यह संकेत मिलता है कि धार्मिक प्रथाएँ मानव समूह के अत्यंत प्रारंभिक काल से ही चली आ रहीं हैं। अनेकों गहन अध्ययनों से इसी बात की अधिक जानकारी मिल रही है कि जिन लोगों के बारे में प्रारंभ में यह रिपोर्ट दी गई थी कि उनका कोई धर्म नहीं , वस्तुतः उनके धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ विद्यमान थीं; इस बारे में दी गई अनेकों प्रारंभिक रिपोर्टें गलत सिद्ध हुई हैं, क्योंकि जिस समुदाय की इस संबंध में जाँच की जा रही थी उसके बारे में जाँचकर्ताओं के विचार या तो पूर्वाग्रह युक्त थे या उनके संपर्क सतही थे। द्वंद्व समाजशास्त्र भी एक सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के सर्वत्रव्यापी स्वरूप को अलग नहीं करता। मार्क्सवादी संकल्पनात्मक आधार वाक्य तो धर्म को शक्तिसंपन्न लोगों द्वारा शक्तिहीन व्यक्तियों को नियंत्रित करने का तंत्र कहकर टाल देता है, लेकिन समाज में धर्म के विभिन्न रूपों के अस्तित्व के बारे में अभी तक खंडन नहीं किया गया है।

अन्य शब्दों की भाँति, धर्म शब्द में भी इसकी प्रारंभिक सरल व्याख्याओं से बदलाव आया है। यह शब्द लेटिन के रिलीजिन शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है "नेकनीयती" (सच्चाई)। अपने मूल अर्थ में यह शब्द किसी प्रकार के "अनुष्ठान" का भी संकेत देता है। सामान्य अर्थों में, धर्म शब्द का अर्थ ऐसे संस्थागत विश्वासों और प्रथाओं के समुच्चय के रूप में माना जाता है, जो जीवन के चरम सत्य से संबंधित होते हैं। संस्कृति के सत्य के समान, धर्म समाज के हर सदस्य के व्यवहार हेतु नैतिकता के दिव्य, आलौकिक या अतींद्रिय आदेश द्वारा धारित सिद्धांतों के अनुसार एक रूपरेखा प्रदान करता है। धर्म ऐसी वस्तु है जिसका लोग सामाजिक समूहों के सदस्यों के रूप में अनुसरण करते हैं और इसलिए धर्म का अध्ययन निरपवाद रूप से जनसमूह और संस्कृति के अध्ययन की ओर अग्रसर करता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यह हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं कि धर्म ऐसी प्रमुख सामाजिक संस्था है जो रिकार्डबद्ध मानव इतिहास की शुरुआत से ही समाज के सभी रूपों में पाई जाती है, यद्यपि इसका स्वरूप और अंतर्वस्तु हर अवधि में और हर क्षेत्र में बदलती रही है। इसके बाहरी स्वरूप में पाई जाने वाली अनेकों भिन्नताओं के कारण समाजशास्त्रियों के लिए इसकी संकल्पना की संतोषपूर्ण परिभाषा प्रदान करना अत्यंत कठिन हो जाता है। धर्म के अध्ययन में जिन प्रश्नों पर विचार किया जाता है वे हैं; विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के विभिन्न धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ कैसे होतीं हैं, पूरी दुनिया में धार्मिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं को सार्थक रूप से कैसे समझा जा सकता है और उनके सही संदर्भ में रखा जा सकता है। इस अर्थ में, धर्म का अध्ययन तुलनात्मक है, क्योंकि भिन्न सांस्कृतिक संदर्भों के अंतर्गत विभिन्न धर्मों और भिन्न-भिन्न प्रकार की धार्मिक प्रथाओं के बीच तुलनाएँ की जाती हैं। वस्तुतः, आधुनिक समाजशास्त्रीय साहित्य में, धार्मिक अध्ययनों का अकसर "तुलनात्मक धर्म" कहकर वर्णन किया जाता है। समकालीन सामाजिक विज्ञानों में अब धर्म को एक विश्वव्यापी सामाजिक संस्था समझने के सामान्य विचार से परे हटने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। इसकी बजाय अब इसको दो अलग-अलग परंतु पारस्परिक रूप से संबंधित दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास किया जा रहा है। पहला दृष्टिकोण है, धर्म को धार्मिक परंपराओं की व्याख्या के रूप में देखना और दूसरा धर्म को एक विश्वव्यापी सामाजिक संस्था के रूप में देखना जो सभी मानव समाजों में पाई जाती है।

22.4 सैद्धांतिक व्याख्या : धर्म और संस्कृति के बीच बंधन

सामाजिक प्राणी होने के नाते, व्यक्तियों को एक दूसरे की जरूरत पड़ती है और जीवन के नियमित क्रम में घटित होने वाले सुख और दुखों को आपस में बाँटना जरूरी होता है। जीवन की कुछ बातों को तो तर्क, सामान्य-बुद्धि और व्यक्ति उसकी सामाजिक स्थिति से उपलब्ध वैज्ञानिक तार्किकता के संदर्भ में समझा सकता है, लेकिन सभी बातों का तर्कपूर्ण रूप से निष्कर्ष नहीं प्रस्तुत किया जा सकता जिससे वह संतुष्ट हो सके। अतः व्यक्ति को उन घटनाओं और मुद्दों को समझने के लिए जिन्हें वह सामान्य बुद्धि द्वारा या अपने पास उपलब्ध भौतिक वस्तुओं द्वारा नहीं समझ सकता, ज्ञानोदय (स्पष्टीकरण) की जरूरत होती है। ऐसे अनसुलझे रहस्यों और जिज्ञासाओं के बारे में स्पष्टीकरण प्रदान करने में धर्म महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता है। अतः लोग कुछ आलौकिक शक्तियों की रचना करते हैं और यह विश्वास करना शुरू कर देते हैं कि इन शक्तियों ने ही उन्हें (मनुष्यों को) बनाया है। वे आध्यात्मिक रहस्यवादी के क्षेत्र के अंतर्गत अबोध्य प्रश्नों के उत्तर ढूंढते हैं और ऐसे सिद्धांतवाक्यों से नैतिक आदेश गृहण करते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि अधिकांश मामलों में, समाज में व्यक्ति व्याख्यात्मक क्रमों के दो पृथक स्तरों पर काम करते हैं — लौकिक और पारलौकिक, पवित्र (पावन) और धर्मनिरपेक्ष या साधारण।

22.5 समाजशास्त्रीय व्याख्या : पवित्र और धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के बोध हेतु तीन दृष्टिकोण

धर्म और संस्कृति पर उनके समाजशास्त्रीय संदर्भ में विचारविमर्श के दौरान दो महत्वपूर्ण संकल्पनाओं पवित्र और धर्मनिरपेक्ष पर गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने की जरूरत है। हर जगह लोग अपनी दुनिया को पवित्र या लौकिक (अपवित्र) या धर्मनिरपेक्ष के क्षेत्रों में बाँटते हैं। इस संदर्भ में, पाठक (विद्यार्थी) के लाभ के लिए धर्म और समाज के बीच सबंध की समाजशास्त्रीय व्याख्या के तीन दृष्टिकोणों की चर्चा करना उचित होगा। ये तीन दृष्टिकोण तीन महान् विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इनके नाम हैं : (1) कार्ल मार्क्स, (2) इमाइल दुर्खाइम, और (3) मेक्स वेबर। शास्त्रीय (क्लासिकल) समाजशास्त्र में धर्म और संस्कृति के बीच के संबंध को समझने के लिए हम इन तीन सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

1) कार्ल मार्क्स, जर्मन विद्वान थे। उन्होंने धर्म का द्वंद्व परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया था। मार्क्स ने धर्म को समाज के प्रतिबिंब के रूप में देखा (अपने समय के अन्य सैद्धांतिकों की भाँति धर्म को "आदिम" या मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखा)। दुर्खाइम जैसे सिद्धांतकारों जिन्होंने धर्म के सकारात्मक कार्यों पर बल दिया, के विपरीत, मार्क्स ने सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के नकारात्मक पहलू या अपक्रियाओं पर बल दिया। दुर्खाइम ने धर्म को सामाजिक प्रतिबद्धता के संवर्धन द्वारा समाज के सभी खंडों के लिए लाभदायक के रूप में देखा (इस इकाई के अगले भाग में हम इस सैद्धांतिक स्थिति पर विचार करेंगे) लेकिन मार्क्स ने धर्म को शक्तिहीन जनसमूह का तिरस्कार करके शासक वर्ग के हितों के लिए काम करने वाले के रूप में देखा। उन्होंने लिखा है "धर्म दमित व्यक्ति की आह है, निष्ठुर जगत की भावना है, और आत्माविहीन स्थितियों की आत्मा है। यह लोगों की अफीम है" (1848/1964 पृष्ठ 42)।

   मार्क्स ने बताया कि जिस प्रकार दर्दनाशक औषधि रोग के लक्षणों को छुपा देती है और रोगी व्यक्ति इस भ्रमित धारणा के कारण शांत हो जाता है कि वह स्वस्थ और निरोग है, उसी प्रकार धर्म श्रमिकों के शोषण को छुपा (ढक) देता है और वे इस झूठी

धारणा के कारण शांत हो जाते हैं कि विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाएँ सही हैं, अथवा यदि सही नहीं हैं तो ऐसी तो हैं ही कि उनसे बचा नहीं जा सकता। इस भाँति मार्क्स ने तर्क दिया कि सामाजिक संस्था के रूप में धर्म यह शिक्षा देता है कि पृथ्वी पर व्यक्ति की स्थिति को स्वर्ग में पुरस्कार दिया जाएगा। ऐसी शिक्षा देकर, यह वर्ग संरचना के अंतर्गत छुपी शोषणात्मक प्रवृत्तियों और यथास्थिति बनाए रखने में संभ्रांत वर्ग के निहित स्वार्थों को धुँधला कर देता है। इस तरह से, धर्म "संपन्न लोगों" के हाथों का हथियार बन जाता है जिससे वे "वंचित" लोगों को शोषित और उत्पीड़ित कर सकें।

मार्क्स ने धर्म को विसंबंधन के मूर्तीकरण के रूप में देखा" अर्थात् ऐसी आत्म विरक्ति जिसका लोग तब अनुभव करते हैं जब उन्हें प्रतीत होता है कि सामाजिक संस्थाओं के ऊपर वे नियंत्रण खो बैठे हैं।" आत्म विरक्ति शब्द का प्रयोग उन्होंने आधुनिक श्रमिक के इस अनुभव का वर्णन करने के लिए किया था कि वह "मशीन में एक पहिए का दाँता" से अधिक कुछ नहीं है। उन्होंने इस संकल्पना का प्रयोग उस सबका वर्णन करने के लिए भी किया था जो उन्हें धर्म का अपमानवीयकरणीय प्रभाव प्रतीत हुआ था। मार्क्स ने अपने एक प्रसिद्ध लेख (1844/1963, पृष्ठ 122) में लिखा है — "श्रमिक कार्य में खुद को जितना अधिक विस्तारित कर लेता है उन वस्तुओं की दुनिया उससे भी अधिक शक्तिशाली बन जाती है जिन्हें वह अपने सामने बनाता है, अपनी आन्तरिक दुनिया में वह और अधिक गरीब बन जाता है, उसका खुद से संबंध कम होता जाता है। धर्म में भी ऐसा ही होता है। व्यक्ति खुद को भगवान से जितना अधिक संबद्ध कर लेता है उतना ही कम उसके अंदर कुछ बचता है।"

ऊपर वर्णित कथन से जैसा संकेत मिलता है मार्क्स समाज में धर्म का पूर्ण तिरस्कार और परित्याग (अस्वीकृति) करते थे। उनका तर्क था कि लोग केवल तभी वास्तविक खुशी की माँग करना शुरू करेंगे जब वे धर्म की भ्रामक खुशी का परित्याग कर देंगे। धर्म को बूर्जुआ वर्ग के चंगुल में फँसी एक शोषक सामाजिक संस्था कह कर अपने आक्रमण को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा — "धर्म की आलोचना मनुष्य की भ्रम से मुक्ति करती है जिससे वह ऐसे व्यक्ति के रूप में सोचता, कार्य करता और अपनी वास्तविकता को रूप देता है जिसने अपनी विचार शक्ति पुनः प्राप्त कर ली है (1844/1936 पृष्ठ 44)। उन्होंने भविष्यवाणी की कि आर्थिक व्यवस्था के साम्यवादी स्वरूप सहित वर्ग रहित समाज में धर्म असंगत और अनावश्यक हो जाएगा। पूँजीवादी वर्ग की ही तरह, धर्म भी अपनी सहज स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार, कार्ल मार्क्स ने धर्म को एक ऐसी अनावश्यक और स्वार्थपरक संस्था माना जो शोषक अधिरचना का अभिन्न अंग है। धार्मिक और सांस्कृतिक दोनों ही संस्थाएँ आर्थिक आधार या नींव के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाती हैं। धर्म और संस्कृति समाज की विद्यमान शक्ति संरचना का नतीजा है और जब वर्ग समाज एक वर्गहीन समाज के रूप में अपना कायापलट कर लेगा तो धर्म नष्ट हो जाएगा।

सोचें और करें 22.2

धर्म पर कार्ल मार्क्स के विचारों को ध्यान में रखते हुए अपने खुद के विश्वासों और मूल्यों के बारे में सावधानीपूर्वक विचार करिए। "मेरे जीवन में धर्म की प्रासंगिकता" पर दो पृष्ठों का निबंध लिखिए।

अपने निबंध की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के निबंध से कीजिए।

2) इमाइल दुर्खाइम, फ्रांसीसी विद्वान थे। उन्होंने धर्म के समाजशास्त्र पर मार्गदर्शी काम किया है। उनकी "एलीमेंटरी फॉर्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ" नामक उत्कृष्ट पुस्तक

तथा अन्य रचनाएँ धर्म के समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनकी गहन अंतर्दृष्टि का प्रमाण हैं। अपने समय के ऐतिहासिक और मानवजातीय साहित्य के अध्ययन से दुर्खाइम को यह विश्वास हो गया कि सभी समाजों में पावन और लौकिक के बीच स्पष्ट अंतर किया जाता है और इस प्रकार का अंतर सामाजिक स्तर पर यह समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है कि समूहों और समाजों में लोग जैसा व्यवहार करते हैं, वे क्यों करते हैं। पवित्र और लौकिक की संकल्पना के बीच उनका सैद्धांतिक अंतर आज भी समाजशास्त्र में एक शास्त्रीय योगदान के रूप में मान्य है।

दुर्खाइम का विचार था कि कोई भी चीज जो सदस्यों में आश्चर्य, आदर या गहन सम्मान को प्रेरित करती है वह पवित्र है। इसके गुण असाधारण, पारलौकिक और कभी-कभी खतरनाक भी होते हैं और इस तक पहुँचने के लिए सामान्यतः किसी न किसी प्रकार के अनुष्ठान की जरूरत होती है। यह अनुष्ठान साधारण प्रार्थना, झाड़फूँक, भजन, धर्मानुष्ठानिक स्वच्छता या पशुबलि के रूप में हो सकता है। सामाजिक स्वीकृति के आधार पर कोई भी वस्तु पवित्र हो सकती है : कोई मूर्ति, पत्थर (चट्टान), पेड़, पुस्तक, सूरज, चंद्रमा, राजा या कोई इंजन भी। दूसरी और कोई भी चीज जो आलौकिक दुनिया की बजाय साधारण जीवन का हिस्सा हो, वह लौकिक होती है। लौकिक वह है जो अधार्मिक और अदैवीय अनाध्यात्मिक है। सजीव स्थितियों में सभी वस्तुएँ, सिवाय उन वस्तुओं के जिन्हें समुदाय द्वारा पावन माना जाता है, लौकिक या अपवित्र वस्तुएँ होती हैं। व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार उसकी रोजमर्रा की जिंदगी के क्रम के दौरान पवित्र और लौकिक से उसके संबंध द्वारा प्रभावित होता है।

अपने प्रख्यात पूर्ववर्ती विद्वानों की भाँति दुर्खाइम ने मानव इतिहास द्वारा धर्म की सार्वभौमिकता को पहचाना। उनका विचार था कि यदि धर्म सार्वभौमिक है तो इसे मानव समाज में कुछ अत्यावश्यक कार्य निष्पादित करने चाहिए। अन्यथा, यह सामाजिक संस्था हजारों वर्षों से विद्यमान न रह पाती। धर्म की सार्वभौमिकता की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को कि यह कुंठित हृदयों को सांत्वना देने वाली वस्तु है, नकारते हुए, दुर्खाइम ने धर्म के महत्वपूर्ण कारणों को ढूंढने का प्रयास किया। उन्होंने देखा कि ऐसी कुछ मुख्य सामाजिक शक्तियाँ हैं जो सभी समाजों में धर्म का अस्तित्व बनाए रखतीं हैं। उनका विचार था चूकिं क्योंकि धर्म कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य करता है, इसीलिए लोग इस संस्था को सामाजिक संरचना के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक जाँच के सही अर्थों में, दुर्खाइम ने ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी समूहों (जो उसके विचार से मानव समाज के सरलतम और सबसे प्रारंभिक रूप को प्रस्तुत करते हैं) में टोटेमवाद (कुलचिह्नवाद) के वर्णनों में इन प्रमुख सामाजिक शक्तियों की अपनी खोज प्रारंभ की। टोटेम वह पवित्र प्रतीक होता है जिसके प्रति किसी समूह या कुल के सदस्य सम्मान और विस्मय का भाव रखते हैं टोटेम के रूप में चुनी जाने वाली वस्तुएँ (छिपकली, कैटपिलर, मछली, पेड़) खुद में ही विस्मय उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं। लेकिन किसी कुल के सदस्य उस वस्तु को आलौकिक के साथ अपना संपर्क सूत्र मानने लगते हैं। वे खुद को इसी के नाम से बुलाते हैं, इसके पास जाने में वर्जनाओं का पालन करते हैं और इसके स्वरूप या व्यवहार को खास तौर से महत्वपूर्ण और पवित्र महत्व युक्त मानते हैं।

टोटेम (कुलचिह्न) भगवान और कुल (गोत्र, वंश) दोनों का प्रतीक है। इसने स्पष्ट रूप से समाज के सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों को जोड़ा है। दुर्खाइम ने इसे धर्म के प्रकार्य के संकेत के रूप में पावन और कुल के बीच संबंध के रूप में देखा। अपने

टोटेम को पूजन द्वारा समाज के सदस्य गोत्र समाज की पूजा कर रहे थे। कुल देवता, टोटेम आधारित सिद्धांत कुल् से कम नहीं हो सकता जो पशु या सब्जी के रूप में दृष्टिगत होता है, मूर्तिमान होता है और कल्पना को निरूपित करता है। यह पशु या सब्जी का दृश्य रूप टोटेम का ही काम करता है, ऐसा दुर्खाइम ने लिखा (1912/1947, पृष्ठ 206)।

इस दृष्टांत में दुर्खाइमवादी तर्क सरल व स्पष्टवादी है। व्यक्ति अपने कई मनोभावों और अनुभवों को "धार्मिक" के वर्ग में रखते हैं, ये उस अदृश्य लेकिन शक्तिशाली सामाजिक शक्तियों के प्रति अनुक्रियाएँ हैं। चूँकि साधारण बुद्धिवाद द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता अतः समुदाय इस प्राकृतिक सामाजिक शक्ति के लिए अलौकिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए मानव दिव्य सृजक की देन है यह धार्मिक धारणा इस सामाजिक तथ्य को दर्शाती है कि हम अपनी संस्कृति और समय के जीव हैं। शाश्वत्व की धार्मिक अनुभूति इस सामाजिक तथ्य को दर्शाती है कि समाज हमारे पैदा होने से पूर्व विद्यमान था और हमारे मरने के बाद भी समाज का अस्तित्व बना रहेगा।

इस स्थिति का समर्थन करते हुए दुर्खाइम ने टिप्पणी की, "जो भाषा हम बोलते हैं उसकी खोज हमने नहीं की; हम उन अधिकारों को चाहते हैं जो हम नहीं खोजे हैं; ज्ञान का खजाना एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होता है, जो उन्होंने स्वयं एकत्र नहीं किया है।" (1912/1047, पृष्ठ 212)। इसी को आगे बढ़ाते हुए दुर्खाइम ने पूछा, "क्या यह कोई आश्चर्य है कि हम महसूस करते हैं कि हमारे जीवन द्वारा बाहरी शक्तियाँ का सृजन व नियंत्रित हैं?" हमारा जीवन इन शक्तियों पर आश्रित है इस भय के कारण हम इन शक्तियों को मानते हैं। दुर्खाइम ने निश्चयपूर्वक कहा कि ये धार्मिक धारणाएँ सामाजिक शक्तियों के अनुभव से पैदा होती है। धर्म हमें इस अनुभव को मूर्त रूप देने और उसे सामाजिक रूप से स्वीकृत रूप में अभिव्यक्त करने में सहायक होता है।

MADHYAM IAS

इस आधारभूत अंतर्दृष्टि के बारे में विस्तार से बताते हुए दुर्खाइम ने तर्क प्रस्तुत किया कि समाज में धर्म का प्रमुख कार्य "नैतिक समुदाय" का सृजन करना और उस समाज को बनाए रखना है। धार्मिक धारणाएँ समूह मूल्यों और मानकों में दैनिक सामाजिक दबाव के पावन आयाम जोड़कर उन्हें सुदृढ़ करती हैं। इस अर्थ में धर्म सांस्कृतिक व्यवस्था के पुष्टिकर्ता के रूप में कार्य करता है। धार्मिक अनुष्ठान लोगों के सामान्य बंधनों को पुनः पुष्ट करने और अपनी सामाजिक विरासत के पुनः स्मरण के लिए लोगों को एकत्रित करते सामाजिक एकता को मजबूत बनाता है। धर्म लोगों को एकत्रित करता है और एकल समुदाय के रूप में उन्हें संघटित करता है। धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने से अपने से कुछ बड़े का हिस्सा होने की अनुभूति बढ़ जाती है। बदले में यह व्यक्ति को दुख-दर्द में समायोजित होने में मदद करता है। दुर्खाइम का मानना कि यदि विज्ञान पवित्रता में व्यक्ति की धारणा को दुर्बल बनाता तो परंपरागत धर्म का स्थान लेने के लिए कोई प्रकार्यात्मक तुल्यता (समकक्षता) पैदा होगी।

धर्म, समाज और संस्कृति के बीच संबंध के बारे में दुर्खाइम के तर्कों में कुछ बदलाव आए हैं। दुर्खाइम की "पवित्र" और "अपवित्र" के बीच विभाजन की धारणा 19वीं शताब्दी के यूरोप की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था की तुलना में आधुनिक समाजों में ज्यादा प्रखर है। उदाहरण के लिए, आधुनिक पश्चिमी समाजों के नागरिक अपने सार्वजनिक जीवन से धार्मिक धारणाओं और प्रथाओं को अलग रखने में गर्व महसूस करते हैं। परिणामस्वरूप, सरकारें भी अपने-अपने शासन में किसी धर्म के विरुद्ध होकर किसी दूसरे धर्म का समर्थन नहीं करती। जहाँ तक संभव होता है सामाजिक

प्रकार्य, संरचनाएँ और भूमिकाएँ धर्मनिरपेक्ष प्रकार्य, संरचनाओं और भूमिकाओं से अलग रखे जाते हैं। इसके विपरीत परंपरागत सामाजिक विन्यास पवित्र और धर्मनिरपेक्ष के बीच प्रखर वियोजन (पृथक्करण) नहीं करता। इस तरह, ऐसी व्यवस्था में दोनों के बीच तीव्र अंतर असंभव ही नहीं बल्कि अवांछनीय भी दृष्टिगत हो सकता है। फिर भी, सर्वत्र लोग इसको जरूर मान्यता देते हैं कि कुछ अवसर, स्थान, व्यक्ति या समय अन्य अवसरों, स्थानों, व्यक्तियों या समयों की तुलना में ज्यादा पावन-पुनीत होते हैं। ऐसी मान्यता के प्रमाण लोगों की सामूहिक गतिविधियों (क्रियाओं) के दौरान दिखाई देते हैं।

3) श्रेष्ठ जर्मन विद्वान और समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने सामाजिक संस्था के रूप में धर्म की प्रकृति, कार्यों और परिणामों का गहन व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि प्रदान की। मैक्स वेबर की धर्म में दिलचस्पी कुछ हद तक कार्ल मार्क्स के तर्कों से प्रेरित थे। मार्क्स की भाँति, वेबर का बौद्धिक जीवन भी पूँजीवाद का इतिहास जानने के प्रति समर्पित था लेकिन उनका ध्यान आर्थिक श्रेणियों से अधिक सामाजिक श्रेणियों पर केंद्रित था यद्यपि वेबर आर्थिक व्यवस्थाओं की भूमिका का विशेष उल्लेख करने का श्रेय मार्क्स को देते हैं। लेकिन एक ओर जहाँ मार्क्स का यह मानना था कि सम्पूर्ण इतिहास उत्पीड़ित और अत्याचारी वर्गों के बीच संघर्ष के रूप में विवेचित किया जा सकता है, वहीं वेबर ने अर्थव्यवस्था को मानव इतिहास को प्रभावित करने वाले बहुत से प्रभावों में से एक प्रभाव के रूप में माना।

कुछ मामलों में वेबर का धर्म का समाजशास्त्र अग्रगामी (पथन्वेषक) रहा है। मैक्स की धारणा थी कि धर्म सामाजिक परिवर्तन और प्रगति में एक बाधा है, के विपरीत वेबर का तर्क था कि धर्म अपने आप में सामाजिक रूपांतरण का सशक्त एजेंट बन सकता है। वेबर का आदर्श कार्य, "दि प्रोटेस्टेंट एथिक एंड दि स्पिरिट ऑफ कैपिटिलिज्म" (1904/1958) को "कार्लमार्क्स के भूत के साथ वार्तालाप" के रूप में वर्णित किया गया है (कोसर, 1977, पृष्ठ 228)। यह मॉडल समाजशास्त्रीय क्लासिक धर्म की व्यापक समझ (जानकारी) में अभी भी शोध के रूप में है, जो एक सशक्त सामाजिक संस्था है जो न केवल अलौकिक जरूरतों को पूरा करता है बल्कि समाज के धन-संबंधी प्रकार्य भी निष्पादित करता है अर्थात् समाज के आर्थिक पहलू से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है।

वेबर ने यह अवलोकन करके इस कार्य को प्रारंभ किया कि प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक दोनों की जनसंख्या वाले देशों में, व्यापारी, नेता, बैंकर और यहाँ तक कि अत्यधिक कुशल कामगार "जबरदस्त (कट्टर) प्रोटेस्टैंट" थे। वेबर ने इस असामान्य घटना के समाजशास्त्री कारण जानने के प्रयास किए। इसके मद्देनजर उन्होंने इससे जुड़े कुछ विशिष्ट प्रश्न पूछे — जैसे प्रोटेस्टैंट धारणाओं और प्रथाओं में ऐसा क्या है जो अन्य समुदायों की तुलना में आर्थिक उद्यम को बढ़ावा देता है? वेबर को इसका उत्तर प्रोटेस्टैंट सुधार आंदोलन की कैल्विनवाद अवस्था में मिला। उनका स्पष्टीकरण प्रोटेस्टैंट धारा के दो अवयवों पर केंद्रित था; काम का मुक्तिप्रद मूल्य और सांसारिक वैराग्य (संन्यास)।

वेबर ने पाया कि दैववाद का सिद्धांत कैल्विनवादी विचारधारा का केंद्र था। कैथोलिक चर्चा ने बताया कि मुक्ति (मोक्ष) का रास्ता चर्च से होकर गुजरता है; कि व्यक्ति धर्मविधियों (अपराध स्वीकरण, प्रायश्चित इत्यादि) में भाग लेकर स्वर्ग में स्थान अर्जित करता है। कैल्विनवादी मानते हैं कि व्यक्ति के जन्म लेने से काफी पहले ही भगवान यह निर्णय ले लेता है कि व्यक्ति "संतों के लिए चुना जाएगा" करेगा या "नरक में डाला जाएगा" और धरती पर कोई भी भगवान की इच्छा के दैववाद को बदल नहीं सकता। इसने प्रोटेस्टैंटों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने और चर्च के बंधनों से

व्यक्तियों को मुक्त करने की मदद की। लेकिन इस धारणा ने लोगों के मन में काफी उत्सुकता भी पैदा की। व्यक्ति यह कैसे जान सकता है कि किसे भगवान ने स्वर्ग के लिए चुना है? इस संदर्भ में कैल्विनवादी का उत्तर सरल व स्पष्ट था। व्यक्ति के अपने जीवन की सांसारिक उपलब्धियाँ इसका स्पष्ट संकेत देती है कि वह कहाँ के लिए चुना गया है। अच्छे कार्यों (सद्कार्यों) से हो सकता है व्यक्ति को मोक्ष न मिले (जैसा कि कैथोलिक मानते हैं) लेकिन ये व्यक्ति को नरक के भय से छुटकारा दिलाते हैं। जैसा कि बाईबिल में कहा गया है, " कि जो कार्य अथवा व्यापार में अध्यवसायी हैं। वह राजाओं के सामने खड़ा होगा।" (Seest thou a man diligent in his business? He shall stand before kings.)

कठिन परिश्रम को मुक्तिपद मूल्य में कैल्विनवादी दृढ़विश्वास और वेबर का सांसारिक संन्यास दोनों एक साथ मिले हुए थे। कैल्विनवादी ने भोगशक्ति, विलास और सुख-सुविधाओं के पीछे भागना, शारीरिक सुख की निंदा की। लेकिन उन्होंने इस धारणा को भी अस्वीकार किया कि अपनी संपत्ति (जायदाद, कब्जा) को दान करके और गरीबी में जीवनयापन करने से मोक्ष मिलता है (जिसे कुछ-कुछ कैथेलिक मठवासियों से जोड़ा)। तब, सफल उद्यमी को अपनी संपत्ति से क्या लेना-देना। इस संबंध में कैल्विनवाद का उत्तर स्पष्ट था कि बचत करो और इन लाभों को काम में लाओ। कैल्विन "मानव पर धन-दौलत के त्याग की तपस्या (तप) आरोपित नहीं करना चाहते थे। लेकिन चाहते थे कि आवश्यक और व्यावहारिक चीजों के लिए अपने साधनों का प्रयोग करें, ऐसा वेबर ने लिखा (1904/1958, पृष्ठ 171)। और इस तरह प्रोटेस्टैंट आचार नियम का जन्म हुआ जिसमें कठोर परिश्रम और स्वार्थ त्याग का विशिष्ट मिलाजुला रूप विद्यमान था। शताब्दियों तक कैथोलिक चर्च ने लाभों के पीछे भागने, विशेष रूप से पैसा उधार देकर और व्यापार के जरिए की निंदा की थी। कैल्वनवाद में बचत, निवेश, तार्किक गणना और नैतिक कर्त्तव्य के लिए लाभ कमाने को बढ़ावा दिया। अप्रत्यक्ष रूप से कैल्विनवाद ने पूँजीवाद को नैतिक स्वीकृति प्रदान की और समर्पित उद्यमियों का एक व्यवसाय-संघ बनाया। इस तरह धार्मिक लोकनीति ने एक नए प्रकार की आर्थिक व्यवस्था और जीवन को नए तरीके से देखने को बढ़ावा दिया। तीन प्रमुख सामाजिक संस्थाएँ – धर्म, अर्थव्यवस्था और संस्कृति, एक साथ एकत्रित हुए और रहन-सहन और सोचने का नया तरीका सृजित करने की प्रक्रिया में तीनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया।

वेबर ने ऐसा नहीं कहा कि केवल यही धारणाएँ यह स्पष्ट कर सकतीं हैं कि पूँजीवाद चीन या भारत की बजाए प्रोटेस्टैंट यूरोप में ही क्यों उभरा। बल्कि उन्होंने प्रोटेस्टैंट धारणाओं को कई उन कारकों में से एक कारक के रूप में देखा कि जिन्होंने पूँजीवाद के उदय में योगदान दिया। भले ही वह मार्क्स के आर्थिक नियतत्ववाद से असहमत थे परंतु उन्होंने इतिहास में अर्थशास्त्र की भूमिका का खंडन नहीं किया। उन्होंने कहा, "एकतरफा भौतिकवाद का स्थान लेना (प्रतिस्थापित करना) मेरा लक्ष्य नहीं है ..... (1904/1958 : पृष्ठ 183)। बल्कि उनका लक्ष्य यह दर्शाना था कि इतिहास को एक-कारक स्पष्टीकरण तक कम नहीं किया जा सकता और धर्म सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का एक माध्यम हो सकता है।

अपनी पुस्तक के निष्कर्ष में, वेबर ने आधुनिक समय में पूंजीवाद की आत्मा और बौद्धिक उपकरणवाद की पूजा को एक लोह पिंजरे के रूप में विवेचित किया जिसमें मशीन उत्पाद की तकनीकी और आर्थिक दशाएं सभी व्यक्तियों में जीवन का निर्धारण करती है। इसी को जारी रखते हुए उन्होंने कहा, (पूँजीवाद के) उच्चतम विकास के क्षेत्र में, अमरीका में धन-दौलत की तलाश, अपने धार्मिक और नैतिक अर्थों की पोल खोलना पूर्णतः सांसारिक भावावेश से जुड़ा था जो वास्तव में उसे खेल

की विशेषता प्रदान करता है। "धार्मिक आत्मा जिसने पूँजीवाद की वृद्धि को प्रेरित किया वह आत्मा उस पिंजरे में से उड़ चुकी थी अर्थात् वह भावना समाप्त हो चुकी थी जो अपने पीछे बिना आत्मा के विशेषज्ञों और बिना दिल के इंद्रिय सुखवादियों (विषय आसक्तों) को छोड़ गई थी।" वेबर के अनुसार, "वह समाज जिसमें मानव गतिविधियाँ और संबंधों पर तार्किक गणना और "आर्थिक दबावों (अनिवार्यताओं) का शासन (नियंत्रण) होता है वह अर्थहीन होता है। इस अभिप्राय से नैतिक व्यवस्था, लोकाचारों की प्रथा मात्र जो धन-दौलत और सुख-सुविधाओं के सुख से बढ़कर होती है से ही वह सब कुछ हैं जिसकी आकांक्षा वेबर ने की थी। ऐसा करने में, वेबर का प्रयास नैतिक सिद्धांतों के साथ संस्कृति की उन्नत व्यवस्था को मिलाना, संश्लेषण के उच्चतर स्तर पर धर्म और संस्कृति को जोड़ने का था।

संस्कृति और धर्म को समझने के लिए कुछ अन्य समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

मार्क्स, दुर्खाइम और वेबर के अलावा भी कई ऐसे अन्य समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण हैं जो सांस्कृतिक विन्यास के अंदर धर्म की प्रकृति की व्याख्या करते हैं। अधिकांश व्याख्यात्मक पद्धतियाँ समाज, संस्कृति और धर्म के बीच संबंधों का पता लगाती है जो बौद्धिक या भावात्मक अंतर्वस्तु की उपेक्षा करने की अपर्याप्तताओं को झेल रही हैं। प्रारंभिक विकासवादियों के मन में गलत धारणा थी और इस भ्रम के कारण वे मानते थे कि धर्म केवल मात्र मानव मन और विचारशक्ति की देन है। इस अर्थ में उन्होंने धर्म और आध्यात्मिक व्यवस्था को पूर्णतः व्यक्तिगत और निजी मामला माना। उदाहरण के लिए, मनोविश्लेषित सिद्धांत धर्म को केवल उस मानव अनुभव की उपज मानता था जो सदमें या भावात्मक दबाव पर आधारित था। शुरू के अनुच्छेदों में हमने देखा कि दुर्खाइम ने अपने बचाव में किस प्रकार इन स्पष्टीकरण को अस्वीकार कर दिया। दूसरी ओर, यदि आप इकाई 21 में वर्णित प्रकार्यात्मक सिद्धांत को स्मरण करें, तो इसमें धर्म को यथार्थ रूप से प्रत्येक मानव गतिविधि के साथ संबंध रखने वाले के रूप में देखा गया है। यह अर्थ विश्लेषण इतना व्यापक और विस्तृत है कि विश्लेषण करने में विशिष्टता या गुण नजरअंदाज हो जाती है। फैलाव (विस्तार) की इसी कठिनाई के कारण गृहणशील व संकलनवादी दृष्टिकोण वाली प्रकार्यात्मक व्याख्या धर्म के बोधगम्य सामाजिक सिद्धांत के संदर्भ में एक ठोस विकासात्मक प्रस्ताव (विचार को प्रस्तुत कर पाने में असफल रही। संरचनावाद (देखें इकाई 21) बौद्धिकवाद पर इसके अत्यधिक व अनावश्यक बोझ तले दबा प्रतीत होता है भले ही इसने समाज की प्रकार्यात्मक जरूरतों की पूर्ति के रूप में धर्म की प्रकार्यात्मक व्याख्या का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

अमरीकी समाज नृविज्ञानी क्लिफ गीर्त्ज ने धर्म की व्याख्या में भावना बनाम बौद्धिक पक्षपात के संदर्भ में पराकाष्ठा की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। गीर्त्ज ने ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जिसमें धर्म के तार्किक और भावात्मक दोनों अंतर्वस्तुओं पर ध्यान केंद्रित करना जरूरी है। लोकाचार को उन भावनाओं, अनुभूतियों या व्यक्तित्व-पहलुओं को निरूपित करने के लिए प्रयुक्त किया गया जो धर्म का हिस्सा है। विश्वदृष्टि की संकल्पना को मानवीय कारणों की व्याख्या के लिए प्रयोग में लाया गया। उनके अनुसार "लोकाचार" को बौद्धिक रूप से युक्तिसंगत बनाया जा सकता है यदि वे विशिष्ट दृष्टि द्वारा दृष्टिगत स्थिति के रूप में कार्यो की वास्तविक स्थिति को समाविष्ट करके जीवन के तरीके का प्रतिनिधित्व करे। बदले में व्यक्ति की विश्वदृष्टि को मामलों की वास्तविक स्थिति के बिंब के रूप में प्रस्तुत करके उसे भावात्मक रूप से स्वीकार्य बनाया जाना चाहिए। इस तरह गीर्त्ज ने प्रतिपादित किया कि धर्म के भावात्मक और बौद्धिक पहलुओं के बीच सामंजस्य स्थापित करके उसे ग्रहण किया व समझा जा सकता है।

अनेकों बड़े और विजातीय समाजों में धर्म के विकास को ऐतिहासिक रूप से सामाजिक परिघटना के रूप में देखने के फलस्वरूप ईसाई युग से पूर्व कुछ सैंकड़ों वर्षों के दौरान

एक महान् परिवर्तन हुआ। ऐसा भारत, चीन, मिस्र या बैबीलोनिया जैसे बड़े समाजों में विशेष रूप से हुआ भी। यह हिंदू, बौद्ध, कन्फ्यूशस, यहूदी और बाद में इसकी उपशाखाएँ ईसाई और इस्लाम जैसे महान् धर्म विश्व में उभरे। इसके कारण भौतिक और सामाजिक जगत के मानव संबंधों के स्वरूप में परिवर्तन आया।

ऐसे परिवर्तन में प्राकृतिक विश्व से आध्यात्मिक विश्व के विचार को अलग करना समाविष्ट था। हमारे दैनिक जीवन के जगत में देवताओं और अलौकिक शक्तियों के हस्तक्षेप की बजाय उन्हें एक बिल्कुल अलग क्षेत्र में : स्वर्ग और नरक में स्थान दे दिया गया जो कि यथार्थता का एक अन्य दायरा और आदर्श सिद्धांतों का जगत था। यह अलौकिक जगत संस्कृति में प्रचलित मूल्यों और मानदंडों के आदर्श के रूप में सामने आया इस तरह इसके दोनों के बीच दृढ़ संबंध स्थापित किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस परिवर्तन के परिणाम सामाजिक संस्थाओं और सदस्यों दोनों के लिए दूरगामी थे।

धर्म की सार्वभौमिकता के मुद्दे के निर्धारण से एक मुश्किल प्रश्न उठा कि धर्म को सभी संस्कृतियों का हिस्सा क्यों होना चाहिए। पवित्र और अपवित्र में अंतर करते हुए दुर्खाइम ने जो स्पष्टीकरण दिया उसे सामाजिक विज्ञानों में पूर्णतः स्वीकारा नहीं गया। नृ-विज्ञानियों ने जिन मुद्दों और संकल्पनाओं को खोजने का प्रास किया वे हैं : (1) पवित्र और धर्मनिरपेक्ष, (2) मानव (अधिमानवीय शक्ति) और निषेध, (3) पंडित और ओझा पुरोहित और इस संबंध में इस तरह के अन्य। कई समाजों में स्वास्थ्य देखभाल और शिक्षा प्रचलन धर्म से घनिष्ठ रूप से संबद्ध थे और इन मुद्दों को भी गहन रूप से निरीक्षण किया गया। परंपरागत ओझा, जादूगरनियों, मायावी स्त्रियाँ अनेक घटनाओं में समाज का सांस्कृतिक हिस्सा रही हैं। अपने समूह के सदस्यों को इनाम (पारितोषिक) देने की उनकी योग्यता को मुद्दे के संभावित स्पष्टीकरण के रूप में ग्रहण किया गया।

अनेकों समाजों ने संस्कृति के हिस्से के रूप में धर्म की व्याख्या करने के लिए सामान्य बुद्धि और युक्तियुक्त तर्क को प्रयोग न करने का प्रयास किया। ऐसे विश्लेषण में धर्म की अलौकिक शक्तियों का प्रयोग असाधारण अवयवों के रूप में किया गया। इन समाजों में जादुई और धार्मिक दोनों धारणाओं को तर्कसंगत माना जाता है। इन्हें या तो अतीत के लिए स्मृति चिह्न या तर्कपूर्ण/अतार्किक मनोवृत्ति वाले लोगों की देन के रूप में लिया जाता है। सांस्कृतिक अध्ययनों में एक आम प्रश्न जो आता है वह है कि लोग वांछित लक्ष्यों के पूरे न होने पर भी ऐसे प्रचलनों (व्यवहारों) को क्यों मानते हैं? "लिंग" पर लोगों का जल चढ़ाना जारी रखना या बारिश के लिए "खच्चरों की शादी" करवाने की प्रथा जैसे कार्य जो सफल भी नहीं होते, वे उस अनुचित या अतार्किक क्यों नहीं हैं? यह प्रश्न सामाजिक संदर्भ से वंचित तार्किक स्पष्टीकरण नहीं चाहता। यह सांस्कृतिक रूप से स्वीकार्य उत्तर चाहता है।

सांस्कृतिक ढ़ाँचे में तर्कबुद्धिवाद धर्म की विशेषता है, इसके हिस्से भी घटनाओं के तार्किक स्पष्टीकरण हैं। कब, क्यों और कहाँ जैसे प्रश्नों के उत्तर के लिए पुराणविधा विशेष रूप से विचारणीय है। पौराणिक स्पष्टीकरण या व्याख्याएँ कभी-कभी सांस्कृतिक अंतर्विरोधों के कारण दमित भावनाओं के संकेत देती है। इस अर्थ में कुछ पौराणिक चलन प्रदत्त संस्कृति, जिसमें व्यक्ति उन भावनाओं को व्यक्त करते हैं जिन्हें अन्यथा दर्शाया नहीं जा सकता, का सामूहिक सपना मान सकते हैं। धर्म के लिप्त लोगों के लिए धर्म उन्हें अचेतन स्तर पर अवर्णित भावनाओं से खेलने की अनुमति देता है।

सर जेम्स फ्रेजर का तर्क है कि धर्म संस्कृति की एक अखंड उपसंरचना है। उनका यह तर्क कि विज्ञान के प्रति धर्म के प्रति विकास वाले जादू से विकसित हुआ धर्म अन्य समाजशास्त्रियों को स्वीकार नहीं है। उनके तर्क विशाल श्रोताओं के लिए प्रभावी रहे हैं

भले ही उनका समाजशास्त्र और नृविज्ञान से सरोकार कम ही हो। अन्य विकासवादी हरबर्ट स्पेंसर ने आस्ट्रेलियाई आदिवासियों जिन्हें सजीव संस्कृतियों में से सर्वाधिक पुरातन माना जाता था, का निरीक्षण करके धर्म के उद्भव (उद्गम) को निर्धारित करने की समस्या तक पहुँचे। चूँकि उनके मूल निवासियों ने अपने पूर्वजों की ओर ज्यादा ध्यान दिया। अतः स्पेंसर ने तर्क दिया कि नायक पूर्वजों को उनके वंशज याद रखना और उनका गुणगान किया। समय के साथ-साथ ऐसे दादा-दादी, नाना-नानी में भगवान जैसे गुण देखे जाने लगे। संक्षेप में, काफी पहले स्वर्गवासी हुए पूर्वज पवित्रता के क्षेत्र में आ गए। इन आत्माओं ने मॉसम, स्वास्थ्य, शिक्षा, पारिवारिक जीवन और संस्कृति के महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण रखना प्रारंभ कर दिया। संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए स्पेंसर ने सुझाव दिया कि मानव ने बौद्धिक रूप से अपने धर्म का सृजन किया और उन्होंने बुद्धि, विकासात्मक अवस्थाओं के जरिए आगे बढ़े। स्पेंसर ने धार्मिक और राजनीतिक संबंद्ध को भी देखा। उन्होंने दावा किया कि अन्य सजीव व्यक्तियों का राजनीतिक संगठन के लिए भय प्रारंभिक/आधारभूत था जबकि मृत का भय धार्मिक नियंत्रण की बुनियाद थी।

धर्म के उद्गम और प्रकार्य संबंधी अन्य सिद्धांत भी अपनी स्पष्टीकरण देने में अपर्याप्त हैं। ऐतिहासिक विधि, मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, धर्म के प्रकार्यात्मक सिद्धांत (विशेष रूप से मेलिनोस्की और रेडक्लिफ-ब्राउन) और संरचनात्मक सिद्धांत भी सांस्कृतिक परिवेश में सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के उद्गम, कार्यों और संरचना की केवल आंशिक व्याख्या ही कर पाए हैं। यह भी बताया जा सकता है कि धर्म के अधिकांश सिद्धांत अपर्याप्त है और बौद्धिक या भावात्मक अंतर्वस्तु की अपेक्षा की वजह से नुकसान पहुँचा है। सभी सैद्धांतिक स्पष्टीकरण में से क्लिफ गीर्त्ज का स्पष्टीकरण बोधगम्य प्रतीत होता है। भले ही गीर्त्ज ने लोकाचार और विश्व दृष्टि के बीच परस्पर संबंध का पूर्णतः संतोषप्रद विवरण नहीं दिया है लेकिन उनकी प्रस्तुतीकरण धार्मिक परिघटना के किसी भी विश्लेषण में प्रभाव और विचार दोनों पर ध्यान देने पर बल देते हैं।

22.6 भारत में धर्म और संस्कृति

भारतीय समाजशास्त्रियों ने संस्कृतिकरण, संकीर्णतावाद, लघु-परंपरा, महान् परंपरा जैसी संकल्पनाएँ, और किस प्रकार धार्मिक विचार और आदर्श किस प्रकार भारतीय समाज का गहनता से मार्गदर्शन कर रही है यह स्पष्ट करने वाले अनेकों व्याख्याएँ विकसित कीं।

भारत संस्कृति और धार्मिक मान्यताओं के संदर्भ में भारत एक विविध और विषमजातीय समाज है। धार्मिक मान्यताएँ पूजा की विधाएँ, धार्मिक अनुष्ठान, लोगों के समारोह, आदर की वस्तुएँ, तीर्थस्थल और धार्मिक ग्रंथ विविध तथा अनेक हैं। लेकिन सभी में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास तथा समुदाय की भावना का प्रभाव भरपूर है। भारत में धर्म की गौण संस्थाओं में धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकांड, पूजा की विधाएँ और वस्तुएँ और धर्म के प्रचार के लिए संगठित समूह शामिल हैं। ये प्रत्येक कारक जनसाधारण की संस्कृति को काफी प्रभावित करते हैं। इस तरह धार्मिक संस्कृति में कुछ मूलभूत अवयवों को परिरक्षित करने का दृढ़ आधार निर्मित करते हैं।

भारत में धार्मिक समूहों ने विशेष रूप से वे समूह जो हिंदू, इस्लाम, ईसाई, जैन, सिक्ख जैसे प्रमुख धर्मों से जुड़े है, पिछले कई सौ सालों में भारतीय संस्कृति को एक साथ निर्मित करते जुए, आंशिक सामंजस्य में जिए। जैसा कि एक बार महात्मा गांधी ने हिंदूत्व के बारे में कहा, "यह धर्म से कहीं बढ़कर है, यह जीवनयापन का एक तरीका है। भारतीय संस्कृति इस तथ्य को निरूपित करती है कि हिंदूत्व इसका सर्वाधिक पुराना और सशक्त

धार्मिक समूह व्यक्ति का जीवन बनाने के प्रत्येक पहल में परिव्याप्त है, यह संस्कृति अत्यधिक जटिल है।

बॉक्स 22.2: संस्कृति और धर्म

भारतीय संदर्भ में, संस्कृति और धर्म के बीच अंतर नहीं किया जा सकता जैसा कि पश्चिमी यहूदी ईसाई संस्कृति में किया गया है। भारत में समाज के सदस्य एक साथ धार्मिक और गैर-धार्मिक दोनों ही हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि हिंदुत्व धर्म से कहीं बढ़कर है। यह न्याय और सौहार्द पर आधारित जीवनयापन का तरीका है। संस्कृति निरंतर समाज के सदस्यों को सामाजिक भाईचारा और सौहार्द बनाने के प्रयासरत है। भारतीय धर्माक लोकाचार भी इस लक्ष्य की दिशा में निरंतर क्रियाशील है। जैसा कि संस्कृत का एक विख्यात कथन है, "उदार चरित्र व्यक्तियों के लिए समूचा विश्व घर है" (उदार चरितानाम वसुधैव कुटंबकम्)।

भारतीयों, प्रमुख रूप से हिंदुओं ने सार्वजनिक जीवन की दो धाराएँ विकसित की हैं" — "आस्तिक" और "नास्तिक" । जटिल हिंदू धर्मशासत्र ब्रह्मा, आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कर्म, पाप जैसी अमूर्त आध्यात्मिक संकल्पनाओं के ताने-बाने से बुना है और इसी तरह उन परा-भारतीय संस्कृति के स्वरूप, संरचना और कार्यप्रणाली का अत्यधिक प्रभाव है।

धर्म और संस्कृत दोनों मानव जाति के चार मूल सिद्धांतों के लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में कार्यरत है। ये सिद्धांत हैं :

1) जातियों को जीवित रखना (बचाए रखना)
2) व्यक्तियों के जीवन की सुरक्षा
3) जीवित रहने और सुरक्षा के लिए भौतिक संपन्नता
4) स्वस्थ और हितकर जीवन के कार्यक्षेत्र (संभावना) को निरंतर विस्तृत करना और प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य को सामने लाने के लिए मानसिक प्रगति।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.7 निष्कर्ष

समूचे विश्व में धर्म मूलरूप से आस्था और भावना का विषय रहा है। भले ही धार्मिक नेता तर्क-वितर्क करते हैं, लेकिन यह निश्चित है कि धर्म कोई ऐसा मुद्दा नहीं है जिसे सूचना, कारण और बुद्धिसम्मत निर्णय के संदर्भों में निपटाया जा सके। दूसरी ओर संस्कृति आस्था और भावना के बाहर व भीतर दोनों क्षेत्रों में काम करती है। जैसा कि भर्टन ने कहा, कई "सांस्कृतिक सर्वव्यापी मान्यताएँ" विद्यमान हैं और संस्कृति के कई अवयव लगभग सभी समाजों में पाए जाते हैं। असलियत यह है कि धर्म किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है और इस विन्यास में विद्यमान "आस्तिक" और "नास्तिक" यह सिद्ध करते हैं कि धर्म के प्रचालन का स्वरूप अत्यधिक भावात्मक है। धर्म और संस्कृति में इन आधारभूत संरचनात्मक भिन्नताओं के बावजूद धर्म और संस्कृति दोनों के कई महत्वपूर्ण सामान्य लक्ष्य हैं।

इन चारों मानदंडों से आशा की जाती है कि ये चारों मानवजाति के ज्यादा स्वस्थ और सुरक्षित और जीवनयापन और बेहतर भविष्य के सिद्धांत को प्रस्तुत करते हैं। धर्म और राजनीति दोनों अपने सदस्यों के लिए ऐसे भविष्य को अर्जित करने के लिए प्रयास करते हैं। इन दोनों सामाजिक संस्थाओं से **उसके सदस्यों के लिए उत्तरजीविता** का आशय निश्चित रूप से उनकी अपनी उत्तरजीविता से है। संस्कृति को सर्वोच्च मान्य जाना है जो सभी के कल्याण का मार्गदर्शन करती है; इसी तरह धर्म अनादि है जो सभी जातियों के

कल्याण की आशा व कामना करता है (हिंदू धार्मिक उक्ति जो परंपरागत भारतीय संस्कृति में भी प्रतिबिंबित होती है, यह है कि सर्व जनाः सुखिनो भवन्तु ..... सर्वे भद्रानि पश्यंतु.....) इसी तरह सदस्यों की जीवन सुरक्षा और दीर्घायु दोनों व्यवस्थाओं — संस्कृति और धर्म का वांछित लक्ष्य है। इसके आगे **सदस्यों की भौतिक संपन्नता** का सिद्धांत आता है। अंततः सांस्कृतिक व्यवस्था या धर्म की व्यवस्था तभी जीवित या बनी रह सकती है यदि इसके सदस्य "स्वस्थ, संपन्न् और बुद्धिमान" हों। संस्कृति की भाँति, धर्म का प्रत्येक सदस्य मानसिक शांति के साथ-साथ दैहिक और भौतिक संपत्ति के कामना रहता है। अंत में, संस्कृति और धर्म दोनों के सदस्य खुशहाल, शांतिपूर्ण और संतुष्ट जीवन की इच्छा रखता है और ऐसे अवसर की आकांक्षा करता है जो उसके पूर्णतया मानव जाति के सामर्थ्य को सामने ला सके। मानव जीवन के इन बुनियादी सिद्धांतों की पूर्ति के लिए काम करना धर्म और संस्कृति दोनों का मूल उद्देश्य है। नास्तिकों को धर्म का मूल्यांकन करने और समीक्षा करने का तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक कि वे उस संस्कृति या धर्म के अखंड और आंतरिक सदस्य न हों। संस्कृति में पवित्रता और धर्म निरपेक्षता दोनों समाविष्ट है। इस तरह संस्कृति एक बड़े क्षेत्र का समेटती है जिस पर धर्म को छोटी लेकिन आलोचनात्मक भूमिका प्राप्त है।

अब जबकि हम इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर चुके हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की समस्याएँ और प्राथमिकताएँ समस्याएँ और प्राथमिकता भी अलग और भिन्न हैं। आज मानक समाज सामान्यतः एक साथ संचालित तीन पूर्ववृत्तियों के लिए उत्तरदायी हैं। वे कुछ समस्रूओं और संभावित दलों की ओर संकेत करते हैं।

प्रिम प्रवृत्ति विश्वव्यापी पैमाने पर संस्कृति का समांगीकरण है तथा दूसरे साथ अर्थव्यवस्था और राज्य व्यवस्था का सार्वभौमिक है। दूसरी प्रवृत्ति है मानव समाज की विभिन्न संस्थितियों में समांगीकृति संस्कृति का दावा करना, प्रायः अपने-अपने राष्ट्र राज्यों में। तीसरी और अत्यधिक उल्लेखनीय है "अल्पसंख्यक" स्थिति संस्कृतियों की मान्यता के लिए राष्ट्र-राज्य के भीतर अपनी शक्ति संभाव्यता को पहचानने के स्तर पर जातीय समूह की माँग।

MAADHYAM IAS

अंतर्राष्ट्रीय विकास केंद्र (1979) ने संस्कृति दस्तावेज में व्यापक जातिगत स्तर पर संस्कृति की संस्था के अनिवार्य अवयवों को संक्षिप्त किया है। यह लघु कथन संक्षिप्त रूप से संस्कृति और धर्म के बीच समझने में हमारे लिए सहायक होगा। यह सुस्पष्ट कथन है, "संस्कृति मूल्यों और परंपराओं का समुच्चय है जो गहनता रूप से लोगों के दैनिक जीवन से जुड़ा है और इस तरह या उस प्रत्यक्ष "ज्ञान की उत्पत्ति स्थान है जो व्यक्ति को विश्व को समझने में मदद करता है।" यह कथन उपयुक्त रूप से भारत में संस्कृति और धर्म के बीच संबंध को संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

भारत में धर्म सामान्यतः संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है जो आज भी समाज के रीति-रिवाजों को आधार प्रदान करना है। इस तरह, हम पाते है कि अतिप्राचीन समय से धार्मिक स्वीकृतियाँ चाहती हैं कि समाज में व्यक्ति के व्यवहार का वांछित प्रतिमान हो। इस तरह, वे भारत में रीति-रिवाजों के रूप में सांस्कृतिक और धार्मिक दोनों व्यवस्थाओं का हिस्सा बन जाते हैं। ऐसा करते हुए व्यवहारों के प्रतिमान से विचलित होना, उस परम शक्ति के आदेश का विचलन हो जाता है। समाज भी इसकी भर्त्सना करता है। हमारी संस्कृति की कई वर्जनाओं की धर्म ने भी स्वीकृति दी है, हिंदुओं में, उदाहरण के लिए, गोमांस के सेवन की मनादी निश्चित व स्पष्ट रूप से धार्मिक स्वीकृति है। हिंदुत्व पवित्र गो हल के एक अक्षम्य अपराध मानता है। इसी तरह, कृषक समाज में धारणा है कि गो हत्या से आर्थिक और सामाजिक दोनों अपदाएँ आती हैं और इस तरह भारतीय संस्कृति इसे स्वीकार नहीं करती।

अंत में, निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में आशयों और परिणामों की अतिव्याप्ति है। यह उल्लेख करना आवश्यक नहीं है कि भारतीय धर्म उसमें विश्वास रखने वालों को "आदर्शों" का वचन पालन करने के लिए कहता है जबकि भारतीय संस्कृति "वास्तविकता" पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करती है। भारतीय धार्मिक व्यवस्था की विषय और स्तरीकृत पद्धति और आधुनिक भारत की तुलनात्मक रूप से सपाट और कम विषम सांस्कृतिक पद्धति में अंतर दृष्टिगत होता है।

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेलाह, आर.एन. (संपा.) 1965. *रिलिजन एंड प्रोगरेस इन मार्डन एशिया*, फ्री प्रेस, न्यूयार्क।

ब्रेन ब्रिज, 1985. *दि फ्यूचर ऑफ रीलिजन*, यूनिवर्सिटी ऑफ केलिफोर्निया प्रेस, बरकेले।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 23

धर्म के सहचारी और विभाजनात्मक आयाम

इकाई की रूपरेखा

23.1 प्रस्तावना

23.2 धर्म और उसके विभिन्न आयाम

23.3 प्रतिद्वंद्विता, संघभेद और एकीकरण

23.4 भारत में धर्म : विविधता (अनेकता) में एकता

23.5 भारतीय धर्मों में विभाजनात्मकता के सामाजिक बहुशाखीकरण

23.6 भारतीय धर्मों में बहु-व्याख्याएँ

23.7 निष्कर्ष

23.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- धर्म के विभिन्न आयामों का वर्णन कर सकेंगे;
- धर्म में प्रतिद्वंद्विता, पथ (फूट) और एकीकरण जैसे विभिन्न पहलुओं की चर्चा कर सकेंगे;
- भारत में धर्म अनेकता में एकता कैसे और क्यों लाता है, स्पष्ट कर सकेंगे; और
- संक्षेप में, भारत में धर्मों में पाई जाने वाली बहु (अनेक) व्याख्याओं की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.1 प्रस्तावना

इस इकाई में यह पता लगाने का प्रयास किया जाएगा कि धर्म में लोगों को जोड़ने और विभक्त करने की कितनी क्षमता है। इस संबंध में, भले ही बीच-बीच में अन्य समाजों से तुलना भी की जाएगी लेकिन प्रसंग मुख्यतः भारतीय समाज से उद्धृत किये जाएँगे। यदि स्पष्ट शब्दों में कहें तो धर्म का अर्थ है मानव जाति की सामाजिक एकता, सौहार्द या एकता। किसी भी धर्म में घृणा, हिंसा या अनिच्छुक लोगों पर अपना मत थोपने का समर्थन नहीं किया गया है। फिर भी विश्व के सभी हिस्सों में धर्म घृणा या हिंसात्मक गतिविधियों का गवाह रहा है जिसमें व्यक्तियों और समूहों दोनों ने भाग लिया है। धार्मिक मतभेदों के विभिन्न कारण हैं जिनमें से कुछ कारणों का इस इकाई में उल्लेख किया जाएगा।

23.2 धर्म और उसके विभिन्न आयाम

एक ऐतिहासिक युगारंभ से दूसरे युगारंभ में आने से रहन-सहन के प्रतिमानों और उत्पादन के प्रकारों में परिवर्तन होता है, पुरोहितोचित जोड़-तोड़ और राजनीतिक या सामाजिक बाध्यताओं का धर्म पर प्रभाव रहा है। चूँकि धर्म सामाजिक परिघटनाएँ हैं अतः वे न केवल समाज से टकराते हैं बल्कि बदले में सामाजिक दबावों के प्रति संवेदनशील होते हैं। लेकिन द्वंद्व (संघर्ष) के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सर्वेश्वरवादी धर्म जो विभिन्न प्रकार के देवताओं,

देवियों या पावन शक्तियों में विश्वास रखता है, वह सामान्यतः धारणाओं और प्रचलनों में असमानताओं (विभेदों) के दौरान सहनशील बना रहा। शिंतो मत, हिंदू धर्म, ताओ धर्म (ताओवाद) और बौद्ध धर्म सर्वेश्वरवादी हैं। जापान में बौद्ध धर्म शिंतोमत के साथ विकसित हुआ। चीन में ताओ धर्म और बौद्ध धर्म काफी लम्बे समय तक साथ-साथ विद्यमान रहे। अपनी सहिष्णुता (सहनशीलता) के लिए भारत हमेशा से जाना जाता है। चूँकि सर्वेश्वरवाद में धार्मिक सत्य के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों की वैधता से मान्यता मिली है अतः इसमें किसी विशिष्ट धर्ममत/सिद्धांत के विरुद्ध या उसके लिए लड़ने के लिए स्थान ही नहीं है।

पश्चिम एशिया के एकेश्वरवादी धर्मों जैसे यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम में वैकल्पिक देवताओं या धार्मिक धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः विश्वास न रखने वालों को (नास्तिकों) बाहर के व्यक्ति माना जाता था। यहाँ पर भी धार्मिक विविधता थी। उदाहरण के लिए पश्चिम-एशिया में येरुस्लम तीनों समूहों का पवित्र स्थान रहा है। 7वीं से 13वीं शताब्दी तक शासन करने वाले खलीफाओं ने यहूदियों और ईसाइयों जैसे गैर-इस्लामी समूहों को सहन किया। इन अल्पसंख्यकों को अपने-अपने धार्मिक प्रथाओं का अनुसरण करने के विशेष अधिकार प्रदान किए गए थे। हालाँकि, एकेश्वरवादी एकमात्र सच्चाई के प्रति दावा प्रस्तुत करता है। बाहरी व्यक्तियों को तभी सहन किया जा सकता है लेकिन ऐसा माना जाता है कि वे झूठे मतों या झूठे देवताओं का अनुसरण कर रहे हैं। इसी रवैये से नास्तिकों के मन में कटुता आई। समस्त यूरोप में ईसाइयों ने यहूदियों को कभी भी माफ नहीं किया क्योंकि उन्होंने रोमन शासकों की अनुमति से ईसा को सूली पर चढ़ा दिया। मुसलमानों ने ईसाइयों को गैर-मुसलमान या मूर्तिपूजक माना (क्योंकि कैथेलिक या रूढ़िवादी ईसाई मूर्तियों या प्रतिमाओं की पूजा करते हैं)। धर्मयुद्ध (क्रूसयुद्ध 11वीं से 13वीं शताब्दी और 13वीं शताब्दी में स्पेन धर्माधिकरण) बड़ी घटनाएँ थीं जिनमें धार्मिक असहिष्णुता ने प्रमुख भूमिका अदा की।

हालांकि सर्वेश्वरवाद पंथ का आधार बनाकर दूसरों पर अत्याचार न करने में विश्वास रखता है लेकिन अन्य कारणों से कभी भी हिंसा की शुरुआत हो सकती है। राष्ट्रवादी या राजनीतिक विचार शासकों को निष्ठुर बना सकते हैं। चीन की दीवार (Great Wall of China) का निर्माण कार्य तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व प्रारंभ हुआ। एक चीनी शासक जो इस काम को जारी रखे हुए था उसने हजारों बौद्ध भिक्षुओं को बेगार (बलात् श्रम) करने के लिए भेजा, इनमें से कई की दुष्कर कार्य, भूखे रहने के कारण या पोषण के अभाव में मृत्यु हो गई। बंगाल के हिंदू शासक शशांक ने (लगभग छठी शताब्दी) पूर्वी भारत में बौद्ध मठों को नष्ट करवाया था और भिक्षुओं को देश से बाहर भगा दिया था। भले ही बौद्ध धर्म शांति का पक्षधर है लेकिन बौद्ध देशों (श्रीलंका, थाइलैंड इत्यादि) में शासकों ने राजनीतिक मतभेदों को दबाने, विद्रोहों को कुचलने के लिए अक्सर हिंसात्मक युद्ध किए। श्री अरविन्दो ने किसी और ही कारण से भारत में बौद्ध धर्म की आलोचना की । बौद्ध धर्म के संरक्षण में भारत में क्षत्रिय समूहों द्वारा शांतिवाद को अपना लेने से युद्ध भावना क्षीण हो गई। हालांकि, भारत के बाहर बौद्ध धर्म ने ऊर्जस्वी युद्ध संबधी परंपराओं का समर्थन किया। जापान में समुराई इसका एक उदाहरण है। इसी के साथ-साथ चीनी और जापानी भिक्षुओं ने योद्धा सामंतों से अपनी रक्षा करने के लिए बड़े पैमाने पर युद्ध कलाएँ (कुंफू, कराटे इत्यादि) विकसित कीं।

यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि धर्म स्वतः हिंसा का समर्थन नहीं करता। तोराह, बाईबिल और कुरान जैसे धार्मिक ग्रंथ सहिष्णुता और सद्भाव का समर्थन करते हैं। लेकिन गैर-धार्मिक कारकों ने प्रायः आस्तिकों के विरुद्ध हिंसा करने के लिए उकसाया है। जर्मनी में (1933-1945) शासन करने वाले नाजिओं ने यूरोप के अलग-अलग हिस्सों में लगभग साठ लाख (छह मिलियन) यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया क्योंकि दिखने में वे जर्मन-विरोधी या देशद्रोही थे। इसका असली कारण था कि जर्मनी में नाजी शासन

MAADHYAM IAS

यहूदीवाद-विरोधी था अतः इसे लोकप्रिय समर्थन मिला। इसी तरह, साम्यवादी चीन के शासकों ने 1950 के उत्तरार्द्ध में तिब्बत को अपने कब्जे में ले लिया। बाद में उन्होंने 3000 बौद्ध मठों को विनष्ट कर दिया, हजारों निहत्थे भिक्षुओं की हत्या कर दी और उसकी कलात्मक विरासत[3] को विनष्ट कर दिया। इसका स्पष्ट कारण था कि तिब्बती चीनी राज्य के प्रति विद्रोही (बागी) थे। इसका वास्तविक कारण था कि उन्हें बौद्ध धर्म के प्रति बहका कर उनमें घृणा भर दी गई थी। यदि हम इन गैर-धार्मिक कारकों पर नजर डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मनिरपेक्ष हिंसा (राज्यक्षेत्र पर नियंत्रण के लिए युद्ध या संग्राम) धार्मिक हिंसा की अपेक्षा ज्यादा गंभीर है।

एक सामान्य विचार यह है कि विश्व के भिन्न-भिन्न हिस्सों में धर्म राजाओं की तानाशाही या कुशासन को वैध ठहराने वाले रहे हैं। लेकिन प्रमाण से ज्ञात होता है कि धर्म अपने आप में रूढ़िवादी या अतिवादी, अत्याचारी या उदारवादी नहीं होता है। 5वीं शताब्दी में बोद्धिधर्म (दक्षिण भारत का भिक्षु) चीन पहुँचा और उसने बौद्ध धर्म का प्रसार किया। वह राजा के दरबार में कुछ वर्षों तक रहा और बाद में राज दरबार छोड़कर देहात में बस गया। उसने चीन के प्रताड़ित किसानों को चीनी योद्धा सामंतों के विरुद्ध एकत्रित किया। प्रारंभिक ईसाई धर्म ने कार्यकर्ताओं, कारीगरों और दासों को रोमन अत्याचार का मुकाबला करने के लिए प्रवृत्त किया। कई ईसाइयों को इस शंका के कारण मार दिया कि वे रोमन साम्राज्य के प्रति निष्ठा नहीं रखते। लेकिन 16वीं शताब्दी में यूरोप में कैथोलिक चर्च ने स्पेन के उपनिवेशियों द्वारा मैक्सिको वासियों पर किए गए नृशंस अत्याचार की अनदेखी की। ईसाई चर्चों ने जब 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोपियों द्वारा दास-व्यापार की उपेक्षा की जब लाखों अफ्रीकियों को उखाड़ कर उन्हें उत्तरी अमरीका की दूर दराज की कालोनियों और अन्य स्थानों पर काम करने के लिए भेज दिया गया।

इसके विपरीत, पश्चिम और लैटिन अमरीका में मजदूर वर्गों के बीच और अधिक आधुनिक उग्र आंदोलनों का प्रतिनिधित्व धार्मिक सुधारकों द्वारा किया गया। 19वीं शताब्दी में, इंगलैंड में, प्रोटैस्टेंट मतावलंबियों ने श्रमिक वर्ग के संघर्ष का समर्थन किया।[4] लैटिन अमरीका में, कैथोलिक पादरी अत्याचार के विरुद्ध श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले संघर्ष में शामिल हो गए। व्यापार संघों के विरोध प्रकट करने के फलस्वरूप 1990 में पौलेंड में कम्युनिस्ट (साम्यवादी) शासन लाया गया जिसका प्रतिनिधित्व कैथोलिक राजनेताओं ने किया।

भारतीय समाज में धर्मों ने लोगों को बाँटने के साथ-साथ एकत्रित भी किया है। भले ही धार्मिक उत्पीड़न भारत में नहीं है लेकिन इसके मतावलंबी (संप्रदाय) शैव, वैष्णव और शाक्त, एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। हाल ही के समय में "सांप्रदायिक" संघर्ष भी सामने आ चुका है। खान-पान की आदतों, रहन-सहन के तरीकों भाषायी या सांस्कृतिक प्रचलनों में भी काफी भिन्नताएँ हैं जो एक धार्मिक समूह और दूसरे धार्मिक समूह के बीच खाई बन चुके हैं। उदाहरण के लिए, वैष्णव मतावलंबी भगवान विष्णु के प्रतीकार्थ माथे पर सीधी (क्षैतिक) रेखाएँ तिलक के रूप में लगाते हैं जबकि शैव मतावलंबी भगवान शिव के प्रतीकार्थ अपने माथे पर खड़ी (ऊर्ध्वाधर) रेखाओं का तिलक लगाते हैं। भारत में इन दोनों ही संप्रदायों के बीच संघर्ष का एक लम्बा इतिहास रहा। प्राचीन काल में एक बार जैनियों ने दक्षिण शैवों का उत्पीड़न किया बदले में शैवों ने वैष्णवों पर अत्याचार किया। इन घटनाओं में हिंसा का कारण था लालच (अर्थात् लाभ के लिए पवित्र स्थान पर कब्जा) या राजदरबार में सत्ता (शक्ति) और विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए फरियाद। इसके बावजूद लोगों के बीच सांस्कृतिक मतभेदों को दूर करने की प्रवृत्ति रही। इस संदर्भ में शंकराचार्य जैसे प्रख्यात सुधारकों ने मंदिर या अन्य पूजास्थलों का सामूहिक रूप से निर्माण किया और तीर्थ स्थलों के जरिए सांस्कृतिक एकीकरण करके राष्ट्रीय एकता के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

MADHYAM IAS
Key to achieve your dream

निस्संदेह भारतीय धर्मों ने स्वयं को नइ अपेक्षाओं को अपनाने के प्रति अत्यंत लचीलापन दर्शाया और पूर्वकाल की अपेक्षा वर्तमान में ज्यादा सुदृढ़ होकर उभरा है। अतः यह सत्य है कि भारतीय धर्मों का विभाजक सुग्राहयता की अपेक्षा सम्बद्धता बल ज्यादा मजबूत है।

सोचें और करें 23.1

आपने ऊपर के अनुच्छेद में पढ़ा कि; "निस्संदेह भारतीय धर्म उनके विभाजक प्रभावों की अपेक्षा ज्यादा मजबूत है।" क्या आप लेखक के इसी विचार का समर्थन करते हैं या आपकी राय कुछ ओर है। यदि ऐसा है तो क्यों? आप लेखक के मत से सहमत हैं या असहमत इसके संबंध में अपनी राय लगभग दो पृष्ठों में लिखिए।

अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से अपने मत पर चर्चा कीजिए। यदि संभव हो तो आप इस विषय पर वाद-विवाद आयोजित करने के लिए अपने शैक्षिक परामर्शदाता से अनुरोध कर सकते हैं।

इस भाग को समाप्त करने से पूर्व धर्म के भीतर हुए सांप्रदायिक विकासों के संबंध में भी कुछ चर्चा की जा सकती है। पश्चिम में संप्रदाय मुख्यतः धार्मिक स्वतंत्रता सुरक्षित रखने के लिए अलग हो जाने वाले समूह के हिस्से की इच्छा के कारण उद्‌भुत हुए। कैथोलिक चर्च के धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक दायरों में चिरकालिक आधिपत्य को 16वीं शताब्दी के यूरोप में प्रोटैस्टेंट द्वारा मार्टिन लूथर के नेतृत्व में प्रभावशाली रूप से चुनौती दी गई। चर्च भ्रष्ट हो चुकी थी। इसके पादरियों ने ब्रह्मचर्य के वचन को प्रायः भुला ही दिया था। पोप ऐसे "आदेश-पत्र" (प्रमाण पत्र) देने लगे जिनसे चर्च को दान देने वालों को उनके पापों से मुक्ति मिल जाती थी। चर्च अध्यात्मवाद का केंद्र बनने की बजाय सांसारिक या भौतिकवादी बन चुके थे। जहाँ प्रकट रूप से चर्च "पारलौकिकता" का अनुमोदन करती थी दूसरी ओर यह यूरोप के सामंतवादी परिवारों के कब्जे में थी जो इसकी विशाल जागीरों (भू-संपत्तियों) और अन्य संपत्तियों पर अपना नियंत्रण रखने के लिए बिशपों को चर्च में भेजते थे।

MAADHYAM IAS

16वीं शताब्दी के बाद यूरोप में प्रोटैस्टेंट आंदोलन उन्नत व अभिवृद्ध हुआ, कैथोलिक चर्च ने यूरोप के लोगों पर अपना नियंत्रण खो दिया; आगामी शताब्दियों में एशिया, लैटिन अमरीका और अफ्रीका में यह धर्म-परिवर्तन कराने में सफल रहा। दो समूहों के बीच शत्रुताएँ अत्यंत गहन थीं; एक नियम के तहत, कैथोलिक प्रोटैस्टेंट पर अत्याचार करने के लिए राज्य शक्ति का प्रयोग करते थे और प्रोटैस्टेंट कैथोलिकों पर अत्याचार करते थे। इगलैंड, जर्मनी, नीरदलैंड और उत्तरी जाति संबंधी शताब्दियों में प्रोटैस्टेंट प्राधान्य प्राप्त कर चुके थे जबकि इटली, स्पेन और पुर्तगाल में कैथोलिकों का प्रभुत्व अभी भी बना हुआ था। आज तक उत्तरी यूरोप प्रोटैस्टेंटवाद का केंद्र रहा जबकि दक्षिणी यूरोप में कैथोलिकों का बोलबाला है।

बॉक्स 23.1: बौद्ध धर्म और जैन धर्म

यह समाजशास्त्रीय रूप से उल्लेखनीय परिघटना है कि जैन और बौद्ध दोनों मतों का नेतृत्व क्षत्रिय मूल के धार्मिक नेता कर रहे थे। उन्होंने रूढ़िवादी हिंदू धर्म और सामाजिक स्तरीकरण की जाति प्रथा की कट्टरताओं जैसी हिंदू प्रथाओं के विरोध आंदोलन का नेतृत्व किया। लेकिन ये धार्मिक संप्रदाय गंभीर धार्मिक दर्शन और नैतिक संहिता पर आधारित थे। उनकी संकल्पना में भगवान उनकी धारणा का केंद्र नहीं थी बौद्धवाद और जैनवाद दोनों के धार्मिक नेताओं क्रमशः गौतमबुद्ध और महावीर भगवान न होकर भगवान का "अवतार" माने जाते थे। बाद में दोनों संप्रदाय अपने आंतरिक मतभेदों के आधार पर विभक्त व उपविभक्त हो गए।

भारत में, बौद्ध धर्म और जैन धर्म कुछ ऐसे प्रमुख संप्रदाय थे जिन्हें सार्वजनिक मान्यता मिली। उन्होंने वैदिक संस्कृति के कुछ पहलुओं (पशु बलि इत्यादि) को अस्वीकार कर दिया था लेकिन व्यापक रूप से वेदांतिक (उपनिषदिक) संस्कृति से सहमत थे। क्योंकि दोनों संप्रदायों और पहले धर्म के बीच कोई मूलभूत विभाजन नहीं था। लुईस रेनओ[5] ने कहा है कि इन संप्रदायों के जातिगत विविधता प्रदान करके भारतीय संस्कृति को गतिशीलता प्रदान की। साधारण लोगों को धार्मिक सिद्धांत का सार बताया जा सकता है जबकि संप्रदाय स्पर्शनीय वास्तविकता है। अधिकांश विश्वास करने वाले (आस्तिक) स्वयं को एक या किसी दूसरे संप्रदाय से पहचानते हैं, उनकी आशाओं और आकांक्षाओं को उनके उन चमत्कारी धार्मिक नेताओं द्वारा रूप प्रदान किया जाता है जिन्होंने संप्रदायों की स्थापना की। जो भी कोई गुजरात जाता है वह इस क्षेत्र में वल्लभाचार्य और स्वामी नारायण संप्रदायों की प्रतिष्ठा को अनुभव कर सकता है। इसी तरह, असम में शंकरदेव या बंगाल में चैतन्य, उत्तर भारत में कबीर या रैदास के अनुयायी हैं। रेनओ लिखते हैं, "गतिहीन और पुराने लोकप्रिय हिंदू धर्म के मुकाबले, संप्रदाय प्रगति का साधन बन चुका है। सुधार दो प्रकार के होते हैं, कभी-कभी धार्मिक प्रचलनों के निष्पादन में सख्ती बरतने की सलाह दी जाती है, कभी-कभी विरोध प्रदर्शन को सामाजिक पैमानों और निषेधों के रूप में व्यक्त किया जाता है ताकि धार्मिक जीवन तक प्रत्येक मानव की पहुँच हो।"

संक्षेप में, भारतीय समाज अवलोकनकर्ता को धर्मों के आकर्षक व विघ्नकारी (आंदोलनकारी) पहलु प्रस्तुत करता है। धर्मांधता या "मेरा स्पर्श" करें की अभिवृत्ति (touch-meattitude) है जो असंगत अवयव को सीमित (प्रतिबंधित) करता है। लेकिन कुछ ऐसे तीर्थयात्रियों के जनसमुदाय भी हैं पवित्र नदी में स्नान करने या मंदिर जाने के लिए देशाटन करते हैं वे इस तथ्य के प्रति बिल्कुल असावधान या लापरवाह होते हैं कि वे अलग-अलग भाषाएँ बोलने वाले अजनबियों के साथ हैं। यहाँ इस भ्रम को दूर कर देना जरूरी है। काफी लम्बे समय से लोकप्रिय साहित्य में ऐसा माना जाता है कि जाति और संप्रदाय एक ही है दोनों में अंतर नहीं है। विवेकानंद और अरविन्दो दोनों ने देखा कि जातियाँ वे सामाजिक ढाँचे हैं जो उत्पादक प्रक्रियाओं (कृषि, उद्योग और कारीगरी) को अवलम्ब प्रदान करने के लिए तैयार किए गए हैं। इसके विपरीत संप्रदाय विश्वास के साहचर्य हैं, संप्रदाय के सदस्यों का मार्गदर्शन उनके गुरू या आचार्य करते हैं न कि पवित्रता और प्रदूषण के नियम। सत्संग में सभी जाति निषेधों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, सत्संग में आने वाले सभी व्यक्तियों का एक ही अवलंब होता है वे समान भोजन खाते हैं और समानता के आधार पर एक दूसरे को बुलाते हैं। महाराष्ट्र का वरकारी संप्रदाय इसका एक अच्छा उदाहरण है। प्रति वर्ष गर्मियों में राज्य या राज्य के बाहर के विभिन्न हिस्सों से हजारों लोग, यात्रियों के जत्थे में पंडारपुर (जहाँ विष्णु पूजे जाते हैं) आते हैं। यात्री चाहे किसी भी पृष्ठभूमि के क्यों न हों, यात्रा के दौरान सभी भक्तों के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाता है। अक्सर संपत्ति उत्तराधिकार या विवाह के संदर्भ में संप्रदाय के सदस्यों के लिए जाति कारक महत्वपूर्ण होता है लेकिन एक संप्रदाय के सदस्य से दूसरों के साथ मुक्त अंतःक्रिया की अपेक्षा की जाती है। एक बार फिर दोहराए तो जाति कुछ सामान्य विशेषताओं के बावजूद सोपानक्रम पर आधारित होती है जबकि संप्रदाय समान व्यक्तियों के साहचर्य पर आधारित होता है।

23.3 प्रतिद्वंद्विता, संघभेद और एकीकरण

विश्व के सभी धर्मों में कुछ जरूरतों की पूर्ति के लिए समय-समय पर संघभेद पैदा हुआ। यदि किसी विशिष्ट धार्मिक समूह के अनुयायी मानसिक या आध्यात्मिक रूप से वंचित महसूस करते हैं तो वे शेष से अलग होकर एक पृथक समूह बनाते हैं। चमत्कारी नेता इन असंतुष्ट व्यक्तियों को नई धार्मिक धाराओं में जुटाने की पहल करते हैं। सिद्धांतों पर मतभेद, राष्ट्रवादी या नैतिक जरूरतों से दबाव और समय की गति अन्य कारक हैं जो नए

संप्रदायों के गठन को अनुकूल धरातल प्रदान करते हैं। यूरोप में सांप्रदायिक विवाद ने धार्मिक एकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाला।

आज तक कैथोलिक और प्रोटैस्टेन्ट के बीच की शत्रुता के कारण ऊतरी आयरलैंड इस फूट का सामना कर रहा है। यहाँ तक कि नीदरलैंड और जर्मनी में उद्योगों के मजदूर संघ इन समूहों से सम्बद्ध हैं। इस्लाम में शिया और सुन्नी प्रमुख संप्रदाय हैं जबकि कई अन्य छोटे-छोटे संप्रदाय भी हैं। राष्ट्रवादी शत्रुताओं और सैद्धांतिक मतभेदों से अलगवादी प्रवृत्ति आई। मिस्र और अरब सुन्नी के नेता हैं जबकि ईरान शियाओं का प्रमुख केंद्र है।

बॉक्स 23.2: संप्रदाय क्या है?

संप्रदाय एक धार्मिक समूह है जो उन व्यक्तियों को निरूपित करता है जो स्थापित चर्च से एक सुपारिभाषित पंथ वाले धार्मिक भाईचारे की घनिष्ठता के रूप में सिद्धांत की व्याख्या करने का विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए, कैथोलिक चर्च से प्रोटैस्टेंट। यह आदर्श प्रकार उस चर्च के विपरीत होता है, भले ही उस चर्च की कुछ विशेषताएँ उसमें हों। चर्च के विपरीत, संप्रदाय के लिए सदस्यता अनिवार्य नहीं होती। यह स्वैच्छिक होती है, और सापेक्षिक रूप से एकमात्र होती है तथा अक्सर आनुष्ठानिक रूप से सक्षम होती है।

संप्रदाय अयोग्य सार्वभौमिक धर्मांतरण का समर्थन नहीं करता। भगवान की अनुकम्पा न तो सभी के लिए होती है और न ही यह स्वतः अर्पित की जाती है। यह व्यक्ति के व्यक्तिगत विश्वास और नैतिक व्यवहार द्वारा जीती जाती है। अतः संप्रदाय में "गिरजे के धर्मज्ञानियों का परिष्कृत मौखिक (शाब्दिक) ताना बाना" के लिए घृणा होती है। (जानसन 1968; अध्याय 16) (इग्नू के बी.डी.पी. के ई.एस.ओ-05 : समाज और धर्म, खंड 3 : धर्म और संबंध पहलू, पृष्ठ 97 में उद्धृत)

भारत में भी हिंदुओं में शैव, वैष्णवों और शाक्तों के बीच शत्रुतापूर्ण मुठभेड़ें अक्सर होती रहती हैं। कुंभ मेला महोत्सव समय-समय पर प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक, चार स्थानों पर आयोजित किया जाता है। पहले से ही अलग-अलग अखाड़ों से जुड़े नागाओं (शैवों) और बैरागियों (वैष्णवों) के बीच झगड़े होते आ रहे हैं। हालांकि अब मेला शांतिपूर्ण रूप से संपन्न होता है लेकिन विभिन्न संप्रदायों के बीच तनाव की स्थिति बनी रहती है। नागा (शैव) और बैरागी (वैष्णव) नामक दो सशस्त्र समूह इस्लाम या ईसाइमत के हिंदू धर्म में अनधिकार प्रवेश (घुसपैठ) से सुरक्षा करने के लिए गठित किए गए। लेकिन उन्हें अक्सर कट्टरपंथियों द्वारा बहकाकर एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने के लिए उकसाते थे। भले ही वे भारतीय समाज की समान धार्मिक धारा के ही होते हैं।

धार्मिक पंथ/फूट ने भी विश्वास पद्धतियों को एकीकृत (समाविष्ट) करने के लिए आंदोलन करने की प्रेरणा दी। पश्चिम में यह अखिल चर्च आंदोलन के नाम से जाना जाता है; यह तीनों प्रमुख खंडों कैथोलिक प्रोटैस्टेंट और रूढ़िवादी ईसाइयों को एक सामान्य मंच पर एकत्रित करना चाहता है। यह धर्मनिरपेक्षवाद की चुनौती का जवाब भी है। यह आंदोलन न केवल इन विभिन्न धार्मिक संबंधों में सामान्य आध्यात्मिक अवयवों पर केंद्रित है बल्कि यह पश्चिम में निरंतर बढ़ रही नास्तिकता के विरुद्ध एक बचाव (सुरक्षा) प्रदान करता है। इस्लाम में सूफीवाद ने मुसलमानों और गैर-मुसलमानों (ईसाइयों, हिंदुओं इत्यादि) को आपस में एक दूसरे से मिलाया है जो मानव जाति एकता में विश्वास रखता है। उत्तर अफ्रीकी राज्यों (एलजीरिया, मोरक्को और तुनीसिया) में आधिकारिक इस्लाम और सूफीवाद में अक्सर अनबन (झगड़ा) रहता है लेकिन प्रत्येक ने आस्तिकों को एकीकृत ही किया है। आधिकारिक (औपचारिक) इस्लाम ने शिक्षितों, शहरी व्यापारियों

और प्रशासकों को संगठित किया है जबकि सूफीवाद का ग्रामीण भीतरी प्रदेशों के लोक-जनजातीय समूहों पर दबदबा है।

भारत में, शंकराचार्य (8वीं शताब्दी) ने हिंदू समाज के पुनःनिर्माण के लिए संप्रदायों को एक सामान्य कार्यक्रम के तहत एकत्रित करने का निर्णायक कदम उठाया। उन्होंने हिंदुओं को पंचायतन प्रथा (व्यक्तियों द्वारा अपनी मर्जी से चुने गए पाँच देवताओं की पूजा) का अनुसरण करने का आदेश दिया। उन्होंने अपनी स्मार्त परंपरा में सौर, स्कंध, गणपत्य, शाक्त, शैव और वैष्णव छहों संप्रदायों को एकीकृत किया। उन्होंने महसूस किया कि अपकेंद्री बलों पर नियंत्रण के लिए ऐसा एकीकरण करना अनिवार्य है। आज तक स्मार्त समूह कश्मीर से रामेश्वरम तक समूचे भारत में पाए जाते हैं। रामानुज (11वीं शताब्दी) ने वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन (प्रचार) किया और तमिलनाडु के ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण दोनों समूहों के अनुयायी हैं।

उत्तर के महान् भक्त नानक, तुलसीदास, कबीर, दादू और रैदास आध्यात्मिक भाईचारे के लिए जाने जाते हैं। अत्यधिक चमत्कारी वैष्णव संत चैतन्य महाप्रभु (16वीं शताब्दी) का पूर्वी भारत (बंगाल और उड़ीसा) में अतिविशाल शिष्य समुदाय था जिनमें हिंदू, जनजातियाँ और मुस्लिम शामिल थे। गुजरात में स्वामी नारायण[10] (1781-1830) ने कहा कि उन्हें रामानुज की शिक्षाओं से प्रेरणा मिली; उन्होंने उस वैष्णव सिद्धांत का प्रचार किया जो अपने अतिनैतिकता के लिए जाना जाता है। उन्होंने रामानुज के मिशन को आगे बढ़ाया। इस मिशन को जारी रखने को लिए उन्होंने मटिया, लोहाना और पटेल जैसी तत्कालीन पिछड़ी जातियों और जनजातियों सहित विभिन्न जातियों को अपने में जोड़ा।[11] उन्होंने अपने अनुयायियों को "ब्राह्मणीकृत संत" की संज्ञा देकर उन्हें उच्च आध्यात्मिक प्रतिष्ठा प्रदान की। (एक बार विवेकानंद ने टिप्पणी की थी कि नानक के सभी शिष्य ब्राह्मण थे। इसका तात्पर्य यह है कि जाति के विपरीत संप्रदाय में प्रतिष्ठा योग्यता के आधार पर प्रदान की जाती है)

सांप्रदायिक दर्शन का संदेश स्पष्ट एवं सरल है। भारतीयों को अपने रीति रिवाजों जैसे मूर्ति-पूजा और जाति) को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। इसी के साथ-साथ सामाजिक अवरोधों का परित्याग किए बिना उन्हें श्रेष्ठ बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए। वस्तुतः तीन विख्यात भारतीय विचारकों — विवेकानंद, अरविन्दों और कुमारस्वामी का कथन है कि पारस्परिक निर्भरता पर आधारित जाति प्रथा ने भारत समाज को स्थिरता प्रदान की। भारतीयों को अतीत को छोड़ना नहीं है बल्कि वर्तमान के संदर्भ में उन्हें पुनः परिभाषित करना होगा। इसके अलावा, इस पर बात भी गौर किया जाना चाहिए कि वेदों (जो मौखिक रूप से बताए जाते थे) तक बहुत कम व्यक्तियों की पहुँच थी जबकि उपनिषद (गीता सहित), महाकाव्य और पुराण मुक्त रूप से अधिकांश व्यक्तियों की पहुँच में थे। देश के गाँवों और कस्बों के जनसामान्य को इनके बारे में जानकारी भ्रमणशील धार्मिक प्रचारकों के जरिए मिली जिन्होंने जनता में इसकी व्याख्या की व विवरण प्रस्तुत किया।

बॉक्स 23.3 : हिंदू परंपरानिष्ठा और जाति संरचना

हालांकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रूढ़िवादी (शास्त्र सम्मत) हिंदूवाद में कठोरताएँ हैं जिन्हें जाति संरचना में व्यक्त किया गया था जो आधुनिक दृष्टिकोण से कम आबादी की उच्च जातियों द्वारा बहुसंख्यक दलितों या शुद्रों के शोषण और अत्याचार पर आधारित थी। यदि जाति गतिशीलता संभव थी तो वह केवल सीमित अंश तक सामाजिक समूह के रूप में संभव थी। अन्यथा हमारे एकलव्य का उदाहरण हमारे समक्ष है जिसका अंगूठा मात्र इसलिए काटा गया कि वह धनुषबाण की कला न सीख सके और क्षत्रिय राजकुमारों के साथ प्रतिस्पर्धा न कर सके।

यह आश्चर्यजनक नहीं है कि अनेकों धार्मिक संप्रदाय जाति प्रथा और धार्मिक परपंरानिष्ठा की बुराइयों को दूर करने के विरोध में बने। जैनवाद, बौद्धवाद, भक्ति आंदोलन से सिक्खवाद सभी संप्रदाय प्रारंभिक सामाजिक संरचना की कुरीतियों या गलतियों को सुधारने के लिए बने।

भारतीय हिंदू, जैन, सिक्ख, मुस्लिम, तीर्थ यात्रा कहलाने वाले स्पर्शनीय धार्मिक अनुभव में व्यस्त है। वर्षभर, साधारण पुरुष, महिलाएँ और बच्चे देशभर की पवित्र समाधियों की यात्रा करने या पवित्र नदी में स्नान करने के लिए जाते हैं। पवित्र नदियाँ और पूजा स्थल (मंदिर, दरगाह और गुरुद्वारे) सभी जातियों और श्रेणियों के लिए खुले हैं।

बॉक्स 23.4 : कुछ विपथगमन

तथापि, कुछ मंदिरों जैसे पुरी (उड़ीसा) के भगवान जगन्नाथ मंदिर में विदेशियों के प्रवेश पर प्रतिबंध है। मस्जिदों में, शायद कश्मीर को छोड़कर, महिलाओं को प्रार्थना करने (नमाज) के लिए प्रवेश की अनुमति नहीं है। यहाँ तक कि अय्यप्पा मंदिर अपने-अपने परिसरों में महिलाओं को प्रवेश नहीं करने देता। भारत में संविधान द्वारा काफी समय पहले छूआछूत का उन्मूलन कर दिए जाने के बावजूद राजस्थान के दूरदराज क्षेत्रों में ऐसे मामलों की सूचना मिली है जिसमें इस समय भी अछूतों को मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया जाता है।

तीर्थ यात्रा के दौरान जाति मूल्यों को पूर्णतया नजरअंदाज किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रयाग या हरिद्वार में हजारों लोग स्नान करते हैं या पूजा स्थलों में (हिंदू, मुसलमान या सिक्ख) लोगों की भीड़ उमड़ी होती है ऐसे में उन्हें उनकी जाति या विशेषाधिकर के आधार पर पहचान पाना संभव नहीं हो पाता। वे रंग, जेंडर या आयु वर्ग की भिन्नताओं के प्रति पूर्णतया अनजान होते हैं। वे सुख-बोध की स्थिति में होते हैं जिसमें सभी व्यक्ति बराबर दृष्टिगत होते हैं। तिरूपति, वैष्णों देवी, द्वारका, रामेश्वरम इत्यादि ऐसे मंदिर हैं जहाँ कोई भी जा सकता है। भारत (हिंदू, सूफी या सिक्ख) पूजा के सार्वजनिक स्थलों पर किसी के जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं है। विक्टर टर्नर ने तीर्थ यात्रा के लिए "संरचना-विरोधी" शब्द का प्रयोग किया है जो सभी संरचना व्यवधानों (जाति, वर्ग और जातियता) को निलंबित (अवलोकन) करता है। उनके विचार में प्रत्येक समाज में विरोधी संचनाएँ होती हैं जो संरचनाओं द्वारा पैदा किए तनावों को अपने में अवशोषित कर लेती है।

एकीकृत उद्यम का अतीत और वर्तमान दोनों संदर्भों में सारांश प्रस्तुत करने के लिए तीन स्तरों की पहचान की जा सकती है : (क) बौद्धवाद और जैनवाद द्वारा प्रदान बौद्धिक अभिविन्यास, (ख) भक्ति समूहों का भावात्मक विन्यास, (ग) तीर्थयात्रा का सहभागी विन्यास। भारत न केवल जातिगत विविधता की विशेषता रखता है बल्कि यह उन अनगिनत समूहों या उप-समूहों को भी ऊपर उठने देता है जो नगण्य या मामूली कारण से भी एक दूसरे से अलग होने को तैयार होते हैं। लेकिन एकीकरण के ऊपर वर्णित कारकों ने भारत को एक अद्वितीय स्थिरता, विशेष रूप से सांस्कृतिक संदर्भों में, प्रदान की है। अलग होना एक हद तक अच्छा है क्योंकि इससे धर्म में सृजनात्मक अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न होती है। लेकिन एकीकरण इसलिए सही है क्योंकि यह भारत राष्ट्र की अंतर्निहित एकता को सुदृढ़ करता है। यहाँ तब कि संप्रदायवाद जिस प्रकार तीखे विवाद हैं वस्तुतः उसकी जड़ें भारतीय संस्कृति में है ही नहीं। यह स्पष्टतः औपनिवेशिक नीतियों की उपशाखा है जो विचारात्मक सिद्धांतवाद (विचारधारा) या "फूट डालो और राज करो" की विचारधारा और प्रशासनिक आदेश के जरिए लोगों को बाँटना चाहता था।

भारतीय धर्मों का भारतीय राजनीतिक योजनाओं का केवल सारहीन संबंध है जो पश्चिम से प्रेरित लगता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर एस एस) जो

सांस्कृतिक निकाय होने का दावा करता है इसका धार्मिक अखाड़ों से कोई उत्पत्तिमूलक संबंध नहीं है और ये अखाड़े पुराने समय से विद्यमान हैं। यह पश्चिमी प्रकार के व्यायामों का प्रशिक्षण देता है। इसके विपरीत, कम्फू (चीन) और कराटे (जापान) के आधुनिक केंद्र प्राचीन परंपरा की असाधारण निरंतरता को दर्शाते हैं। चीन का शाओलीन मंदिर (जिसकी स्थापना 5वीं शताब्दी में बौद्धधर्म के मठवासी द्वारा की गई थी) आज तक कंफू का केंद्र बना हुआ है, भले ही देश में दशकों से कम्युनिस्ट शासन रहा है। सुविचारित विश्लेषण उन लक्ष्यों को उद्भासित करेंगे जिन्होंने आधुनिक भारत के संबंध में गलत जानकारी देने के लिए प्रेरित किया।

23.4 भारत में धर्म : विविधता (अनेकता) में एकता

भारत के विभिन्न हिस्सों में खोजी गई प्राग्ऐतिहासिक गुफा पेंटिंग (चित्र) और महापाषाण तुंब (डॉलमेन) और तूप (कक्ष) के नाम से जाने वाले प्राचीन शव-कक्ष बताते हैं कि उपमहाद्वीप में अतीत में जो जनसाधारण और जनजातीयां निवास करती थीं वे धर्म से प्रेरित थीं। वैदिक संस्कृति जो भारत में ईसा-पूर्व तीन सहस्राब्दियों में समृद्ध हुआ निस्संदेह उसने कई जनजातीय धारणाओं और प्रथाओं को आत्मसात कर लिया। भारत में धर्म अतीत की धरोहर को अस्वीकार नहीं करते किंतु उसे आत्मसात् या रूपांतरित (संशोधित) करते हैं। वैदिक बस्तियाँ जो उत्तर पश्चिमी भारत में सरस्वती नदी (जो अब विलुप्त हो गई है) के किनारे स्थित थीं उन्होंने यज्ञ बलि संबधी उपासना पद्धति का अनुसरण किया जिसमें इन्द्र, वरूण, सूर्य और अग्नि जैसे दिव्य रूपों की उपासना की जाती थी। मैक्समूलर का अवलोकन कि हिंदू इन प्रकृति मानवी रूप की पूजा इसलिए करते हैं क्योंकि वे इनकी शक्ति से डरते हैं, सही नहीं है। भगवान और मानव के बीच एक पारस्परिक संबंध है। वस्तुतः पश्चिम एशियाई धर्मों में लोग लोकोत्तर (अनुभवातीत) भगवान (जीवोह या अल्लाह) से डरते थे। भक्तिवाद के नाम से विख्यात वैदिकोत्तर विकास में भय की बजाय मानव और भगवान एक स्नेहात्मक (रागात्मक संबंध में बंधे हैं (उदाहरण के लिए कृष्ण राधा के प्रियतम या अर्जुन के सखा है) इस्लाम के आधार को सूफीवाद में संशोधित किया गया जिसमें भगवान फकीर का प्रियतम है।

वैदिक संस्कृति पोटलाश पद्धति पर केंद्रित थी जिसमें शहद, सिल्क, अनाज जैसी मूल्यवान वस्तुएँ जलाई जाती थीं। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जानवरों की बलि दी जाती थी। बदले में देवताओं से यज्ञकर्ता स्वस्थ वंशपरंपरा (संतति) को बचाये रखने, अच्छी बारिश और फसलों की पैदावार और युद्धस्थिति में सफलता की अपेक्षा करता था। इसका निहितार्थ यह था कि उपलब्ध अतिरिक्त को उपहारों के रूप में मित्रों, निकट संबंधियों और आमंत्रित व्यक्तियों में बाँट दिया जाता था। कार्ल पोलीयानी का कथन है कि पारस्परिक अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त संचित नहीं होता। अतः उसमें कोई वर्ग-रचना नहीं थी। वैदिक समाज (वर्ण-संरचना के बावजूद) एक लोक समाज था अर्थात् इसमें सांस्कृतिक असमानता नहीं थी। भारत के वैदिकोत्तर समाज में अनेकों गणतंत्रवादी राज्य थे (बुद्ध और महावीर गणतंत्रवादी परिवेश में पैदा हुए) जहाँ समानता का उच्च प्रतिमान था। शासक समानों के बीच प्रथम व्यक्ति (समकक्षों में प्रथम) होता था। बौद्धों की जातक कथाएँ (संस्कृत में रचित) में इन प्रारंभिक राज्यों के बारे में काफी प्रभाव प्रस्तुत करती हैं। लेकिन उत्तरी भारत में साम्राज्यों का उदय हुआ और छोटे-छोटे राज्यों का स्थान साम्राज्यों ने ले लिया। वस्तुतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन छोटे राज्यों को अधिकार में लेने की आक्रामक रणनीति की सलाह दी गई है ताकि मौर्य साम्राज्य को राजनीतिक स्पर्धा का सामना न करना पड़े। तथापि, दक्षिण में, चोल, पल्लव और पांड्या शासकों ने विकेंद्रीकृत राज्य व्यवस्था का अनुसरण किया [15]; ग्राम पंचायतों (उत्तर के गणराज्यों की भाँति) ने स्वाभाविक स्वायत्तता को बनाए रखा। राजा प्रमुख मुख्य रूप से आक्रमणकारियों से अपने प्रदेश को बचाने और राज्य में प्रशासनिक सम्बद्धता बनाए रखने में व्यस्त थे।

वैदिक समाज का केंद्रीय पक्ष ब्रह्मांड और पृथ्वी के बीच परस्पर-निर्भरता का रखरखाव करना था। इस तरह ब्राह्मण पुजारियों के निर्देशन में शासक नियमित रूप से यज्ञ करते थे। यह स्पष्टतः दो तरफा प्रक्रिया थी। देवता अच्छी वर्षा, अतिरिक्त पैदावार और लोगों तथा पशुओं को स्वास्थ्य प्रदान करके समाज की रक्षा करते थे। साथ ही साथ यज्ञ के दौरान लोगों की भेंट प्राप्त करके देवता अपनी अपनी दिव्य स्थितियों को धारण किए रहते थे। इस तरह, कर्तव्यनिष्ठ शासक यज्ञ द्वारा ब्रह्मांड और पृथ्वी दोनों के कल्याण में योगदान देता था। यदि मानव देवताओं पर आश्रित थे तो देवताओं को भी मानव की सहायता की जरूरत होती थी। जब विश्वामित्र तपस्या करने की प्रतिज्ञा करते हैं तो विश्वामित्र की तपस्या से इंद्र विक्षुब्ध हो जाते हैं। इसी तरह, इंद्र तब भी घबरा जाते हैं जब बालकृष्ण के कहने पर बृज के लोग उनकी पूजा नहीं करते हैं। ये सभी कार्य पारस्परिक संबंधों पर आधारित पुरानी व्यवस्था में व्यवधान डालते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, भारत का धर्म संबंधी दृष्टिकोण भय पर आधारित नहीं है। पश्चिम एशियाई धर्मों में भगवान दिव्य (अनुभवातीत) है अतः वे मानव के कार्यों पर निर्भर नहीं होते। बल्कि मानव उस परमशक्ति भगवान की दया का पात्र है। भारत में राजपद (बादशाहत) से जुड़ी असाधारण महत्व का यह एक अंतर्निहित कारण है।[16] कोई भी साधारण मानव राजा बन सकता है लेकिन एक बार राजपद ग्रहण करने पर उसका अच्छा शासन ब्रह्मांड और पृथ्वी दोनों पर शांति सुनिश्चित करता है।

जैसा कि प्रस्तावना में उल्लेख किय गया है, भारत में समय-समय पर पैदा हुए संप्रदायों और पंथों ने अंतिम लक्ष्य — यानि मोक्ष या वणि की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक राह सुझा कर भारतीय लोगों की मानवीय जातीय विविधता को दर्शाया। जैसा कि विवेकानंद और अरविंदो ने अपनी-अपनी रचनाओं में लिखा कि वैदिक प्रज्ञान (विशेष रूप से औपनिषदिक सच्चाई) ने सभी उत्तरवर्ती महाकाव्य और पुराण जैसे पवित्र ग्रंथों का मार्गदर्शन किया। महाकाव्य, पुराण इत्यादि वैदिक संरचना से बाहर नहीं है। वेदों और उपनिषदों (वेदांत) के संबंध के बारे में यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है। बौद्धवाद और जैनवाद की तरह उपनिषदों में भी पशु हत्या और वैदिक संस्कृति के भौतिकवादी लक्ष्यों पर बल नहीं दिया गया है। बल्कि इन्होंने गतिविधि को नए अर्थ प्रदान करके आध्यात्मिक राह का अनुसरण करने के लिए लोगों से आग्रह किया है। उदाहरण के लिए यज्ञ का अर्थ है अपने अहं (अहंकार या अस्मिता) का त्याग। इसी तरह, वैदिक धार्मिक अनुष्ठान के ठोस प्रतीकात्मक अर्थ हैं। उदाहरण के लिए पुत्रों की इच्छा का गूढ़ अर्थ है कि पुत्र विचारों की लक्षणा (रूपक) हैं। यज्ञ मानव के आंतरिक जीवन का अभिप्राय है, यह अहं छोड़ने और नए विचार (अंतर्ज्ञान) अर्जित करने योग्य बनाती है जो उसे आध्यात्मिक राह की ओर अग्रसर होने में उसका मार्गदर्शन करते हैं। इस प्रकार, भारत के पवित्र ग्रंथ चाहे वे हिंदुओं के हो, बौद्धों के हों या जैनियों के सभी का एक ही मूलभूत अभिमत (सिद्धांत) है भले ही उनके द्वारा अनेकों वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। सारांश में आज तक हिंदू धर्म में हुए धार्मिक विकासों को केवल उपासना निर्दिष्ट सनातन धर्म के अंतर्गत रखा जा सकता है।[17] वैदिक ऋषियों के समय से लेकर आज तक मूलभूत मानव-जातीय और आध्यात्मिक विचार बने हुए हैं। यहाँ तक कि बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, शंकराचार्य, रामानुज और स्वामी नारायण ने भी सनातन परंपरा को अस्वीकार नहीं किया उन्होंने इसके केवल कुछ भागों में संशोधन किया और इसे अधिक गतिशील बनाया।

जैसा कि उल्लेख किया गया है, सांप्रदायिक अवस्था अंग्रेजों के शासक के दौरान शुरू हुई विशेष रूप से उनके शासन के बाद के समय में। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारंभिक शासकों ने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। लेकिन बाद के शासकों ने विभाजक नीति का अनुसरण किया। उदाहरण के लिए, "आर्य जातियों की श्रेष्ठता" के तत्वावधान में उन्होंने क्रमबद्ध रूप से गलत जानकारी के जरिए विभिन्न वर्गों के लोगों में दरारे डाल दीं। हिंदुओं और सिक्खों को यह मानने के लिए प्रोत्साहित किया कि वे अलग-

अलग "प्रजातियों" के हैं। हिंदू और मुस्लिम का इस हद तक एक दूसरे पर से विश्वास उठ गया कि उनका साथ-साथ रह पाना असंभव हो गया। यह घोषित कर दिया गया कि आर्य और द्रविड़ भाषाओं के मूल अलग-अलग हैं। युद्धप्रिय "प्रजातियाँ" अयुद्धप्रिय "प्रजातियों" से बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसे अप्रमाणित विचार को बढ़ावा देने के लिए पुस्तकें लिखीं गईं और भारतीय विद्या के जरनलों में लेख प्रकाशित किए गए।

सोचें और करें 23.2

आपके विचार में क्या धर्म ने आपके जीवन में सकारात्मक भूमिका अदा की है। "मेरे धर्म का सामाजिक महत्व" पर एक पृष्ठ के निबंध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।

अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से अपने निबंध की तुलना करें।

इसके अलावा ब्रिटिश राज के दौरान जो प्रशासनिक कदम उठाए गए उसने अलगाव की भावना पैदा की। लगभग 600 भारतीय रियासतों की विदेशी शासन के साथ संधि करना उपनिवेशी युग की विशेषता रही। इस संधि के अधीन उन्हीं सांस्कृतिक या भाषायी क्षेत्र छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया गया जिनकी अपनी-अपनी सेवा, मुद्रा और रेलवे नेटवर्क था। (1947-1950 के दौरान सरदार पटेल के नेतृत्व में इन राज्यों का भारतीय संघ में विलय हो गया।) 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में, 1911 में बंगाल-विभाजन और 1947-1948 में देश का विभाजन बहुत बड़ी घटनाएँ थीं। ये भारतीय उप-महाद्वीप में बढ़ रहे सांप्रदायिक तनाव की पराकाष्ठाएँ थीं। 1932 तक चले विभिन्न जनगणना प्रक्रियाओं ने लोगों में जाति-सचेतनता (जागरूकता) को आगे बढ़ाया। 1930 और 1940 के दशक में दक्षिण के द्रविड़ आंदोलन और महाराष्ट्र में ब्राह्मण विरोधी आंदोलन के उदय ने राष्ट्रीय जागरूकता में नया दिव्य आयाम जोड़ा।

23.5 भारतीय धर्मों में विभाजनात्मकता के सामाजिक बहुशाखीकरण

भारत की संस्कृति के लिए यह अप्रासंगिक (अनुपयुक्त) था कि किसी पर भी उसकी आस्था (धारणा) के लिए मुकदमा चलाया जाना चाहिए। विवेकानंद ने पाया कि बुद्ध और ईसा दोनों ऐसे पैगम्बर/उपदेशक थे जो निर्वाण के इच्छुकों को एक नई दिशा प्रदान करना चाहते थे। लेकिन उन्हें अपने आसपास के लोगों से जो अनुक्रिया मिली वह बिल्कुल भिन्न थी। बुद्ध ने उत्तरी भारत के मैदानी क्षेत्रों की अपनी यात्राओं के दौरान ब्राह्मणीय अनुष्ठानों के विरुद्ध प्रचार किया। ब्राह्मण उन्हें कहीं भी रोक नहीं पाए।[18] वह पूर्ण वृद्धावस्था तक जीवित रहे; अपनी मृत्यु तक वह अपने मिशन को जारी रखे रहे। इसके विपरीत, ईसा को रूढ़िवादी यहूदियों ने सूली पर चढ़ा दिया क्योंकि उन्होंने भौतिकवाद और राष्ट्रवाद के साथ उनके सम्मोह की भी आलोचना की थी। (उन्होंने कहा था, "सर्राफों को मंदिरों से बाहर निकाल दो") उनके प्रेम के सर्वव्यापी संदेश तथा सत्ता और विशेषाधिकार के प्रति उदासीनता ने यहूदियों को उकसाया। विवेकानंद ने आगे कहा कि भौतिकवादियों (लोकायत और चार्वाक) ने बिना किसी बाधा के मुक्त रूप से अपनी नास्तिकता का प्रचार किया। ब्राह्मणों ने उनके नास्तिकता संबंधी पुस्तकों को नष्ट करके उन्हें रेत में दबा दिया यह कथन अफवाह है। वास्तविकता यह है कि बौद्ध और जैन दोनों नास्तिक हैं भले ही वे आध्यात्मिकता में विश्वास रखते हैं। ब्राह्मणों ने उनके ग्रंथों को नष्ट नहीं किया था। भौतिकवादियों जैसे (Cgarvaha's) के लोप और पतन का कारण था उनके नैतिक लक्ष्य न होना। उन्होंने इंद्रिय सुख पर आधारित सुखवाद का प्रचार किया। भारत में तंत्र के पतन का कारण भी नैतिकता का व्युत्क्रमण था। वस्तुतः भारत में सभी धर्म जो आज जीवित हैं वे नैतिक संहिता के प्रति वचनबद्ध हैं। भारत में नास्तिकतावाद

भगवान में अविश्वास लेकिन मानव के भीतर दिव्यता (आध्यात्मिकता) का खंडन है।[19] बुद्ध और महावीर ने भगवान में विश्वास का अनुमोदन नहीं किया लेकिन उन्होंने नैतिक आचरण का समर्थन किया जो कि उनके अनुसार मानव जाति की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्य है।

कुमारस्वामी के अनुसार भारत का विशिष्ट पहलू यह है कि व्यक्तिगत देवता (इष्ट देवता) की पूजा के संबंध में आजादी है। सामाजिक संबंधों को भंग किए बिना स्त्री या पुरुष किसी भी आध्यात्मिक मार्गदर्शन या देवता को चुन सकता है। एक हिंदू बिना किसी बाधा के अपने गुरू के रूप में नानक का चयन कर सकता है और सिक्ख वैष्णवों देवी से द्वारका किसी भी वार्षिक तीर्थयात्रा पर जा सकता है। ऐसी आजादी पश्चिमी एशिया के धर्मों में उपलब्ध नहीं है। इसका कारण है कि बहुत ही कम को (मूसा, ईसा या मोहम्मद) आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में मान्यता प्राप्त है। भारत में संप्रदायों की भाँति अनेकों गुरू भी हैं; ये गुरू जाति, लिंग या सामाजिक प्रतिष्ठा से परे होते हैं। सभी रास्ते समान रूप से वैध हैं और यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह किसी एक को चुने। जातियों और संप्रदायों में निर्धारित मानदंडों का सख्ती से पालन करना एकमात्र प्रतिबंध है। गुजरात की एक रोचक कथा स्वामी नारायण की यौगिक शक्ति को दर्शाती है; वह एक बार अपने भक्तों के मानसिक पटल पर शिव, नारायण और दुर्गा के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने कृष्ण की रासलीला के साक्ष्य के लिए इंद्रियातीत स्थिति में अपने दो सौ भक्तों को वृंदावन के दर्शन कराए। इन भक्तगणों में जैन और मुसलमानों जैसे कुछ गैर-हिंदू शामिल थे।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है आस्थाओं के स्तर में असाधारण स्वतंत्रता के बावजूद संप्रदायों ने प्रायः एक दूसरे को क्षति पहुँचाई है। सांप्रदायिक साहित्य का हिमायती दृष्टिकोण रहा है। एक संप्रदाय के गुरू को दूसरे विरोधी संप्रदायों के समक्ष वरिष्ठ दिखाकर उसको गौरव प्रदान किया जाता है। पिछली शताब्दियों में, कुछ हिंसात्मक कृत्यों ने सहिष्णु भावना को क्षुब्ध किया है। 18वीं शताब्दी के अंत में एक मराठा जरनल ने दक्षिण-पश्चिमी कर्नाटक में एक मठ पर कब्जा कर लिया जिसकी स्थापना श्रींगेरी में शंकराचार्य ने की थी। जब धर्मगुरू ने मैसूर के टीपू सुलतान को निवेदन किया तब उसने मठ की रक्षा के लिए मुसलमान सैनिकों के सैन्य दल को भेजा। इस सेना ने आक्रामकों (हमलावरों) को बाहर निकाला। बाद में पेशवा (मराठा शासक) ने अपने जरनल के गलत आचरण के लिए धर्मगुरू से माफी माँगी।

मुसलमान आक्रामकों ने उत्तर और पश्चिमी भारत के कई मंदिरों को नष्ट कर दिया था यह तथ्य दूर तक प्रचलित हुआ। वस्तुतः सोमनाथ मंदिर को गजनी के महमूद ने लूटा था; एक मुसलमान जरनल मलिक काफूर ने दक्षिण भारत के कुछ हिंदू मंदिरों को नष्ट कर दिया था। लेकिन इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना संभव नहीं है कि सभी मंदिरों या पूजा के अन्य स्थलों को मुसलमानों ने नष्ट कर दिया था। वास्तव में यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि सांप्रदायिक शत्रुताओं ने युद्ध या आक्रमण से उत्पन्न खलबली का लाभ उठाया। उदाहरण के लिए, 17वीं शताब्दी में दक्षिण के विजयनगर राज्य को पड़ोसी प्रांतों के मुस्लिम शासकों द्वारा नष्ट किया गया। हालांकि भावी परिणाम में यह पाया गया कि कुछ वैष्णव मंदिरों को भारी क्षति पहुँचाई गई है जबकि अधिकांश शैव मंदिर अक्षुण्ण रहे। चूँकि मुसलमान विजेता किसी एक संप्रदाय का पक्ष नहीं लेते थे अतः यह भी संभावना थी कि एक संप्रदाय ने अशांत परिस्थितियों का फायदा उठाते हुए दूसरे संप्रदाय के साथ अपने पुराने गुबार निकाल लिए हों।

यदि मुसलमानों ने कुछ हिंदू या जैन गुफाओं को इस्लामी स्मारकों में परिवर्तित कर दिया (उदाहरण के लिए दिल्ली में कुतुब मीनार या अहमदाबाद में जामा मस्जिद) तो हिंदुओं ने भी बौद्ध या जैन गुफाओं को हिंदू गुफाओं में परिवर्तित कर लिया (उदाहरण के लिए उड़ीसा का पुरी जगन्नाथ मंदिर या कोल्हापुर महाराष्ट्र का लक्ष्मी मंदिर, जो पहले गैर-

हिंदू स्मारक थे)। लेकिन एक से दूसरी आस्था में परिवर्तन पुरानी विशेषताओं को मिटा नहीं पाया। परिवर्तित संरचनाओं में पुरानी विशेषताएँ बरकरार थीं। यह दिल्ली की कुतुब मीनार या अहमदाबाद की जामा-मस्जिद में देखा जा सकता है। जब किसी हिंदू या जैन तीर्थ मंदिर को इस्लामी स्मारक में परिवर्तित किया गया तब साँप की छवि को कमल के फूल में परिवर्तित कर दिया गया। इस्लाम में मानव या पशुओं की छवियाँ वर्जित हैं लेकिन ज्यामितीय या फूलों के डिजाइनों की अनुमति है। तथापि, कुमारस्वामी ने गौर किया कि भारतीय तीर्थ स्थानों में पाई जाने वाली मानव या फूलों की छवियाँ वास्तविक जीवन से नहीं ली गई हैं बल्कि वे केवल प्रतीकात्मक हैं; ये विचारों को अभिव्यक्ति करती हैं। अतः उन्हें हिंदू और मुस्लिम चित्रकला में कोई अंतर दृष्टिगत नहीं हुआ।[22]

23.6 भारतीय धर्मों में बहु-व्याख्याएँ

हिंदुओं के मूलभूत धार्मिक ग्रंथ चार वेद वैदिक धार्मिक अनुष्ठानों और सूत्रों पर आचार्यों की टिप्पणियाँ व व्याख्याएँ, 108 उपनिषद्, रामायण और महाभारत, 21 पुराण और भारत के अलग-अलग भागों में भक्त संतों ने जो उपदेश दिए उनके संतचरित लेखन संस्कृत भाषा में हैं। भगवद्गीता (जो वस्तुतः एक उपनिषद है), में मोक्ष के तीन मार्ग बताए गए हैं, ज्ञान मार्ग (आध्यात्मिक ज्ञान का मार्ग); कर्म मार्ग (क्रिया का मार्ग) और भक्ति मार्ग (उपासना का मार्ग)।[23] शताब्दियों से गीता पर अनेकों टीकायें (व्याख्या) लिखीं गईं; और यह काम आज तक जारी है। ये व्याख्याएँ भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी और जर्मनी भाषा में भी उपलब्ध है। प्रत्येक व्याख्या में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए संदेश की व्याख्या को अभिव्यक्त किया गया है। किसी हिंदू संप्रदाय का जो भी गुरू गीता पर लिखता या प्रवचन करता है वह उच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। इसी तरह, अन्य ग्रंथों की भी विविध व्याख्याएँ की गई हैं। निस्संदेह, भाषा, प्रदेश और वंशागत संस्कृति में भारतीयों की असीम विविधता का प्रभाव इन विभिन्न व्याख्याओं और धार्मिक प्रचलनों में दृष्टिगत होता है। विभिन्न संप्रदायों के बीच अंतहीन विवाद (चर्चाएँ) भी इसी स्रोत से उत्पन्न हुए हैं; अनेक व्याख्याओं और प्रथाओं ने उच्च साहित्यिक गतिविधि को उद्दीप्त किया है लेकिन इनसे मनमुटाव व संघर्ष भी हुए हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 23.5 : बौद्धों, जैनियों और अन्य धर्मों में संप्रदाय

हीनयान और महायान जैसे बौद्ध संप्रदायों पर भी काफी साहित्य लिखा गया है जिनमें बुद्ध के संदेश की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की गई है। हीनयान मठवासी पर केंद्रित धर्म है; जनसाधारण (अपाजक वर्ग) के सदस्य इस जीवन में निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते उन्हें इसके लिए बेहतर जन्म की प्रतीक्षा करनी होगी। मठवासी सांसारिक जीवन के मोहों से मुक्त हैं; इसी जन्म में उन्हें मुक्ति मिल जाएगी। इसके विपरीत, महायान में विविध प्रकार के व्यक्तियों यहाँ तक कि गृहस्थों के लिए दरवाजे खुले हैं। महायान सभी परिघटनाओं (प्रतीत्य समुत्पाद) की परस्पर आश्रित उत्पत्ति के सिद्धांत को प्रतिपादित करता है।[24] इसका अर्थ है कि मानव भी निर्वाण प्राप्त कर सकता है लेकिन केवल तभी जब वह अपनी व्यक्तिगत अस्मिता (अहं) को त्याग कर दूसरों की परस्पर आश्रितता में स्वयं को मिला लेता है। इस तरह निर्वाण शून्यत्व की स्थिति नहीं है बल्कि यह व्यक्ति और समूह के बीच विवृत्ति (रिक्ति) का अंत है। ऐसे कई छोटे-छोटे संप्रदाय भी हैं जिन्होंने बौद्धत्व की अलग-अलग तरीकों से व्याख्या की।

जैन धर्म दो प्रमुख शाखाओं — श्वेतांबर और दिगंबर में विभक्त है। दिगंबर वर्ग में वरिष्ठ मठवासी एकदम नग्न (निर्वस्त्र) होते हैं; वे ऐसी आत्माएँ हैं जो सांसारिक जाल झंझटों को त्याग चुके हैं। उनके साधुपन में केवल पुरुषों को ही अनुमति है, महिलाएँ दीर्घकाल तक उपवास इत्यादि जैसे कृत्यों द्वारा इसे प्राप्त कर सकती हैं। श्वेतांबर

संप्रदाय में महिलाएँ व पुरुषों दोनों प्रकार के तपस्वी (योगी) होते हैं जो सफेद कपड़े पहनते हैं और उनकी दिनचर्या अत्यधिक कठोर व कठिन होती है। किसी भी संप्रदाय के जैन मठवासी अत्यधिक अतिनैतिक (प्यूरिटनवादी) होते हैं और अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करते हैं। हालांकि कुछ धार्मिक ग्रंथों की वैधता (स्वीकृति) पर दोनों के बीच काफी लम्बे समय से प्रतिद्वंद्विता है। भारत के कुछ हिस्सों में दोनों संप्रदायों के शिष्यों के बीच झगड़े भी हुए हैं। मंदिरों पर कब्जे को लेकर दोनों के बीच न्यायालय तथा न्यायालय के बाहर कई झगड़े हुए हैं। मुसलमान और सिक्ख संप्रदायों में भी भिन्न मतावलम्बी हैं। इस्लाम में सुन्नियों और शियाओं के बीच उत्तर भारत के कई हिस्सों में हिंसात्मक झगड़े हुए। सिक्खों में भी एक अलग मत वर्ग है जिन्हें "निरंकारी" कहते हैं। इसने उत्तर भारत में एक व्यापक ख्याति व समर्थन प्राप्त किया है।

भारत के धर्मों की एक विशिष्ट समस्या है "मूर्तरूप" इसका अर्थ है कि चीजों, अर्थों या प्रतीकों को वस्तुओं में परिवर्तित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए मनु के समय से हिंदू पुरुष समय-समय पर दिवंगत पूर्वजों को श्रद्धा भेंट करते थे। यह प्रथा बाद में मात्र अनुष्ठान बन कर रह गई जिसका कोई प्रतीकात्मक महत्व नहीं था; पंडितों ने इस धर्मानुष्ठान का विस्तार कर दिया जो एक आर्थिक बोझ बन कर रह गया। इसी तरह जन्म, विवाह, दाह-संस्कार इत्यादि को धार्मिक रीतियों का रूप देखकर उन्हें व्यापक बना दिया; इन रीतियों से लोग कर्जों में डूबने लगे या अर्थवंचना के शिकार बने। अधिकांश मामलों में प्रतीकात्मक महत्व हिंदुओं की प्रथाओं में गुम हो चुका है। उदाहरण को लिए, एकादशी (महीने की 11वीं तिथि को व्रत) में धर्मपरायण (भक्त) हिंदू भोजन और जल का सेवन नहीं करते। एकादशी का केंद्रीय भाव केवल व्रत के जरिए पुण्य प्राप्त करना नहीं है। इसका अभिप्राय है अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, अपनी पाँच क्रियाओं (बोलना, काम करना, चलना-फिरना, खाना और पीना) तथा अपने मन पर आंतरिक नियंत्रण रखना। इस नियंत्रण से व्यक्ति भगवान के पास (उपवास) आता है। लेकिन अधिकांश जनसामान्य उपवास को केवल व्रत के रूप में लेते हैं। बिना आत्म-निग्रह किए या मनोप्रकाश के केवल भोजन ग्रहण न करने से व्यक्ति मूलभूत लक्ष्य से भटक जाता है।

MAADHYAM IAS

इसी तरह, अन्य समुदाय भी इस मूर्त का शिकार बने हैं। इस्लाम में "जेहाद" का अर्थ है आत्म-निग्रह जिसे व्यक्ति अल्लाह के मार्गदर्शन से प्राप्त करता है। हाल ही की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति से इसका अर्थ हो गया है निहत्थे लोगों के विरुद्ध हिंसात्मक गतिविधि की मनोवृत्ति या किसी क्षेत्र को कब्जे में लेना। इस्लाम में इन व्याख्याओं (अर्थों) की मंजूरी नहीं है। जेहाद में केवल आत्म-रक्षा के लिए हिंसा की अनुमति है अर्थात् बाहरी व्यक्तियों द्वारा धर्म पर हमला होता है तब यह वफादारों द्वारा सशस्त्र विरोध करने की अनुमति देता है। ईसाइयों में मूसा के छटे कमांडेंट, "आपको हत्या नहीं करनी चाहिए।" केवल मानव जाति की हत्या के संबंध में है। अतः भोजन के लिए पशुओं को मारा जाता था। यूरोप के अधिकांश भागों में शाकाहार था संस्थागत प्रचलन शायद मूसा-संहिता के उल्लंघन की क्षतिपूर्ति के लिए है। चालीसे के दौरान चालीस दिन तक ईसाई माँस का सेवन नहीं करते थे। लेकिन वर्तमान में यह लगभग समाप्त हो चुका है।

गुरूओं, मुनियों और बौद्ध मठवासियों ने मूर्त रूप से न केवल सुधार करने का प्रयास किया बल्कि विभिन्न संदर्भ में धर्मग्रंथों की व्याख्या भी की। गुरू की सत्ता धर्मवैधानिक प्रतिबंधों से बढ़कर है। अनेकों अवसरों पर गुरूओं ने अपने शिष्यों की कुछ व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्मग्रंथों की अलग-अलग रूप से व्याख्या की है। गुरू का सत्संग प्रार्थना या चिंतन का स्थल नहीं है लेकिन यह उन भक्तों के लिए भी ऐसा स्थान है जो मन की शुद्धि या व्यक्तिगत समस्या के हल प्राप्त करने के लिए ठसाठस भरे रहते हैं। कुछ गुरू तो मौन (मौनी) रहते हैं लेकिन वे अमौखिक स्तर पर दुःखी पुरुषों और महिलाओं को शान्ति प्राप्त करने में सहायक रहे हैं। दक्षिण के रमन महर्षि अधिकांश समय तक मौन रहे

लेकिन साधारण पुरुष व महिलाएँ जो उनके दर्शन के लिए आते वे उनकी उपस्थिति में केवल पास बैठकर ही राहत महसूस करते। इसी तरह नानक के अनुयायियों ने उनके सिर के इर्द-गिर्द एक प्रभामंडल देखा जो उसकी आध्यात्मिकता का चिह्न था। इन व्यक्तिगत अनुभवों के चमत्कारी निहितार्थ थे जिनका अभिप्राय है कि विषय और कर्म के बीच सामान्य विभाजन संगत नहीं है। समाज विज्ञानियों (समाजशास्त्री) को भारत के धार्मिक जीवन की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्षवाद तक ही सीमित रहना होगा। सारांश में, गुरू-शिष्य संबंध अस्तित्व द्वैत से बढ़कर है। जिज्ञासु और मार्गदर्शक के बीच सीधी अंतःक्रिया होती है और इन दोनों के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता। उत्तर भारत में सुविख्यात सत्संग एक प्रकार का शास्त्रार्थ मीमांसा का दायरा है जिसमें अक्सर ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनकी व्याख्या या वर्णन नहीं किया जा सकता। (उदाहरण के लिए, मनोवृत्ति में अचानक परिवर्तन या बीमारी का ठीक हो जाना, ये घटनाएँ उसी क्षण (एकदम) हो सकती हैं)। जो इन दायरों के बाहर होते हैं उन्हें इस प्रकार के अनुभव नहीं होते। फिर भी, आंतरिक यथार्थता दायरे के बाहर के व्यक्तियों को इस पर विश्वास करने पर विवश करती हैं, हालांकि वे इन पर मुश्किल से विश्वास करते हैं।

धार्मिक दृश्य को ज्यादा सुस्पष्ट करने के लिए कुछ विवरण प्रस्तुत करना जरूरी है। सभी भारतीय धर्मों में बल दिया गया है कि शिक्षा से ज्यादा जरूरी है प्रत्यक्ष अनुभव (उदाहरण के लिए अंतर्ज्ञान या सहज बोध) वस्तुतः भारत के कई गुरू (जैसे नानक, रामकृष्ण) पढ़े-लिखे नहीं थे; फिर भी उनकी सांत्वना या उपदेश के लिए भीड़ उनके पीछे उमड़ पड़ती थी। गुरू अपने शिष्यों को उपदेश देने में नैतिक सत्ता का प्रयोग करते हैं, उसकी कुछ गतिविधियों को धार्मिक ग्रंथों में मंजूरी प्राप्त नहीं है लेकिन गुरू के शब्दों (प्रवचनों) पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगाता। आचार्य वह व्यक्ति है जो संस्कृत का विद्वान व उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होता है लेकिन गुरू के समान वह अपने व्यक्तित्व के प्रभाव का प्रयोग नहीं करते। यह सामान्य अवलोकन है कि भारत के धार्मिक समारोहों में लोगों की उपस्थिति प्रचार पर आधारित नहीं होती। उनकी अंतःप्रेरणा धार्मिक समारोहों में उन्हें भाग लेने के लिए प्रेरित करती है।

MAADHYAM IAS

आजकल उत्तर भारत में सत्संग ने धार्मिक जनता में केंद्रीय स्थान बना लिया है। पिछली शताब्दियों में कई मंदिरों के या अन्य पूजा स्थलों के तोड़े जाने से उत्तर में खालीपन आ गया था। अतः तुलसीदास, कबीर और नानक जैसे निष्ठावान व निर्भीक संतों ने सत्संग की परंपरा की शुरुआत की लेकिन यह परंपरा आजतक जारी है। पुरुष और महिला दोनों गुरुओं ने श्रोताओं को आकर्षित किया जिनमें स्त्रियाँ, पुरुष और बच्चे सभी शामिल हैं। उत्तर भारत में तुलनात्मक रूप से कर्मकांडवाद या मंदिर संस्कृति के न होने से धर्म की लोकप्रियता में कमी नहीं आई है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया (टेलिविजन, रेडियो और दृश्य कैसेटों) के निरंतर बढते प्रयोग ने सत्संग की संस्कृति को और सुदृढ़ता प्रदान की है।

23.7 निष्कर्ष

विश्व के सभी धर्मों ने दृश्य घटना को संचालित करने वाले अज्ञात कारकों तक पहुँच प्राप्त करके जीवन के रहस्यों के उत्तर देने के प्रयास किए हैं। प्रत्येक धर्म में विशेष रूप से लोक स्तर पर जीवन को प्रसन्नता से जीने के लिए कहा गया है। भारत या किसी भी अन्य स्थान में धार्मिक मेले और उत्सव आह्लादपूर्ण दृश्य होते हैं जहाँ परिवार, उनके निकट-संबंधी, मित्र गाँववासी नए-नए कपड़े पहनकर आते हैं और एक दूसरे से मिलते-जुलते व बधाइयाँ देते हैं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है ये धार्मिक मेले उदाहरण के लिए अजमेर (राजस्थान) के नजदीक पुष्कर में होने वाले पुष्कर मेले में पृष्ठ प्रदेश (पिछले भाग) में व्यापार के लिए महत्वपूर्ण बाजार लगाए जाते हैं; बड़े पैमाने पर अनाजों, पशुओं, शहरों में विनिर्मित वस्तुओं इत्यादि का आदान-प्रदान होता है। ये मेले मंदिर वाले कस्बों

में होते हैं जहाँ अब आधुनिक परिवहन द्वारा आसानी से पहुँचा जा सकता है। लेफकाडियो हर्न (जापानी संस्कृति के लेखक) ने जापानी मंदिरों (बौद्ध या शिटो) पर जो टिप्पणी की वह इस प्रकार है :

बौद्धों और देवगणों की प्रार्थना पर मुस्कराने के पूर्व धर्म इस प्रकाश में अन्धकार नहीं लाता। मन्दिर के आंगन बच्चों के क्रीड़ा स्थल हैं। समाधि स्थलों के अहातों के अन्दर, जो सामान्य उत्सवों के बजाय आनन्दोत्सव के स्थल हैं, नृत्य के लिए मंच बनाये जाते हैं। थोड़े ही समय में व्यक्ति ऐसे दृश्यों में खो सकता है, इस बीच अपने अनुभवगम्य आनन्द को नष्ट करने वाला कुछ भी नहीं देखता।[26]

हर्न की टिप्पणियाँ किसी भी पूजा स्थल पर लागू होती हैं। "भारत में धर्म पारलौकिकता से प्रेरित है," मैक्सवेबर के इस मत को यदि समग्रता से देखा जाए तो यह मत सही नहीं है। यह सत्य है कि योगी और मठवासी जीवन के साधारण सुखों से दूर रहते हैं और वंचन का जीवनयापन करते हैं। लेकिन अधिकांश के लिए समारोहात्मक पहलू ही है जो उन्हें मेहनत करने, धन बचाने और उपलब्ध अतिरिक्त धन को तीर्थ स्थान में लगाने वाले मेलों या यात्राओं में जाने के लिए प्रयोग करने के लिए उत्प्रेरित करता है। ऐसा नहीं है कि गरीबी या निराशा व्यक्तियों, स्त्री-पुरुषों, के जगत का परित्याग करने को कहती है। यह उच्चस्तरीय प्रत्यक्ष है जो सभी मानव सुख, आनंद व दुख को माया जाल मानते हैं जो व्यक्तियों को योगी बनाते हैं। यह सही है कि संपन्न परिवारों के पुरुष और महिलाओं ने ऐच्छिक आधार पर विश्व से संबंध तोड़ दिए थे। मध्यकालीन यूरोप या भारत में युगों से यह परंपरा चलती आ रही है। गुरू, सत्संग, मंदिर और तीर्थ यात्रा अटूट "विरोधी संरचनाएँ" हैं जो भारतीय समाज में विखंडनकारी प्रवृत्तियों को आत्मसात करती प्रतीत होती हैं। ये एजेंसियाँ विविधताओं के बीच में भारतीय समाज में एकत्व पर बल देती हैं। समाजशास्त्री विभाजनों के सामंजस्य की समझ प्राप्त करने के लिए इन विभेदों की रचनात्मक रूप से व्याख्या कर सकते हैं।

पश्चिम में, वर्तमान दशकों में राज्य और चर्च के बीच अलगाव पर कई चर्चाएँ हुई हैं। भले ही पश्चिमी देशों के संविधान में दोनों को अलग-अलग कर दिया गया है फिर भी औपचारिक स्तरों पर, यह अलगाव पूर्ण नहीं है। जैसे कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, नार्डिक यूरोप व्यापक रूप से प्रोटैस्टेंट है जबकि दक्षिणी यूरोप व्यापक रूप से कैथोलिक है। इस कटुता का मुख्य कारण है कि यूरोपीय राजा सार्वजनिक नीतियाँ प्रवर्त्तित करने के लिए हिमायती मत लेते थे। शासक या तो कैथोलिक या प्राटैस्टेंट या रूढ़िवादी ईसाई होता था। उसके शासनकाल में अन्य धार्मिक समूहों को उसके राज्य क्षेत्र में यह भावना होती थी कि उनके साथ भेदभाव बरता जा रहा है। भारतीय अनुभव इससे बिल्कुल भिन्न था। धम्म के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ने उनका मार्गदर्शन किया जो असंप्रदायिक था। अशोक जैसे राजाओं ने धम्म का प्रचार किया जिसमें विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का कल्याण शामिल था। धम्म व्यापक अर्थ में न्याय का समर्थन करता है और कर्मकांडवाद, संप्रदायवाद या कट्टरता (धर्मांधता) से काफी परे है। आजकल भी, यदि इस अर्थ को उचित रूप से समझ लिया जाए तो धर्म और राज्य के बीच विरोध की जरूरत ही नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं और एक साथ मिलकर उनमें नए भारत में प्रवेश करने की सामर्थ्य है।

23.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

जी. एस. घुर्रे, 1964: *इंडियन साधूज*, पापुलर प्रकाशनः पृष्ठः 98-113, मुम्बई।

अर्नेस्टोजेलनर, 1983: *मुस्लिम सोसाइटी*, यूनिवर्सिटी आफ कैम्ब्रिज।

विक्टर टर्नर, 1969: *द रिचुअल प्रासेसः स्ट्रक्चर एण्ड ऐन्ट-स्ट्रक्चर*, अलडाइन, शिकागो।

इकाई 24

धर्मनिरपेक्षीकरण

इकाई की रूपरेखा

24.1 प्रस्तावना

24.2 धर्मनिरपेक्षता और धर्मनिरपेक्षीकरण : एक परिभाषा

24.3 भारत में धर्मनिरपेक्षता

24.4 धर्मनिरपेक्षता और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन

24.5 संविधान और धर्मनिरपेक्षता

24.6 निष्कर्ष

24.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना को परिभाषित कर सकेंगे;
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से क्या अभिप्राय है;
- धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना की भारतीय संदर्भ में चर्चा कर सकेंगे;
- उन कारणों का वर्णन कर सकेंगे कि धर्मनिरपेक्षता भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता क्यों बन गई; और
- भारतीय संविधान में इस संकल्पना के महत्वपूर्ण स्वरूप की चर्चा कर सकेंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.1 प्रस्तावना

यह कहा जाता है कि धर्मनिरपेक्षता से अभिप्राय है वह प्रवृत्ति जो मानव विचारधारा और अनुभव के विकास में व्यापक और बुनियादी, आदिकालीन और महत्वपूर्ण है। धर्म-निरपेक्षता धार्मिक उत्साह की अतिशयताओं से असंतोष या उनसे विरोध मात्र ही नहीं है। एनसायक्लोपेडिया ब्रिटानिका में धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा उपयोगितावादी नैतिकताओं की एक ऐसी शाखा के रूप में की गई है जिसकी रचना मानव जाति के शारीरिक, सामाजिक और नैतिक सुधार के लिए की गई है, जो धर्म के ईश्वरवादी पूर्वकथित तथ्यों की न तो पुष्टि करती है और न निषेध। यह कहना सामान्य रूप से सही होगा कि समकालीन आधुनिक जगत में कोई भी पुरुष/स्त्री अपने धर्म को एक निजी और व्यक्तिगत मामला मानता है, जो किसी अदृश्य शक्ति जिसे भगवान या और कुछ भी कहें से उसके संबंध को संचालित करता है। व्यक्ति के जीवन के अन्य क्षेत्रों में उसके कर्त्तव्यों के प्रभावी निष्पादन में यह संबंध सहायक होना चाहिए, बाधक नहीं। जीवन और विचारों के धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में "धर्म" का "जीवन और विचार" के अन्य क्षेत्रों से अलगाव और दूरी निहित है। इसका अनिवार्य सिद्धांत रहा है कि केवल भौतिक माध्यमों (साधनों) द्वारा ही मनुष्य के सुधार के लिए चेष्टा की जाए। धर्मनिरपेक्षता में धर्मनिरपेक्ष, सामाजिक मुद्दों और सुधारों पर विशेष बल दिया जाता है जिसके लिए सभी व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयासों की, उनके धार्मिक संबंधन की परवाह किए बिना, आवश्यकता होती है।

महत्वपूर्ण बात यह थी कि इन धर्मनिरपेक्ष मुद्दों को धार्मिक सिद्धांतों का आश्रय लिए बिना सुलझाना था। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्षता वृहत् रूप से ऐसा आंदोलन थी जिसका उद्देश्य पृथ्वी पर लोगों के भाग्य को बेहतर बनाना और सभी तानाशाही चाहे चर्च की हो, या किसी पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की हो, से उन्हें मुक्त करना था (हेस्टिंग्स, जे. 1954)।

व्युत्पत्तिविषयक रूप से, धर्मनिरपेक्ष (सेकुलर) शब्द लेटिन शब्द **सेकुलम** से निकला है जिसका अर्थ है "समय की महान् अवधि" या "युग की आत्मा"। बाद में इसने अलग अर्थ ग्रहण कर लिया यह था "इस जगत" से संबंधित होना। इस भाँति, दो संसारों की संकल्पना उभरकर सामने आती है अर्थात् धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक या लौकिक और आध्यात्मिक। ईसाई उपदेशों में, आध्यात्मिक क्रम को चरम सत्य के संदर्भों में निर्णायक माना जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण शब्द अनुवर्ती परिणाम था। यह शब्द 1648 में वेस्टफालिया (Westphalia) की शांति के पश्चात् बनाया गया था जिसका मूल रूप से अभिप्राय था धर्मसंबंधी भूमियों को नागरिक नियंत्रण के अंतर्गत स्थानांतरित करना। धर्मनिरपेक्षता ऐसी प्रक्रिया है जिसमें धार्मिक विचारधारा, प्रथाएँ और संस्थाएँ अपना सामाजिक "महत्व खो देती है"। धर्मनिरपेक्षता के बारे में बोलना धर्म के ऊपर विज्ञान की और विश्वास के ऊपर तर्क की विजय के बारे में बोलना है। धर्मनिरपेक्षता मनुष्य की तर्कबुद्धि, धार्मिक प्रथाओं, विश्वासों, प्रचलनों के प्रभाव से खुद को मुक्त करने की उसकी योग्यता का समारोह है। अतः धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है, संसार का अनिवार्य "पवित्रीकरण"। जब मनुष्य और प्रकृति तर्कसंगत — अनियत व्याख्या की वस्तु बन जाते हैं जिसमें आलौकिकता कोई भूमिका नहीं निभाती तब संसार का पवित्र रूप नष्ट हो जाता है।

24.2 धर्मनिरपेक्षता और धर्मनिरपेक्षीकरण : एक परिभाषा

"धर्मनिरपेक्षता" अत्यंत मूल्यपरक संकल्पना है, इसके मूल्य "धर्मनिरपेक्षीकरण" कही जाने वाली आधारभूत सामाजिक प्रक्रिया के बारे में हमारी समझ से संबंधित होने चाहिए। "धर्मनिरपेक्षीकरण" एक सामाजिक प्रक्रिया है और "धर्मनिरपेक्षता" सामाजिक-राजनीतिक विचार या विचारधारा है। वास्तव में "धर्मनिरपेक्षता" हमारी सामाजिक संस्थाओं में केवल वहीं तक एक यथार्थ बन सकती है जहाँ तक ये "धर्मनिरपेक्षीकरण द्वारा प्रभावित होते हैं। अतः, धर्मनिरपेक्षता, धर्म निरपेक्षीकरण का उत्पाद है और बदले में यह धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को सुदृढ़ करती है। क्योंकि यह सामान्योक्ति कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के बिना कोई भी धर्मनिरपेक्षता नहीं हो सकती अब व्यापक रूप से स्वीकारी जाती है, लेकिन ठोस सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक उपायों द्वारा इसे वास्तविक रूप देने की चुनौती एक बड़ा काम है (इबिड "Ibid" 1954)।

धर्मनिरपेक्षता, सबसे बढ़कर, वेल्टानशाँग (Weltanshauung) के पुनर्जागरण और ज्ञानोदय का उत्पाद है। यह पश्चिमी व्यक्ति की इस इच्छा की अभिव्यक्ति थी कि वह अपना जीवन चर्च के प्रभुत्व से मुक्त रहकर स्वतंत्र रूप से गुजारना चाहता था जो मध्यकालीन पश्चिमी समाज में व्याप्त लक्षण था। धर्मनिरपेक्षता इस दुनिया में जीवन के महत्व और वास्तविकता को तथा सभी धर्मनिरपेक्ष मामलों में विज्ञान और तर्क के अधिकार की पुष्टि करती थी (भरूचा, आर., 1994)।

"धर्मनिरपेक्ष" शब्द का 1851 में जॉर्ज जेकब होलोएक ने उस सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन का वर्णन करने के लिए आविष्कार किया जिसे स्वयं उन्होंने, तथा चार्ल्स ब्राडलॉघ और अन्य लोगों ने प्रारंभ किया था। जी.जे. होलोएक ने निरपेक्षता शब्द का प्रयोग एक विचारधारा को परिभाषित करने के लिए किया, जिसमें उन सामाजिक और औद्योगिक नैतिकताओं को जो अभी तक धर्म के अतींद्रिय सिद्धांतों के संदर्भ द्वारा निर्धारित होती थीं, अब तर्क द्वारा निर्धारित किया जाना था, और मनुष्य के इस जीवन में उसकी

भलाई के लिए सुदृढ़ता से स्थापित करना था। धर्मनिरपेक्षता को तदनंतर बुद्धिवादी आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया गया जो अज्ञेयवादी या धर्म से उदासीन था (गौस, 1908)।

होलोएक की धर्मनिरपेक्षता, एक सरल विचार था, जो मानवतावादियों और प्रत्यक्षवादियों दोनों द्वारा समान रूप से व्यक्त धारणा के अनुसार, इस दुनिया में जीवन के प्रति चिंता को पुष्ट करता था। धर्मनिरपेक्षता इस सांसारिक अस्तित्व, वैज्ञानिक ज्ञान की स्वतंत्रता और मनुष्य की प्रसन्नता के महत्व को ही सामाजिक संस्थाओं के वैध उद्देश्यों के रूप में पुष्ट करती है। होलोएक ने धर्मनिरपेक्षता को "सोचने का एक तरीका" के रूप में वर्णन किया जो "उन मुद्दों से सरोकार रखता है जिनकी इसी जीवन में जाँच की जा सकती है" (झींगरन, एस. 1995 : 53)।

इरिस एस, वॉटर हाउस, के अनुसार धर्म के साथ धर्मनिरपेक्षता के संबंध को "प्रतिकूल के बजाय पारस्परिक रूप से विशिष्ट" माना जाता था। धर्मनिरपेक्षता की एकमात्र चिंता यही है कि इस संसार को अनुभव और तर्क द्वारा जाना जाए। यह "दूसरी दुनिया" या मृत्यु के बाद जीवन के बारे में चिंता नहीं करती; और इन मामलों के बारे में कोई भी विचार न तो प्रस्तुत करती है न किसी विचार का निषेध करती है, यह ऐसे प्रश्नों को धर्मशास्त्र के लिए छोड़ना चाहती है और आस्तिकता तथा नास्तिकता दोनों के प्रति समान रूप से उदासीन है। "धर्मनिरपेक्षता" शब्द को अपनाने से पहले होलोएक ने निदिज़्म ("Netheism") और "सीमावाद" शब्दों पर भी विकल्पों के रूप में विचार किया था। होलोएक, प्रत्यक्ष रूप से स्वतः धर्म के निषेध की बजाय, ईसाई धर्म के अविवेक का प्रतिकार करने में अधिक रुचि रखता था। उसका दूसरा उद्देश्य था व्यक्ति के महत्व और प्रतिष्ठा की पुष्टि और धर्मनिरपेक्ष जीवन की स्वायत्तता (Ibid पृष्ठ 37)।

पश्चिम में धर्मनिरपेक्षीकरण की शुरुआत को कुछ लोगों ने तो "आधुनिक व्यक्ति की धार्मिक संरक्षण से मुक्ति" कहकर प्रशंसा की वहीं कुछ अन्य लोगों ने इसे "ईसाइकरण, विधर्मी बनाय जाना आदि" कहकर शोक व्यक्त किया। लेकिन ऐतिहासिक रूप से समाज वैज्ञानिकों के लिए धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया पश्चिम में आधुनिकता के उदय से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है और कुछ लोग इसे "पिछले सैकड़ों वर्षों का शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास" मानेंगे (ओ, डी, टी (O'Dea, T) 1966)। पारंपरिक चर्च-उन्मुख धर्म में हाल ही में हुए प्रत्यक्ष ह्रास के कारण धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ी और वर्तमान पराकाष्ठा की स्थिति में पहुँची। फिर भी यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके मूलाधार प्रमुख धर्मों की नींव से ही जुड़े हुए हैं और वस्तुतः यह उस विशिष्ट तथ्य से ही एक अस्पष्ट और द्वंद्वात्मक संबंध रखती है जिसे यह तथाकथित रूप से क्षति पहुँचाती है। इस परिप्रेक्ष्य में, धर्मनिरपेक्षता इस हद तक एक पश्चिमी संकल्पना है कि धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जो पश्चिमी समाज में स्थित है।

ब्रायन विल्सन ने "धर्मनिरपेक्षीकरण" को ऐसी प्रक्रिया कहकर परिभाषित किया है जिसमें विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ ऐसी "विशिष्ट संस्थाओं के रूप में मान्यता प्राप्त करती हैं जो पर्याप्त स्वायत्तता से कार्य संचालन करतीं हैं"। यह "धार्मिक गतिविधियों, विश्वासों, सोचने के तरीके और संस्थाओं में ह्रास" की प्रक्रिया भी है। धार्मिक चेतना में होने वाला यह ह्रास धर्मनिरपेक्ष मुद्दों के प्रति व्याहवारिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण की विश्वव्यापी स्वीकृति का परिणाम है। एक धर्मनिस्पेक्ष समाज में लोग प्राकृतिक तथ्य की व्याख्या हेतु और अपनी सांसारिक समस्याओं के लिए उपचारी उपायों हेतु विज्ञान के आश्रय में जाते हैं। वे संसार की संज्ञानात्मक जानकारी के लिए या भावनात्मक सहयोग के लिए भी अब "आलौकिक" का सहारा नहीं लेते। परिणामस्वरूप, "पश्चिम में धर्म पहले की तरह व्यापक या निर्णायक प्रभाव न रहकर, सामान्यतः सामाजिक व्यवस्था का विभाग बन गया है" (एलिआड, एम. अंक 13. पृष्ठ 160)।

अपनी दूसरी कृति में विल्सन ने धर्मनिरपेक्षता या धर्मनिरपेक्ष समाज की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है। ये हैं :

क) सहायक (यंत्रीय) मूल्यों का प्रचलन

ख) विवेकपूर्ण कार्यप्रणालियाँ

ग) प्रौद्योगिकीय विधियाँ

विल्सन ने धर्मनिरपेक्ष समाज को इस रूप में भी परिभाषित किया है "धार्मिकता की भावना, जीवन की पवित्रता और गहन धार्मिकता की भावना सर्वाधिक स्पष्ट रूप से अनुपस्थित है।" (विल्सन, बी.आर., 1969) आइए देखें कि भारतीय समाज के संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना को कैसे समझा गया है।

24.3 भारत में धर्मनिरपेक्षता

प्रारंभ से ही, भारतीय धर्मनिरपेक्षता ने बहुलवाद से अपनी शक्ति ग्रहण की। भारतीय परंपरा में धर्मनिरपेक्षता धर्म का विरोध नहीं थी, लेकिन सांप्रदायिकता से संबंधित थी जबकि यूरोप, एक धर्मी था, अतः वहाँ धर्मनिरपेक्षता सांप्रदायिकता के विपरीत नहीं थी क्योंकि वहाँ विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच प्रभुत्व के लिए कोई संघर्ष नहीं था। धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी और भारतीय संकल्पनाओं के बीच यही निर्णायक अंतर है। यूरोप में ईसाइयों और चर्च के बीच झगड़ा था, जबकि भारत में एक धार्मिक समुदाय और दूसरे धार्मिक समुदाय के बीच झगड़ा था। भारत में दोनों समुदायों के समझदार नेताओं ने किसी भी अवस्था पर किसी भी समुदाय के धार्मिक अधिकार पर प्रश्न उठाए बिना ही सत्ता की भागीदारी में न्याय किए जाने पर बल दिया (नारायण, 1. 1995)।

उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश शासकों के प्रभाव के अंतर्गत भारतीयों का धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना से परिचय हुआ। भारत में पहले धर्मनिरपेक्षता के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। यूरोप के विपरीत, भारत में कोई पुनर्जागरण आंदोलन नहीं हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब विद्रोह असफल हो गया और अंग्रेजों ने अपने शासन को समेकित किया तभी भारतीय जनता ने पश्चिमी प्रभावों पर ध्यान देना शुरू किया। लेकिन पश्चिमी विचार शहरी क्षेत्रों में भारतीयों के केवल छोटे हिस्से में ही लोकप्रिय हो सके। ब्रिटिश शासन अनिवार्य रूप से धर्मनिरपेक्ष था, क्योंकि उन्होंने कई धार्मिक कानूनों की जगह पर धर्मनिरपेक्ष कानूनों को लागू करना शुरू कर दिया। उन्होंने सामान्य अपराधिक संहिता को भी अधिरोपित कर दिया, यद्यपि उन्होंने व्यक्तिगत कानूनों को नहीं छुआ। भारतीयों के लिए यह नया अनुभव था। अभी तक वे हमेशा धार्मिक कानूनों और परंपराओं का पालन करते थे। तब तक भारत में धर्मनिरपेक्ष कानून की कोई संकल्पना विद्यमान नहीं थी। इन कानूनों और परंपराओं से किसी भी प्रकार के व्यतिक्रम (विचलन) की दृढ़ता से निंदा की जाती थी। ऐसा करने पर सामाजिक बहिष्कार और जाति, धर्म बहिष्कार जैसे दंड दिए जाते थे। हिंदुओं में तो वस्तुतः जाति नियमों का बड़ी कड़ाई से पालन किया जाता था।

राजनीतिक अर्थ में "धर्मनिरपेक्ष" शब्द का प्रयोग 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के पश्चात् हुआ। भारतीय सजनीतिक शब्दावली में धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग बहुवादी व्यवस्था में होना शुरू हुआ पश्चिमी अर्थ में नहीं, जो धर्म के प्रति उदासीनता का सूचक था। यह तो हम जानते ही हैं कि पश्चिम में धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना चर्च और राजनीतिक शासकों के बीच संघर्ष के परिणाम के रूप में उभरी थी। चर्च का राजनीति पर प्रभुत्व था और यूरोप के विभिन्न हिस्सों में चर्च द्वारा पदासीन राजतंत्र को स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी। अतः इस संघर्ष के परिणाम के रूप में यूरोप में धर्मनिरपेक्ष राज्य की संकल्पना उभरी। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यूरोपीय समाज, सभी व्यावहारिक उद्देश्यों हेतु, एक-धर्मी समाज था। अतः पश्चिमी संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का अत्यधिक भिन्न

अर्थ था। यह अनिवार्य रूप से ऐसे राजनीतिक प्राधिकार की सूचक थी जो चर्च से पूरी तरह से स्तवंत्र था। जैसे पश्चिम में धार्मिक अधिकारवाद के विरुद्ध धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना उभरी, भारत में यह संकल्पना धार्मिक बहुलवाद के संदर्भ में उभरी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने धार्मिक अल्पसंख्यकों, विशेष रूप से मुस्लिमों की आशंकाओं को शांत करने के लिए धर्मनिरपेक्षता पर बल दिया और स्पष्ट किया कि यह कोई हिंदू राजनीतिक रचना नहीं थी। यह धार्मिक प्राधिकार की बजाय धार्मिक समुदाय था जो भारतीय संदर्भ में महत्वपूर्ण था (इंजीनियर और मेहता : 1998)।

सोचे और करें 24.1

अपने समुदाय में विभिन्न जाति, वर्ग, व्यवसाय और धर्म से संबंधित पाँच लोगों से साक्षात्कार करिए। उनसे इस बारे में उनके विचार पूछिए कि भारत "धर्मनिरपेक्ष" समाज है या नहीं?

इस साक्षात्कार के परिणाम पर दो पृष्ठों की रिपोर्ट लिखिए जिसमें साक्षात्कार किए गए व्यक्तियों के विचारों की और अपने विचारों की तुलना करिए। अपनी रिपोर्ट की अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की रिपोर्ट से तुलना कीजिए।

एकदम प्रारंभ से ही भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ बिलकुल अलग था। यह धर्म और उसके अधिकार की बजाय समुदाय और उसके धर्मनिरपेक्ष हितों से अधिक संबंधित था। अपने पूरे स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान हमको धर्मनिरपेक्ष/सांप्रदायिक द्विभाजन का सामना करना पड़ा। लेकिन हमारे किसी भी राजनीतिक नेता ने किसी धार्मिक अधिकार, हिंदू या मुस्लिम को चुनौती देने के बारे में नहीं सोचा। इसके विपरीत, ये नेता बार-बार यही आश्वासन देते रहे कि हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को अपने अपने धर्मों को वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही रूपों में अपने विश्वास को अभिव्यक्त करने और अनुष्ठान आदि करने की स्वतंत्रता होगी। केवल यही नहीं, राजनीतिक नेतृत्व ने विद्यमान धार्मिक संस्थाओं का प्रयोग हिंदू और मुस्लिम जनसमूह को राजनतीक प्रक्रियाओं में लाने के लिए भी किया। इस प्रकार तिलक ने शिवाजी और गणेश उत्सवों का प्रयोग हिंदू जनसमूह में राजनीतिक चेतना लाने के लिए किया। गांधीजी ने भी, एक ओर तो हिंदू समूह को आकर्षित करने के लिए "राम राज्य" की संकल्पना का प्रयोग किया और दूसरी ओर, मुस्लिम जनसमूह को आकर्षित करने के लिए खिलाफत आंदोलन का प्रयोग किया। राजनीतिक कार्यवाही की ओर लोगों को प्रेरित करने के लिए धर्म और धार्मिक संस्थाओं का बार-बार प्रयोग किया गया। इस भाँति, भारतीय निरपेक्षता का धर्म या धार्मिक प्राधिकार के साथ कभी भी विरोध नहीं हुआ। इसके विपरीत, इसने धर्म और धार्मिक संस्थाओं का राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रबल करने के लिए सहारा लिया।

1920 के दशक में महात्मा गांधी के आगमन से जब स्वतंत्रता आंदोलन का आधार विस्तृत हुआ और महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में जन विरोध की जो तकनीकें विकसित की थीं उनको और अधिक उत्तम सूक्ष्म बनाने के लिए जब वे आगे बढ़े, तब पिछले सीमांत समूहों को स्वतंत्रता संग्राम में शामिल किया गया और भारतीय समाज स्वतंत्रता की पुकार के प्रभाव से जुड़ गया। लेकिन, विरोधाभासी रूप से, उसी काल में मूलतत्ववादी और कट्टर समूहों का आगमन भी दिखाई दिया, जो हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे और जिन्होंने धर्म का राजनीतिकरण करना और इस प्रकार भारतीय समाज को विभाजित करना प्रारंभ कर दिया। और, आज जैसा हमने पूरी दुनिया में देखा है, धार्मिक पहचान अकसर राजनीतिक आंदोलन का उत्पाद होती है न कि ऐसे आंदोलन के लिए पूर्व शर्त। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि हमने भारत में समानांतर आंदोलन देखें, एक वह जिसने उपनिवेश-विरोधी संघर्ष के समान लोगों को जोड़ा और दूसरा वह जिसने धर्म के नाम पर लोगों को विभाजित किया।

24.4 धर्मनिरपेक्षता और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन

स्वतंत्रता संघर्ष के नेतृत्व को इस कारण, एक ऐसा सिद्धांत बनाना था जो विभिन्न विश्वासों का समर्थन करने वाले लोगों को संयुक्त रख सके। एकत्रित रखने की यह विधि धर्मनिरपेक्षता द्वारा उपलब्ध हुई। दूसरी ओर, राष्ट्रवादी आंदोलनों ने संयुक्त, स्वतंत्र भारत के लक्ष्य हेतु उपनिवेशी सरकार से लड़ाई की। अपने राष्ट्रवादी संघर्ष में इसने सभी धार्मिक समूहों की सहायता माँगी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह ऐसी धर्मनिरपेक्षता नहीं थी जो धर्म और राजनीति के अलगाव का आदेश देती है बल्कि यह ऐसी धर्मनिरपेक्षता थी जो सभी विश्वासों की समानता को सुनिश्चित करती है सर्व धर्म संभाव (चंदोक, एन. 2004)।

भारत के राष्ट्रीय जीवन पर सांप्रदायिकता का विध्वंसकारी प्रभाव पड़ा, जिसकी अंतिम परिणति देश के विभाजन और बड़े पैमाने पर हुए सांप्रदायिक दंगों के रूप में हुई। इस कारण, इसे राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता दोनों के लिए सबसे बड़ी चुनौती, या इनका निषेध तक माना गया। राष्ट्रवादी नेताओं ने जल्दी ही इस बात को समझ लिया कि उन्हें दो शत्रुओं — एक ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों और दूसरा, भारत के अंदर सांप्रदायिकता, से एक साथ लड़ना होगा। धर्मनिरपेक्षता में उन्होंने वह विचारधारा देखी जो उनके दोनों उद्देश्यों अर्थात् सांप्रदायिकता से लड़ाई या उसका खंडन करना और संयुक्त भारत के लिए आधार प्रदान करना, को पूरा कर सकती थी, जिनसे भारत की स्वतंत्रता का राष्ट्रवादी आंदोलन मजबूत हो सकता था।

एक राष्ट्र केवल तभी विद्यमान रह सकता है जब जनता के सभी वर्ग सामान्य राष्ट्रीयता की भावना की भागीदारी करें और अपनी सीमित, क्षेत्रीय, जातीय, भाषायी या धार्मिक पहचानों को उस सीमा तक बढ़ा लें। नेहरू का कथन है, "संभवतः, राष्ट्रीय चेतना की सर्वाधिक आवश्यक विशेषता है एक साथ संबंधित होने की भावना और बाकी लोगों का एक साथ मुकाबला करना" (स्मिथ डी.ई., 1963) चूँकि राष्ट्रीय चेतना के आविर्भाव में सांप्रदायिक निष्ठाएँ सबसे बड़ी बाधा हैं अतः धर्मनिरपेक्ष विचारधारा को ही राष्ट्रीय चेतना का आधार बनाया जा सकता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उन्नीसवीं शताब्दी में और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रवाद में अत्यधिक उत्थान हुआ। कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रवादी आंदोलन में विभिन्न विचारों वाले लोगों को शामिल किया गया। अतः यह सांप्रदायिक तत्वों से पूरी तरह मुक्त नहीं था, लेकिन इसमें राष्ट्रवादी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक विचारधारा पर विशेष बल दिया गया था।

उस काल के समाज सुधारकों और पुनरुज्जीवनवादियों की विचारधाराओं के विपरीत, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्ष थे। कांग्रेस के संस्थापकों के लिए राष्ट्रीय पहचान और राष्ट्र के हित पूर्ण रूप में सर्व समावेशी थे और धर्म, जाति, भाषा आदि की विभिन्नताओं से परे थे। कांग्रेस के द्वितीय सत्र (1886) की रिपोर्ट ने इसके धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रवादी स्वरूप को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया :

"कांग्रेस लौकिक हितों का समुदाय है, आध्यात्मिक धारणाओं का नहीं, जो मनुष्यों को राजनीतिक प्रश्नों की चर्चा में एक दूसरे का प्रतिनिधित्व करने योग्य बनाता है। हम इस देश में उनके एक समान सामान्य हितों का विचार करते हैं। हिंदू, ईसाई, मुसलमान और पारसी अपने अपने समुदायों के सदस्यों के रूप में जनता के धर्मनिरपेक्ष मामलों की चर्चा में एक दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं" (स्मिथ डी.ई., 1993)।

अपने अस्तित्व के पहले दशकों के दौरान, कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेताओं का प्रभुत्व था। उन्हें नरमदलीय के रूप में जाना

जाता था जो तर्कबुद्धिवाद, धर्मनिरपेक्षता, संविधानवाद और उदारतावाद में विश्वास रखते थे। धीरे-धीरे उनका स्थान अधिक अतिवादियों (गरम दलीय) नेताओं जैसे बिपिनचंद्र पाल, बी.जी. तिलक, और लाला लाजपत राय ने ले लिया। ये नेता प्रबल राष्ट्रवादी थे, लेकिन उनके भाषणों और क्रियाओं में धार्मिक पुट था, जैसे शिवाजी और राणा प्रताप का आदर्शीकरण करना और दुर्गा एवं गणेश से जुड़े धार्मिक उत्सवों को लोकप्रिय बनाना। बिपिन चंद्र ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि मुस्लिम नेताओं के मोरचे में राष्ट्रवाद से हट कर साम्प्रदायिक मोरचे की ओर परिवर्तन; और "अतिवादी" नेताओं के भाषणों और कार्यकलापों में धार्मिक पुट का शामिल होना (नरमपंथियों के तार्किक, उदार दृष्टिकोण की तुलना में) ये दोनों ही परिवर्तन जन राजनीति की बाध्यताओं के कारण थे। वे सभी यह बात जानते थे कि जनसमूह के लिए धर्मनिरपेक्ष विचारधारा की अपेक्षा धार्मिक मुहावरे, प्रतीक तथा धर्म खतरे में है, इस प्रकार की बातें करना ज्यादा असरदार सिद्ध होगा (गांधी, एम.के., 1999)।

धार्मिक पुट के बावजूद, कांग्रेसी नेताओं का राष्ट्रवाद हिंदू उग्रराष्ट्रवादियों और अन्य सांप्रदायिकतावादियों से काफी भिन्न था। राष्ट्र के बारे में उनकी संकल्पना क्षेत्रीय थी, अथार्त् इसमें भारत के सभी निवासी चाहे वह किसी भी धार्मिक मत के हों, या उनमें और भी किसी प्रकार की भिन्नताएँ हों, शामिल थे। उन्होंने भारत के सभी निवासियों के लिए, चाहे उनका धर्म कोई भी हो, स्थिति की समानता पर बल दिया। गांधी ने बार-बार इस बात की पुष्टि की "भारत में चूँकि विभिन्न धर्मों से संबंधित लोग रहते हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि यह एक राष्ट्र नहीं रहेगा। यदि हिंदू यह मानते हैं कि भारत में केवल हिंदू ही रहने चाहिए तो वे सपनों की दुनिया में रह रहे हैं। हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई जिन्होंने भारत को अपना देश बनाया है वे सभी हमारे सह देशवासी हैं। विश्व के किसी भी हिस्से में राष्ट्रीयता और धर्म समानार्थक नहीं हैं, और भारत में भी ऐसा कभी नहीं हुआ है" (गाँधी एम.के., 1999)।

भारतीय राष्ट्रवाद और तथाकथित "हिंदू और मुस्लिम राष्ट्रवाद" के बीच दूसरा बुनियादी अंतर हिंदू और मुसलमानों के धर्म के प्रति अपने अपने नजरिए में निहित है। "हिंदू और मुस्लिम राष्ट्रवाद" ने तो व्यक्ति और समुदाय दोनों के अस्तित्व और अपने सभी धर्म निरपेक्ष हितों के लिए धर्म को आधार बनाया परंतु भारतीय राष्ट्रवाद ने दावे के साथ कहा कि भारत के राष्ट्रत्व के लिए धर्म अप्रासंगिक है। यद्यपि दो नेहरू नेताओं को छोड़ कर, सभी राष्ट्रवादी नेता धार्मिक व्यक्ति थे, जो धर्म को मानवजीवन का एक उपयुक्त आयाम मानते थे लेकिन इसी के साथ-साथ उन्होंने धर्म को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय सरोकारों से अलग रखने की आवश्यकता का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय एकीकरण, या राष्ट्रीय तादात्म्य की भावना केवल तभी हासिल हो सकती है जब भारतीय अपनी धार्मिक पहचानों को एक ओर रख दें और स्वतंत्रता की लड़ाई में हाथ से हाथ मिला लें। "निम्न" जाति के हिंदुओं को वृहत् हिंदू समाज में एकीकृत करने के महात्मा के प्रयास एवं मुसलमानों और अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को राष्ट्रीय मुख्यधारा में लाने के उनके प्रयास काफी हद तक राष्ट्रवादी नेताओं की विचारधारा की अभिव्यक्ति थे। यह दृष्टिकोण सांप्रदायिकता को तो पूरी तरह नकारता था, लेकिन व्यक्ति के जीवन में धर्म के महत्व और वांछनीयता को स्पष्ट रूप से स्वीकृति देता था।

इसके अलावा, धर्म भारतीय सिद्धांतानुयायिओं और राष्ट्रवादी नेताओं के लिए हौवा नहीं था जैसा सुधारोत्तर पश्चिम में था। भारत में धर्म ने वैज्ञानिक खोजों के बारे में या दैनिक जीवन की वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के बारे में सवाल पूछने का कभी भी प्रयास नहीं किया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि स्वतंत्रता से पहले के निर्णायक दशकों के विद्वानों और राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा धर्म को कभी भी भारतीय जनसमूह की दुखद स्थितियों का कारण या स्रोत नहीं माना गया। बल्कि उपनिवेशी शासन को लोगों के पिछड़ेपन और

दुख का मुख्य या एकमात्र स्रोत माना जाता था। भारत की समस्याओं का हल, धर्म को नकारने की बजाय स्वराज की प्राप्ति में देखा गया।

गाँधी से लेकर पटेल और आजाद तक अधिकांश राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा अलग-अलग धार्मिक समुदायों के विद्यमान होने के तथ्य की स्वीकृति पर तो बल दिया जाता लेकिन इसी के साथ-साथ वे इस तथ्य को तटस्थ भी करना चाहते थे और इसके लिए वे एक राष्ट्र-समाज में उनके शांतिपूर्ण अस्तित्व की आवश्यकता और महत्व पर जोर देते थे। दूसरी ओर, नेहरू के लिए धार्मिक पहचान महत्वपूर्ण नहीं थी। वे विभिन्न धार्मिक समुदायों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की बजाय धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय पहचान पर जोर देते थे। इस प्रकार, भारतीय राष्ट्रवाद इस दृष्टिकोण पर आधारित था कि कोई राष्ट्र उन लोगों से निर्मित होता है जिनकी रोजमर्रा की आम समस्याएँ साझी होतीं हैं, और जो स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक अधिकार और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक साथ मिल कर प्रयास करते हैं (स्मिथ डी.ई., 1963)।

भारतीय राष्ट्रवाद एक धर्मनिरपेक्ष आधार बिंदु से भी घनिष्ठ रूप से संबद्ध था। शुरू से ही सांप्रदायिकता, या धर्म और राजनीति के बीच मैत्री को राष्ट्रवादी आंदोलन और राष्ट्रीय एकीकरण दोनों के लिए सबसे बड़े खतरे के रूप में देखा जाता था। भारतीय धर्म निरपेक्षता की समूची संकल्पना सांप्रदायिक रेखाओं पर विभाजित विषमजातीय जनसमूह को एक आधुनिक राष्ट्र में एक साथ जोड़ने के प्रयास की प्रक्रिया में विकसित हुई थी। इसके लिए सांप्रदायिकता को पूरी तरह से नकारने और राजनीति तथा अन्य धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं को धर्म से अलग करने की आवश्यकता का समर्थन करने की जरूरत थी। नेहरू का कथन था "सांप्रदायिकता के रूप में धर्म और राजनीति का गठबंधन सबसे अधिक खतरनाक है और यह सबसे अधिक असामान्य स्वरूप का अवैध समूह उत्पन्न करता है"। (स्मिथ डी.ई., 1963)।

धर्मनिरपेक्षता को सांप्रदायिकता का निषेध माना जाता था और इसका तात्पर्य था धर्म और राजनीति का अलगाव। डी.ई. स्मिथ के अनुसार "भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्य धारा ने धर्म और राजनीति के अलगाव का आश्वासन दिया : भारत के धार्मिक बहुलवाद और राजनीतिक एकता के साथ स्वतंत्रता के लक्ष्य के बीच कोई संघर्ष नहीं था।

भारत में धर्मनिरेपक्षता की आवश्यकता उठी और तदनुसार धर्मनिरपेक्षता दो संबंधित संदर्भों में अभिव्यक्त हुई : पहला, राष्ट्रीय अखंडता के लिए मुकाबला करना और दूसरा, राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता के लिए ऐसा आधार प्रदान करना जिसमें सभी भारतीय भागीदारी करें।

सतीश चंद्र का कहना है कि राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं की दो मुख्य चिंताएँ थीं "भारत के राष्ट्रत्व का स्वरूप और वह आधार जिस पर भारत की एकता बनाए रखी जा सके" उनके अनुसार "धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना इसी संदर्भ में उठी"। इसकी कोशिश थी कि विभिन्न समुदायों के हितों के बीच मध्यस्थता की जा सके और यह संयुक्त भारतीय राज्य बनाने की माँग करती थी जहाँ किसी भी धर्म के अनुयायियों का न तो समर्थन किया जाए और न ही किसी के साथ भेदभाव हो। इस प्रकार, यूरोप के विपरीत, भारत में धर्म निरपेक्षता संगठित धर्म के साथ संघर्ष की प्रक्रिया के रूप में नहीं उठी, बल्कि यह एक ऐसे प्रयास के रूप में उठी जिसमें धर्मनिरपेक्षता को संयुक्त स्वतंत्र भारत का आधार वाक्य बनाकर भारत में विभिन्न धर्मों के अनुपालकों को विदेशी शासकों के विरुद्ध उनके संघर्ष में एकीभूत कर दिया जाए।

अतः इस प्रयास में धर्म के विरोध पर बिलकुल जोर नही दिया गया बल्कि सभी धार्मिक समूहों द्वारा धर्मनिरपेक्ष जीवन में इससे सामंजस्य स्थापित करने पर बल दिया गया था।

इसका विचार सभी धार्मिक समूहों द्वारा धार्मिक राष्ट्रीय जीवन का था। **सर्व धर्म संभाव** या सभी धर्मों का बराबर सम्मान करने के संदर्भ में धार्मिक सहिष्णुता का विचार धर्मनिरपेक्षता की भारतीय संकल्पना के लिए निर्णायक हो गया, क्योंकि इसने एक राष्ट्र-राज्य में अनेकों धार्मिक समुदायों के सामंजस्यपूर्ण अस्तित्व को संभव बना दिया। यह अपेक्षा की गई कि सांप्रदायिकता या अपने धार्मिक समुदाय के प्रति अतिशय निष्ठा का मुकाबला सभी धर्मों के लिए समान आदर रखने के सकारात्मक आदर्श द्वारा किया जा सकता है।

सोचे और करें 24.2

अपने घर के नजदीक के किसी पुस्तकालय में या अध्ययन केंद्र के पुस्तकालय में जाइए और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारत के स्वतंत्रता संग्राम पर लिखी पाठ्य पुस्तकों को ढूँढ़ कर पढ़िए।

"भारत का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष और धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग" पर लगभग दो पृष्ठों का निबंध लिखिए। अपने निबंध की तुलना अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के निबंध से करिए।

भारतीय नेतृत्व ने इस तथ्य के बावजूद कि देश धर्म के नाम पर प्रकट रूप से विभाजित हो गया था, इस नियामक सिद्धांत को पकड़ के रखा। भारतीय समाज के गहन ध्रुवीकरण को देखते हुए और देश के विभाजन के दौरान हुई भारी सामूहिक हत्याओं और पाशविकताओं को देखते हुए, हो सकता था कि नेता लोग बहुसंख्यकवाद की दिशा में आसानी से चले गए होते। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया और वे अपनी इस प्रतिबद्धता के प्रति सच्चे रहे कि स्वतंत्रोत्तर भारत में सभी धर्मों के साथ राज्य द्वारा समानता का व्यवहार किया जाएगा।

अतः, धर्मनिरपेक्षता ऐसा नियम (मानक) थी जिसने जनसमूह को सम्मिलत करने की प्रेरणा दी जिसने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई की; इसने संविधान सभा में होने वाली बहसों को प्रेरित किया और संविधान को आधार बनाया। धर्मनिरपेक्षता के इसी अर्थ को संविधान में ठोस आकार दिया गया।

यह जानना जरूरी है कि धर्मनिरपेक्षता का प्रथम सिद्धांत जो संविधान में संहिताबद्ध किया गया था, यह आश्वासन देता था कि मूलभूत अधिकारों के अधिनियम के अनुच्छेद 25 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का अनुपालन करने की स्वतंत्रता थी। इसका यह मानना था कि धर्म को हतोत्साहित करने की इसकी कोई मंशा नहीं है। नेहरू ने कहा, "हम अपने राज्य को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहते हैं। लेकिन किसी अच्छे शब्द के अभाव में हमने इसी का प्रयोग किया है। इसका सही-सही अर्थ क्या है? निश्चय ही इसका अर्थ वह राज्य नहीं है जहाँ धर्म को ही हतोत्साहित किया जाता हो। इसका अर्थ है धर्म और विवेक की स्वतंत्रता, जिसमें उन लोगों के लिए स्वतंत्रता भी शामिल है जिनका कोई धर्म न हो"।

दरअसल अब धार्मिक स्वतंत्रता पाने के लिए हमें धर्मनिरपेक्षता की घोषणा करने की जरूरत नहीं है। यह स्वतंत्रता तो उन मौलिक अधिकारों का हिस्सा बन सकती है जिनको मिलने का प्रत्येक नागरिक को आश्वासन दिया गया है और उन्हीं से उभर सकती है। लेकिन कोई भी धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म का अधिकार प्रदान करने पर ही ठहर नहीं सकता। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत इससे भी आगे जाता है और सभी धार्मिक समूहों के बीच समानता स्थापित करता है। सभी धर्मों की समानता की संकल्पना सर्व धर्म संभाव के धर्म सिद्धांत द्वारा प्रेरित हुई थी जिसने गाँधीजी की धार्मिक सहिष्णुता की धारणा का प्रसार किया था।

बॉक्स 24.1 : धर्मनिरपेक्षता पर डॉ. राधाकृष्णन के विचार

डॉ. राधाकृष्णन ने धर्मनिरपेक्षता के बारे में अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया:

हमारा यह मानना है कि किसी भी एक धर्म को वरीयता की स्थिति, या विशिष्टता नहीं दी जानी चाहिए, न ही किसी एक धर्म को राष्ट्रीय जीवन में या अंतरराष्ट्रीय संबंधों में कोई विशेषाधिकार दिए जाने चाहिए क्योंकि यह लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धांतों का उल्लंघन होगा और धर्म तथा सरकार के सर्वोत्तम हितों के विपरीत होगा ..... नागरिकों के किसी भी समूह को अपने लिए उन अधिकारों और विशेषाधिकारों का झूठा दावा नहीं करना चाहिए जिन्हें यह दूसरों को देने से मना करता है। कोई भी व्यक्ति अपने धर्म के कारण किसी भी प्रकार के भेदभाव या अक्षमता से पीड़ित नहीं होगा बल्कि सभी व्यक्ति सामान्य जीवन में भरपूर मात्रा में भागीदारी करने के लिए स्वतंत्र होंगे" (राधाकृष्णन, एस., 1956)।

अब क्योंकि धार्मिक स्वतंत्रता को अपनी सहायता के लिए धर्मनिरपेक्षता की आवश्यक रूप से जरूरत नहीं होती तो धर्म की समानता को अनुच्छेद 14 के अनुसार समानता के मौलिक अधिकार द्वारा स्थापित किया जा सकता है लेकिन यदि हम यहीं पर रुक जाते हैं तो धर्मनिरपेक्षता अनावश्यक बना दी जाएगी। क्योंकि धर्मनिरपेक्षता समानता और स्वतंत्रता से कहीं आगे होती है और यह घोषित करती है कि राज्य किसी विशिष्ट धर्म से नहीं संबद्ध है। **यह विशिष्ट प्रतिबद्धता ही वह तत्व है जो एक धर्मनिरपेक्ष राज्य, या धर्म निरपेक्षता के प्रत्यायक (प्रमाण-पत्र) सुस्थापित करता है।** हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता और समानता के प्रावधानों को आगे बढ़ाना यह अनुबंध करता है कि राज्य सभी धार्मिक समूहों से सैद्धांतिक दूरी रखने का रुख बनाए रखेगा। इसके द्वारा यह अनुबंध भी किया जाता है कि राज्य खुद को किसी विशिष्ट-धर्म, खास तौर से बहुसंख्यक धर्म से न तो संबद्ध रखेगा, और न ही अपने किन्हीं धार्मिक कार्यों को जारी रखेगा।

जवारहलाल नेहरू ने एक अवसर पर कहा "हिंदी में "सेक्युलर" के लिए शायद एक अच्छा शब्द ढूँढ पाना भी मुश्किल होगा। कुछ लोग सोचते हैं कि इसका अर्थ है धर्म के विपरीत कोई चीज। परंतु यह बिलकुल सही नहीं है। इसका अर्थ है कि यह एक ऐसा राज्य है जो सभी विश्वासों का समान रूप से आदर करता है और सभी को समान अवसर प्रदान करता है; और यह एक राज्य के रूप में किसी एक ऐसे विश्वास या धर्म से खुद को जुड़ने की स्वीकृति नहीं देता, जो ऐसा करने से राज्य धर्म बन जाता है।" धर्मनिरपेक्षता का दूसरा और तीसरा घटक अर्थात् सभी धर्मों की समानता और राज्य द्वारा सभी धार्मिक समूहों से खुद को दूरी पर रखना, विशेष रूप से अल्पसंख्यकों को यह आश्वस्ति देने के लिए थे कि देश में उनका एक वैध स्थान है और उनके प्रति भेदभाव नहीं किया जाएगा। संगत रूप से, धर्मनिरपेक्षता ने यह स्थापित कर दिया कि बहुसंख्यक समुदाय को किसी भी तरह से कोई विशेषाधिकार नहीं मिलेगा। अतः धर्म मत ने ऐसे किसी भी दिखावे को हतोत्साहित किया कि बहुसंख्यक वर्ग के धर्म को अपने लोकाचार से राज निकाय पर छाप लगाने का कोई अधिकार है।

24.5 संविधान और धर्मनिरपेक्षता

भारतीय संविधान धर्मनिरपेक्षता और सिविल समाज की धार्मिकता के बीच एक रचनात्मक मिश्रण है। भारतीय संविधान सभी नागरिकों से चाहे वे किसी भी जाति, मत, लिंग या धर्म से हों, समानता का व्यवहार करता है। अनुच्छेद 14 कानून के समक्ष समानता की गारंटी देता है। इसके अनुसार "राज्य कानून के समक्ष किसी व्यक्ति को समानता के लिए या भारत के क्षेत्र के अंतर्गत उनके लिए कानूनों की समानता से इनकार नहीं कर सकता"। अनुच्छेद 15 में कहा गया है,

1) "राज्य किसी भी व्यक्ति से केवल उसके धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी एक के भी आधार पर भेदभाव नहीं कर सकता।

2) कोई भी नागरिक केवल धर्म, जाति, लिंग जन्म स्थान या इनमें से किसी एक के भी आधार पर निम्नलिखित के संबंध में (क) दुकानों, सार्वजनिक रेस्टोरेंटों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन में जाने या (ख) ऐसे कुएँ, तालाब, नहाने की जगहें, सड़कें और सार्वजनिक आश्रय के स्थानों का प्रयोग करने जिनका पूरी तरह से या आंशिक रूप से राज्य की निधियों द्वारा रखरखाव किया जाता है या जो सामान्य जनता के प्रयोग के लिए समर्पित हैं; किसी अक्षमता, दायित्व प्रतिबंध या शर्तों के अधीन नहीं होगा" (इंज़ीनियर, ए.ए. 1995)।

इस भाँति, यह अनुच्छेद जाति भेदभाव को समाप्त करता है और अनुच्छेद 16 रोजगार के मामले में अवसर की समानता की गारंटी देता है। अनुच्छेद 25 से 30 धर्म, संस्कृति और भाषा की स्वतंत्रता की गारंटी देते हैं। अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यकों को अपनी शैक्षिक संस्थाएँ स्थापित करने के अधिकार की भी गारंटी देता है। 25 से 30 अनुच्छेद अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संबंध में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। यह अल्पसंख्यक धार्मिक या भाषायी कैसे भी हो सकते हैं।

यद्यपि हमारा संविधान धर्मनिरपेक्ष है, मूल रूप से धर्मनिरपेक्षता शब्द इसमें शामिल नहीं था। सत्तर के दशक के मध्य में आपातकाल के दौरान "धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी" शब्द जोड़े गए और भारत का वर्णन "धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी गणराज्य" कहकर किया गया। लेकिन धर्मनिरपेक्षता और धर्मनिरपेक्ष इन शब्दों को परिभाषित नहीं किया गया। एच.एम. शेरवाई की पुस्तक "कॅन्स्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडियां" के अनुसार "यह समझ कर कि "धर्मनिरपेक्ष" और "समाजवादी" शब्दों को परिभाषित करने की जरूरत है, 45वें संशोधन विधेयक (जो 44वाँ विधेयक बन गया) "धर्मनिरपेक्ष" और "समाजवादी" शब्दों की परिभाषाएँ सम्मिलित करके अनुच्छेद 366 के संशोधन का प्रस्ताव रखा"। परंतु राज्य परिषद द्वारा इस संशोधन को स्वीकारा नहीं गया। फलस्वरूप "धर्मनिरपेक्ष" और "समाजवादी" शब्द अपरिभाषित ही रह गए। परंतु इसके बारे में एक पाद् टिप्पणी प्रस्तावित सुधार की जानकारी देती है और धर्मनिरपेक्षता की यह परिभाषा देती है :

"संविधान के अनुच्छेद 366 का उस अनुच्छेद के खंड (2) के रूप में पुनःअंकन किया जाएगा और इस प्रकार अंकित खंड (2) से पहले निम्नलिखित खंड शामिल किए जाने चाहिए, जो ये हैं, (1) संविधान की प्रस्तावना में "धर्मनिरपेक्ष" अभिव्यक्ति का अर्थ है वह गणराज्य जिसमें सभी धर्मों के लिए समान आदर है (सीरावाइ, एच.एम., 1982)।

इस भाँति, हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्ष और धर्मनिरपेक्षता शब्द भारतीय संविधान में अपरिभाषित ही रहते हैं। भारतीय संविधान में "धर्मनिरपेक्षता" द्वारा निम्नलिखित अर्थ सूचित होते हैं कि :

1) राज्य, स्वयं किसी धर्म को समर्थित या स्थापित या उसका अनुसरण नहीं करेगा;

2) सार्वजनिक राजस्वों का प्रयोग किसी धर्म को संवर्धित करने के लिए नहीं किया जाएगा;

3) राज्य को यह अधिकार होगा कि वह धार्मिक आचरणों से संबंधित किसी "आर्थिक, वित्तीय या अन्य धर्मनिरपेक्षता गतिविधि को नियंत्रित करे (संविधान का अनुच्छेद 25 (2) (क));

4) राज्य को कानून द्वारा "सामाजिक कल्याण और सुधार उपलब्ध कराने या सार्वजनिक स्वरूप की हिंदू धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों और समूहों के लिए खोल देने का अधिकार होगा" (संविधान का अनुच्छेद 25 (2) (ख);

5) अनुच्छेद 17 द्वारा अस्पृश्यता (छुआछूत) की पृथा (जहाँ तक यह हिंदू धर्म द्वारा न्यायोचित सिद्ध की जा सके वहाँ तक) संवैधानिक रूप से विधि बहिष्कृत है;

6) इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को विवेकबुद्धि और धर्म की स्वतंत्रता का समान अधिकार होगा;

7) तथापि, ये अधिकार "सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य" के आधार पर प्रतिबंधों को लागू करने के लिए, कानून द्वारा राज्य के अधिकार के अधीन हैं।

8) इसके अलावा ये अधिकार भाग III में अन्य मौलिक अधिकारों के अधीन भी हैं; और

9) न्यायालय, मांगलिक रूप से सर्वोच्च न्यायालय को उपर्युक्त सिद्धांतों के अधीन राज्य कार्यवाही को वैध या अवैध के रूप में निर्णय करने पर "मत व्यक्त करने का" अधिकार होगा।

इस समय तक, धर्मनिरपेक्षता की इन नौ विशेषताओं ने अपने पीछे राष्ट्रीय संवैधानिक बहुमत की चौथाई शताब्दी एकत्रित कर ली थी। 1976 से इन नौ विशेषताओं में अब सभी नागरिकों का एक मूल कर्त्तव्य (अनुच्छेद 51-ए (एफ) के अधीन जुड़ गया था जो यह था "हमारी सामूहिक संस्कृति की समृद्धिशाली विरासत को परिरक्षित करना"। यह कतर्व्य सभी नागरिकों (राजनीतिक दलों के नेताओं, और राज्य बल के सभी धारकों सहित) को संबोधित है और इसको उनका मूल दायित्व घोषित किया गया है। न तो राजनीतिक प्रक्रियाएँ और न ही अधिकार की प्रक्रियाएँ (न्यायिक अधिकार सहित) वैध होंगी अगर वे इस कर्त्तव्य का विरोध करेंगी। संविधान ने निस्संदेह राज्य और धर्म के बीच "अलगाव की दीवार" खड़ी कर दी है। धर्म की ओर से राज्य की तरफ तो कोई दरवाजे नहीं खुल रहे परतु राज्य की ओर से धर्म में कई दरवाजे खुल रहे हैं। यदि जन आदेश, नैतिकता और स्वास्थ्य के हित में यह माँग करते हैं, धर्म का विश्वास प्रकट करने, आचरण और प्रचार करने के अधिकार को भंग किया जाए, तो ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय के अधिकार की भी माँग करते हैं जो धर्म से संबंधित इसके मामलों की देखरेख करे। यदि अन्य मौलिक अधिकारों का निष्पादन या सामाजिक कल्याण और सुधार की माँगे ये अपेक्षा करती हैं तो धर्म का विश्वास प्रकट करने, आचरण करने और प्रचार करने के अधिकार को भी भंग किया जाए।

इस भाँति, संविधान धार्मिक प्राधिकार और धार्मिक हितों के ऊपर धर्मनिरपेक्ष प्राधिकार धर्मनिरपेक्ष हितों की सर्वोच्चता को बाध्य करता है और इसका संकल्प करता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि संविधान के अंतर्गत धर्मनिरपेक्षता एक अभिवृत्ति है, जीवन की एक शैली है जो संविधान द्वारा आंशिक रूप से समादेशित है और आंशिक रूप से सराहनीय। इसमें मूल्यों की ऐसी प्रणाली समाविष्ट है जिसमें समकालीन जनों के बीच और राज्य तथा नागरिकों के बीच के संबंध धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के पूर्वाग्रहों और निष्ठाओं से मुक्त है और आपसी सरोकार, सम्मानपूर्ण जीवन तथा जो ऐसे समाज के लिए संस्कृति द्वारा शासित हैं जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र और समान है और जिसमें अंधविश्वासों के ऊपर विज्ञान और तर्क की तथा किसी विशेष वर्ग के प्रति प्रेम के ऊपर मानवता के प्रति प्रेम की विजय होती है।

24.6 निष्कर्ष

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि, भारत में धर्मनिरपेक्षता की जो संकल्पना उभरी उसमें तीन सारगर्भित घटक निहित थे :

- राज्य खुद को किसी एक धर्म से संलग्न नहीं करेगा, जो तदनुसार राज्य धर्म के रूप में स्थापित हो जाएगा।

- सभी नागरिकों को धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता था।
- राज्य यह सुनिश्चित करके कि एक धार्मिक समूह के साथ दूसरे की कीमत पर पक्षपात न किया जाए, सभी धार्मिक समूहों के बीच समानता को सुनिश्चित करेगा। संगत रूप से, अल्पसंख्यकों को पुनः आश्वासन दिया गया कि उनसे किसी भी रूप में भेदभाव नहीं किया जाएगा।

अतः, पहली दृष्टि में धर्मनिरपेक्षता निर्बल करने वाले धार्मिक संघर्ष को नियंत्रित करने, अल्पसंख्यकों को उनकी सुरक्षा के लिए आश्वस्त करने और ऐसी किसी भी आशंका को दूर रखने के लिए निर्मित की गई थी कि राज्य स्वयं को प्रमुख धर्म के साथ संबद्ध कर लेगा। पश्चदर्शन करें तो आश्चर्य नहीं होगा कि धर्मनिरपेक्षता भारतीय नेतृत्व के लिए आकर्षक सिद्ध हुई। इसका पहला कारण तो यह था कि ऐतिहासिक रूप से धर्मनिरपेक्षता पश्चिम में एक ऐसे फॉर्मूले के रूप में उभरी थी जो उन धार्मिक युद्धों को समाप्त करने के लिए बनाया गया था जिन्होंने सोलहवीं शताब्दी में यूरोप का सर्वनाश कर दिया । यह धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों के कारण ही था कि जो समुदाय धर्म के ऊपर युद्ध रत हो गए थे और जिन समाजों ने न्यायिक जाँच की पूरी अवधि के दौरान नास्तिकों को सताया था अब साथ रहना सीख सकें। भारत के सामने भी ऐसी ही समस्याएँ आईं। उपनिवेश विरोधी संघर्ष ने अलग और संभावित रूप से विभाजित समुदायों को केवल उपनिवेशिवाद के विरोध के लिए ही नहीं बल्कि एक दूसरे के विरोध के लिए भी उकसाया। इसने नए राष्ट्र की संबद्धता के लिए विशिष्ट आशंका उत्पन्न की। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत का स्पष्टोच्चारण, एक ऐसा सिद्धांत जो इन पहचानों के विचारात्मक निर्माण से सर्वथा अलग था, लोगों को एक साथ सभ्यता में रहने देने के लिए बनाया गया था। इस तथ्य को धर्मनिरपेक्षता के समकालीन आलोचक भूल गए लगते हैं।

देश के लिए धर्मनिरपेक्षता का आकर्षण इस तथ्य में निहित था कि उपनिवेशी और उपनिवेश विरोधी अवस्था के दौरान जो विखंडित और ध्रुवीकृत पहचानें उभरीं और एक साथ इकट्ठी हुईं उनमें से एक राष्ट्र निर्मित करने के लिए धर्मनिरपेक्षता ही एकमात्र विवेकी विकल्प थी। भारत में, जहाँ रक्त रंजित बँटवारे के फलस्वरूप दो नए राष्ट्र, अर्थात् भारत और पाकिस्तान बने थे, वहाँ यह भुलाने की जरूरत थी कि वे लोग जो सदियों से एकसी ऐतिहासिक चेतना, एकसी भाषा और एकसे जनसमूह की साझेदारी करते थे, धर्म की वजह से अलग हो गए थे। अब इन विभाजित लोगों को नवीन विचारधाराओं, नवीन परिप्रेक्ष्यों और नवीन मुद्दों पर एकीकृत करने की जरूरत थी। यह मुद्दा केवल धर्मनिरपेक्षता ही हो सकती थी जिसने धार्मिक पहचानों को अपेक्षित् मान्यता दी और इसके बावजूद जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्र का संबंध था, उन्हें परे रखने का प्रयास किया। *राज्य अपनी जनता की धार्मिक पहचानों को पहचानने से इनकार नहीं कर सकता।* यह खराब राजनीति और खराब ऐतिहासिक जानकारी कहलाती। इसको जो करना चहिए वह था यह निर्दिष्ट करना कि *सभी धर्म सिद्धांततः समान थे।*

24.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

झींगरन, सरल, 1995, *सेक्युलरिज्म इन इंडिया*, पृ. 53.

एनसायक्लोपेडिया ऑफ रिलीजियन में "सेक्युलराइजेशन, संपादक मिर्सिआ ऐलीएड, अंक 13, पृ. 159.

नीरा चंदोक, 2004, रिप्रजेंटिंग द सेक्यूलर एजेन्डा फॉर इंडिया इन मुशीरूल हसन (संपादक).

इकाई 25

शहरीकरण

इकाई की रूपरेखा

25.1 प्रस्तावना

25.2 शहरी और शहरवाद

25.3 शहरीकरण की प्रक्रिया

25.4 भारत में शहरीकरण

25.5 शहरीकरण के सिद्धांत

25.6 भारत में शहरीकरण के सामाजिक प्रभाव

25.7 शहरीकरण की समस्याएँ

25.8 निष्कर्ष

25.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- शहर और शहरवाद शब्दों को समझ सकें;
- भारत में शहरीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पता लगा सकें;
- शहरीकरण विषयक सिद्धांतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकें; और
- शहरीकरण के सामाजिक प्रभावों एवं समस्याओं का विश्लेषण कर सकें।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

25.1 प्रस्तावना

निश्चय ही आपने "शहरीकरण" शब्द सुना होगा और इसके अर्थ से भली-भाँति परिचित होंगे। आप संभवतः इसे शहरों की वृद्धि से जोड़ते होंगे। शहरीकरण, वस्तुतः शहरी बन जाने; शहरों का स्थानांतरण हो जाने; कृषि से शहरों में आम अन्य पेशों, जैसे व्यापार, विनिर्माण, उद्योग एवं प्रबंधन की ओर चले जाने; और व्यवहार प्रतिमान के अनुकूल परिवर्तनों संबंधी प्रक्रिया है। यह अंतर्संबंधों की उस संपूर्ण व्यवस्था में विस्तार की प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई जनसमुदाय स्वंय को अपने वास-स्थान में कायम रखता है (हॉली 1981)। शहरी जनसंख्या की वृद्धि की ओर प्रवृत्ति करते कस्बों एवं शहरों के आकार में वृद्धि ही शहरीकरण का सबसे महत्वपूर्ण आयाम है। शहरी केंद्र अनिवार्यतः प्रकृति में गैर-कृषिक होते हैं। प्राचीन काल में रोम अथवा बगदाद जैसे बहुत से शहर होते थे, परंतु जब से उद्योगीकरण तथा औद्योगिक उत्पादन एवं क्षेत्र-स्तरीय उत्पादन में वृद्धि हुई है, शहर अपूर्व रूप से बढ़े हैं और अब शहरीकरण हमारे वर्तमान जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया है।

शहरी में सही-सही क्या होता है और शहरीकरण की प्रक्रिया क्या है, पर भी आगामी पाठांशों में चर्चा की जाएगी। शहरीकरण से जुड़े विभिन्न सिद्धांतों पर भी हम चर्चा करेंगे। साथ ही, शहरों की वृद्धि एवं शहरी केंद्रों से जुड़ी कुछ समस्याओं पर भी चर्चा की जाएगी।

25.2 शहरी और शहरवाद

"शहरी क्षेत्र" क्या होता है? यह शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है — जनसांख्यिकीय एवं समाजशास्त्रीय। जनसांख्यिकीय रूप से, संकेंद्रण जनसंख्या के आकार एवं घनत्व पर तथा अधिकांश वयस्क पुरुषों की कार्य-प्रकृति पर होता है। समाजशस्त्रीय रूप से, संकेंद्रण विषय-जातीयता, निर्वैयक्तिकता, अंतर्निर्भरता एवं जीवन की गुणवत्ता पर होता है। टॉनी (1957) ने सामाजिक संबंधों एवं मूल्यों के लिहाज से जैमेंशाफ्ट (gemeinschaft) अर्थात् ग्रामीण एवं जेसेलशाफ्ट (gesellschaft) अर्थात् शहरी के बीच भेद किया है। पूर्ववर्ती वह है जिसमें सामाजिक बंधन नातेदारी एवं मित्रता के गहन व्यक्तिगत बंधनों पर आधारित होते हैं, और जोर परंपरा, मतैक्य एवं अनौपचारिकता पर रहता है, जबकि परवर्ती में, निर्वैयक्तिक एवं गौण संबंध प्रधान होते हैं और लोगों के परस्पर कार्यकलाप औपचारिक, आनुबंधिक एवं उनके द्वारा किए जाने वाले विशेष कार्य अथवा सेवा पर निर्भर रहते हैं। अन्य समाजशास्त्रियों जैसे मैक्स वेबर (1961) एवं जॉर्ज सिमल 1950 ने सघन जीवन दशाओं में परिवर्तन की तीव्रता एवं शहरी परिवेश में निर्वैयक्तिक अंतर्क्रिया पर जोर दिया है।

भारत में, जनसांख्यिकीय एवं आर्थिक संसूचक कस्बा अथवा शहर जैसे विशिष्ट क्षेत्रों को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण हैं। "कस्बे" की जनगणना परिभाषा 1901-1951 की अवधि में न्यूनाधिक एक ही रही लेकिन 1961 में एक नई परिभाषा चुनी गई। 1951 तक "कस्बे" में शामिल थे :

1) एक आवासित स्थान जिसकी कुल जनसंख्या 5000 व्यक्तियों से कम न हो

2) प्रत्येक नगरपालिका, नगरनिगम एवं अधिसूचित क्षेत्र जिसका आकार कुछ भी हो; और

3) सभी सिविल लाइंस क्षेत्र जो कस्बे सीमाओं में शामिल न हों।

इस प्रकार, यह तय करने के लिए कि कोई स्थान विशेष कस्बा है अथवा नहीं, मुख्य मानदंड था प्रशासनिक व्यवस्था न कि जनसंख्या का आकार। इसी परिभाषा के कारण वास्तविकता में अनेक कस्बे अतिविकसित गाँवों से अधिक नहीं थे।

1961 में "कस्बे" को पुनर्परिभाषित किया गया और अनेक आनुभविक परीक्षणों के आधार पर उनका निर्धारण किया गया, जैसे :

क) जनसंख्या कम से कम 5000 हो

ख) जनसंख्या घनत्व 1000 प्रति वर्ग मील से कम न हो

ग) कामकाजी जनसमुदाय के तीन-चौथाई लोगों के व्यवसाय कृषि के अतिरिक्त हों; और

घ) स्थान में कुछ विशेषताएँ एवं सुख-सुविधाएँ हों, जैसे नव स्थापित औद्योगिक क्षेत्र, वृहद् आवासीय बस्तियाँ, एवं पर्यटन के महत्व वाले स्थान व जन-सुविधाएँ हों। "कस्बे" की नई परिभाषा के परिणामस्वरूप ही 1951 व 1961 के बीच भारत में कस्बों की संख्या में कुछ कमी आई। 1961 के आधार को ही 1971, 1981 एवं 1991 की जनगणना में अपनाया गया।

समाजशास्त्री शहर की परिभाषा में जनसंख्या के आकार को अधिक महत्व नहीं देते हैं। क्योंकि न्यूनतम जनसंख्या मानक काफी भिन्न होते हैं। शहर किसी क्षेत्र की एक प्रशासनिक रूप में परिभाषित इकाई होती है जिसमें "सामाजिक रूप से विषम जातीय व्यक्तियों का एक अपेक्षाकत वृहद्, सघन एवं स्थायी आवास होता है" (वर्थ 1938)। शहरी ऐसे विशेषीकृत, गैर-कृषिक कार्यकलापों की एक श्रृंखला की ओर संकेत करता है जोकि शहरवासियों के अभिलक्षण तो होते हैं परंतु उनके लिए अनन्य नहीं। कराधान एवं पूँजी

संचयन व लेखन हेतु क्षमता तथा भविष्यवाणी विज्ञानों, कलात्मक अभिव्यक्ति, एवं अत्यावश्यक वस्तुओं के व्यापार हेतु उसके अनुप्रयोग आदि इस प्रकार के विशेषीकृत कार्यकलाप हैं जो एक सही मायनों में शहरी स्थान के उद्‌गमन की परिभाषा हेतु आवश्यक होते हैं (चिल्दे 1950)।

बॉक्स 25.1 : मिलयन शहर

मिलयन शहर, जैसा कि नाम से जाहिर है, एक ऐसा शहर होता है जिसकी आबादी दस लाख (या अधिक)। 1995 की संयुक्त राष्ट्र जनगणना के अनुसार, इस ग्रह पर निम्नलिखित शहर सबसे बड़े हैं :

1) टोक्यो (जापान) 2.72 करोड़

2) मैक्सिको शहर (मैक्सिको) 1.69 करोड़

3) साओ पौलो (ब्राजील) 1.68 करोड़

4) न्यूयार्क (अमेरिका) 1.64 करोड़

5) मुम्बई (भारत) 1.57 करोड़

सन् 1971 की जनगणना ने एक नया शब्द प्रयोग किया — शहरी संकुलन (Urban agglomeration)। काफी प्राधिक रूप से बड़ी रेलवे श्रमिक-बस्तियाँ, विश्वविद्यालय के मैदान, बंदरगाह क्षेत्र, सैनिक शिविर, आदि शहर अथवा नगर की वैधानिक सीमाओं से बाहर होते हैं परंतु उनसे लगे रहते हैं। ऐसे क्षेत्र स्वयं नगरों के रूप में लिए जाने के योग्य नहीं होते परंतु यदि वे संलग्न नगर के साथ-साथ निरंतर विस्तीर्ण होते हैं तो उन्हें शहरी माना जाना गलत न होगा। ऐसी बस्तियों को अधिवृद्धि (outgrowth) नाम दिया जाता है, और इनमें पूरा का पूरा गाँव, अथवा उसका कोई हिस्सा आ सकता है। दो या अधिक कस्बे/नगर भी परस्पर सटे हो सकते हैं। अपनी अधिवृद्धियों के साथ ऐसे नगरों को एक शहरी इकाई माना जाता है और "शहरी संकुलन" पुकारा जाता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 25.2 : शहरों के प्रकार

शहरों के वृहद् सामान्य अभिलक्षणों के आधार पर हम उन्हें निम्न प्रकारों में बाँट सकते हैं:

उत्पादन केंद्र — जमशेदपुर, फीरोजाबाद, कानपुर, कोलार

व्यापार एवं वाणिज्य केंद्र — मुम्बई, चेन्नई

राजधानियाँ, — दिल्ली, लखनऊ, आदि

स्वास्थ्य एवं आमोद-प्रमोद केंद्र — मसूरी, मैसूर, कोडैकनाल

सांस्कृतिक केंद्र — अमृतसर, अजमेर, हरिद्वार

विविध शहर — वाराणसी

शहरवाद

शहरवाद को विभिन्न विद्वानों द्वार सांस्कृतिक एवं सामाजिक अन्तःक्रिया के प्रतिमानों के रूप में परिभाषित किया गया है, जो कि अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्रों में वृहद् जनसमुदायों के संकेंद्रण से जन्म लेते हैं। यह एक जटिल श्रम-विभाजन, प्रौद्योगिकी के उच्च स्तरों, उच्च गतिशीलता, आर्थिक प्रकार्यों को पूरा करने में उसके सदस्यों की अन्योन्याश्रिता एवं

सामाजिक संबंधों में निर्वैयक्तितता के लिहाज से समाज के एक संगठन को प्रस्तुत करता है (थिओडोर्सन 1969)।

लुई वर्द का मानना है कि जीवनशैली के रूप में शहरवाद को तीन अंतर्संबद्ध पहलुओं से आनुभाविक रूप से समझा जा सकता है :

- एक भौतिक संरचना के रूप में, जिसके साथ एक जनसंख्या आधार, प्रौद्योगिकी एवं पारिस्थितिकीय व्यवस्था होती है
- सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में, जिसके साथ एक संरचना एवं संस्थाओं की श्रृंखला होती है (माध्यमिक सम्पर्क, नातेदारी बंधनों, आदि का कमजोर होना)
- प्रवृत्तियों, अवधारणाओं एवं व्यक्तित्व-समूह की एक श्रृंखला के रूप में (बढ़े व्यक्तिगत विघटन, आत्महत्या, अपराध, अपचार एवं भ्रष्टाचार)।

25.3 शहरीकरण की प्रक्रिया

परिवर्तन की एक संरचनात्मक प्रक्रिया के रूप में शहरीकरण आमतौर पर औद्योगीकरण से जुड़ा है परंतु यह सदा ही शहरीकरण का परिणाम नहीं होता। शहरीकरण शहरों में वृहद् स्तरीय एवं लघुस्तरीय औद्योगिक एवं व्यापारिक, वित्तीय एवं प्रशासनिक प्रतिष्ठानों के संकेंद्रण; परिवहन एवं संचार में प्रौद्योगिकीय विकास; सांस्कृतिक एवं आमोद-प्रमोद क्रियाकलापों आदि की वजह से होता है। औद्योगीकरण पर शहरीकरण का आधिक्य जो शहरी क्षेत्रों में आने वाले सभी व्यक्तियों के लिए रोजगार प्रदान करना संभव बनाता है, वस्तुतः, वह है जो कभी-कभी अतिशहरीकरण की ओर प्रवृत्त करता है। भारत में एक विशिष्ट दृश्यघटना देखी जाती है : कृषि से उद्योग की ओर जनसमुदाय के किसी महत्वपूर्ण स्थानांतरण के बगैर ही औद्योगिक विकास, तथा कुल जनसंख्या के प्रति शहरी के अनुपात में बिना किसी खास वृद्धि के ही शहरी जनसंख्या की वृद्धि। जबकि अनुपात के लिहाज से, ग्रामीण से शहरी क्रियाकलापों की ओर अधिक स्थानांतरण बेशक न हो, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जनसमुदाय का फिर भी काफी व्यापक प्रवसन होता है। इससे शहरी क्षेत्र पूरी तरह से भर जाते हैं, इस कदर जनसंख्या वृद्धि से संरचनात्मक सुविधाओं का भी अभाव पैदा हो जाता है।

शहरीकरण एक सांस्कृतिक एवं सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा लोग भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति अर्जित करते हैं, जिसमें शामिल है व्यवहारात्मक प्रतिमान, संगठन के स्वरूप, एवं विचार जो शहर में जन्में, अथवा उससे भिन्न हैं। यद्यपि सांस्कृतिक प्रभावों का प्रवाह दोनों दिशाओं में होता है — शहर की ओर भी और उससे दूर भी — इस बात पर काफी सहमति है कि गैर-शहरी लोगों पर शहर द्वारा प्रयोग किए जाने वाले सांस्कृतिक प्रभाव प्रतिकूल न होकर संभवतः व्यापक अधिक हैं। इस आलोक में देखे जाने पर शहरीकरण विश्व के "पश्चिमीकरण" में भी परिणत हुआ है, जैसा कि टॉइन्बी कहते हैं।

प्रसरण (Diffusion) एवं परसंस्कृति-ग्रहण (Reculturation) के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या किए जाने पर शहरीकरण की अवधारणा को और सटीक एवं सार्थक बनाया जा सकता है। शहरीकरण अंतःसमाज अथवा अंतर-समाज प्रसरण के रूप में अभिव्यक्त हो सकता है, यथा, शहरी संस्कृति एक ही समाज के विभिन्न भागों में फैल सकती है अथवा यह सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघकर अन्य समाजों में भी फैल सकती है। इसमें लेन-देन दोनों शामिल होता है। प्रसरण के दूसरी ओर परसंस्कृति-ग्रहण है, यानी वह प्रक्रिया जिसके द्वारा लोग भौतिक स्वत्व, व्यावहारिक प्रतिमान, सामाजिक संगठन, ज्ञान-

निकाय, एवं ऐसे समूहों के अर्थ अर्जित करते हैं जिनकी संस्कृति स्वयं से ही कई लिहाज से भिन्न होती है। शहरीकरण को एक जटिल प्रक्रिया के रूप में इसी आलोक में देखा जाता है (गिस्ट एवं फैवा : 1933)।

भारत में शहरीकरण का इतिहास अपनी पूरी अवधि में मुख्य रूप से कारगर चार प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है। ये हैं :

क) एक सामाजिक-परिवर्तन प्रक्रिया के माध्यम से शहरवासियों के बीच तथा शहरीजन एवं ग्रामीणजन के बीच नए सामाजिक संबंधों का उदय;

ख) राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तनों के साथ शहरों का उत्थान एवं पतन;

ग) नई उत्पादन प्रक्रियाओं पर आधारित शहरों की वृद्धि, जोकि शहर के आर्थिक आधार को बदल डालती हैं; और

घ) प्रवासियों के अंतर्वाह के साथ शहरों का भौतिक प्रसार, जोकि आजीविका के साधनों की तलाश में और एक नई जीवन-शैली अपनाने के लिहाज से वहाँ आते हैं।

बॉक्स 25.3 : उप-शहरीकरण एवं अधिशहरीकरण

उप-शहरीकरण (Sub-Urbanisation) किसी शहर के अधिशहरीकरण से गहरे जुड़ा होता है। जब शहर जनसंख्या से अति संकुलित हो जाते हैं, जिससे कि उप-शहरीकरण जन्म लेता है। दिल्ली इसका विशिष्ट उदाहरण है। उप-शहरीकरण का अर्थ है — शहरों के इर्द-गिर्द ग्रामीण क्षेत्रों का शहरीकरण, जिसके अभिलक्षण निम्नलिखित हैं :

- भूमि के "शहरी (गैर-कृषिक) प्रयोगों" में तीव्र वृद्धि,
- अपनी कस्बों सीमाओं में कस्बों के आसपास के क्षेत्रों का सम्मिलन, एवं
- कस्बे एवं उसके आसपास के क्षेत्रों के बीच सभी प्रकार की गहन संचार व्यवस्था।

अति शहरीकरण (over urbanisation) किसी शहर अथवा उसके आसपास के ग्रामीण क्षेत्र में शहरीकरण के तत्वों संबंधी अभिवर्धित सोदाहरण प्रतिपादन की ओर संकेत करता है। यह शहरवादी विशेषताओं के अत्यधिक विकास में परिणत होता है। शहरी क्रियाकलापों एवं व्यवसायों के श्रृंखला-विस्तार, उद्योग जैसे गौण प्रकार्यों के वृहत्तर अंतर्वहन, एक जटिल अधिकारीतंत्रीय प्रशासनिक तंत्र के वर्धमान एवं व्यापक विकास, जीवन के अभिवर्धित कृत्रिमीकरण एवं यंत्रीकरण तथा ग्रामीण क्षेत्र के आसपास शहरी तत्वों का अंतवर्हन के कारण अति शहरीकरण धीरे-धीरे समुदाय के ग्रामीणवादी एवं परंपरावादी विशेषताओं का स्थान ले लेता है। मुम्बई एवं कोलकाता ऐसे ही शहरों के दो उदाहरण हैं।

MAADHYAM IAS

शहरीकरण : एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया

विदेशी एवं संकर-सांस्कृतिक प्रभावों को स्वीकारे जाने संबंधी अपनी उच्चतर मात्रा के लिहाज, शहर सामाजिक मानवकृतियाँ हैं और देहात से अलग स्थित होते हैं। ये विविध नृजातीय, भाषायी एवं धार्मिक पृष्ठभूमियों वाले लोगों का एक ऐसा मिलन स्थल स्थान-गलन-पात्र (melting pot) कहलाते हैं जहाँ विभिन्न किस्म के लोग या विचार धीरे-धीरे आपस में मिल जाते हैं। इस रोशनी में देखे जाने पर, शहरीकरण लोक, कृषक अथवा सामंती ग्राम समाजों की एक सामाजिक-सांस्कृतिक रूप-परिवर्तन प्रक्रिया है।

भारत का 600 ईसापूर्व से ही शहरीकरण का एक सतत इतिहास रहा है। इस काल में तीन प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं ने भारतीय शहरी समाजों की प्रकृति को रूपायित किया। ये हैं : अर्थीकरण, पारसीकरण एवं पश्चिमीकरण।

शहरीकरण के आर्थीकरण चरण में तीन प्रकार के शहरों का जन्म हुआ :

क) राजधानी शहर, जहाँ क्षत्रियों की धर्मनिरपेक्ष सत्ता प्रभावी थी;

ख) व्यापारिक शहर, जहाँ वैश्यों का प्रभाव था; और

ग) पवित्र शहर, जो कि एक समय बौद्ध एवं जैन धर्मावलंबियों के प्रभाव में रहे जोकि क्षत्रिय थे, और तत्पश्चात् ब्राह्मणों के प्रभाव में।

दसवीं शताब्दी ईस्वी से मुस्लिम शासन के सूत्रपात के साथ ही भारत में शहरी केंद्रों ने एक पूरी तरह नया सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। शहर इस्लाम धर्मावलंबी बन गया; फारसी और फिर उर्दू राज-काज की भाषा बन गई तथा फारसी संस्कृति ही शहरी अभिजात वर्ग के व्यवहार पर हावी रही।

भारत में 150 वर्षीय ब्रिटिश शासन का प्रभाव, यानी, पश्चिमीकरण आज शहर के विभिन्न पहलुओं में स्पष्ट देखा जा सकता है — प्रशासन में, शिक्षा में, और शहर के लोगों की सामाजिक अन्तःक्रिया की भाषा एवं उनकी वेशभूषा एवं तौर-तरीकों में। शहरवाद का पश्चिमीकरण से स्पष्ट तादात्म्य है।

सोचें और करें 25.1

अपने अनुभव के आधार पर बताएँ कि भारत में शहर/शहरों का वर्तमान सांस्कृतिक चरित्र क्या है। क्या आप सोचते हैं कि यह पश्चिमीकरण है जोकि प्रभावी सांस्कृतिक प्रभाव है अथवा कुछ अन्य प्रभाव हैं? इस पर एक टिप्पणी लिखें और अपने अध्ययन केंद्र में अपने साथियों से मिलाएँ।

MAADHYAM IAS achieve your dream

शहरीकरण : एक राजनीतिक-प्रशासनिक प्रक्रिया

अतीत में प्रशासनिक एवं राजनीतिक घटनाक्रम ने शहरीकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और यह क्रम आज भी प्रासंगिक है। लगभग पाँचवीं शती ईसापूर्व से 18वीं शती ईस्वी तक भारत में शहरी केंद्र राज्यों एवं साम्राज्यों के उत्थान-पतन के साथ ही उभरते, उतरते अथवा मिटते देखे गए। पाटिलीपुत्र, दिल्ली, मदुरै एवं गोलकुंडा, आदि सभी ऐसे ही उदाहरण हैं जो फले-फूले, बर्बाद हुए, और यदाकदा राजनीतिक परिदृश्य में परिवर्तनों के चलते फिर से आबाद भी हुए। प्रशासनिक अथवा राजनीतिक कारक शहरी विकास के लिए प्रायः एक प्रारंभिक प्रेरणा का काम करते हैं; जिसको कि तदोपरांत व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रियाकलापों की अभिवृद्धि से आगे बढ़ाया जाता है।

शहरीकरण : एक आर्थिक प्रक्रिया

आधुनिक युग में शहरीकरण अनिवार्यतः एक आर्थिक प्रक्रिया है। आज शहर उत्पादनवादी गतिविधियों का एक केंद्र-बिंदु बन चुका है। यह स्वयं में विद्यमान आर्थिक क्रियाकलापों की शक्ति पर ही कायम रहता और फलता-फूलता है। शहर में आर्थिक क्रियाकलाप का स्तर एवं स्वभाव ही विकास कारक होते हैं, जो कि आगे चलकर शहरीकरण को जन्म देते हैं।

शहरीकरण : एक भौगोलिक प्रक्रिया

शहरी क्षेत्रों में रहने वाली किसी देश की कुल जनसंख्या के अनुपात को आमतौर पर शहरीकरण के एक स्तर मापदण्ड के रूप में देखा जाता है। शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि

अंशतः जनसंख्या में स्वाभाविक वृद्धि के कारण और अंशतः ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे कस्बों/नगरों से प्रवसन के फलस्वरूप होती है। शहरीकरण के स्तर में बढ़ोत्तरी केवल ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों की ओर लोगों के प्रवसन से ही संभव है। अतः, प्रवसन अथवा लोगों के पास स्थान क़ा परिवर्तन शहरीकरण का एक आधारभूत क्रियाकलाप है। यह इस अर्थ में अनिवार्यतः एक भौगेलिक प्रक्रिया है कि इसमें लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन शामिल होता है।

शहरीकरण प्रक्रिया के प्रति प्रासंगिक लोगों के स्थानिक आवागमन के तीन प्रमुख प्रकार हैं। ये हैं :

क) लोगों का ग्रामीण क्षेत्रों से कस्बों एवं शहरों की ओर पलायन करना, जोकि समष्टि-शहरीकरण की ओर प्रवृत्त करता है।

ख) लोगों का छोटे नगरों एवं शहरों से बड़े शहरों एवं राजधानियों की ओर पलायन करना, जोकि महानगरीकरण की ओर ले जाता है। यह अनिवार्यतः राष्ट्रीय एवं राज्यीय राजधानियों में देश की प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों के केंद्रीकरण का परिणाम होता है। यह एक व्यवहार्य स्वतंत्र व्यवस्था में शहरों तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एवं शहरी केंद्रों के एकीकरण की उत्कट अन्तःक्रिया का भी परिणाम होता है।

ग) उप-शहरीकरण प्रक्रिया की ओर प्रवृत्त कस्ता महानगरीय जनसंख्या का परिधीय शहरी उपान्त ग्रामों में स्थानिक अतिप्रवाह। यह अनिवार्यतः महानगरीकरण की अधिवृद्धि है और यहाँ शहर से देहात की ओर लोगों का एक प्रति-प्रवाह देखा जाता है।

25.4 भारत में शहरीकरण

इस पाठांश में हम भारत में शहरीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पता लगाएँगे और देखेंगे कि शहरी स्थानों की वर्तमान अवस्था एवं शहरीकरण प्रक्रिया में इतिहास कितना असरकारी रहा। शहरीकरण एक बार में नहीं हो गया बल्कि इतिहास में समय-समय पर होता रहा क्योंकि समाज विभिन्न कालों में शहरीकृत हुए। यह एक चालू प्रक्रिया है और कभी नहीं रूकी और अपने आरंभ से शायद ही कभी धीमी पड़ी।

भारत में स्थानिक एवं अस्थायी विच्छिन्नताओं के साथ शहरीकरण का एक लम्बा इतिहास रहा है। सिंधु घाटी में शहरीकरण का प्रथम चरण 2350 ईसापूर्व हड़प्पा सभ्यता से जुड़ा हुआ है। मोहनजोदड़ों एवं हड़प्पा नामक दो शहर हड़प्पा संस्कृति में हुए शहरी विकास के चरमोत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह महान् शहरी सभ्यता 1500 ईसापूर्व समाप्त हो गई, संभवतः आर्यों के आगमन के पश्चात।

भारत में शहरीकरण का दूसरा दौर 600 ईसापूर्व शुरू हुआ। इस दौर के स्थापत्यविद उत्तर में आर्य और दक्षिण में द्रविड़ । इस कालावधि पश्चात्, लगभग 2500 वर्षों तक, भारत में शहरीकरण का कमोबेश सतत इतिहास रहा। इस काल में प्रारंभिक ऐतिहासिक शहरों का बनना देखा गया और संख्या एवं आकार में शहरों की वृद्धि भी, खासकर मौर्य एवं मौर्योत्तर काल में।

मुगल काल भारत में शहरीकरण की एक दूसरी खास पहचान रहा है (पहली पहचान मौर्य काल में बनी), जबकि भारत के अनेक शहर स्थापित हुए।

ब्रिटिश शासन के शुरुआती दौर में भारतीय शहरकीरण के स्तर में गिरावट देखी गई। इस काल में शहरों के पतन हेतु उत्तरदायी मुख्य कारण रहे :

1) भारत की सम्पन्नता एवं आर्थिक विकास में अंग्रेजों की ओर से रुचि का अभाव और

2) इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात।

ब्रिटिश शासन के उत्तरार्ध में भारतीय शहरों ने अपना कुछ विगत महत्व फिर से प्राप्त कर लिया; इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने अनेक नए नगरों एवं शहरों को जन्म दिया, जोकि विद्यमान शहरों में नवीनतर शहरी स्वरूपों को सामने लाने के अतिरिक्त थी।

भारतीय शहरी व्यवस्था के स्थायी घटकों में निम्नलिखित तत्व शामिल थे :

1) सामरिक-राजनीतिक नगर, जो समाज में पूँजी-प्रवाह अंतर्संबद्ध और प्रायः पुनर्वितरण प्रणाली हेतु एक केंद्र की भूमिका निभाता था; तथा

2) मंदिर अथवा पूर्ण विकसित मंदिर नगर।

विभिन्न कालों एवं क्षेत्रों के बीच व्याप्त वृहद् भिन्नताओं का विकसन इनसे जुड़ा था : (क) एक काफी केंद्रीकृत वंशानुक्रम की विद्यमानता का स्तर; (ख) दूरस्थ क्षेत्र वाले पृष्ठ प्रदेशों से जुड़े तटीय नगरों का तुलनात्मक महत्व; तथा (ग) अधिक राजनीतिक एवं व्यावसायिक नगरों से जुड़े मंदिर केंद्रों एवं तंत्रों का महत्व।

शहरीकरण पर ब्रिटिश प्रभाव के पहलू

डेढ़ सौ साल के अंग्रेजी शासन के दौरान भारत का शहरी परिदृश्य आमूलचूल परिवर्तन के दौर से गुजरा। अंग्रेजों का भारतीय शहरी परिदृश्य में योगदान मुख्य रूप से निम्न बिंदुओं में व्यक्त किया जा सकता है :

1) तीन महानगरीय बंदरगाह शहरों का उदय (कोलकाता, मुम्बई एवं चेन्नई) जो विश्व के अग्रणी उपनिवेश-शहरों के रूप में सामने आए।

2) हिल-स्टेशनों (शिमला, दार्जिलिंग, महावलेश्वर, आदि) तथा असम, केरल एवं अन्यत्र बागान बस्तियों का उदय।

3) सिविल लाइन्स एवं छावनियों की प्रस्थापना। सिविल लाइन्स में प्रशासनिक कार्यालयों एवं न्यायालयों के साथ-साथ अधिकारी वर्ग के लिए आवासीय क्षेत्र भी होते थे, जबकि छावनियाँ, सर्वाधिक प्रायिक रूप से, सुरक्षा की दृष्टि से प्रमुख नगरों के निकट बनाई जाती थीं।

4) रेलवे एवं आधुनिक उद्योग की शुरुआत जिसने नए औद्योगिक नगरों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया, जैसे जमशेदपुर, आसनसोल, धनबाद, इत्यादि; तथा

5) शहरी सुख-सुविधाओं एवं शहरी प्रशासन में सुधार।

ब्रिटिश काल में भारतीय शहर पश्चिमीकरण के केंद्र-बिंदु बन गए। विद्यालय एवं महाविद्यालय लड़के और लड़कियों को पश्चिमी विचारधारा एवं भाषाओं में प्रशिक्षित करते थे। एक नए पश्चिमोन्मुखी शहरी अभिजात वर्ग का उदय हुआ, जिसकी वेशभूषा, खानपान की आदतें एवं सामाजिक व्यवहार पश्चात्य मूल्यों एवं प्रवृत्तियों को ही प्रतिबिंबित करते थे। पश्चिमीकरण प्रक्रिया के साथ ही, शहरी अभिजात वर्ग का शहरी एवं ग्रामीण जनसामान्य वर्ग से एक सहगामी अन्यत्रभाव देखने में आया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में शहरीकरण

इस काल में, भारत में एक बड़े स्तर पर तेजी से शहरीकरण देखा गया, जोकि पहले कभी नहीं देखा गया था। स्वतंत्रताप्राप्ति पश्चात् भारत के शहरी परिदृश्य में निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन आए :

1) शरणार्थियों एवं उनकी बस्तियों का अंतर्वहन, मुख्यतः उत्तरी भारत के शहरी क्षेत्रों में।

2) नए प्रशासिनक शहरों का बनना, जैसे चंडीगढ़, भुवनेश्वर एवं गांधीनगर।

3) प्रमुख शहरों के निकट नए औद्योगिक शहरों एवं नगर-क्षेत्रों का बनना।

4) एक-लाख एवं मिलयन शहरों का तेजी से पनपना।

5) छोटे नगरों का मंदन एवं पतन।

6) गंदी बस्तियाँ (स्लम) एवं ग्रामीण-शहरी उपान्तों की व्यापक वृद्धि, तथा

7) नगर योजना का सूत्रपात एवं नागरिक सुख-सुविधओं में आम सुधार।

25.5 शहरीकरण के सिद्धांत

शहर शहरी समाजशास्त्र के केंद्र–बिंदु का निर्माण करता है। अन्य कई समाजशास्त्रीय श्रेणियों की ही भाँति, शहर भी आवासों एवं दुकानों जैसी मूर्त वस्तुओं एवं अनेक प्रकार्यों के संकलन वाली एक अमूर्त कल्पना है। किसी स्थान को सक्षम प्राधिकरण द्वारा एक शोषण के माध्यम से कानूनन शहर बना दिया जाता है। सोरोकिन एवं जिमरमन ऐसी आठ विशेषताएँ गिनाते हैं जिनमें शहरी जगत् ग्रामीण जगत् से भिन्न नजर आता है। ये हैं : (1) व्यवसाय, (2) पर्यावरण, (3) समुदाय का आकार, (4) जनसंख्या घनत्व, (5) विषमांगता, (6) सामाजिक विभेदन एवं स्तरीकरण, (7) गतिशीलता एवं (8) संक्रियाओं की प्रणाली।

शहरों का अध्ययन एक ऐसा विषय है जिसका अपने प्रसिद्ध द्वैदाशयों के साथ पूर्वकालीन श्रेष्ठ सामाजशास्त्र में, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पहले ही किया जा चुका है, जैसे मेन (1931) कृत प्रस्थिति एवं अनुबंध के बीच भेद तथा क्रूरता, बर्बरता एवं सभ्यता के बीच मॉगर्न (1877) कृत भेद। इस पहलू को और आगे टॉनी (1957) द्वारा बढ़ाया गया, जिसने जेमेंशाफ्ट (Gemeinschaft) (1964) द्वारा, जिसने "यांत्रिक" एवं "संघटित" भाईचारे के बीच भेद किया। टॉनी एवं दुर्खीम का मानना था कि जेमेंशाफ्ट प्रकार का सामाजिक संगठन, अर्थात् यांत्रिक भाईचारा, पूरी तरह शहरों में ही विकसित हुआ, विशेष रूप से आधुनिक शहरों में।

1920-1940 के दशकों में शिकागो विश्वविद्यालय से अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने विचार सामने रखे जोकि अनेक वर्षों तक शहरी समाजशास्त्र विषयक सिद्धांत एवं अनुसंधान हेतु मुख्य आधार बने रहे। शिकागो विद्यापीठ के दो सूत्र, जिन पर कि हम चर्चा करने जा रहे हैं, वर्थ द्वारा विकसित परिस्थितिकीय दृष्टिकोण एवं "एक जीवनशैलीस्वरूप शहरीकरण" दृष्टिकोण है।

लुई वर्थ - शहरीकरण : एक जीवनशैली स्वरूप

वर्थ शहरवाद के अध्ययन करने वाले पुरोधाओं में एक थे, और शहरवाद एवं शहरीकरण संबंधी संकल्पनाओं में भेद करने हेतु सर्वप्रथम क्रमबद्ध प्रयास उन्हीं का था। उनका सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धांत एक शहरी वातावरण में मानव व्यवहार का अन्वेषण करता है। उन्होंने बताया कि शहरों को परिभाषित करने में प्रमुख गुण-दोषों के रूप में माने जाने वाले, यथा आकार, घनत्व एवं विषमांगता, विशिष्ट व्यवहार-प्रतिमानों एवं नैतिक प्रवृत्तियों के प्रति सहायक होते हैं (वर्थ 1938)। उनके अनुसार, "शहर सामाजिक रूप से विषमांगी व्यक्तियों का एक अपेक्षाकृत वृहद्, सघन एवं स्थायी रुचि निवास-स्थान होता है।" शहरवाद गुण-दोषों का वह समूह है जो शहरों में जीवन की विशेषतासूचक शैली को रूपायित करता है। एक जीवनशैली के रूप में शहरवाद को तीन अंतर्संबद्ध पहलुओं से आनुभविक रूप से सुलभ किया जा सकता है :

(1) एक भौतिक संरचना के रूप में, जिसमें कि एक जनसंख्या आधार, एक प्रौद्योगिकी, एवं एक पारिस्थितिकीय व्यवस्था होती है; (2) सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में जिसमें एक विशेषतासूचक सामाजहिक ढाँचा, एक सामाजिक संस्थाओं की श्रृंखला, एवं एक सामाजिक संबंधों का एक विशिष्ट प्रतिमान शामिल होता है; तथा (3) अभिवृत्तियों एवं विचारों की एक श्रृंखला, एवं सामूहिक व्यवहार के विशिष्ट स्वरूपों में लिप्त एवं सामाजिक नियंत्रण की विशेषतासूचक कार्यप्रणालियों के अधीन एक व्यक्ति-समूह के रूप में।

लुई वर्थ ने शहरी समाज में प्रभावी दो प्रकार के बलों को दर्शाया है : पार्थक्य बल एवं कुठाली (melting pot) प्रभाव; जिसके अनेक एकरूपीकरण पहलू होते हैं, जैसे प्रशासन आदि की एकरूप व्यवस्था। तथापि, उनका कहना है कि शहरी समाज एक साधन-से-साध्य तर्क पर आधारित होता है, जोकि शोषणकारी होता है और जहाँ व्यक्ति गुमनामी के सहारे अलग-थलग पड़ जाता है। वर्थ का मानना है कि शहरों में जीवन की सघनता ने पड़ोस को जन्म दिया, जिनमें परंपरागत समुदायों के विशिष्ट अभिलक्षण होते हैं।

वर्थ का सिद्धांत इस मान्यता के लिहाज से महत्वपूर्ण है कि शहरवाद महज किसी समाज का हिस्सा नहीं होता, बल्कि वह व्यापक सामाजिक व्यवस्था को अभिव्यक्त एवं प्रभावित भी करता है। तथापि, वर्थ के अवलोकन अमेरिकी शहरों पर आधारित हैं, जोकि हर जगह शहरी केंद्रों के प्रति सामान्यीकृत हैं, जहाँ परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं।

पारिस्थितिक दृष्टिकोण

प्राकृतिक विज्ञानों में "पारिस्थितिकी" शब्द वनस्पति एवं जंतुओं के उस संबंध को समझने के लिए प्रयोग किया जाता है जोकि वे अपने पर्यावरण से रखते हैं। इसी प्रकार, यह शब्द शहरीकरण की प्रक्रिया को समझने में किया जाता है। जैसा कि रॉबर्ट पार्क, अर्नेस्कट बर्गिस एवं आमो ओली जैसे विद्वानों द्वारा किया गया है। परिस्थितिक दृष्टिकोण के विद्वानों का मानना है कि शहर यादृच्छिक रूप से नहीं वरन् क्रमबद्ध रूप से और उन अभिलक्षणों की प्रतिक्रिया स्वरूप पनपते हैं जोकि उसके प्रति लाभकारी होते हैं — नदियों के किनारे, प्राकृतिक संसाधनों के पास, व्यापार मार्गों के चौराहे पर, आदि। उन्हें लगता है कि प्रतिस्पर्धा, अतिक्रमण एवं अनुगमन प्रक्रिया के माध्यम से शहर "प्राकृतिक क्षेत्रों" में व्यवस्थित हो जाते हैं। शहरों में अवस्थापन, आवागमन एवं पुनर्वासन के प्रतिमान इसी प्रकार के सिद्धांतों का पालन करते हैं। ये विद्वान शहरों को विशिष्ट लक्षणों वाले क्षेत्रों के एक मानचित्र के रूप में देखते हैं। बर्गिस उन्हें सकेंद्र क्षेत्रों के रूप में देखते हैं — केंद्रीय व्यापार जिला (जहाँ लेन-देन, पुटकर, व्यापार एवं उनसे संबंधित कार्यकलापों का संकेंदण होता है); तथा बाहरी उपान्त के पारगमन क्षेत्र के रूप में में भी, जिन्हें वह अन्यत्रवासी क्षेत्र कहते हैं — अनुषांगिक नगर एवं उपनगर। अतिक्रमण एवं अनुगमन की प्रक्रिया इन्हीं हिस्सों में होती है।

इन सिद्धांतों के कुछ नियमों को भारत के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है, खासकर उपनगरों की वृद्धि के संदर्भ में, जैसे कि दिल्ली के बाहरी उपान्त क्षेत्र में गुड़गाँव, या फिर मुम्बई में उपगरों की वृद्धि, परंतु काफी हद तक यह सिद्धांत अमेरिकी शहरों पर आधारित है जोकि भिन्न विशेषताएँ रखते हैं। यह सिद्धांत भी शहरों में नियोजन एवं अभिकल्पन की भूमिका पर कम जोर देता है।

शहरवाद एवं उत्पन्न पर्यावरण : हार्वे एवं कैसल

अपेक्षाकृत नवीन सिद्धांतियों जैसे डैविड हार्वे एवं मानुएल कैसल ने इस बात पर जोर दिया है कि शहरवाद कोई स्वायत्त प्रक्रिया नहीं है, वरन् एक वृहत्तर राजनीतिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं एवं परिवर्तनों का हिस्सा मात्र है।

आधुनिक शहरवाद में, हार्वे बताते हैं, स्थान निरंतर पुनर्संरचित होता है। यह प्रक्रिया बड़े व्यापारिक समुदायों द्वारा निर्धारित की जाती है, जोकि यह निर्धारित करते हैं कि वे अपना व्यापार-केंद्र, कारखाने, आदि कहाँ खोलें, और सरकारों द्वारा समर्थित-नीतियों नियंत्रणों एवं पहलकारियों द्वारा, जोकि किसी शहर के भूदृश्य को बदल सकती है।

हार्वे की भाँति कैसल भी इस बात पर जोर देते हैं कि किसी शहर का स्थानीय स्वरूप समाज की वृहत्तर प्रक्रिया से काफी अधिक जुड़ा होता है। कैसल आगे विभिन्न समूहों के संघर्षों एवं कलहों का आयाम भी जोड़ते हैं जोकि शहरों को बनाते हैं। वह समलैंगिक समुदाय का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने सैन फ्रांसिस्को शहर के संरचना को पुनर्गठित किया है। उनका मानना है कि किसी शहर के स्वरूप को प्रभावित करने वाले केवल बड़े निगम, व्यापार एवं सरकार ही नहीं होते अपितु शहरों में रहने वाले समुदाय एवं समूह भी होते हैं।

हार्वे एवं कैसल का शहरीकरण एवं शहरी स्थिति संबंधी विश्लेषण एक महत्वपूर्ण आयाम जोड़ता है — किसी व्यवस्था की राजनीतिक अर्थव्यवस्था।

सोचें और करें 25.2

हार्वे एवं कैसल के अनुसार शहर का विशेष स्वरूप काफी कुछ नियमों, व्यापार-गृहों एवं सरकारों के राजनीतिक-आर्थिक विचारों से प्रभावित होता है।

इस कथन के समर्थन में भारतीय शहरों से उदाहरण दें।

भारतीय समाजशास्त्री : राव एवं बोस

एम.एस.ए. राव (1970) शहरीकरण और शहरवाद का विश्लेषण भारतीय समाज के वृहत्तर सामाजिक संरचनाओं को दिमाग में रखते हुए करते हैं। उनके अनुसार, शहरवाद एक विषमांगी प्रक्रिया है और इस प्रकार अनेक प्रकार के शहरीकरण को जन्म देते शहरवादों के अनेक रूप हो सकते हैं। राव का कहना है कि शहरों और गाँवों के बीच द्वैदाश्य गलत हैं क्योंकि दोनों के जाति एवं नातेदारी संबंधी समाज ही संरचना के अभिलक्षण होते हैं और दोनों एक ही सभ्यता के हिस्से होते हैं। इसके अतिरिक्त, शहरीकरण और पश्चिमीकरण तद्रूप नहीं हैं और उनमें अंतर अवश्य किया जाना चाहिए। शहरीकरण जाति एवं संयुक्त परिवार के परंपरागत संरचनाओं को ध्वस्त किए जाने की ओर प्रवृत्त नहीं करता है। शहरी वातावरण में परंपरागत एवं आधुनिक संरचना सहअस्तित्व रखते हैं क्योंकि वहां विभिन्न प्रकार के शहरवादों का अस्तित्व होता है — उत्तर-औद्योगिक, पूर्व-औद्योगिक, पाश्चात्य, इतर-पाश्चात्य, आदि। इसके अतिरिक्त, शहरीकरण को सामाजिक परिवर्तन के संबंध में देखा जाता है और उससे कोई वास्तविक सामाजिक कायांतरण नहीं जुड़ा होता है। तथापि, शहरीकरण के कारण सामाजिक संगठन एवं सम्मिलन के नए रूपों ने जन्म लिया है। इस प्रकार, राव के अनुसार, शहरीकरण एक जटिल बहुपक्षीय प्रक्रिया है जिसमें वैचारिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, जनसांख्यिकीय, तुलनात्मक, परंपरागत एवं समाजशासत्रीय तत्व होते हैं। राव शहर को शहरीकरण एवं शहरी जीवनशैली के एक केंद्र के रूप में परिभाषित करते हैं। शहरीकरण एक द्विमार्गी प्रक्रिया है। भारत में शहरीकरण कोई एकरूप प्रक्रिया नहीं है बल्कि विभिन्न प्रकार के शहरवादों को जन्म देती विभिन्न धुरियों पर दिखाई देती है, यथा प्रशासनिक, राजनीतिक, व्यापारिक, आर्थिक एवं शैक्षिक। ये विभिन्न धुरियाँ विभिन्न प्रकार के संपर्कों को जन्म देती है जो कि शहर ग्रामवासियों के साथ रखता है और शहरीकरण के विशिष्ट प्रस्तावों की ओर प्रवृत्त करता है।

MAADHYAM IAS

राव ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रकार की स्थितियों की पहचान करते हैं : एक औद्योगिक नगर के निकट गाँव, नगरों एवं शहरों में कार्यरत प्रवासियों की बड़ी संख्या वाले गाँव, तथा महानगरीय उपान्त पर बसे गाँव। राव का मानना है कि प्रवसन के अध्ययन के सहारे हम गाँवों एवं नगरों के बीच समानताओं, असमानताओं एवं सातत्य का अवलोकन कर सकते हैं। राव का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण शहरीकरण के अध्यन हेतु सर्वाधिक संपूर्ण दृष्टिकोण है क्योंकि वह उनकी उनके विभिन्न पहलुओं से जाँच करने का प्रयास करते हैं और इन पहलुओं को एक दूसरे से और शहरवाद एवं शहरीकरण संबंधी एक समाजशास्त्रीय बोध से जोड़ते हैं।

आशिष बोस का जनसांख्यिकीय वर्गीकरण शहरीकरण को परिभाषित करने में गुणात्मक कारकों की बजाय जनांकको जैसे मात्रात्मक कारकों पर जोर देते हैं। उनके अनुसार, शहरीकरण, जनांककीय या जनसांख्यिकीय अर्थ में, एक समयावधि में कुल जनसंख्या (T) के अनुपात में शहरी जनसंख्या (U) की वृद्धि है। जितना इनका अनुपात (U/T) बढ़ता है उतना ही शहरीकरण होता है। शहरीकरण एक सतत प्रक्रिया है जो कि महज औद्योगीकरण की सहवर्ती नहीं होती बल्कि आर्थिक वृद्धि एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में निहित समस्या कारक समूह की सहगामी होती है।

बोस भारत में शहरीकरण के विशेषतासूचक अभिलक्षणों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने शहरीकरण की प्रतिशतता के लिहाज से एक दशक-वार विभेदीकरण प्रस्तुत किया। यहाँ शहरीकरण प्रवसन में प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित होता है। वह प्रवसन के भगव (push-back) और उलटाव (turn-over) कारकों की पहचान करते हैं। उन्होंने शहरों की वृद्धि को प्रभावित करते चार परवर्ती माने हैं :

क) कुल शहरी जनसंख्या और नए नगरों का अनुपात

ख) कुल जनसंख्या और अवर्गीकृत नगरों का अनुपात

ग) कुल जनसंख्या और ह्रासमान नगरों का अनुपात

घ) कुल जनसंख्या और तीव्र गति से बढ़ते नगरों का अनुपात

इनको संयोजित किए जाने पर ही भारत में शहरीकरण प्रक्रिया का विश्लेषण करना संभव होगा। बोस ने नगरों और शहरों संबंधी संकल्पनाओं को अदल-बदल कर प्रयोग किया।

25.6 भारत में शहरीकरण के सामाजिक प्रभाव

वृहत्तर सामाजिक प्रक्रिया एवं संरचनाओं पर शहरीकरण के दूरगामी प्रभाव होते हैं। आइए, आगामी पाठांशों में इनमें से कुछ परिवर्तनों एवं प्रभावों पर नजर डालें :

परिवार एवं नातेदारी

शहरीकरण न सिर्फ पारिवारिक संरचना को ही बल्कि अंतः एवं अंतर पारिवारिक संबंधों के साथ-साथ उन प्रकार्यों को भी प्रभावित करता है जो परिवार निष्पादित करता है। शहरीकरण के साथ ही समुदाय के बंधनों में शिथिलता आ जाती है और प्रवासी के सामने दो समस्याएँ आती हैं — पुराने संबंधों के स्थान पर नए संबंधों को रखने की ओर पीछे छोड़े गए संबंधों को बनाए रखने के लिए कोई संतोषजनक साधन खोजने की। आई.पी. देसाई, कपाड़िया एवं एलीन रॉस जैसे विद्वानों द्वारा करवाए गए शहरी परिवारों संबंधी अनेक अनुभवजन्य अध्ययनों में बताया गया है कि शहरी संयुक्त परिवार के स्थान पर क्रमशः एकाकी परिवार आ रहे हैं, परिवार का आकार घट रहा है, और नातेदारी संबंध दो अथवा तीन पीढ़ियों तक ही सीमित रह गए हैं। गुजरात स्थित महुवा नगर में 423 परिवारों संबंधी अपने अध्ययन में आई.पी. देसाई (1964) ने दर्शाया है कि यद्यपि शहरी

परिवार की संरचना बदल रही है, परिवारों में व्यक्तिवाद अथवा स्वार्थ का भाव नहीं बढ़ रहा है। उन्होंने पाया कि 75 प्रतिशत परिवार आवासीय रूप से एकाकी थे परंतु कार्यात्मक रूप से एवं संपत्ति में संयुक्त थे, 21 प्रतिशत आवास एवं कार्यात्मकता के साथ-साथ संपत्ति में भी संयुक्त थे और 5 प्रतिशत परिवार ही सर्वथा एकाकी थे।

कपाड़िया (1959) ने गुजरात स्थित ग्रामीण एवं शहरी (नवसरी) क्षेत्रों में 1,162 परिवारों संबंधी अध्ययन में पाया कि जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में, प्रत्येक दो एकाकी परिवारों की तुलना में तीन संयुक्त परिवार थे; शहरी क्षेत्रों में एकाकी परिवार संयुक्त परिवारों के मुकाबले 10 प्रतिशत अधिक थे।

एलीन रॉस (1962) ने बंगलौर में मध्यम एवं उच्च वर्गों से संबंध रखने वाले 157 हिंदू परिवारों संबंधी अपने अध्ययन में पाया कि :

1) लगभग 60 प्रतिशत परिवार एकाकी हैं।

2) रुझान आजकल परंपरागत संयुक्त परिवार स्वरूप से हटकर एकाकी परिवार इकाई के स्वरूप में तब्दील होने की है।

3) लघु संयुक्त परिवार अब शहरी भारत में पारिवारिक जीवन का सर्वाधिक अभिलक्षक स्वरूप है।

4) दूर के नातेदारों से संबंध फीके पड़ रहे अथवा टूट रहे हैं।

यद्यपि अंतःपारिवारिक एवं अंतर्पारिवारिक संबंध बदल रहे हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि छोटे अब बड़ों का सम्मान नहीं करते, अथवा बच्चे अपने माता-पिता अथवा भाई-बहनों का कहना नहीं मानते, या फिर पत्नियाँ अपने पतियों की सत्ता को चुनौती देती हैं। एक खास बदलाव यह आया है कि "पति-प्रधान" परिवार के स्थान पर "समतावादी परिवार" आ रहा है जहाँ निर्णयन् प्रक्रिया में पत्नी को समान भागीदारी निभाने दी जाती है। आई.पी. देसाई का कहना है कि "नई और पुरानी पीढ़ियों के बीच तनावों के बावजूद अपने परिवारों के प्रति बच्चों का लगाव किंचित ही कम हो।"

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सिलविया वटुक का कहना है कि पारिवारिक "संयुक्तता" का आदर्श अलग रहने के बावजूद अब भी कायम है। विस्तारित परिवार एक औपचारिक इकाई के रूप में काम करता है और पैतृक विस्तारित परिवार के सदस्यों के साथ गहरे संबंध भी कायम रखे जाते हैं! साथ ही, उसी अथवा बिल्कुल निकटवर्ती मुहल्लों के भीतर द्विपक्षीय अथवा वैवाहिक रूप से संबद्ध परिवार-समूहों समेत वृहत्तर नातेदारी समूह होते हैं। शहरी क्षेत्रों में द्विपक्षीय नातेदारी की दिशा में एक प्रवृत्ति देखी जाती है। 1974-1976 में रायपुर संबंधी अपने अध्ययन में वटुक बताती हैं कि वैवाहिक बंधन के वैयक्तिकरण और देवर अधिकार विधवा उत्तराधिकार, विधवा पुनर्विविह, विनिमय द्वारा विवाह, बहुविवाह आदि प्रथाओं के अपकर्ष की ओर रुझान बढ़ रहा है। शहरीकरण का प्रभाव व्यवहार संबंधी बढ़ते हुए समांगीकृत मूल्यों के शहरी प्रतिमान में भी देखा जाता है।

इस प्रकार, शहरी भारत में परिवार संरचना का क्रमिक हेर-फेर हो रहा है, जैसे परिवार का घटता आकार, परिवार के प्रकार्यों में कमी, दाम्पत्य संबंध पर जोर, आदि। नातेदारी शहरों में सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है और एक ओर संयुक्त परिवार व दूसरी ओर औद्योगिक एवं शहरी जीवन की वांछनीयताओं के बीच संरचनात्मक सामंजस्य देखा जाता है। चेन्नई में उल्लेखनीय व्यापार पुरोधाओं के उन्नीस परिवारों संबंधी अपने अध्ययन में मिल्टन सिंगर (1968) दावा करते हैं कि परंपरागत भारतीय संयुक्त परिवार का एक किंचित परिवर्तित रूप शहरी और औद्योगिक परिवेश से सामंजस्य रखता है।

शहरीकरण और जाति

आमतौर पर यह माना जाता है कि जाति एक ग्रामीण दृश्यघटना है जबकि वर्ग शहरी है, और चूँकि यह शहरीकरण से जुड़ी होती है, जाति स्वयं को वर्ग में बदल लेती है। परंतु उल्लेखनीय है कि जाति व्यवस्था शहरों में भी उतना ही अस्तित्व रखती है जितना कि गाँवों में, हालाँकि उनमें अर्थपूर्ण संगठनात्मक भेद भी है।

जाति पहचान शहरीकरण, शिक्षा एवं एक अनुस्थापन विकसित होने के साथ ही धूमिल पड़ने लगती है, जोकि वैयक्तिक उपलब्धियों एवं आधुनिक प्रतिष्ठा प्रतीकों की दिशा में होता है। आन्द्रे बेटिली (1966) ने लिखा है कि पश्चिमी अभिजात वर्ग के बीच वर्ग-बंधन जाति-बंधन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

वर्तमान में उल्लेखनीय परिवर्तन है — उपजाति संलयन एवं जाति संलयन। कोलेंद (1984) ने तीन प्रकार के संलयनों की पहचान की है : (i) शहर में रोज़गार में रहते और नए पड़ोस में विभिन्न जातियों और विभिन्न उपजातियों के लोग मिलते हैं; (ii) अन्तरोपजाति विवाह होते हैं जो उपजातियों के संलयन को बढ़ावा देते हैं; और (iii) लोकतांत्रिक राजनीति भी उपजातियों के संलयन को जन्म देती है।

श्रीनिवास (1962), घुरे (1962), गोरे (1970), डी-सूजा (1974) व राव (1974) जैसे अनेक समाजशास्त्रियों के अध्ययनों में दर्शाया है कि जाति-व्यवस्था शहरी राजनीतिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में निरंतर कायम रहती है और अपना प्रभाव छोड़ती रहती है, वैसे कुछ अन्य क्षेत्रों में इसका स्वरूप बदल चुका है। जाति-बंधुता शहरी क्षेत्रों में इतनी सशक्त नहीं है जितनी कि ग्रामीण क्षेत्रों में। शहरों में जाति पंचायतें बहुत कमजोर स्थिति में हैं। वहाँ कार्यस्थल और घरेलू स्थिति के बीच द्वैदाश्य होता है और जाति एवं वर्ग दोनों अवस्थाएँ सहअस्तित्व रखती हैं।

सत्ता-वितरण में परिवर्तन के लिहाज से, हम पाते हैं कि ब्रिटिश-पूर्व भारत में उच्च जाति को उच्च वर्ग का दर्जा भी था। परंतु शिक्षा एवं नए प्रकार के व्यवसायों के साथ ही, जाति एवं वर्ग का यह सहसंबंध अब सत्य नहीं रहा है। बेटली (1970) बताते हैं कि उच्च जाति का निहितार्थ हमेशा ही उच्च वर्ग नहीं होता। यह द्वैदाश्य सर्वाधिक रूप से भारतीय शहरों में पाया जाता है जहाँ नए रोजगार अवसर पैदा हुए हैं।

जाति संघ की स्थापना पुनः जाति-व्यवस्था की अत्यावश्यकता को उजागर करती है। जाति पहचान की सबसे सशक्त भूमिका समकालीन राजनीति में दिखाई पड़ती है, जोकि सत्ता आयाम को नियंत्रित करती है। जाति ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में एक "वोट बैंक " के रूप में काम करती है, और इसी वजह से वह शहरी क्षेत्रों में फिर से सिर उठा रही है। जाति संघों अथवा संस्थाओं जैसे कर्मचारी संघों को संगठित करने हेतु एक आधार भी बन जाती है, जोकि ऐसे हितसमूहों के रूप में काम करती है जो उसके जाति-सदस्यों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करते हैं।

जातीय विचारधारा से जुड़े व्यवहार संबंधी कुछ पहलू अब शहरी संदर्भ में समाप्त प्रायः हो रहे हैं। जातियों के बीच सहभोजिता, अथवा परस्पर भोजन के नियमों का शहरों में किंचित ही अर्थ रह गया है। अंतर्जातीय एवं अंतर्क्षेत्रीय विवाहों की प्राधिकता बढ़ी है।

शहरी वास-स्थानों में पड़ोस संक्रिया अनौपचारिकता की उच्च अवस्था से पहचानी जाती है तथा जाति व नातेदारी इस प्रकार की भागीदारी के प्रमुख आधार होते हैं। आगरा में एक अछूत जाति, जाटवों, संबंधी लिंच (1967) का अध्ययन दर्शाता है कि जाटवों का एक सुसंबद्ध मौहल्ला (नगर का हलका) संगठन होता था जो कई लिहाज से ग्राम समुदाय की तरह होता था। अहमदाबाद शहर में दो जाति-हलकों संबंधी दोषी (1968) का अध्ययन भी परंपरागत सामुदायिक संगठन की ओर संकेत करता है।

महिलाएँ ग्रामीण-शहरी प्रवासियों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होती हैं। वे विवाह के समय प्रवास करती हैं और उस वक्त भी जब वे गंतव्य स्थल पर संभाव्य कर्मी हों (राव)। जबकि मध्यवर्गीय महिलाएँ सफेद-पोश नौकरियों एवं व्यवसायों में लग जाती हैं, निम्न वर्गीय महिलाएँ अनौपचारिक क्षेत्र में काम तलाश लेती हैं। महिलाएँ उद्योग-श्रमिकों के रूप में औपचारिक क्षेत्र में भी पाई जाती हैं।

एक पितृप्रधान सामाजिक व्यवस्था में तीव्र औद्योगीकरण बलों के घातक आक्रमण ने लोगों को विशेष कौशल अर्जित कर श्रम-बाजार हेतु अर्हता प्राप्त कर लेने के लिहाज से स्थान-परिवर्तन की ओर प्रवृत्त किया। महिलाएँ परंपरागत रूप से अनौपचारिक एवं पारिवारिक परिवेश की ओर पदावनत हो गईं।

परंतु शहरीकरण में वृद्धि के फलस्वरूप महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक जीवन में अनेक सकारात्मक घटनाएँ हुई हैं। उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या में महिलाओं ने सफेद-पोश नौकरियाँ ली हैं और भिन्न-भिन्न व्यवसायों में गई हैं। ये व्यवसाय महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक प्रस्थिति में बढ़ोत्तरी करने में कारगर रहे हैं, जिसका परिणाम रहा — काम के बढ़े कष्टदाई घंटे, बढ़ी स्वायत्तता के साथ व्यावसायिक निष्ठा, आदि। परंपरागत एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ वहीं रहते हुए भी, मूल्यों का अभाव एवं प्रतिमानों का संभ्रम अंततः परिणाम हुए हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से प्रबुद्ध महिला को दोहरी भूमिकाएँ निभाने पर बाध्य किया जाता है — सामाजिक एवं व्यावसायिक भूमिकाएँ गोरे (1968), कपूर (1970), रॉस (1983)।

भारत के शहरों में, लड़कियों के बीच उच्च स्तरीय शिक्षा सार्थक रूप से छोटे पारिवारिक आकार से जुड़ी है। यद्यपि नारी-शिक्षा में बढ़ोत्तरी हुई है और विवाहयोग्य आयु ने जन्मदर घटा दी है, यह भय दहेज योजित विवाहों के परंपरागत प्रतिमानों में कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं लाई है। मार्गेरेट कॉर्मैक (1961) ने 500 विश्वविद्यालयी छात्रों संबंधी अपने अध्ययन में पाया कि लड़कियाँ कॉलेज जाने को तैयार होती थीं और लड़कों से मिलती-जुलती थीं परंतु वे चाहती थीं कि उनका विवाह उनके माता-पिता ही तय करें। महिलाएँ अवसर तो चाहती हैं परंतु पुरानी सुरक्षाएँ भी चाहती हैं।

शहरी महिलाओं की प्रस्थिति, चूँकि वे अपेक्षाकृत शिक्षित और उदारचरित होती हैं, ग्रामीण महिलाओं से ऊंची है। तथापि, श्रम-बाजार में महिलाएँ अब भी अलाभांवित दशा में ही हैं। डीसूजा (1963) ने उस मनोवैज्ञानिक, घरेलू एवं सामाजिक समस्याओं को उजागर किया है जिससे उन्हें जूझना होता है।

सोचें और करें 25.3

जबकि शहरों में महिलाओं के पास रोजगार पाने के अधिक अवसर होते हैं, सफेद-पोश कमर्चारियों के रूप में भी और असंगठित क्षेत्र में भी, वे ग्रामीण महिलाओं की अपेक्षा असुरक्षाओं से घिरी रहती हैं।

शहरों में कामकाजी महिलाओं, संगठित एवं असंगठित दोनों क्षेत्रों के विषय में पता लगाएँ कि ये अतिरिक्त अलाभ और असुरक्षाएँ क्या हैं।

इस प्रकार, जबकि ग्रामीण महिलाएँ आर्थिक एवं सामाजिक दोनों रूप से पुरुषों पर अब भी निर्भर हैं, शहरी महिलाएँ तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र हैं और अधिक आजादी का उपभोग करती हैं।

MAADHYAM IAS

शहरीकरण और ग्रामीण जीवन

शहरी केंद्रों की ओर प्रवसन के माध्यम से शहरीकरण एक विश्वव्यापी दृश्यघटना है। अनेक लोग शहरों की ओर पलायन इसलिए करते हैं कि वहाँ नौकरियाँ उपलब्ध होती हैं। प्रवासन ग्रामवासियों के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करती एक सतत प्रक्रिया बन गया है। राव (1974) ने एक महानगरीय उपान्त गाँव (यादवपुर) में सामाजिक परिवर्तनों की जाँच की। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में शहरीकरण से जन्मी तीन प्रकार की दशाओं की पहचान की है :

1) गाँवों में, जहाँ से लोग बड़ी संख्या में दूरवर्ती शहरों में रोजगार की तलाश में गए हों, शहरी रोजगार एक सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है।

2) नगरों और शहरों में कार्यरत बड़ी संख्या में प्रवासियों वाले किसी औद्योगिक नगर के निकट स्थित गाँवों में आवास, खरीद-फरोख्त एवं सामाजिक व्यवस्था संबंधी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

3) महानगरीय शहरों की वृद्धि आसपास के गाँवों पर एक तीसरे प्रकार के शहरी प्रभाव को बतलाती है। जैसे-जैसे शहर विस्तीर्ण होता है, कुछ गाँव शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण अंचलों का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार, ग्रामवासी शहर के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक गतिविधियों में सीधे भागीदारी निभाते हैं।

श्रीनिवास (1962) ने गाँवों पर औद्योगीकरण एवं शहरीकरण दोनों के सामान्य प्रभाव को उकेरा है। उन्होंने दर्शाया है कि किस प्रकार सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्र शहरी प्रभुत्व से प्रभावित हो रहे हैं। वह बताते हैं कि दक्षिण भारत में प्रवसन में एक जाति घटक शामिल था, क्योंकि ब्राह्मणों ने ही सबसे पहले अपने गाँवों को छोड़कर नगरों में जाना शुरू किया तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं आधुनिक व्यवसायों का लाभ उठाया। साथ ही, चूँकि उन्होंने पैतृक जमीनें अपने पास ही रखीं, वे ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक तदानुक्रम में शीर्ष पर ही रहे। पुनः, शहरी क्षेत्रों में उनका सभी इतर-हस्तकृत पदों पर प्रायः एकाधिकार था।

होमस्ट्रॉम (1969) ने एक चुनाव के संदर्भ में बंगलौर कॉर्पोरेशन के भीतर एक ग्रामीण अंचल में नेताओं के राजनीतिक तंत्र का विश्लेषण किया। लखनऊ के निकट मोहाना गाँव संबंधी अपने अध्ययन में मजूमदार (1958) ने लिखा है कि ग्राम अर्थव्यवस्था शहरी बाजार से प्रभावित होती है, हालाँकि यह अप्रत्यक्ष तरीके से होता है। उत्तर प्रदेश में एक गाँव संबंधी अपने अध्ययन में ईम्स (1954) ने उत्तर प्रदेश के एक गांव के अपने अध्ययन में दर्शाया है कि अनेक उत्प्रवासी अपने परिवारों को पीछे छोड़ आए हैं, और नियमित रूप से उन्हें पैसा भेजते रहते हैं। इस प्रकार की "अनार्दश अर्थव्यवस्था" ने आश्रितों को अपने ऋणों को चुकाने, घर बनाने एवं अपने बच्चों को शिक्षा दिलवाने में सक्षम बनाया है।

आर.डी. लैम्बर्ट (1962) ग्राम्य जीवन पर शहरी समाज के प्रभाव से संबंधित अध्ययनों से जुड़ी अपनी विस्तृत समीक्षा में ग्रामीण जीवन पर शहरी प्रभुत्व के विभिन्न सोपानों की ओर संकेत करते हैं। सामाजिक परिवर्तन उन क्षेत्रों में अधिकतम होता है जहाँ शहरीकरण के कारण विस्थापन आकस्मिक एवं यथेष्ठ होता है।

इस प्रकार, प्रवसन शहरीकरण की वृद्धि में निहित एक मुख्य प्रक्रिया है। एक यांत्रिक प्रक्रिया होने के अलावा, यह आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों द्वारा नियंत्रित होती है। यह संस्कृति संपर्क शहरी क्षेत्रों में परस्पर क्रिया से जुड़ी प्रक्रियाओं एवं सामाजिक सामंजस्य के विभिन्न तरीकों की शुरुआत करता है। कृषि के व्यापारीकरण के चलते प्रवसन ने एक विशेष महत्व पा लिया है; शहरीकरण, मलिन बस्तियाँ एवं सामाजिक परिवर्तन हेतु इसके महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं; मूल स्थान पर इसके उल्लेखनीय प्रत्युत्तर

प्रभाव होते हैं क्योंकि प्रवासी विभिन्न प्रकारों एवं सोपानों को कायम रखते हैं, तदनुसार ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के बीच निरंतरता बढ़ती है। अनेक सांस्कृतिक विशेषताएँ एक दूसरे से संलयित रहती हैं। साथ ही, नए विचार एवं विचारधाराएँ भी शहरों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर संलयित होती हैं, जिसका कारण है — रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र, आदि के माध्यम से संचार में उन्नति।

शहरी राजनीति

राव (1974) ने शहरी प्रसंग में राजनीतिक संस्थाओं, संगठनों एवं प्रक्रियाओं संबंधी अध्ययन में चार समस्या क्षेत्रों की पहचान की है : (1) औपचारिक राजनीतिक संरचना, (2) अनौपचारिक राजनीतिक संगठन, (3) लघु नगर राजनीति, एवं (4) हिंसा।

औपचारिक राजनीतिक संरचना, नगर-निगम अथवा पालिका सरकार वहीं होती हैं जहाँ राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं स्थानीय राजनीतिक दल सत्ता-पदों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। "मद्रास में जनवादी सरकार" विषयक लॉयड रुडोल्फ (1961) का निबंध मद्रास नगरपालिका में सत्तार्थ संघर्ष का खाका खींचता है और डी.एम.के., एक क्षेत्रीय राजनीतिक दल के निर्णायक प्रभुत्व को दर्शाता है। यह ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन और पार्टी द्वारा अर्जित जनवादी समर्थन के प्रसंग में दल के नेताओं द्वारा प्रयुक्त नियंत्रण को भी प्रकाश में लाता है। यह अध्ययन शहरीकरण एवं बदलते सत्ता-संरचना के बीच संबंध को स्पष्ट दर्शाता है।

औपचारिक सत्ता-संरचनाओं के अलावा, अनौपचारिक राजनीतिक संगठन जातीय, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक समूहों, तथा व्यावसायिक वर्गों के माध्यम से काम करते हैं। इस प्रकार बने संघों को उस सीमा तक राजनीतिक आयाम ले लेने की आवश्यकता होती है जहाँ तक कि वे दबाव समूहों के रूप में काम करते हैं, और कुछ मामलों में वे संगठित राजनीतिक दलों का हिस्सा भी बन जाते हैं। अस्पृश्यता की राजनीति (Politics of untouchebility) संबंधी लिंच (1968) के अध्ययन में उन प्रक्रियाओं का वर्णन है जिनके द्वारा आगरा शहर में जाटव एक राजनीतिक रूप से व्यवहार्य वर्ग बन गया। उल्लेखनीय है कि वे शहर, राज्य एवं राष्ट्रीय स्तरों पर सत्ता-पद हेतु प्रतिस्पर्धा करने के लिए रिपब्लिकन पार्टी का हिस्सा बनते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

शहरी प्रसंग में राजनीति का एक तीसरा पहलू लघु-नगर राजनीति की ओर संकेत करता है, जहाँ अभिजात वर्ग, गुट अथवा नृजातीय समूह सत्ता-संरचना को समझने में राजनीतिक दलों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। नृजातीय समूह राजनीतिकृत हो जाते हैं और "वोट बैंकों" व अपने हितों को व्यक्त करते हित-समूहों के रूप में काम करते हैं, तथा शहरी जीवन के विभिन्न लाभों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। यह नृजातीय समूहों के बीच और प्रवासी नृजातीय समूहों एवं स्थानीय लोगों के बीच एक संघर्ष की स्थिति में परिणत होता है। मध्य प्रदेश स्थित देवास में नगर-निगम चुनावों संबंधी अपने अध्ययन में ए.सी. मेयर (1953) ने प्रभावशाली नेताओं के ताने-बानों और "कार्रवाई समूहों" का विश्लेषण किया। आर.जी. फॉक्स (1969) ने दर्शाया कि उत्तर प्रदेश स्थित एक छोटे से नगर में राजनीति को एक मुस्लिम-बनिया संघर्ष अभिलक्षित करता है। वहाँ सत्ता मुस्लिम जमींदारों से उद्यमी बनियों (व्यापारियों) को हस्तांतरित हुई है।

शहरी राजनीति का एक अन्य महत्वपूर्ण अभिलक्षण है हिंसा, जो सांप्रदायिक संघर्ष, राजनीतिक अशांति, छात्रों की हड़ताल एवं क्षेत्रीय सेनाओं, जैसे मुम्बई में शिव सेना, से जन्म लेती है। शहरी हिंसा की इन समस्याओं के अलावा, टॉगरी (1962) एवं कोठारी (1970) ने शहरीकरण के राजनीतिक निहितार्थों की ओर ध्यान खींचा है। विभिन्न संघर्ष पूर्व स्थितियाँ शहरीकरण में वृद्धि के कारण पैदा हुई हैं, जैसे बेरोजगारी और मलिन बस्तियाँ जो राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ाती हैं।

ओवन एम. लिंच (1980) ने बम्बई की एक मलिन बस्ती में आदि द्रविड़ों के बीच राजनीतिक लामबंदी एवं नृजातीयता का अध्ययन किया, जोकि दक्षिण भारत से आयी एक निचले दर्जे की जाति है और जो बम्बई से आए हैं। यहाँ विभिन्न राजनीतिक दल अपने वोट बटोरने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। एक दल उन्हें अखिल भारतीय स्तर पर "अछूतों" के रूप में पहचान प्रदान किए जाने का आह्वान करता है तो दूसरा दल उन्हें अपने दक्षिण भारतीय मूल का होने को याद रखने की हिदायत देता है।

25.7 शहरीकरण की समस्याएँ

भारत में शहरीकरण के प्रतिमानों को क्षेत्रीय एवं अंतर्राज्यीय विविधताओं, बड़े पैमाने पर ग्रामीण से शहरी प्रवसन, अपर्याप्त प्राथमिक सुविधाओं, मलिन बस्तियों की बढ़वार, तथा इनसे जुड़ी अन्य समस्याओं द्वारा इंगित किया जाता है। भारत के विभिन्न भागों में सामने आने वाली शहरीकरण की कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ इस प्रकार हैं :

आवास और मलिन बस्तियाँ

शहरी क्षेत्रों में आवास का बेहद अभाव होता है और काफी उपलब्ध वास-स्थान गुणात्मक रूप से घटिया दर्जे का होता है। यह समस्या उत्तरोत्तर बद से बदतर रूप लेती जा रही है, जिसके कारण हैं — जनसंख्या वृद्धि, शहरीकरण की तीव्र दर और आवासीय जनसमूहों में आनुपातिक रूप से अपर्याप्त वृद्धि। लाखों लोग इतना अधिक किराया देते हैं कि जो उनके बूते से बाहर होता है। हमारी लाभोन्मुखी अर्थव्यवस्था में निजी विकासक (डिवैलॅपर) और कॉलोनाइज़र गरीबों और निम्न मध्य वर्गीय लोगों के लिए शहरों में मकान/भवन बनाने में कम लाभ देखते हैं, अतः वे अमीरों की आवासीय आवश्यकताओं को पूरा करने पर ध्यान केंद्रित करते हैं क्योंकि उसमें उन्हें अधिक पैसा दिखाई पड़ता है।

शहरी क्षेत्रों की ओर बड़े पैमाने पर प्रवसन के चलते अनेक लोगों को लगता है कि उनके पास एकमात्र विकल्प मलिन-बस्तियों की निकृष्ट दशाओं में रहना ही है। मलिन यानी गंदी बस्तियों की पहचान होती है — घटिया आवास, अति-संकुलन, तथा बिजली, संवातन, सफाई प्रबंध, सड़कों व पेय जल, आदि सुविधाओं का अभाव। वे रोगों, पर्यावरण प्रदूषण, नैतिक पतन एवं अनेक सामाजिक तनावों की जन्म स्थली बन जाते हैं।

वर्तमान में, भारत की लगभग 40% मलिन-बस्ती जनसंख्या शहरवार इस प्रकार है — दिल्ली : अपनी जनसंख्या का 44%, मुम्बई 45%, कोलकाता 42% और चेन्नई 30%।

अति संकुलन

मुम्बई, कोलकाता, पुणे एवं कानपुर जैसे भारत के प्रमुख शहरों में 85% से 90% के बीच घरों के लोग एक अथवा दो कमरों में रहते हैं। कुछ घरों में तो एक कमरे में पाँच से छह लोग तक रहते हैं। अति संकुलन विसामान्य व्यवहार को बढ़ावा देता है, रोग फैलता है और मानसिक रुग्णता, मादक पेय सेवन एवं दंगों हेतु दशाओं को जन्म देता है। सघन शहरी जीवन का एक प्रभाव है — लोगों की उदासीनता एवं महत्वहीनता।

ऑस्कर लेविस कृत कल्चर ऑफ पॉवर्टी (1965) विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में गरीबों के व्यवहार का एक प्रतिमान विकसित करने हेतु प्रयास था। यह जीवन का एक विशिष्ट तरीका है जो कि आर्थिक वंचना एवं असमानता के परिणाम स्वरूप पूँजीवादी समाजों में निम्नतम प्रस्तर पर विकसित होता है। एकबार गरीबी के अनुकूल हो जाने पर लोग शुरुआत में आर्थिक बंचना के फलस्वरूप जन्मी अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों को समाजीकरण के माध्यम से आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचा देते हैं।

भारत में किसी भी शहर में चौबीसों घंटे पानी की आपूर्ति नहीं होती है। सविराम आपूर्ति का परिणाम होता है पानी के खाली पाइपों में बनने वाला निर्वात जो कि प्रायः सुराखदार जोड़ों से संदूषकों को अवशोषित कर लेता है। अनेक छोटे नगरों में मुख्य जलपूर्ति बिल्कुल है ही नहीं और वे कुँओं पर निर्भर हैं। अपवहन की स्थिति भी इसी प्रकार खराब है। अपवहन व्यवस्था के न होने से गर्मियों में भी शहर में बड़े-बड़े गड्ढों में पानी भरा देखा जा सकता है।

भारतीय शहरों में कूड़ा-कर्कट को उठाना, नालियाँ साफ करना और सीवरों का अनावरुद्ध करना नगर-निगमों और नगरपालिकाओं के मुख्य काम होते हैं। शहरों की मूल स्वास्थ्यरक्षा आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु प्रेरणा का सर्वथा अभाव है। तंग शहरी क्षेत्रों में मलिन बस्तियों का फैलाव और इन बस्तियों में निवासियों के बीच नागरिक भावना (सिविल सैन्स) का अभाव गंदगी के बढ़ते ढेरों और बीमारियों को और अधिक बढ़ाता है।

परिवहन और यातायात

यातायात एवं परिवहन हेतु नियोजित एवं पर्याप्त व्यवस्थाओं का अभाव भारत स्थित शहरी केंद्रों में एक अन्य समस्या है। अधिकांश लोग बसों और टेम्पों का प्रयोग करते हैं, जबकि कुछ ही रेलगाडी को आवागमन व्यवस्था के रूप में इस्तेमाल करते हैं। दुपहिया वाहनों एवं कारों की बढ़ती संख्या यातायात समस्या को और जटिल कर देती है। ये वायु प्रदूषण को भी जन्म देते हैं। इसके अतिरिक्त, महानगरीय शहरों में चलने वाली बसों की संख्या पर्याप्त नहीं है और यात्रियों को यात्रा के लिए घंटों इंतजार करना पड़ता है।

बिजली की कमी

भारत में अधिकांश शहरी केंद्रों में बिजली की आपूर्ति अपर्याप्त बनी हुई है। विद्युत उपकरणों का प्रयोग शहरों में बढ़ा है, और नए उद्योगों की स्थापना एवं पुराने उद्योगों के विस्तार ने भी बिजली पर निर्भरता को बढ़ाया है। दो राज्यों के बीच विद्युत आपूर्ति पर विवाद प्रायः शहर में लोगों के भीषण बिजली का संकट पैदा कर देता है।

MADHYAMIKAS way to achieve your dream

बॉक्स 25.4 : कूड़ा-कचरा

एक महानगरीय शहर में एक दिन में लगभग 3,000 से 5,000 टन कूड़ा-कचरा पैदा होता है जिसका मात्र 50 से 60 प्रतिशत ही साफ किया जाता है। एक दिन में उत्पन्न 150 से 200 करोड़ लीटर सीविज के पानी में से मात्र 100 से 150 लीटर प्रतिदिन ही एकत्र किया जाता है। ऐसी ऐसी स्थिति तब है जब दिल्ली, कोलकाता, मुम्बई एवं चेन्नई जैसे शहरों में नगर-निगमों का कुल बजट रु. 1,000 और रु. 1,500 करोड़ प्रति वर्ष के बीच होता है।

(**स्रोत** : इंडिया टुडे, अक्तूबर 31, 1994)

प्रदूषण

हमारे नगर और शहर पर्यावरण के प्रमुख प्रदूषक हैं। अनेक शहर अपने समस्त जल एवं औद्योगिक बहिःस्रवणों का 40 से 60 प्रतिशत उपचार किए बगैर ही पास की नदियों में छोड़ते हैं। शहरी उद्योग अपनी चिमनियों से निकलने वाले धुंएँ एवं विषैली गैसों को वातावरण में छोड़कर प्रदूषण फैलाते हैं। ये सब शहरी केंद्रों में रहने वाले लोगों के बीच रोगों की संभावना बढ़ाते हैं।

यूनिसेफ (UNICEF) के अनुसार, खराब सफाई-व्यवस्था की दशाओं एवं जल संदूषण के कारण लाखों शहरी बच्चे मर जाते हैं अथवा दस्त, टिटनस, खसरा आदि बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं। एक दूरगामी उपचार के रूप में जिसकी आवश्यकता है, ये हैं — अपशिष्ट एकत्र करने की नई तकनीकें, कूड़ा-कचरा निपटान हेतु नई प्रौद्योगिकी तथा नगर-निगम अधिरचन एवं भू-प्रयोग नियोजन में बुनियादी बदलाव।

उपर्युक्त सभी शहरी समस्याएँ प्रवसन एवं अति-शहरीकरण, औद्योगिक विकास, प्रशासन की उदासीनता एवं अदक्षता तथा दोषपूर्ण नगर नियोजन। शहरी समस्याआं के समाधान शहरी केंद्रों के क्रमबद्ध विकास एवं रोजगार अवसर पैदा करने, शहर-नियोजन के साथ-साथ क्षेत्रीय नियोजन, उद्योगों के पिछड़े इलाकों में चले जाने को प्रोत्साहित करने, एक व्यावहारिक आवास नीति अपनाए जाने तथा स्थानीय स्व-शासन का स्वयं प्राधारिक विकेंद्रीकरण करने में निहित है।

सोचें और करें 25.4

आपके विचार से शहरीकरण की अतिरिक्त समस्याएँ क्या हैं, जो हमारी इकाई में उल्लिखित नहीं है।

आपके मतानुसार, भारत में शहरी केंद्रों को प्रभावित करती बीमारी से बचने का क्या उपाय है?

25.8 निष्कर्ष

जैसा कि आपने देखा, शहरीकरण एक चालू दृश्यघटना है, जिसको कि किसी एक दृष्टिकोण अथवा विश्लेषण से समझना बहुत मुश्किल है, खासकर भारत में। इस इकाई में हमने शहरीकरण के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास किया — इतिहास से वर्तमान स्थिति तक, शहरीकरण की समस्याओं एवं उसके परिणामों के अध्ययनार्थ विभिन्न दृष्टिकोण। और हम पाते हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अनेक वृहद् संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं से जुड़ी हैं। चूँकि भूमण्डलीकरण प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है, विश्व को अभूतपर्वू तरीकों से जोड़ती हुई, एक संकेत मिलता है कि दुनिया भर के शहर उत्तरोत्तर एक दूसरे के समान संगठनात्मक रूप दर्शाने लगेंगे क्योंकि प्रौद्योगिकी संपूर्ण विश्व-व्यवस्था में काफी सुलभ हो रही है। कुछ सिद्धांतियों का कहना है कि शहरी संगठन के विविध रूप शहरीकरण प्रक्रिया के समय व गति में अंतर, विश्व-व्यवस्था में शहरों की स्थिति में अंतर, और विभिन्न मूल्यों को लेकर चलने और, इसी कारण, भविष्य के लिए विविध लक्ष्यों का अनुशीलन करने वाली केंद्रीकृत सरकारों द्वारा शहरीकरण प्रक्रिया के विवेकपूर्ण नियोजन की बढ़ती प्रभाविता के कारण उभरने लगे हैं।

25.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

राव, एम.एस.ए. (सं.) (1974), *अर्बन सोशियोलॉजी इन इंडिया,* ऑरिएंट लॉगमैन, नई दिल्ली।

रामचन्द्रन, आर. (1989), *अर्बनाइजेशन एवं अर्बन सिस्टम्स इन इंडिया,* ओ.यू.पी, नई दिल्ली।

मिश्रा, आर.पी. (1998), *अर्बनाइजेशन इन इंडिया : चैलिजिंज एंड अपॉर्चुनिटीज,* रिजेन्सी पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

इकाई 26

प्रवासन

इकाई की रूपरेखा

26.1 प्रस्तावना

26.2 प्रवासन का अर्थ

26.3 प्रवासन की व्याख्या

26.4 प्रवासन के प्रकार

26.5 प्रवासन प्रवाह

26.6 प्रवासन के कारक

26.7 प्रवासन का प्रभाव

26.8 प्रवासन प्रवृत्तियाँ

26.9 निष्कर्ष

26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई आपको निम्नलिखित बातें समझने में मदद करेगी :

- प्रवासन का क्या अर्थ है और प्रवासन विषयक विभिन्न व्याख्याएँ;
- विभिन्न प्रकार के प्रवासन और प्रवासन में सम्मिलित कारक; और
- प्रवासन के प्रवाह एवं उनका प्रभाव।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.1 प्रस्तावना

मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह बेहतर जीवन की तलाश में अथवा कभी-कभी बाध्यतावश एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। पूरे इतिहास में उसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के प्रमाण मिलते हैं। इस शताब्दी में जहाँ भूमण्डलीकरण ने दूरस्थ स्थानों को पहले से कहीं अधिक जुड़ा हुआ बना दिया है, प्रवासन एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण बन गया है। यहाँ प्रवासन की दृश्यघटना संबंधी एक समझ विकसित करने का प्रयास किया गया है। यह आमतौर पर माना जाता है कि प्रवासन जन समुदाय परिवर्तन की और प्रवृत्त करने सबसे महत्वपूर्ण कारकों में एक है। बेशक दुनिया भर में जनसमुदाय भौगोलिक क्षेत्र में बसा हुआ है, मानव स्थान-परिवर्तन अथवा आवास-परिवर्तन में लगा ही रहता है। ऐतिहासिक अभिलेख दर्शाते हैं कि लोग सदियों पुरानी चलवासिता या खाना-बदोशी से काफी पहले ही किनारा कर चुके थे और तदोपरांत स्थान-स्थान पर विभिन्न कारणों से घूमते रहे हैं। प्रवासन हेतु कारण भिन्न-भिन्न और व्यक्ति जन एवं परिवारों के प्रति विशिष्ट हो सकते हैं।

इस इकाई में आप पायेंगे भारत के विशेष संदर्भ में प्रवासन प्रक्रिया का अर्थ एवं उद्गम। प्रथम पाठांश में आर्थिक विकास के संदर्भ में प्रवासन की अवधारणा पर चर्चा है। दूसरे पाठांश में प्रवासन को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किए जाने का प्रयास किया गया है। तीसरे पाठांश में आंतरिक एवं बाह्य प्रवासन के उदाहरणों पर चर्चा है। चौथे पाठांश में

प्रवसन की एक कारक-विषयक श्रृंखला मिलेगी। तथापि, प्रवसन शहरों में मुख्यतः उपलब्ध आर्थिक अवसरों द्वारा अभिप्रेरित होता है। अनेक सामाजिक कारक भी होते हैं जो प्रवासन में भूमिका निभाते हैं। सर्वोत्तम उदाहरण है महिलाओं का विवाह पश्चात अपने माता-पिता के घर से अपने पति के घर चले जाना। विवाह पश्चात् प्रवासन हेतु एक जनसांख्यिकीय कारक भी है। एक निश्चित आयु-वर्ग में तथाकथित रूप से अधिशेष श्रमिक बल अपने निवास/जन्म स्थान से निकल कर नजदीक के कस्बों/नगरों अथवा सुदूर शहरों में चले जाते हैं, जोकि प्रतीयमानतः उन्हें एक बेहतर भविष्य का भरोसा दिलाते हैं। पाँचवें पाठांश में उद्गम स्थलों एवं गंतव्य-स्थलों पर प्रवासन के प्रभाव पर चर्चा है। ये क्षेत्र जनसंख्या संरचना पर प्रवासन का प्रभाव दर्ज कराते हैं। अंतिम पाठांश में भारत के विशेष संदर्भ के साथ सामान्यतया विश्व में प्रवासन प्रवृत्तियों पर चर्चा है। अंतरा-अंतःराज्यीय एवं अंतर-राज्यीय प्रवासन की व्याप्ति एवं दिशा को इंगित करते जनसंख्या-अभिलेखों में सांख्यिकीय सामग्री उपलब्ध है।

26.2 प्रवासन का अर्थ

प्रवासन शब्द का अर्थ है भौगोलिक क्षेत्र में पशुओं और पक्षियों जैसे जीवों का संचालन। यह एक स्थान से दूसरे स्थान को, व्यक्तिगत रूप से आवास समूहों में, लोगों के संचलन की ओर भी संकेत करता है। प्रवासन का, तदनुसार, अर्थ हुआ आवास का परिवर्तन। प्रवासन की दूरी, दिशा एवं अवधि महत्वपूर्ण नहीं होतीं, फिर भी इन तीनों में से कोई भी कारक किसी देश में प्रवासन की प्रकृति को पुनर्परिभाषित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

ऐसे अनेक कारक हैं जो लोगों को प्रवासन के लिए प्रेरित करते हैं। ये कारण आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक हो सकते हैं। जब लोग किसी देश के भीतर ही भीतर प्रवासन करते हैं तो इसे **आंतरिक प्रवासन** कहा जाता है। जब प्रवासन में किसी देश-विशेष की सीमाओं को पार करना शामिल हो तो उसे **अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन** कहा जाता है। विश्व के नवीन इतिहास में जनसमुदायों के बड़े हिस्सों का लम्बी दूरियों तक प्रवसन देखा गया है। उदाहरण के लिए, यहूदी जर्मनी से विश्व के अन्य भागों में चले गए ताकि वे हिटलर के नाजीवादी शासन-व्यवस्था के तहत अत्याचारों से बच सकें। नवीन विश्व इतिहास में वृहद-स्तरीय प्रवासन का एक अन्य उदाहरण ब्रिटिश भारत के विभाजन और 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात् लोगों का संचलन है। पाकिस्तान के नव-निर्मित राज्य में हिंदुओं और सिखों ने भारत की ओर प्रवासन किया। बदले में भारत के मुसलमान पाकिस्तान चले गए। अनुमान है कि 1947-1950 की अवधि में एक करोड़ लोग पाकिस्तान से भारत आए और 75 लाख मुस्लिम भारत से पाकिस्तान चले गए।

जैसा कि विदित ही है हर दस साल में जनगणना की जाती है। यह परम्परा विश्व के सभी देशों द्वारा अपनाई जाती है। भारत में, उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से ही जनगणना दशक आधार पर कराई जाती रही है। नवीनतम जनगणना 2001 में कराई गई थी। जनगणना की परिभाषा के अनुसार, प्रवासी वह है जो जनगणना के समय अपने जन्म-स्थान के अलावा किसी अन्य स्थान पर परिणगित किया गया/ की गई हो। उसके निवास के वर्तमान स्थान पर उसका रुकना कितनी भी अवधि का हो सकता है — अल्प या दीर्घ। जनांकिकीकार आमतौर पर अंतर्मुखी यानी अंदर की ओर प्रवासन को आप्रवास (immigration), और बहिर्मुखी अर्थात् बाहर की ओर प्रवासन को उत्प्रवास (emigration) कहते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रवसन भौगोलिक क्षेत्र में फैलाव के अनुसार जनसंख्या के अभिलक्षण में बदलाव का एक महत्वपूर्ण कारक है।

जैसा कि पहले कहा गया, विश्व में अधिकांश सरकारें हर दस वर्ष बाद जनसमुदाय की गणना करवाती है। आँकड़े विभिन्न पहलुओं पर एकत्र किए जाते हैं, जैसे जन्म-स्थान,

और किसी जनगणना-विशेष के समय परिगणना का स्थान। यह देश के भीतर अथवा बाहर प्रवासन के अध्ययनार्थ अत्यावश्यक सूचना होती है। प्रवासी एक ऐसा व्यक्ति होता है जो एक सीमा-विशेष के पार जा चुका हो, चाहे वह कोई मौजा (राजस्व ग्राम), या फिर कोई नगरीय सीमा, कोई तहसील, कोई जिला, कोई राज्य, अथवा कोई देश। तय की गई दूरी और जन्म-स्थान से दूर, आवास के एक नए क्षेत्र में उस सीमा के पार व्यतीत की गई क्षमतावधि — दोनों ही प्रवासियों के अभिलक्षणों को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण कारक हैं।

26.3 प्रवासन की व्याख्या

समाजशास्त्रियों, जनांकिकीकारों एवं भूशास्त्रियों ने प्रवासन के अध्ययन पर अपना ध्यान केंद्रित किया है ताकि एक स्थान से दूसरे स्थान को लोगों के संचालन के किसी स्वरूप-विशेष के निहितार्थों को समझा जा सके। प्रवासन जनसंख्या संयोजन में बहुआयामी परिवर्तनों में परिणत होता है — नृजातीय, नृजाति-भाषायी, धार्मिक, जनसंख्याकीय, सांस्कृतिक एवं आर्थिक। स्वयं प्रवासियों के संरचनात्मक संदर्भ का प्रवासन एवं प्रवासी होने का क्या अर्थ है, से संबंध है।

प्रवासन विषयक अधिकांश व्याख्याओं में जनसांख्यिकीय पहलुओं पर काफी अधिक ध्यान दिया गया है। साथ ही, वे प्रवासन को दबाव एवं खिंचाव (push and pull) के शब्दों में स्पष्ट करने को प्रवृत्त रही है। आशीष बोस, उदाहरण के लिए, भारत में प्रवासन ग्रामीण से शहरी की ओर एक जनसंख्यिकीय परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करते हैं। दबाव कारक जो उद्गम-स्थलों में प्रभावी होते हैं, इस उदाहरण में ग्रामीण क्षेत्रों में, संसाधनाभाव, बेरोजगारी, जनसंख्याधिक्य, सूखा अथवा बाढ़ या ऐसी ही अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण होते हैं, अनिवार्यतः ऐसे सभी कारक जो एक शालीन जीवन स्तर को असंभव बनाते हैं। शहरों के खिंचाव कारक अनेक हैं — रोजगार, अवसर, मनोरंजन, शिक्षा सुविधाएँ, व्यापार केंद्र, संस्थागत प्रतिष्ठान, अवसरों की उपलब्धता, धर्मनिरपेक्ष वातावरण आदि। आशीष बोस का कहना है कि दबाव एवं खिंचाव कारकों की व्याख्या समग्र जनसांख्यिकीय संदर्भ में की जानी चाहिए। जनसंख्या में उच्च प्राकृतिक वृद्धि की दशाओं में, न सिर्फ ग्रामीण क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि शहरी क्षेत्रों में भी (उच्च शहरी जन्मदरों एवं तेजी से गिरती मृत्युदरों के परिणामस्वरूप), दबाव कारक प्रभावी होता है (बोस 1963)। बोस इसे "प्रति दबाव" (push back) कारक कहते हैं। उन्होंने दर्शाया कि बेहतर रोजगार हेतु शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवास करने वाले प्रति 10 व्यक्तियां की दर पर 254 व्यक्ति रोजगार की तलाश में आते हैं। एक अन्य प्रकार का दबाव, जिसकी चर्चा बोस ने की है, शहरी क्षेत्रों में सामाजिक सुरक्षा का अभाव है।

प्रवासन विषयक अधिकांश समाजशास्त्रीय अध्ययनों में प्रवासन से संबंधित पहलू का विश्लेषण किया गया है, और साथ ही, इन पहलुओं का भी कि प्रवासन किस प्रकार भौगोलिक क्षेत्रों को प्रभावित करता है और किस प्रकार यह सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन लाता है। भारत में अध्ययन अधिकांश रूप में प्रवासियों हेतु पहचान-परिवर्तन मे मुद्दों पर केंद्रित रहे हैं, इनमें से अधिकांश अध्ययन उस भारतीय प्रवासी-समूह पर संकेंद्रित हैं जो महाद्वीपों के पार गए। जहाँ तक कि आंतरिक प्रवासन का संबंध है, जोकि अधिकांश रूप में ग्रामीण से शहरों की ओर हुआ है, अध्ययनों में उन मुद्दों को शामिल किया गया है जोकि इस बात के वृहत्तर सैद्धांतिक मुद्दों से जुड़े होते हैं कि क्या शहरी भारत के साथ ग्रामीण भारत के सामाजिक संरचनाओं के बीच सातत्य है अथवा क्या इनमें परिवर्तन आते हैं। तदनुसार, डैविड पीकॉक जैसे विद्वानों का कहना है कि शहरी और ग्रामीण सामाजिक संरचनाओं के बीच कोई द्विभाजन नहीं है। इस शोध-प्रबंध पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए,

MAADHYAM IAS

एम.एस.ए. राव कहते हैं कि यह "गाँव एवं परंपरागत शहर के बीच समरूपताओं का एक अतिसरलीकरण है। अतीत का शहर, उनका दावा है, अधिकतम जातीय गतिविधि हेतु आधार प्रदान करता था। जबकि पीकॉक ने ठीक ही कहा कि शहरीकरण पश्चिमीकरण के साथ सह-लक्ष्य नहीं है, उसमें तथापि, गाँव एवं परंपरागत शहर के बीच समरूपता को अतिसरलीकृत किया। यद्यपि गाँव एवं शहरों, दोनों में धर्म, जाति एवं नातेदारी सामाजिक संगठन के आधार हैं, दोनों संदर्भों में इनकी कारगुजारी में काफी महत्वपूर्ण अंतर है। उदाहरण के लिए, जबकि जजमानी (वंशानुगत सेवाएँ) संबंध गाँवों में प्रचलित थी, महाजन अथवा गण संगठन शहरों में प्रमुखता प्राप्त थे। परंपरागत शहरी संदर्भ में, संस्थागत ढाँचा और प्रतिबंध, जिनमें धर्म, जाति एवं नातेदारी संचालित होते हैं, गाँवों की भाँति नहीं होते" (राव 1991 : 2)।

अधिकांश विद्वान प्रवासन को अनिवार्यतः एक पुरुष-प्रधान दृश्यघटना के रूप में देखते हैं और इसीलिए ऐसे चंद ही अध्ययन हुए हैं जो प्रवासन को एक लिंग परिप्रेक्ष्य से देखते हों। मीनाक्षी थापन अपनी नवीन पुस्तक "ट्रांसनेशनल माइग्रेशन एंड पॉलिटिक्स ऑफ आइडेंटिटी" में बताती हैं कि "प्रवासन का कोई भी सिद्धांत एक समग्रतापरक परिप्रेक्ष्य के लिए प्रजाति, धर्म, राष्ट्रीयता के लिहाज से ही स्पष्टीकरण दे और लिंग पर, जोकि काफी कुछ प्रवासन विषयक आरंभिक साहित्य संबंधी है, मूक रहता है।" उनका कहना है कि "महिलाओं के प्रवासन संबंधी प्राधारिक शाखा-विस्तार स्वयं प्रवासी महिलाओं के जीवन से परे तक चले गए हैं, तिस पर भी, चूँकि ऐसी महिलाओं का श्रम आप्रवासियों एवं उनके आतिथेयों, दोनों के समाजों में पाए जाने वाले लिंग संबंधों को रूप प्रदान करने में एक महत्वपूर्ण कारक होता है, इससे अनेक मुद्दों को जैसे लिंग समानता, श्रम का पारिवारिक विभाजन और कल्याणकारी विचारों से जुड़ी राज्ययी नीतियों को समझने के लिए तरीके सामने आते हैं" (थापन 2005 : 17)।

ये प्रवासन से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करने वाले कछ मुख्य दृष्टिकोण हैं, जिन पर कि ऊपर चर्चा की गई। अगली इकाई में हम प्रवसन के विभिन्न स्वरूपों पर नजर डालेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.4 प्रवासन के प्रकार

प्रवासन विभिन्न प्रकार के होते हैं। तथापि, प्रवासन की प्रतीकात्मक व्याख्या के विषय में विद्वानों के बीच कोई सर्वसम्मति नहीं है। इन समरूपों की सामान्यतः परिभाषा इन रूपों में की जा सकती है : चक्रीय अथवा प्रचल, बलात्, अभिप्रेरित, आंतरिक/बाह्य, पूर्वकालीन/आदिम, ऋतुनिष्ठ अथवा आवधिक। त्रेवदा ने पीटरसन का उद्धरण दिया है जिन्होंने प्रवासन के पाँच सामान्य वर्ग बताए थे। ये थे : आदिम, बलात्, अभिप्रेरित, युक्त एवं व्यापक (त्रेवर्दा 1969 : 144)।

चक्रीय अथवा प्रचल प्रवासन

लोगों का आवागमन जिसमें महज निवास का अस्थायी परिवर्तन शामिल हो, आमतौर पर प्रवासन नहीं माना जाता है। इस प्रकार का संचलन चलवासिता अथवा चारागाही खानाबदोशी कहा जाता है। यदि लोगों का यह संचलन दो नियत बिंदुओं के बीच उनके मवेशियों, भेड़ों, बकरियों एवं दुधारू पशुओं — के साथ होता है तो इसे ऋतु प्रवास (transhumance) कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जम्मू-कश्मीर में गुज्जर बकरवाल सर्दियों में पहाड़ियों की तलहटी में रहकर गर्मियों में उच्चभूमि चरागाहों की ओर चले जाते हैं। सर्दियाँ आते ही वे तलहटी स्थित अपने बसेरों की ओर लौट आते हैं। खेतों में काम करने वालों का आवागमन भी एक प्रकार का चक्रीय प्रवसन है क्योंकि वे फसल पकने की ऋतु में ही आते हैं। पर्यटन एवं नियमित यात्रा को भी सामान्यतया प्रवासन नहीं माना जाता है।

कुछ प्रवासन स्वभावतः चक्रीय (cyclic) होते हैं, जिसका अर्थ है कि वे दोलनों/दौरों के मानिंद होते हैं। लोग दो नियत बिंदुओं के बीच प्रवासन करते हैं। यह वार्षिक चक्र होता है, जोकि उसी वर्ष के भीतर-भीतर पूरा होना होता है। चारागाही खानाबदोश अपने पशुधन के साथ एक प्रचल (circulatory) तरीके से गमन करते हैं : तलहटी में सर्दियाँ और उच्चभूमि चरागाहों में गर्मियाँ। इनके मार्ग और गंतव्य सुस्पष्ट होते हैं। यहाँ हम जम्मू-कश्मीर के गुज्जर बकरवालों के साथ-साथ हिमाचल प्रदेश के गद्दियों का भी उदाहरण ले सकते हैं। इसी प्रकार के प्रवासन मध्य एशिया, अफ्रीका एवं दक्षिण अमेरिका, आदि के पहाड़ी क्षेत्रों में बड़े आम हैं। इन खानाबदोशों को पर्वतमाला के किसी हिस्से विशेष पर चराई अधिकार प्राप्त होते हैं, फिर भी उनका भूमि पर अधिकार नहीं होता। सरकारें उनके आवागमन एवं चराई अधिकारों की रक्षा करती है।

प्रवासन दिशा, दूरी, अवधि एवं आवागमन के पीछे उद्देश्य/गंतव्य के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। प्रवासन को बलात् (forced) अथवा अभिप्रेरित (impelled) की तुलना में स्वतंत्र (free) अथवा स्वैच्छिक (voluntory) के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ प्रवासन दबाव कारकों (push factors) की वजह से होते हैं जबकि अन्य खिंचाव कारकों (pull factors) के प्रति अनुक्रिया की वजह से। असाधारण परिस्थितियों में लोग प्रवासन के लिए बाह्य होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राकृतिक आपदाएँ, जैसे बाढ़, सूखा, दावानल, पहाड़ी क्षेत्रों में हिमधाव, और भूकंप, आदि लोगों को अपनी जान बचाने के लिए अपने घरों से सुरक्षित स्थानों पर भाग जाने के लिए बाध्य करते हैं। अन्य उदाहरणों में, श्रमिक बल अपने गृह-नगरों से निकलकर किसी पड़ोस के नगर अथवा शहर की ओर चला जाता है। ये विशिष्ट दबाव कारक हैं। धारणा यह है कि स्थानीय ग्रामीण श्रमिक बल माँग से कहीं अधिक मात्रा में होता है। परिणामतः योग्य कर्मी गाँव से बाहर चले जाते हैं। इन उदाहरणों में निश्चय ही तथाकथित कारकों की भूमिका होती है। जब बेरोजगार अथवा अंशतः रोजगार प्राप्त ग्रामीणजन को गृह-ग्रामों में अपनी दिहाड़ी या दैनिक आमदनी को बढ़ाने के कोई अवसर नहीं दिखाई पड़ते तो वे सुदूर शहरों की ओर चले जाते हैं, जैसे मुम्बई, दिल्ली, चेन्नई अथवा कोलकाता। ये शहर चुम्बक का काम करते हैं। हम ऐसे आवागमन को खिंचाव कारकों के प्रति अनुक्रिया के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। बहुधा दबाव और खिंचाव कारक एक साथ काम करते हैं।

सामान्यतया यह माना जाता हैं कि भारत के प्रमुख शहर — औद्योगिक एवं व्यापारिक केंद्र — लोगों को आकर्षित करते हैं। शहरी केंद्रों को अपना कामगार वर्ग तथाकथित बहिर्प्रवासी क्षेत्रों से प्राप्त हुआ है, यथा पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार एवं झारखंड। बड़े शहरों की ओर प्रथम-पीढ़ी अंतर्प्रवासी आने वाली पीढ़ी के लिए आदर्श बन जाते हैं। इसका प्रदर्शन प्रभाव उन्हें उसी स्थान की ओर प्रवास करने को प्रेरित करता है जहाँ उनके पूर्वज पहले से ही अपनी जड़ें जमा चुके हों (पाठक पी. 1995 : 30)।

आंतरिक एवं बाहरी (अंतर्राष्ट्रीय) प्रवासन

प्रवासन को आंतरिक (internal) एवं बाहरी (external) प्रवासन के रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है। जब लोग अपने जन्म/निवास/अधिवास के भीतर ही प्रवास करते हैं तो इसे **आंतरिक प्रवासन** कहा जाता है। आंतरिक शब्द से यहाँ अर्थ गृह-प्रदेश अर्थात् अपने ही देश की सीमाओं के भीतर आवागमन। जब लोग एक देश से दूसरे देश की ओर आवागमन करते हैं तो इसे **अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन** कहा जाता हैं। इस प्रकार के प्रवासनों में देश की सीमाएँ लाँघा जाना शामिल होती हैं। कभी-कभी प्रेरक शक्ति कोई दबाव कारक होता है। जब लोग बाहर जाते हैं तो प्रवास हेतु उनके वांछित वैकल्पिक स्थानों के बीच सापेक्ष लाभों अथवा हानियों का अवबोधन होता है।

कभी-कभी प्रवासन एक सुविचारित कदम होता है और उसके अंतर में काफी अभियोजना निहित होती है। उदाहरण के लिए, उच्च-कौशल प्राप्त अभियंता, जिनमें सॉफ्टवेयर

इंजीनियर भी शामिल हैं, डॉक्टर, नर्सें एवं परा-चिकित्सीय कर्मी विदेश में बेहतर रोजगार अवसरों की तलाश में भारत से बाहर चले जाते हैं। इस विचार से कि अधिक कमायेंगे। जबकि स्वदेश ऊँची आय हेतु कोई गुंजाइश नहीं रखता है, गंतव्य देश उन्हें आकर्षित करता है और प्रवास करने के लिए प्रेरित करता है। तथापि, इस प्रकार के प्रवसन मूल देशों से योग्यता प्राप्त कर्मियों का अपवहन सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार, गृह-प्रदेश घाटे में रहता है। दूसरी ओर, गंतव्य देश फायदे में रहता है। खाड़ी के देशों में योग्यता प्राप्त कर्मियों की आवश्यकता रहती है, वो भी उनकी शिक्षा एवं कौशल-सुधार के नाम पर पाई भी खर्च किए बगैर! देखा गया है कि योग्यता/कौशल प्राप्त कर्मी अनुबंध के आधार पर प्रवास करते हैं।

आदिम अथवा आरंभिक प्रवासन

प्रारंभिक/आदिम प्रवसन (Early/Primitive migration) एवं बलात्/अभिप्रेरित प्रवसन (Forced/ impelled migration) के बीच प्रायः भेद किया जाता है। प्रारंभिक प्रवासन, विशेष रूप से प्राग्ऐतिहासिक एवं आरंभिक इतिहास के काल में, एक प्रकार के यादृच्छिक या बेतरतीब आवागमन थे, न कि कोई नियोजन प्रवसन। लोग एक प्रकार की घुमन्तु ललक के कारण अन्यत्र जाते थे। परंतु वे विश्वभर में महाद्वीपों को आबाद करने के लिए उत्तरदायी थे। इन संचलनों ने सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की अंतर्मिश्रण प्रक्रिया में भी योगदान दिया है।

बलात् अथवा अभिप्रेरित प्रवासन

जब जन अथवा जनसमूह सूखा, महामारियों, युद्ध, गृह युद्ध, अथवा आंतकित करती तानाशही शासन-व्यवसाओं से उत्पन्न बर्बादी से बचने के लिए अपने गृह-प्रदेश अथवा स्वदेश को छोड़ने का फैसला लेते हों तो इसे बलात् प्रवसन (Forced migration) कहा जाता है। बलात् प्रवासन का एक ताजा उदाहरण है अफगानिस्तान में राजनीतिक बमबारी समेत अमेरिकी-अंग्रेजी सैन्य कार्रवाइयों के दौरान वहाँ से अफगानों का पड़ोस स्थित पाकिस्तान, ईरान और भारत की ओर निष्क्रमण। इसी प्रकार, द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व हिटलर के अधीन जर्मनी में नाजीवादी राज्य व्यवस्था द्वारा जारी उत्पीड़न से बचने के लिए बड़ी संख्या में लोगों ने प्रवास किया। बलात् प्रवासन का एक तुलनीय उदाहरण आयरलैंडवासियों का है, जो 1856-85 के दौरान सूखे की स्थिति से उत्पन्न भुखमरी और मौत से बचने के लिए आयरलैंड से पलायन कर गए। इन प्रवासनों को बलात् इसलिए पुकारा जाता है कि प्रवासियों के पास भाग जाने के सिवा कोई चारा नहीं होता। जब कोई राज्य/देश अपने जनसमुदाय के किसी हिस्से को देश से बाहर चले जाने को बाध्य करता है, जो कि वांछनीय न हो, तो इसे बलात् अथवा अभिप्रेरित प्रवासन (Implelled miration) कहा जाता है।

किन्हीं परिस्थितियों विशेष में प्रवसन व्यापक स्तर पर हो सकता है, जैसे 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत पश्चात् भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत की ओर लाखों लोगों का प्रवासन। बलात् प्रवसन के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे अपराधियों, राजनीतिक बहुमत-विरोधियों, और धार्मिक अल्पसंख्यकों का निर्वासन। दास-व्यापार के दिनों में लगभग दो लाख अश्वेत अफ्रीकियों को जबरन अमेरिका ले जाया गया था ताकि वे वहाँ स्थित बागानों में श्रमिकों के रूप में काम करें। अनुमान है कि यूरोपीय मूल के लगभग 80 हजार लोग द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व व उसके दौरान नाजीवादी राज्य व्यवस्था की बंधुआ-मजदूर नीति के तहत यूरोप से बाहर निकाल दिए गए थे।

शरणार्थी स्थानांतरण

इतिहास में बीता हमेशा पुराना नहीं होता। वर्तमान जगत् में भी लोग उत्पीड़न एव आसन्न मृत्यु से बचने के लिए अपने घरों एवं चूल्हों को छोड़ते, और एक देश से दूसरे देश पलायन

करते देखे जा सकते हैं। वे प्रायः पड़ोस के देशों में शरण लेते हैं। वस्तुतः, इन दिनों शरणार्थी देशांतरण (Refugee movements) इतने आम हैं कि संयुक्त राष्ट्र ने शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए एक विशेष कोष बना दिया है। ये शरणार्थी बेघर और बेरोजगार होते हैं। वे आजीविका के उन सभी साधनों को गँवा चुके होते हैं जो प्रवासन से पूर्व उनका भरण-पोषण करते थे। शरणार्थियों पर संयुक्त राष्ट्र आयोग उन्हें आर्थिक रूप से मदद देता है और ग्राही देशों की सरकारों से आग्रह करता हैं कि उन्हें स्थान प्रदान करें। दुर्भाग्यवश, उन्हें तात्कालिक आश्रयों/शिविरों में पुनर्वासित किया जाता है। तथाकथित बिहारी मुसलमान जो 1947 में ब्रिटिश भारत के विभाजन के तत्काल पश्चात् पूर्वी पाकिस्तान चले गए थे, आज सत्तावन वर्ष बीते जाने पर भी शिविरों में ही रह रहे हैं।

ऋतुनिष्ठ एवं आवधिक प्रवासन

प्रवसन कभी-कभी ऋतुनिष्ठ या मौसमी (seasonal) अथवा आवधिक (periodic) होते हैं। इस प्रकार का प्रवासन मरुस्थलों के उपान्त प्रदेशों अथवा विश्व के अर्ध-शुष्क भूभागों पर रहने वाले चलवासी लोगों के बीच बहुत आम है। त्रेवर्दा लिखती हैं कि कोई दस हजार प्रवासी, अपने परिवारों के साथ, राज्य-सीमाओं के पार उत्तर की ओर वार्षिक तीर्थयात्रा करते हैं क्योंकि विभिन्न फसलों की कटाई अपने चरम पर होती है। उनका मूल स्थान अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में होता है, जैसे न्यूमैक्सिको, टैक्सास, अलाबामा, और जीओर्जिया। इस प्रवासी श्रमिक-बल संबंधी एक अध्ययन दर्शाता है कि वे अधिकांशतः अल्पवयस्क होते हैं, प्रायः पच्चीस वर्ष से भी कम आयु के, जिनमें 70 प्रतिशत लोग पुरुष, और 80 प्रतिशत लोग श्वेत होते हैं। उनकी वापसी यात्रा शरद् ऋतु में पूरी होती है जब फसल-कटाई कार्य समाप्त हो जाता है। तथापि, हालात अब बदल गए हैं और इस प्रकार का प्रवासन कृषि के मशीनीकरण की वजह से घटने लगा है। इस प्रकार के प्रवासन एवं अस्थायी यात्री के बीच अंतर होता है। जनसमुदाय का अल्पकालिक स्थान-परिवर्तन भी एक प्रकार का ऋतुनिष्ठ प्रवासन है। कामगार वर्ग का एक दैनिक स्थान-परिवर्तन भी देखने में आता है। इस प्रकार का स्थान परिवर्तन तब होता है जब लोग अपने आवास-स्थलों से अपने कार्य-स्थलों की ओर आते-जाते हैं। जैसा कि पहले कहा गया, इस प्रकार का प्रवासन दिक्-प्रवासन (commutation) कहलाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

प्रवासन आवधिक, वार्षिक, अथवा दैनिक हो सकते हैं। त्रेवर्दा ऐसे आवधिक स्थान-परिवर्तनों का भी उल्लेख करती हैं जो छुट्टियों, मौज़-मस्ती एवं व्यापार से ताल्लुक रखते हैं। परंतु इस प्रकार की आमोद-यात्राएँ विशिष्ट रूप से सुसम्पन्न वर्ग के लोगों के लिए ही अभिलक्षित होती हैं। गरीब तबका इस प्रकार के स्थान-परिवर्तनों का खर्च वहन नहीं कर सकता है। भारत में लाखों लोगों का आवधिक स्थान-परिवर्तन एक सामान्य दृश्यघटना है। ये यात्राएँ पवित्र स्थलों अथवा बड़े मेलों की तीर्थयात्रा से जुड़ी होती हैं, जैसे "कुम्भ का मेला" और "पुष्कर का मेला"। भारत में लाखों लोग धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए नदियों और झीलों में डुबकी लगाने के लिए तीर्थयात्राओं पर जाते हैं।

एक अन्य प्रकार का आवधिक प्रवासन है — किसी व्यक्ति का कुछ वर्षों की अवधि के लिए अपने मूल आवास-स्थान से चले जाना। वह अपने घर आवधिक रूप से ही आता है। इस प्रकार के प्रवासन का मुख्य उद्देश्य होता है अधिक कमाना और अपने मूलस्थान में रह रहे परिवार को रुपया भेजना, ताकि अपने असली घर लौटने पर स्वयं को स्थापित कर सकें। अफ्रीका में ऐसे लोग प्रवासी श्रमिक हैं जो आवधिक रूप से आते-जाते हैं। डब्ल्यू.बी. फिशर लिखते हैं कि "आवधिक प्रवासन कभी-कभी अपने कार्य-स्थल पर स्थायी रूप से बस जाने को लालायित करते हैं। तथापि, प्रारंभ में उनकी नीयत केवल अस्थायी रूप से रहने की ही होती है (त्रेवर्दा 1969 : 144)।

सोचें और करें 26.1

यदि आप किसी शहर में रहते हैं तो पाएँगे कि जीवन के हर स्तर से बड़ी संख्या में लोग देश के विभिन्न भागों में प्रवास कर चुके हैं।

अपने पड़ोस में पता लगाएँ कि कहाँ से किसने प्रवास किया है और किस उद्देश्य से। साथ ही, उन्हें विभिन्न प्रकार के प्रवासन प्रतिमानों में वर्गीकृत करें।

26.5 प्रवासन प्रवाह

आंतरिक प्रवासन की चर्चा करते समय जनसांख्यिकीविद् एवं जनसंख्या वैज्ञानिक आमतौर पर चार प्रवाहों की पहचान करते हैं। मानदण्ड है जनसमुदाय का मूल स्थानों से गंतव्य-स्थलों की ओर जाने की दिशा। एक ही देश की सीमाओं में रहकर प्रवासन चार मुख्य प्रवाहों को जन्म देता है जो कि इस प्रकार है :

क) ग्रामीण-ग्रामीण प्रवासन प्रवाह

ख) ग्रामीण-शहरी प्रवासन प्रवाह

ग) शहरी-शहरी प्रवासन प्रवाह, एवं

घ) शहरी-ग्रामीण प्रवासन प्रवाह।

ग्रामीण-ग्रामीण प्रवासन प्रवाह

गाँवों में जहाँ अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित होती है, लोग फसल-कटाई अथवा फसल-बुवाई अथवा दोनों के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव प्रवास करते हैं। यह ग्रामीण-ग्रामीण प्रवसन कहलाता है। समस्या यह होती है कि मूल गाँव में खेतों पर काम के अवसर नहीं होते। दूसरे शब्दों में, श्रम-आपूर्ति माँग से कही अधिक होती है। धारणा यह होती है कि मूल गाँव में जनाधिक्य है और वह गंतव्य गाँव की तुलना में कृषि के मामले में कम उत्पादनशील है। इस प्रकार के प्रवासन में प्रवासी अधिकांशतः पुरुष होते हैं। कभी-कभी परिवार के पुरुष सदस्यों के साथ महिलाएँ भी प्रवास करती हैं। भारत जैसे देशों में, अल्पवयस्क स्त्रियाँ उनके माता-पिता के गाँव से काफी दूर रहने वाले किसी व्यक्ति के साथ ब्याह दी जाती हैं। कारण यह होता है कि विवाह 4-5 मील (4-8 किलोमीटर) के दायरे में नहीं किए जा सकते हैं। यह विवाह-निषिद्ध क्षेत्र वर्जित क्षेत्र माना जाता है। तथापि, यह प्रथा उत्तर भारत में ही देखी जाती है। ऐसी कोई प्रथा दक्षिण में नहीं है, जहाँ लड़कियों को आमतौर पर उन्हें उनके चचेरे अथवा ममेरे भाइयों के हाथ ब्याह दिया जाता है। तदनुसार, उत्तर भारत में महिलाओं के स्थान-परिवर्तन का काफी बड़ा अनुपात वैवाहिक रीति-रिवाजों से जुड़ा है।

प्रवासन अध्ययनों में महिलाओं की प्रायः उपेक्षा की जाती है। उन्हें माँओं, बेटियों, बहनों, एवं पत्नियों के रूप में अपनी हैसियत के अनुसार, उनके अपने पुरुष प्रतिपक्ष का अनुगामी समझा जाता है। परंतु हाल के वर्षों में नारी प्रवासन के विषय में इस स्थापित मिथक से जुड़ा एक परिवर्तन देखने में आया है। अब महिलाएँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने अथवा नए आर्थिक अवसरों की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं। यह शहरी के साथ-साथ सुदूर गंतव्य की ओर भी नारी प्रवासन के प्रतिमान में एक अनुकूल परिवर्तन को दर्शाता है। (भट्टाचार्य 2003 : 85-92; प्रेमी 1980; सिंह, थन्जनी व अन्य 1984)।

ग्रामीण-शहरी प्रवासन प्रवाह

भारत, नेपाल व बंगलादेश जैसे अल्प विकसित देशों में, ग्रामीण से शहरी प्रवासन एक सामान्य दृश्य घटना है। ऐसे भूभागों में जहाँ ग्रामीण जनसंख्या घनत्व बहुत अधिक है और

शहरी-औद्योगिक विकास गति तेजी पर है, ग्रामीण-शहरी प्रवाह सर्वाधिक व्याप्त है। ये नगर/शहर नज़दीकी अथवा दूरवर्ती गाँवों से "अधिशेष श्रमिकों" को आकर्षित करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती गरीबी, किंचित रोजगार अवसर, कम एवं अनिश्चित/अनियमित वेतन, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव, आदि मुख्य दबाव कारक हैं। ये दशाएँ लोगों को शहरी स्थानों की ओर प्रवासन हेतु प्रेरित करती हैं। कुछ मामलों में श्रमिक गाँव से ही बाहर चले जाते हैं। उनके पास ऐसे काम की तलाश में शहरी स्थानों की ओर चले जाने के सिवा कोई चारा नहीं होता जो उनका व उनके परिवार का भरण-पोषण कर सके। दूसरी ओर, शहरी स्थानों का आकर्षण ग्रामीण जनता को प्रवासन हेतु प्रेरित करता है। यह प्रक्रिया बेहतर रोजगार अवसर, नियमित एवं नियत वेतन एवं प्रत्याशित रूप से बेहतर जीवन-स्तर हेतु प्रवासी श्रमिकों की अभिलाषाओं से जुड़ी है। परंतु ये उम्मीदें प्रायः केवल सपना ही साबित होती हैं। एक सम्बद्ध समस्या इस शिक्षित युवावर्ग का बहिर्प्रवसन है जिसके लिए मूल गाँवों/कस्बों में रोजगार अवसर विरले ही उपलब्ध होते हैं। इससे वे शहरी स्थानों की ओर प्रवास करने को बाध्य हो जाते हैं। शहर की ओर ऐसा अनियंत्रित प्रवासन नगरों/शहरों में आवास की समस्याओं की ओर प्रवृत्त करता है। ग्रामीण गरीब वर्ग बस्तियों एवं अवैध आवासों में स्थान पाता है, जिन्हें शहर में मलिनावास या गंदी-बस्ती (स्लम) कहा जाता है। इस प्रकार के प्रवासियों के लिए वास-स्थान बदलना है, लेकिन जीवन-स्तर वही रहता है।

बॉक्स 26.1 : ग्रामीण प्रवासियों की दुर्दशा

तथापि एक काफी बड़ा भाग, खासकर आंतरिक प्रवासन का, आपदा-प्रेरित होता है, जिसके कारक होते हैं — ग्रामीण रोजगार जनन का पूरी तरह ध्वस्त हो जाना, खेती की आर्थिक दिक्कतें, और साथ ही, नगरों/कस्बों में अपर्याप्त रोजगार अवसर। यही कारण है कि आज भारत में अधिकांश प्रवासी कर्मचारी गरीब और ऐसे किंचित ही संसाधन एवं सामाजिक तानेबानों से सम्पन्न हैं जो एक अभिघातज एवं पीड़ादायक प्रक्रिया को कम कर सकते थे। तिस पर भी सरकारी नीति इसके उपशमन हेतु किंचित ही प्रयास करती है — वस्तुतः, अधिकांश सरकारी हस्तक्षेप एवं विनियमन इस प्रक्रिया को और भी अधिक कठिन एवं अभिघातज बनाने के लिए प्रभावी रूप से काम करते हैं।

आइए, आंध्र प्रदेश के महबूब नगर जिले में एक ग्रामीण कुटुंब की नियति पर विचार करते हैं, जोकि एक स्थान था जहाँ काम के लिए व्यापक प्रवासन ऐतिहासिक रूप से आम था परंतु अब यह संक्रामक संतुलन में पहुँच गया है। एक भूमिहीन श्रमिक जो गाँव के भीतर अथवा पड़ोस के गाँवों में काम पाने में अक्षम है, भिन्न-भिन्न फसल-ऋतुओं वाले अन्य कृषि क्षेत्रों में, नजदीकी अथवा दूरवर्ती नगरों/कस्बों में कोई और खेत तलाश कर लेने पर बाध्य किया जाता है। यदि वह अपेक्षाकृत रूप से भाग्यशाली हुआ/हुई तो किसी ऐसे ठेकेदार से सम्पर्क हो जाएगा जो कार्य-स्थल हेतु सामूहिक परिवहन की व्यवस्था कर देगा। यह कुछ कार्यकलापों, जैसे फसल-कटाई हेतु खेत में काम करना अथवा किसी निर्माण कार्यस्थल पर टोली बनाकर काम करना, या फिर ऐसे कामों को करना हो सकता है जिसमें एक निश्चित अवधि के लिए श्रमिक-समूह की आवश्यकता होती है। वास्तव में, भोजन जैसी मूलभूत आवश्यकताओं अथवा सुख-सुविधाओं के अभाव में यात्रा कठिन, कार्य अतृप्त एवं जीवन-दशाएँ संभवतः बहुत अपर्याप्त होंगी (वस्तुतः श्रमिकों से प्रायः अपेक्षा की जाती है कि वे अपने खुद के अस्थायी आवास बनाएँ।) पूरी संभावना के साथ, इन श्रमिकों का आर्थिक लिहाज से भी ठेकेदार द्वारा शोषण किया जाएगा ताकि उन्हें इस तमाम मशक्कत से बचत के रूप में बहुत थोड़ी सी ही आय प्राप्त हो।

MAADHYAM IAS

इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के असुरक्षित देशांतरण में काफी महिलाएँ शामिल हैं, जिसके प्रायः घातक परिणाम होते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रवासन खतरों से खाली नहीं होता, विशेषतः महिलाओं के लिए, जो अन्य समस्याओं के साथ-साथ स्वयं को यौन-शोषण एवं हिंसा की संभावना के प्रति प्रस्तुत कर देती हैं। महिलाओं और यहाँ तक कि अल्पवयस्क लड़कियों के भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं जहाँ उनका बस-स्टैण्ड अथवा ऐसे ही अन्य स्थानों पर सोने की कोशिश करते हुए शारीरिक शोषण किया गया। इसमें से अधिकांश की रिपोर्ट ही दर्ज नहीं होती क्योंकि स्थानीय पुलिस प्रायः ऐसी अभिकथित घटनाओं की रिपोर्ट लिखने में ज्यादा जहमत नहीं उठाते हैं जिनमें पीड़ित अन्य क्षेत्रों से आए गरीब लोग होते हैं।

प्रवासियों के रूप में श्रमिकों को तब कोई स्वास्थ्य रक्षा हेतु जन-सुविधाएँ भी सुलभ नहीं होतीं, क्योंकि वे उस क्षेत्र के निवासी नहीं होते। वे राशन की दुकानों से अपनी खाने की आवश्यक वस्तुओं को खरीद पाने में भी अक्षम होते हैं क्योंकि उनके पास उस स्थान हेतु वैध राशन-कार्ड नहीं होता। यदि वे छोटे बच्चों के साथ आते हैं तो वे अपनी कानूनन मान्यताप्राप्त आवश्यकताओं के वास्ते उन्हें स्थानीय सरकारी स्कूलों, या फिर स्थानीय आँगनवाड़ी तक में दाखिल करा पाने में सक्षम नहीं होते। उनकी सरकारी योजनाओं एवं कार्यक्रमों द्वारा उपेक्षा की जाती है, जिनमें प्रतिरक्षाकरण अभियानों जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य रक्षा विषय भी शामिल हैं।

और फिर सार्वजनिक करण-अकरण संबंधी अन्य पापकर्म भी हैं जो ऐसे प्रवासियों को सीधे प्रभावित करते हैं। ऐसे कोई सरकारी सहायता केंद्र, सूचना कार्यालय, अथवा शिकायत कक्ष नहीं हैं जहाँ वे किसी भी प्रकार की शिकायत का समाधान करा सकें, चाहे वह वेतन न दिए जाने से जुड़ी हो, या कार्य की खराब दशाओं संबंधी या फिर शारीरिक शोषण एवं हिंसा से जुड़ी। इसकी बजाय, गंतव्य-स्थल पर स्थानीय अधिकारीतंत्र प्रतीकात्मक ढंग से प्रवासियों को परिभ्रामी अर्थात् घुमन्तू अथवा उपद्रवियों के रूप में देखता है, उनके प्रति आक्रामक रुख अपनाता है और प्रवासियों के लिए मुसीबत का एक और स्रोत बन जाता है।

MADHYAM IAS

व्यथा आर्थिक प्रवसन, जोकि अपेक्षाकृत अल्पावधि प्रकृति का होता है, अब भारत में सामाजिक जीवन का एक आधारभूत अभिलक्षण बन गया है। यह समष्ठि-आर्थिक स्थिरता में योगदान देता है, बावजूद उन पर अत्याधिक न्यायालयवाद व्यय थोपे जाने के, जो उसे झेलने पर बाध्य होते हैं। यही समय है कि नीति-निर्माता एवं जनता इसके बहुपक्षीय निहितार्थों के प्रति अधिक संवेदनशीलन हो जाएँ, और यह सुनिश्चित करने के लिए जो भी कदम आवश्यक हों, उठाएँ कि व्यथा-प्रेरित कोई भी चीज और अधिक मानसिक आघात को जन्म न दे।

(**स्रोत** : जयती घोष, फ्रंटलाइन, खंड 22, अंक 10, मई 07-20, 2005)

शहरी-शहरी प्रवासन प्रवाह

शहरी से शहरी प्रवासन एक सामान्य दृश्यघटना है, विश्व के अन्य रूप से शहरीकृत भागों के साथ-साथ अल्प-विकसित देशों में थी। लोग एक शहरी स्थान से दूसरे शहरी स्थान को जाते हैं। सबब होता है— अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने हेतु काम तलाशना। यह एक आम अभिलक्षण है कि बड़े शहर अपने पड़ोस स्थित छोटे नगरों से लोगों को आकर्षित करते हैं। यह बात विशेष रूप से कुशल श्रमिकों के मामले में सत्य है। यह प्रथा क्रमवार (step-wise) प्रवासन कहलाती है। प्रथम चरण होता है अपने गाँव से किसी छोटे कस्बे/नगर में जाना; दूसरा चरण होता है उस छोटे नगर/कस्बे से किसी बड़े शहर में चले जाना। शहरी से शहरी प्रवासन एकाधिक कारणों से होता है— आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक भी। तेजी से बढ़ते शहर को श्रमिक आपूर्ति का यही मुख्य जरिया है।

शहरी से ग्रामीण प्रवासन एक प्रकार का प्रति-प्रवाह है। ऐसा इसलिए होता है कि विकसित देशों में वृहद् महानगर। बड़े शहर शहरीकरण का एक ऊँचा स्तर प्राप्त कर लेते हैं, जोकि अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक क्षेत्र में ग्रामीण श्रमिकों के समावेशन हेतु संभावना बढ़ा देता है। यह शहरों के अतिसंकुलन एवं फलस्वरूप पर्यावरण प्रदूषण व खराब स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं की वजह से आवास संबंधी समस्याओं की ओर भी प्रवृत्त करता है। यह प्रायः प्रवासियों को अपने मूल गाँवों की ओर लौटने पर मजबूर करता है। उल्लेखनीय है कि विकासशील देशों में ग्रामीण क्षेत्र आमतौर पर अल्पविकसित ही होते हैं। वहाँ ग्रामीण गरीब वर्ग को समायोजित करने हेतु संरचनात्मक सुविधाओं का अभाव होता है। विकसित देशों की कहानी एकदम अलग है। वहाँ के शहरों में यातायात का एक सुविकसित तानाबाना होता है जो सुदक्ष रूप से कार्य करता है। लोग बिना किसी खास परेशानी के अपने आवास-स्थल से कार्य-स्थल के बीच रोजाना यात्रा करते हैं। भारत में अनेक सेवानिवृत्त लोग अपने मूल गाँवों अथवा छोटे नगरों में ही बस जाने की ओर उन्मुख रहते हैं जहाँ कि उनकी अपनी संपत्ति होती है अथवा इसे वह बाद में अर्जित कर लेते हैं।

ध्यान देने की बात है कि शहरी से ग्रामीण प्रवाह बहुत आम नहीं है। यह आमतौर पर तब होता है जब लोग सामाजिक असुरक्षा अथवा शत्रुवत शासन व्यवस्थाओं द्वारा निष्कासन के कारण किसी महानगर, जैसे कोलकाता या मुम्बई से भाग जाते हैं।

26.6 प्रवासन के कारक

ऐसे कारकों की एक पूरी श्रृंखला है जो प्रवासन का कारण बनते हैं। ये कारक मुख्यतः आर्थिक होते हैं, जैसे ऊँची आय, बेहतर रोजगार अवसर, एवं अनौपचारिक क्षेत्र में नौकरियाँ, और साथ ही, जीवन का एक बेहतर स्तर। विवाह, सामाजिक असुरक्षा, गृह-युद्ध एवं अंतर्नृजातीय संघर्ष महत्वपूर्ण सामाजिक कारक हैं, जो प्रवासन के निर्णय को प्रभावित करते हैं। ये कारक लोगों को उनके देहा-गृहों से बाहर धकेलते हैं। प्रवासन की ओर प्रवृत्त करते ये कारक क्षेत्र-क्षेत्र और शायद व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसा कि ऊपर इंगित किया गया, दबाव एवं खिंचाव कारक प्रवासन के प्रवाहों को उत्पन्न करते हुए एक साथ काम करते हैं। दबाव कारक लोगों के बाहर निकल जाने पर बाध्य करते हैं, जबकि खिंचाव कारक लोगों को शहरी केंद्रों की ओर चले आने को आकर्षित करते हैं। देखा गया है कि प्रवासन औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकीय उन्नति और आम आदमी के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन-क्षेत्रों में विविध परिवर्तनों के कारण भी होता है। फिर कुछ अन्य कारक भी हैं, जैसे आर्थिक विकास में क्षेत्रीय विषमताएँ, किसी प्रदत्त क्षेत्र में अनुभूत रोजगार संभावनाएँ तथा शहर में वांछित सेवाओं हेतु माँग। इतिहास में असाधारण प्रकरण, जैसे युद्ध एवं आतंकवाद, भी प्रवासन की ओर प्रवृत्त करते हैं। अध्ययनों ने दर्शाया है कि प्रवासन की प्रक्रिया सरल नहीं वरन् एक जटिल दृश्यघटना है। प्रवासन को निर्धारित करने वाले कारकों को तीन प्रमुख श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : आर्थिक, सामाजिक एवं जनसांख्यिकीय।

आर्थिक कारक

देखा गया है कि जनसमुदाय स्थानांतरण में आर्थिक कारक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रवासन की आगति एवं दिशा आर्थिक दशाओं पर निर्भर करते हैं। कृषिभूमि की उपलब्धता एवं जोतों का आकार भी प्रवासन को प्रेरित कर सकते हैं। लोगों की अवनत आर्थिक दशाएँ और उनकी गरीबी की स्थिति बहिर्प्रवसन की ओर प्रवृत्त करती हैं। आर्थिक संपन्नता में एक उच्च रोजगार संभावना होती है और यह अंतर्प्रवसन की ओर प्रवृत्त करती है। औद्योगिक एवं कृषिप्रधान देशों में औद्योगिक केंद्र सदा ही ग्रामीण दबाव की अपेक्षा

अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। विकासशील देशों, जैसे भारत में, कृषि-विकास तेजी से हो रहा है। ये कारक लोगों को कृषिगत रूप से विकसित क्षेत्रों की ओर प्रवासन के लिए प्रेरित करते हैं, जहाँ व्यापक सिंचाई योजनाएँ, बीजों की ऊँची पैदावार वाली किस्में एवं यांत्रिक उपकरण हरितक्रांति ले आए हैं। पंजाब एवं हरियाणा में हरित-क्रांति क्षेत्रों में श्रमिकों की काफी अधिक माँग है। यह श्रमिक वर्ग उत्तरी भारत के अपेक्षाकृत अल्पविकसित क्षेत्रों में उपलब्ध होता है, जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार। बेहतर परिवहन एवं संचार के साधनों की उपलब्धता भी लोगों को प्रवासन के लिए प्रोत्साहित करती है।

सामाजिक कारक

आर्थिक कारकों की भाँति, सामाजिक कारक भी प्रवासन को अभिप्रेरित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदहारण के लिए, महिलाएँ विवाहोपरांत अपने पिता के घर से अपने पति के घर चली जाती हैं। ऐसा देश में प्रचलित भारतीय परंपराओं एवं मूल्यों के कारण होता है। इस प्रकार के प्रवासन का आर्थिक लाभ से कुछ लेना-देना नहीं होता। **चंदना** का कहना है कि धार्मिक स्वतंत्रता भी प्रवासन प्रक्रिया को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक हो सकता है। अन्य कारक भी प्रभावी होते हैं, जैसे सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति, सूचना नेटवर्क, सांस्कृतिक सम्पर्क, सामाजिक उत्थान की अभिलाषा, आदि। सामाजिक-आर्थिक संभावना को प्रवासन की व्याप्ति एवं दिशा निर्धारित करने हेतु एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में लिया गया है। भारत में, एक निम्न सामाजिक-आर्थिक प्रस्तर पर रहने वाले लोग अधिक गतिशील होते हैं, क्योंकि उनके पास कोई भूमि-सम्पदा नहीं होती जो उन्हें अपने मूल स्थानों से बाँधे रखे। इस बात के काफी प्रमाव मिलते हैं बेहतर शिक्षित, अधिक कुशल एवं आर्थिक रूप से सुसम्पन्न लोगों में प्रवासन की प्रवृत्ति अधिक है। उच्च प्रतिष्ठा वाली नौकरियों के लिए श्रम-बाजार सार्वत्रिक होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सभी उच्च पदस्थ समूह प्रवासन कर जाएँगे। उदाहरण के लिए, चिकित्सक, अभियंता, अधिवक्ता, वास्तुकार एवं अध्यापक जो पहले ही स्थापित हों, आसानी से नहीं जाएँगे। इसी प्रकार, ऐसे समुदाय जिनके परिवार के साथ सशक्त साम्प्रदायिक संबंध होते हैं, प्राचीन परंपरा एवं रीति-रिवाज निभाते हैं और आसानी से गमन नहीं करते हैं। आज के युग में सूचना नेटवर्क (इंटरनेट), ई-मेल एवं सांस्कृतिक संपर्कों ने रोजगार अवसरों का कार्यक्षेत्र विस्तीर्ण कर दिया है। कभी-कभी, सरकारी नीतियाँ भी प्रत्याशियों को किसी दिशा-विशेष में चले जाने में मदद करती हैं।

जनसांख्यिकीय कारक

ऐसे अनेकों जनसांख्यिकीय कारक हैं जो व्यक्ति को प्रवास करने को प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रवासी की आयु एक महत्वपूर्ण जनसांख्यिकीय कारक है। अल्पवयस्क लोगों में पूर्ण वयस्क लोगों की अपेक्षा बहिर्प्रवसन की कहीं अधिक प्रबल इच्छा होती है। इसी प्रकार, आर्थिक विकास में क्षेत्रीय विषमताएँ भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वास्तव में, जनसंख्या में स्वाभाविक वृद्धि की उच्च दर बहिर्प्रवसन हेतु आधार प्रदान करती है। कहा जाता है कि जनसंख्या की वृद्धि दर, अन्य बातों के अलावा, एक प्रदत्त भौतिक क्षेत्र में जनसंख्या दबाव की व्याप्ति को निर्धारित करती है। अटलांटिक के पार यूरोपीय जनसमुदाय का आवागमन प्रवसन के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में कार्य करते हुए आर्थिक विकास हेतु संभावना में एक अंतराल का उदाहरण है। समकालीन भारत में, जनसंख्या का पुनर्वितरण अंशतः क्षेत्रीय विकास में विषमताओं से जुड़ा हुआ है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के सघन रूप से बसे भागों से बड़े पैमाने पर बहिर्प्रवसन अधिकांशतः मूल गाँवों में घटते भू-संसाधनों की वजह से है।

यह, बहरहाल, उल्लेखनीय है कि प्रवासन प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक अनेक हैं और कोई एक कारण एवं प्रभाव संबंध स्थापित करना आसान नहीं है। हाल के

अनुसंधान ने समष्टि स्तर पर विविध कारकों की भूमिका को उजागर किया है। समष्टि स्तरीय अध्ययन प्रवसन के कारकों की कहीं अधिक बोधगम्य तस्वीर प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रवासी चयन

प्रवासी चयन की संकल्पना दर्शाती है कि एक आयु एवं व्यवसाय विशेष में कुछ समूह दूसरों की अपेक्षा प्रवासन के पक्ष में अधिक रहने की संभावना रखते हैं। प्रवासन के कारणों, प्रकार एवं परिणामों के साथ प्रभावशाली ढंग से पेश आने के लिए वह सबसे पहले बताया जाना चाहिए कि प्रवासन प्रक्रिया चयनात्मक क्यों है। जनसमुदाय के कुछ घटक दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रवासी होने की प्रवृत्ति रखते हैं। इसी को प्रवासी चयन कहा जाता है। वास्तव में, छोटे वयस्क और बड़े तरूण पूर्व वयस्कों के मुकाबले अधिक प्रवासन की प्रवृत्ति रखते हैं। "उन्नीसवीं शताब्दी में अमेरिका में प्रवेश करने वाले लाखों आप्रवासियों में से दो-तिहाई से लेकर तीन-चौथाई तक 15-40 वर्ष आयु के बीच होते हैं।" "आयु के अतिरिक्त, लिंग भी प्रवासी चयन का एक महत्वपूर्ण घटक है। यद्यपि ऐसे कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है, बहिर्प्रवसन प्रमुख रूप से पुरुष-प्रधान होता है। प्रस्थान का क्षेत्र अधिक सशक्त रूप से नारी-प्रधान बन जाता है, जबकि आगमन का क्षेत्र अधिकता से पुरुषों के वृहद् भाग द्वारा अभिलक्षित होता है" (त्रेवर्दा 1969 : 137; बॉक्स 4 भी देखें)।

अतएव यह कहा जा सकता है कि कुछ व्यावसायिक समूह दूसरों की अपेक्षा प्रवासन की अधिक संभावना रखते हैं। प्रवासी चयन का यह एक उपयुक्त उदाहरण है। "साधारणतः चयन प्रस्थान की जगह वाली दशाओं की अपेक्षा गंतव्य की जगह वाली दशाओं पर अधिक निर्भर प्रतीत होता है।" (त्रेवर्दा 1969 : 138-139)।

सोचें और करें 26.2

1) भारत में प्रवासन प्रतिमान का मुख्य प्रवाह आप किसे मानते हैं?

2) क्या आप मानते हैं कि राज्य को प्रवसन पर नीति बनानी चाहिए, ताकि यह प्रवासियों की दुर्दशा को सुधार सके?

3) भारत में अंतर्प्रवसन किस तरीके से अंतर्राष्ट्रीय अथवा बाहरी प्रवसन से भिन्न है?

MAADHYAM IAS

26.7 प्रवासन का प्रभाव

प्रवासन कोई साधारण दृश्यघटना नहीं है। यह गृह-ग्रामों के साथ-साथ गंतव्य के क्षेत्रों में भी जनसमुदाय संरचना में परिवर्तन ला देती है। यह आमतौर पर विदित है कि जनसमुदाय प्रवासन के पश्चगामी के साथ-साथ अग्रगामी संबंध भी होते हैं। वास्तव में, यह एक सशक्त उत्प्रेरक अभिकर्त्ता है। यह प्रवासियों एवं उनके परिवारों को गंतव्य क्षेत्रों/देशों में आत्म-निर्भरता के स्तर-विशेष एवं जीवन के एक बेहतर स्तर को पा लेने में मदद करता है। वास्तव में, प्रवासन की व्याप्ति पर निर्भर करते हुए, देश और विदेश दोनों में जनसमुदाय संघटन में परिवर्तन आता है। अधिक महत्वपूर्ण रूप से, जनसांख्यिकीय परिदृश्य में प्रचण्ड रूप से परिवर्तन आता है, जो संस्कृति, भाषा, जीवनस्तर की गुणवत्ता, एवं ज्ञान के अंतर्वाह की ओर प्रवृत्त करता है। आप्रवासी स्वयं को गंतव्य देशों में विद्यमान दशाओं के प्रति अनुकूलित कर लेते हैं। प्रवासन एक सांस्कृतिक परिवर्तन ले आता है जिसकी एकाधिक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। यहाँ तक कि स्थान नाम भी गंतव्य-क्षेत्रों तक पहुंच जाते हैं। उदाहरण के लिए, न्यू लंदन, न्यूयॉर्क (दोनों अमेरिका में), न्यू साउथ वेल्स (ऑस्ट्रेलिया), न्यू प्लाइमाउथ (न्यूजीलैंड), न्यू कैसल (ऑस्ट्रेलिया), आदि सभी मानवेच्छा के ऐसे उदाहरण हैं जो उनके द्वारा छोड़कर आए गए स्थानों की स्मृतियों को ताजा रखेंगे। ब्रिटिश भारत के विभाजन उपरांत पाकिस्तान प्रवासित मुसलमानों ने वहाँ अपनी बस्तियों के नाम भारत स्थित गृह-नगरों के नाम पर रख लिए, विशेष रूप से सिंध प्रांत।

बताया जाता है कि गंतव्य क्षेत्र आमतौर पर लाभांवित होते हैं, जबकि मूल क्षेत्र नुकसान में रहते हैं। जब शैक्षिक रूप से योग्यता प्राप्त कार्मिक बाहर जाते हैं तो उनका प्रवासन "प्रतिभा पलायन" अर्थात् बुद्धिजीवियों का विदेश चले जाना कहलाता है। इस प्रकार का प्रवासन गंतव्य देशों के आर्थिक विकास में एक महती भूमिका निभाने की संभवना रखता है। तथापि, मूल क्षेत्र भी प्रवासियों द्वारा किए जाने वाले धन-प्रेषण से लाभांवित होते हैं। उदाहरण के लिए, जर्मनी में तुर्की के श्रमिक और सिंगापुर में फिलीपीन्स की नौकरानियाँ दीर्घ काल से ही इन श्रम-अभाव क्षेत्रों के आर्थिक में एक अतिमहत्वपूर्ण भूमिका निभाते आए हैं परिवर्तन के अन्य आयाम भी देखने में आते हैं। योग्यता प्राप्त श्रमिकों, जैसे वैज्ञानिक, अभियंता, खासकर सॉफ्टवेयर इंजीनियर, का प्रवासन स्वदेश में बेरोजगारी घटाने और गंतव्य क्षेत्रों में अपनी सेवाओं के माध्यम से आय कमाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत सदा ही अपने उच्च योग्यता प्राप्त कार्मिकों के विश्व के अन्य भागों, जैसे पश्चिम एशिया, खासकर खाड़ी क्षेत्र में उत्तरोत्तर बहिर्प्रवसन के कारण काफी नुकसान उठाता रहा है। लोग इसलिए बाहर चले जाते हैं क्योंकि यूरो-डॉलर की चमक उन्हें आकर्षित करती है। वे जाहिराना तौर पर अपने गृह-प्रदेश में अपनी आर्थिक दशाओं से खुश नहीं होते। वहाँ पहुँच कर वे अपने परिवार में बदलाव ले आते हैं। गंतव्य देशों में अंतर्नृजातीय विवाह प्रायः होते हैं। अनिवासी भारतीयों (एन आर आई) का एक नया वर्ग उभरकर आया है। वे न सिर्फ घर रुपया भेजते हैं बल्कि अपने साथ नए सांस्कृतिक प्रभाव भी ले आते हैं। विचारधाराएँ बदलती हैं और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया संस्कृतियों एवं नवप्रर्वतनों के प्रसरण एवं संश्लेषण हेतु एक आम माध्यम बन जाती है।

कभी-कभी जनसमुदाय संचलन मात्रात्मक रूप से सशक्त होता है। इस स्थिति में परिवर्तन सर्व-समावेशकारी होता है। उदाहरण के लिए, विभाजन पश्चात् बिहार और उत्तर प्रदेश के मुसलमान पश्चिमी पाकिस्तान के सिंध प्रांत में चले गए। कराची, हैदराबाद एवं पड़ोस के छोटे नगरों में आप्रवासीजन एवं उनकी बस्तियाँ पूर्व-स्थित सिंधियों के लिए खतरा बन गए। शीघ्र ही ये आप्रवासी अंतर्नृजातीय टकरावों एवं गृह-युद्ध की ओर प्रवृत्त करते तनाव का स्रोत बन गए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.8 प्रवासन प्रवृत्तियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय प्रवासन

"अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन" शब्द एक राष्ट्र व दूसरे के बीच प्रचलित आवास के परिवर्तन की ओर संकेत करता है। सीमाओं के पार ऐसे प्रवासियों के बहुत बड़े बहुमत का अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं है कि उन्होंने अपने प्रचलित निवास को बदलने का फैसला कर लिया है। अंतर्राष्ट्रीय एवं आंतरिक, दोनों प्रकार के प्रवासन में प्रचलित आवास का परिवर्तन शामिल होता है। एक अन्य रोचक अभिलक्षण यह है कि अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन का अभिलिखित उल्लेख अनभिलिखित/अप्राधिकृत प्रवासन की अपेक्षा काफी कम मिलता है। ऐसा इसलिए है कि लोग अंतर्राष्ट्रीय सीमाएँ गुपचुप ढंग से पार करते हैं। किसी भी उदाहरण में, विशुद्ध अंतर्राष्ट्रीय आप्रवासन सदा ही प्रवेश के देश में जनसंख्या परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण घटक रहा है। उल्लेखनीय है कि उत्प्रवासन के फलस्वरूप छोड़े गये देशों के जनसंख्या संघटन में महत्वपूर्ण परिवर्तन दर्ज किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र की एक नीति-अभियुक्ति के अनुसार, एक वर्ष से अधिक किसी भी साभिप्राय वास के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय स्थान-परिवर्तन को अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन की श्रेणी में लिया जाए। दुर्भाग्यवश, अंतर्राष्ट्रीय स्थान-परिवर्तन प्रवासन की परिभाषा पर देशों के बीच कोई एकरूपता नहीं है। अनेक सरकारें, जिनमें अमेरिकी सरकार शामिल है, आप्रवासन पर आँकड़े एकत्र करती हैं परंतु उत्प्रवासन पर नहीं। सरकारों द्वारा प्रकाशित आप्रवासन विषयक सभी आँकड़े केवल वैध आप्रवासन

को दर्शाते हैं जबकि अवैध अथवा अनभिलिखित आप्रवासन विषयक आँकड़े सारणीबद्ध नहीं मिलते (बर्गटा 1992 : 986-87)। सूचना में यह अंतराल अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन के अध्ययन में एक गंभीर बाधा है।

भारत में प्रवासन प्रवृत्तियाँ

भारत में प्रवासन-प्रवृत्तियों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : अंतःराज्यीय (Intrastate) प्रवासन और अंतर्राज्यीय (Interstate) प्रवासन। प्रयुक्त शब्दावली भ्रामक सिद्ध न हो इसलिए कुछ उदाहरण दृष्टव्य है। जब कोई परिवार उत्तर प्रदेश स्थित आगरा जिले से पड़ोस से राजस्थान स्थित भरतपुर जिले की ओर चला जाता है तो इसे अंतर्राज्यीय प्रवासन कहा जाऐगा, बेशक तय की गई दूरी कम है। दूसरी ओर, यदि कोई परिवार अथवा अविवाहित व्यक्ति आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले से उसी राज्य में आदिलाबाद अथवा गुण्टुर जिले में रहने लगता है तो इसे अंतःराज्यीय प्रवासन कहा जाएगा, यद्यपि काफी लम्बी दूरी तय की गई है। अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दूरी कोई निर्याणक कसौटी नहीं है।

अंतःराज्यीय प्रवासन

अध्ययन दर्शाते हैं कि भारत में प्रवासीजन आमतौर पर लम्बी दूरियाँ तय नहीं करते हैं। वे सामान्यतया अपने जन्म/मूल राज्य के भीतर ही स्थान परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार का प्रवासन अंतःराज्यीय कहलाता है। जनगणना अभिलेखों के आधार पर अनुमान दर्शाते हैं कि लोग अधिकांशतः एक ही राज्य में एक गाँव से दूसरे की ओर स्थानांतरण करते हैं। ऐसे लगभग 20 करोड़ लोग हैं जो सामान्यतः राज्य के भीतर ही स्थान-परिवर्तन किए हुए हैं। यह श्रेणी कुल प्रवासियों का लगभग 70 प्रतिशत है। दूसरी ओर, केवल नौ प्रतिशत प्रवासी ही छोटे नगरों/कस्बों से शहरों की ओर स्थानांतरित हुए हैं। लगभग 15 प्रतिशत अंतःराज्यीय प्रवासीजन ग्रामीण से शहरी इलाकों की ओर जाते हैं, जबकि छह प्रतिशत ही उल्टी दिशा, यथा शहरी से ग्रामीण इलाकों, की ओर जाते हैं।

MAADHYAM IAS

एक रोचक तथ्य यह है कि कुल मिलाकर लगभग 75 प्रतिशत अंतःराज्यीय प्रवासी स्त्रियाँ हैं। यह दर्शाता है कि भारत में नारी-प्रवसन का अधिकांश भाग विवाह से जुड़ा है। लगभग सात प्रतिशत नारी-प्रवासी एक शहरी केंद्र से दूसरे की ओर जाते हैं; लगभग 12 प्रतिशत ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों की ओर स्थान-परिवर्तन करते हैं।

प्रवासियों में लगभग पाँच करोड़ पुरुष हैं। वे मुख्यतः ग्रामीण से ग्रामीण प्रवाह में चलते हैं। यह प्रवाह शहरी से शहरी श्रेणी का लगभग एक-बटा-छह भाग है। लगभग एक-चौथाई भाग ग्रामीण से शहरी और 8 प्रतिशत शहरी से शहरी प्रवाह में है।

अंतर्राज्यीय प्रवासन

प्रवासन पर जनगणना आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत में अंतर्राज्यीय स्थान-परिवर्तन अंतःराज्यीय प्रवासन के मुकाबले काफी कम है। कुल मिलाकर लगभग 2.7 करोड़ प्रवासी राज्य-सीमाओं को पार करते हैं। इनमें से एक-तिहाई से कुछ कम ही ग्रामीण से ग्रामीण प्रवाह से संबंध रखते हैं; दूसरा एक-तिहाई शहरी से शहरी प्रवाह से संबंध रखता है और तीसरा तिहाई ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों की ओर स्थानांतरण करता है। शहरी से ग्रामीण इलाकों की ओर जाने वाले कुल प्रवासी मात्र सात प्रतिशत हैं। आँकड़े दर्शाते हैं कि अंतर्राज्यीय प्रवासियों की श्रेणी में कोई 1.5 करोड़ महिलाएँ भी शामिल हैं। उनमें लगभग दो-बटे-पाँच भाग ग्रामीण इलाकों के ही भीतर, लगभग एक-तिहाई शहरी क्षेत्र में, यथा वे एक शहरी केंद्र से दूसरे में जाते हैं; इस श्रेणी के लगभग एक-चौथाई शहरी स्थानों से गाँवों की ओर स्थानांतरण करते हैं।

26.9 निष्कर्ष

हमने भारत में प्रवासन के विभिन्न पहलुओं को देखा। हमने यह जानने का प्रयास किया कि प्रवासन का क्या अर्थ है और प्रवासन को समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं जनसांख्यिकीविदों द्वारा की गई कुछ समुक्तियों पर भी नजर डाली। हमने विभिन्न प्रवाहों, प्रवृत्तियों एवं कारकों का विश्लेषण किया जो कि विभिन्न प्रकार के प्रवासन में परिलक्षित होते हैं। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में प्रवासन निरंतर बढ़ता जा रहा है, खासकर परादेशीय प्रवासन और यह समाजों की नितांत प्रकृति को बदलता जा रहा है, मूल देशों में भी और उन देशों में भी जहाँ लोग प्रवास करते हैं। इससे प्रवासन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया बन जाती है जिसे पूरी तरह समझे जाने और विश्लेषित किए जाने की आवश्यकता है।

26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चन्दना, आर.सी. (1986), *ए जिओग्राफी ऑफ पॉपुलेशन*, कल्याणी पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

प्रेमी, एम.के. व अन्य (1983), *ऐन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल डिमोग्राफी*, विकास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

त्रेवर्दा, जी.टी. (1969), *ए जिओग्राफी ऑफ पॉपुलेशन : वर्ल्ड पैटर्न्स*, जॉन विली एंड संस इंक., लन्दन।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 27

औद्योगीकरण

इकाई की रूपरेखा

27.1 प्रस्तावना

27.2 औद्योगिक प्रक्रिया का अर्थ

27.3 औद्योगीकरण प्रक्रिया की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

27.4 औद्योगिक समाज पर सामाजिक चिंतक

27.5 भारत में औद्योगीकरण

27.6 औद्योगीकरण पर गाँधीवादी व नेहरूवादी चिंतन

27.7 औद्योगोत्तर समाज

27.8 निष्कर्ष

27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- औद्योगीकरण का अर्थ समझ सकेंगे;
- औद्योगीकरण के उद्‌गम तलाश कर सकेंगे;
- उद्योग-समाज पर लिखी पुस्तकों का अनुशीलन कर सकेंगे; और
- भारत में औद्योगिक प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.1 प्रस्तावना

मई 1851 में महारानी विक्टोरिया ने "ग्रेट एक्जीबिशन" का उद्‌घाटन किया, जोकि पूर्वगढ़ लोहे और क्रिस्टल पैलेस नामक काँच से निर्मित हुई थी। यह प्रदर्शनी ब्रिटेन की उपलब्धियों और औद्योगिक शक्ति को दर्शाती थी। उस समय तक ब्रिटेन अपना आधा ही लोहा व कोयला तथा सूत पैदा करता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते उसकी 75% आबादी तेजी से उभरते शहरी क्षेत्रों में रहने लगी थी और उसकी 80% से अधिक आबादी गैर-कृषि कार्यकलापों में लगी थी। सन् 1900 में अमेरिका, जर्मनी व अन्य कई देश जो शक्तिशाली औद्योगिक देशों के रूप में उभरे थे, ने औद्योगीकरण का ही मार्ग अपनाया। आप, वस्तुतः, जानते हैं कि औद्योगीकरण क्या है और अपनी भौतिक संपदा में किस कदर शक्तिशाली ये औद्योगिक देश हैं तथा किस प्रकार हम सब विकसित औद्योगिक देशों जैसा बनने को संघर्षरत हैं। औद्योगीकरण अर्थव्यवस्था और समाज के हर पहलू को समेटे एक इतनी व्यापक दृश्यघटना थी कि इसके समय, गति, कारणों एवं निष्कर्षों के विषय में बहस के लिए हमेशा गुंजाइश बनी रहेगी। परिवर्तन की जड़ें अतीत में कहीं गहरे समाई हुई, परंतु अट्‌ठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से औद्योगीकरण में गति आई। जो पहले धीमा और टुकड़ों में था औद्योगीकरण ने 1837 में महारानी विक्टोरिया की ताजपोशी होने तक चंद ही लोगों और संस्थाओं को परिवर्तन से अछूता छोड़ा।

इस इकाई में हम औद्योगीकरण की प्रक्रिया और समाज में परिणामी परिवर्तनों को समझने का प्रयास करेंगे। सबसे पहले हम इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति में औद्योगीकरण के इतिहास पर नजर डालेंगे। तदोपरांत, हम प्रौद्योगिकियों एवं उत्पादन प्रक्रिया में इस दूरगामी क्रांति के एक परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तनों की समीक्षा करेंगे। हम विभिन्न विद्वानों की दृष्टि से इस प्रक्रिया को भी समझने का प्रयास करेंगे। फिर हम देखेंगे कि भारत के लिए औद्योगीकरण का मतलब और वृहत्तर समाज हेतु उसके निहितार्थ क्या है। परंतु सर्वप्रथम आइए, औद्योगीकरण के अर्थ और उसके विशेषतासूचक अभिलक्षणों को समझें।

27.2 औद्योगीकरण प्रक्रिया का अर्थ

औद्योगीकरण माल व सेवाएँ उत्पादित करने हेतु प्रयुक्त प्रौद्योगिकी में एक परिवर्तन प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। यह मूल आर्थिक प्रक्रिया राज्य-व्यवस्था और समाज में महाक्रांतिक परिवर्तन प्रौद्योगिकीय प्रवर्तन के साथ गहरे जुड़ा हुआ है, खासकर वृहद्-स्तरीय ऊर्जा उत्पादन एवं धात्विकी के विकास से। औद्योगीकरण एक प्रकार के सैद्धांतिक परिवर्तन, अथवा प्रकृति के अवबोधन में एक भिन्न अभिदृष्टि से भी संबंध रखता है, यद्यपि ये सैद्धांतिक परिवर्तन औद्योगीकरण की वजह से होते हैं अथवा औद्योगीकरण सैद्धांतिक परिवर्तन की वजह से होता है, बहस का विषय है। यह समझने के लिए कि क्यों किसी प्रौद्योगिक परिवर्तन को समाज में इस प्रकार के दूरगामी परिवर्तन लाने चाहिए, उत्पादन के औद्योगिक स्वरूप संबंधी अनिवार्य अभिलक्षणों को ध्यान में रखना जरूरी है।

औद्योगीकरण के महत्वपूर्ण अभिक्षण इस प्रकार हैं :

कारखाने (Factories) : औद्योगिक सभ्यता का प्रामाणिकता चिह्न है — बड़ा कारखाना, जो बड़ी संख्या में श्रमिकों को एक छत के नीचे लाता है और उन्हें ऊर्जा के निर्जीव स्रोतों द्वारा चालित यंत्रों पर काम में लगाता है, जैसे भाप, गैस अथवा बिजली। औद्योगिक प्रतिष्ठान श्रम-विभाजन के एक नए स्वरूप को जन्म देता है — प्रतिष्ठान के भीतर प्रौद्योगिकीय श्रम-विभाजन। बड़े पैमाने के कारखाने में यंत्र एवं उपकरणों के रूप में नियत पूँजी जैसे विशाल धन राशि के निवेश की आवश्यकता होती है। इससे एक उद्यमी वर्ग को आमंत्रण मिलता है जो कि आवश्यक पूँजी को उगाह सकता हो और उद्यम के सफलतापूवर्क संचालन में शामिल जोखिम उठा सकता हो। इसमें श्रमिकों को उनके औजारों से पृथक् कर देने का प्रभाव होता है। वे ऐसे उत्पादन कार्य अथवा साधनो हेतु वेतनभोगी श्रमिक बन जाते हैं जो उनकी अपनी संपदा नहीं होते। व्यापक उत्पादन तकनीकें विशिष्ट रूप से कामों को सरल, एकरस एवं पुनरावर्तनीय कौशलों में विखंडित कर देने की ओर उन्मुख रहती है। वृहद्-स्तरीय उद्योग को दफ्तरशाही ढंग से संगठित किए जाने की आवश्यकता है और उत्पादन को एक वृहद् एवं निर्वैयक्तिक बाजार में लाए जाने की जरूरत थी। इससे समाज में चल रहे मौद्रीकरण एवं व्यावसायीकरण की प्रक्रिया निर्धारित होती है। बदले में, निर्वैयक्तिक बाजार शक्तियाँ, जैसे बदलती रुचियाँ एवं अधिमान तथा माँग में उतार-चढ़ाव यथार्थतः उत्पादन प्रक्रिया पर काफी असर डालती हैं।

शहरीकरण (Urbanisation) : उत्पादन प्रौद्योगिकीयों में परिवर्तनों ने सामाजिक परिवर्तनों की ओर प्रवृत्त किया, जो कि दूरगामी थे। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया, उत्पादन एवं श्रमिक संबंधों की नितांत प्रकृति लघु हस्त शिल्पों से कारखानों में संकेंद्रित उत्पादन प्रक्रिया में बदल गई, जहाँ पूर्ववर्ती या तो परिवार के अथवा गण के स्वामित्व में थे और परवर्ती जनता के उद्यमी वर्ग के स्वामित्व में होते थे। कारखनों के बड़े पैमाने पर उत्पादन ने श्रमिकों की मांग को जन्म जो दिया कि स्थान-केंद्रित होती थी। अतः, औद्योगीकरण के शुरुआती दौर में, जहाँ कहीं भी कारखाने स्थापित होते थे, वहाँ उत्पादन केंद्र बन जाते थे जोकि परंपरागत कृषि-आधारित उतपादन से एकदम भिन्न होते थे। लोग बड़ी संख्या में शहरों की ओर पलायन कर गए और फलस्वरूप अनेक शहरी केंद्र बन गए।

18वीं एवं 19वीं शताब्दियों में, इंग्लैंड में खासकर, फसल-चक्रण, पशुओं की वरणक्षम नस्लें, व कृषि में नए औजारों जैसे नवप्रवर्तनों ने उत्पादकता में अत्यधिक सुधार की ओर प्रवृत्त किया। इसका मतलब, एक वृहत्तर कृषि अधिशेष उत्पन्न हो रहा था जिसका अर्थ था शहरी जनसमुदाय को पोषित किया जा सकता था। शहरीकरण सभी औद्योगीकृत देशों का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण है — जितना अधिक कोई देश औद्योगीकृत होगा उतना ही अधिक शहरी केंद्रों में जन संकेंद्रण होगा।

27.3 औद्योगिक प्रक्रिया की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

18वीं शताब्दी में, समाज में परिवर्तनों की एक श्रृंखला ने उत्पादन प्रक्रिया में क्रमिक परिवर्तन लाना शुरू कर दिया — उत्पादन प्रक्रिया में उत्तरोत्तर विद्युत चालित मशीनें प्रयोग की जाने लगीं। परिवर्तनों की यह श्रृंखला 18वीं शती के इंग्लैंड में सबसे अधिक तेजी से बढ़ी और इन परिवर्तनों के न केवल इंग्लैंड के लिए बल्कि यूरोप व विश्व के शेष भाग हेतु भी नाटकीय एवं दूरगामी प्रभाव हुए। निश्चय ही आपने स्कूल में और अन्यत्र इतिहास पढ़ते समय औद्योगिक क्रांति के विषय में जाना होगा। आइए, संक्षेप में फिर से बता दें कि औद्योगिक क्रांति का क्या अर्थ था और किस प्रकार उसने औद्योगीकरण की ओर ले जाते हुए, समाज में परिवर्तनों की एक श्रृंखला को जन्म दे दिया।

औद्योगिक क्रांति

औद्योगिक क्रांति को विनिर्माणन् हेतु विद्युतचालित मशीनों के अनुप्रयोग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका परोक्ष काल में जन्म हुआ, और कुछ स्थानों में आज भी चालू है। ग्यारहवीं शताब्दी में पूरे पश्चिमी यूरोप ने तेजी से उद्योगीकृत होना शुरू कर दिया, परंतु इस प्रक्रिया ने इंग्लैंड में सबसे तेजी से विकास किया। इंग्लैंड में अग्रणी शुरुआत का श्रेय अनेक समसामयिक कारकों के उद्गमन को दिया जा सकता है। इंग्लैंड को बड़ी मात्रा में ईंधन एवं कच्चा माल की आपूर्ति की जाती थी, जोकि वह विदेश-स्थित अपने उपनिवेशों से प्राप्त करता था। कोयला एवं लोहा खनन करने हेतु प्रचुर श्रमिक आपूर्ति थी। चाय एवं तम्बाकू के व्यापारियों के पास प्रौद्योगिक एवं वैज्ञानिक नवप्रवर्तन में लगाने को पैसा था, और उन वैज्ञानिक क्रांतियों में इजाफा करने को भी जो पहले से हो रही थी।

कृषिक नवप्रवर्तन : सन् 1760 व 1830 के मध्य इंग्लैंड कृषिगत तकनीकों में भी नवप्रवर्तनकारी परिवर्तनों का अनुभव कर रहा था। जैसाकि हमने पहले उल्लेख किया, फसल-चक्रण अपनाया जाता था, जिससे भूमि हर फसल के बाद परती नहीं पड़ पाती थी। खुले खेत व्यवस्था ने आबद्ध सघन खेती का मार्ग प्रशस्त किया। जैट्रो टुल ने कुदाल एवं बीज बेधक का आविष्कार किया और बेकवैल ने पशुधन प्रजनन की शुरुआत की। बेकवैल ने दर्शाया कि खाद्य गुणवत्ता के लिए किस प्रकार प्रजनन करें। बेकवैल ने अपने पशुओं को चुना, उनका अंतःप्रजनन किया, विस्तृत वंश-अभिलेख रखे, और अपने पशुधन को ध्यानपूर्वक पोषित किया। वह खासतौर पर भेड़ के अध्ययन सफल रहे, तथा शताब्दी-अंत से पूर्व ही उनका अंतःप्रजनन (inbreeding) सिद्धांत भलीभाँति स्थापित हो गया।

प्रौद्योगिकीय परिवर्तन : अठाहरवीं शताब्दी के प्रौद्योगिकीय परिवर्तन अचानक नहीं हुए। सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी में काँच, आभूषण एवं रासायन आदि बनाने की विधियों में उल्लेखनीय उन्नति हुई। इंग्लैंड में 1700, और फ्रांस में 1750 तक राज्य व गणों की औद्योगीकरण का विरोध करने की प्रवृत्ति क्षीण पड़ चुकी थी। वस्तुतः औद्योगीकरण में लोक रुचि प्रयोगात्मक कृषि द्वारा निष्कर्षित उत्साह जैसी ही थी।

इंग्लैंड में 18वीं शताब्दी के आरंभ तक मशीनों का प्रयोग पहले ही व्यापक हो चुका था। 1762 में मैथ्यू बोल्टन ने ऐसा कारखाना लगाया जिसमें छह सौ से भी अधिक श्रमिक काम

करते थे, और दो विशाल पनचक्कतियों से विद्युत अनुपूर्ति हेतु एक भाप इंजन भी लगाया जो तरह-तरह की खराद एवं पॉलिश व घिसाई मशीनें चलाता था। 1733 में जॉन के. ने अपनी उड़न यात्री-सेवा (शटल) को एकस्वाधिकृत करा लिया और उन्हीं दिनों जेम्स हरग्रीव्ज ने कातने की मशीन ईजाद की, जिसमें एक ही चालक अनेक धागों को कात सकता था। 1779 में सैम्युअल क्रॉम्प्टन ने "क्राम्प्टन म्यूल" नामक एक मशीन का आविष्कार किया जो महीन मजबूत तागा बनाती थी। 1812 तक सूत तागा बनाने की लागत नौ-दाई तक गिर चुकी थी, और 1800 तक ऊन को तागे में बदलने हेतु आवश्यक श्रमिकों की संख्या चार-बटा-पाँच भाग तक घट चुकी थी। और 1840 तक सर्वोत्तम ऊनी वस्त्र बनाने की श्रम-लागत कम-से-कम आधे तक गिर चुकी थी।

परिवहन में उन्नति : 1773 में जेम्स वॉट द्वारा भाप का इंजन विकसित किया जाना औद्योगीकरण की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। औद्योगीकरण द्वारा प्रेरित अन्य नव-प्रवर्तनों एवं खोजों में शामिल हैं — विद्युत उत्पादन एवं रेलमार्ग। 1936 तक इंग्लैंड पूरे देश में विद्युत तारों का जाल बिछा चुका था। बिजली उन प्रमुख कारकों में एक थी जिसने 1930 के दशक में रूस को तीव्र औद्योगीकरण की ओर प्रवृत्त किया। रेलमार्ग 19वीं-20वीं शताब्दी में उभरते औद्योगिक राज्यों का एक अन्य अभिलक्षण थे। भाप का रेल-इंजन बनाने में अंग्रेजों की सफलता, बहरहाल, अधिकांश यूरोपीय देशों में रेलमार्ग-निर्माण को बढ़ावा देने को काफी थी, जोकि प्रायः ब्रिटेन की पूँजी, उपकरण एवं तकनीकों से ही होता था। रेलमार्ग ब्रिटिश निर्यात की एक मानक मद बन गए। 1842 के पश्चात् फ्रांस ने एक ऐसी रेलमार्ग व्यवस्था शुरू की जिसमें निजी एवं सार्वजनिक उद्यम का संयोजन था। सरकार मार्गतल मुहैया कराती थी और फिर उसे किसी निजी कम्पनी को पट्टे पर उठा देती थी, जो कि उपकरण उपलब्ध कराती हो।

रूस, कनाड़ा व अमेरिका में रेलमार्ग विशाल दूरियों द्वारा पृथक्क समुदायों को जोड़ने का काम करते थे। जर्मनी में विस्तृत खाली स्थान नहीं थे, परंतु रेलमार्ग राजनीतिक एवं आर्थिक एकीकरण को अवश्य प्रभावित करते थे। मोटरकारों में प्रयुक्त अंतर्दहन इंजन ने 20वीं शती-मध्य के सामाजिक प्रतिमानों में पूरी तरह से क्रांति ला दी। स्वचालित वाहन उद्योग में बढोत्तरी ने निवेश हेतु वृहद् क्षेत्रों को जन्म दिया, नए प्रकार के सेवा व्यवसाय उतपन्न किए, और सड़क-निर्माण में क्रांति ला दी। यह बात द्वितीय विश्वयुद्ध पश्चात् पश्चिमी यूरोप के साथ-साथ अमेरिका के विषय में भी सत्य थी।

प्रथम विश्व युद्ध में व्यावसायिक उड्डयन की शुरुआत दिखाई दी। जर्मनी की भौगोलिक दशा एवं फ्रांस द्वारा लागू सैन्य विमान पर पाबंदी ने असैनिक वायुमार्गों के विकास की ओर प्रवृत्त किया। 1929 तक व्यावसायिक वायुयान यूरोपीय राजधानियों से विश्व के सभी महत्वपूर्ण स्थानों तक उड़ान भरने लगे। और वह दिन दूर नहीं था जब व्यावसायिक यात्री वाहकों के रूप में रेलगाड़ियों को वायुयान ग्रस्त करने लगे।

संचार माध्यम : 1876 में, फोन पर मानवस्वर के प्रसारण ने संचार के क्षेत्र में क्रांति ला दी। "यद्यपि ऐसा टेलीफोन के लोकप्रिय होने के कई दशकों पहले से था। शताब्दी-के अंत तक आते-आते बेतार तार-प्रेषक (Telegraph) महासागरों में चलने वाले यानों पर एक मानक सुरक्षा उपकरण बन गया। रेडियो 1920 तक नहीं आया था; फिर इसका व्यावसायिक दोहन अमेरिका में यूरोप की अपेक्षा काफी व्यापक रूप से हुआ। यूरोप में प्रसारण व्यवस्थाएँ राज्य संचालित अथवा उसके कड़े नियंत्रण में होती थीं और व्यावसायिक विज्ञापन प्रसारण पर पाबंदी थी। यह ज्ञात होने पर कि डाक पहुँचाने में विवेचनात्मक लागत उठाने-रखने में आती थी, न कि प्रेष्य दूरी के कारण, 1840 में ब्रिटेन में सभी पत्रों पर "पेनी पोस्ट" की शुरुआत की गई। आधा-औंस या उससे कम भार के सभी पत्रों को एक इंगलिस्तानी पेनी (दो सेंट) पर भेजा जा सकता था। 1875 तक बाहरी देशों के बीच डाक के प्रसारण में सुविधा के लिहाज से विश्व-डाक संघ (Universal Postal Union) की

स्थापना की गई। 1871 में तार-प्रेषण केबल लंदन से ऑस्ट्रेलिया पहुँचा संदेश मिनटों में ही आधी दुनिया को लाँघ-कर पहुँच जाते थे, जिससे व्यावसायिक आदान-प्रदान में तेजी आई। संसार निरंतर तेजी से सिकुड़ने लगा क्योंकि परिवहन एवं संचार के नए साधनों ने जीवन की गति को बढ़ा दिया था।" (स्रोत : http://mars.acnet.wnec.edu/-grempel/courses/wc2/lectures/industrialrev)

बदलते सामाजिक प्रतिमान : कृषि, परिवहन एवं संचार के क्षेत्र में अपनी सहायक क्रांतियों के साथ औद्योगिक क्रांति समाज में अत्यधिक परिवर्तन ले आई। इस क्रांति के परिणामों ने मानव श्रम, उपभोग, पारिवारिक संरचना, सामाजिक संरचना और यहाँ तक कि व्यक्ति की नितांत आत्मा एवं विचारों को अविकल्प रूप से बदल कर रख दिया। जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया, उत्पादन प्रक्रिया स्वयं ही काफी बदल गई। कारखाना नामक विशिष्ट स्थलों पर, जो मशीनें प्रयोग करते थे, उत्पादन ने उस परंपरागत उत्पादन एवं विनिर्माण प्रक्रिया को बदल डाला जो कि अधिकांश रूप में परिवार-आधारित एवं गण-आधारित थी। पहले परिवार अपने औजारों को स्वयं रखते थे और स्वयं ही कच्चे माल का प्रापन करते थे। ऐसे अनेक परिवार काम की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर गए, क्योंकि नए अधिनियमों की वजह से उन्हें पहले की जमीनों से बेदखल कर दिया गया था, जिनसे सार्वजनिक रूप से अधिभोक्ता किसानों के आधिपत्य वाली भूमियों को काफी कम श्रमिक बल द्वारा सेवित वृहद्, निजी फार्मों में परिसीमित कर दिए जाने की अनुमति मिल गई। जबकि इससे किसान अपनी जमीन से बेदखल कर दिए गए, इसने कृषिक उत्पादन में भी वृद्धि की और इंग्लैंड में शहरी आबादी को बढ़ाया, क्योंकि विस्थापित किसानों के पास जाने को एकमात्र जगह शहर ही थे। इंग्लैंड की संसद, यूरोप के राजतंत्रों से भिन्न, पूरी तरह से व्यापारी एवं पूँजीपति वर्गों के हाथों में थी, अतः अठारहवीं शताब्दी में विधि-निर्माण से जुड़ा एक यथार्थ समूह देखा गया जो व्यापारिक एवं पूँजीवादी हितों का पक्षधर था। औद्योगिक क्रांति का एक प्रमुख परिणाम था — नए बुर्जुआ वर्ग और श्रमिक वर्ग का उदय। नए उद्योग-श्रमिकों के वर्ग में सभी पुरुष, महिलाएँ एवं बच्चे शामिल कारीगर स्वयं को नैत्य प्रक्रिया श्रमिकों की तुलना में पदावनत मानते थे क्योंकि मशीनें पहले से बनाए जाने वाले उत्पादों को जब बडे पैमाने पर उत्पादित करने लगी थीं। आमतौर पर, वेतन कम होते थे, कार्य के घंटे अधिक होते थे, और कार्यदशाएँ असुखकर एवं जोखिमभरी होती थीं। उद्योग श्रमिकों ने 1832 के सुधार विधेयक को पास करवाने में मदद की थी।

बॉक्स 27.1 : 1844 में इंग्लैंड में श्रमिक वर्ग की दशाओं पर एन्जेल्स के विचार

फ्रेड्रिक एन्जेल्स प्रायः अपने सहलेखक कार्ल मार्क्स द्वारा निष्प्रभ रहे, परंतु आप कामगार वर्ग की दशाओं का सर्वप्रथम अनुभव करने वालों में एक और समाजवादी सिद्धांत के जनक थे। एन्जेल्स ने अपने पिता की ओर मानचेस्टर सूत फैक्टरी में एक अभिकर्ता के रूप में काम किया। उन्होंने सामाजिक चेतना के एक सशक्त भाव के साथ कामगार वर्ग की कार्यदशाओं के विषय में लिखा। यहाँ उनकी पुस्तक **द कन्डीशन ऑफ द वर्किंग-क्लास इन इंग्लैंड इन 1844** से एक उद्धरण प्रस्तुत है :

"यहाँ हम स्वयं को एक अप्रच्छन्नप्राय कामगारों के मुहल्ले में पाते हैं, क्योंकि यहाँ दुकानें और शराबघर तक मुश्किल से ही नाममात्र की सफाई दर्शाने की जहमत उठाते हैं। परंतु इस प्रकार की दशा के पीछे की ओर स्थित खुले स्थानों एवं गलियों से कोई मुकाबला नहीं, जहाँ तक ऐसे ढके हुए रास्तों से ही पहुँचा जा सकता है जिनमें दो आदमी एक साथ भी नहीं चल सकते। समस्त बुद्धिसंगत योजना को चुनौती देते बेढब ठसाठस भरे आवासों, और यथार्थतः एक दूसरे के ऊपर लदे, खचाखच भरे

जनसमूह की जटिल अवस्था के विषय में कल्पना भी नहीं की जा सकती। और इसके लिए मानचेस्टर में अब भी स्थित पुराने जमाने के भवनों को ही दोष नहीं दिया जा सकता; यह संभ्रम अपने चरम पर अभी हाल ही में पहुँचा जब पुराने जमाने के भवन द्वारा छोड़े गए खाली स्थान हद दर्जे तक भर दिया गया और इस प्रकार चकती लगा दिया गया कि एक फुट भी और जमीन न घेरी जाए ... ऐसा है मानचेस्टर का ओल्ड टाउन, और मेरा विवरण पुनः पढ़े जाने पर, मैं यह स्वीकार करने पर बाध्य हूँ कि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से परे, यह स्वच्छता, वायु आवागमन, एवं स्वास्थ्य संबंधी सभी विचारों का खूब अनादर करता हुआ मलिनता, भग्नता, एवं आवास-अयोग्यता के अंधकार से परे एक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करता है, जोकि इस एक क्षेत्र के निर्माण को अभिलक्षित करता है जिसमें कम से कम बीस से तीस हजार लोग रहते थे। और इस प्रकार का एक क्षेत्र इंग्लैंड, विश्व के प्रथम विनिर्माणन् शहर, नामक दूसरे दर्जे के शहर के मध्य में स्थित था जिसे विश्व के प्रथम विनिमनिन शहर के रूप में जाना जाता था। यदि आप देखना चाहें कि कितनी छोटी जगह में मनुष्य चल सकता है, कितनी थोड़ी-सी हवा और ऐसी हवा में वह साँस ले सकता है, कितनी कम सभ्यता में वह भागीदार हो सकता है और फिर भी रह सकता है, बस वहाँ जाकर देखने भर की जरूरत है। सच, यही ही है ओल्ड टाउन, और मानचेस्टर के लोग इस तथ्य पर जोर देते हैं जब भी कोई उनसे पृथ्वी पर स्थित इस नरक की भयावह दशा का उल्लेख करता हैं; परंतु इससे क्या सिद्ध होता है? हर वस्तु जो यहाँ भय और अमर्ष उत्पन्न करती है, हाल की जन्मी है, औद्योगिक युगान्तर से जुड़ी है। (एन्जेल्स 1892 : 48-53)

एक अन्य परिणाम या शहरों और शहरी केंद्रों की बढ़वार जोकि व्यापार केंद्रों के साथ-साथ नए राजनीतिक केंद्र भी बन गए। औद्योगिक क्रांति होने तक संसार की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण थी। तथापि, उन्नीसवीं शती-मध्य तक आधे इंग्लिस्तानी शहरों में रहने लगे थे, और शती-अंत तक यही बात यूरोपीय देशों के लिए भी सत्य हो गई। 1800 व 1850 के मध्य अधिकांश बड़े यूरोपीय शहरों ने शानदार वृद्धि दर्शायी। उन्नीसवीं शती के आरंभ में, यूरोप में 1,00,000 की आबादी वाले मुश्किल से दो दर्जन शहर थे, परंतु 1900 तक इस आकार के 150 से भी अधिक शहर हो गए।

20वीं शती-मध्य तक पश्चिमी यूरोप ही नहीं अपितु कई अन्य देश भी तेजी से उद्योगीकृत हो गए। पुरानी सामंती संस्थाओं के स्थान पर नई संस्थायें आ गईं चाहे वे अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में हों, सामाजिक जीवन में अथवा राजनीति में। ये आश्चर्यजनक परिवर्तन पूरे यूरोप भर में महसूस किए गए और विद्वानों ने इन परिवर्तनों को समझने एवं उनका विश्लेषण करने का प्रयास किया। आगामी पाठांश में हम कुछ प्रमुख विचारकों तथा औद्योगीकरण व औद्योगिक पूँजीवादी समाज पर उनके विचारों पर दृष्टि डालेंगे।

27.4 औद्योगिक समाज पर सामाजिक चिंतक

19वीं शती-उत्तरार्ध एवं 20वीं शर्ती-पूर्वार्ध के अनेक सामाजिक विचारक उन परिवर्तनों से आत्रांत थे जो औद्योगीकरण द्वारा लाए गए थे और उन अभिलक्षणों से भी जो इन उभरते समाजों का हिस्सा थे। इस प्रकार, हम पाते हैं कि अनेक शुरुआती समाजशास्त्रियों ने एक ही तरफ से आरंभिक, उद्योग-पूर्व समाजों की तुलना औद्योगिक समाजों से की, जिसका परिणाम हुआ - समाज का वर्गीकरण एवं उसकी प्रतीकात्मक व्याख्याएँ, उदाहरण के लिए, टोनी की "जैमींशाफ्ट" एवं "जेसेलशाफ्ट", दुर्खाइम की "जैविक एकात्मकता" एवं "यांत्रिक एकात्मकता" के बीच तुलना, मेन की "प्रस्थिति" एवं "अनुबंधन" तथा स्पेन्सर की "सामरिक" एवं "औद्योगिक समाज"। अथवा मार्क्स का समाज संबंधी काफी विस्तृत

वर्गीकरण जो कि उत्पादन की विधि पर आधारित था जिसमें "आदिम साम्यवाद", "प्राचीन", "सामंती" और "पूँजीवादी" जैसी अवस्थाएँ शामिल थीं।

ये सिद्धांत और प्रतीकात्मक व्याख्याएँ अपने दृष्टिकोण में विकासवादी हुआ करती थीं, जिस प्रकार अवश्यंभावी ऐतिहासिक प्रक्रिया की परिकल्पना की जाती थी। इन सबमें औद्योगिक समाजों के पीछे आधारभूत संगठनकारी सिद्धांत तलाश करने का प्रयास किया जाता था, जिसकी तुलना फिर गैर-औद्योगिक अथवा उद्योग-पूर्व समाज से की जाती थी। सन्त साइमन (एवं कॉम्टे जिन्होंने उनका अनुसरण किया) के अनुसार औद्योगिक समाज की तुलना सामरिक समाज से की जानी थी। परवर्ती लूटपाट, अपव्यय और प्रदर्शन के इर्द-गिर्द संगठित था, जबकि पूर्ववर्ती वस्तुओं के क्रमबद्ध उत्पादन पर केंद्रित था। सन्त साइमन के अनुसार, औद्योगिक समाज के चार आयाम थे : (क) यह उत्पादन से जुड़ा था; (ख) इसके तरीके क्रम, निश्चितता एवं परिशुद्धता संबंधी थे; (ग) यह "नए आदमियों" इंजीनियरों, उद्योगपतियों, योजनाकारों आदि द्वारा संगठित होता था; और (घ) यह ज्ञान पर आधारित होता था। टॉनी के अनुसार, यह अनुबंध पर आधारित निर्वैयक्तिक संबंध-श्रृंखला थी, जो छोटे समाजों में रूबरू संक्रियाओं की बजाय आधुनिक औद्योगिक समाज द्वारा अभिलक्षित होती थीं। इसी तर्ज पर दुर्खाइम न केवल श्रम-विभाजन के मूल सिद्धांतों पर दृष्टि डाल रहे थे, अपितु विभिन्न संस्थाओं को देख रहे थे जो यांत्रिक एवं जैविक एकात्मकता जैसे घटकों द्वारा एकबद्ध थीं। आइए, औद्योगिक समाजों पर इनमें से कुछ कृतियों का विस्तार से विश्लेषण किया जाए। इस उद्देश्य से हम मार्क्स, वेबर एवं दुर्खाइम की कृतियों पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे क्योंकि औद्योगिक समाजों से जुड़े अपने विश्लेषण में यही सबसे अधिक आधारभूत विचारक हैं :

कार्ल मार्क्स (1818-1883)

मार्क्स सिद्धांत बहुत विशद है और इसमें न सिर्फ उनके समय की समकालीन दशा का वर्णन है अपितु मानव इतिहास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन का प्रयास भी है। उनके विश्लेषण में, वर्तमान औद्योगिक अर्थव्यवस्था उत्पादन का एक पूँजीवादी तरीका है। फ्रेड्रिक एन्जेल ही थे जिन्होंने मार्क्स में कामगार वर्ग के प्रति रुचि पैदा की; यह रुचि ऐतिहासिक भौतिकवाद संबंधी उनकी मीमांसा के साथ ही और गहरा गई।

मार्क्स के अनुसार, वह चीज जो उत्पादन के पूँजीवादी तरीके को उत्पादन के सामंती तरीके से भिन्न दर्शाती है, वो है श्रम का जिन्स अर्थात् उपभोक्ता वस्तु में बदल जाना। " जब किसान अपनी श्रम-शक्ति को बेचने हेतु स्वतंत्र हो जाते हैं, और उन्हें ऐसा करना ही पड़ता है क्योंकि अब उत्पादनार्थ आवश्यक अपनी जमीन अथवा औजारों पर उनका अधिकार नहीं रहा है। लोग अपनी श्रम-शक्ति तब बेचते हैं जब वे एक दिए गए समय में जो भी काम करते हों, बदले में प्रतिपूर्ति स्वीकार करते हों (दूसरे शब्दों में, वे अपने श्रम का उत्पादन नहीं बचेते, बल्कि कार्य हेतु अपनी क्षमता को बेचते हैं)। अपनी श्रम-शक्ति को बेचने के बदले में वे धन प्राप्त करते हैं, जिससे वे जीवनयापन कर पाते हैं। वे जिनको जीवित रहने के लिए अपनी श्रम-शक्ति बेचनी पड़ती है "सर्वहारा" अथवा "श्रमजीवी" कहलाते हैं। वे लोग जो श्रम-शक्ति खरीदते हैं, आमतौर पर वे जिनके पास उत्पादनार्थ अवश्य ही अपनी जमीन और प्रौद्योगिकी होती है। "पूँजीपति" अथवा "बुर्जुआ वर्ग" कहलाते हैं। पूँजीपति श्रम-बजार और पूँजीपति वर्ग द्वारा उत्पादित हर वस्तु के लिए पण्यक्षेत्र (बाजार) के बीच अंतर का लाभ उठाते हैं। मार्क्स ने पाया कि व्यवहारतः हर सफल उद्योग में निवेश इकाई-लागतें उत्पादन इकाई-मूल्यों की अपेक्षा कम होती हैं। मार्क्स ने इस भेद को "अधिशेष मूल्य" कहा और दावा किया कि अधिशेष मूल्य का स्रोत अधिशेष श्रम में ही निहित होता है। उनका मानना था कि श्रम से विनियोजित अधिशेष मूल्य ही लाभों का स्रोत होता है।" (**स्रोत** : http://en.wikipedia.org/wiki/karlmarx)

सारतः, कामगार वर्ग का उसके श्रम हेतु शोषण किया जाता है, उनके द्वारा कमाया जाने वाला वेतन मात्र इतना होता है कि वे भरण-पोषण के स्तर पर ही रहें। चूँकि वेतनभोगी कर्मी आजीविका कमाने के लिए अपनी श्रम शक्ति को बेचते हैं, और पूँजीपति श्रम प्रक्रिया पर अधिपत्य रखते हैं, श्रमिकों के श्रम का उत्पाद वेतनभोगी कर्मी के लिए पराया होता है। यह उसका उत्पाद नहीं पूँजीपति का उत्पाद होता है। मार्क्स स्वयं व्यक्ति से श्रम-प्रक्रिया के पार्थक्य को "अन्यीभाव" कहते हैं।

अन्यीभाव (alienation) मार्क्स के अनुसार, औद्योगिक पूँजीपति समाज का एक विशेष लक्षण है, जहाँ श्रम न सिर्फ एक जिन्स या उपभोक्ता-वस्तु होता है अपितु उत्पादन प्रक्रिया और श्रमिक-उत्पादित उत्पाद भी विमुख कर दिए जाते हैं। श्रमिक का उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर कोई नियंत्रण नहीं होता। मार्क्स ने बताया कि श्रमिकों को अनेक भिन्न-भिन्न तरीकों से विमुख अथवा स्वत्व अंतरित कर दिया जाता है : उनके अपने उत्पादों से बाह्यकृत वस्तुओं के रूप में; उनके बनाने वालों से स्वतंत्र रूप से रहना; प्राकृतिक जगत से जिससे कि उन उत्पादों का कच्चा-माल विनियोजित किया; उनके अपने श्रम से, जोकि एक सार्थक क्रियाकलाप की बजाय एक अनिच्छुक आवश्यकता बन जाती है; और संयुक्त उत्पादों के उपभोक्ताओं के रूप में एक दूसरे से। ये भयानक दशाएँ, मार्क्स के अनुसार, उद्योग-समाज के नियत परिणाम होते हैं।

मार्क्स ने किसी औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों के अमानवीकृत अस्तित्व से मुक्त होने की कल्पना नहीं की थी। उन्होंने, एन्जेल के साथ मिलकर, क्रांतिकारी उपाय प्रस्तुत किया — उन्होंने न केवल इन दशाओं संबंधी आलोचनात्मक लेख लिखा अपितु कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (1848) में एक राजनीतिक कार्रवाई भी प्रस्तुत की। मार्क्स ने अभिकल्पना की कि शोषण किए जाने वाले श्रमिक पूँजीपतियों को उखाड़ फेंकने के लिए मिलकर जी-जान से कूद पड़ेंगे। साथ ही, बढ़ता वर्ग विरोध पूँजीपति वर्ग के क्रांतिक निर्मूलन में परिणत होगा और उत्पादन-साधन उनसे झटक लिए जाएँगे।

मार्क्स हमारे जमाने के सर्वाधिक प्रभावकारी एवं प्रेरणादायी विचारकों में एक हैं। एक संघर्ष-मुक्त संसार हेतु उनका प्रदर्शन, एक पुनर्सूत्रबद्ध तरीके से, सोवियत रूस व अन्य साम्यवादी देशों द्वारा अपनाया गया। इस प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के विध्वंस ने मार्क्सवादी आलोचकों को अधिक उग्र बना दिया है। उससे भी पहले मार्क्स के आलोचकों ने बताया कि "उनके द्वारा पूर्वानुमानित बढ़ता वर्ग विरोध उद्योगीकरण के पश्चात् पश्चिमी जगत में वस्तुतः कभी विकसित नहीं हुआ। जबकि बुर्जुआ वर्ग व सर्वहारा वर्ग के बीच सामाजिक-आर्थिक भेद बरकरार ही रहे, अमेरिका एवं इंग्लैंड जैसे देशों के औद्योगीकरण में भी हिंसक क्रांति की ओर से विमुख एक मध्यवर्ग का उदय दिखाई दिया, और साथ ही, एक कल्याणकारी राज्य का भी जिसने कामगार वर्ग के बीच किसी भी प्रकार की क्रांतिकारी प्रवृत्ति को दबा देने में मदद की। जबकि महाअवसाद (great depression) के आर्थिक विध्वंस ने विकसित देशों में मार्क्सवाद की अपील को फैला दिया, भावी सरकारी सुरक्षा उपायों एवं आर्थिक समुत्थान ने इसके प्रभाव में गिरावट की ओर उन्मुख किया" (वही)। इस आलोचना के बावजूद, मार्क्स की मूल प्रस्थापनाएँ न केवल शिक्षा के क्षेत्र में एक आलोचनात्मक लेख के रूप में अपितु सभी प्रकार के आंदोलनों हेतु एक प्रेरणा बन गईं। साथ ही, उद्योगीकृत एवं पूँजीवाद पर उनके विचार आज भी प्रभाव रखते हैं। आइए, अब मैक्स वेबर की ओर ध्यान करते हैं जिन्होंने उन औचित्य स्थापन सिद्धांतों को देखा जो आधुनिक उद्योग-जगत् को सूचित करते हैं।

मैक्स वेबर (1863-1920)

अनेक विद्वानों के अनुसार, पूँजीवाद के विश्लेषणार्थ वेबर का प्रयास मार्क्स के अधिकांश रूप में अर्थशासत्रोन्मुखी संदर्श की संपूर्ति करने के उद्देश्य से था। जेल्लिन के अनुसार,

"उसने अपने लिए एक काम नियत किया, यथा विशिष्ट धर्मिक नीतिशास्त्र की आर्थिक प्रासंगिकता की जाँच करना, जिसको कि उसे लगा यथायोग्य महत्व नहीं दिया गया । यद्यपि वह कभी-कभी सहसंबंध और कारणात्मक प्रभाव की बात करता है, वह स्पष्ट कहता है कि वह जानबूझकर "कारणात्मक श्रृंखला के केवल एक पहलू" को ले रहा है, यानी आर्थिक व्यवहार पर धार्मिक मूल्यों का प्रभाव। वह किसी तरह प्रतिवादी नीतिशास्त्र के योगदान का मूल्यांकन करना चाहता था, खासकर आधुनिक आर्थिक व्यवस्था के प्रति और अधिक व्यापक रूप से हमारी ज्ञान अभिवृद्धि करना चाहता था कि किस प्रकार "विचार इतिहास में प्रभावी शक्तियाँ बन जाते हैं" (जेल्लिन 2000 : 122-123)।

वह विलक्षण मूल्य जो सभी आधुनिक संस्थाओं को परिभाषित करता है, वेबर के अनुसार वो है बुद्धिसंगत व्याख्या अर्थात् औचित्य स्थापन। यह बुद्धिसंगत विधि-अनुस्थापित मूल्य जिस पर कि कार्यवाहियाँ आधारित हैं, मूल्य-अनुस्थापन से भिन्न होता है जोकि परंपराओं से जन्म लेता है, चाहे वे राजनीति में हों अथवा अर्थशास्त्र में। "बुद्धिसंगत व्याख्या वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा उत्तरोत्तर संख्या में सामाजिक क्रियाएँ एवं अंतर्क्रियाएँ रीति, परंपरा, अथवा भावना से उत्पन्न प्रेरणाओं पर आधारित होने की बजाय दक्षता अथवा गणना संबंधी विचारों पर आधारित हो जाते हैं। इसको आधुनिकीकरण का एक मुख्य भाग माना जाता है और मुख्यतः पूँजीवादी बाजार के व्यवहार; राज्य व अधिकारीतंत्र के युक्तियुक्त प्रशासन; आधुनिक विज्ञान के वर्धन; एवं आधुनिक प्रौद्योगिकी के विस्तारण में अभिव्यक्त मानी जाती है" (स्रोत : http://en,wikipedia.org) । प्रतिवादी नीतिशास्त्र में इस युक्तियुक्त मूल्य ने, वेबर के अनुसार, पाश्चात्य अर्थात् पश्चिमी देशों में पूँजीवादी विकास को आगे बढ़ाया। वह अपना यह शोध प्रबंध अपनी पुस्तक **प्रोटेस्ट एथिक एंड द स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म** में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करते हैं।

वेबर के अनुसार, पूँजीवाद की आत्मा ऐसे विचार एवं मूल्य हैं जो युक्तियुक्त कार्रवाइयाँ के अनुशीलन में मदद करते हैं, जैसे — युक्तिपरक स्थायी उद्यम, बुद्धिसंगत लेखाकर्म, युक्तियुक्त प्रौद्योगिकी एवं तर्कसंगत कानून तथा व्यापक जीवन के आचरण में युक्तिकरण।

"इस लिहाज से कि पूँजीवाद की विशिष्टताओं के प्रति भली-भाँति अनुकूलित जीवन-रीति ... दूसरों पर हावी हो सकती थी, इसे कहीं जन्म लेना पड़ा, और केवल पृथक्त व्यक्तियों में नहीं, अपितु समस्त जनसमूहों के प्रति सामान्य एक जीवन-रीति के रूप में" उसी में उद्धृत)। वेबर का मानना है कि विरोधवाद के कुछ मत विशेष, खासकर कैल्विनवाद (calvinism) ने आत्मिक "आह्वान" के अनुशीलन स्वरूप संसारिक क्रियाकलापों को प्रोत्साहित किया। कैथैलिकवाद (cathoticism) में व्यक्ति चर्च के संस्कार व उसकी सत्ता के अनुसरण द्वारा मुक्ति के प्रति आश्वस्त किया जाता था परंतु सुधार (reformation) ने चर्च की इस सत्ता को पृथक् कर दिया और इसी कारण उन्हें मुक्ति के प्रतीक हेतु विकल्प तलाशने पड़े। वेबर के अनुसार, विरोधवादी (protestantism) ने ईश्वर के आह्वान स्वरूप किसी भी धर्मनिरपेक्ष आह्वान के अनुशीलन को प्रोत्साहित किया, जोकि पहले पादरी वर्ग तक ही सीमित था। वेबर कहते हैं कि विरोधवादी आचारशास्त्र ने लोगों को आह्वानों का अनुशीलन उत्साह के साथ करने के लिए प्रोत्साहित किया, अतः कर्म पूजा बन गया। इसने धन को ऐशोआराम व खुशी के पीछे भागने पर खर्च करने की बजाय युक्तियुक्त आर्थिक लाभों में निवेश करने को भी प्रोत्साहित किया। इस आचारशास्त्र ने, वेबर का मानना था, नवजात पूँजीवाद का साथ दिया। वेबर, बेंजामिन फ्रेंकलिन की पुस्तक का उद्धरण देते हैं जो कि मितव्ययिता, कर्म और किफायत पर जोर देती है।

यह उल्लेखनीय है कि वेबर ने कहा कि जबकि प्युरिटन (Puriton) धार्मिक विचारों का यूरोप व अमेरिका में आर्थिक व्यवस्था के विकास पर व्यापक प्रभाव पड़ा था, यही मात्र कारक नहीं थे (अन्य कारकों में शामिल थे — वैज्ञानिक अनुशीलन में बुद्धिवाद; गणित के साथ उभरता अभिमत; विद्वता एवं न्यायशासत्र का विज्ञान; सरकारी प्रशासन एवं आर्क

MADHYAM IAS "way to achieve your dream"

उद्यम का युक्तिपरक व्यवस्थापन)। अंत में, प्रोटेस्टेंट आचारशास्त्र के अध्ययन ने, वेबर के अनुसार, महज जादू से मुक्ति के प्रथम दौर का अन्वेषण किया, यथा संसार से मोहभंग, जिसको कि वह पाश्चात्य संस्कृति के विशेषतासूचक अभिलक्षण के रूप में लेते हैं। परिणाम, वेबर के अनुसार, "बर्फानी अंधकार की एक ध्रुवीय रात" है, जिसमें मानव जीवन की वर्धमान युक्तियुक्तता लोगों को नियम-आधारित, युक्तियुक्त नियंत्रण के एक "लोहे के पिंजरे" में फँसा लेती है" (वही)।

विस्तार से इसीलिए, वेबर कहते हैं कि पूर्व में जहाँ युक्तियुक्त आचारशास्त्र हिंदूवाद अथवा कन्फ्यूशसवाद में खोया था, पूँजीवादी उद्यम विकसित नहीं हुआ। भारत में हिंदूवाद के संबंध में वह पुनर्जन्म के शाश्वत चक्रों वाली अविकारी विश्व-व्यवस्था का विचार और ऐहिक जगत के अवमूल्यन का उल्लेख करते हैं, और पाते हैं कि धर्म समर्थित परंपरागत जाति व्यवस्था ने आर्थिक विकास को मंद कर दिया; दूसरे शब्दों में, जाति व्यवस्था की "आत्मा" ने पूँजीवाद के एक देशज विकास के विरुद्ध महत्व रखा। वह आगे लिखते हैं कि मान्यताएँ जीवन के अर्थ की व्याख्या दूसरी दुनियावी अथवा रहस्यवादी अनुभव के रूप में करने को प्रवृत्त रहती थीं; दूसरे, बुद्धिजीवी वर्ग अपने अनुस्थापन में अराजनैतिक होने को प्रवृत्त रहता था; और सामाजिक जगत् मूल रूप से शिक्षितों जिनका जीवन किसी पैगम्बर अथवा ज्ञानी के अनुकरणीय आचारण की ओर उन्मुख रहता था, और अशिक्षित जनसामान्य के बीच बँटा , जोकि अपनी रोज़मर्रा की जरूरतों में फँसा रहता था और जादू में विश्वास करता था (वही)। भारत विषयक वेबर के शोध-प्रबंध के विषय में बहुत बहसें छिड़ीं। कुछ विद्वानों ने उनकी धारणा का भारतीय संदर्भ में यह देखने के लिए आगे अन्वेषण किया कि क्या मारवाड़ियों और जैन जैसे व्यापार-समुदायों के कार्य-आचारशास्त्र एवं मितव्ययिता वेबर के शोध-प्रबंध में सही बैठते हैं। इतिहासकार इरफान हबीब जैसे अन्य विद्वानों ने बताया कि भारत में पूँजीवादी विकास हेतु संभावनाएँ थीं, जिनको कि औपनिवेशिक शासन द्वारा निष्फल कर दिया गया और फलते-फूलते वस्त्र-उद्योग को अंग्रेजों द्वारा पूरी तरह ध्वस्त कर दिया गया। आगामी पाठांश में हम भारतीय औद्योगीकरण के पहलुओं पर ही चर्चा करेंगे। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि युक्तिपरकता एवं मोहभंग संबंधी वेबर के विचार उद्योग-समाजों की परिकल्पना करते समय बहुतायत में सामाजिक-विज्ञान चिंतन में गुंजायमान रहते हैं। परंतु उससे पहले आइए, उद्योग-समाज पर दुर्खाइम की पुस्तक व उनके विचारों पर दृष्टि डालते हैं। दुर्खाइम वेबर के ही समकालीन थे और उन्हीं की भाँति उन विश्लेषणकारी परिवर्तनों से आक्रांत थे जो औद्योगीकरण से आए थे।

इमाइल दुर्खाइम (1858-1917)

दुर्खाइम की मुख्य रुचि इस बात में थी कि क्या होता है कि जब समाज औद्योगीकृत और आधुनिकीकृत होने शुरू हो जाते हैं। जब वे उद्योगीकृत हो जाते हैं तो श्रमिक उत्तरोत्तर विशिष्टीकृत हो जाते हैं। दुर्खाइम आधुनिकीकरण से उत्पन्न एकात्मकता के नए स्वरूप को जैविक एकात्मकता (organic solidarity) की संज्ञा देते हैं। आधुनिक, औद्योगिक समाजों में श्रमिक आश्चर्यजनक रूप से विभाजित होते हैं। लोग आगे चलकर उसी काम को नहीं करते रहते हैं, एक ही अभिरुचियाँ नहीं रखते हैं, न ही अनिवार्यतः जीवन विषयक एक ही संदर्शों को परस्पर अपनाते हैं। परंतु दुर्खाइम साथ ही यह कहते हैं कि इससे समाज अशक्त अथवा विघटित नहीं होता है। इस प्रकार जैविक एकात्मकता का जन्म होता है। किसी प्राणी के भीतर अंगों की ही भाँति लोग कुछ विशिष्ट कार्य तो करते हैं, परंतु अन्य लोगों की स्वस्थता एवं सफल कार्य-निष्पादन पर निर्भर करते हैं। यदि कोई अंग अशक्त हो जाता है तो शेष अंग भी अशक्त हो जाते हैं। कोई भी निकाय — अथवा हमारे तथ्याध्ययन में समाज — कतई कार्य नहीं कर सकता है यदि कोई एक भाग नष्ट हो जाए। सामाजिक (और भौतिक भी) उत्तरीजीविता के लिए परस्पर यह निर्भरता ही, दुर्खाइम के अनुसार, जैविक एकात्मकता का स्रोत है।

दुर्खाइम ने विशेष रूप से 1893 में प्रथम प्रकाशित अपनी प्रमुख पुस्तक **दि डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसायटी** में ही सामाजिक एकात्मकता — समाज के भीतर सभी लोगों के बीच बंधन — पर काफी विस्तार से चर्चा की है। आपने ही सबसे पहले उद्योगपूर्व समाजों के प्रति खासतौर से सामाजिक सहबद्धता का वर्णन किया। यह यांत्रिक एकात्मकता (mechanical solidarity) जैसा कि वह इसे पुकारते हैं, तब होती थी जब किसी समाज के सभी सदस्य अपने अन्य सभी सदस्यों के समान ही अथवा लगभग समाज कार्य निष्पादन करते हों। यदि कोई व्यक्ति मर जाए और उसके स्थान पर कोई दूसरा न आए तो समाज बदलेगा नहीं, क्योंकि अन्य सभी सदस्य भी वही काम करते थे जो मरने वाला व्यक्ति करता था। यांत्रिक समाज की सामूहिक अंतरात्मा सभी सदस्यों के बीच तद्रूप हो जाती है, और यह बंधन अन्य लोगों पर निर्भरता से नहीं वरन् समग्र सामाजिक व्यवस्था पर निर्भरता से व्युत्पन्न होता है (स्रोत : http://durkheim.itgo.com)। दुर्खाइम के अनुसार, "जैविक एकात्मकता" का संसार विशेषज्ञता, संपूरकता एवं स्वतंत्रता का संसार था। शासन सिद्धांत "संरचनात्मक विभेदीकरण" है। औद्योगिक समाज में परिवार व्यवस्था से आर्थिक व्यवस्था का, यथा घर से कार्यस्थल का विभाजन होता है। परंपरागत "सामूहिक अंतरात्मा " के विखंडन के साथ ही मुख्य मान्यताओं को व्यावसायिक आचारसंहिताओं के इर्द-गिर्द संगठित एवं व्यावसायिक आचारशास्त्र के माध्यम से व्यवहृत किया।

जैसा कि दुर्खाइम पर उपलब्धि विभिन्न पुस्तकों के माध्यम से आपको विदित ही होगा, उन्होंनें समाजों के कार्य करने के तरीकों में अनिवार्य सामंजस्य देखा। आधुनिक समाज, दुर्खाइम लिखते हैं "निश्चय ही तभी साम्यावस्था में रहेगा जब उसे एक विशुद्ध रूप से औद्योगिक आधार पर संगठित किया जाएगा" (जेल्लिन 2000 : 238 में उद्धृत)। यह साम्यावस्था श्रम विभाजन के सकारात्मक परिणामों के फलस्वरूप आती है," यह सेवाओं के आदान-प्रदान, दायित्वों की पारस्परिकता, अन्योन्याश्रिता, आदि की ओर उन्मुख करती है। इन विनिमयों को नियंत्रित करते अनुबंध एवं अन्य औपचारिक संबंध यथा परिभाषित जैविक एकात्मकता की ओर प्रवृत्त करते हैं" (वही : 244)। यदि यह श्रम-विभाजन एकात्मकता उत्पन्न नहीं करता, दुर्खाइम का कहना है, ऐसा इसलिए होता है कि यह एक असामान्य दशा है, एक रोगात्मक रूप सामने आता है जो कि उसने क्षणभर में ही ग्रहण कर लिया होता है। मार्क्स आधुनिक औद्योगिक समाज की संघर्षकारी प्रकृति पर जोर देते हैं जहाँ आदमी एक दूसरे से और अपने आपसे विमुख होते हैं : एक ऐसी दशा जिसमें शोषण, संघर्ष एवं प्रभुत्व तब तक सामान्य एवं अपरिहार्य रहे जब तक कि विद्यमान "उत्पादन संबंध" बने रहे। दुर्खाइम के अनुसार, दूसरी ओर, यह सिर्फ इसका रोगात्मक रूप ही है कि जो श्रम-विभाजन नकारात्मक परिणाम सामने लाता है। दुर्खाइम इस रोगात्मकता को "अनॉमी" कहते हैं। आपने इस शब्द (अनॉमी) को एक ऐसी दशा के रूप में परिभाषित किया है जहाँ सामाजिक और/अथवा नैतिक मानदंड भ्रामक, अस्पष्ट, या सरल शब्दों में, अनुपस्थित होते हैं। दुर्खाइम ने महसूस किया मानदंडों के इस अभाव अथवा समाज में व्यवहार विषयक पूर्वस्वीकृत सीमाओं ने ही विसामान्य व्यवहार की ओर प्रवृत्त किया। विशेष रूप से उद्योगीकरण ही, दुर्खाइम के अनुसार, मानव के मनोविकारों पर नियंत्रणों को भंग करने की प्रवृत्ति रखता है। जहाँ परंपरागत समाजों ने मुख्यतः धर्म के माध्यम से — लोगों को सफलतापूर्वक अपनी इच्छाओं एवं लक्ष्यों पर नियंत्रण सिखाया, आधुनिक उद्योग-सभाओं ने बढ़ी जटिलता एवं श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप लोगों को प्रथक् कर दिया और सामाजिक बंधनों को कमजोर कर दिया।

हमने तीन प्रमुख सामाजिक चिंतकों का विश्लेषण किया है, जिन्होंने कि उद्योगीकरण को विभिन्न पहलुओं से देखा। ढेर सा चिंतन जो तदोपरांत औद्योगीकरण व आधुनिकता तथा समकालीन समाज पर सामनें आया, किसी न किसी तरीके से इन्हीं विचारकों द्वारा ही प्रेरित और सूचित हुआ है।

सोचें और करें 27.1

1) क्या आप मानते हैं कि अन्यीभाव संबंधी मार्क्स का विचार वर्तमान समाज में आज भी विद्यमान है?

2) क्या युक्तीकरण प्रक्रिया वही है जिसके विषय में वेबर आधुनिक जगत् की एक अपरिहार्य प्रक्रिया के रूप में बात करते हैं? क्या आप इस प्रकार के युक्तिकरण के प्रति कोई प्रतिरोध देखते हैं?

3) क्या आप मानते हैं कि उद्योग-समाजों में अत्यधिक विभेदीकरण एवं विशिष्टीकरण अव्यवस्था एवं अनॉमी की ओर प्रवृत्त करते हैं?

27.5 भारत में औद्योगीकरण

औद्योगीकरण, जैसा कि हम जानते हैं एक ऐसा शब्द है जोकि विशिष्टतः उत्पादन प्रक्रिया में मशीनों के प्रयोग को इंगित के लिए अपनाया जाता है। यह भी आमतौर पर माना जाता है कि इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति ने न सिर्फ इंगलिस्तान बल्कि अन्य स्थानों पर भी औद्योगीकरण को आगे बढ़ाया। प्रौद्योगिकीय नवप्रवर्तन एवं औद्योगीकरण के साथ यह सरल जुड़ाव यह सवाल खड़ा करता है कि क्या भारत में भी इसी प्रकार की दशाएँ थीं और क्या उद्योग रीति से विकसित हो रहे थे, तथा उद्योगों के विकास अथवा पहले से ही विद्यमान उद्योगों के अनौद्योगीकरण के विषय पर औपनिवेशीकरण की क्या भूमिका थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में न सिर्फ उपनिवेशवाद के पहलू द्वारा रूपायित उद्योग-नीतियों को देखा गया बल्कि इसकी सूचना विकास-चर्चा के प्रबल प्रतिमानों द्वारा और समकालीन राजनीति से भी मिली। आइए, स्वातंत्र्योत्तर भारत में औद्योगीकरण पर दृष्टि डालने से पूर्व औद्योगीकरण के औपनिवेशिक दौर पर नजर डालें।

भारत का औपनिवेशीकरण तथा औद्योगीकरण

MADHYAM IAS

जब कभी भी भारत में औद्योगीकरण पर चर्चा हुई है, औपनिवेशिक राज्य को केंद्र में रखा गया है। अनेक विद्वानों का कहना है कि साम्राज्य ने भारत में विकास का सूत्रपात किया। साम्राज्य के पक्षधर प्रायः आगे के औद्योगीकरण हेतु आधार तैयार करने जैसे आधारभूत अधिरचना आदि में अंग्रेजों के निवेश संबंधी उदाहरण देते हैं। अन्य तर्क देशी अर्थतंत्रों पर उपनिवेशवाद के अनर्थकारी परिणामों पर प्रकाश डालते हैं, उसे पूरी तरह से प्रतिस्पर्धा के कगार से निकालकर जोकि वह वस्त्रोद्योग में रखता था। इस तर्क के पक्षधर विशेषतः राष्ट्रवादी थे, जो उस समय मूल निवासियों द्वारा प्रशासन के और अधिक नियंत्रण हेतु दावा करते थे। दादा भाई नौरोजी कृत **ड्रेन ऑफ वैल्थ** और आर.सी. दत्त कृत **इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया** ऐसी पुस्तकें बन गई थीं जो राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का हिस्सा थीं। राष्ट्रवादियों का तर्क था कि सस्ते अंग्रेजी मिल के कपड़े के साथ प्रतिस्पर्धा ने ही भारतीयों को हथकरघा उद्योग के बाहर और कृषि की ओर अभिप्रेरित किया।

एक और तर्क है जो इस विचार से मेल नहीं खाता कि अंग्रेजों के आने व शासन हथिया लेने से पूर्व भारत निष्क्रिय था : वह दृष्टिकोण जिसमें मार्क्स जैसे लोग भी शामिल हैं, यद्यपि उसने उपनिवेशवाद की शोषणकारी प्रवृत्ति की ओर संकेत किया । पूर्वी निष्क्रियता संबंधी इस धारणा के विरुद्ध इरफान हबीब जैसे इतिहासकारों की ओर से तर्क दिए गए जिनका कहना है कि अर्थव्यवस्था निष्क्रियता से काफी परे थी। हमज़ा अल्वी ऐतिहासिक स्रोतों का हवाला देते हुए लिखते हैं कि 17वीं शती का भारतीय समाज अपनी सामरिक और खासकर नौसेना संबंधी अशक्तता को छोड़कर, उस समय विनिर्माण एवं कृषि की कलाओं तथा संस्कृति में यूरोपवासियों का पूरी तरह मुकाबला करता था। एक अविचल

ग्रामीण पिछड़ेपन के रूप में मध्यकालीन भारतीय समाज को एक रूढ़िबद्ध धारणा के विपरीत हमें शहरीकरण की उच्च अवस्था के प्रमाण मिलते हैं। हबीब "नगरों में पाए जाने वाले बड़ी संख्या में काश्तकारों, अकुशल कर्मियों एवं नौकरों" की बात करते हैं ... जो 120 बड़े शहरों और 3200 नगर क्षेत्रों में रहते थे। (16वीं शती उत्तरार्ध में)"। वह आगे लिखते हैं कि आगरा और फतहपुर सीकरी (जुड़वाँ शहर) प्रत्येक में लंदन से भी अधिक आबादी थी। दिल्ली की आबादी पेरिस जितनी थी, जोकि यूरोप का सबसे बड़ा शहर था (हबीब 1963 : 75-76 अल्वी में उद्धृत, स्रोत : http://ourworld.compuserve.com/honopages/sangat/colonial.htm)। भारत की शहरी जनसंख्या का काफी बड़ा हिस्सा औद्योगिक शिल्पकर्मों में लगा था। विनिर्माण व उद्योग न सिर्फ अभिजातवर्ग के सुख-साधन उपभोग एवं जनसामान्य की किंचित आवश्यकताओं से जुड़ें थे बल्कि तेजी से बस्ती आयात मात्रा से भी उनका संबंध था। नकवी बताते हैं कि 17वीं शताब्दी से "सूत विनिर्माण के केंद्रों के रूप में शहरों व नगरों की व्यापक वृद्धि देखी गई" (नकवी 1968 : 142, उसी में उद्धृत)।

हमज़ा अल्वी व अनेक निर्भरता सिद्धांतियों (विस्तृत विवरण के लिए देखें "विकास का समाजशास्त्र" पाठ्यक्रम की इकाई 9) का कहना है कि पूँजीवाद आरंभ से ही एक विश्वव्यापी दृश्यघटना, न सिर्फ व्यापार के लिहाज से बल्कि उन उपनिवेशों से संसाधनों के निष्कर्षण के लिहाज से भी, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य जैसी महानगरियों में पूँजी संचयन को नया आधार प्रदान किया। दूसरे शब्दों में, उपनिवेशों से प्राप्त संसाधनों को इंग्लैंड के मानचेस्टर व अन्य स्थानों पर स्थित मिलों व कारखानों के लिए ईंधन जुटाने के लिए प्रयोग किया जाता था। अनुचित व्यापार की शुरुआत होते ही लूटपाट व लालच का मार्ग खुल गया। अंग्रेजों ने न सिर्फ भारतीय कपड़ा मिलों पर भारी आयात-शुल्क लगाकर अपने घरेलू उद्योग की रक्षा की, अपितु एक बार भारत का शासन हाथ में आ जाने के बाद उन्होंने लगान, कर व अन्य अर्थदण्ड भी वसूले।" एक बार ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भू-राजस्व के रूप में व्यापक स्थानीय धन-स्रोत अर्जित कर लिए जाने के बाद अंग्रेजों के लिए यह जरूरी नहीं रहा कि वे सोना-चाँदी व रत्नों के रूप में भारत के वस्त्र-निर्यात का भुगतान करे जैसा कि वह पहले करती आई थी। वह अब भारतीय कपड़े को उस धन के बदले खरीद सकती थी जो वह भारतीयों से ही वसूलती थी। निर्यात हेतु वस्त्र बड़ी मात्रा में वसूले गए भू-राजस्व से खरीदा जाता था जो कि अब कम्पनी व उसके कर्मचारियों के नाम जमा होता था। अब यह भारत से ब्रिटेन को अनधिग्रहीत इकतरफा प्रवाह बन गया था। इसी को भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा भारत से "आर्थिक अपवहन" नाम दिया गया" (वही)।

उपनिवेशवाद के शुरुआती दौर में, भारत में बहुत थोड़ा पूँजी निवेश था। तथापि, इंग्लैंड से व्यापार में सहूलियत के लिए रेलमार्गों, डाक व तार, आदि अधिरचनाओं का विकास हुआ। पूँजी निवेश जो अंततोगत्वा हुआ, उन अंग्रेज उद्यमियों एवं पूँजीपतियों द्वारा किया गया जो कच्चे माल व सस्ते श्रमिकों के लिए घनिष्ठता बढ़ाना चाहते थे। उन्हें साम्राज्य का संरक्षण भी प्राप्त होता था। बहुत ही थोड़े भारतीय उद्यमियों ने विनिर्माण व्यवसाय में हाथ डाला क्योंकि ब्रिटिश नीतियाँ उनके पक्ष में नहीं होती थीं और वे अज्ञात क्षेत्रों में प्रवेश के अनिच्छुक होते थे।

तथापि, अनेक व्यवसाय समुदाय ऐसे भी थे जो मूलतः अंग्रेजों के सहयोगी एवं मध्यस्थ थे, जैसे पारसी और मारवाड़ी, जिन्होंने उद्योग लगाने का जोखिम उठाया। कलकत्ता के मारवाड़ी पटसन उद्योग में व्यापारी से उद्योगपति बन गए। कुछ मारवाड़ी परिवारों का "व्यापारियों से उद्योगपतियों" में कायान्तरण क्रमिक रूप से हुआ।" इस प्रतिमान को निम्नलिखित चरणों में व्याख्या की जा सकती है : (क) उन्होंने कच्चे पटसन व पटसन उत्पादन से जुड़े व्यापार में धीरे-धीरे अपना महत्व बढ़ा लिया; (ख) कुछ मारवाड़ी व्यापारी

औपचारिक पटसन-व्यापार संगठनों के सदस्य बन गए, अन्य ब्रिटिश प्रबंधन वाले अभिकरण गृहों के दलाल बन गए, या फिर शेयर खरीद कर ब्रिटिश प्रबंधन-अभिकरण गृहों के निदेशक मण्डल में स्थान पा गए; (ग) अंततः, "बीस के दशकारंभ में, कुछ मारवाड़ी अपनी खुद की पटसन मिलें लगाकर जूट उद्योग में शामिल हो गए।" बिरलाओं ने अपनी पहली पटसन मिल 1919 में शुरू की, जबकि गोयनका एवं बांगुर ने अपनी मिलें द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लगाईं (ऊँक 2004 : 4)। दूसरी ओर, पारसियों को मारवाड़ियों की भाँति अंग्रेज़ों से कड़े विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। वे अंग्रेजों के सहयोगी थे और उनसे सहानुभूति रखते थे।" वे बॉम्बे फोर्ट की सामरिक रक्षा हेतु आंशिक रूप से धन भी दिया करते थे; अंग्रेजी सेना के साजो समाज हेतु धन प्रदान कर वे विद्रोह (1857) के दौरान अंग्रेजों के वफादार रहे। तीसरे, पारसी समुदाय का एक हिस्सा तेजी से यह स्वीकार करता जा रहा था कि अंग्रेजी सीखना, अंग्रेजी रीति-रिवाज अपनाना और अंग्रेजों से अपने संबंध प्रगाढ़ करना उनके लिए लाभकारी सिद्ध होगा, ताकि वे पश्चिम भारत में अपने समुदाय की सामाजिक-आर्थिक दशा सुधार सकें। बम्बई में सबसे पहला भारतीय सूत वस्त्र उद्योग लगाने वाले पारसी ही थे। 1854 व 1863 के मध्य बम्बई में पारसियों के पास दस में से नौ मिलें थीं। इनमें दो मिलें पेरिट परिवार की शामिल थीं 1878 व 1915 की अवधि में पारसियों के पास शहर में स्थित 41 से 30 प्रतिशत के बीच मिलें थीं।" (वही : 9)। इन समुदायों के अलावा अहमदाबाद के साहूकारों ने भी अंग्रेजों के बिना किसी हस्तक्षेप अथवा सहयोग से मिलें लगाना शुरू कर दिया।

इन शुरुआती धावों के बाद अनेक व्यापार कर रहे परिवारों ने औद्योगिक उद्यम में निवेश करना शुरू कर दिया। इसने अंग्रेज पूँजीपतियों के एकस्वाधिकार को चुनौती दी, जिससे सरकार ने उनके प्रति भेदभाव की नीतियाँ अपनानी शुरू कर दीं। शुल्कदर, कराधान एवं परिवहन नीतियों को अंग्रेज पूँजीपतियों के अनुकूल बनाया गया। इस प्रकार, माल के विपणन में भी कड़ी प्रतिस्पर्धा हो गई। भारतीय पूँजीपतियों ने स्वयं को भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग मण्डल महासंघ (फिक्की - FICCI) में संगठित कर लिया।

पूँजीपति वर्ग को मालूम था कि वे एक स्वतंत्र भारत में अच्छे रहेंगे और इसीलिए वे राष्ट्रवादी संघर्षों का सक्रिय समर्थन करते रहते थे। राष्ट्रीय आंदोलन के नेतागण भी देश के उद्योगीकरण की आवश्यकता के प्रति भिज्ञ थे।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में औद्योगीकरण

भारत द्वारा अपनाए गए आर्थिक मार्ग में औपनिवेशिक अतीत की काफी बड़ी भूमिका रही; खासकर भारत के नव-निर्वाचित प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में। उपनिवेशवाद और अल्पविकास के बीच संबंध दृढ़ता से कायम रहा। इस इतिहास ने भारतीय नेतृत्व को अंतर्राष्ट्रीय मुक्त व्यापार के प्रति चौकन्ना बना दिया। नेहरू जो कि विलम्बवादी (fabian) समाजवाद एवं रूस के उदाहरण से अभिप्रेरित थे, ने आर्थिक विकास के एक समाजवादी प्रतिमान को अपनाने का फैसला कर लिया। नवस्वतंत्र भारत में काफी कुछ शुरुआती आर्थिक क्रियाकलाप राज्य-प्रेरित, व राज्य-नियंत्रित ही था। नेहरू हैरॉल्ड लास्की का मिश्रित अर्थव्यवस्था का सिद्धांत अपनाना चाहते थे, उन्होंने वही किया। राज्य ही प्रमुख उद्योगों व जनसंबद्ध सेवाओं पर नियंत्रण रखता था।

स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात् आर्थिक नीति हेतु एक मार्ग प्रशस्त करने के लिए नेहरू ने एक विकास-वार्ता एवं प्रतिमानों का अनुसरण किया जो कि उस समय प्रचलित और प्रसिद्ध थे। उनका पूरी तरह विश्वास था कि रूस की भाँति भारत को अपने भारी उद्योगों को विकसित करने की आवश्यकता है जोकि पूँजी-साधित थे। इस प्रकार, आर्थिक विकास की आरंभिक अवस्था में भारी उद्योगों की स्थापना एवं बाँधों का निर्माण देखा गया। उन्होंने विकल्पों की एक श्रृंखला से चुनाव किया जोकि आज उपलब्ध विकल्पों के मुकाबले बहुत

अधिक सीमित संख्या में थे, और उस समय के भारतीय शैक्षिक अर्थशास्त्रियों के बीच उच्च स्तरीय परंपरागत प्रज्ञा का अनुसरण करते थे। नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में भारत की विकास दर 4% से किंचित ऊपर थमी रही। यह कहना निश्चय ही मुश्किल है कि विभिन्न आर्थिक नीतियों के तहत कितनी-कितनी आर्थिक वृद्धि हुई : मुख्य रूप से, पूँजीवादी पाश्चात्य यूरोप नेहरू के दिनों में भारत की अपेक्षा जरा अधिक तेजी से विकसित हुआ। (खासकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दशकों में); परंतु साम्यवादी चीन और सोवियत संघ की कमान अर्थव्यवस्थाओं में भी ऐसा ही देखा गया। प्रबल पूँजीवादी अमेरिका में विकास कुछ और भी धीमा हुआ, जैसा कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अधिकांश नव-स्वतंत्र राष्ट्रों में देखा गया था (तेल उत्पादक देशों को छोड़कर)। सोवियत संघ एकमात्र प्रमुख महाशक्ति था जिससे नेहरू के शासनकाल में भारी उद्योग, अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी संबंधी स्वतंत्र क्षमताएँ विकसित करने में भारत की सहायता की। राज्य-नेतृत्व वाले विकास हेतु नेहरू के झुकाव से जुड़े इस राजनीतिक तथ्य ने भारत की गुट-निरपेक्ष विदेश-नीति संबंधी विचारों की गंभीरता पर संदेह को बढ़ावा दिया। पश्चदृष्टि में, नेहरूवादी मॉडल अपने अनेक उद्देश्यों में विफल रहा; तथापि, अनेक भारतीय अर्थशास्त्रियों-विशेषकर नेहरू के समकालीनों का मानना है कि केंद्रीय नियोजन पर नेहरू का जोर दिया जाना उस समय के भारत हेतु सही नीति के तहत था।

भारतीय आर्थिक विकास के कुछ आलोचकों का यह मानना है कि नेहरूवादी एवं उत्तर नेहरूवादी युग की अर्थव्यवस्था जो एक ओर अदक्ष सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों के साथ, और दूसरी ओर घनिष्ठ पूँजीवादी निजी क्षेत्र इकाइयों के साथ थी, जोकि स्वयं अपने लिए लाभकारी सम्पति को तराशने हेतु तथाकथित लाइसेंस राज को प्रयोग करता था, नेहरू के शासनकाल में डाली गई एक आर्थिक नीति की नींव का परिणाम थी (स्रोत 3 http://en.wikipedia.org/wiki/jawarlal-nehru)।

बॉक्स 27.2 : पंचवर्षीय योजनाएँ

स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात् भारत ने एक केंद्रीय रूप से नियोजित अर्थव्यवस्था का विकल्प चुना ताकि संतुलित आर्थिक विकास के उद्देश्य से राष्ट्रीय संसाधनों के प्रभावी एवं समान आबंटन को सुनिश्चित किया जा सके। नियोजन का विचार रूसी केंद्रीकृत नियोजन व्यवस्था से आया। भारतीय अर्थव्यवस्था नियोजन की संकल्पना पर आधारित है। यह उसकी पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से चलाया जाता है, विकसित किया जाता है, निष्पादित किया जाता है और योजना आयोग द्वारा विश्लेषित किया जाता है। उदारीकरण, एक तेजी से विकसित होते निजी क्षेत्र के साथ एक बाजार अर्थव्यवस्था के उदय के पश्चात् नियोजन स्वभावतः संदर्शात्मक की बजाय संकेतात्मक हो चुका है। पंचवर्षीय योजनाओं के निरूपण एवं निर्देशन की प्रक्रिया योजना आयोग द्वारा चलाई जाती है, जिसका प्रमुख इसके अध्यक्ष के रूप में भारत का प्रधानमंत्री होता है (**स्रोतः** ttp://en.wikipedia.orgwiki/Indian_economy) ।

भारत ने आयात-प्रतिस्थापन, श्रम एवं वित्त बाजारों में औद्योगीकरण व राज्य-हस्तक्षेप, एक विशाल सार्वजनिक क्षेत्र, व्यापार के खुल्लमखुल्ला विनियमन, तथा केंद्रीय नियोजन, आदि नीतियों का अनुसरण किया। 1980 तक अर्थव्यवस्था की सामान्य अवस्था ऐसी ही रही कि विकास दर स्थिर थी परंतु संतोषजनक रूप से नहीं, और इसे आमतौर पर "हिंदू विकास दर" कहा जाता था, क्योंकि अन्य सभी पड़ोसी एशियाई अर्थव्यवस्थाएँ, खासकर "पूर्वी एशियाई टाइगर" तेज गति से विकास कर रही थीं।

1980 में उदारीकरण की दिशा में शुरुआती कदम इंदिरा गाँधी द्वारा उठाए गए तथा राजीव गाँधी द्वारा इनका अनुसरण किया गया। इनमें शामिल थे : वृत्तिभोगियों के लिए क्षमता विस्तार पर प्रतिबंधों में छूट, मूल्य नियंत्रण हटाना और निगम कर घटाना। एक

समष्टि आर्थिक संकट के प्रत्युत्तर में तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री पी. नरसिम्हाराव व उनके वित्त मंत्री मनमोहन सिंह द्वारा शुरू किए गए 1991 के आर्थिक उदारीकरण ने लाइसेंस राज (निवेश, औद्योगिक एवं आयात लाइसेंसिंग) समाप्त कर अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। इससे अनेक क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की स्वतः अनुमति मिल गई। तभी से, उदारीकरण की समग्र दिशा, केंद्र में सत्ता रूप दल कोई भी रहा हो, एक ही रही, यद्यपि किसी भी दल ने अभी तक श्रमिक संघों व किसानों जैसे सशक्त समर्थक-वर्गों, अथवा श्रम-सुधार व कृषि परिदान घटाने जैसे विवादास्पद मुद्दों को तूल देने का प्रयास नहीं किया है (वही)।

अपने अगले पाठांश में हम दो ऐसे प्रमुख पहलुओं पर विचार करेंगे जो औद्योगीकरण विषयक भारतीय चिंतन पर छाए रहे हैं। ये पहलू हैं — महात्मा गाँधी एवं जवाहरलाल नेहरू के विचार "विकास का समाजशास्त्र" विषयक अपने पाठ्यक्रम में हमने इस परिप्रेक्ष्य में विस्तार से चर्चा की है (देखें इकाई 8, एम.एस.ओ.-03)। यहाँ हम आपके समक्ष एक संक्षिप्त भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं।

27.6 औद्योगीकरण पर गाँधीवादी व नेहरूवादी चिंतन

विकास के मुद्दे पर अनेक दृष्टिकोण, लेख एवं मत देखने में आते हैं। विकास के अधिक प्रबल सिद्धांत, जोकि शीर्ष-तल एवं उद्योगोन्मुखी हैं, आलोचना का शिकार रहे हैं व उनके विकल्प भी सुझाए जाते रहे हैं। अत्यधिक हानिकारक सिद्ध हुए धरती के संसाधन शोषण एवं भारी उद्योगों द्वारा पर्यावरण ह्रास संबंधी बढ़ी जागरूकता के वर्तमान युग में विकास के उपभोगतावादोन्मुखी दृष्टिकोणों की कड़ी आलोचना हो रही है। इस संदर्भ में विकास पर गाँधीजी व नेहरूजी के विचारों को अनेक विद्वानों द्वारा प्रमुखता से रखा गया है। आइए, इन दो पहलुओं का विश्लेषण करें।

गाँधीजी : स्वदेशी व खादी

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, स्वतंत्र भारत की अर्थव्यवसा हेतु सर्वोत्तम मार्ग पर काफी कुछ चिंतन किसी न किसी तरीके से औपनिवेशिक अनुभव से सूचित एवं प्रभावित रहा है।

गाँधीजी का मानना था कि भारत की प्रगति उसके गाँवों से गहरे जुड़ी है। वह भारत के लिए राज्य की अधिव्याप्त होती शक्तियों को संदिग्ध दृष्टि से देखते थे और एक ग्राम-गणतंत्र श्रृंखला की परिकल्पना करते थे। वह औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं थे जोकि परंपरागत हस्तशिल्पों एवं दस्ताकारियों व उनसे जुड़े उद्योगों का विध्वंस कर सकता था। उनका आत्मनिर्भरता अर्थात् स्वदेशी में दृढ़ विश्वास था। इसका अर्थ था कि भारतीयों के रूप में हमें अपने ही प्रयासों — जनसामान्य से स्वयं उद्भूत श्रम एवं बुद्धि से भरणपोषण करना चाहिए। खादी यानी हाथ से बुना कपड़ा उनके अनुसार स्वदेशी की आत्मा का प्रतीक था। गाँधीजी का मानना था कि हमें व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए व्यापक उत्पादन का सहारा नहीं लेना चाहिए। जीवन की बहुत सी आवश्यकताएँ ग्राम-स्तर एवं व्यक्तिगत स्तर पर उत्पादन द्वारा ही पूरी हो सकती हैं। यद्यपि व्यापक रूप से उत्पादित वस्तुएं सस्ती हो सकती हैं, उनका मानना था कि यदि हम वास्तव में गाँवों को समृद्ध करना चाहते हैं और गरीबों की वास्तविकता को ध्यान में रखना चाहते हैं तो तभी हम विकास के मार्ग पर होंगे।

"चरखा" जैसी वस्तुएँ किसी हथकरघे की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्ति की आत्मनिर्भरता एवं सार्थक श्रम व जीवन की सादगी की प्रतीक थीं। उन्होंने आधुनिक जगत की भौतिक समृद्धि की ओर दौड़ के प्रति सावधान किया। उन्हें संदेह था कि इसको भी मानव प्रगति

के रूप में क्या गंभीरता से लिया जा सकता है। उनका मानना था कि भौतिक प्रगति का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं कि वास्तविक प्रगति अथवा नैतिक एवं आत्मिक प्रगति हो ही। उन्होंने धनसंपदा के पीछे भागने के लिए पश्चिम के अंधानुकरण के प्रति भी सावधान किया।

गांधीजी के विचार उन लोगों एवं विकास साधकों के बीच विशेष रूप से गुंजायमान हैं जो विकास के प्रबल प्रतिमानों के विकल्प तलाश रहे हैं, जोकि शीर्ष-तल दृष्टिकोण रहे हैं और जो लोगों की वास्तविक जरूरतों को ध्यान में नहीं रखते हैं। विकेंद्रीकरण का विचार, ग्राम-स्तरीय विकास जिसकी गांधीजी वकालत करते थे, इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है।

औद्योगीकरण संबंधी नेहरू का समाजवादी आदर्श

हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि किस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन संबंधी जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण समाजवादी आदर्शों से प्रेरित था, खासकर विलम्बवादी (fabian) विचारधारा से, जोकि एक समाजवादी समाज की ओर लोकतांत्रिक एवं क्रमिक परिवर्तन की अपेक्षा करती थी।

बॉक्स 27.3 : विलम्बवादी

इस समाज की स्थापना "द फैलोशिप ऑफ द न्यू लाइफ" नामक 1883 में स्थापित एक संस्था की प्रशाखा के रूप में लंदन, इंग्लैंड में 4 जनवरी 1884 को हुई। फैबियन सोसाइटी एक ब्रिटिश समाजवादी बौद्धिक आंदोलन है, जिसका उद्देश्य समाजवादी सिद्धांत को, क्रांतिकारी की बजाय, सामाजिक लोकतांत्रिक साधनों से आगे बढ़ाना है। इसने 19वीं शती उत्तरार्ध में सबसे पहला हलचल मचा देने वाला कार्य किया और फिर प्रथम विश्वयुद्ध तक करती रही। विलम्बवादी अर्थात् फैबियन समाजवादी मुक्त व्यापार के भी आलोचक थे और उन्होंने विदेशी प्रतिस्पर्धा से इस क्षेत्र को बचाने के लिहाज से विरोधवाद को अपनाया। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में "दूसरी पीढ़ी" के विलम्बवादी, आर.एच. टॉनी, जी.डी.एच. कोल और हैरॉल्ड लास्की, आदि लेखकों समेत, समाजवादी लोकतांत्रिक चिंतन पर काफी प्रभाव बनाए रहे। यही समय था जब तीसरी दुनिया के अनेक भावी नेता विलम्बवादी चिंतन के प्रभाव में आए; सबसे उल्लेखनीय है भारत के जवाहरलाल नेहरू। (**स्रोत** : http://en.wikipedia.org/wiki/Fabians)।

जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान कांग्रेस की आर्थिक नीति के निर्माण में मुख्य भूमिका निभाई। गांधीजी से भिन्न, भारतीय अर्थव्यवस्था हेतु नेहरू का दृष्टिकोण विकास संबंधी आधुनिक पश्चिमी विचारों में दृढ़ विश्वास पर आधारित था। वह भारत को एक आधुनिक राज्य में बदल डालने के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। वह औद्योगीकरण को भारत के विकास हेतु एक निर्णायक पूर्वशर्त के रूप में लेते थे। 1931 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन में पारित किए गए प्रस्ताव में भारत हेतु आर्थिक लक्ष्यों की पहचान करने में नेहरू सहायक थे। इस प्रस्ताव में, अन्य बातों के अलावा, भारी उद्योगों, खनिज संसाधनों, रेलमार्गों, जलमार्गों, आदि पर राज्य के स्वामित्व का सुझाव दिया गया। वह चाहते थे कि राज्य ही विकास कार्य हेतु प्रमुख उत्तरदायित्व निभाए। स्वतंत्र भारत में सार्वजनिक क्षेत्र इसी सोच का परिणाम था। जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया, अर्थव्यवस्था का नियोजन रूसी व्यवस्था से प्रेरित था।

नेहरू जमींदारी और सामंतवादी व्यवस्था के खिलाफ थे। अपने कार्यकाल में उठाए गए उनके प्रमुख कदमों में एक था स्वतंत्र भारत में जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन। वह

वैज्ञानिक मनःस्थिति एवं युक्तिपरक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण तथा इस दिशा में भारत के लिए मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास करने के पक्ष में थे।

यद्यपि गाँधी एवं नेहरू के दृष्टिकोणों में अत्यधिक अंतर है, यह स्पष्ट है कि दोनों चाहते थे कि भारत आत्मनिर्भरता एवं प्रगति के मार्ग पर उपनिवेशवाद की बपौती से छुटकारा पाए।

हम इंग्लैंड और भारत में औद्योगीकरण के इतिहास पर काफी चर्चा कर चुके हैं, परंतु उस समय से स्थिति काफी बदल चुकी है जब कारखानों एवं उद्योगों में परंपरागत रूप से लम्बे कार्य के घाटों के लिए महज भरणपोषण के लिए प्रर्याप्त वेतन पर लोगों को रखा जाता था। यह उत्पादन प्रक्रिया कुछ हद तक एक सी रही हो सकती है, परंतु नई प्रौद्योगिकियों, खासकर संचार प्रौद्योगिकियों ने न केवल अर्थव्यवस्थाओं को अपितु जीवनशैलियों एवं विश्व के भूगोलों को भी काफी कुछ बदल कर रख दिया है। अनेक सामाजिक विचारक उन उद्योगोंत्तर समाजों की ओर संकेत करते रहे हैं जिनमें हम रहते हैं। अगले पाठांश में, आइए, देखते हैं कि उद्योगोत्तर समाज से क्या तात्पर्य है।

27.7 औद्योगोत्तर समाज

डैनियल बैल, समाजशास्त्र के एक प्रोफेसर, औद्योगोत्तर (post industrial) समाज शब्द का प्रयोग करने वाले सर्वप्रथम थे। वास्तव में, यह उनकी पुस्तक **पोस्ट-इंडस्ट्रियल सोसाइटी** (1973) का शीर्षक था। 1973 में ही बैल ने यह पूर्वानुमान कर लिया था कि हम तेजी से एक ऐसे समाज की ओर कदम बढ़ा रहे हैं जहाँ सेवाएँ एवं ज्ञान से जुड़ी प्रौद्योगिकियाँ ही प्रभावी होंगी, न कि औद्योगिक उत्पादन। उन्होंने बताया कि प्रबल रूप से औद्योगोत्तर समाज औद्योगिक समाज का स्थान ले लेगा। बैल के अनुसार, औद्योगोत्तर समाज के तीन घटक होते हैं :

- विनिर्माणन से सेवाओं की ओर स्थानांतरण
- नए विज्ञान-आधारित उद्योगों की केंद्रिकता
- नए तकनीकी अभिजात वर्ग का उदय और स्तरीकरण के एक नए सिद्धांत का पदार्पण।

औद्योगोत्तर समाज के लिए एक अन्य प्रयुक्त शब्द है "सूचना युग", क्योंकि औद्योगोत्तर समाजों का एक अन्य विशेषतासूचक अभिलक्षण है सूचना प्रौद्योगिकियों एवं उनसे जुड़े उद्योगों का प्रभुत्व।

औद्योगिक एवं औद्योगोत्तर के बीच भेद का मर्म इस बात में है जिसे डैनियल बैल अक्षीय (axial) सिद्धांत कहते हैं। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था एवं समाज की मूल तर्कसंगत सैद्धांतिक ज्ञान था (उद्योग समाज में अक्षीय सिद्धांत तकनीकी ज्ञान था), जोकि नए समाज का एक रणनीतिक संसाधन होता है। विश्वविद्यालय, अनुसंधान संस्थाएँ अक्षीय संरचना है जहाँ यह संसाधन अवास्थित रहता है। बौद्धिक प्रौद्योगिकी, यथा इलेक्ट्रॉनिक जुगत प्रयोग करने वाली समस्या-समाधान प्रणाली जो समाज में हर उत्तरदायित्व के साथ पूर्वानुमान प्रबोधन करते हुए युक्तियुक्त समष्टि नियोजन में मदद करती है, यन्त्र प्रौद्योगिकी की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। कामिक कर्मों का स्थान बौद्धिक कर्म लेते जा रहे हैं। इस समाज के भीतर व्यावसायिक तकनीकी एवं वैज्ञानिक समूहों की अभिवृद्धि देखी जाती है।

औद्योगोत्तर समाज संबंधी बैल का पूर्वानुमान "सत्तर के दशक में अमेरिका में पहले से ही उभर रहे प्रतिमानों पर आधारित था, जोकि इस प्रकार थे :

1) पचास के दशक में रोजगार आँकड़े : अमेरिका सेवा में, यथा व्यापार, वित्त, परिवहन, स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद, शिक्षा, सरकार, आदि में अपने अधिकांश कार्यरत जनसमूहों के आधार पर ऐसा करने वाला सबसे पहला देश बन गया। सेवा क्षेत्र में व्यावसायिक एवं तकनीकी संगठनों की तेजी से वृद्धि हुई।

2) इस बात के प्रमाण मिले कि सकल घरेलू उत्पात (GNP) हेतु सेवा क्षेत्र का योगदान निरंतर बढ़ रहा था।

3) उच्च शिक्षा, यथा सैद्धांतिक ज्ञान की दिशा में धन नियतन में वृद्धि समाज में मुख्य संगठनकारी सिद्धांत है।

बैल के अनुसार, औद्योगीकरण औद्योगिक प्रमाण में अनेक समस्याओं के लिए एक समाधान का प्रस्ताव करता है, जैसे :

- मशीनों के साथ संक्रिया करने की बजाय व्यक्ति व्यक्ति से बात करता है।
- नए कर्मी का दृष्टिकोण।
- सुखकर वातावरण में रुचिकर एवं विविध कार्य निष्पादित करता है।
- सेवा के उत्पादन में लगा रहता है, न कि माल के उत्पादन में।
- सजीव लोगों के साथ संक्रिया करता है, न कि बुद्धिहीन मशीनों के साथ।
- जैसे ही ग्राहक की माँगें विविध होती हैं, व्यक्तिगत सेवा प्रस्तुत करता है।
- सेवा खंडित नहीं होती जिसके लिए उत्पाद के साथ तादात्म्य का अभाव होता है, कर्मी द्वारा प्रदत्त सेवा में एक निश्चित एकता होती है।
- अंततः नया कार्यस्थल एक सुखकर कार्यालय और व्यक्तिगत कार्यशाला होता है।

कुछ विद्वानों का तर्क है कि लोगों के लिए अपने परिणामों में औद्योगोत्तरवाद औद्योगवाद से भिन्न है। औद्योगवाद ने अन्यीभाव या अन्यत्रभाव को बढ़ावा दिया क्योंकि इसने भौतिक आधिक्य को संभव बना दिया। औद्योगोत्तरवाद ने काम देकर यथा, विविध एवं रुचिकर, मशीनों द्वारा गति प्रदान किए जाने की बजाय लोगों को अपनी निजी समगति नियत करने में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम बनाया। कर्मचारी छोटे-छोटे कई कामों की बजाय संपूर्ण कार्य करने लगा। इस प्रकार, औद्योगोत्तरवाद ने मनुष्य के अन्यीभाव के लिए समाधान प्रस्तुत किया। आलोचकों का कहना है कि यह बहुत अधिक धवल तस्वीर है। मार्क्सवादी इस बात को नहीं मानते कि अन्यीभाव उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे के भीतर दूर किया जा सकता है। उनके अनुसार अन्यीभाव का मूल कारण निजी स्वामित्व है, अर्थात् जो कर्मचारी का औजार व उत्पादन पर से नियंत्रण छीन लेता है। सेवा-वर्ग में रोजगार का निहितार्थ है कि यह कृषि की कीमत पर होगा। कामिक कर्म सहित हस्तकृत कार्य सेवाओं वाले औद्योगिक रोजगार की तुलना बौद्धिक कर्म वाले रोजगार से करना भ्रामक ही होगा। भोजन-प्रबंध, सफाई, मनोरंजन, एवं परिवहन जैसी सेवाओं के प्रावधान वाले अनेक कार्य अथवा हस्तकृत और यहाँ तक कि दासोचित कार्य भी औद्योगिक कार्यों की आम श्रृंखला से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। यदि औद्योगिक रोजगार को कायम रखना हो और इन सेवाओं द्वारा उतपन्न अनेक कार्य हस्तृकत हों तो, आशावादियों का कहना है, कि अभी भी कुछ लोगों के लिए अनुप्रयुक्त औद्योगिक कार्य की अन्यत्रभाव वाली दशा पूरी तरह से दूर हो जाएगी। उनका दावा है कि सेवा-क्षेत्र में बौद्धिक कर्मचारी सुखकर वातावरण में विविध कार्य करते हैं और इसकी कड़ी आलोचना हुई है। सेवा-क्षेत्र के काफी बड़ी संख्या में कर्मचारी वे लिपिक हैं जिनको वृहद् निर्वैयक्तिक कार्यालयों में रखा गया है। कार्य पुनरावृत्ति, श्रम-विभाजन, कार्यों का विखंडन एवं प्रबोधक जो औद्योगिक रोजगार की विशेषताएँ होती हैं, यहाँ भी देखी जा सकती है।

MAADHYAM IAS

अंततः, बैल का अभिकथन कि बौद्धिक श्रम के तहत व्यवसायियों की संख्या वर्धमान है, पर संदेह व्यक्त किया गया है। सेवा-क्षेत्र में व्यवसायियों का बढ़ना निम्नतम स्तरों पर हो रहा है। इन लोगों को सबसे कम प्रभाव वाले कार्य सौंपे जाते हैं, जैसे अभियंता एवं प्रौद्योगिकीविद्। तथापि, वे अपने काम में किंचित ही स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं। उनका वास्तविक कार्य होता है किसी और के विनिर्देशों का पालन करना। वे वैज्ञानिक ज्ञान के जो स्वयं ही एक उद्योग बन गया है सूचना प्रदायक अधिक होते हैं। बड़ी संख्या में लोग काफी सरल और नियमबद्ध कार्य करते हैं जिनको संयोजित करने वाला ही जानता है समग्रता प्रदान करने के लिए टुकड़ों को कैसा जोड़ा जाए।

जबकि बैल के तर्कों एवं पूर्वानुमान की अनेक आलोचनाएँ सामने आई हैं, हम दरअसल एक औद्योगोन्मुखी अर्थव्यवस्था से उद्योगोत्तर अर्थव्यवस्था की ओर कदम बढ़ा चुके हैं। नई प्रौद्योगिकियों ने निश्चय ही सामाजिक संरचनाओं को बदलकर रख दिया है, उन्होंने भूमण्डलीकरण प्रक्रियाओं को भी तेज कर दिया है, जिसके विषय में हम अपनी अगली इकाई में पढ़ेंगे।

26.8 निष्कर्ष

इस इकाई में हमने यह समझने का प्रयास किया है कि औद्योगीकरण का क्या अर्थ है और उसके मुख्य अभिलक्षण क्या हैं। हमने औद्योगीकरण का संबंध इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति से जोड़ा, जिसने निश्चित रूप से औद्योगीकरण को आगे बढ़ाया, न सिर्फ इंग्लैंड में बल्कि पूरे यूरोप में ताकि उसे शेष विश्व में भी अपनाया जा सके। अनेक विद्वान औद्योगीकरण द्वारा लाए गए दूरगामी परिवर्तनों को समझने का प्रयास करते रहे हैं, जिसने कि बदलती उत्पादन प्रक्रियाओं के अलावा सामाजिक संरचनाओं को भी प्रबलतापूर्वक बदल कर रख दिया है। कुछ विचारकों ने, जोकि समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण विभूतियाँ हैं, इन सामाजिक परिवतर्नों पर टिप्पणी की है और उनके निहितार्थों को हम वर्तमान समाज में आज भी देख सकते हैं। कुछ सम्पन्न राष्ट्रों में विकास एवं प्रगति तथा जीवनस्तर उन देशों के लिए ज्वलंत उदाहरण बन गए जो पीछे छूट गए थे — तीसरी दुनिया के देश। भारत ने भी पश्चिम से आए विकास प्रतिमानों को अपनाया। आधुनिकीकरण जोकि औद्योगिकीकरण एवं पाश्चात्यीकरण के साथ-साथ आया, ने भारतीय समाज पर अपना प्रभाव छोड़ा, जिनको कि व्यापक रूप से इतिकृत किया गया है। इस पाठ्यक्रम की अनेक अन्य इकाइयों में हमने आधुनिकीकरण के कुछ मुद्दों को उठाने का प्रयास किया है। इमने, तथापि, यहाँ औद्योगीकरण के दो मूल पहलुओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया, यथा गांधीजी और नेहरू से जुड़े। अपने अंतिम पाठांश में हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि अपने तेजी से बदलते समाज में हम प्रक्रियाओं के परंपरागत उद्योगवाद से भी परे जा रहे हैं जिसमें कि सूचना प्रौद्योगिकियाँ शामिल हैं।

27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिल, के.एस. (1986), *इवेलूशन ऑफ इंडियन इकॉनामी*, एन.सी.आई.आर.टी., नई दिल्ली।

जेल्लिन, आई.एम. (2000), (7वाँ संस्करण), *आइडियोलॉजी एंड द डेवेलपमेंट ऑफ सोशियोलॉजिकल थ्योरी*, प्रिंटिस हॉल, न्यूजर्सी।

इकाई 28

भूमण्डलीकरण

इकाई की रूपरेखा

28.1 प्रस्तावना

28.2 भूमण्डलीकरण के घटक : विभिन्न विचार

28.3 भूमण्डलीकरण के अभिलक्षण

28.4 भारत में भूमण्डलीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

28.5 भूमण्डलीकरण, संस्कृति एवं पहचान

28.6 निष्कर्ष

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

एक दृश्यघटना स्वरूप भूमण्डलीकरण के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रायिक रूप से और भावप्रवण रूप से चर्चा, बहस, आलोचना एवं महिमागान किया जाता रहा है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भूमण्डलीकरण के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट कर सकें;
- भूमण्डलीकरण व उसके पीछे उन विभिन्न विचारधाराओं पर चर्चा कर सकें, जिनके संदर्भ में उनको लिया जाता है;
- इसके अभिलक्षणों के लिहाज़ से भूमण्डलीकरण प्रक्रिया का वर्णन कर सकें;
- भारतीय समाज को प्रभावित करने में भूमण्डलीकरण प्रक्रिया को स्पष्ट करना; और
- भूमण्डलीकरण, संस्कृति एवं पहचान के बीच अंतसंबंध का आलोचनात्मक मूल्यांकन करना।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

28.1 प्रस्तावना

आपने देखा होगा कि शहर में अब पहले से कहीं अधिक चिप्पी लगे वस्त्र नज़र आने लगे हैं। नाइकि (छपाम), रीबॉक (त्मभइवा), आदि मार्के जो भारत में पहले भारत में उपलब्ध नहीं हुआ करते थे, अब बहुतायत से दिखाई पड़ने लगे हैं। बड़े शहरों में फैशन रूझान विश्व के अन्य बड़े शहरों की भांति ही होने लगी है। यहाँ तक कि टीवी के कार्यक्रमों का भी विश्वव्यापी आयात निर्यात होने लगा है, जैसे कि 'कौन बनेगा करोड़पति', 'इण्डियन आइडल', आदि जो कि स्थानीकृत हैं। विश्वव्यापी प्रभाव अब दुनिया के हर कोने में महसूस किए जा सकते हैं। भांगड़ा और योग पश्चिमी देशों में लोकप्रिय हो गए हैं तो चीज़ पिज़्ज़ा व बर्गर हमारे खानपान का हिस्सा बन चुके हैं, कम से कम बड़े शहरों व नई पीढ़ी के लोगों में तो अवश्य ही। बड़े निगमों के अब विश्व के विभिन्न भागों में कार्यालय खुल गए हैं जहाँ से वे अपनी गतिविधियां संचालित करते हैं। अतः निगम विश्वव्यापी बन गए हैं और इस अर्थ में उनकी उत्पादन प्रक्रियाएं भी। ऐसे भी लोग हैं जो भारत में काम करते हैं परन्तु हावभाव व लहजा अमेरिका का रखते हैं और

समय भी अमेरिकी का अपनाते हैं क्योंकि वे एक अन्तर्राष्ट्रीय कॉल सैण्टर के लिए काम करते हैं। लोग काम के सिलसिले में, काम की तलाश में, अथवा बेहतर जीवन की खोज में प्रवसन हेतु पहले से कहीं अधिक यात्राएं कर रहे हैं। लोगों के स्थान परिवर्तन एवं उनके बीच संचार में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है। एक मां जिसका बेटा अमेरिका में रहता है न सिर्फ़ अपने बेटे और पुत्रवधू के निरन्तर सम्पर्क में रहती है बल्कि साल में काफ़ी समय उनके संग गुज़ारने के लिए यात्रा भी कर सकती है।

हम इन परिवर्तनों को अपने रोज़मर्रा के जीवन में देखते हैं। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इन हर रोज़ बदलते रीति-रिवाज़ों को समाजशास्त्रीय शब्दों एवं संकल्पना में किस प्रकार समझा जाए? दूसरे, सामान्य अर्थ से समाजशास्त्रीय अर्थ किस प्रकार निकाला जाए? उपर्युक्त परिवर्तनों को भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है। जबकि भूमण्डलीकरण में ठीक ठाक क्या आता है इसकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं और यह कहाँ से उत्पन्न होता पर अनेक प्रकार की बहसें छिड़ी हुई हैं, परिवर्तन हम जो देख रहें हैं सुस्पष्ट एवं वास्तविक हैं।

इस इकाई में हम उन विभिन्न परिवर्तनों के माध्यम से भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे जो समाज में हो रहे हैं और विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भिन्न-भिन्न विश्लेषणों का भी अनुसरण करेंगे। भूमण्डलीकरण से जुड़ी अनेक बहसें छिड़ी हुई हैं, हम उनका भी आलोचनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे। हम उक्त शब्द और उस प्रक्रिया जिससे भूमण्डलीकरण अपने विशेषतासूचक गुणों के साथ हमारे सामने प्रकट हुआ, को भी समझेंगे। अंत में हम भूमण्डलीकरण प्रक्रिया को भारत के संदर्भ में देखेंगे।

28.2 भूमण्डलीकरण के घटक : विभिन्न विचार

भूमण्डलीकरण अर्थात् वैश्वीकरण या ग्लोबलाइज़ेशन आज के युग में सभी प्रमुख विचारधाराओं, भाषाओं, संस्कृतियों एवं राष्ट्रों की शब्दावली का हिस्सा प्रायः बन ही गया है। इस शब्द के बढ़ते आकर्षण के साथ ही, इसके रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक प्रभावों पर अनेक सार्वजनिक बहसें और चर्चाएं विद्वत्परिषदों, राजनीतिक गलियारों और सभ्य समाज में दिखाई पड़ने लगी हैं। भूमण्डलीकरण शब्द पर वाद-विवाद निरन्तर चल रहा है। उत्साही और आलोचक दोनों ही इसके प्रभावों की वृहद श्रृंखला को महत्त्व देते हैं।

इस पाठांश में कुछ बड़ी बहसों पर नज़र डालने से पूर्व हम उन पहलुओं की एक श्रृंखला पर व्यापक दृष्टि डालेंगे जिन पर विद्वानों द्वारा ज़ोर दिया गया है। आइए, देखें क्या हम इस चर्चा के कुछ सूत्रों को अलग कर सकते हैं।

- एक पहलू जिस पर बहस छिड़ी है वो यह है कि क्या भूमण्डलीकरण वर्तमान काल में अनोखा है, क्या यह जगत सदा ही सार्वभौमिक नहीं रहा है? डेविड गॉर्डन (1988) आधुनिक वैश्वीकरण को किसी अभूतपूर्व विश्व कायांतरण के रूप में नहीं बल्कि पूंजी संचयन की दीर्घावधिक प्रक्रियाओं में एक अपेक्षाकृत अल्पावधिक दौर के रूप में लेते हैं, जबकि पॉल हर्स्ट एवं ग्राहम थॉम्सन (1992, 1996ए ; 1996बी) आधुनिक आर्थिक कायांतरणों पर किसी राज्य-विरूद्ध अथवा इतर-राज्यीय विश्व अर्थव्यवस्था को जन्म देने की बजाय वृहद् व्यापार समूहों को जन्म देने के लिहाज़ से टिप्पणी करते हैं। लगभग सभी पर्यवेक्षकों का मानना है कि अनेक दशकों से विश्व-संबंध मज़बूत होते जा रहे हैं, परन्तु इस मज़बूतीकरण की सार्थकता विवाद का विषय हो रही है।

- भूमण्डलीकरण का सबसे सामान्य प्रत्ययीकरण आर्थिक एकीकरण। अन्योन्याश्रित की एक आयामी प्रक्रिया ही रहा है, जो कि वर्तमान दौर में बहुत तेज़ी से चल रही है।

इस अर्थ में, आर.जी. हैरिस इसे एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में लेते हैं, यथा 'माल व सेवाओं के उत्पादन, वितरण एवं विपणन का बढ़ता अन्तर्राष्ट्रीयकरण' (स्ट्रीटन 2001:167 में उद्धत)। इस प्रक्रिया के दो आयामी स्वरूप में नई प्रौद्योगिकी द्वारा सरलीकृत आर्थिक एकीकरण भी आता है। एक उदाहरणस्वरूप, थॉमस फ्रीडमैन के अनुसार, भूमण्डलीकरण 'मुक्त व्यापार समझौतों, इण्टरनैट एवं वित्त बाज़ारों का वह निर्बन्ध संयोजन है जो सीमाओं को समाप्त कर विश्व को एक पृथक, अर्थकर परन्तु नृशंस रूप से प्रतिस्पर्धात्मक पुण्य स्थल बनता जा रहा है' (वही : 171)। इस अधिव्यापनकारी आर्थिक दृष्टिकोण का एक अन्य पहलू कुछ और नहीं बल्कि उदारीकरण ही है। उदारीकरण (Liberlisation) विभिन्न देशों के बीच आवागमन पर लगे सरकारी प्रतिबंधों को हटाये जाने की एक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है ताकि एक निर्युक्त सीमारहित विश्व अर्थव्यवस्था का जन्म हो सके। हाल के दशकों में इस प्रकार के भूमण्डलीकरण के प्रमाण विनियामक व्यापार अवरोधों, विदेश विनिमय प्रतिबंधों, पूंजी नियंत्रणों, आदि के व्यापक आकर्षण अथवा निर्मूलन में भी देखे जा सकते हैं।

- एक ऐसा पहलु जिसको अनेक विद्वत्जन स्वीकार करने लगे हैं, यह है कि भूमण्डलीकरण में समाज के अनेक आयाम किस प्रकार समाहित हैं। इस एक बहुआयामी प्रक्रिया के रूप में लेते हुए स्ट्रीटन कहते हैं, 'भूमण्डलीकरण व्यापार, वित्त, रोज़गार, प्रवसन, प्रौद्योगिकी, संचार माध्यमों, पर्यावरण, सामाजिक व्यवस्थाओं, जीवनशैलियों, संस्कृतियों एवं प्रशासन प्रतिमानों का बदलना है' (2001:8)। होम एवं सोरेन्सन (1995, उसी में उद्धत) इसे 'सीमापार आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंधों के प्रमाणीकरण' के रूप में देखते हैं। एक विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित पत्र भूमण्डलीकरण को 'विश्वभर में अर्थव्यवस्थाओं एवं समाजों के बढ़ते एकीकरण' के रूप में परिभाषित करता है। यह 'एक जटिल प्रक्रिया है जो हमारे जीवन के अनेक पहलुओं को प्रभावित करती है' (विश्व बैंक 2002 : ix)। इकलैक (ECLAC – Economic Commission for Latin America and the Carribbean) संचालित, संयुक्त राष्ट्र द्वारा कराए गए एक अध्ययन (2002 : 17) में भूमण्डलीकरण की बहुआयामी प्रकृति पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। यहां लिखा गया है कि भूमण्डलीकरण का आर्थिक आयाम उन 'अनार्थिक प्रक्रियाओं के साथ सहवर्ती रूप से काम करता है जिनमें अपनी गतिमात्रा होती है और इसीलिए आर्थिक कारकों द्वारा निर्धारित नहीं होती' (वही)। इनमें से एक अनार्थिक आयाम है – नैतिक एवं सांस्कृतिक पहलू, जिनको इकलैक 'मूल्यों का वैश्वीकरण' संज्ञा देता है और सहभागित नैतिक सिद्धांतों के क्रमिक प्रसार की ओर संकेत करता है जो कि उस मानवाधिकार विषयक घोषणाओं में अभिव्यक्त हुए जिनके दो मुख्य विषय हैं : (क) नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार, तथा (ख) आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार। 'मूल्यों का भूमण्डलीकरण उत्तरोत्तर एक 'वैश्विक सभ्य समाज' की आकांक्षाओं एवं निर्माण में व्यक्त हो रहा है जिनकी संघटन क्षमता एवं सूचना आदान-प्रदान नई सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकियों द्वारा बहुगुणित हो रही है (वही:21)।

- कुछ विद्वान भूमण्डलीकरण को एक अनिवार्य उद्योगोत्तर समाज के रूप में देखते हैं जहाँ संचार प्रौद्योगिकियां ही पारिभाषिक अभिलक्षण होती हैं। कैसल वर्तमान विश्व-अवस्था को अनिवार्यतः एक नेटवर्क से जुड़े समाज के रूप में देखते हैं। समाजशास्त्री मानुअल कैसल ने समाज के नेटवर्क अर्थात् संचार तंत्र की पहचान की है जिसमें प्रवाहों का एक नया अंतराल स्थानों के पुराने अंतराल के साथ ही अस्तित्व रखता है (348; 1996-1989)। कैसल जो कहना चाहते हैं वो यह है कि प्रौद्योगिक रूप से मध्यस्थ दशाओं के कारण प्रदत्त समाज में विद्यमान अन्तःक्रियाओं की तुलना में

विभिन्न प्रकार की अन्तःक्रियाओं की संभावना बढ़ जायेगी, जैसे उपग्रहों, इन्टरनैट, दूरसंचार संपर्कों एवं अन्य अंकीय प्रौद्योगिकियों के माध्यम से। कैसल का विश्लेषण इस प्रक्रिया का निरीक्षण करता है और उसकी प्रकृति एवं परिणामों को एक समग्र दृष्टि से देखने की बजाय एक खण्डमय रीति से देखता है। निश्चित रूप से, एक खण्डमय दृष्टिकोण से, विश्लेशकों ने 'वित्तीय अथवा पूंजीगत भूमण्डलीकरण', 'दूरसंचार अथवा संचार माध्यम वैश्वीकरण' और 'सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण' का पृथक घटनाक्रमों के रूप में अध्ययन किया है, और फिर एक का प्रभाव दूसरे पर देखने का प्रयास भी किया है। उदाहरण के लिए, 'वित्तीय अथवा पूंजीगत' भूमण्डलीकरण का प्रभाव संचार माध्यमों, संचार अथवा संस्कृति जैसे अन्य खण्डों पर। इस दृष्टिकोण के दो दोष हैं : प्रथम, यह हमें अवशिष्ट सामाजिक संरचनात्मक वास्तविकताओं व उनके उद्‌भूत गुणों की भूमिका को समझने में मददगार नहीं है। दूसरे, यह रीति जिससे वे भूमण्डलीकरण के इन तीन पहलुओं में से किसी एक के साथ संक्रिया करते हैं, चाहे यह पूंजी हो, संचार हो, अथवा संस्कृति।

- अनेक विद्वान भूमण्डलीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जो पश्चिम से शुरू हुई है और इसी कारण पाश्चात्यकरण का यह एक अन्य रूप है। यह दृष्टिकोण बताता है कि भूमण्डलीकरण एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है जिसके माध्यम से आधुनिकता की सामाजिक संरचना दुनियाभर में फैली है, सामान्यतया पूर्व विद्यमान संस्कृतियों एवं प्रक्रिया में स्थानीय आत्मनिर्णयन् को समाप्त करते हुए (स्पाइबी 1996; टेलर 2000)। भूमण्डलीकरण इस अर्थ में कभी-कभी मैक्डोनाल्ड के हॉलीवुड, कोकाकोलीकरण, एमटीवी पीढ़ी एवं सीएनएन के साम्राज्यवाद के रूप में परिभाषित किया जाता है (शिलर 1991)। मार्टिन खोर (1995) ठीक ही टिप्पणी करते हैं कि भूमण्डलीकरण वो है जो हम तीसरी दुनिया के लोगों के पास अनेक शताब्दियों से निरन्तर है, जिसका नाम है औपनिवेशीकरण (खोर, 1995)।

- एक अन्य पहलू, जिस पर विद्वानों द्वारा गौर किया गया है, भूमण्डलीकरण की पहचान अपेक्षीकरण (globalisation as deteritorialisation) के रूप में करता है। इस व्याख्या के अनुसार, भूमण्डलीकरण भूगोल के पुनर्विन्यास को आवश्यक बना देता है ताकि सामाजिक स्थल को फिर समग्रतः सीमान्तर्गत स्थलों, सीमान्तर्गत दूरियों व राज्यक्षेत्रीय सीमाओं में न मापा जाये। यह प्रथा नई अन्तर्दृष्टियों को जन्म देती है और अपेक्षाकृत नयी दशाओं को भी, जिससे कि भूमण्डलीकरण लोगों के बीच अधि ासीमान्तर्गत संबंधों के रूप में लिया जा सके। अपक्षेत्रीकरण सामाजिक स्थल के स्वरूप में एक दूरगामी परिवर्तन की ओर संकेत करता है। इसके अलावा, अधि ासीमान्तर्गत अर्थात अधिक्षेत्रीय – या जिसे हम वैकल्पिक रूप से पारवैश्विक या सीमापार भी कह सकते हैं – संबंधों का प्रचुरोद्‌भाव एवं प्रसार उस स्थिति की संभावना समाप्त कर देता है जिसे हम क्षेत्रवाद (Territorialism) कह सकते हैं, यथा एक ऐसी स्थिति जिसमें सामाजिक भूगोल पूरी तरह से क्षेत्रीय होता है। वर्तमान इतिहास में सामाजिक संबंधों का प्रचुरोद्‌भाव देखा गया है जो कि कम से कम अंशतः – और प्रायः नितांत सर्वथा – उस प्रकार के सीमाक्षेत्रीय तर्क से तटस्थ होते हैं जिसका अभी अभी उल्लेख किया गया। इस प्रकार की दृश्यघटनाओं को किसी नियत क्षेत्रीय स्थल पर अवस्थित नहीं माना जा सकता है। वे अधिकांशतः क्षेत्रीय या सीमान्तर्गत दूरियों पर ध्यान दिए बग़ैर ही संचालित होती हैं। वे यथेष्ट रूप से क्षेत्रीय सीमाओं को छूती हुई आगे निकल जाती हैं। इन वैश्विक दशाओं के भूगोल को केवल सीमाक्षेत्रीयता के शब्दों में ही नहीं समझा जा सकता ; वे विश्व में एकल स्थल के रूप में भी रहती हैं – यथा, एक पारवैश्विक स्थान पर।

MADHYAM IAS

बॉक्स 28.01 : मेरा परिवार व अन्य विश्वकर्त्ता

1992 में मैने 'टुवार्डज़ ग्लोबलाइज़ेशन' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। उस वक़्त मुझे नहीं मालूम था कि यह मेरे परिवार का इतिहास लिखा जा रहा है।

गत सप्ताह हमने अपनी बेटी पल्लवी का विवाह समारोह मनाया। एक मेधावी छात्रा के रूप में उसे ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी और लन्दन स्कूल ऑफ इक्नॉमिक्स से छात्रवृत्तियां मिलती थीं। लन्दन में उसकी भेंट जुलियो से हुई जो स्पेन से आया एक नवयुवक था।दोनों ने मिलकर बीजिंग, चीन में जाकर नौकरी करने का निश्चय किया। गत सप्ताह वे बीजिंग से ही दिल्ली विवाह सूत्र बंधन में बंधने आये थे। इस विवाह समारोह के अतिथियों में उत्तरी अमेरिका, यूरोप और चीन से कुल 70 मित्रगण आए थे।

यह बात पूरी तरह वैश्विक लग सकती है, परन्तु तर्कसाध्य रूप से मेरा बड़ा बेटा शेखर और भी आगे निकल गया। उसे भी ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में वज़ीफा मिला, और फिर वह कोलम्बो के एक स्कूल में पढ़ाने लगा। तदोपरांत वह उच्च शिक्षा के लिए टोरान्टो, कनाडा चला गया। वहाँ वह एक जर्मन लड़की फ़ैन्जिस्का से मिला।

इन दोनों ने वाशिगंटन, जिला कोलम्बिया अमेरिका स्थित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में नौकरी कर ली। इसका अर्थ था कि वे दोनों इस कार्यालय से भिन्न-भिन्न देशों को निरन्तर यात्रा करते रहते थे। शेखर ने सायरालिओन, सेशेल्स, किर्गिज़्स्तान और लाओस के मिशन पर जाने की सलाह मिली और वह चला गया। फ़ैन्ज़िस्का रवाण्डा, ताजिकिस्तान और रूस गई। उन्होंने 2003 के अंत में विवाह कर इस भ्रमण क्रम को भंग कर दिया

मेरा छोटा बेटा रूस्तम केवल 15 वर्ष का है। संभवतः वह ऑस्ट्रेलिया में पढ़ेगा, एक नाइजीरियाई लड़की से विवाह करेगा और पेरू में जा बसेगा।

MADHYAM IAS

पाठक यह सोच रहे होंगे कि मेरा परिवार अवश्य ही किसी जेट विमान में जन्मा और पला बढ़ा होगा। सत्य और अधिक गद्यवत् है। हमारा पैतृक घर कारगुड़ी में है, जो कि तमिलनाडु के तंजौर ज़िला में एक दीन-हीन स्थिति वाला गांव है। जहां तक मुझे याद है, यह एक शौचालय, जल अथवा पक्की सड़क से रहित घर था।

मेरा पिता छह भाई बहन थे, जिनमें सभी ने अनेक बच्चे जने (मैं स्वयं भी चार भाई-बहनों में एक था)। अतः दो पीढ़ियों बाद कारगुड़ी – विस्तारित परिवार का आकार (पति-पत्नियों समेत) 200 की संख्या से भी ऊपर हो गया। इनमें से मात्र तीन ही अब गांव में रहते हैं। शेष भारत में कहीं अथवा चीन से अरब या यूरोप से अमेरिका तक, विश्व में कहीं रहते हैं। यह मेरा कारगुड़ी परिवार पहले ही 50 अमेरिकी नागरिक उत्पन्न कर चुका है। अतः यह कहना बंद कर दिया जाना चाहिए कि भूमण्डलीकरण का अर्थ पाश्चात्यकरण है। कारगुड़ी की नज़र से देखने पर यह अय्यरीकरण अधिक लगेगा।

भूमण्डलीकरण मेरे हिसाब से महज माल व पूंजी का या फिर अय्यरों का भी स्थान परिवर्तन नहीं है। यह लेनिन की देशरहित दूरदर्शिता की ओर एक कदम है।

आप कह सकते हैं मैं कोई स्वप्नदर्शी ही हूं, परन्तु ऐसी एकमात्र मैं ही नहीं। आशा है एक दिन आप भी मेरे साथ होंगे। और सारा विश्व एक हो जायेगा।

(**स्रोतः** स्वामिनोमिक्स, टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, नई दिल्ली, अप्रैल 3, 2005)

जैसा कि हम देख सकते हैं, कोई एकमत दृष्टिकोण नहीं है कि भूमण्डलीकरण में ठीक-ठीक क्या शामिल है। भूमण्डलीकरण संबंधी साहित्य भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी विचारों से भरा पड़ा है। डेविड हैर्वे ने इन तर्कों को तीन श्रेणियों में बांटा है जिन पर हम चर्चा करेंगे, परन्तु उससे पूर्व उस पर विचार करें जो कि आपने अब तक पढ़ा है और निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करें।

सोचें और करें 28.01

अपने रोज़मर्रा के अनुभवों पर विचार करें। कम से कम 10 ऐसे तरीकों की सूची बनाएं जिनसे आपका जीवन देश के अन्य भागों में हो रही घटनाओं से प्रभावित हुआ है। " वैश्वीकरण की मेरी परिभाषा" पर दो पृष्ठों का एक निबंध लिखें। इस पर अपने अध्ययन केन्द्र पर अन्य छात्रों से चर्चा करें।

भूमण्डलीकरण की संकल्पना : तीन प्रवृत्तियां

डेविड हार्वे द्वारा प्रग्रहीत एवं वर्गीकृत तीन प्रवृत्तियां निम्नवत् हैं। हमने इन्हें एन्थॉनी गिडन द्वारा प्रस्तुतानुसार रूपान्तरित किया है :

संशयवादी (The Sceptics) : हर्स्ट एवं थॉमसन (1999), बॉयर एवं ड्रेशी (1997) जैसे संशयवादियों के विचार से भूमण्डलीकरण कोई नई दृश्यघटना नहीं है; इससे पूर्व भी आर्थिक अन्योन्याश्रिता रही है। वे 19वीं सदी में विश्व व्यापार के आंकड़ों की ओर संकेत करते हैं और दावा करते हैं कि वर्तमान विश्व व्यापार केवल प्रबलता में भिन्न है अतः नया नहीं है। उनका कहना है कि विश्व अर्थव्यवस्था सही मायनों में वैश्विक अर्थव्यवस्था बनने के लिए पर्याप्त रूप से एकीकृत नहीं है। यदि कोई व्यापार नाम की चीज़ है, उनका कहना है, तो वह तीन क्षेत्रीय देश-समूहों के बीच है – यूरोप, एशिया-प्रशांत, और उत्तर अमेरिका। यूरोपीय संघ के देश, उदाहरण के लिए, प्रमुख रूप से अपने बीच ही व्यापार करते हैं। यह, उनका तर्क है, विश्व अर्थव्यवस्था की धारणा को अमान्य करार देता है। अनेक संशयवादी क्षेत्रीकरण की प्रक्रिया पर ध्यान आकर्षित करते हैं। वे इस धारणा को भी रद्द करते हैं। राष्ट्रीय सरकारें और राज्य कमज़ोर पड़ रहे हैं। संशयवादियों के अनुसार, राष्ट्रीय सरकारें आर्थिक क्रियाकलाप के विनियमन एवं कार्यान्वयन में शामिल हो एक प्रमुख भूमिका निभाती है।

अतिविश्वकर्त्ता (The Hyperglobalisers) : अतिविश्वकर्त्ता संशयवादियों के विचारों से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। उन्हें लगता है कि भूमण्डलीकरण बहुत वास्तविक है और इसके प्रभार हर जगह महसूस किए जा सकते हैं। उनका सोचना है कि भूमण्डलीकरण अनायास ही सीमाओं व राज्य क्षेत्रों से परे दूर ले जाता है। खेमें में एक अग्रणी विचारक केंची ओहेम का मानना है कि 'भूमण्डलीकरण हमें एक "सीमाहीन समाज" की ओर ले जा रहा है – एक ऐसा संसार जिसमें बाज़ार शक्तियां राष्ट्रीय सरकारों से कहीं अधिक शक्तिशाली हैं' (ओहेम 2002, 1995)। अतिविश्वकर्त्ता अपनी चर्चा को राष्ट्रीय सरकारों के घटते प्रभाव पर केन्द्रित करते हैं – उन्हें न सिर्फ़ अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार शक्तियों एवं बड़े निगमों द्वारा चुनौती दी जा रही है, बल्कि क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय संस्थाओं जैसे यूरोपीय यूनियन, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठनों आदि द्वारा भी चुनौती दी जा रही है। ये परिवर्तन एल्ब्रो (1996) के अनुसार, जहाँ राष्ट्रीय सरकारों का प्रभाव कम हो जाता है एक "वैश्विक युग" की सुबह का संकेत देते हैं। अतिविश्वकर्त्ता अपनी समांगीकरण प्रकृति को अनुमोदित एवं केन्द्रीकृत करते हुए एक नवोदारवादी विचारधारा के भूमण्डलीकरण की भी वकालत करते हैं। संशयवादी मुख्य रूप से नव-मार्क्सवादी और अतिवादी हैं जो भूमण्डलीकरण के नकारी पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और इस प्रक्रिया के संकरण – सांस्कृतिक पहलू को भी ध्यानार्थ लाते हैं। नव-मार्क्सवादी / मार्क्सवादी भूमण्डलीकरण की अधियत्यपूर्ण अभिवृत्ति पर भी प्रकाश डालते हैं।

कायांतरणवादी (The Transformationalist) : कायांतरणवादी एक मध्यमार्ग अपनाते हैं। वे भूमण्डलीकरण को परिवर्तनों की एक व्यापक श्रृखंला को छूते देखते हैं। उनके अनुसार, जबकि वैश्वीकृत दुनिया कायान्तिरित हो रही है, उनके पुराने प्रतिमान अभी भी बने हुए हैं। वे भूमण्डलीकरण को एक मुक्त एवं गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जिसका न तो कोई उद्‌गम स्रोत है और न ही इसकी कोई प्रवृतियाँ होती हैं। वस्तुतः यह आन्तरिक एवं बाह्य, अन्तर्राष्ट्रीय एवं बाह्य के बीच बनी सीमाओं को तोड़ देता है। परिवर्तन कई बार उन प्रवृतियों को सफल करते हुए परस्पर विरोधी होते हैं जो एक दूसरे के विरूद्ध काम करती हैं। कैलनर भूमण्डलीकरण का एक कायान्तरवादी दृष्टिकोण अपनाने लगते हैं। वह एकीकरण के पहलू पर ज़ोर नहीं देते हैं। बल्कि, वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आजकल हो रहे कायान्तरण और विश्व-संबंधों के जाल एवं तंत्रों के उदय पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। वह भूमण्डलीकरण को नकारी और सकारी दोनों परिणामों वाला मानते हैं और पहचान आधारित प्रतिरक्षाओं के प्रभाव एवं उदय को संभागीकृत के साथ-साथ संकरीकृत करने वाले के रूप में भी देखते हैं।

28.3 भूमण्डलीकरण के अभिलक्षण

भूमण्डलीकरण अपने प्रग्रहण में संकल्पनात्मक रूप से कठिन तो है ही, यह एक जटिल प्रक्रिया भी है जो समाज के अनेक पहलुओं को छूती है। "यद्यपि भूमण्डलीकरण वृहद तंत्रों से जुड़ा हुआ है, जैसे विश्व वित्त बाज़ार, उत्पादन एवं व्यापार तथा दूरसंचार, इसके प्रभाव निजी क्षेत्र में समान सशक्त रूप से महसूस किए जा रहे हैं"(गिडन 2001:61)। आइए, देखते हैं क्या हम कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलक्षणों को प्रग्रहण कर सकते हैं, जो कि न केवल भूमण्डलीकरण के महत्त्वपूर्ण लक्षणों पर प्रकाश डालते हैं, अपितु हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के अनेक पहलुओं को भी छूते हैं।

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकियां : उपग्रहों, इन्टरनैट, टेलीफ़ोन, कम्प्यूटर नैटवर्किंग, टेलीविज़न, जिन्हें सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकियों के नाम से जाना जाता है, के प्रयोग ने विश्व संचार के तरीकों में क्रांति ला दी है। परम्परागत केबल पहले सौ से भी कम आवाज़ों को आगे पहुंचा सकता था परन्तु 1997 तक, एक पार महासागरीय केबल लगभग 6,00,000 ध्वनि मार्गों के वहन में सक्षम है। संचार उपग्रह भी तेज़ी से फेल रहे हैं। आज लगभग 200 उपग्रह स्थापित हो चुके हैं जो दुनियाभर में सूचना के आदान-प्रदान में मदद करते हैं। इण्टरनैट सबसे तेज़ी से बढ़ते संचार साधन के रूप में उभरा है – 1998 में, विश्वभर में लगभग 14 करोड़ लोग इण्टरनैट प्रयोग कर रहे थे। सन 2001 तक यह संख्या संभवतः 70 करोड़ हो गई। आप इस प्रचुरोदभाव को अपने ही देश में, न सिर्फ़ बड़े शहरों में बल्कि छोटे-छोटे कस्बों में भी, साइबर कैफ़े कम्प्यूटरों की संख्या से देख सकते हैं, हालांकि कुछ अधिक विकसित देशों से हम अभी पीछे ही हैं। सूचना संचार प्रौद्योगिकी ही मानव अस्तित्व के अन्य सभी क्षेत्रों में प्रशाखाओं के साथ विश्व व्यवस्था में प्रबल शक्ति है।

सूचना संचार प्रौद्योगिकी के विस्तार ने एक समय स्थान दबाव को जन्म दिया है। आप हज़ारों मील दूर अपने मित्र अथवा परिवार से, इण्टरनैट के माध्यम से सीधी बातचीत (ऑनलाइन चैटिंग) कर सकते हैं, और महसूस कर सकते हैं कि जैसे आप अपने पड़ोस में ही रहने वाले किसी व्यक्ति के साथ अपने रोज़ाना के दुखदर्द बांट रहे हों। आप भारत में रहकर ही दूर संचार प्रौद्योगिकियों के माध्यम से अमेरिका स्थित किसी कम्पनी के लिए काम कर सकते हैं। यद्यपि सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग भारत में अस्सी के दशक से ही विद्यमान था, 1999 की नई दूर संचार नीति के पश्चात् ही संचार उत्थान पर आया है, जिसने कि निजी प्रतिस्पर्धियों को प्रवेश करने दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय टेलीफ़ोन कॉल की घटी दरों और बड़े निगमों द्वारा आउटसोर्सिंग ने व्यापार प्रक्रिया आउटसोर्सिंग (BPO)

में भारत को अग्रणी बना दिया है, जिसके परिणामस्वरूप कॉल सेण्टरों और डेटा प्रोसेसिंग सेन्टरों की बाढ़ सी आ गई है।

बॉक्स 28.02 : आउटसोर्सिंग

यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कंपनी अपने कुछ कार्यों के लिए बाहरी एजेन्सियों अथवा कंपनियों से कभी कभी देश से बाहर भी अनुबंध करती है, खासकर कंपनी के सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़े प्रकार्यों एवं संक्रियाओं के लिए। अनेक बार यह लागत बचाने के लिए किया जाता है, प्रायः ही ऐसे देशों में स्थित एजेन्सियों को नौकरियों के अनुबंध दिए जाते हैं जहां श्रम व अन्य लागतें अपेक्षाकृत कम आती है।

इसके अलावा, हम देख सकते हैं कि संसार इस तथ्य से अब कहीं अधिक जुड़ गया है कि टी वी के माध्यम से अब विश्व घटनाचक्र, मनोरंजन, मुद्दे आदि सब आपकी बैठक में आप तक पहुंच जाते हैं। यद्यपि इसमें आप सीधे भाग नहीं लेते, श्रोतावृन्द एवं प्रतिस्पर्धियों के विश्व-समुदाय का हिस्सा तो आप बन ही जाते हैं। एन्थोनी गिडन (2001) के अनुसार, विश्व-दृष्टिकोण की ओर इस खिसकाव के दो आयाम हैं : प्रथम "विश्व-समुदाय के रूप में लोग उत्तरोत्तर यह मानने लगे हैं कि सामाजिक दायित्व राष्ट्रीय सीमाओं पर ही समाप्त नहीं हो जाता है"। हम इस विश्व भागीदारी को देख सकते हैं, जैसे हाल ही प्राकृतिक आपदाओं के मामले में, उदाहरण के लिए, सुनामी जिसने भारत, श्रीलंका व इण्डोनेशिया को प्रभावित किया अथवा इसी प्रकार की आपदाएं। लोग अपनी ज़िम्मेदारी और चिन्ता स्वैच्छिक कार्य, दान, राहत कार्य, आदि के माध्यम से व्यक्त करते हैं। यह बात जन भागीदारी में भी देखी जा सकती है, तथापि अप्रत्यक्ष, उन अभियानों में जिनमें वृहत्तर मानवीय मुद्दे होते हैं, चाहे वे मानवाधिकार हों अथवा पारिस्थितिकीय एवं पर्यावरण-संबंधी मुद्दे, या फिर राजनीतिक मुद्दे। दूसरे, लोग सीमा के पार संचार तंत्र के माध्यम से अपनी पहचान कायम कर रहे हैं। अनेक विद्वानों ने इस पारदेशीय पहचान बनाए जाने की ओर संकेत किया है, चाहे वह दुनिया भर में हिन्दुओं के विस्तार में हो या फिर सर्व-इस्लामीकरण।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

व्यापार एवं वित्त का वैश्वीकरण : भूमण्डलीकरण का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण देशों के बीच बढ़ता व्यापार है। व्यापार एवं वित्त के वैश्वीकरण हेतु अनेक आयाम हैं – व्यापार के राष्ट्रीय अवरोधों का दूर होना, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का उदय, और साथ ही, विश्व व्यापार संगठन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त अभिकरणों एवं विनियामक निकायों का उदय।

भारत के लिए उदारीकरण में अनिवार्यतः आयात शुल्कों पर प्रतिबंधों में छूट, निर्यात प्रतिबंध, विदेशी निवेश को प्रोत्साहन तथा विदेशी प्रौद्योगिकी एवं कौशलों के मुक्त प्रवहन हेतु अनुमति शामिल थी। इसके साथ ही, लाइसेंस प्रणाली का काफ़ी ढीला पड़ना और कुछ उत्पादों पर से आरक्षण समाप्त करना भी देखा गया। अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के आदेशों के तहत भारत को अनेक संक्रियाओं में सरकार की भूमिका को भी घटाना पड़ा। परिवर्तनों में शामिल थे – खेती के लिए परिदानों में कटौती, वित्तीय घाटे को कम करना, सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों में विनिवेश हिस्से, सामाजिक क्षेत्र पर व्यय घटाना और विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) का आसान बनाना। इन सभी कदमों को उठाकर भारत विश्व अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गया।

बॉक्स 28.03 : एफ. डी. आई तथा एम.एन.सी'ज़

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ डी आई) इस प्रकार से देश की सीमाओं से कर पूंजी का स्थान परिवर्तन है कि जो निवेशक को अर्जित परिसम्पत्ति पर नियंत्रण प्रदान करता है। इस प्रकार, यह निवेश सूची निवेश से भिन्न है जो कि सीमा पार हो सकता है,

परन्तु इस प्रकार का नियंत्रण प्रदान नहीं करता। एफ डी आई स्रोत वाले व्यापार समकाय 'बहुराष्ट्रीय उद्यम' अथवा बहुराष्ट्रीय / पारदेशीय निगम' (MNCs or TNCs) कहलाते हैं। इस प्रकार के उदाहरण में नियंत्रण को इस रूप में परिभाषित किया जाता है – किसी निगमित व्यापार समकाय के साधारण हिस्सों के 10% अथवा अधिक पर स्वामित्व, किसी अनिगमित व्यापार समकाय हेतु मतदान शक्ति के 10% अथवा अधिक पर अधिकार, या फिर एक हरित क्षेत्र शाखा संयंत्र का विकास जो कि मूल व्यापार समकाय का एक स्थायी प्रतिष्ठान होगा।

भारत में एफ डी आई स्वीकृतियों का सबसे बड़ा भाग आधारिक संरचना एवं मुख्य प्रधारों में रहा है, जैसे बिजली, दूरसंचार, ऊर्जा अन्वेषण, रासायनिक धात्विक उद्योग। भारत में एफडीआई प्रवाह यथेष्ट रूप से बढ़ रहे हैं।

आर्थिक उदारीकरण और वित्तीय उदारीकरण पूंजी स्थान-परिवर्तन पर केन्द्रित हैं, जिसका कि एफडीआई प्रमुख रूप हैं और पूंजी प्रवाह में प्रमुख खिलाड़ी हैं एमएनसी'ज़।

बहुराष्ट्रीय कंपनी अर्थात एमएनसी एक निगम होता है जो एकाधिक देशों में काम करता है, और उत्पादन संक्रिया अपने मूल देश से बाहर रखता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से, संयुक्त राष्ट्र अनुमानों के अनुसार, देश से बाहर निवेश करने वाली कंपनियों की संख्या लगभग 5000 हो गई है। अन्य व्यापार समकायों की भांति एमएनसी'ज़ भी लाभ कमाने के उद्देश्य से ही प्रेरित होती हैं, परन्तु कुछ लोगों का यह भी मानना है कि मानक, गुणवत्ता, आदि सुधार कर और मेज़बान देश को कर आदि चुका कर भी, वे रोज़गार अवसर पैदा करने, प्रौद्योगिकी हस्तांतरण, प्रतिस्पर्धा प्रदान घरेलू बाज़ारों के लिए फ़ायदेमंद रहती हैं।

ऐसे अनेक तरीके हैं जिनसे ये कंपनियां मेज़बान देशों व उनके निवासियों के लिए अहितकर हो सकती हैं बहुत बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बजट अनेक देशों के अपने बजट से भी बड़े हो सकते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में एक सशक्त प्रभाव रख सकते हैं, बशर्ते राजनीतिज्ञों के प्रतिनिधि ज़िलों में उनका काफ़ी आर्थिक प्रभाव हो, और साथ ही सार्वजनिक संबंधों एवं राजनीतिक गुटबंदी हेतु उनके पास व्यापक वित्तीय संसाधन हों। इनके परिणामस्वरूप, सरकारों के कार्य एवं नीति-निर्माण में उनका अनुचित प्रभाव हो सकता है जो कि लोकतंत्रों के लिए अहितकर होता है। एक चिन्त्य विषय यह भी है कि वे मेज़बान देशों में निवेश करने की बजाय अर्जित लाभ अपने देशों को भेज देते हैं। एमएनसी'ज़ नौकरियां तो दिलाती हैं परन्तु वे छोटे उद्यमों को बाहर भी कर देती हैं जिससे छोटे व्यवसायों की आजीविका खतरे में पड़ जाती है। ये व अन्य बातें एमएनसी'ज़ की संक्रियाओं को संदिग्ध बनाती हैं।

MAHIPAL SIR IAS
way to achieve your dream

वैश्वीकृत संसार में बढ़ रहे व्यापार प्रवाहों का एक अन्य पहलू विश्व व्यापार संगठन (WTO) जैसे व्यापार नियामक निकायों की बढ़ती भूमिका है। आइए नीचे दिए गए बॉक्स में विश्व व्यापार संगठन की भूमिका एवं तीसरी दुनिया हेतु इसके निहितार्थ पर दृष्टि डालें।

बॉक्स 28.04 : विश्व व्यापार संगठन और तीसरी दुनिया

विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना 1 जनवरी 1995 को मुक्त व्यापार में सहायता करने के उद्देश्य से युद्धोपरांत व्यापार संधियों की एक श्रृंखला गैट (GATT) अर्थात् 'सीमाशुल्कों एवं व्यापार पर आम सहमति' का स्थान लेने को हुई। गैट के सिद्धांत एवं समझौते विश्व व्यापार संगठन द्वारा अपना लिए गए जिसको कि उनके

प्रशासन एवं विस्तारण का प्रभार सौंपा गया था। गैट से भिन्न, संगठन के पास एक यथेष्ट संस्थागत संरचना है। संगठन देशों के बीच वार्ता करवाने को लक्ष्य बनाता है, जहां सरकारें एक जगह आती हैं और व्यापार विवादों में उलझने की बजाय एक दूसरे के सामने आने वाली समस्याओं को दूर करती हैं। संगठन परामर्श, मोल तोल और सहमति पर ज़ोर देता है। अनेक संगठन निर्णय, जैसे समझौते (और उनके संशोधन) लागू करना सर्वसम्मति से लिए जाते हैं। इसका अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं कि इतना अस्वीकार्य न समझें कि वे अपनी आपत्ति पर ही अडिग रहे। वोटिंग अर्थात मतदान केवल पश्चगमन युक्ति अथवा विशेष परिस्थितियों में ही अपनाया जाता है। रिचर्ड स्टीनबर्ग (2002) का कहना है कि यद्यपि संगठन का मतैक्य–शासन प्रतिमान कानून आधारित प्रारंभिक बातचीत का अवसर प्रदान करता है, व्यापार कार्यवाही यूरोप और अमेरिका के पक्ष में शक्ति आधारित बातचीत के इर्दगिर्द ही मंडराती रहती है, और पैरेटो से सुधार की ओर नहीं ले जा सकती है। सर्वसम्मति संबंधी हाल की सबसे उल्लेखनीय विफलताएं – सिएटल (1999), कैन्कुन (2003) व दोहा (2004) में हुई मंत्री पक्षीय सभाएं – प्रस्ताव स्वीकार करने से कुछ विकासशील देशों के इंकार करने की वजह से ही थीं।

विश्व व्यापार संगठन का कथित उद्देश्य मुक्त व्यापार को बढ़ावा देना, आर्थिक वृद्धि को गति प्रदान करना तथा इस प्रकार लोगों के जीवन को अधिक समृद्ध बनाना है। जैसा कि किसी भी आर्थिक विकास के साथ होता है, यदि वृद्धि एक तेज़ और असंतुलित तरीके से होती है तो इससे प्राधारिक बेरोज़गारी फेलेगी और इस प्रकार ग़रीबी बदतर हालत में पहुंच जाएगी। संगठन आर्थिक भूमण्डलीकरण और मुक्त व्यापार को भी बढ़ावा देता है, जिसको कि भूमण्डलीकरण विरोधी कार्यकर्त्ता समस्यामूलक मानते हैं। संगठन संधियों पर बहुराष्ट्रीय निगमों एवं अमीर देशों की ओर एक पक्षपातपूर्ण एवं अनुचित पूर्वाग्रह का आरोप लगता रहा है।

जबकि संगठन सभी देशों को बोलने के समान अवसर प्रदान करता है, सरकारों को गुटबाज़ी से बचाता है, और उत्तम प्रशासन को बढ़ावा देता है, संगठन में शामिल छोटे देश थोड़ा प्रभाव इस्तेमाल कर सकते हैं। संगठन की स्वयं ही शक्तिशाली गुटों का साधन होने के लिए आलोचना की जाती है और जबकि सदस्यता स्वैच्छिक होती है, आलोचकों का कहना है कि शामिल न होना गैर भागीदार देश को एक वास्तविक व्यापार प्रतिषेध के अन्तर्गत रख देता है, जिससे परिवर्तन एवं प्रयोग को निरूत्साहित करते थोपे गए आर्थिक नियमों की एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का जन्म होता है। विकासशील देशों को मदद करने संबंधी संगठन के उद्देश्य के बावजूद , संगठन में प्रभावशाली देश अपने व्यापारिक हितों पर ध्यान केन्द्रित रखते ही हैं। विकासशील देशों की आवश्यकताएं प्रायः उपेक्षित की जाने वाली समझी जाती है। इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं पर्यावरण संबंधी मुद्दे मुख्य चिन्त्य विषय है ही नहीं।

(स्रोत: http://en.wikipedia.org/wiki/wto)

प्रवासन, बहुसंस्कृतिवाद और नृजातीय पहचानें

लोग सदियों से सदा ही प्रवसन करते आये हैं। लोग अनेक कारणों से प्रवसन करते हैं (प्रवासन पर इकाई देखें) : आर्थिक कारण से, उत्पीड़न से बचने के लिए, व्यक्तिगत अथवा भावनात्मक कारण से। वैश्विक युग में प्रवसन उत्तरोत्तर तीव्र गति से बढ़ा है। लोगों के विश्व स्थानांतरण का चालू दौर इन सभी कारणों से बाध्य है परन्तु मुख्य रूप से आर्थिक कारण से। यदि हम अपने ही देश के चारों ओर नज़र डालें तो पायेंगे कि अब यह बात कोई दुर्लभ नहीं रह गयी है कि कोई परिजन अथवा कोई अन्य बेहतर जीवन के लिए अन्यंत्र चला गया है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूज़ीलैंड

जैसे देश आप्रवासन को सक्रिय रूप से बढ़ावा दे रहे हैं। कुछ देशों की आप्रवासन नीतियां जहां भारतीयों की विशाल जनसंख्या है, देश की आर्थिक स्थिति और प्रवासी जनसमुदाय से सीधे जुड़े लोगों को प्रभावित कर रही हैं। यह बात खाड़ी के देशों में भारतीय श्रमिकों के हाल के निर्वासन और अनुवेशिकाओं (H I B Visas) को घटाये जाने पर चिंता में देखी जा सकती है। ये वीज़ा ऐसे प्रवेश पत्र होते हैं जिन पर भारतीय तकनीकी तंत्री वहाँ जाते हैं।

भूमण्डलीकरण के युग में आप्रवासन पर विभिन्न पहलू दिखाई पड़ते हैं। उदारवादी, खासकर बहुराष्ट्रीय कंपनियां आप्रवासन कानूनों और नीतियों के उदारीकरण की वकालत करते हैं। उनका मानना है कि यह विश्व समृद्धि और सच्ची स्पर्धा को बढ़ावा देता है। वे प्रतिवादी जो उनका विरोध करते हैं, सोचते हैं कि निगम लाभ हित से ही प्रेरित होते हैं, जहां वे सस्ते श्रमिकों का शोषण करते हैं। फिर कुछ विदेशी द्वेषी भी होते हैं जो विदेशियों से डरते हैं और किसी बहुत अधिक उदार आप्रवासन नीति को निष्फल करने के लिए विभिन्न उदारीकृत तर्क देते हैं।

"नवम्बर 2005 में, फ्रांस में हुए दंगों ने कुछ लोगों को यह निष्कर्ष निकालने को अभिप्रेरित किया कि, यद्यपि तर्कसंगत आप्रवासन संख्या अधिकतर समाजों में स्वागत योग्य होती है, बड़ी संख्या आप्रवासियों को सघन नृजातीय प्रतिवेशों को जन्म दे सकती है जो कि सामाजिक वाद-विवाद और एकांत की ओर ले जाते हैं। अधिकांश यूरोपीय देशों ने अभी तक आप्रवासन पर रोक नहीं लगाई है और आप्रवासी (वैध और अवैध) कुल जनसंख्या के 7% से 20% के बीच पाये जाते हैं" (http://en.wikipedia.org/wiki/immegration)।

दुनियाभर में लोगों का ऐसा ही व्यापक स्थान परिवर्तन देखने में आता है, जहां ग़रीब तीसरी दुनिया के बाशिंदे पश्चिमी यूरोपीय देश, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया को ठिकाना बनाना पसंद करते हैं। इसने मेज़बान समाज के संघटन में सार्थक परिवर्तन ला दिया है, और प्रायः आप्रवासन इनमें से कुछ देशों के लिए विवादास्पद विषय रहा है। वहां एक आशंका देखी जाती है कि सस्ता श्रमिक बल, जिसमें कि श्रमिक निर्धारित वेतन से भी कम पर काम करने को तैयार रहते हैं, स्थानीय लोगों की जगह ले रहे हैं, जो कि उनके अनुसार उन्हें बेरोज़गार कर देता है और जीवनस्तर आदि को घटा देता है। दूसरा भय सांस्कृतिक प्रकृति संबंधी हैं; यह कुछ सजातीय पुरानी दुनिया (यूरोपीय) देशों में सबसे अधिक प्रबल रूप से सुनने में आता है जहां नागरिकता देश में गहरी ऐतिहासिक जड़ें रखने वाले व्यक्ति से लम्बे समय तक जुड़ी रहती थीं। पश्चिमी यूरोपीय देश, जापान व अन्य देश लंबे समय से सन्निविष्ट की जा रही अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के विषय में गहरी चिंता से ग्रस्त हैं। यह चिंता खासतौर पर उस समय तेज़ हो सकती है जब आप्रवासी बहुसंख्यकों से भिन्न प्रजाति अथवा धर्म के होते हैं।

इन आशंकाओं और औपचारिक स्तर एवं वैचारिक स्तर पर ऐसी आशंकाओं की अभिव्यक्ति संबंधी घटनाओं (उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में प्रजाति दंगे और फ्रांस में अभी हाल ही के दंगे) के बावजूद कनाडा, इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों ने बहुसांस्कृतिक नीतियों को अपनाने का प्रयास किया है।

बॉक्स 28.05 : बहुसंस्कृतिवाद

विस्तृत रूप से देखे जाने पर, यह शब्द प्रायः ऐसे समाजों (खासकर देशों)के वर्णन हेतु प्रयोग किया जाता है जहां अक्सर आप्रवासन के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के सांस्कृतिक समूह हो जाते हैं। इसके राष्ट्रीय पहचान की स्थिरता के विषय में चिंता बढ़ने लगती है, तिस पर भी वह ऐसे सांस्कृतिक विनियमों की ओर प्रवृत्त कर सकती है जो सांस्कृतिक समूहों को लाभ पहुंचाते हैं।' इस प्रकार के विनिमय साहित्य, कला

एवं दर्शन में उपलब्धियों से लेकर संगीत, परिधान एवं नए खाद्यो में भिन्नताओं संबंधी अपेक्षाकृत सांकेतिक गुण ग्रहण तक पाये जाते हैं। कुछ छोटे स्तर पर, इस शब्द को शहरों में विशिष्ट ज़िलों के संदर्भ में भी प्रयोग किया जा सकता है जहाँ विभिन्न संस्कृतियों के लोगों का सह-अस्तित्व होता है।

(**स्रोत** : http : //en.wikipedia.org/wiki/multiculturalism)

आप्रवासियों के साथ पेश आने में सरकारी नीतियों अथवा दृष्टिकोणों के लिहाज से इसमें शामिल दृष्टिकोणों को निम्नवत् देखा जा सकता है :

- **एक संस्कृतिवाद** : यहां आप्रवासी से अपेक्षा की जाती है कि राष्ट्रीय संस्कृति में घुलमिल जाये। ऐसे देशों में सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीयता संबंधी विचार सम्मिश्रित हो जाते हैं। अनेक यूरोपीय देश, इंग्लैंड को छोड़कर, एक लंबे समय से इस दिशा में सोचते आये हैं परन्तु हाल के दशकों में इस विचारधारा में अनेक ऐसे आप्रवासियों की वास्तविक विद्यमानता के कारण गिरावट आयी है जो उनसे अर्थपूर्ण ढंग से भिन्न हैं – प्रजातीय रूप से, नृजातीय रूप से और सांस्कृतिक रूप से।

- **गलन पात्र** : अमेरिका में परंपरागत दृष्टिकोण एक गलन पात्र वाला रहा है जहाँ सभी आप्रवासी संस्कृतियां घुलमिल जाती हैं और राज्य हस्तक्षेप के बिना ही समामेलित हो जाती हैं। तथापि, अनेक राज्य संघ के ही भीतर भिन्न-भिन्न भाषा नीतियां रखते हैं।

- **बहुसंस्कृतिवाद** : उपर्युक्त दो दृष्टिकोणों के मुकाबले बहुसंस्कृतिवाद एक ऐसा दृष्टिकोण अथवा नीति है, जिसके तहत आप्रवासियों व दूसरों को एक राष्ट्र के भीतर शांतिपूर्ण ढंग से परस्पर क्रिया करते हुए विभिन्न संस्कृतियों के साथ-साथ अपनी संस्कृतियों को भी संरक्षित रखना चाहिए। वर्तमान में, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया एवं इंग्लैंड की सरकारी नीति यही है। बहुसंस्कृतिवाद का वर्णन पृथक नृजातीय समूहों के एक "सांस्कृतिक पच्चीकारी" के संरक्षण दिए जाने के रूप में किया गया, और इसकी तुलना एक "गलन पात्र" से दी गई है जो उन्हें सम्मिश्रित कर देता है। इसका वर्णन "सलाद पात्र" प्रतिमान के रूप में भी किया गया है।

कोई भी देश इन श्रेणियों में से किसी एक या दूसरे में पूरी तरह फिट नहीं बैठता है। उदाहरण के लिए, फ्रांस ने नए आप्रवासी समूहों के लिए फ्रांसिसी संस्कृति को अनुकूलित करने के प्रयास किए हैं, जबकि कनाडा में अब भी अनेक नीतियां हैं जो स्वांगीकरण या आत्मसातीकरण को बढ़ावा देने हेतु कार्यरत हैं। डायने रैविच सरीखे कुछ विद्वान बहुसंस्कृतिवाद शब्द को भिन्न तरीके से प्रयोग करते हैं, जहां वे गलन पात्र और कनाडा की सांस्कृतिक पच्चीकारी, दोनों का वर्णन बहुसांस्कृतिकरण के रूप में करते हैं और उल्लेख बहुवादी एवं विशिष्टतावादी बहुसंस्कृतिवाद के रूप में। बहुवादी बहुसंस्कृतिवाद समाज में हर संस्कृति अथवा उपसंस्कृति को समस्त संस्कृति हेतु अद्वितीय एवं मूल्यपरक सांस्कृतिक पहलुओं में योगकारी के रूप में देखते हैं। विशिष्टतावादी बहुसंस्कृतिवाद संस्कृतियों के बीच विशिष्टताओं को संरक्षित रखने से अधिक वास्ता रखता है।

यूरोपीय देशों में आप्रवासन एक अपेक्षाकृत नवीन रूझान है, यद्यपि सत्तर और अस्सी के दशक तक ये स्तर तुलनात्मक रूप से कम ही थे। आप्रवासन में हाल की बढ़ोतरियों ने यूरोप में राजनीतिक दलों की अभिवृद्धि की ओर प्रवृत्त किया है जो कि लगभग पूरी तरह आप्रवासन पर लगान लगाए जाने के प्रति गंभीर हैं। (**स्रोत** : http://en.wikipedia.org)

प्रवासी समूह, जो अपना गृह प्रदेश छोड़ आते हैं परन्तु फिर भी अपनी पहचान अपनी सांस्कृतिक जड़ों और मूल देश के साथ ही व्यक्त करते हैं, हाल के अतीत में और भी

अधिक प्रचुरोद्भभूत हुए हैं। अपनी सांस्कृतिक जड़ों और पहचान को कायम रखने हेतु उनके प्रयास अनेक नृजातीय पहचान उपलब्धियों को सामने लाये हैं। दुनिया के वैश्विक रूप से जुड़ जाने पर अब समुदायों के लिए यह आसान हो गया है कि एक सी पहचान का भाव रख सकें, कितने भी बिखरे हों साथ आ सकें। अनेक पारदेशीय संगठन ऐसे हैं जो इस नृजातीय चेतना का पोषण करते हैं, चाहे वे हिन्दू हो, मुस्लिम हों, या फिर तेलुगू, बंगाली आदि जैसी उप-राष्ट्रीय पहचानें। (आप इस विषय में और अधिक विस्तार से 'प्रवासी समूह एवं पारदेशीय समुदाय' विषयक हमारे वैकल्पिक पाठ्यक्रम में पढ़ेंगे)।

जैसा कि आप देख सकते हैं, अर्थव्यवस्था में प्रौद्योगिकी एवं परिवर्तनों के समाज के सभी पहलुओं में निहित अर्थ हैं। हम भूमण्डलीकरण के एक और अभिलक्षण को समझने का प्रयास करेंगे जिस पर काफ़ी बहस चल रही है – सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण।

संस्कृति का समांगीकरण एवं संकरीकरण

भूमण्डलीकरण का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण, जैसाकि हमने ऊपर भी उल्लेख किया। अनेक वस्तुओं का प्रवाह है, जैसे प्रौद्योगिकी, धन, जन और संस्कृति, जिसमें विश्व प्रौद्योगिकी एवं संचार माध्यमों का काफ़ी अधिक हस्तक्षेप रहता है। अतएव, हम जिस प्रकार इंग्लैंड में फ़ैशन को प्रभावित करता बॉलीवुड देखते हैं, ठीक उसी प्रकार भारतीयों को ही नहीं बल्कि पूरे विश्व को प्रभावित करते एम टीवी का अन्य अमेरिकी प्रोग्राम देखते हैं। प्रभाव के इस सम्मिलन ने अनेक प्रश्न उठाए हैं, जैसे क्या विश्व पश्चिम, विशेषकर अमेरिका द्वारा समांगीकृत होता जा रहा है? मैकडोनाल्डीकरण, कोको-कोलाइकरण जैसे शब्द विश्व संस्कृतियों को प्रभावित करते और स्थानीय बाज़ार को अधिकार में ले लेते विशाल अमेरिकी निगमों के अधिपत्य की ओर संकेत करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं।

ग्रिफिन (2004:262) इस तर्क पर विचार करते हैं कि भूमण्डलीकरण के सशक्त समांगीकारक प्रभाव पड़े हैं, जो विद्यमान संस्कृतियों को कमज़ोर और बरबाद कर देते हैं, 'अमेरिकी अधिपत्य के अन्तर्गत एक विश्व संस्कृति की ओर चले जाते हैं। अमेरिकी जीवनशैली, अथवा अधिक संभाव्य रूप से इसकी एक धुंधली नकल, विश्व की जीवन शैली बन जाएगी'। तथापि उनका विचार है कि एक इकहरी 'विश्वसंस्कृति' का उद्गमन बहुत असंभाव्य है। बल्कि, भूमण्डलीकरण एवं संबद्ध सांस्कृतिक व्याख्याएं नए प्रस्तार, नए संयोजनों, नए विकल्पों और नई संस्कृतियों की ओर ले जाने की अधिक संभावना रखती हैं' (वही : 254)। भूमण्डलीकरण की उत्तरोत्तर बढ़ती गति के साथ, उनके विचार से, 'विश्व नागरिकता' की धारणा को समर्थन मिलेगा। परन्तु इससे वर्तमान निष्ठाओं एवं पहचानों को कोई खतरा उत्पन्न नहीं होता, यथा स्थानीय, राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय। यह न तो विद्यमान निष्ठाओं को पदच्युत करेगी और न ही किसी विश्व-संस्कृति को बनाए जाने का प्रतिनिधित्व करेगी। अपितु 'वह इस तथ्य को मान्यता दिए जाने की ओर एक कदम होगा कि भूमण्डलीकरण हम सभी को प्रभावित करता है और हम सबको यह निर्धारित किए जाने में भागीदार होने का हक होना चाहिए कि इन प्रभावों को इस प्रकार नियंत्रित किया जाए' (वही : 262)।

अप्पादुरई (1977) पहले से ही इस दृष्टिकोण के सशक्त प्रवर्तक हैं कि भूमण्डलीकरण समांगीकरण की कहानी नहीं हैं। उनके विचार से, भूमण्डलीकरण एक गहरी ऐतिहासिक अनियमित और यहां तक कि 'स्थानीकारक' प्रक्रिया है। 'भूमण्डलीकरण अनिवार्यतः अथवा प्रांभिक रूप से भी समांगीकरण अथवा अमेरिकीकरण का संकेत नहीं करता'। एक सैद्धांतिक प्रवृत्ति में उनका कहना है कि सांस्कृतिक रूपों की वंशावली क्षेत्रों के बीच उनके परिसंचरण विषयक हैं, इन रूपों का इतिहास स्थानीय व्यवहार में उनके चल रहे घरेलूकरण विषयक हैं' (पृ. 17)। भारत के मामले में वह इस बारे में बताते हैं कि किस प्रकार इति वृतांत और वंश वृतांत एक दूसरे में उतार-चढ़ाव लाते हैं और किस प्रकार विश्व

स्वरूप स्थानीय स्वरूप ले लेता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण दृश्यघटना जिसका वह उल्लेख करते हैं, प्रवासी समूह से संबंधित हैं जो कि विश्व में अधिकांश देशों में शहरी जीवन के सांस्कृतिक गतिवाद का हिस्सा है। इस संबंध में, इलेक्ट्रॉनिक मध्यस्थता और व्यापक प्रवसना की संयुक्त शक्ति' वैश्विक को आधुनिक और आधुनिक को वैश्विक के अर्थ में सहसंघटित करती है' (पृ. 10)। आज की प्रवासी समूह दृश्यघटना को वह सुव्यक्त रूप से परादेशीय – बल्कि देशोत्तर के रूप में देखते हैं।

सिंह (2000) का मानना है कि भूमण्डलीकरण भारतीय संस्कृति पर दबाव बनाने को आबद्ध था। वह देश में सांस्कृतिक स्वरूपों और कार्यकलापों (जीवनशैली, पहनावा, खानपान, आदि के समांगीकरण की ओर कुछ मात्रा में गतिवर्धन की परिकल्पना करते हैं। तथापि, उनका अभिकथन है कि 'भारत में सामाजिक प्राधार एवं सांस्कृतिक व्यवस्था आन्तरिक रूप से बहुवाद और वैविध्य पर आधारित हैं'। भारतीय समाज (जाति व जनजाति दोनों) समुदायों में विखण्डित है जिनके पास' अत्यधिक सांस्कृतिक स्वायत्तता' है। यह प्रतिरक्षित और सांक्षेत्रिक अनुकूलन के माध्यम से भूमण्डलीकरण के प्रभावों को धीरे-धीरे प्रसारित करने हेतु भारत में समुदायों को अत्यधिक सांस्कृतिक समुत्थान शक्ति प्रदान करती है। (पृ.64)। इसके अतिरिक्त, आत्म चेतना और पहचान संबंधी जागरूकता का एक वर्धित भाव भी देखने में आता है। भूमण्डलीकरण के वे घटक बुरे माने जाते हैं जो समाज के मुख्य सांस्कृतिक मूल्यों का अतिक्रमण करते हैं अथवा उन्हें बढ़ावा नहीं देते हैं। अतः, भूमण्डलीकरण के दो पहलू हैं – समांगीकरण और (सांस्कृतिक) पहचान प्रवर्धन। भारतीय प्रवासी समूहों के मामले में वह सांस्कृतिक संलयन की प्रवृत्ति देखते हैं। भारत में भी संगीत, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि संबंधी लोकप्रिय संस्कृति के स्तर पर, नयी प्रवृत्ति परंपरागत भारतीय स्वरूपों शैलियों तथा पाश्चत्य वैश्विक स्वरूपों शैलियों के संलयन से जुड़ी हैं। यह उद्भासी लोकप्रिय (संलयन) संस्कृति, उनका मानना है कि सांस्कृतिक परंपराओं की 'देशज स्थानीय, क्षेत्रीय अथवा नृजातीय पहचान पर एक खतरा है, जहां तक कि वह संस्कृति जन जीवन की लय और उसकी अभिव्यंजकता अथवा तेजस्विता को अवशेषित करती है, और उसे अपने नए आवरण में एक उपभोक्ता वस्तु में बदल देती है' (पृ.103)। इस प्रक्रिया में सामुदायिक जीवन (जाति, वर्ग, जनजाति, सोपानिकी सिद्धांत एवं पारस्पारिकता) में गहरे अन्तः स्थापित परंपरागत पहचान " एक मुखविहीन 'श्रोतावर्ग' में रूपान्तरित हो जाती है।" यह, उनका मानना है, पूरी तरह भूमण्डलीकरण की वजह से नहीं है, बल्कि 'आधुनिकता के नितान्त प्रतिमान से निकट रूप से संबद्ध है जिसको कि हम शेष मानव जाति में स्वैच्छिक रूप से प्रसिद्ध करते हैं' (वही)। आधुनिकता के संबंध में, गुप्ता (2000) भारत में पश्चिमोन्मत्तता की प्रक्रिया की बात करते हैं।

वैश्विक सभ्य समाज और राष्ट्र-राज्य

सभ्य समाज को अपने ही स्वरूपों और सिद्धांतों वाले राज्य से भिन्न एक सामाजिक क्षेत्र के रूप में देखा जाता है। सभ्य समाज की संस्थाओं में शामिल हैं – पूजास्थल, शिक्षा, श्रमिक संघ एवं कार्य तथा अन्य ऐसे संगठन जो राज्य से स्वतंत्र एक न्यूनतर अथवा वृहत्तर अवस्था में काम करते हैं। अतः सभ्य समाज सामाजिक एवं राजनीतिक विरोध आन्दोलनों के अखाड़े में खड़ा है, यथा मानवाधिकार, जान्तवाधिकार, पर्यावरणवाद, श्रमिक संघवाद एवं शान्ति आन्दोलन। विश्वव्यापी अन्तर्संबद्धता के साथ सभ्य समाज की पहलकारियों, चाहे वे मानवाधिकार हों या फिर पर्यावरण संगठन अथवा आन्दोलन, स्थानीय से आगे निकल गए हैं। उन्होंने एक विश्वव्यापी स्थान बनाया है। ये स्थान आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंधों के तानेबाने से निरूपित होते हैं, और उन पर भौतिक रूप से पृथक्त स्थानों पर सचेत अभिकर्त्ताओं द्वारा अधिग्रहण किया जा रहा है, जो कि विशेष राजनीतिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के तानेबानों में परस्पर जुड़े रहते हैं!

ऐसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर दूर से ही अपना नेटवर्क चलाते हैं। "1909 में 176 निजी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन थे, 1951 में ये बढ़कर 832 हो गए और 1985 में कम से कम 4615 ऐसे संगठन देखे गए। तथापि, इतनी बड़ी संख्या भ्रामक हो सकती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय ग़ैर सरकारी संगठन (INGOs) अन्तर्राष्ट्रीय बोतल संग्राहक समिति, अन्तर्राष्ट्रीय कैथॉलिक नर्स समिति से लेकर फ्रैण्ड्स ऑफ़ द अर्थ इण्टरनेशलन (FOEI) एवं एमनेस्टी इण्टरनेशनल तक कुछ भी हो सकते हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हर संगठन ने विशुद्ध राष्ट्रीय हितों से परे एक विश्व अखाड़ा बना रखा है, जिसमें सर्व सामान्य मूल्य, उद्देश्यों, चिन्त्य विषयों और यहां तक कि विचारधाराओं पर भी चर्चा की जाती है और कार्यवाही की जाती है। परन्तु फ्रैन्ड्स ऑफ द अर्थ इण्टरनेशनल(FOEI), ग्रीन पीस, ऑक्सफ्रैम और एमनेस्टी जैसे बड़े और बेहतर संगठित अंतर्राष्ट्रीय, गैर सरकरी संगठन ही हैं जिनको राष्ट्रीय सरकारों और तदनुसार राष्ट्र राज्य कार्यवाइयों की स्वायत्तता पर यथेष्ट प्रभाव डालते देखा जा सकता है" (**स्रोत**: www.suite101.com/article.cfm/sociology)।

ऐसे अभियानों को उनकी अपनी सीमाओं से परे चलाकर जो कि विश्व व्यापी कार्यसूची को बदलने में मदद करते हैं, अंतर्राष्ट्रीय ग़ैर-सरकारी संगठनों के सदस्य अपनी स्वयं की सरकार को अनदेखा कर सीधे विश्व राजनीति में भाग ले सकते हैं और इस प्रकार राजनीतिक भागीदारी के लिए नए अखाड़े खोल सकते हैं। इस प्रकार सरकारें अपने शासितों के अनन्य बाह्य प्रतिनिधियों के रूप में अपनी परम्परागत भूमिका खोती जा रही हैं और इससे अंशतः वैधता हेतु उनके दावा कमज़ोर पड़ता है। साथ ही, विश्व अभिकर्ता जैसे बहुराष्ट्रीय कंपनियां विश्व व्यापार संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय नियामक संगठन तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश व विश्व बैंक जैसे वित्तीय संगठनों सभी ने ऐसे अखाड़ों को जन्म दिया है जो राष्ट्र राज्यों पर दबाव बनाते हैं ओर राज्यों के भीतर और बाहर, दोनों जगह काम करते हैं।

इसमें अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे क्या राष्ट्र राज्य की वैधता एवं प्रभुत्व का ह्रास हो रहा है। इस मुद्दे पर उग्र प्रकथनों ने राष्ट्र राज्यों को मृत घोषित कर दिया है। रूसो ने इस उग्र प्रकथन को नहीं अपनाया है बल्कि दावा किया है कि उद्योगवाद और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, जहाँ राष्ट्र राज्य ही विश्व संबंधों पर छाए रहते थे, से एक उद्योगोत्तर एवं उत्तर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के युग की ओर विचलन हुआ है, जहां राष्ट्र राज्य को अंतर्राष्ट्रीय संगठनों, पारदेशीय निगमों एवं पारदेशीय सामाजिक आन्दोलनों के साथ विश्व संबंध निभाने पड़ते हैं, जिससे राज्य एवं उसकी स्थानीय आवश्यकताएं विश्व शक्तियों की जी हुजूरिया बन जाती हैं।

रॉबर्ट गिल्पिन का कहना है कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया एक अनुमत राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम है, जो कि शासक राष्ट्र राज्यों के बीच सत्ता प्रयोग कर संबंधों को बढ़ावा दिए जाने के लिए आवश्यक स्थिरता लाती है। इसी कारण, विश्व अन्तर्सम्बद्धता का वर्तमान युग एक स्थिर और सुरक्षित विश्व व्यवस्था की विधमानता का परिणाम है, जिसमें शासक उदारवादी लोकतंत्र आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों से सामाजिक शक्ति एवं सर्वोच्चता का सदुपयोग करता है। गिल्पिन का प्राथमिक कारक इसी कारण एक राजनीतिक तर्क से जुड़ा है जो कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को शासक शक्तियों के उत्थान एवं पतन तथा एक ऐसी सुरक्षित विश्व व्यवस्था की विद्यमानता पर निर्भर मानता है जो राजनीतिक साम्य से आती है (वही)।

28.4 भारत में भूमण्डलीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

समाज में कोई भी क्रांतिकारी परिवर्तन अपने आलोक में चुनौतियों के साथ साथ अवसर भी लेकर आता है। यह बात भूमण्डलीकरण के लिए भी सत्य है। ऐसा नहीं है कि ये

चुनौतियां सिर्फ भारत जैसे एक विकासशील समाज के लिए ही बदी हैं, विकसित जगत भी उनके संक्रमण से मुक्त नहीं है, क्योंकि उनके समक्ष भी भूमण्डलीकरण की चुनौतियां खड़ी हैं; केवल उनका स्वरूप भिन्न है। विकासशील समाजों में, भूमण्डलीकरण की वजह से तनाव एवं चिन्ताएं मुख्य रूप से आर्थिक हैं जो कि संस्कृति एवं पहचान विषय व चिन्ताओं तक बिखर गई हैं। विकसित जगत में, संस्कृति भूमण्डलीकरण की वजह से जन्मी अन्य सभी चिन्ताओं में सर्वोपरि दिखाई पड़ती है। यूरोप में, हम यह बहुसंस्कृतिवाद तथा 'अधिकार एवं प्रजातीय-सांस्कृतिक अन्नयता' संबंधी विचारधारा के पुनरूत्थान संबंधी उत्कर्ष में देखते हैं। भारत में, तथापि, भूमण्डलीकरण की चुनौतियों के सांस्कृतिक एवं नृजातीय पहलू अस्तित्व में हैं, परन्तु अधिकांश उदाहरणों में ये अर्थव्यवस्था, राज्य अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक प्राधार हेतु प्रत्याशित अपूर्वानुमेय परिणामों के संजात हैं।

भूमंण्डलीकरण के सहज गुण ने सामाजिक प्राधारीय एवं राजनीतिक परिणामों को जन्म दिया है। सामाजिक प्राधार के लिहाज से भारत अनिवार्यतः एक ग्रामीण कृषिक समाज बना ही हुआ है। हमारी जनसंख्या का लगभग 30 प्रतिशत मात्र ही शहरी है और शहरीकरण की गति धीमी ही है। इसके अलावा, हमारी शहरी जनसंख्या मुख्य रूप से ग्रामीण ग़रीब वर्ग से ही बनती है, जो रोज़गार की तलाश में प्रवसन करते हैं। वे शहरी अर्थव्यवस्था में हाशिए पर ही रहते हैं और शहरी सामाजिक ढांचे में सबसे निचली स्थिति में रखे जाते हैं। इस प्रकार, एक बड़ी चुनौती जो हमारे सामाजिक प्राधार के सामने आने वाली है, समाज में असमानता की प्रकृति से जुड़ी है। हम ये असमानताएं अनेक स्तरों पर देखते हैं, जैसे गांव और नगर के बीच, मध्यवर्गों एवं कामगार वर्गों के बीच, पुरुषों और स्त्रियों के बीच, उपान्तिक नृजातियों एवं प्रबल जातियों अथवा समुदायों के बीच तथा गतिशील महानगरीय प्रवासी समूहों एवं गांवों, शहरी मलिन बस्तियों एवं जनजातीय ज़मीनों की परिधि पर रहने वाले निरक्षर जनसामान्य के बीच। हमारे समाज के इन वर्गों को भूमण्डलीकरण किस प्रकार प्रभावित करने जा रहा है? वर्तमान में इसकी गति निस्संदेह परिमित एवं मंद है, जिसका कारण है नीतियों का विकल्प और वे सीमाबद्धताएं भी जो हमारा सामाजिक प्राधार स्वयं ही भूमण्डलीकरण की गति पर लगा देता है, परन्तु ये चुनौतियां बढ़ेंगी ही और भविष्य में गंभीर समस्याएं पैदा करेंगी।

MAHARYAM IAS
'way to achieve your dream'

समाज में संरचनात्मक परिवर्तनों पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव आमतौर पर आर्थिक नीतियों में परिवर्तनों के माध्यम से आता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही भारत आयात प्रतिस्थापन और अन्तरोन्मुखी बाज़ार अर्थव्यवस्था की नीति अपनाता रहा है। इस नीति ने विश्व प्रतिस्पर्धा में, विनिर्माण क्षेत्र में और निर्यात योग्य जिन्स उत्पादन में अर्थव्यवस्था को पंगु कर दिया। परन्तु विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में उच्च शिक्षा तथा कृषिगत आधारभूत ढांचों पर उसके ध्यान दिए जाने से क्षतिपूर्ति हो गई। यह बात कृषि में 'हरित क्रांति' में, सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में हमारी बढ़ती शक्ति में, व्यवसायों में, बढ़ते मध्यवर्गों में और अंतरिक्ष अनुसंधान में देखी जा सकती है जिसने दूरभाष, दूरदर्शन एवं जन संचार में एक नया आयाम जोड़ा है। साथ ही, इस्पात, पैट्रोरसायन, बिजली आदि जैसे पूंजी साधित क्षेत्रों में निवेश ने एक आर्थिक एवं प्रौद्योगिक प्रयोज्य क्षमता को जन्म दिया है जो कि भूमण्डलीकरण की समकालीन चुनौतियों का सामना करने में पर्याप्त रूप से कारगर है। हमारे समाज की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समुत्थान शक्ति ने काफ़ी हद तक उभरते मध्य वर्ग को प्रभावित किया है। अनुमान है कि सन् 2020 तक भारत की आधी जनसंख्या मध्य वर्गीय होगी, वो भी आर्थिक विकास की वर्तमान दर से इसके बावजूद, नब्बे के दशकारंभ में भारत द्वारा महसूस की गई भूमण्डलीकरण की चुनौतियों ने इन नीतियों को बदल डालना अपरिहार्य बना दिया। वास्तव में, आर्थिक उदारीकरण से जुड़े विषयों पर मतभेद (देखें हरज़ोग 1999; मल्होत्रा 2001; चड्ढा 2001 में पंचमुखी) अभी बने हुए हैं।

पटनायक व अन्य (2004) 'आर्थिक एवं सामाजिक मामलों में राष्ट्र-संचालन एवं नियंत्रण नीति (डिरिज़िज़्म) से एक नवोदार आर्थिक समिति की ओर खिसकाव का विश्लेशण करते हैं जो कि भारत में 1991 से ही होता रहा है। बाहरी दबाव के संबंध में वे कुछ मूल परिवर्तनों का संदर्भ देते हैं जिनसे विश्व-पूंजीवाद गुज़रा है और जिसके साथ हुआ है – 'अंतर्राष्ट्रीय वित्त पूंजी के एक नए रूप का उदय जो नवोदारवाद के विश्वव्यापी प्रोत्साहन को अपने हितों की पूर्ति करने वालों के रूप में देखता है'। वे भारत में सुधारों के घरेलू सामाजिक (वर्ग) समर्थन आधार को स्पष्ट करते हैं। इसमें आते हैं – भारतीय पूंजीपति वर्ग, उच्च वर्ग/जाति, शहरी मध्यवर्ग, अनिवासी भारतीय (नया प्रवासी समूह), कृषि पूंजीपति (प्रारंभिक समर्थन), और अधिकारी तंत्र। व्यावसायिक वर्गों/बुद्धिजीवि वर्ग के भीतर (शीर्ष) घटक (पटनायक 1994)। समाज के ये वर्ग सुधारों के समर्थक और लाभग्राही हैं। इसके अतिरिक्त, सुधारों के घरेलू समर्थकों से जुड़े हित सुधारों की कोश-बैंक अन्विति योजना से भली-भांति मेल खाते हैं जो कि मूल रूप से बहुराष्ट्रीय कंपनियों और वैश्वीकृत वित्त से जुड़े हितों की पूर्ति करते हैं (पटनायक व अन्य 2004 : 95)। कोठारी (1995 : 1593) भी बाहरी और आंतरिक हितों के बीच एक अभिसरण देखते हैं जो कि सुधार कार्यसूचियों को आगे बढ़ाने में लगे हुए हैं। सहज ही, सुधारों ने 1991 संकट के पश्चात् भी भारत में व्यापक रूप से निर्बाध प्रवाह ही प्रस्तुत किया, क्योंकि बाह्य शक्तियों घरेलू रणक्षेत्र में 'कनिष्ठ भागीदार' पा सकती थी। घरेलू स्तर पर, उच्च एवं मध्य वर्गों को समेकित करने का प्रयास किया जा रहा है, जिसका सहज उद्देश्य है इन वर्गों के विशेषाधिकारों और पूर्वापेक्षाओं को कायम रखना और बढ़ावा देना (वही : 1595)।

मोहन्ती (2004 : 109) का अवलोकन है कि अस्सी के दशक तक देश में एक ज़मींदार – पूंजीपति मध्यवर्ग संयोजन से एक पूंजीपति सम्पन्न कृषक क्षेत्रीय बुजुर्आवर्ग – मध्यवर्ग संयोजन की ओर सत्ता के सामाजिक आधार में परिवर्तन होता रहा। यह रूझान नब्बे के दशक में भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के साथ और अधिक स्पष्ट हो गया जिसने कि भारतीय बुर्जुआवर्ग और धनी किसानों को विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से जोड़ा और भारतीय मध्यवर्ग को विश्व-सूचना प्रौद्योगिकी से। सत्ता समाज के विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों तक ही सीमित रही। दलित और आदिवासी जन मुख्यधारा सत्ता प्रक्रिया से बाहर ही रहे। उनके अभिजात वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त जातियों और नेताओं के पिट्ठू ही रहे। स्वामी (1994) भूमण्डलीकरण द्वारा रूपायित स्वतंत्र उद्योगीकरण के प्रतिमान को उस शक्ति के रूप में देखते हैं जिसने भारत में उद्योगपतियों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो विदेशी पूंजी के लिए बेशर्मी से जीहुजूरी करता था। इसने एक ऐसे मध्य वर्ग को जन्म दिया जो पश्चिमी संस्कृति से अभिभूत और अनुस्थापन में प्रचण्ड रूप से उपभोक्तावादी था। समाज के उच्च प्रस्तरों द्वारा 'विदेशी सरकार का एजेण्ट' बनने की यह प्रक्रिया प्राधारिक संकट का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। भारत में नवीनतम परिदृश्य घटते रोज़गार, सिमटते बाज़ार और विदेशी ऋण में वृद्धि की एक तस्वीर प्रस्तुत करता है। यह आम आदमी के लिए 'विकास गतिरोध' प्रस्तुत करता है।

पाणिनी (1995) अपना ध्यान आर्थिक उदारीकरण के आरंभिक वर्षों पर केन्द्रित करते हैं, जिसने विकास की एक नयी रणनीति के अंगीकरण का संकेत दिया। उन्हें एक नया युक्ति युक्त विचार मिला है जिसने भारत में आर्थिक सुधारों पर 'व्यवहारिक मतैक्य' को जन्म दिया। निजी उद्यम और व्यापार को उल्लेखनीय सामाजिक वैधता मिल गई है। परन्तु 'यह अभी तक स्पष्ट नहीं है कि क्या आर्थिक सुधार अनुत्क्रमणीय, अर्थात जिनको रद्द नहीं किया जा सकता है? बढ़ती सामाजिक असमानताओं, महिलाओं की दशाओं में अपकर्ष, और बढ़ते नृजातीय संघर्ष एवं सम्प्रदायवाद संबंधी रूझान देखा गया है। तथापि, उदारीकरण का सामाजिक तर्क, उनके विचार से, यह है कि उसे 'असंगति और विघटन संबंधी प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ सकता है'। परन्तु अभिभावी दशा, वस्तुतः, अस्थिर और अनिश्चित है। एक छोर (संगति) से दूसरे छोर (असंगति) तक एक बदलाव आ

सकता है। 'आर्थिक उदारीकरण समृद्धि ला सकता है परन्तु इस प्रक्रिया में वह नृजातीय कलह और संघर्ष को बढ़ावा दे सकता है' (पृ .60)।

देशपाण्डे (1997) नए मध्यवर्ग के उदय को भारत में राष्ट्रीय मंच पर आज के 'एक मुख्य अभिनेता' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह वर्ग 'राष्ट्र के आम जीवन में अभूतपूर्व महत्त्व की भूमिका रहा है'। यह देश में राज्य के नेतृत्व में नियोजित राष्ट्रवादी विकास से बाज़ारोन्मुखी प्राधारिक समंजन एवं भूमण्डलीकरण की ओर 'प्रतिमान परिवर्तन को प्रोत्साहित करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका' रखता है। इस वर्ग के आत्मबोध एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आया है। इसने 'शासक गुट के एक अपरिहार्य सदस्य' की स्थिति प्राप्त कर ली है, 'जिसके प्रधान अंग हैं – कृषि वर्गीय पूंजीपति और औद्योगिक एवं वित्तीय बुर्जुआवर्ग'। देशपाण्डे उच्च मध्यवर्ग (प्रबंधकीय–व्यवसायी) अंग को भूमण्डलीकरण का अधिकतम लाभ उठाते देखते हैं। इस अंग ने (पूर्व) विकासात्मक अवस्था के आधार पर अपने स्थिति मज़बूत की है। आजकल इसमें भूमण्डलीकरण द्वारा व्यवधान पड़ गया है और यह इस विकासात्मक अवस्था को लात मारने वाला है क्योंकि अब इसे चढ़ने के लिए सीढ़ी की आवश्यकता नहीं है। यह 'राष्ट्र के एक 'शब्द चित्र' के रूप में स्वयं को सोचे जाने की ओर बढ़ गया है'। मध्यवर्ग अब महज लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, बल्कि सोचता है कि 'वह स्वयं ही राष्ट्र है' (पृ .310)। पालीकर (2004 : 153) बुर्जुआवर्ग और मध्यवर्गों के बीच एक संबंध देखते हैं। मध्यवर्ग का आकार बढ़ा है और इसने वर्तमान संकटकाल में एक केन्द्रीय स्थान बना लिया है। भूमण्डलीकरण के प्रसंग में भारत के शासक वर्गों को एक नियंत्रक परियोजना की दरकार है। 'मध्यवर्ग अब पूंजीपति वर्ग की ओर से नियंत्रक परियोजना विकसित कर सकता है। बदले में, मध्य वर्ग का सारभाग शासन गठबंधन में प्रवेश पा लेगा। लेले औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों माध्यमों से विश्व समर्थन की प्रवृतियों का संकेत देते हैं। अनिवासी भारतीय, उदाहरण के लिए शीघ्र व निकृष्ट अप्रत्याशित लाभों के लिए और मन्दिरों/मस्ज़िदों के निर्माण के लिए पैसा भेज रहे हैं। वे परभक्षी पूंजीवाद की संस्कृति में भी भागीदारी निभा रहे हैं (देखें लेले, वोरा एवं पालिकर (सं.)में 2004)।

MAADHYAM IAS

इसके अलावा, अधिशेष उपजाने वाले कृषकों को लाभग्राही बताया जाता है, और इस प्रकार भारत में आर्थिक उदारीकरण के समर्थक (पाणिनी 1997)। वे विनिगमन के लाभ देखते हैं, जैसा कि महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन के शरद जोशी के उदाहरण में है। परन्तु धनी किसानों (बड़े व मंझले) के एक अन्य वर्ग ने अनेक मुद्दों पर आशंका जताई है, जैसे कृषि परिदानों में कटौती और कृषि-व्यवसाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों का प्रवेश, तथा इस प्रकार वे भूमण्डलीकरण के विरोध में हैं, जैसा कि कर्नाटक, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, गुजरात आदि में देखा जा सकता है। निवेश लागतों में वृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रमुख कृषि जिन्सों के दामों में गिरावट अधिशेष उपजाने वाले किसानों तक को एक नकारात्मक तरीके से प्रभावित करती थी। ये कृषक मुख्य रूप से दो खण्डों में बंट गए हैं – एक भूमण्डलीकरण के पक्ष में हैं तो दूसरा विपक्ष में (ओमवेट 1993)।

सोचे और करें 28.2

आप क्या सोचते हैं कि भारत में चल रही भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अपनी प्रकृति में सकारी है अथवा नकारी?

"भारत में भूमण्डलीकरण की प्रकृति" पर एक पृष्ठ की एक रिपोर्ट लिखें। किसी दृष्टिकोण को अपनाने के लिए आपको स्पष्टीकरण देना होगा।

अपनी रिपोर्ट पर अपने अध्ययन केन्द्र में अन्य छात्रों तथा अपने परामर्शदाता से चर्चा करें।

भूमण्डलीकरण के प्रभाव को समाज के कमज़ोर और उपान्तिक वर्गों पर भारत में अधिकांश रूप में नकारात्मक माना जाता है, यथा छोटे और उपान्तिक किसानों व कृषि श्रमिकों पर। भूमण्डलीकरण कृषि को अधिक पूंजी साधित बना देने की ओर प्रवृत्त रहता है। निगम नियंत्रित कृषि का प्रसार हो रहा है – जिन पर विश्व कृषि व्यापार एवं जैव प्रौद्योगिकी निगमों का नियंत्रण है। यह बाज़ार, विशेष रूप से निर्यात के लिए ही खाद्य व गैर खाद्य व्यावसायिक फसलों को उगाने में संलग्न रहता है। पूंजी साधित निर्यात प्रेरित कृषि के ग़रीब कृषक वर्ग पर गंभीर प्रभाव पड़े हैं, जो कि प्रायः उनके द्वारा की जाने वाली आत्महत्याओं में प्रकट होते है, जैसे आंध्र प्रदेश और पंजाब में (अरविंद 2002)। न्यूनतम खाद्य सुरक्षा ग़रीब किसानों और कृषि श्रमिकों, दोनों के लिए एक गंभीर समस्या बनकर उभरी है।

श्रमिक व उनके संघों पर भूमण्डलीकरण का उल्लेखनीय प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। भूमण्डलीकरण से अधिकतम लाभ के लिए नौकरी में रखने और निकालने के नियोक्ता अधिकार के साथ श्रमिक कानूनों में सुधारों की ओर एक विकास नीति शुरू की जाने की अपेक्षा है। भारत में इसका काफ़ी विरोध हुआ है। तथापि, बड़ी संख्या में उद्योग बंद हुए हैं, जिससे बेरोज़गारी और ग़रीबी बढ़ी है। श्रमिकों/कर्मचारियों के वेतन दरों की बड़ी आलोचना हुई है, जो कि सही मायनों में स्थिर ही हैं। सरकारी के साथ साथ निजी क्षेत्रों में भी स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना (वी आर एस) जैसी योजनाएं शुरू की हैं ताकि कर्मचारियों को निकाल फेंका जा सके। इन दिनों आमतौर पर देखने में आता है कि सरकार यादृच्छिक रूप से बोनस रोक देती है, खातों को बंद कर देती है, महीनों तक वेतन/पगार का भुगतान नहीं करती और नौकरी छोड़ने के लिए कर्मचारियों का उत्पीड़न करती है। (अरविंद 2002 : 213)। परंपरागत औद्योगिक श्रमिक वर्ग तृतीयकरण, स्त्रीकरण, अनियमतीकरण एवं संदग्धीकरण की प्रक्रियाओं से बुरी तरह प्रभावित हो रहा है।

यह कहा जाता है कि भारत में नई आर्थिक नीति में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए गंभीर नकारी निहितार्थ हैं। सुधारों में 'उपान्तीकरण एवं विस्थापन के सिवा उन्हें देने को कुछ भी नहीं हैं' (जोगदण्ड 2000 : 10)। उत्तरोत्तर निजीकरण उन्हें नौकरियों से वंचित कर रहा है। शिक्षा में बढ़ता निजीकरण और व्यवसायीकरण उनकी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करता है। 'सामाजिक सुरक्षा एवं जनवितरण प्रणाली की प्रतिसरण कृषि अर्थव्यवस्था में परम्परागत श्रमिकों का विस्थापन और नौकरियों के निजीकरण के परिणामस्वरूप दलितों के सामने अपनी उत्तरजीविका के लिए गंभीर खतरा पैदा हो जाएगा। दलित वर्धमान मूल्य प्राधार एवं बढ़ती बेरोज़गारी व अल्परोज़गारी के बीच पिस कर रह जायेंगे (वही 11)।

उदारीकरण और निजीकरण की वजह से पारदेशीय निगमों समेत, निजी कंपनियों को छोटे जनजातीय किसानों की ओर से स्वामित्व हस्तांतरण की घटनाएं देखने में आयी हैं। भूमिहीन जनजातियों का विस्थापन हो रहा है। इसके अतिरिक्त, उनकी संस्कृति पर सांस्कृतिक हमले का खतरा मंडरा रहा है (पैथी 2000)। चूंकि अधिकांश जनजातियां कृषि पर ही निर्भर हैं, बाज़ार अर्थव्यवस्था का और अधिक प्रवेश उनके उपान्तीकरण को ही बढ़ायेगा (चैलम 2000)। नयी आर्थिक नीति का उद्देश्य मुक्त बाज़ार कार्यप्रणाली/पूंजीवादी खेती के माध्यम से कृषिगत भूमि का व्यापक सदुपयोग ही है। सरकारी नियंत्रण के बावजूद जनजातियों को देखा जाता है कि वे बड़े खेतिहर किसानों को अथवा बागानी फसलों, बागवानी व घास उगाने तक के लिए ज़मीन पट्टे पर दे देते हैं। कृषि उत्तरोत्तर एक शिथिल प्रस्थापना बनती जा रही है। सवेतन रोज़गार उनके लिए अधिक लाभकारी बनता जा रहा है। आशंका यह है कि जनजातीय आदिम कृषि (अब अव्यवहार्य) के स्थान पर बड़े फ़ार्म, पशु संवर्धनालय, बागान संपदाएं फ़ार्म हाउस और छुट्टी सैरगाहें बन

जायेंगे। उनके वन निजी/समूहगत संपदाएं बन जायेंगे और जनजातीय लोग ज़्यादा से ज़्यादा श्रमिकों के रूप में काम करने की उम्मीद कर लेंगे। बिजली व सिंचाई परियोजनाओं के लिए जनजातीय क्षेत्रों के जल संसाधनों का अधिक दोहन और खनिज संसाधनों का निष्कर्ष जनजातीय लोगों के व्यापक विस्थापन की ओर प्रवृत्त करेगा। यहां तक कि जल संसाधन प्रदूषित हो जायेंगे, और इस प्रकार उनके लिए पेय जल तक के अभाव की समस्या खड़ी हो जायेगी। उन पर बुरी मार पड़ने वाली है। (शर्मा 1995)।

पाने वालों और खोने वालों की एक और व्याख्या है। देवरॉय और मुखर्जी (2004) भारत में सुधार प्रक्रिया संबंधी राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिहाज से सुधारों के प्रतिरोध की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि यथास्थिति (संगठित श्रमिक, बड़े किसान, अधिकारी तंत्र और अक्षम व्यापार एवं उद्योग) की वजह से पनपे निहित स्वार्थों में उनके यथार्थ महत्त्व की बजाय राजनीतिक पैबंद और डेसीबल (ध्वनि की सूक्ष्मतम माप) स्तर अधिक है। इसकी तुलना में, वे जिन्हें लाभ मिलना चाहिए (असंगठित श्रमिक, छोटे किसान, उपभोक्तागण और सुदक्ष व्यापार एवं उद्योग), को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है।

इस प्रकार, भारत में भूमण्डलीकरण एवं सुधारों के सामाजिक/राजनीतिक अर्थव्यवस्था आयाम के संबंध में, यह बात उभर कर आती है कि यहां बाहरी उद्यमियों के साथ-साथ आन्तरिक समर्थक/कनिष्ठ भागीदार भी हैं। बाहरी शक्तियों में शामिल हैं – बहुपक्षीय एवं द्विपक्षीय विकास/ वित्तीय एजेन्सियां, पारदेशीय कंपनियां, विश्व निर्णायक पूंजी और उभरता पारदेशीय पूंजीपति वर्ग। घरेलू मोर्चों पर, विश्वव्यापी सुधारों की ओर अभिमुख करने वाले हैं – राज्य/शासक अभिजात वर्ग (राजनीतिक) प्रशासनिक एवं व्यापार अभिजात वर्ग तथा सलाहकार जिनको समर्थन देने वाले हैं – लाभग्राही सामाजिक वर्ग। समूह जैसे पूंजीपति वर्ग, उच्च वर्ग/जातियां, शहरी मध्यवर्ग, शीर्ष व्यावसायिक वर्ग। बुद्धिजीवी वर्ग, अनिवासी भारतीय एवं कृषिक पूंजीपति वर्ग (आरंभिक वर्ष)। परन्तु सुधारों ने खोने वालों के साथ-साथ इसका विरोध करने वालों को भी जन्म दिया है। इसमें शामिल हैं – समाज के उपान्तिक वर्ग, यथा गरीब कृषक वर्ग, भूमिहीन श्रमिक, उद्योग/सेवाक्षेत्र के कर्मचारी, निम्न मध्य वर्ग, अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां। आशंका यह है कि वे ओर अधिक हाशिए पर धकेल दिए जायेंगे।

परन्तु वास्तविक स्थिति इतनी सरल नहीं हो सकती। क्या निम्न वर्गों और जातियों से भी आने वाले कोई लाभग्राही अर्थात पाने वाले नहीं होंगे, इन सुधारों के फलस्वरूप एक छोटा वर्ग भी नहीं? क्या उच्च वर्गों और जातियों से कोई खोने वाले नहीं होंगे? बढ़ रहा सामाजिक ध्रुवीकरण संघर्ष को बढ़ावा दे सकता है और अन्ततोगत्वा, हो सकता है सुधारों की समाप्ति की ओर ले जाए। परन्तु वर्गों और जातियों के भीतर आन्तरिक विभेदीकरण में बढ़ोतरी सुधारों के विरूद्ध प्रतिरोध को विखण्डित कर देगी और अपना आगे का सफ़र ज़ारी रखेगी, बेशक लड़खड़ाते हुए, जैसाकि देश में हाल के संसदीय चुनावों में सुधारोन्मुखी राज्य व्यवस्थाओं की गंभीर हार के बाद हो रहा है। अतः सुधार प्रक्रिया में समाज के विभिन्न वर्गों/जातियों/संस्तरों की भूमिका और उन पर उसके प्रभाव को गहरे और आलोचनात्मक ढंग से जांचे जाने की आवश्यकता है।

भूमण्डलीकरण पर भारतीय आर्थिक नीतियां ठीक ही सतर्क होने की ओर प्रवृत्त हुई हैं। इससे अनेक क्षेत्रों में तीव्रतर गति की आवश्यकता समाप्त नहीं होती। कुछ हद तक, हमारा राजनीतिक प्राधारिक यथार्थ, विकास का हमारा लोकतांत्रिक मार्ग हमारी गति पर अवरोध उत्पन्न करता है। यह अपरिहार्य है, क्योंकि हमारे लोकतंत्र का प्राधारिक यथार्थ अब भी हमारी सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं में गहरे निहित है। इसके अलावा, लोकतंत्र सामाजिक एवं राजनीतिक विकास में न सिर्फ़ कारगर है बल्कि इसमें मानव विकास का एक मौलिक आदर्श अथवा नियामक सिद्धांत भी शामिल है। यह विडम्बना ही

है कि अर्थव्यवस्था का भूमण्डलीकरण स्वयं को किसी लोकतांत्रिक समाज के विकास में रूपान्तरित नहीं करता। मानव विकास रिपोर्ट (2002) इस तथ्य को पहचानती है और उस पर क्षोभ व्यक्त करती है।

आर्थिक भूमण्डलीकरण की चुनौतियों ने दरअसल हमारे समाज में एक सामाजिक प्राधार संबंधी संकट पैदा कर दिया है। सामाजिक विषमताएं सापेक्ष रूप से बढ़ी हैं। परन्तु इसे प्राधारिक द्वयात्मकता कहना इसका बहुत अधिक सरलीकरण होगा। उपभोग संबंधी आंकड़ों पर अध्ययन दर्शाते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में कारखाना निर्मित उपभोक्ता वस्तुओं के लिए लगभग 80-90 प्रतिशत बाज़ार तय है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था और उपभोक्ता वस्तुएं बनाने वाले औद्योगिक क्षेत्र के बीच एक रणनीतिक संबंध हैं। गांवों मे एक मध्यवर्ग उभरा है और यह निरन्तर आकार में बढ़ता जा रहा है।

इन परिवर्तनों को लाने में जनसंचार माध्यमों के विस्तार ने एक अहम भूमिका निभाई है। टेलीफ़ोन विद्या का आना, रेडियो व टेलीविज़न की सुलभता और कुछ क्षेत्रों में इण्टरनैट तक के प्रयोग ग्रामीण सामाजिक प्राधार एवं अर्थव्यवस्था को बाहरी दुनिया से इस कदर जोड़ रहे हैं जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ। यह अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राज्जीय संबंधों को मज़बूती प्रदान करता है, कुशल व अकुशल श्रमिकों की सामाजिक गतिशीलता की प्रकृति को बदल देता है और कुछ मायनों में यह अन्तर्क्षेत्रीय अथवा अन्तर्राज्जीय असमानताओं को भी जन्म देता है। इन परिवर्तनों में आगे चलकर हमारे समाज में विद्यमान सामाजिक विषमताओं की प्रकृति को प्रभावित करने की क्षमता भी है और साथ ही राज्यों के भीतर व उनके बीच समूहों व क्षेत्रों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अन्तर्संबंधों के प्रतिमान को प्रभावित करने की क्षमता भी।

28.5 भूमण्डलीकरण, संस्कृति एवं पहचान

लोगों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पहचान पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव विषयक अधिकांश चर्चाएं इस प्रकार के प्रश्नों से जुड़ी हैं: क्या भूमण्डलीकरण अन्ततोगत्वा उन समाजों में एक सांस्कृतिक समांगीकरण लायेगा जिनमें वर्तमान में सांस्कृतिक विविधता है? इस प्रक्रिया में कौन सी संस्कृति प्रबल रहेगी? स्थानीय संस्कृतियों का क्या हश्र होगा? क्या उनकी पहचान पूरी तरह विलुप्त हो जायेगी? सांस्कृतिक अल्पसंख्यक समूहों, धार्मिक समूहों और नृजातियों का क्या होगा? क्या वे समांगीकरण प्रक्रिया से बाहर हो जायेंगे? अंत में क्या संस्कृति का भूमण्डलीकरण पश्चिमीकरण – सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का एक प्रतीक, का नया अवतार है?

भूमण्डलीकरण के संदर्भ में सुधारों के सांस्कृतिक आयाम पर व्यापक रूप से विविध दृष्टिकोण हैं। पीटर्स (1996) भूमण्डलीकरण के युग में सांस्कृतिक परिवर्तन के तीन संघर्ष बांध पहचान कर बताते हैं – पहले को समांगीकरण प्रतिमान के नाम से जाना जाता है। यह बढ़ती विश्व अन्योन्याश्रित एवं अन्तर्संबद्धता की ओर संकेत करता है जो कि वर्धमान सांस्कृतिक मानवीकरण एवं एकरूपीकरण की ओर प्रवृत्त करते हैं। यह बात वैज्ञानिक पुनर्गठन, बाज़ार प्रतिस्पर्धा, जिन्सीकरण एवं लोकतांत्रिक/मानव अधिकार जैसे मूल्यों की बढ़ती समजातीयता में भी व्यक्त होती है। उपभोग प्रतिमानों एवं जीवनशैलियों का समांगीकरण देखा गया है, जैसा कि विश्व का मैक्डोनाल्डीकरण, कोका-कोलाइकरण और डिज़्ज़ीकरण में प्रकट होता है। प्रमुख लोकप्रिय अमेरिकी/पश्चिमी संस्कृति के प्रतीक, जैसे कोका कोला, नीली जीन्स, रॉक संगीत और मैक्डोनाल्ड के गोल्डन आर्चिज़ दुनियाभर में फैले हैं। परिवर्तन का दूसरा बोध सांस्कृतिक संघर्ष/पहचान प्रतिमान कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय है कि बाज़ार केन्द्रित भूमण्डलीकरण स्थानीय एवं संस्कृतियों में गहरी पैठ बना रहा है, जिसको कि उनकी उत्तरजीविता पर खतरे के रूप

में देखा जा रहा है। भूमण्डलीकरण के घातक आक्रमण से रक्षा करने हेतु पहचानों का अधिकार दावा इसी का परिणाम है। बारबर का मत है कि मैकवर्ल्ड की अमेरिकी प्रेरित समांगीकारक लोकप्रिय संस्कृति ऐसी अन्य संस्कृतियों पर छा जाती है जो अपने आप पर नियंत्रण रखने हेतु अपनी क्षमता खो देती है, और इस प्रकार विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों को बढ़ावा देते हैं जिन्हें वह 'जिहाद' कहते हैं दुनियाभर में देशज राष्ट्रीय अथवा धार्मिक परम्पराओं के समर्थन का आहवान करती है (देखें लैकनर एवं बोली सं. 2004)। हन्टिंग्टन (1997) सभ्यताओं के संघर्ष की चर्चा करते हैं, नामतः पश्चिम बनाम शेष जगत। वह भिन्न सांस्कृतिक मूल्यों के समर्थन को महज प्रतिक्रियात्मक नहीं मानते। बल्कि, विश्व अब अनेक सभ्यताओं में बंट गया है जिनके प्रायः असंगत विश्व-दृष्टिकोण होते हैं, और इस प्रकार उनके बीच संघर्ष होता है और संभवतः पश्चिमी प्रभाव का अन्तिम ह्रास भी।

तीसरी धारणा संकरण प्रतिमान है। यह अन्य दो से भिन्न है और सांस्कृतिक विषम जातीय एवं संकरण में पारस्थानिक सांस्कृतिक घालमेल की प्रक्रिया पर ज़ोर देती है। पीटर्स की टिप्पणी है – 'प्रथम दो, सभ्यताओं के संघर्ष एवं मैक्डोनाल्डीकरण, को आधुनिकतावाद के रूप में माना जा सकता है, क्रमशः उसके स्वच्छंदतावादी एवं ज्ञानोदय रूप, जबकि संकरण का अभिप्राय यात्रा संस्कृति की एक आधुनिकेत्तर संवेदनशीलता से है' (1996 : 1389)। संकरण को उसके उपनामों से जाना जाता है, जैसे – समन्वयवाद, वर्णसंकरीकरण, दोगलीकरण, क्रॉसब्रांड, आदि। भूमण्डलीकरण (अंतरंगीकरण) एक अन्य प्रायः प्रयुक्त शब्द है। यह स्थानीय संस्कृतियों एवं बाज़ारों हेतु अनुकूलित होते 'विश्व व्यापी उत्पादों' की दृश्यघटना की ओर इशारा करता है, उदाहरण के लिए, मैक्डोनाल्ड विश्व के विभिन्न भागों में स्थानीय रूझानों के अनुकूल बन रहा है। इसको 'दोनों दिशाओं में देखना कहते हैं'(ओमी 1992 : 93)।

पाणिक्कर (2002) सांस्कृतिक युग में भूमण्डलीकरण को सांस्कृतिक साम्राज्यवाद स्थापित करने हेतु एक प्रयास के रूप में देखते हैं। यथा पूंजीवादी संस्कृति की स्थापना अधिक सुनिश्चित हो। वह सांस्कृतिक आक्रमण के दो पहलुओं की पहचान करते हैं – सजातीयकरण और निर्माण/निजीकरण। भूमण्डलीकरण में अनुकूल वैचारिक वातावरण तैयार कर पूंजीवादी अधिपत्य स्थापित करना शामिल होता है। नव सांस्कृतिक आधारभूत ढांचा विश्व/नैगम शक्तियों द्वारा विकसित किया जा रहा है। यह देशज संस्कृति/सामान्य बोध (विजातीय, एकाधिक) एवं सांस्कृतिक कार्यव्यवहारों को हाशिए पर धकेल देता है, उन्हें कालदोषी के रूप में प्रस्तुत करता है, और उनके स्थान पर उन्नत पूंजी वाली सांस्कृतिक सामान्य बोध की 'सार्वभौमिक विशेषता को ले आता है। बड़े-बड़े निगम विश्व संस्कृति उद्योग (टेलीविज़न, फास्ट फूड, परिधान, आदि) चलाते हैं। उनपर छाए रहते हैं, साथ ही विभिन्न उत्पादों – पिज्जा से लेकर अश्लील साहित्य/चित्र तक – के माध्यम से तीसरी दुनिया के बाज़ार का दोहन भी करते रहते है। (मोहन 1999) भूमण्डलीकरण के तहत सांस्कृतिक आक्रमण के विषय पर भी विचार विमर्श करते हैं। पाश्चात्य आधुनिकता की (वर्तमान) परियोजना, उनके विचार से, तीसरी दुनिया में सांस्कृतिक प्रतिमानों, अवधारणाओं, अपेक्षाओं एवं प्रतिक्रियाओं को मानवीकृत करने का प्रयास कर रही है। यहाँ मूल सिद्धांत उपभोक्ता पूंजीवाद संबंधी है।

इसके अतिरिक्त पाणिक्कर का अवलोकन है कि प्रबल वैश्विक (समष्टि प्रधान) संस्कृति के प्रसार में भारतीय बुर्जुआवर्ग एवं (उच्च) मध्यवर्गों का सहयोग होता है। कोई मुक्त सांस्कृतिक अन्योन्याक्रिया देखने में नहीं आती। इसके अलावा, कृत्रिम स्थानों(यथा स्टूडियों) में परम्परागत देशज सांस्कृतिक रूपों/शैलियों/एकांशों के 'नए निर्माण' प्रस्तुत किए जाते हैं। इससे देशज संस्कृतियों का विप्रासंगीकरण (decontesualisation) एवं एतिहासीकरण (dehistoricisation) प्रकट होता है। देशज लोकप्रिय संस्कृति विश्व संचार माध्यमों के लिए जिन्सों में बदल जाती है और निगमों व उनके कनिष्ठ

भागीदारी/सहयोगियों के लिए भारी लाभ उत्पन्न करती है। यह प्रक्रिया तीसरी दुनिया को सांस्कृतिक जीवाष्मीकरण की ओर ले जाता है, जिसमें भूमण्डलीकरण प्रभुत्व एवं अपने भीतर भी, दोनों को गुप्त रूप से क्षति पहुंचाते प्रतिरोध के राजनीतिक निहितार्थ हैं। इसके अलावा, उभरता सांस्कृतिक संकट मूल, पहचान एवं तदनुसार मूलतःविवाद हेतु अनुसंधान की ओर ले जा रहा है। साम्प्रदायिक एवं विश्व शक्तियों के बीच हितों एवं कपट समझौते का अभिसरण देखने में आता है, जो कि गणतंत्र, उदाहरण के लिए भारत में, की नींव को ही खोखला कर सकता है।

इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक अधिकार क्षेत्र में यह देखा गया है कि विशेषरूप से मीडिया क्षेत्र भूमण्डलीकरण के दौर में तेज़ कायान्तरण से गुज़र रहा है। इस विषय में काफ़ी विषमतापूर्ण दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण यह है कि जनसंचार माध्यम दुनियाभर में आधिपत्य/प्रभुत्व की एक सांस्कृतिक सजातीयकरण/अमेरिकीकरण/पश्चिमीकरण संबंधी प्रेरक शक्ति को जन्म देते हैं (देखें मैकब्राइड एवं रोच, लैकनर एवं बोली (सं.) 2004)। विश्व मीडिया पर मुख्य रूप से यूरो-अमेरिकन कंपनियों का नियंत्रण है जिन्होंने अपने स्पर्शक हर जगह फेला रखे हैं। वे उन लोगों पर अपनी सशक्त छवियां, ध्वनियां और विज्ञापन थोप रहे हैं जो उन संदेशों के अभिभूत हो जाते हैं जो पूंजीपतियों के लाभों में इज़ाफा करने के उद्देश्य से ही होते हैं। हाल के वर्षों में मीडिया प्रस्तुतियों का काफ़ी अधिक सीमापार प्रवाह देखा गया है, साथ ही मीडिया पारदेशीय कंपनियों की अभिवृद्धि एवं व्यवसायीकरण का बढ़ता प्रसार एवं प्रबलीकरण भी। मुट्ठीभर पारदेशीय निगमों द्वारा इस क्षेत्र पर उत्तरोत्तर नियंत्रण एवं एकाधिकार किया जा रहा है, जो कि मीडिया अर्थात् संचार माध्यमों को अन्य किसी व्यापार की ही भांति लाभ को अधिकाधिक बढ़ाने के एकमात्र सिद्धांत पर काम करते हैं। इसके अतिरिक्त, भूमण्डलीकरण दूर संचार प्रणालियों के तीव्र एकीकरण ने मुख्य रूप से अमेरिकी संस्कृति को आगे बढ़ाने में नवोपनिवेशवादी शक्तियों पर नियंत्रण के प्रतिकात्मक एवं मनोवैज्ञानिक साधनों को मज़बूती प्रदान की है, जो कि उपभोग, तत्काल परितोषण, स्वयं अवशोषण, एवं विश्व पूंजीवाद आदि विचारधाराओं को लेकर चलती है। मीडिया का उत्तरोत्तर व्यवसायीकरण हो रहा है जो मनोरंजन आधारित काम संबंधों एवं हिंसा पर ध्यान केन्द्रित करता है। विदेशी भागीदारी हेतु तीसरी दुनिया के घरेलू मीडिया क्षेत्र (इलैक्ट्रानिक एवं प्रिंट दोनों) को खोलने के लिए पारदेशीय निगमों का दबाव बढ़ रहा है। भारत सरकार ने, उदाहरण के लिए, इलैक्ट्रानिक संचार माध्यमों (टीवी) में मीडिया पारदेशीय निगमों के प्रवेश को अनुमति देने के लिए नीति परिवर्तन किए हैं (मुखर्जी 2003)। देश में प्रिंट मीडिया का खुलना अगला कदम प्रतीत होता है।

इण्टरनैट/वैबसाइट पहले ही सभी सीमाओं को लांघकर अपने पैर फैला चुका है। जीवन का अधिकांश भाग ऑनलाइन समूहों (Yahoo groups, MSN groups) के रूप में या फिर इण्टरनैट (सामाजिक नैटवर्क) समुदायों जैसे Friendster, Orkut, Okstupid, आदि, के रूप में साइबर स्पेस में ही बीतता है, ऐसा कहा जाता है। वैबवर्ल्ड का प्रयोग लाभार्थ विज्ञान एवं बिक्री हेतु किया जाता है। इसमें एक राजनैतिक आयाम भी है जिसमें, विश्व'स्तर पर भी विभिन्न प्रकार के वैब आधारित संघटन एवं आन्दोलन शामिल हैं।

बॉक्स 28.02 : साइबर स्पेस

साइबर स्पेस को लोकतंत्र हेतु इलैक्ट्रॉनिक सार्वजनिक स्थल की नवप्रवर्तनवादी संभावना रखने वाले के रूप में देखा जाता है, विशेष रूप से जब यह किसी विचारात्मक पारदेशवाद (transnationalism) के संदर्भ में लिया जाता है। इण्टरनैट को साइजिक रूप में लोकतांत्रिक एवं संवादात्मक माना जाता है। परन्तु आलोचक यह दोष लगाते हैं कि पारदेशीय लोकतंत्र में जनभागीदारी हेतु एक समतावादी सार्वजनिक

क्षेत्र का अभाव है, और साथ ही किसी सहभागित राजनीतिक संस्कृति का अभाव भी। किसी सार्वसामान्य संस्कृति अथवा पहचान पर आधारित कोई एकीकृत सार्वजनिक स्थल नहीं दिखाई पड़ता (कॉसली एवं रॉबर्ट (सं.) 2004)।

भूमण्डलीकरण की सांस्कृतिक प्रक्रिया पहचान के मुद्दों पर अपना प्रभाव डालती हैं सामाजिक एवं आर्थिक घटनाक्रम हर समाज में सामाजिक आत्मचेतना को जगाता है। पहचान संबंधी वृहत्तर प्रश्न समूहों एवं समुदायों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आत्मचेतना के वर्धन से संबंध रखता है। पहचान की विषयपरक जड़ व्यक्ति में ही होती है, परन्तु यह स्वयं को सामूहिक आत्मचेतना के माध्यम से किसी सामाजिक उत्पाद के रूप में वस्तुपरक रूप से ही व्यक्त करती है। यह चेतना अनेक कारकों के तालमेल से ही जन्म लेती है, जैसे इतिहास, मिथक विद्या एवं कारगर युक्तिपरकता। पहचान का भाव 'दूसरे' की उपस्थिति के प्रति व्यक्ति की संचेतना से उत्पन्न होता है। इसके लिए ऐतिहासिक संदर्भ आवश्यक होता है। दूसरी संस्कृतियों के साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक संक्रिया को विगत एवं वर्तमान अनुभव लोगों की अपनी स्वयं की पहचान संबंधी चेतना को रूपायित करते हैं। यह पहचान चेतना कौन सा रूप लेगी – यह अन्य संस्कृतियों के प्रति अनुकूल, स्वांगीकारक, विमुखकारी रूख अपनाएगी या फिर शत्रुतापूर्ण रवैया – अनेक कारकों पर निर्भर करता है। इनमें शामिल हैं – बहुवादी परम्परा की विद्यमानता अथवा उसका अभाव, सभ्यता का स्वभाव और बाहरी दुनिया के साथ सांस्कृतिक संपर्कों संबंधी गत ऐतिहासिक अनुभव। उदाहरण के लिए स्थानीय संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक नियंत्रण एवं उसका प्रभाव होना भारत में सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण की अवधारणा में एक भौतिक भूमिका रखता है।

भारत पर युगों से अन्य सभ्यताओं के साथ सांस्कृतिक सपंर्कों का प्रभाव रहा है, अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आने से उसकी सांस्कृतिक शैलियों, विशेषताओं एवं रूपों में निरन्तर अनुकूल परिवर्तन आते रहे हैं। इसका इतिहास समन्वयकारी पहचानों वाला रहा है। इस सभ्यता की पहचान पर भूमण्डलीकरण का सांस्कृतिक प्रभाव अथवा उसका स्थानीय संस्कृतियों की पहचान पर प्रभाव, इसी कारण, इस समुत्थान शक्ति द्वारा मध्यस्थता किए जाने के लिए बाध्य है। इस अवलोकन के अनेक कारण हैं। प्रथमतः भारतीय सामाजिक संरचना की प्रारंभिक ऐतिहासिक दशाएं अनुपम रही हैं। समुदायों, भाषाओं, सांस्कृतिक विशेषतासूचक प्रतीकों एवं नृजातीय शैलियों की अपार एकाधिकता इसकी विशेषता रही है। सदियों से विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताएं एवं सांस्कृतिक शैलियां समुदायों को पहचान तो प्रदान करती हैं परन्तु पूर्णतः पार्थक्य में नहीं। विभिन्न क्षेत्रों एवं समुदायों में सांस्कृतिक अन्योन्यक्रिया मिलजुलकर भाग लेने व आपसी समंजन की एक रीति में विद्यमान रहती है। यह सर्वसामान्यता धार्मिक एवं नृजातीय विभाजनों से परे होती है। भारतीय नृवैज्ञानिक सर्वेक्षण द्वारा किया गया एक नवीन अध्ययन इसी तथ्य को दर्शाता है। इसके अवलोकनानुसार, भारत में समुदायों, संख्या में लगभग कुल 4635 में सांस्कृतिक विशेषताओं की सहभागिता, दर्शाती है – "समषि – क्षेत्रों में राज्यों के बीच विशेषताओं का उच्च सहसंबंध, जैसे कि दक्षिण, उत्तरी-पश्चिमी भारत, मध्य एवं पश्चिमी भारत, इत्यादि में। इन विशेषताओं का बहुत अधिक उच्च सहसंबंध अनुसूचितजातियों व अनुसूचित जनजातीयों के बीच, अनुसूचित जातियों व हिन्दुओं के बीच, हिन्दुओं व सिखों के बीच, हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच (जोकि वास्तव में बहुत अधिक है) तथा हिन्दुओं व जैनमतावलम्बियों के बीच देखा जाता है। हिन्दुओं और बौद्धों के बीच उच्च सहसंबंध भी इसी प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। यह तथ्य कि ये समुदाय स्थान अथवा राज्यों की सीमा से परे अन्योन्यक्रिया करते हैं, महत्त्वपूर्ण है" (सिंह 1992 : 99)। इस प्रकार, हम देखते हैं कि पहचानों की एकाधिकता के बावजूद, भारत के समस्त इतिहास में हम सांस्कृतिक संबंधों का एक समष्टि संयोजन देखते हैं। यह आज भी जारी

है, और स्थानीय पहचानों की एकाधिकता के बावजूद भारत की सांस्कृतिक एकता को संघटित रखता है।

भूमण्डलीकरण का सांस्कृतिक प्रभाव आंतरिक गतिवाद की इस प्रक्रिया और स्थानीय संस्कृतियों की समुत्थान शक्ति में उलझ जाता है। यह धारणा कि भूमण्डलीकरण स्थानीय संस्कृति पर खतरा पैदा करा रहा है, उत्तरोत्तर अमान्य करार दी जा रही है। देखा गया है कि भूण्डलीकरण की प्रक्रिया में स्थानीय संस्कृति को प्रबलित और वैश्वीकृत भी किया जाता है। रोनाल्ड रॉबर्टसन ने इसी प्रक्रिया को वैश्वीकरण की संज्ञा दी है। यह दर्शाता है कि किस प्रकार स्थानीय संस्कृतियां व्यष्टि –विपणन के माध्यम से अपने उत्पादों में प्रतीकात्मक रूपों एवं शैलियों का चयनात्मक अनुकूलन करके विश्व संस्कृति के साथ उत्तरोत्तर उलझती जा रही हैं। जापानियों के अनुभव पर आधारित यह प्रक्रिया पुष्टि करती है कि किस प्रकार स्थानीय संस्कृतियां उपभोक्ताओं के विभेदीकरण को जन्म देकर एक विश्व स्थल पर छा जाने लगती हैं। इसके उदाहरण हैं – पर्यटन के क्षेत्र और नृजातीय सुपरबाज़ारों की लोकप्रियता के प्रत्यक्षदर्शी (देखें रॉबर्टसन 1994)। भारत में, हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किस प्रकार हमारी स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराएं अन्तर्क्षेत्रीय एवं वैश्विक अपेक्षाओं के मुताबिक सांस्कृतिक उत्पादों के रूपों एवं शैलियों में अनुकूल प्रतिक्रियाएं व्यक्त कर रही हैं। उदाहरण के लिए, क्षेत्रीय भाषाओं को क्षेत्रों में या फिर विश्व स्तर पर भी अपमिश्रित किया जा रहा है। द्विभाषावाद की घटना हमारे देश में, 1971 में लगभग 13.4 प्रतिशत से 1991 में 64.2 प्रतिशत तक बढ़ गयी है। पाक शैलियां, पहनावों के पैटर्न, स्थानीय नृजातीय संस्कृतिक वस्तुएं, रीति-रिवाज़, धार्मिक प्रतिमाएं एवं स्थानीय प्रथाएं, आदि अब भारतीय प्रवासी समूहों के बढ़ते आकार के उत्तरोत्तर सर्व-भारतीय और यहां तक कि वैश्वीकृत होती जा रही हैं। व्यष्टि विपणन की प्रक्रिया इस क्षेत्र में गहरे पैठ रही है। इसको गति, वस्तुतः आर्थिक विकास की उभरती शक्तियों द्वारा प्रदान की जाती है। इसने आंतरिक एवं बाहरी प्रवसन की एक नई लहर चला दी है, और संस्कृति एवं बाज़ार के बीच एक संबंध कायम कर रहा है। यह अभूतपूर्व रूप से सांस्कृतिक अन्योन्नक्रिया हेतु गुंजाइश भी बढ़ा देता है। निःसंदेह, यह सांस्कृतिक पहचान विषयक एक आशंका धारणा को जन्म देता है, परन्तु सदृशपूर्वक यह पहचान चेतना की भी पुष्टि करता है। 'दूसरी' संस्कृतियों की दिशा में भारतीय प्रतिक्रिया के बावजूद यह उभयभाविता पूरी तरह से चयनात्मक एवं अनुकूल रही है। भूमण्डलीकरण इसीलिए, उत्तरोत्तर सांस्कृतिक शैलियों एवं स्वरूपों के संकरण अथवा संलयन की ओर ले जा रहा है, न कि उनके समग्र विस्थापन की ओर। यह भारतीय समाज की सांस्कृतिक समुत्थान शक्ति की प्रबलता को ही दर्शाता है।

28.6 निष्कर्ष

भूमण्डलीकरण के अनुभव में एक मिलीजुली अनुभूति है, सम्मोहन की भी और विमोहन की भी। परन्तु भारत, अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही, क्षेत्रीय, नृजातीय एवं सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के लिए अपनी लोकतांत्रिक संस्थाओं, कल्याणकारी नीतियों एवं सत्ता के अवमूल्यन के माध्यम से स्थानीय पहचानों एवं राष्ट्रीय विकास के बीच एक सहक्रिया स्थापित करने हेतु सचेत प्रयास करता रहा है। राज्यों का भाषायी पुनर्गठन, रक्षात्मक भेदभाव की नीतियां, केन्द्र राज्य संबंध सुधार कर शासन का बेहतर एवं अधिक प्रभावी संघीय प्राधार लाने के लिए निरन्तर प्रयास, नृजातीय-क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक सत्ताओं को संरक्षण दिए जाने की नीति, आदि सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पहचानों को समाहित करने हेतु लागू एवं समयानुकूलित किया जा रहा है।

हम काफ़ी हद तक सफल हुए हैं, परन्तु सभी मामलों में नहीं, और नहीं संघर्ष एवं हिंसा के बग़ैर। भूमण्डलीकरण, इस सीमा तक कि यह विषमताओं को जन्म देता है अथवा

विषमताओं संबंधी चेतना जगा देता है, समाज में सामाजिक एवं सांस्कृतिक संघर्षों के बीज इसमें निहित रहते है। यह बात सीमा पर प्रतीकात्मक पारगमन की प्रचण्डता को अधिक प्रभावशाली एवं आसान बना देती है, और यह लोगों के दिमाग में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक वंचनाओं का भाव पैदा करती है। इसका एक क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं वैश्विक आयाम होता है। यह आधारवाक्य कि भूमण्डलीकरण समाजों में संघर्ष पैदा करता है जो कि कभी-कभी विनाशकारी परिणाम लाता है। भूमण्डलीकरण तथा वर्गों, समुदायों व नृजातियों की गरीबी या वंचना दूर करने के बीच अत्यधिक बेमेल की संभावना पर आधारित है। यह सत्य है कि संगठित हिंसा जैसे आतंकवाद या विद्रोह ऐसे समाजों में उद्‌भूत होती है जहां प्रभावी शक्तियां पूरी तरह से घरेलू विरोध प्रदर्शन के लिए अनुत्तरदायी मानी जाती हैं, और जहां मौलिक मानवाधिकारों से भी इंकार कर दिया जाता है। भूमण्डलीकरण समाज में गरीबी बढ़ाता है अथवा घटाता है? क्या यह कमज़ोर देशों पर प्राधारिक रूप से प्रभुत्व जमाने हेतु कुछ देशों की क्षमता बढ़ा देता है? इन मुद्दों पर वैचारिक बहस चल रही है परन्तु परिणाम 'ढाक के वही तीन पात' ही रहा है। अब तक उपलब्ध प्रमाण दर्शाते हैं कि भूमण्डलीकरण गरीबी के नितान्त स्तर को घटा देता है परन्तु लोगों में सापेक्ष विषमताओं का प्रसंग बढ़ा देता है।

यदि हम अपने देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही गरीबी की सामाजिक गतिकता एवं प्रसंग के प्रतिमान को देखें तो पायेंगे कि सामाजिक कल्याण, शिक्षा एवं आर्थिक विकास ने गरीबी घटाने में योगदान दिया है, परन्तु तुलनात्मक सामाजिक विषमताएं बढ़ी हैं। साफ़ शब्दों में, उपभोग का स्तर गांवों व नगरों में गुणात्मक रूप से सुधरा है; शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित कर आरक्षण नीति ने कमज़ोर वर्गों, अल्पसंख्यकों एवं नृजातीय समूहों के बीच एक 'सीमित' मध्यवर्ग को जन्म दिया है; पिछड़े वर्गों, जनजातियों एवं अनुसूचित जातियों आदि द्वारा राजनीति एवं सत्ता में भागीदारी की गुणवत्ता एवं सीमा में आमूलचूल परिवर्तन आया है। 'इन समूहों के सशक्तीकरण की यथेष्ट प्रबलता राजनीति के क्षेत्र में बढ़ी है, परन्तु अर्थ एवं शिक्षा के क्षेत्र में उनके व प्रबल वर्गों अथवा जातियों के बीच अंतर बना ही हुआ है। जैसाकि सिंह (2004) लिखते हैं, भूमण्डलीकरण अनेक मोर्चों पर चुनौतियां प्रस्तुत करता है, जिनमें सर्वोपरि आर्थिक को माना जा सकता है। इतिहास, बहुवादी सामाजिक प्राधार एवं संस्कृति संबंधी कारणों तथा हमारे द्वारा विकास के लोकतांत्रिक मार्ग को अपनाए जाने के कारण ही भूमण्डलीकरण के चुनौतियों का सामना करने हेतु हमारे पास अत्यधिक समुत्थान शक्ति है। तिस पर भी, हमारी आर्थिक नीतियों में सचेत उत्कृष्ट तालमेल एवं सहक्रिया की आवश्यकता है। इस प्रकार की नीति के सर्वाधिक रणनीतिगत पहलुओं का संबंध हमारे मानव संसाधन आधार, कृषि एवं अधिरचना के विकास से ही है। एक संतुलित रीति से आर्थिक विकास में ही भूमण्डलीकरण को चुनौतियों का सामना करने तथा पहचानों की उमड़ के समाहित करने संबंधी हमारी क्षमता की कुंजी है।

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिडन, ए. (1991), *द कॅन्सीक्वेन्सिज़ ऑफ़ मॉडर्निटी, कैम्ब्रिज*, पॉलिटि प्रैस

——— (1991), *मॉडर्निटी एण्ड सैल्फ-आइडेंटिटी*, कैम्ब्रिज, पॉलिटि प्रैस

सिंह, वाई. (2004), *आइडिऑलाजी एण्ड थिअरी इन इण्डियन सोशिऑलाजी*, रावत पब्लिकेशन्ज़, अध्याय 7, जयपुर

इकाई 29

सामाजिक आंदोलनः अर्थ तथा विस्तार

इकाई की रूपरेखा

29.1 प्रस्तावना

29.2 सामाजिक आंदोलनों की अवधारणा

29.3 सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति

29.4 सामाजिक आंदोलनों के घटक

29.5 सामाजिक आंदोलनों का रूपांतरण

29.6 निष्कर्ष

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

सामाजिक आंदोलन समाजशास्त्र की जानकारी के महत्वपूर्ण क्षेत्रों के रूप में उभरे हैं। सामाजिक आंदोलन के विद्यार्थी के रूप में आपको सामाजिक आंदोलनों के अर्थों तथा महत्वपूर्ण विस्तारों के बारे में जानकारी होनी चाहिए। इसी प्रयास में यह इकाई प्रस्तुत करती है :

- सामाजिक आंदोलनों की अवधारणा;
- सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति;
- सामाजिक आंदोलनों के घटक; तथा
- सामाजिक आंदोलनों का रूपांतरण।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.1 प्रस्तावना

सामाजिक आंदोलन सामाजिक विकास का हिस्सा होते हैं। ये परिघटनाएँ किसी समय तथा स्थान में विभिन्न सामूहिक क्रियाओं को प्रदर्शित करती हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में सामाजिक आंदोलन स्थापित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध सामूहिक असंतोष की अभिव्यक्ति के रूप में उभरे हैं। ये तरूण प्रमुख सामाजिक बलों द्वारा समाज की सामूहिक आलोचना के रूप में उभरे हैं। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में आपकी सामाजिक आंदोलनों के अर्थों तथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि विस्तारों को जानने में दिलचस्पी होगी।

इस इकाई में आपको सामाजिक आंदोलनों के कुछ मौलिक मुद्दों के बारे में जानकारी दी गई है। इसका उद्देश्य सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक आंदोलन की संकल्पना करना है। सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना के लिए विभिन्न मान्यताएँ प्रचलन में हैं। इन मान्यताओं की झलकियाँ भी यहाँ प्रस्तुत की गई हैं। सामाजिक आंदोलनों के अनेक कारण हैं। इस इकाई में हमने सामाजिक आंदोलन के कारणों अथवा उत्पत्तियों के बारे में विस्तार से बताया है तथा सामाजिक आंदोलनों में विचारधारा, नेतृत्व तथा संगठन की भूमिकाओं को समझाया है। सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण की प्रक्रियाओं की भी यहाँ चर्चा की गई है। चूँकि हम इस खंड की निम्नलिखित इकाइयों में सामाजिक आंदोलनों में सम्मिलित

अनेक मुद्दों के बारे में बता रहे हैं, अतः इस खंड को भली प्रकार समग्र रूप से समझने के लिए इन प्रमुख मुद्दों को प्राथमिकता से स्पष्ट किया गया है।

29.2 सामाजिक आंदोलनों की अवधारणा

सामाजिक आंदोलनों को मुख्य रूप से ऐसे "संगठित" अथवा "सामूहिक प्रयास" के रूप में समझा गया है जो समाज में विचारों, मान्यताओं, मूल्यों, रवैयों, संबंधों तथा प्रमुख संस्थाओं में परिवर्तन लाते हैं अथवा उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्थाओं में होने वाले किसी परिवर्तन का प्रतिरोध करते हैं। ब्लूमर (1951) ने सामाजिक आंदोलनों को "जीवन के नए सामाजिक क्रम को स्थापित करने के रूप में परिभाषित किया। टॉच (1965) के लिए सामाजिक आंदोलन "बड़ी संख्या में व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से कि ऐसी समस्या को हल करने का प्रयास है जिसे वो सभी की समस्या के रूप में महसूस करते हैं। हेबरली (1972) के अनुसार "यह किसी सामाजिक संस्था में परिवर्तन करने के लिए अथवा किसी पूर्णतः नई व्यवस्था को निर्मित करने के लिए सामूहिक प्रयास है", जे.आर. गसफील्ड (1972) ने सामाजिक आंदोलन को समाज की किसी व्यवस्था में परिवर्तन के लिए सामाजिक भागीदारी वाली माँग माना। विल्सन (1973) के लिए सामाजिक आंदोलन या तो परिवर्तन के लिए अथवा परिवर्तन से प्रतिरोध के लिए होते हैं। अतः उनके लिए, सामाजिक आंदोलन गैर संस्थागत साधनों द्वारा सामाजिक व्यवस्था में व्यापक स्तर पर परिवर्तन लाने अथवा उनका प्रतिरोध करने के लिए संगठित उद्यम है।

अ) संकल्पनावाद का ऐतिहासिक तथा सामाजिक संदर्भ

यह महत्वपूर्ण है कि सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना किसी विशेष ऐतिहासिक तथा सामाजिक संदर्भ में की जाती है। उदाहरण के लिए उत्तरी अमरीकी समाज में 1930 के दशक में फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट आंदोलनों से उभरते खतरों के विरोध में हेबरले जैसे विद्वानों द्वारा 1951 में ऐसे गैर-संस्थागत सामूहिक राजनीतिक व्यवहार के संभावी खतरनाक प्रकार के रूप में सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना की गई जिसे यदि अनदेखा किया जाए तो जीवन के स्थापित तरीकों की स्थिरता को खतरा हो जाता है।" सामाजिक आंदोलन, हालांकि, पूरी तरह से विध्वंसक नहीं होता है। एक सामूहिक संस्था के रूप में इसमें अनेक सजृनात्मक संभावनाएँ होती हैं। अतः अनेक विद्वानों जैसे ब्लूमर ने अनुकूलनात्मक व्यवहार, समस्याओं के समाधान तथा ज्ञान की ओर अभिमुख होने की संभावनाओं के नए चलनों के विकास पर प्रकाश डाला है। 1950 तथा 1960 के दशक में टर्नर तथा किलियन (1957), पार्सन्स (1969) स्मेल्सर तथा अन्य विद्वानों ने सामाजिक आंदोलन को सामूहिक व्यवहार के परिप्रेक्ष्य से देखा था। इस अभिगम में सामाजिक आंदोलनों को गैर-संस्थागत सामूहिक क्रियाओं के रूप में देखा जाता है, जो विद्यमान सामाजिक चलनों द्वारा निर्देशित नहीं होते हैं, जिन्हें अपरिभाषित अथवा असंरचनात्मक स्थितियों का सामना करने के लिए बनाया जाता है तथा जिन्हें या तो सामाजिक नियंत्रण के अथवा आदर्श समकालन के भागों में संरचनात्मक परिवर्तनों के कारण विखंडन के संदर्भ में समझा गया है। इसके परिणामस्वरूप होने वाले तनाव, असंतोष, कुंठाएँ तथा इस स्थिति से उत्पन्न आक्रोश से अंततः कोई व्यक्ति गैर-संस्थागत सामूहिक व्यवहार में भागीदारी के लिए उन्मुख होता है। ये भी बताया गया है कि इस व्यवहार पैटर्न का "जीवन चक्र" होता है, जो स्वायत्त जनसामुदायिक क्रिया से जन तथा सामाजिक आंदोलन के निर्माण की ओर गति करता है (कोहन, 1995 : 671-72; जेमीसन तथा आइरमेन, 1991 : 14)।

पुनः प्रत्येक समाज की सामाजिक आंदोलनों पर अपनी निजी समझ/अनुभूति होती है जो उसकी अपनी सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक परंपरा पर आधारित होती है। उदाहरण के लिए, यूरोप में विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना अमरीकियों से

कुछ भिन्न अर्थ में, अपनी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों तथा बौद्धिक संपदा के आधार पर की। जहाँ अमरीका में यह एक अनुभवजन्य, दृश्यघटना है, वहीं यूरोप में यह सैद्धांतिक रूप से संबद्ध घटना के रूप में विकसित हुआ है। यूरोप में मार्क्सियन सैद्धांतिक पक्ष का व्यापक रूप से अनुसरण किया गया जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में वेबेरियन पक्ष का व्यापक रूप से उपयोग हुआ।

यह महत्वपूर्ण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सत्तावादी शासनों के अतिरिक्त संपूर्ण विश्व भर में "लोकहितकारी राज्य" के दर्शन को व्यापक रूप से अपनाय गया। इस लोकहितकारी राज्य के दर्शन निष्कर्ष के रूप में श्रमिक तथा पूंजीवाद के बीच के संस्थागत विवादों को आधुनिक समाज में वैधानिक सामूहिक सामाजिक व्यवहार के रूप में मान्यता दी गई। आयरमेन तथा जेमीसन (1991) के, अनुसार पश्चिमी यूरोप के सभी देशों में प्रबल, संस्थावादी, सुधारवादी सामाजिक प्रजातांत्रिक श्रमिक आंदोलनों के अस्तित्व में होने से उन तरीकों को प्रभावित किया जिनसे सामाजिक आंदोलनों को समाजविज्ञानियों द्वारा समझा गया था। जैसे-जैसे श्रमिक तथा पूँजीवाद के बीच विवाद सामाजिक प्रजातांत्रिक परंपरा में संस्थागत होता गया, श्रमिक आंदोलन को भी आधुनिक समाजों में संगठित सामूहिक व्यवहांर के रूप में वैधानिक स्थान प्राप्त हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका में सामाजिक आंदोलन प्रतिसिद्धांतवादी ही रहा तथा सामाजिक आंदोलन की अभिव्यक्तियों को उसी रूप में संस्थागत नहीं किया गया। अतः, वहाँ सामाजिक आंदोलन तथा सामाजिक संस्थाओं के बीच अंतर बना रहा; कमोबेश इसी प्रकार का अंतर मूल्यों तथा आदर्शों के बीच भी बन गया है। उदाहरण के लिए, स्मेल्सर सामान्य आंदोलन (सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों में लंबी अवधि का परिवर्तन तथा सोच एवं चेतना में परिवर्तन) तथा सामाजिक आंदोलनों (तत्काल दिखाई पड़ने वाला सामूहिक व्यवहार का उद्‌गार, जिसके कारण लंबी अवधि के परिवर्तन होते हैं) के बीच विभेद करते हैं। अतः वो क्रमशः आदर्शों तथा मूल्यों पर आधारित सामाजिक आंदोलनों के बीच अंतर करते हैं। और उसी के अनुसार, उनके लिए सामाजिक आंदोलन सामान्य आंदोलन की एक दृश्य अभिव्यक्ति थी (आयरमेन तथा जेमीसन, 1991 : 17-18)।

विकासशील देशों में सामाजिक आंदोलनों की विभिन्न सामाजिक राजनीतिक संदर्भों में अभिव्यक्ति की गई है। प्रति औपनिवेशिक (anti colonial), श्रमिक तथा कृषक (Peasant) आंदोलन सामूहिक क्रियाओं के प्रभावी पैटर्न थे साथ ही इन आंदोलनों में व्यापक राजनीतिक लक्ष्यार्थ निहित थे। जहाँ प्रति औपनिवेशिक आंदोलनों का लक्ष्य उपनिवेशी देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त क़राना था, वहीं श्रमिक तथा कृषक आंदोलन इन देशों के दमनकारी पूंजीवादियों तथा जमींदारों के विरुद्ध किए गए थे। यह महत्वपूर्ण है कि प्रति औपनिवेशिक आंदोलन में जनसाधारण की राष्ट्रवादी भावना सबसे प्रभावी बल थीं, वहीं श्रमिक तथा कृषक आंदोलनों का अधिकतर मार्क्सवादी चिंतन के वर्ग संघर्ष के बाद के काल में तब के सोवियत रूस, चीन, वियतनाम तथा क्यूबा के श्रमिक तथा कृषक आंदोलनों की सफलता की कहानियाँ विकासशील देशों में श्रमिक तथा कृषक आंदोलनों के लिए पथप्रदर्शक बन गई। विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों को समाज में राजनीतिक संस्कृति में व्यापक वैधता मिल गई। बढ़ती गरीबी, अशिक्षा, भ्रष्टाचार तथा बढ़ती हुई वर्ग असमानता की अवस्था में जनसंख्या के एक बड़े वर्ग ने विरोध तथा उत्तरजीविता के तरीके के रूप में संगठित सामूहिक क्रिया को स्वीकार कर लिया। हालाँकि इन देशों में सामाजिक राजनीतिक संक्रमण/परिवर्तन, भूमंडलीकर तथा नई आर्थिक व्यवस्था के होने से सामूहिक क्रिया के रूपों में गुणात्मक परिवर्तन हुआ।

ब) 1950 के दशक के अंतिम वर्षों से अनुभूति में परिवर्तन

1950 के दशक के अंतिम वर्षों तथा 1960 के दशक में यूरोप तथा अमरीका की स्थापित सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को अश्वेतों के नागरिक अधिकारों, छात्र, महिला,

शांति, समलिंगी तथा पर्यावरण आंदोलनों के प्रबल विस्फोट से गहरा झटका लगा था। हालांकि, तब तक विद्यमान सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य, इन आंदोलनों की व्याख्या करने में असमर्थ थे जो पूर्व के श्रमिक तथा कार्मिक वर्ग के संगठित आंदोलनों से काफी भिन्न थे। इन भिन्नताओं को व्यापक रूप से सामाजिक संरचना में मौलिक विस्थापन के कारण नए सामाजिक नेताओं तथा श्रेणियों के विकसित होने तथा पश्च-औद्योगिक समाज के आर्विभाव के रूप में देखा गया। "पश्च औद्योगिक आंदोलनों के औद्योगिक समाज से भिन्न नायक, भिन्न संघर्ष के बिंदु तथा भिन्न मुद्दे थे। यहाँ तक कि अनुभूति के स्तर पर भी, इन सामाजिक आंदोलनों ने नई विशिष्टताओं तथा नए विचारों को प्रदर्शित किया। इसलिए, व्याख्या के विद्यमान ढाँचे से परे जाने की आवश्यकता थी।

टूरेन, (1981, 1983) ने इन परिघटनाओं को "नए सामाजिक आंदोलन के रूप में देखा जो नवीन सामाजिक हितों के संभावी वाहक थे।" उनके लिए, यह सामूहिक इच्छाशक्ति की प्रक्रिया के द्वारा था सामाजिक आंदोलन स्वयं को ऐतिहासिक परियोजना वाले सामूहिक नायकों के रूप में पहचानने लगे। यूरोपीय परंपरा ने इन क्रियाओं में नए ज्ञान तथा सामूहिक पहचान निर्माण की प्रक्रिया को खोजने का प्रयास किया। यहाँ सबसे प्रचलित अभिगम सामाजिक आंदोलन को राजनीतिक परियोजनाओं तथा ऐतिहासिक क्रियाओं के वाहक के रूप में विश्लेषित करना है।

अतः यूरोपीय परंपरा में सामाजिक आंदोलन को संरचनाओं तथा लंबी अवधि की प्रक्रियाओं के संदर्भ में देखा गया है। इनमें पुराने सामाजिक आंदोलनों से नए को विभेदित करने के लिए सरोकार है।

यूरोपीय समाजविज्ञानियों के लिए आंदोलन का राजनीतिक अर्थ सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए, एल्बर्टो मेलुकी (1988) सामाजिक आंदोलनों को प्राथमिक प्रतीकात्मक संदर्भों तथा पहचान निर्माण में एक प्रकार के नाट्यशास्त्र के रूप में देखते हैं। सामाजिक आंदोलन शक्ति/सत्ता को दृश्य बना देते हैं, तथा वो समकालीन दैनिक जीवन के प्रभावी अर्थ तंत्रों अथवा प्रतीकों को चुनौती देते हैं। वो सामाजिक आंदोलनों में पहचान के मुद्दों के बारे में व्यापक रूप से चर्चा करते हैं। हम इस मुद्दे पर इस खंड की अगली दो इकाइयों में चर्चा करेंगे।

हालांकि अमरीकी समाजविज्ञानियों ने ज्ञान तथा पहचान को गैर-अनुभूति वस्तुओं के रूप में देखा। उनके लिए सामाजिक आंदोलन के ज्ञान का घटक मुद्दों अथवा विचारधाराओं को प्रदान करता है जिसके इर्द-गिर्द आंदोलन संसाधनों को एकत्रित करता अथवा व्यक्तियों का समाजीकरण करता है।

1960 के दशक के बाद से ही सामूहिक व्यवहार अभिगम को संसाधन लामबंदी करने सिद्धांतवादियों द्वारा आंदोलन संगठन की प्रभाविता पर कुठाराघात करने के लिए विरोध किया जाता रहा है (देखें जाल्ड एवं मैककार्थी, 1987)। सामूहिक व्यवहारवाद के विकल्प के रूप में संसाधन लामबंदी का सिद्धांत अमरीकी चलन में ये पता लगाने के लिए उभरा है कि क्यों कुछ आंदोलन अन्य की तुलना में अधिक सफल रहे हैं। उदाहरण के लिए, टिली (1978) सामूहिक क्रिया को समान हित के लक्ष्य के संदर्भ में देखा जाता है, जो सभी सामाजिक आंदोलनों में प्रारूपिक रूप से पाया जाता है। इस अभिगम का मानना है कि सामूहिक क्रियाएँ विशेष अवसर पर संरचना से संबंधित है। यहाँ मानव क्रिया की तर्कसंगता/औचित्य को महत्व दिया जाता है, जिसमें सामाजिक आंदोलन के भागीदार अपनी भागीदारी क्रिया की कीमत तथा लाभों की सामूहिक लामबंदी में गणना कर लेते हैं। इस अभिगम में सामाजिक आंदोलनों का या तो उद्यमी के सामाजिक संसाधनों की जोड़-तोड़ अथवा लामबंदी में कुशलता के रूप में अथवा सामाजिक तनावों तथा विवादों को दूर करने के माध्यम के रूप में देखा जाता है। अतः नायकों की प्रेरणा/प्रोत्सहन को

उचित आर्थिक क्रिया के रूप में देखा जाता है। हकीकत में, संसाधन लामबंदी सिद्धांत सामाजिक आंदोलनों के उन समूहों की व्याख्या करता है जो अमरीकी सामाजिक यथार्थ का प्रबंधकीय-संदर्भ में दृश्य भाग हैं। यह विरोध नीति की नीतिगत समस्या से संलग्न है (आइबिड; Ibid : 47)।

विकासशील देशों में सामाजिक आंदोलन पारंपरिक रूप से मार्क्सवादी अथवा क्रियात्मवादी परिप्रेक्ष्य से प्रेरित है। हालांकि, नए सामाजिक आंदोलनों का विस्तार, सामूहिक क्रियाओं की नई प्रकार की अभिव्यक्ति, नए संदर्भों में हिंसा का पुनरुत्थान तथा नए प्रकारों की सामूहिक क्रियाओं के होने से इन समाजों में समाज विज्ञानियों, नीति निर्धारकों तथा सामाजिक आंदोलनकारियों में सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में अत्यधिक दिलचस्पी उत्पन्न की है। हालाँकि, इन समाजों के सामाजिक आंदोलनों को निम्नलिखित सैद्धांतिक उपकरणों द्वारा विश्लेषित करने की प्रवृत्ति रही है, जिनका पश्चिमी समाजों में व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।

सोचें और करें 29.1

सामाजिक आंदोलनों से आपका क्या अभिप्राय है? किस प्रकार से पहचान के मुद्दे की सामाजिक आंदोलन के अभिन्न भाग के रूप में अभिव्यक्ति हुई है?

29.3 सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति

सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति पर अनेक विचार पद्धतियाँ हैं। विचार का क्लासीकल/उत्कृष्ट मॉडल जन समुदाय, सामूहिक व्यवहार, हैसियत/स्टेटस की असंगति, बढ़ती महत्वाकांक्षाओं तथा सापेक्ष अभावों के रूपों द्वारा प्रदर्शित होता है।

अ) **जनसमुदाय/समाज** सिद्धांतवादी जैसे कॉर्नहॉसर (1959) का मत है कि मध्यवर्ती संरचना की कमी के कारण जन समाज में आमजन समाज में समाकलित नहीं हो पाते हैं। इसके कारण अलगाव/परायापन, तनाव तथा अंततः सामाजिक विरोध होता है। जन समाज में व्यक्ति एक दूसरे से विभिन्न समूहों आदि के द्वारा नहीं, बल्कि समान प्राधिकरण यानि राज्य के साथ संबंध के द्वारा जुड़े रहते हैं। जन समाज में, स्वतंत्र समूहों तथा संस्थाओं की अनुपस्थिति में व्यक्तियों में अपनी स्वायत्तता पर संकट को दूर करने के लिए संसाधनों की कमी होती है। उनकी अनुपस्थिति में लोगों के पास अपने व्यवहार तथा साथ ही दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए संसाधनों की कमी है। सामाजिक कर्णाभवन से परायपन तथा व्यग्रता की भावनाएँ जन्म लेती हैं, और इसलिए, इन तनावों से बचने के लिए चरम व्यवहार प्रगट होते हैं (कॉर्नहॉसर, 1996 : 92)। यह बताया गया है कि जनसमुदाय को जनता के ऊपर विशिष्ट जनों के शासन द्वारा नियंत्रित किया जाता है। यह प्रजातांत्रिक शासन को विस्थापत कर देता है। इस समाज में व्यक्तियों को सोद्देश्य विघटित तथा व्यक्तिगत रूप से अलग किया जाता है। इस तंत्र में विशिष्ट जनों द्वारा लामबंदी के लिए व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। कॉर्नहॉसर के लिए "परायापन/पृथक्ककरण जन आंदोलनों की अपील/अनुरोध की प्रतिक्रिया को बढ़ावा देते हैं क्योंकि वो मौजूदा स्थिति के विरुद्ध विरोध को व्यक्त करने के लिए अवसर प्रदान करते हैं साथ ही पूर्णतः परिवर्तित समाज का वादा करते हैं। संक्षेप में, जो व्यक्ति विघटित हो जाते हैं वे आसानी से लामबंद हो जाते हैं" (आइबिड : 92)।

ब) **हैसियत/स्टेटस असंगति के सिद्धांत** के समर्थक, जैसे ब्रूम (1959) तथा लेंस्की (1954) का मत है कि व्यक्तियों के श्रेणीकरण तथा स्टेट्स (आयाम जैसे, शिक्षा,

आय, व्यवसाय) के बीच विषयनिष्ठ असंगतियाँ समाज में व्यक्तिनिष्ठ तनावों को उत्पन्न करती हैं जिनके परिणामस्वरूप बोधगम्य विसंगतियाँ, असंतोष तथा विरोध प्रकट होते हैं। इन विचारकों के अनुसार, गंभीर स्टेट्स असंगतियाँ व्यक्तिनिष्ठ तनावों तथा विसंगतियों को जन्म देती है। गेशवेन्डर (1947) के अनुसार स्टेट्स असंगति परिकल्पना द्वारा वर्णित परिस्थितियों का सेट सापेक्ष स्टेटस आयामों के बीच विसंगति की मात्रा के अनुसार विभिन्न प्रबलताओं में विसंगति तथा विसंगति को घटाने वाले व्यवहार उत्पन्न करती है (मैक एडम, 1973 : 136)।

स) **संरचनात्मक तनाव का सिद्धांत** जो स्मेल्सर, लेंग एवं लेंग, टर्नर एवं किलियन द्वारा प्रस्तुत किया गया था, सुझाता है कि कोई भी गंभीर संरचनात्मक तनाव सामाजिक आंदोलनों को अभिव्यक्त करने में सहायक हो सकता है। स्मेल्सर के अनुसार जितना गंभीर तनाव होगा उतनी ही अधिक सामाजिक आंदोलनों की संभावना रहेगी। सामान्य रूप से, ये बहस की जाती है कि सामाजिक आंदोलनों की अभिव्यक्ति के लिए घटनाओं के क्रम होते हैं। ये क्रम समाज में तनाव के कारण संरचनात्मक कमजोरियों से गति करते हैं जिससे मनोवैज्ञानिक विक्षोभ और अंततः सामाजिक आंदोलनों की अभिव्यक्ति होती है। हालांकि संरचनात्मक तनावों के अनेक कारण हैं। व्यक्ति समाज की सामान्य क्रियाशीलता में विघटनं के कारण तनाव का अनुभव करते हैं। ये विघटन औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, प्रवास, बेरोज़गारी के बढ़ने आदि की प्रक्रिया के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। विघटन की मात्रा में बढ़ोत्तरी सामाजिक आंदोलन की अभिव्यक्ति से घनात्मक रूप से संबधित है। इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक परिवर्तन संरचनात्मक तनाव का स्रोत है। सामाजिक परिवर्तन को तनावपूर्ण के रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि यह उस आदर्श क्रम को विघटित करता है जिसमें व्याकुलता, अभिकल्पना तथा शत्रुता की भावनाओं के कारण लोग आदी होते हैं (मैक एडम, 1997)। अतः सामान्य रूप में यह सिद्धांत सामाजिक आंदोलनों को ऐसे तनावों के लिए सामूहिक संबंधों के रूप में देखता है जो गंभीर तनाव पैदा करते हैं। इनके तनाव समुच्चित होकर "चरम" बिंदु पर पहुँच कर सामाजिक आपात स्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं। यह मॉडल तनाव से व्यक्तियों पर होने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभाव पर बल देते हैं ना कि राजनीतिक उद्देश्य की कामना पर (आइबिड)।

इस संदर्भ में यहाँ यह बताना महत्वपूर्ण है कि स्मेलसन ने पाँच अन्य कारकों के साथ-साथ सामान्यीकृत मान्यताओं के महत्व पर जोर दिया है — सरंचनातमक प्रेरणा, संरचनात्मक तनाव, एक अवक्षेपी कारक, क्रिया के लिए भागीदारों की लामबंदी तथा सामाजिक नियंत्रण की विफलता सामूहिक घटना के लिए आवश्यक शर्तें हैं (स्मेलसन वाल्श, 1978 : 156)।

इस प्रकार क्लासीकल उत्कृष्ट मॉडल ने सामाजिक आंदोलनों को संरचनात्मक तनाव की प्रतिक्रिया के रूप में देखा है, इसका सरोकार तनाव के कारण व्यक्ति पर होने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभाव से है तथा यह कि आंदोलन में सामूहिक भागीदारी अविलंब मनोवैज्ञानिक दबाव द्वारा नियंत्रित होती है, ना कि राजनैतिक संरचना को परिवर्तित करने के उद्देश्य से (मैकएडम, डी, 1996 : 135-143)।

द) **सापेक्ष अभाव के सिद्धांत** को सामाजिक आंदोलन के अध्ययन में प्रमुख स्थान प्राप्त है। मार्क्सवादी विश्लेषण में आर्थिक अभाव को दो विरोधी वर्गों में सम्पन्न तथा विपन्न के बीच सामाजिक संघर्ष का प्रमुख कारण माना गया है। ऐबर्ले (1966) के लिए अभाव के अ-भौतिक आधार भी होते हैं जैसे स्टेटस/हैसियत, व्यवहार, संपदा आदि। सापेक्ष अभाव, यानि वैधानिक उम्मीदों तथा यथार्थ स्थिति के बीच असंगतता सामाजिक आंदोलन का केंद्र बिंदु है। गुर्र (1970) ने अभाव को उम्मीदों तथा बोधगम्य क्षमताओं

के बीच अंतराल के रूप में महसूस किया जिसमें मूल्यों के तीन सामान्यीकृत सेट सम्मिलित हैं : आर्थिक स्थितियाँ, राजनीतिक शक्ति तथा सामाजिक स्टेटस (राव, 1982)।

ई) **सांस्कृतिक पुनर्जीवन का सिद्धांत** वैलेस (1956) द्वारा समर्थित इस मत के अनुसार सामाजिक आंदोलन समाज के सदस्यों की सोद्देश्य संगठित तथा चेतन क्रिया की अभिव्यक्ति होते हैं जो स्वयं के लिए अधिक संतोषजनक संस्कृति निर्मित करने के लिए होती है। उनके लिए पुनर्जीवन आंदोलन प्रगति की चार प्राक्स्थाओं से होकर गुजरते हैं : सांस्कृतिक स्थिरता से, सांस्कृतिक विरूपण तथा मोहभंग के लिए अधिक व्यक्तिगत तनाव, सांस्कृतिक पुनर्जीवन।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि तनाव तथा अभाव का कोई भी घटक अकेले तब तक कोई आंदोलन नहीं कर सकता है जब तक अभाव की इन वस्तुपरक स्थितियों के लिए व्यक्तिपरक अनुभूति नहीं होती हैं। सिद्धांतवाद, संगठन तथा नेतृत्व सामाजिक आंदोलनों की अभिव्यक्ति तथा निर्वहन के लिए प्रमुख भूमिका निभाते हैं। हम इन मुद्दों पर इस इकाई के अगले चरण में बताएँगे।

सोचें और करें 29.2

आपने अपने समाज में सामूहिक रूप से अभिव्यक्ति करने वाले अनेक असंतोष देखे होंगे। क्या इन सभी असंतोषों को सामाजिक आंदोलन कहा जा सकता है? इनकी उत्पत्तियाँ क्या हैं?

29.4 सामाजिक आंदोलनों के घटक

एम एस् ओ राव ने भारत में सामाजिक आंदोलनों पर अपने संपादित ग्रंथ में सामाजिक आदोलनों में सिद्धांतवाद, सामूहिक लामबंदी, संगठन तथा नेतृत्व के महत्व पर प्रकाश डाला है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अ) **परंपरावादी घटक : सिद्धांतवाद, लामबंदी, संगठन एवं नेतृत्व**

पारंपरिक रूप से सिद्धांतवाद, सामूहिक लामबंदी, संगठन तथा नेतृत्व की पहचान सामाजिक आंदोलनों के प्रमुख घटकों के रूप में की गई है। सिद्धांतवाद सामाजिक आंदोलन में क्रिया तथा सामूहिक लामबंदी का मूल ढाँचा प्रदान करता है। यह संगठित सामूहिक क्रिया के हित स्पष्ट करने की प्रक्रिया को वैधता भी प्रदान करता है। सामाजिक आंदोलन में सिद्धांतवाद के निरूपण के विभिन्न तरीके हैं। हालाँकि, नए सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में सिद्धांतवाद की भूमिका सूक्ष्म अन्वेषण का विषय है। इस मुद्दे के कुछ पहलुओं के बारे में हम अगली इकाई में चर्चा करेंगे।

यहाँ भी सामूहिक लामबंदी सामाजिक आंदोलन का प्रमुख घटक है। सामाजिक आंदोलन की प्रकृति तथा दिशा व्यापक रूप से सामूहिक लामबंदी की प्रकृति द्वारा आकार लेती है। सामूहिक लामबंदी मूलज (radical), गैर-संस्थागत, स्वायत्त, बड़े स्तर पर हो सकती है अथवा यह अ-हिंसक, संस्थागत, विरल, सीमित हो सकती है। यह मूलज से सुधारवादी अथवा संस्थागत में रूपांतरण की प्रक्रिया से भी गुजर सकती है। जादुई आकर्षण का नित्यक्रमीकरण इसका उदाहरण है।

नेतृत्व तथा संगठन निकट रूप से सामूहिक लामबंदी की प्रक्रिया से जुड़े रहते हैं। नेता कोई चमत्कारित व्यक्तित्व अथवा प्रजातांत्रिक रूप से चुना गया व्यक्ति हो सकता है। नए सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में नेतृत्व, संगठन, सिद्धांतवाद तथा सामूहिक लामबंदी के मुद्दों ने अनेक नए आयाम/विस्तार अर्जित किए हैं।

वर्षों तक, सामाजिक आंदोलनों ने वैधानिक सामाजिक अनुसंधान के क्षेत्र के रूप में क्रियात्मवादी तथा मार्क्सवादी दोनों प्रकारों में सीमांत स्थान पर रहे हैं। क्रियात्मकवादियों के लिए सामाजिक आंदोलन संपूर्णता में संभावी विघटन के स्रोत रहे हैं। यहाँ सामाजिक आंदोलनों को सीमांत स्थिति में रखकर ही "क्रियात्मक सैद्धांतिक तंत्र की अखंडता सुनिश्चित" की जाती थी। दूसरी तरफ, हालांकि मार्क्सवादी विश्लेषण का सरोकार सामाजिक रूपांतरण से है, इसने "वर्गों" को सामाजिक रूपांतरण का एकमात्र एजेंट/कारक माना है। अ-वर्ग आंदोलनों को समीक्षात्मक रूप से देखा जाता है, और कभी-भी इन्हें अवमानना अथवा विरोध के रूप में भी देखा जाता है। (स्काट ए., 1990 : 2)। वर्षों तक, हालाँकि, ये एक क्रम की व्याख्याएँ सामाजिक आंदोलनों की परिघटनाओं के विश्लेषण में अपर्याप्त साबित हुई हैं तथा सामाजिक जिज्ञासा के इस उभरते क्षेत्र में विपुल मात्रा में साहित्य विकसित हुआ है। इन अध्ययनों ने विश्व के विभिन्न भागों से केसों का उपयोग करके सामाजिक आंदोलनों के मुद्दों तथा सक्रियता को समझने के गंभीर प्रयास किए हैं। महत्वपूर्ण रूप से, सामाजिक आंदोलनों की सक्रियाताएँ तथा घटक-सैद्धांतिक विन्यास, संगठनात्मक व्यवस्था, लामबंदी के पैटर्न, नेतृत्व, सामूहिक क्रिया की कुशलता, सामाजिक आंदोलनों में सम्मिलित मुद्दे तथा व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं से उनके संबंध आदि की नए परिप्रेक्ष्यों के साथ सामूहिक लामबंदी की परिघटनाओं की व्याख्या करने के उनके प्रयासों के द्वारा गंभीर रूप से पड़ताल की गई है। अतः समाज विज्ञानियों के इन प्रयासों में न सिर्फ 1960 के दशक तथा उसके बाद उभरने वाले सामाजिक आंदोलनों में "नएपन" की पहचान करने की खोज है बल्कि इन परिघटनाओं में विभिन्न समानता के घटकों का पता लगाने की स्वाभाविक इच्छा भी है।

नेतृत्व तथा संगठन निकट रूप से सामूहिक लामबंदी की प्रक्रिया से जुड़े रहते हैं। नेता कोई चमत्कारित व्यक्तित्व अथवा प्रजातांत्रिक रूप से चुना गया व्यक्ति हो सकता है। नए सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में नेतृत्व, संगठन, सिद्धांतवाद तथा सामूहिक लामबंदी के मुद्दों ने अनेक नए आयाम/विस्तार अर्जित किए हैं।

MADHYAM IAS

महत्वपूर्ण रूप से, सामाजिक आंदोलनों की सक्रियाताएँ तथा घटक-सैद्धांतिक विन्यास, संगठनात्मक व्यवस्था, लामबंदी के पैटर्न, नेतृत्व, सामूहिक क्रिया की कुशलता, सामाजिक आंदोलनों में सम्मिलित मुद्दे तथा व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं से उनके संबंध आदि की नए परिप्रेक्ष्यों के साथ सामूहिक लामबंदी की परिघटनाओं की व्याख्या करने के उनके प्रयासों के द्वारा गंभीर रूप से पड़ताल की गई है। अतः समाज विज्ञानियों के इन प्रयासों में न सिर्फ 1960 के दशक तथा उसके बाद उभरने वाले सामाजिक आंदोलनों में "नएपन" की पहचान करने की खोज है बल्कि इन परिघटनाओं में विभिन्न समानता के घटकों का पता लगाने की स्वाभाविक इच्छा भी है।

ब) नए घटक : नए आदर्श, सामूहिक पहचानें तथा संसाधन

नए सामाजिक आंदोलनों के उभरने से मूल्यों, संस्कृति, वैयक्तिकता, आदर्शवाद, नैतिकता, पहचान, सामर्थ्य आदि के मुद्दों को इन प्रयासों में नई पहचान तथा अतिरिक्त प्रभाविता मिली है। अतः बर्टोक्स (1990) ये जोड़ते हैं कि "वैयक्तिकता" तथा "आदर्शवाद" सामाजिक आंदोलन के अनिवार्य तत्व हैं तथा इन्हें गंभीरता से लिया जाना चाहिए।

इसी प्रकार सामाजिक आंदोलन सामूहिक पहचान तथा नए विचारों का बोध उत्पन्न करने में सहयक होते हैं। मेलुकी ने नए सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में सामूहिक पहचान निर्माण पर जोर दिया है। उनके लिए, सामाजिक आंदोलन नई सामाजिक पहचान के संबंधों के इर्द-गिर्द विकसित होते हैं जो इस पहचान की रक्षा में रहस्यों को "समर्थ बनाने" के लिए स्वैच्छिक रूप से अभिव्यक्त किए जाते हैं (मेलुकी, 1996)। आयरमेन तथा जैमीसन (1991) का दावा है कि "चेतना की स्पष्टता के द्वारा, सामाजिक आंदोलन नए

विचारों को उत्पन्न करने के लिए जन स्थानों को प्रदान करते हैं, नए नायकों को सक्रिय करते हैं, और नए विचारों को उत्पन्न करते हैं (1991 : 161-166)। हेगेडस (1990) के लिए किसी क्रिया में सम्मिलित होना चेतना तथा भावना का तथा जिम्मेदारी का मसला है (1990 : 266)।

हालांकि सामाजिक आंदोलनों में भागीदारी सदैव आवश्यक रूप से पहचान की ललक के लिए ही नहीं होती है; बल्कि ये राजनीतिक तथा भौतिक हितों की तुष्टि के लिए भी हो सकती है। टिली, (1978ए) : मैकएडम (1982), टेरो, (1994) तथा कई अन्य का ये मत है कि सामाजिक आंदोलनों की अभिव्यक्ति प्रभावी राजनीतिक अवसरों में वृद्धि तथा राज्य की चुनौती देने वाले समूहों की गतिविधियों के लिए बढ़ती स्वीकार्यता की प्रतिक्रिया स्वरूप होती है। सामान्य रूप से, ये विद्वान सामाजिक आंदोलनों की अभिव्यक्ति तथा क्रियान्वयन में सम्मिलित विभिन्न संसाधनों पर जोर देते हैं। उदाहरण को लिए, टिल्ली (1978ए) सामूहिक क्रिया को समान हित के लक्ष्य के संदर्भ में देखते हैं, जो सामाजिक आंदोलनों के लिए प्रारूपिक है। यह अभिगम, जो संसाधन लामबंदी कहलाता है, मानता है कि सामूहिक क्रियाएँ विशिष्ट अवसर संरचनाओं से संबंधित होती हैं। यहाँ महत्व मानव क्रिया के औचित्य को दिया जाता है, जहाँ सामाजिक आंदोलन के भागीदार सामूहिक लामबंदी में अपनी भागीदारी क्रिया की कीमत तथा लाभों की गणना कर लेते हैं। इस अभिगम में सामाजिक आंदोलनों को या तो सामाजिक संसाधनों की जोड़तोड़ अथवा लामबंदी में उद्यमियों की कुशलता के निर्माण में अथवा सामाजिक तनावों तथा विरोधों को दूर करने के माध्यम के रूप में देखा जाता है। अतः नायकों की प्रेरणा/प्रोत्साहन को उचित आर्थिक क्रिया के रूप में देखा जाता है। संसाधन लामबंदी सिद्धांत, वास्तव में, सामाजिक आंदोलनों के उन सेटों की व्याख्या करता है जो प्रबंधन के संदर्भों में अमरीकी सामाजिक वास्तविकता के दृश्य भाग हैं। यह विरोध नीति की नीतिगत समस्या से संबद्ध है (47)।

सोचें और करें 29.3

सामाजिक आंदोलनों में पहचान तथा सिद्धांतवाद के औचित्य का विश्लेषण करिए।

MAADHYAM IAS

29.5 सामाजिक आंदोलनों का रूपांतरण

प्रत्येक सामाजिक आंदोलन का जीवन इतिहास होता है तथा वह रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजरता है। आंदोलन नित्यक्रियात्मक हो सकता है साथ ही आंदोलन के समर्थन में कमी आ सकती है। (क्लार्क, ग्रेसन एवं ग्रेसन, 1975 : 19)। आंदोलन के रूपांतरण की यह प्रक्रिया वाकई संदर्भित है तथा नीति एवं आर्थिक विशिष्टता को संवर्धित करती है। जाल्ड ने सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण का तुलनात्मक ढाँचे में अध्ययन किया था। उन्होंने पाया कि संयुक्त राष्ट्र एवं पश्चिमी यूरोप में सामाजिक आंदोलनों की रूपांतरण की प्रक्रिया सुधारवादी रूख की है जबकि पूर्वी यूरोप के सामाजिक आंदोलन ने स्वयं को शासन की चुनौतियों में रूपांतरित कर लिया (जाल्ड, 1988 : 19-24)। विकसित समाजों में यह देखा गया कि शासन तथा शक्तिशाली समूहों के प्रचलित विरोध की साझी संस्कृति के अभाव में, जड़ों से जुड़ी संगठनात्मक संरचना की अनुपस्थिति में, अपारंपरिक तरीकों के लिए स्थान के अभाव तथा राज्य द्वारा विरोधियों तथा आलोचकों के संभावित सहयोजन के कारण, सामूहिक लामबंदी लंबे समय तक नहीं रह पाई (ऑबशरशैल, 1978; गैमसन, 1975; वाल्श, 1978)। यहाँ अधिकतर सामाजिक आंदोलन संस्थागत प्रकृति के हैं।

राज्य के संस्थागत संदर्भ के ढाँचे में से "राष्ट्रीय सामाजिक आंदोलन" के आर्विभाव से, जैसा कि टिल्ली (1998) द्वारा कहा गया है, "एक सामाजिक आंदोलन ना तो पार्टी और

न ही संगठन होता है बल्कि एक राजनीतिक अभियान होता है जिसे हम सामाजिक आंदोलन कहते हैं वह वास्तव में सामाजिक श्रेणीकरण के नाम पर सत्ताधारियों से माँगों तथा चुनौतियों का क्रम होता है, जिसमें स्थापित राजनीतिक स्थिति का अभाव होता है (टिली 1985 : 735-36)।

जैसा कि पहले बताया गया है परिवर्तन के लिए सिद्धांतवाद, संगठन, नेतृत्व, व्यक्तिवाद, आदर्शवाद अभिविन्यास, सामाजिक आंदोलनों के महत्वपूर्ण घटक हैं तथा निकट रूप से सामूहिक लामबंदी तथा नई पहचान निर्माण की प्रक्रिया से संबद्ध हैं। इन घटकों के रूप में परिवर्तन सामाजिक आंदोलनों के गुणों में अत्यधिक बदलाव ले आता है और उसी के अनुसार सामाजिक आंदोलनों का श्रेणीकरण किया जा सकता है। पी.एन मुखर्जी (1979) ने सामाजिक आंदोलन का "क्रांतिकारी आंदोलन" तथा "क्वासी आंदोलन" में श्रेणीकरण किया जो सामूहिक लामबंदी की प्रक्रिया के द्वारा प्रेरित परिवर्तन की प्रकृति तथा दिशा पर आधारित है। उनके अनुसार, जब सामूहिक लामबंदी का उद्देश्य किसी तंत्र में व्यापक तथा दूरगामी परिवर्तनों को करना हो तो उसे क्रांतिकारी आंदोलन कहा जा सकता है और जब उसका उद्देश्य सिर्फ प्रणाली के अंदर परिवर्तन करना हो तो उसे क्वासी आंदोलन कहा जा सकता है। विभिन्न सामाजिक आंदोलनों के जीवन चक्र का निरीक्षण करने वाले समाजविज्ञानी कहते हैं कि जल्दी अथवा देर से ही सामाजिक आंदोलन नित्यक्रियात्मक हो जाते हैं। अक्सर विरोध आंदोलन की शुरुआत एक व्यवस्थित विचार पद्धति से होती है लेकिन समय के साथ वह अपनी व्यवस्था विकसित कर लेता है। राव (1985) के लिए, जब एक निश्चित विचार पद्धति वाला आंदोलन सुस्थापित राजनीतिक दल बन जाता है, तो उसका आंदोलन होना रूक जाता है (1985 : 25)। सिंघाराय (1992) बताते हैं कि "भारतीय संदर्भ में सामाजिक आंदोलनों को विश्लेषित करने का कोई भी प्रयास पहले के आंदोलनों की गतिकी को परिलक्षित करता है क्योंकि इन आंदोलनों के रूपांतरण पृथक नहीं थे। बल्कि, विचारधारा का पुनर्विन्यास तथा उन आंदोलनों के संगठन सामूहिक लामबंदी के साथ एक अथवा दूसरे रूप में जुड़े रहते हैं। अतः समय के साथ लामबंदी के संस्थागत हो जाने की प्रक्रिया होती है। टी.के. ओमेन (1994) बताते हैं कि लामबंदी तथा संस्थागत होने की प्रक्रियाएँ साथ-साथ हो सकती हैं, तथा "संस्थगत होना लामबंदी की नई संभावनाओं को प्रदान करता है।" उनके अनुसार, संस्थागत होने तथा लामबंदी की प्रक्रियाओं को अनिवार्य रूप से आंदोलन की दो भिन्न प्रावस्थाओं की तरह देखा जाना चाहिए "ना कि दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं की तरह.... ।" अंतिम विश्लेषण के रूप में लामबंदी को संस्थागत होने के द्वारा विस्थापित नहीं किया जा सकता है बल्कि ये दोनों काफी हद तक साथ-साथ चलती हैं तथा अक्सर बाद वाली प्रक्रिया पहले वाली को विशिष्टीकृत करती हैं (ओमेन 1994 : 251-53)। (हम इस मुद्दे की इकाई 32 में पुनः चर्चा करेंगे)

ओमेन (1984) के अनुसार संस्थागत होने की प्रक्रिया का अर्थ "विभेदी व्यवहार का सामाजिक रूप से प्रस्तावित तंत्र जो अपेक्षाकृत स्थायी परस्पर क्रिया पैटर्न पर आधारित होता है, सामाजिक रूप से मान्य मूल्यों, आदर्शों, भूमिकाओं तथा चलनों पर टिका रहता है।" सामूहिक लामबंदी के संस्थागत किए जाने की प्रक्रिया में संस्थागत उद्यमियों की भूमिका पर जोर देते हैं। वे हालाँकि ऐसे उद्यमियों की संस्थागत भूमिका में विरोधाभास को देखते हैं, चूँकि सभी आगे बढ़कर पहल करने को तैयार नहीं होते हैं। अतः उनके लिए लामबंदी का संस्थागत होना नौकरशाहीकरण, औपचारिकीकरण तथा यथापूर्व स्थिति की ओर नहीं ले जाता है। बल्कि ये अपने साथ परिवर्तन की संभावनाएँ लेकर आता है, क्योंकि इसके द्वारा उत्पन्न मूल्य-विरोध से अंततः विवादी सामूहिकताओं के बीच मतभेद हो जाते हैं जो निरंतर परिवर्तन की संभावनाएँ प्रदान करता है" (ओमेन 1984 : 234-35)। केरल में हुए भूमि संबंधी श्रमिक आंदोलन के अपने अध्ययनों में उन्होंने प्रकाश डाला कि ऐसा आंदोलन संगठन जिसमें आकर्षण का नित्यीकरण, नौकरशाही संरचना का विकास,

समानांतर संभ्रांत वर्ग का आविर्भाव, लामबंदी का उस उद्देश्य से परे बने रहना जिसके लिए वह विकसित हुई, से आवश्यक रूप से सामाजिक आंदोलन का संस्थाईकरण हो जाता है। वो तर्क करते हैं कि "सामाजिक आंदोलन के शुरू होने पर भी उसके संस्थागत हो जाने की कोई वंशागत प्रवृत्ति नहीं होती है, यह आवश्यक रूप से लामबंदी की प्रक्रिया को रोकता अथवा कम भी नहीं करता है, जो आंदोलन की उत्तरजीविता के लिए इतनी मौलिक तथा महत्वपूर्ण होती है।" उनके लिए लामबंदी का अर्थ सामूहिक क्रिया से है जो राजनीति की गुणवत्ता को प्रभावित करती है। यह "तंत्र में नई चुनौतियों को पूरा करने के लिए नई संरचना के अधिष्ठापन की माँग करती है।" यानि लामबंदी नई संस्थाओं के उत्पन्न होने तथा उनके संस्थागत होने की आवश्यकता को बताती है।" वो ये भी पाते हैं कि लामबंदी एक सतत् प्रक्रिया है जिसकी मात्रा तथा प्रबलता समय के साथ परिवर्तित होती रहती है (ओमेन 1984 : 238)।

भारत में सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण के मुददों का अध्ययन करते समय बिपिन चन्द्रा (1946) द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में किए गए निरीक्षणों का उल्लेख करना उपयुक्त है। उन्होंने प्रकाश डाला कि इस आंदोलन ने अपनी पूरी शक्ति युद्ध प्रियता तथा जनता की स्व-बलिदान की भावना से प्राप्त की; जिसमें किसानों तथा छोटे भू-स्वामियों का बड़ा वर्ग भी सम्मिलित है। इस आंदोलन की नीति युद्ध-विराम –– संघर्ष-युद्धविराम को अपनाती हैं, जिसमें न्यायेतर/विधि बाह्य जन आंदोलनों की प्रावस्थाएँ अधिक निष्क्रिय प्रावस्थाओं के साथ संकांतरित होती हैं जो विधि सम्मत सीमाओं में चलता है। चंद्रा के लिए, गाँधी की इस नीति में सहयोगी बने बगैर संवैधानिक स्थान का उपयोग करने की तथा जनसमूह के साथ संपर्क बनाए रखने की तथा उनकी सृजनात्मक ऊर्जाओं को अवशोषित करने की क्षमता थी। चंद्रा के अनुसार यह नीति, ग्रैम्स्की द्वारा पेश की गई सत्ता के लिए युद्ध नीति के काफी समान थी। ग्रैम्स्की ने भारत के अंग्रेजों के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष को युद्ध के तीन प्रकारों से युक्त पाया : आंदोलन का युद्ध, सत्ता/पद का युद्ध तथा भूमिगत युद्ध। गाँधी का निष्क्रिय प्रतिरोध सत्ता/पद का युद्ध था, जो कुछ आंदोलनों में आंदोलन का युद्ध बन गया तथा अन्य में भूमिगत युद्ध बन गया। बहिष्कार सत्ता के लिए युद्ध का प्रकार है, जबकि हड़ताल आंदोलन के युद्ध का वहीं हथियारों का गुप्त रूप से निर्मित होना तथा लड़ाकू टुकड़ियाँ भूमिगत युद्ध से संबंधित है (गैम्स्की 1996 : 23)। (1998)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पद/सत्ता के युद्ध की नीति अपनायी, जिसके दो मूल प्रक्षेप/अस्त्र थे। यह प्रभुत्व संबंधी था तथा यह न्यायेतर जन संघर्ष तथा न्यायिक रूप से क्रियाशील युद्धविराम की प्रावस्थाओं के बीच एकांतरित होता रहता था। यह "युद्धविराम-संघर्ष-युद्धविराम" की पूरी प्रक्रिया ऊपर की ओर सर्पिल रूप से बढ़ती थी, इसका ये भी मानना था कि स्वतंत्रता संग्राम अनेक अवस्थाओं से गुजरा था जिसका अंत उपनिवेशी शासन द्वारा सत्ता के स्थानांतरण के साथ हुआ (चंद्रा 1996 : 26-9)।

भारत विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों, सुधार आंदोलनों, स्वतंत्रता आंदोलन, जनजातीय, कृषक, दलित, शहरी जागरूक वर्ग, महिलाओं का, परिस्थितिकीय तथा पर्यावरणीय, धार्मिक, जातिगत, भाषायी, शांति, युवा एवं छात्र तथा अन्य विविध पहचान के आंदोलनों की उर्वर भूमि है। भारत में इन आंदोलनों के अध्ययन में अनेक महत्वपूर्ण परिदृश्य उभरे हैं। पार्थनाथ मुखर्जी का यह मत है कि सामाजिक आंदोलन तथा सामाजिक परिवर्तन (अथवा परिवर्तन के लिए प्रतिरोध) के बीच संबंध निर्विवाद है, इसको न मानना आंदोलनों के किसी भी विश्लेषण के प्रमुख बिंदु से ध्यान हटाना है। इसके चार मौलिक आधार हैं (मुखर्जी 1977 : 38)।

1) सामाजिक आंदोलन अनिवार्य रूप से सामाजिक परिवर्तन और इसलिए सामाजिक संरचना से संबंधित है। इसका ये अर्थ नहीं है कि सामाजिक आंदोलन सामाजिक

परिवर्तन की अनिवार्य शर्त है, सामाजिक परिवर्तन सामाजिक आदोंलनों से मुक्त रूप से अव्यक्तिक बलों तथा कारकों के क्रियान्वयन के द्वारा भी हो सकता है। इसका ये अर्थ नहीं है कि यह परिवर्तन प्रतिरोधी है।

2) सामाजिक आंदोलन सामाजिक संरचना के उत्पाद हैं और इसलिए सामाजिक संरचना में कुछ स्थितियों के कारण उभरते हैं।

3) सामाजिक आंदोलनों की स्वयं एक अभिज्ञेय संरचना होती है जिसके संदर्भ में ये अपने लक्ष्यों के सापेक्ष क्रियाशील रहते हैं।

4) सामाजिक आंदोलन उस सामाजिक संरचना के परिणाम है जिसके ये उत्पाद हैं।

इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तनों को निम्नलिखित संदर्भों में देखना चाहिए :

1) ऐसे परिवर्तन जो दी गई संरचना(ओं) में होते हैं;

2) अतिरिक्त संरचना(ओं) के उभरने से होने वाले परिवर्तन;

3) ऐसे परिवर्तन जो विद्यमान संरचना(ओं) के वैकल्पिक संरचना(ओं) द्वारा विस्थापन के फलस्वरूप होते हैं।

कोई भी क्रिया के लिए सामूहिक लामबंदी स्पष्ट रूप से किसी तंत्र की संरचनाओं के परिवर्तन अथवा रूपांतरण की ओर अभिमुख होती है (अथवा किसी तंत्र में परिवर्तन अथवा रूपांतरण के लिए स्पष्ट खतरा होती है), जिसे उचित रूप से एक सामाजिक आंदोलन के रूप में समझा जा सकता है। जब सामूहिक लामबंदी का उद्देश्य किसी प्रमुख संस्थागत तंत्र में व्यापक तथा दूरगामी परिवर्तन करना होता है जिसमें पूरा समाज निहित होता है, तो हम उसे उचित रूप से क्रांतिकारी आंदोलन कहते हैं। किसीतंत्र के भीतर परिवर्तनों के उद्देश्य से होने वाले सामूहिक आंदोलन क्वासी आंदोलन कहलाते हैं। ऐसे परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश तथा औचित्य आंदोलन की विचारधारा द्वारा प्रदान किया जाता है। अतः भले ही प्रचुर मात्रा में आंदोलन हुए हों लेकिन इनमें सामाजिक आंदोलन अधिक नहीं है — अधिकांश क्वासी आंदोलन हैं और बहुत कम ही क्रांतिकारी आंदोलन है। हालाँकि क्रांतिकारी आंदोलन को संभवतः क्रांतिकारी आंदोलन के रूप में परिपक्व होने से पहले कासी तथा सामाजिक आंदोलनों की अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है।

देबल सिंघाराय (1992) ने कृषक आंदोलनों के रूपांतरण के अध्ययन के लिए एक विश्लेषणात्मक ढाँचा सुझाया है जिसमें कृषक आंदोलनों को उनकी विचारधारा के अभिविन्यास, लामबंदी के प्रकार तथा परिवर्तन के लिए अभिविन्यास के संदर्भ में श्रेणीबद्ध किया गया है। इस ढाँचे में कृषक आंदोलन को गरीब किसानों (गुजर बसर करने वाले किसानों तथा छोटे उत्पादकों) तथा कृषि श्रमिक वर्ग (कृषि मजदूरों, काश्तकारों, साझा खेती करने वालों तथा कारीगरों) द्वारा नई सामूहिक पहचान निर्माण की प्रक्रिया द्वारा भूमि के स्वामित्व, नियंत्रण तथा उपयोग के पैटर्न में परिवर्तन लाने, कृषि उत्पादों की मजदूरी में हिस्सेदारी, भूसंपत्ति की जमानत तथा संस्थागत सहायता तंत्र तथा समाज की अन्य सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाएँ जिन्होंने लंबे समय तक उनका दमन किया था, के विरुद्ध एक संगठित प्रयास के रूप में देखा गया है। इन कृषक आंदोलनों को उनकी सक्रियता को विश्लेषित करने के लिए पुनः "मूलज" तथा सुधारवादी के रूप में श्रेणीबद्ध किया गया है। "मूलज" कृषक आंदोलन को एक गैर-संस्थागत व्यापक सामूहिक लामबंदी के रूप में देखा जाता है, जो तीव्र सामाजिक परिवतर्न के लिए मूलज-विचारधारा द्वारा आरंभ तथा निर्देशित होता है। यह भूमिहर समाज में संरचनात्मक परिवर्तन की ओर अभिमुख होता है। व्यापक आर्थिक निरूपण के आधार पर तथा दिए गए सामाजिक आर्थिक संदर्भ में मूलज आंदोलन का जीवनकाल विविध होता है, उनकी क्रिया तथा

सामूहिक लामबंदी का काल अल्पजीवी न होकर व्यापक अवधि का होता है। दूसरी तरफ, "सुधारवादी कृषक आंदोलन, वह है जिसमें संस्थागत सामूहिक लामबंदी मान्यता प्राप्त संस्थाओं द्वारा प्रेरणा लेकर समाज की किसी चयनित संस्थागत व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन करती है। सामाजिक परिवर्तन का सुधारवादी रूपांतरित विचारधारा द्वारा निर्देशित सामूहिक लामबंदी के क्रम में ये आंदोलन संस्था, मूल्य, आदर्श तथा चलनों को नए संदर्भ में चयनित रूप से परिष्कृत रूप में पा लेते हैं। हालांकि, कृषक आंदोलन विविक्त रूप से मूलज अथवा सुधारवादी नहीं होते हैं; बल्कि एक समय के साथ परिवर्तित होकर दूसरे में विस्तारित हो सकता है (सिंघाराय 1992 : 27)। इस अध्ययन के क्रम में यह देखा गया है कि इन आंदोलनों की "मूलज" से "सुधारवादी" में रूपांतरण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष रूप से कृषक की नई सामूहिक पहचान निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

हम इन परिप्रेक्ष्यों का विस्तार से इस खंड की आगामी इकाइयों में परीक्षण करेंगे।

सोचें और करें 29.4

अपने अनुभव से अथवा सूचनाओं के द्वितीयक स्रोत के आधार पर सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण का जीवन इतिहास लगभग 500 शब्दों में लिखिए। अपने लेख की चर्चा अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ करिए।

29.6 निष्कर्ष

इस खंड की इस परिचायक इकाई में हमने चर्चा के लिए कुछ मुद्दों को उठाया है, जिनके बारे में खंड की शेष तीन इकाइयों में बताया जाएगा। प्रारंभ में हमने सामाजिक आंदोलनों के अर्थ तथा आयामों को स्पष्ट कर दिया है। यहाँ सामाजिक आंदोलनों की संकल्पनात्मकता के रूपांतरण के तरीकों, 1950 के दशक के अंतिम वर्षों से इस तरीके में विस्थापन, नए सामाजिक आंदोलनों का आविर्भाव, यूरोपीय, अमरीकी तथा भारतीय सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन के अभिविन्यास की यहाँ चर्चा की गई है। हमने सामाजिक आंदोलनों के मुद्दों, उत्पत्ति तथा प्रमुख घटकों का भी परीक्षण यहाँ किया है। भारत में सामजिक आंदोलन अध्ययनों पर एक संक्षिप्त परिचर्चा भी इस खंड में प्रस्तुत की गई है।

MAADHYAM IAS

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

शाह, जी. (सं.), 2004. *सोशियल मूवमेंट,* सेज पब्लिकेशन : नई दिल्ली

सिंघाराय, डी.के. 2004. *पिजेंट मूवमेंट इन पोस्ट कोलोनियन इंडिया : डायनामिक ऑफ मोबीलाइजेशन एंड आइडेंटिटी,* सेज पब्लिकेशन : नई दिल्ली

सिंह, आर. 2003 *सोशियल मूवमेंट, ओल्ड एंड न्यू,* सेज पब्लिकेशन : नई दिल्ली

इकाई 30

सामाजिक आंदोलन के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

30.1 प्रस्तावना

30.2 सामाजिक संघर्ष की प्रकृति

30.3 सामाजिक संघर्षों के प्रकार

30.4 सामाजिक आंदोलनों की बहुरूपता तथा वर्गीकरण की समस्या

30.5 सामाजिक आंदोलनों का प्रारूप विकसित करना

30.6 प्राचीन तथा नवीन प्रकार के आंदोलन

30.7 निष्कर्ष

30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

सामाजिक आंदोलनों के प्रकारों पर इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

- सामाजिक संघर्ष की प्रकृति का वर्णन कर सकेंगे;
- सामाजिक संघर्षों के प्रकारों की व्याख्या कर सकेंगे;
- सामाजिक आंदोलनों की बहुरूपता तथा वर्गीकरण की समस्या की चर्चा कर सकेंगे;
- सामाजिक आंदोलनों की प्रारूपता विकसित कर सकेंगे, तथा
- प्राचीन तथा नवीन प्रकारों के सामाजिक आंदोलनों के बीच विभेद कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

30.1 प्रस्तावना

यह वांछित है कि "सामाजिक आंदोलनों के प्रकारों" पर अपनी चर्चा आरंभ करने अथवा आंदोलनों की प्ररूपता को विकसित करने की कोशिश से पहले, इसकी संकल्पनात्मक पृष्ठभूमि के बारे में कुछ प्रारंभिक व्याख्या प्रस्तुत की जाए। सामाजिक आंदोलन सामूहिक क्रिया का एक प्रकार हैं। सामूहिक क्रिया का अर्थ व्यक्तियों के समूह की लामबंदी से है जो अपने प्रयासों से, जिनमें कुछ सामूहिक साझेदारी वाले लक्ष्य अथवा मूल्यों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष तथा प्रयास सम्मिलित हैं जो समाज के लिए महत्वपूर्ण है। ये समझा जा सकता है कि सामूहिक क्रियाएँ संघर्ष के किसी घटक के बगैर सहमति तथा सहयोगात्मक हो सकते हैं। आप व्यक्तियों के समूह के सहयोगात्मक प्रयासों द्वारा किसी समारोह अथवा त्यौहार के अवसर की विशाल सफलता को सोच सकते हैं। ये सहमति तथा अ-संघर्षशील सामूहिक क्रियाओं के उदाहरण हैं। सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में, यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि हम सिर्फ संघर्षात्मक सामूहिक क्रियाओं के बारे में बात कर रहे हैं। नील स्मेल्सर उन्हें "क्रियाओं के लिए गैर-संस्थागत लामबंदी कहते हैं" (1962 : 71)। संघर्षात्मक गैर-संस्थागत सामूहिक क्रियाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। ये घटनात्मक अल्पजीवी, नायकविहीन तथा असंगठित सामूहिक विस्फोट से लेकर कभी-कभी आक्रामक प्रकृति का राहगीरों की भीड़ का अप्रत्याशित समूहन अथवा क्रमबद्ध रूपसे

संगठित जिसमें कुछ मात्रा में समझ योग्य संरचना होती हैं साथ ही नेतृत्व तथा संप्रेषण कुछ सामाजिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं के लिए अथवा उनके विरुद्ध संघर्ष अथवा ऐसे निश्चित कुछ लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हो सकता है जो समुदाय अथवा समाज के लिए महत्वपूर्ण हों।

हमें यह याद कर लेना चाहिए कि हालांकि सभी सामाजिक आंदोलनों में संघर्ष के कुछ घटक होते हैं, लेकिन सभी प्रकार की संघर्षात्मक सामूहिक क्रियाओं को सामाजिक आंदोलन नहीं माना जा सकता है। सामाजिक विज्ञान में, संघर्षात्मक सामूहिक क्रियाओं के विभिन्न प्रकारों के कुछ विशिष्ट संकल्पनात्मक अर्थ होते हैं। सामूहिक क्रिया जैसे दंगे, विद्रोह, बगावत तथा क्रांति में संघर्ष के घटक होते हैं, जिसमें हिंसा का घटक सम्मिलित है। पाठकों को सलाह दी जाती है कि वो इन विभिन्न प्रकार की सामूहिक क्रिया के बारे में संकल्पनात्मक स्पष्टता विषय पर प्रासंगिक साहित्य से प्राप्त कर लेनी चाहिए (जैसे राजेंद्र सिंह 2001 : 32-37)। संघर्ष, जैसा कि पाठक समझ सकते हैं, प्रमुख घटक होते हैं जो गैर-संस्थागत असहमति की तथा संघर्षात्मक सामूहिक क्रिया के केंद्र में स्थित होते हैं। तथा सामूहिक क्रिया के इन प्रकारों में सामजिक आंदोलनों की संकल्पना भी सम्मिलित है। अतः, सामाजिक संघर्ष की प्रकृति तथा प्रकारों पर संक्षिप्त विश्लेषणात्मक चर्चा अनिवार्य हो जाती है।

30.2 सामाजिक संघर्ष की प्रकृति

सामाजिक संघर्ष अनिवार्य रूप से एक परस्पर-क्रियात्मक संकल्पना है। यह पहले से ही हो या अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों, समुदायों तथा वर्गों के अस्तित्व को कुछ मुद्दों, लक्ष्यों तथा उद्देश्यों के बारे में विरोधी दावों अथवा संघर्षों की स्थिति में मानती है। विपरीत संकल्पना के रूप में संघर्ष में सदैव कुछ मूल्यों, उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों के लिए एक समूह के संधर्ष, मशक्कत तथा सक्रिय प्रयास दूसरे समूह के दावों को रद्द करने के लिए सम्मिलित रहते हैं। संघर्ष हल्की सी असहमति से लेकर जघन्य हमले अथवा हत्या तक भिन्न हो सकते हैं। यहाँ पर कुछ बिंदुओं पर महत्व देने की आवश्यकता है। पहला, महज विवादों/संघर्षों का होना सामूहिक क्रिया के अस्तितव का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता है। तथा सभी प्रकार की सामूहिक क्रियाओं में संघर्ष सम्मिलित नहीं होता है। दूसरे, आदर्श अभिमुख संस्थागत सामूहिक क्रियाएँ जैसे सामूहिक प्रयासों से किसी त्यौहार के अवसर को सफल बनाना अथवा किसी समारोह को सामूहिक रूप से मनाए जाने के उदाहरण अथवा किसी धार्मिक अनुष्ठान को करने में संघर्ष का घटक नहीं होता है।

जैसा कि कोई आसानी से समझ सकता है कि गैर-संस्थागत संघर्षों सामूहिक क्रिया के अध्ययन में, आपको वैयक्तिक प्रकार के संघर्षों को जैसे कि कोई अपने दैनिक जीवन में माता-पिता तथा बच्चे के बीच अथवा पति-पत्नी के बीच देखता है अथवा पड़ोसियों के बीच मतभेदों तथा विवादों को अलग कर देना चाहिए। वैयक्तिक विवाद/संघर्ष हमारे अध्ययन क्षेत्र में नहीं है। लेकिन स्वायत्व रूप से अथवा संगठित तरीके से विरोध तथा एक समूह की दूसरे समूह अथवा संस्था के विरुद्ध हिंसा, अथवा किसी सामाजिक परंपरा के विरुद्ध सामूहिक रूप से जनसमूह का नारे लगाना, शोषण के विरुद्ध मोर्चा निकालना, अथवा किसी जाति, वर्ग, लिंग अथवा संस्थागत सत्ता द्वारा अनैतिक शक्ति का उपयोग सामूहिक संघर्ष की प्रकृति को विशेषित करते हैं। कुछ उदाहरणों जैसे जमींदारों के संपन्न वर्ग के विरुद्ध गाँवों में किसानों के भूमि पर स्वामित्व तथा नियंत्रण के लिए विद्रोह अथवा "धरना " देना, कारखानों में मजदूरों द्वारा वेतन बढ़ाने, बोनस, बेहतर कार्य स्थितियों, जिनमें पूंजीवादियों के विरुद्ध निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी आदि का उदाहरण आसानी से दिया जा सकता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों की तरह ही किसानों की राज्य के विरुद्ध कम कीमत पर बिजली उपलब्ध कराने के लिए तथा रासायनिक खाद के लिए अथवा

अपने कृषि उत्पादों जैसे अनाजों तथा सब्जियों आदि की बिक्री के लिए हड़ताल को भी समाज में सामूहिक संघर्ष के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

संघर्ष तब भी होते हैं जब व्यक्तियों का एक समूह मूल्यों तथा वस्तुओं पर एकनिष्ठ रूप से प्राप्ति करने और उसे बनाए रखने के लिए दूसरे समूह द्वारा समान मूल्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के अवसरों को खत्म करने की कोशिश करता है। एक समूह द्वारा दूसरे समूह को उनकी इच्छा के विरुद्ध सामाजिक मूल्यों से वंचित करने के प्रयासों में भी सदैव संघर्ष होने की संभावना रहती है। लुइस कोसर ने उचित ही रूप से संघर्ष को ऐसे "संग्राम के रूप में परिभाषित किया है जिसमें उद्देश्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के साथ-साथ विरोधियों को निष्क्रिय करने, क्षति पहुँचाने अथवा नष्ट करने का होता है" (1956 : 8)। संघर्ष सदैव एक विपरीतात्मक संकल्पना होता है जिसमें व्यक्तियों के कम से कम दो ऐसे समूहों के बीच विवाद तथा तनाव सम्मिलित होता है जो एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

सामाजिक संघर्ष समांग परिघटना नहीं होते हैं। उनकी विभिन्न श्रेणियों तथा प्रकारों में विभक्त होने तथा विभिन्न रूप लेने की प्रकृति होती है। चूँकि संघर्ष विरोधी सामूहिक क्रियाओं तथा उनके प्ररूपों के केंद्र में स्थित होते हैं, जैसा कि हम नीचे देखेंगे, ये कभी-कभी सामाजिक आंदोलनों के प्ररूप विज्ञान के अनुरूप होते हैं, ये उपयुक्त होगा कि सामाजिक आंदोलन के प्ररूप विज्ञान की चर्चा करने से पहले हम सामाजिक संघर्षों के प्ररूप विज्ञान पर संक्षिप्त चर्चा कर लें।

30.3 सामाजिक संघर्षों के प्रकार

सामाजिक आंदोलन संघर्षों की अभिव्यक्ति होते हैं। संघर्ष में स्पष्ट रूप से विरोधी को "शत्रु" अथवा विपक्षी माना जाता है। (ऐलन टूरीन 1985 : 750-80) के अनुसार सभी संघर्षों में (ए) संगठित नायक, (बी) मूल्यों अथवा आकांक्षाओं के दावा/जोखिम तथा (सी) नायकों के बीच उन जोखिमों/दावों को प्राप्त करने के लिए विवाद तथा प्रतिस्पर्धा होते हैं। संघर्ष की संकल्पना की संरचना की पृष्ठभूमि में, चलिए हम विभिन्न प्रकार के संघर्षों का अध्ययन करते हैं। टूरीन ने आठ प्रकार के सामाजिक संघर्षों का निरूपण किया है।

1) **सामूहिक हित का प्रतिस्पर्धात्मक प्रयास :** इस प्रकार के संघर्षों की पहचान किसी संगठन में नायक के निवेश अथवा निगम के बीच संबंध अथवा उनके सापेक्ष अभाव की अभिव्यक्ति के रूप में होती है। यदि किसी कंपनी का कर्मचारी कम या अधिक निवेश करता है तथा कम या अधिक लाभ पाता है, तो चार संभावित स्थितियाँ हो सकती हैं : (ए) अधिक निवेश कम लाभ, (बी) अधिक निवेश अधिक लाभ, (सी) कम निवेश कम लाभ तथा (डी) कम निवेश एवं अधिक लाभ। पहली स्थिति में संघर्ष उत्पन्न होने की सबसे अधिक संभावना होती है। औद्योगिक असंतोष, श्रमिक हड़तालें तथा कर्मचारियों के आंदोलन पहली स्थिति के परिणामस्वरूप हो सकते हैं।

2) **सामाजिक तथा सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक पहचान का पुनर्निर्माण :** इस प्रकार के संघर्ष की स्थिति में विरोधी को "वे", "अन्य" अथवा "विदेशी" अथवा आक्रमणकारी के रूप में वर्णित और परिभाषित किया जाता है ना कि वर्ग विरोधी अथवा वर्ग शत्रु के रूप में । सामाजिक जगत "भीतरी" तथा "बाहरी" व्यक्तियों के बीच विभाजित है। संघर्ष सामान्यतः "समुदाय की सुरक्षा" की संकल्पना के इर्द-गिर्द होता है। भारत में अनेक समकालीन आंदोलन जैसे कि महाराष्ट्र में शिवसेना का तथा कुछ समय पूर्व बिहार में झारखंड, बंगाल में गोरखालैंड तथा उत्तर प्रदेश में उत्तराखंड इस प्रकार के संघर्ष की अभिव्यक्ति हैं तथा रहे हैं। अपनी कुरूप अभिव्यक्ति में ये इस प्रकार के संघर्ष की क्षेत्रीय, भाषाई, जातिवादी तथा सांप्रदायिक आंदोलनों का रूप लेने की

प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार के आंदोलन में नायक समाज की "शुचिता" तथा "नैतिक स्वास्थ्य" के "अन्य" अथवा "बाहरी" व्यक्तियों द्वारा खतरे में पड़ जाने से संबंधित नारे लगाते हैं। इससे "भाईचारे" के "भीतरी" सदस्यों के बीच प्रबल एकता उत्पन्न हो सकती है तथा "अन्य" के लिए अत्यधिक घृणा हो सकती है जिन्हें सामान्यतः "बेईमान" तथा समाज के "प्रदूषक" के रूप में चित्रित किया जाता है। यहाँ वामपंथियों की "वर्ग शत्रु" की संकल्पना दक्षिण पंथियों की "सांस्कृतिक शत्रु" की संकल्पना द्वारा विस्थापित हो जाती है। दोनों स्थितियों में कार्यकारणी भाव प्रबल होता है।

3) **राजनीतिक बल :** इस प्रकार के संघर्ष का लक्ष्य सामान्यतः महज दिए गए तंत्र में लाभ प्राप्त करना नहीं बल्कि "खेल के नियमों" को परिवर्तित करने का होता है। औद्योगिक विवाद, ट्रेड यूनियन तथा कामगारों के आंदोलन सामान्यतः राजनीतिक संघर्ष का रूप ले लेते हैं। शोर्टर एवं टिली फ्रांस में हड़तालों (1971) के अपने अध्ययन में तर्क करते हैं कि हड़तालें, अभाव की अभिव्यक्ति होने की बजाय उनकी तेजी से प्रगति तथा श्रमिक संघों के घटते हुए राजनीतिक प्रभाव को परिलक्षित करती थीं। सत्ता की संरचना अथवा उसके आदर्शों में आकस्मिक परिवर्तन से इस प्रकार के संघर्ष के पैदा होने की प्रबल प्रवृत्ति रहती है।

4) **हैसियत/स्टेट्स तथा विशेषाधिकार की सुरक्षा :** इस प्रकार के संघर्ष के उदाहरण के तौर पर हित समूह द्वारा अपने अनिवार्य रूप से निजी स्वार्थपरक हित को जनता के मुददे के रूप में परिवर्तित करना सम्मिलित है। अतः आप नोट कर सकते हैं कि अपनी निष्कृष्टतम अभिव्यक्ति में मौलिक रूप से भ्रष्ट तथा अनिवार्य रूप से बेईमान राजनीतिक तंत्र अक्सर नारा लगाते हैं "राष्ट्र खतरे में है" जोकि महज अपनी कुरूपता को छिपाने के लिए तथा लोगों का घटते हुए राजनीतिक मूल्यों से ध्यान हटाने के लिए शासन तंत्र में लोगों के विश्वास को बनाए रखने के लिए होता है। इसकी हल्की अभिव्यक्तियाँ किसानों की लामबंदी तथा शिक्षकों के संघर्षों के मामले में पाई जाती है। अनेक मामलों में, किसानों के आंदोलन तथा शिक्षकों के संघर्ष अपनी आय की प्रत्यक्ष रूप से प्रतिरक्षा करने की बजाय, ये उद्घोषणा करने लगते हैं कि कृषि तथा शिक्षा को "राष्ट्रीय प्राथमिकता" दी जानी चाहिए क्योंकि ये "राष्ट्रीय महत्व" के मसले हैं।

5) **प्रमुख सांस्कृतिक पैटर्न का सामाजिक नियंत्रण :** टूरीन सांस्कृतिक पैटर्न की संकल्पना तीन घटक तत्वों के रूप में देखते हैं : (ए) एक ज्ञान का मॉडल, (बी) एक प्रकार का निवेश तथा (सी) एक नैतिक संस्था तथा ये तीनों घटक बदले में क्रमशः सत्य, उत्पादन तथा नैतिकता की संकल्पनाओं को प्रदर्शित करते हैं। ये घटक समाज द्वारा खुद को निर्मित करने की क्षमता से संबंधित होते हैं। बड़े जटिल समाजों में सदैव शासक समूहों के बीच तथा शासक समूहों और जनता के बीच विवाद तथा संघर्ष बने रहते हैं। शासक दल स्वयं की पहचान समाज के प्रमुख सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा करते हैं जिससे इन मूल्यों का उपयोग जनता पर अपना प्रभुत्व जताने के लिए अस्त्र के रूप में कर सके। दूसरी तरफ जनता प्रभावी शासक दल को पदच्युत करने के प्रयास करती है जिससे वो स्वयं अपनी पहचान उन मूल्यों के साथ कर सके। संस्कृति तथा सत्ता के बीच इस प्रकार का विवाद अधिकांश जटिल तथा बड़े समाजों में एक सतत सामाजिक सच्चाई है।

6) **नए सामाजिक क्रम का निर्माण :** इस प्रकार के संघर्ष का सबसे पैना उदाहरण किसी संपूर्ण राजनीतिक तंत्र तथा उसके शासन के तरीके के क्रांतिकारी रूप से जनता द्वारा हटा दिए जाने के मामले में पाया जाता है जिससे नई "सामाजिक व्यवस्था" तथा "नए राजनीतिक" वाले "नए समाज" को स्थापित किया जा सके। इस प्रकार की सामूहिक क्रिया में समाज के लगभग सभी वर्गों के लोग एक सामूहिक लहर में समाज तथा

MAABIYAM IAS

उसके शासन के तरीके में विशाल तथा आमूल परिवर्तन को करते हैं। क्रांतिकारी प्रकार की सामूहिक क्रिया का एक सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि क्रांति सभी प्रकार के सामाजिक संघर्षों का अंत कर देती है तथा संघर्ष के उन्मूलन द्वारा क्रांति सामाजिक आंदोलनों के उभरने की सभी संभावनाओं का अंत कर देती है। आप नोट कर सकते हैं कि आंदोलन सर्वसत्तात्मक बंद समाज की अपेक्षा प्रजातांत्रिक खुले समाजों की अभिव्यक्ति अधिक होते हैं। क्रांति आंदोलन को खत्म कर देती है। क्रांतिकारी नायक सामाजिक "व्यवस्था/क्रम" को विकास की पूर्व शर्त मानते हैं। लेकिन सामान्यतः, "व्यवस्था/क्रम" की आवश्यकता का नए राजनीतिक वर्ग तथा "नए नेताओं " द्वारा अपनी सत्ता तथा विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए चतुराई से हेरफेर कर लिया जाता है (देखें राजेंद्र सिंह 2001 : 121)।

7) **राष्ट्रीय संघर्ष :** टूरीन के अनुसार ऐतिहासिक संघर्ष अपने चरम स्तर पर राष्ट्रीय संघर्ष होते हैं। विकास तथा औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहे समाज की पहचान तथा सातत्य की रक्षा नायकों के द्वारा अथवा उनके सामाजिक संबंधों के द्वारा नहीं की जा सकती है क्योंकि राष्ट्र अकेले ही परिवतर्नों की पहचान तथा नियंत्रण का दावा कर सकता है। टूरीन कहते हैं कि सभी देशों में परिवर्तन पर नियंत्रण के लिए संघर्ष राज्यों का संघर्ष होता है (1985 : 758)। यहाँ महत्व राजनीतिक तंत्र को सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक तंत्रों के प्रतिनिधि के रूप में, समाजों के बीच ऐतिहासिक रूपांतरण के प्रमुख घटक के रूप में राज्य से पृथक करने की आवश्यकता का है।

8) **नव-समुदायवाद का संघर्ष :** राष्ट्रीय संघर्ष सामान्यतः सामाजिक तथा ऐतिहासिक संघर्षों के बीच पृथक्करण दिखाते हैं। राष्ट्रीय संघर्ष का ऋणात्मक सतुल्य नव-समुदायवाद संघर्ष है। नव-समुदायी संघर्ष ऐतिहासिक रूपांतरण को रद्द करने का प्रयास करता है जो सामान्यतः विदेश से आता है तथा इसकी प्रकृति सामाजिक संगठन के पारंपरिक मूल्यों तथा प्रकारों का अपक्षय करने की होती है। इसका संदर्भ पूर्वज प्रत्यावर्ती, देसी विचारधाराओं तथा माँगों से है तथा इस प्रक्रिया में ये पुनर्नवीकरण-पुनर्जीवन तथा कभी-कभी मूलतत्ववादी अंतः-अभिमुख संघर्षों तथा आंदोलन का रूप ले लेता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.4 सामाजिक आंदोलनों की बहुरूपता तथा वर्गीकरण की समस्या

सामाजिक आंदोलन सामाजिक संघर्षों की तरह समांगी परिघटना नहीं होते हैं। हमने ऊपर सुझाया है कि संघर्ष के घटक सामाजिक आंदोलनों के केंद्र में स्थित होते हैं। सामाजिक संघर्षों के प्रकारों के विस्तार तथा भिन्नताएँ बद्ध होते हैं जिसके परिणामस्वरूप ये समाज में विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों को जन्म देते हैं। सामाजिक आंदोलन सामान्यतः कुछ सामूहिक साझीदारी वाले सामाजिक मुद्दों, प्रश्नों तथा चुनौतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप संघर्ष की स्थिति में उभरते हैं। किसी संकुल समाज जैसे भारत में सामाजिक मुद्दों की प्रकृति, क्षेत्रों, जातियों, वर्गों, समुदायों के अनुसार तथा क्षेत्रीय समूहों, जैसे जनजातियों, किसानों तथा शहरी समुदायों के अनुसार परिवर्ती होती है। पाठक आसानी से समझ सकते हैं कि केरल के समुद्रतट के मछुआरों के मुद्दों तथा संघर्षों के प्रकार उत्तराखंड में हिमालयी पहाड़ी व्यक्तियों से पूरी तरह भिन्न हो सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप, समाज में भिन्न प्रकार के आंदोलनों की अभिव्यक्ति होती है। आंदोलनों की बहुरूपी प्रकृति को वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए सुगम बनाने की आवश्यकता है।

जटिल तथा व्यापक रूप से भिन्न सामाजिक परिघटना, जैसे सामाजिक आंदोलनों को वैज्ञानिक जानकारी तथा विश्लेषण के लिए सुगम बनाने के लिए संहिताकरण तथा

वर्गीकरण करना अनिवार्य कार्यप्रणालियाँ हैं। विभिन्न "प्रकारों" में आंदोलनों का वर्गीकरण "समानता" तथा "भिन्नता" के सिद्धांत पर आधारित है (देखें, दुर्खाइम : 1963)। विभिन्न आंदोलन किस प्रकार एकदूसरे के समान अथवा भिन्न होते हैं? सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में, प्ररूप विज्ञान की समस्या गंभीर होती है। विद्वान की सैद्धांतिक अथवा विचारधारा संबंधी प्राथमिकता के अनुसार, एक ही आंदोलन को एक लेखक द्वारा "कृषक आंदोलन" तथा दूसरे द्वारा "संप्रदायवादी" आंदोलन के रूप में लिखा गया है (विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, राजेंद्र सिंह 1984 : 93-95)। जहाँ "जनजातीय विद्रोहों" को "जनजातीय आंदोलनों के रूप में तथा महिलाओं के लिंगभेद के विरुद्ध विरोध को "महिलाओं के आंदोलन" की तरह देखना आसान है, वहीं सुधारवादी, पुनर्नवीकरणी तथा पुनर्जीवनी आंदोलनों को अन्य सामाजिक आंदोलनों से, जिनमें जनजातीय तथा महिला आंदोलन भी सम्मिलित हैं, पृथक करना बेहद कठिन है। पाठकों को उद्धरण के लिए (कैथलीन गॉग 1974 : 94) की सामाजिक आंदोलनों का वर्गीकरण की प्रणाली तथा प्ररूप विज्ञान को पढ़ना चाहिए। उद्देश्य, विचारधारा तथा संगठन के तरीरके के आधार पर, गॉग ने भारत में कृषक आंदोलनों का पाँच-परतीय प्ररूप विज्ञान प्रस्तुत किया है। ये पाँच प्रकार हैं :

1) पुनर्नवीकरणी विद्रोह

2) धार्मिक आंदोलन

3) सामाजिक दस्युता

4) आतंकवादी प्रतिशोध, और अंत में

5) जन विद्रोह

मैंने गॉग के वर्गीकरण की सीमाओं का समीक्षात्मक परीक्षण किया है (आइबिड : 93-9)। ब्रिटिशों के खिलाफ राजा चैत सिंह (1778-81) तथा वजीर अली (1779) के विद्रोहों को किस प्रकार "किसान आंदोलनों" की श्रेणी में रखा जा सकता है? इसी प्रकार की समस्या अन्य अध्ययनों में देखी गई है (जैसे मालव्य 1956 : 18-4) जिनमें इतिहासकार (जैसे इरफान हबीब 1975 : 36 तथा एस.बी. चौधरी 1957 : 32) भी सम्मिलित हैं जिन्होंने 1857 के सैनिक विद्रोह को "कृषक विद्रोह" के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। राजाओं तथा वजीरों के विद्रोह को किसान आंदोलनों की तरह अथवा उनके आवश्यक समतुल्य नहीं समझा जा सकता। अतः, एक ऐसे वस्तुनिष्ठ तरीके की आवश्यकता है जो भारत में सामाजिक आंदोलनों के विभिन्न प्रकारों के कार्यकारी वर्गीकरण तथा प्ररूप विज्ञान को विकसित करने में सहायक हो। आंदोलनों के "प्रकारों" के विषय पर चर्चा करने से पहले, पाठकों को उन प्रयासों के तरीके से परिचित करा देना लाभदायक होगा जो आंदोलनों के कार्यकारी प्ररूपविज्ञानी के निरूपण के लिए बनाए गए हैं।

सोचें और करें 30.1

क्या आप पूर्व में अथवा वर्तमान में अपने समाज/समुदाय में हुए किसी सामाजिक आंदोलन के बारे में जानते हैं। इस सामाजिक आंदोलन का विवरण एक पृष्ठ में दीजिए और इसे आप किस प्रकार के सामाजिक आंदोलन में रखते हैं और क्यों? अपनी रिपोर्ट की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य सदस्यों के साथ करिए।

30.5 सामाजिक आंदोलनों का प्रारूप विकसित करना

इस विषय के विद्वानों ने, विभिन्न संदर्भों में आंदोलनों का प्ररूप विज्ञान विकसित करने के लिए प्रयास किए हैं। कुछ उदाहरणों को यहाँ वर्णित किया जा सकता है जैसा कि

ओमेन द्वारा अपने आई सी एस एस आर की वर्ष 1969-1979 की सर्वेक्षण रिपोर्ट में रिपोर्ट किया गया है, एम.एस.ए. राव समाज में संघर्षों तथा सामाजिक संरचनात्मक परिवर्तनों के तीन स्तरों के बीच अंतर करते हैं और तदनुसार सुधारवादी, रूपांतरणकारी तथा क्रांतिकारी नामक तीन प्रकार के सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना करते हैं (1985 : 84-85)। राव के अनुसार "सुधारवादी" आंदोलन समाज के मूल्य-रूपांतरण आंशिक परिवर्तन लाते हैं। "रूपांतरणकारी" मध्य स्तर के सामाजिक संरचनात्मक परिवर्तनों को करते हैं। दूसरी तरफ "क्रांतिकारी" आंदोलन, समाज के सामाजिक तथा सांस्कृतिक तंत्रों में पूरी तरह से मूलभूत परिवर्तनों को करते हैं। घनश्याम शाह ने, भागीदारों की सामाजिक-आर्थिक विशेषताओं तथा सम्मिलित सामाजिक मुद्दों की प्रकृति के आधार पर, भारत में आठ प्रकार के सामाजिक आंदोलनों को प्रस्तुत किया है (1990 : 27)। ये प्रकार हैं : (1) कृषक आंदोलन, (2) जनजातीय आंदोलन, (3) दलित आंदोल, (4) पिछड़ी जाति के आंदोलन, (5) महिला आंदोलन, (6) छात्र आंदोलन, (7) मध्य वर्ग के आंदोलन और अंततः (8) औद्योगिक कामगार वर्ग के आंदोलन। टी.के. ओमेन आदोलनों का तीन परतीय वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। उनकी वर्गीकरण योजना समाज द्वारा सामाजिक तनावों की स्थितियों में प्रतिक्रिया करने के तरीके पर आधारित हैं (1985 : 86-87)। ओमेन का विश्लेषण कुछ मात्रा में कार्यप्रणाली की यथार्थता को परिलक्षित करता है जब वो देखते हैं कि, अब तक किया गया कोई भी प्रयास भारत में पाए जाने वाले सभी प्रकार के आंदोलनों को घेरे में लेने के लिए व्यापक नहीं है" (आइबिड)। ये समझने की आवश्यकता है कि सभी प्ररूपताओं तथा वर्गीकरणों की प्रकृति अस्थायी तथा प्रयोगात्मक होती है। हकीकत में, इनके लिए एक निहित परिकल्पना अथवा सिद्धांत पाया जाता है जिसके प्रकाश में वर्गीकरणों की योजनाएँ निश्चित की जाती हैं। प्ररूपताएँ तथा वर्गीकरण किए जा रहे किसी अध्ययन विशेष की सैद्धांतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में तथा अनुभवजन्य वास्तविकताओं की प्रकति को प्रकाशित करने में सहायक उपकरण है।

राजेंद्र सिंह (1984 : 93) ने सामाजिक आंदोलनों के वर्गीकरण को विभिन्न प्रकारों में विभाजित करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक भरोसेमेंद मॉडल विकसित किया है, उन्होंने तीन परस्पर संबंधित सूचकों अथवा प्रश्नों का सेट विकसित किया है। ये निम्न प्रकार से हैं :

क) आंदोलनों के केंद्र बिंदु/फोक्स क्या थे अथवा हैं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आंदोलन की धुरी अथवा केंद्रीय मुद्दे की पहचान करना है, जिस पर आंदोलन टिका हो इसका अर्थ सामान्यतः आंदोलन में सम्मिलित उद्देश्यों, लक्ष्यों अथवा मुद्दों से है जैसे वनों तथा जनजातियों से भूमि तथा उसके उत्पादों से सांप्रदायिक, लिंग, धार्मिक, पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण औद्योगिक कामगरों आदि से संबधित मुद्दे, जिनके इर्द-गिर्द पुरुषों तथा महिलाओं की विरोधी अथवा क्रोधी सामूहिकता अस्तित्व में आती है।

ख) वे व्यक्ति कौन हैं जो आंदोलन में भागीदारी कर रहे हैं? इस प्रश्न का संबंध लोगों की सदस्यता की संरचना तथा आंदोलन में उनकी भागीदारी से है। समाज के वर्ग विशेष के भागीदारों की पहचान उनका वर्ग, जाति, लिंग अथवा धर्म अथवा क्षेत्र, जो लामबंदित सामूहिकता के फोक्सों अथवा उद्देश्यों (ऊपर क में) की साझीदारी के लिए उठते हैं और "एक साथ जीने अथवा मरने" का निर्णय लेते हैं, अधिक भरोसेमंद विशेष "प्रकार" के आंदोलन के वर्गीकरण की प्रक्रिया को कम करने में सहायक होता है। तथा अंततः,

ग) विरोधी समूह अथवा संस्था अथवा सामाजिक चलन की प्रकृति क्या है जिसके विरुद्ध आंदोलन किया गया है। आंदोलन के लक्ष्य समूह अथवा लोगों की "शत्रु", जाति, समुदाय, लिंग आदि की पहचान करना।

तीन सूचक "कौन", "क्या", "किसके" पक्ष में तथा विरुद्ध आंदोलनों के वर्गीकरण के त्रिकोणीय रूपांतरण को विभिन्न "प्रकारों" जैसे कृषक, जनजातीय, दलित, महिला, पारिस्थितिकी, कामगार, उप-राष्ट्रवादी आदि में विभाजित करते हैं। हालाँकि, उपर्युक्त वर्गीकरणीय मॉडल में समकालीन भारतीय समाज की परिवर्तनशील प्रकृति पर भी विचार गया जाना चाहिए। ऐसा लगता है, समकालीन व्यवस्था में, भारत की सामाजिक तथा आर्थिक विशेषता को उसके अपूर्ण तथा अपरिपक्व आधुनिकीकरण से समान रूप से अपूर्ण तथा आपरिपक्व पश्च आधुनिकीकरण के आंदोलन द्वारा परिभाषित किया जाता है। (देखें, राजेंद्र सिंह 2001 : 16-8, 43-70)। इन दो प्रकार के आंदोलनों के परस्पर विषम संयोजन भारतीय समाज के इतिहास-विशिष्ट प्रतिनिधित्व को विशेषित करते दिखते हैं। समाज के "प्रतिनिधित्व" वाक्य से हमारा अर्थ ".... व्यक्तियों की विचारधाराओं, विचारों तथा संकल्पनाओं के तंत्र से; उनके मिथकों, दंत कथाओं तथा इतिहास से; उनके भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य की संकल्पना से; उनकी पराजयों, सफलताओं, महत्वाकांक्षाओं तथा संघर्षों से है" (आइबिड; 44)। विभिन्न प्रकार के आंदोलनों जैसे प्राचीन आंदोलनों, वैकल्पिक आंदोलनों, उत्कृष्ट क्लासिकी आंदोलनों, नवीन आंदोलनों, सूक्ष्म आंदोलनों आदि आदोलनों पर (आइबिड; 2000) यहाँ तक जैसा कि टूरीन की संकल्पना "सामाजिक आंदोलनों के परे" (टूरीन 1992) पर चर्चा होती है। इससे पहले कि हम आंदोलनों के प्ररूप विज्ञान पर व्यापक चर्चा करें यहाँ पर सामाजिक आंदोलन की संकल्पना पर संक्षिप्त चर्चा करना उपयुक्त होगा।

यह समझना होगा कि सामाजिक आंदोलन "निर्मित" नहीं होते हैं। इन्हें कृत्रिम रूप से ईजाद भी नहीं किया जा सकता है। आंदोलन सदैव समाज के विवादास्पद घटकों की प्राकृतिक अभिव्यक्ति होते हैं जो इसकी संरचना के केंद्र में स्थित होते हैं। समाज तथा सामाजिक संरचना का निर्माण; जनसंख्या की असमान स्तरों में स्तरीकरण की प्रक्रियाः जातियाँ, वर्ग तथा व्यावसायिक समूह अनिवार्य रूप से असमानता के सिद्धांत पर आधारित होते हैं। सामाजिक मूल्यों जैसे भौतिक संसाधनों, शक्ति, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि का वितरण; में संघर्षों की प्राकृतिक स्थितियाँ विद्यमान रहती है। समाज में अमीर एवं गरीब, निर्बल और बलवान, शक्तिशाली तथा शक्तिहीन, प्रभावी तथा प्रभुत्व स्वीकार करने वालों का जन्म चिरस्थायी तथा अपरिहार्य सामाजिक सच्चाइयाँ हैं जो समाज में विभिन्न समूहों और खंडों में सापेक्ष सामाजिक अभाव, संघर्ष तथा विरोध के उपजने को प्रेरित करती है। कहीं पर ये उल्लेख किया गया है कि "आंदोलन बनाए नहीं जाते हैं; कमोबेश उन्हें नेताओं द्वारा आरंभ अथवा संचालित किया जाता है। जब भी स्थितियाँ अनुकूल हों अथवा मानव का मोहभंग मानव लगन की सीमा को खत्म कर दे, आंदोलन स्वतः ही उपजते हैं तथा सामूहिकता की जागरूक संघर्षी चेतना की क्रियाओं में अपनी अभिव्यक्ति करते हैं (राजेंद्र सिंह 2001 : 20)। उपर्युक्त निरीक्षणों की दृष्टि में आप कुछ "सामान्य प्रकार" के सामाजिक आंदोलनों की आसानी से पहचान कर सकते हैं। ये हैं : सर्वभौमिकता, सापेक्षता, सामाजिक अवसरवादिता तथा स्व-नवीकरण एवं स्व-यथार्थता का विचार। (विस्तृत विवरण के लिए देखें, राजेंद्र सिंह; आइबिड : 40-41)

सोचें और करें 30.2

आप सभी ने संभवतः 1857 के उपनिवेशी शासकों के विरुद्ध भारतीयों के विद्रोह के बारे में पढ़ा होगा। इस विद्रोह के बारे में इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से अधिक जानकारी हासिल करिए।

इस विद्रोह के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करिए और बताइए कि ये किस प्रकार का सामाजिक आंदोलन था और क्यों?

अपने उत्तर की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य छात्रों के उत्तरों से कीजिए। आप अपने शैक्षिक सलाहकार से इस विषय को "विद्रोह" के सामाजिक आंदोलन के रूप में परिवर्तित होने के संदर्भ में समझाने के लिए कह सकते हैं।

30.6 प्राचीन तथा नवीन प्रकार के आंदोलन

समकालीन भारत में सामाजिक संघर्षों की बहुता तथा रूपांतरणकारी प्रकृति, विभिन्न सामूहिकताओं के दावे तथा विरोध; उन शर्तों के प्रकार जिन पर वो संधि करते हैं तथा उनकी लामबंदी की विधि तथा शैली की प्रकृति आंदोलन अध्ययनों के विषय पर दो प्रमुख प्रकार के प्ररूप विज्ञानी अभिविन्यासों को सुझाती है। ये अभिविन्यास हमें भारत में विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों की पहचान करने में सहायता करते हैं। भारत में आंदोलन अध्ययनों की परंपरा को व्यापक रूप से निम्न विषयों में विभाजित किया गया है :

1) उत्कृष्ट/क्लासिकी परंपरा

2) नव-क्लासिकी परंपरा

3) समकालीन ("नवीन" सामाजिक आंदोलन जिन्हें आगे नवीन सामाजिक आंदोलन से संबोधित किया जाएगा) में अध्ययन परंपरा (राजेंद्र सिंह 2002 : 89)

हालाँकि, अभी तक के सबसे प्रचलित तथा वर्तमान में व्यापक रूप से आंदोलनों की विषयवस्तु के प्रकारों के लिए उपयोग किए जाने वाले वर्गीकरण "प्राचीन" तथा "नवीन "सामाजिक आंदोलनों के हैं। पहले का अर्थ पारंपरिक पुराने कृषक, जनजातीय, औद्योगिक कामगार तथा अन्य आंदोलनों के विषयों से है। ये समझ लेना चाहिए, कि ये प्राचीन विषय जैसा कि हम नीचे देखेंगे, कभी-कभी भारत में सामाजिक आंदोलनों के अनेक अध्ययनों में प्रमुख सरोकार के रूप में बने रहते हैं। दूसरा अभिविन्यास, हालाँकि, नए प्रकार के आंदोलनों जैसे उदाहरण के लिए, पहचान, पर्यावरण आदि के मुद्दों पर तथा लिंग, सामाजिक न्याय, आदि से संबंधित प्रश्नों पर लोगों की सामूहिक लामबंदी के मुद्दों पर है; कभी-कभी इन दोनों विषयों की एक दूसरे पर अतिव्याप्ति होने की प्रवृत्ति होती है, जो उनके परस्पर पृथक्करण की रेखा को धुंधला कर देती है।

यह कहा जा सकता है कि क्लासिकी "प्राचीन" तथा NSMs की संकल्पना की स्पष्टता अनेक यूरोपीय तथा अमरीकी विद्वानों के लेखन में पाई जाती है (जैसे टिली एवं उनके सहयोगी 1975; टिली 1978 तथा 1985; मेलुकी 1980, 1981 तथा 1985; हेबरमेस 1981 तथा 1985; जीन कोहन 1982 तथा 1985; अरेटो एवं जीन कोहन 1984; आयरमेन 1984; एडर 1985; ऑफे 1985; टूरीन 1985; आयरमेन एवं जेमीसन 1991 तथा फ्रैंक एवं फुएंटी 1987 आदि)। भारतीय तथा अन्य एशियाई, विद्वानों (जैसे ओमवेट 1988, 1989, 1993; राजेंद्र सिंह 1995, 2000; रामचंद्र गुहा 1989 तथा विग्नराजा 1993) ने पहले ही "प्राचीन" तथा "नवीन" सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना से संबंधित प्रश्नों पर सैद्धांतिक परिचर्चा तथा क्षेत्रीय रिपोर्टिंग आरंभ कर दी थी।

भीड़ के सामूहिक व्यवहार तथा दंगाई भीड़ पर क्लासिकी परंपरा में अधिकतर पश्चिमी सामाजिक मनोवैज्ञानिक जैसे, जी.टार्डे के कृत्रिमता के नियम/लॉ ऑफ इमीटेशन (1903); गुस्टाव लेबोन (1909); विलियम मैक्डूगलके "द ग्रुप माइंड" (1920) तथा (ई.डी. मार्टिन के "द बिहेवियर ऑफ क्राउड 1962 : 20) के विचार समिलित हैं। इनके अध्ययनों ने समाज विज्ञान में सामूहिक व्यवहार के अध्ययनों की परंपरा को रखने में सहायता की। आप इसमें "पीस एंड वार" (1920) में जंतु व्यवहार के विलियम ट्रोटर के अध्ययन को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो चरम स्थितियों में जंतुओं के व्यवहार का विश्लेषण करता है। ट्रोटर के अध्ययन ने सामूहिक व्यवहार पर समाज विज्ञान के अध्ययनों

में तनाव तथा मानव व्यवहार पर उसके प्रभाव के समान अध्ययनों के लिए सशक्त उदाहरण प्रस्तुत किया। (बी) नव-क्लासिकी परंपरा सामान्यतः निम्न विषय पर आधारित समाज विज्ञान के अध्ययनों में परिलक्षित होती हैं (i) क्रियात्मकवाद तथा (ii) मार्क्सवादी सैद्धांतिक मॉडल (देखें राजेंद्र सिंह 2001 : 156-158, 171-174)। क्रियात्मवादी मॉडल समाज को एक संगठित "पूर्ण" संरचना के रूप में देखता है, जिसमें परस्पर निर्भर अंग अथवा घटक इकाइयाँ होती हैं; "पूर्ण" संरचना मूल्य सहमति पर होती है तथा इसमें पथभ्रष्टता, संघर्षों, विरोधों तथा विरोधों को उचित समायोजन-अनुकूलन तथा संघर्ष-सुलझाने वाली सामाजिक प्रतिक्रियाओं के द्वारा सुलझाने की क्षमता होती है (बर्घे 1969 : 302-305)। क्रियात्मवादी मॉडल, में ऐसा लगता है कि प्रबल अंगरूण मूल होती है। वाल्टर वी कोनन की सशक्त पुस्तक ("द विस्डम ऑफ बॉडी" 1932) ने सशक्त अनुरूपात्मक आधार प्रदान किया है जो समाज को एक जन्मजात पुनर्वीकरण क्षमता प्रदान करता है जो बहुत कुछ मानव शरीर की स्व-लाभकर क्षमता के जैसा है। (iii) मार्क्सवादी मॉडल सामाजिक वर्गों की भौतिकवादी संकल्पना के विचार के बारे में संकल्पनाओं के एक सेट पर आधारित है, तर्कविधा जैसे समाजशास्त्र में दर्शनशास्त्र तथा रीतिविज्ञान, उत्पादन की विधि तथा वर्ग निर्माण, वर्ग तर्कविधा/भाषाविज्ञान, वर्ग तथा सामाजिक संरचना, इतिहास का भौतिकवादी निर्धारणवाद, ज्ञान तथा मानव प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ जिनमें मानव चेतना आदि सम्मिलित हैं; और अंत में, (डी) समकालीन अथवा "नवीन" सामाजिक आंदोलन की परंपरा "प्राचीन" तथा "नवीन" प्रकार के विषयों में सामाजिक आंदोलनों के प्ररूप विज्ञान की परंपराएँ विकसित करने में, हम विभिन्न आधारों पर क्लासिकी तथा नव-क्लासिकी अध्ययनों को "प्राचीन" की व्यापक श्रेणी में तथा समकालीन विषयों को "नवीन" प्रकारों के सामाजिक आंदोलन अध्ययन परंपराओं की श्रेणी में रख लेते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रमुख प्रकार के आंदोलनों को पुनः उप-प्रकारों में विभाजित किया गया है। "प्राचीन" आंदोलनों की उपप्रकारों को निम्नलिखित परंपराओं में विभाजित किया गया है : (क) कृषक आंदोलन तथा भूमि संबंधी संघर्ष; (ख) पश्च-इतिहास तथा कृषक चेतना अधीनस्थ अध्ययन; (ग) जनजातीय आंदोलन; (घ) श्रमिक आंदोलन (देखें राजिंद्र सिंह 2001 : 227)। हम पहले "प्राचीन" सामाजिक आंदोलनों की सामाजिक विशेषताएँ बताने जा रहे हैं। इसके बाद "नवीन" सामाजिक आंदोलनों की विशेषताएँ बताई जाएंगी।

MADHYAM IAS

क) "प्राचीन" सामाजिक आंदोलनों एवं उनके उपप्रकारों की सामाजिक विशेषताएँ

1) प्राचीन अथवा क्लासिकी सामाजिक आंदोलनों को सामान्यतः उनके वर्ग घटकों के आधार पर परिभाषित किया जाता है। इसे समकालीन विश्व की तीन प्रमुख सामाजिक-आर्थिक विशेषताओं-पूँजीवाद, औद्योगिकवाद तथा भौतिकवाद - के शिशु के रूप में देखा जाता है। पाठकों को इस संकल्पना पर व्याख्याएँ पुस्तकों में मिल सकती हैं (जैसे राजेंद्र सिंह 2001 : 44-50)। अतः प्राचीन सामाजिक आंदोलन, अधिकार "वर्ग-बद्ध" आंदोलन होते हैं। शब्द "वर्ग" को समझाने की आवश्यकता है। ओमवेट जोर देते हैं कि वर्ग की संकल्पना को उत्पादन के संबंधों की सामाजिक माक्सर्वादी संकल्पना के संदर्भ में परिभाषित करने की आवश्यकता है। विस्तृत विवरण के लिए देखें, (ओमवेट 1982 : 13)। अपने सरलतम अर्थ में, शब्द "वर्ग" का अर्थ है (i) जनसंख्या का असमान समूहों में विभाजन; (ii) समूहों के बीच असमानता आर्थिक संसाधनों के विभेदी वितरण के कारण होती है; (iii) अल्पसंख्यक समूहों को आर्थिक संसाधनों के स्वामित्व तथा नियंत्रण में अपनी आवश्यकता से अधिक भाग मिलता है; अन्य, यानि बहुसंख्यक समूह को परिणामतः उनकी आवश्यकता से कहीं कम भाग मिलता है; (iv) आर्थिक संसाधनों अथवा संपत्ति के वितरण की ये दोषपूर्ण प्रणाली समाज में "अमीर" तथा "गरीब" अथवा "मध्यवर्गीय" तथा "श्रमजीवी" वर्गों को जन्म देती है, (v) गरीबों में "एक ही नाव में सवार होने" यानि एक सी स्थिति के कारण

वर्ग एकता का बोध विकसित कर लेते हैं तथा अपने से उच्च वर्ग के साथ एक विरोधी संबंध बना लेते हैं। अमीर तथा गरीब के बीच ये विरोधी संबंध अपने तर्कशास्त्रीय संबंध के क्रम में उसे जन्म देता है जिसे मार्क्सवादी विद्वानों ने "वर्ग संघर्ष" कहा है। कृषकों तथा कृषक आंदोलनों पर अधिकांश अध्ययन (जैसे, धानगेरे, 1983; ओमेन, 1990; ओमवेट, 1982 आदि) अथवा ट्रेड यूनियनों तथा कार्यकारी वर्ग आंदोलनों पर अध्ययन (जैसे, गिरी, 1958; माथुर, 1964; कार्निक, 1978 आदि) वर्ग मॉडल पर आधारित प्राचीन आंदोलन अध्ययनों के कुछ उदाहरण हैं।

2) वर्ग आधारित प्राचीन सामाजिक आंदोलनों में "वर्ग संघर्ष", "वर्ग क्रांति" की संकल्पना में तथा शासन के संपूर्ण राजनीतिक तंत्र को उखाड़ फेंकने की तथा नई सामाजिक व्यवस्था की पुनर्स्थापना की प्रबल विचारधारात्मक प्रवृत्ति होती है। मार्क्सवादी सैद्धांतिक अभिविन्यास के अनेक "प्राचीन" सामाजिक आंदोलन अध्ययनों (जैसे, सुन्दरैया, 1972; सुनील सेन, 1982; मित्तर, 1977; पी.एन. मुखर्जी, 1980 तथा 197 आदि) में समाज की मौलिक पुनर्रचना की कल्पना करता है। वाक्य जैसे "कृषक युद्ध" (वुल्फ, 1971) अथवा "भूमिसंबंधी संघर्ष" (देसाई, 1986) उपयोग में हैं जो ग्रामीण क्षेत्रों में कृषक संघर्ष की मार्क्सवादी रचना की क्रांतिकारी प्रकृति को झंकृत करता है। इस प्रकार की सामूहिक लामबंदियों में हिंसा की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है क्योंकि सभी क्रांतिकारी संघर्षों में व्यापक स्तर पर "प्रणाली की सफाई" अथवा समाज से भ्रष्टों का "सफाया" करने के नाम पर हिंसा का उपयोग भी देखा गया है।

3) पुराने सामाजिक आंदोलनों में ये नोट किया जा सकता है कि विरोधी आसानी से पहचाना जाने वाला सामाजिक समूह — एक जाति अथवा एक वर्ग — होता है। अवध क्षेत्र तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में कृषक विद्रोह (देखें क्रमशः एम.एच. सिद्दीकी, 1978; राजेंद्र सिंह, 1984) की स्पष्ट छवि तथा विरोधी की ज्ञात पहचान रही थी। तब ग्रामीण प्रभावी लोगों की श्रेणी (यानि उत्तर प्रदेश में, 1952 में तालुकदारी तथा जमींदारी प्रथा का उन्मूलन) जो सामान्यतः अवध में तालुकदारों के वर्ग तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में जमींदारी क्षेत्री के जमींदारों के वर्ग से संबंधित थे, ग्रामीण जनसंख्या के स्पष्ट रूप से पहचाने जाने वाले समूह थे। बेचैन तथा विद्रोही, काश्तकार स्वयं को अपने अभावों तथा अधीनता और भाग्यहीन जीवन के लिए उत्तरदायी मानते थे। यह स्थानीय भूस्वामियों द्वारा उनका शोषण था जिसने कृषकों को अंततः संगठित होने तथा सामूहिक संघर्ष के द्वारा अपने विरोध को मुखर करने के लिए मजबूर किया। इसी प्रकार, महाराष्ट्र राज्य में शिवसेना आंदोलन में विरोधी अथवा झारखंड क्षेत्र में तथा वर्तमान में छत्तीसगढ़ राज्य में जनजातीय विद्रोह में दीखू "यानि बाहरी व्यक्तियों" की स्पष्ट तस्वीर है जो जनजातियों के शोषण तथा सामाजिक विपन्नताओं के लिए जिम्मेदार माने गए थे। साथ ही, ये भी कहा जा सकता है कि अधिकांश मामलों में विरोधी अथवा आंदोलन के लक्ष्य एक ही स्थान अथवा क्षेत्र में स्थित थे यही स्थिति जमींदारों तथा तालुकदारों के विरुद्ध कृषक विद्रोह के मामले में थीं, जो गाँवों में किसानों के साथ ही रहते थे। (वही : सिद्दीकी, 1978; राजेंद्र सिंह, 1984)।

4) और अंत में, आंदोलनों की जनसमूह समाज संकल्पना ही सामान्यतः विद्वानों जैसे (लेडरर, 1940; ऐरेन्ट, 1951; कॉर्नहॉसर, 1960) के लेखन में परिलक्षित हुई है। समकालीन समाजों के सामाजिक निदान को प्रस्तुत करने के उनके प्रयास समाज में लोगों के स्थान की निराशावादी तस्वीर पेश करते हैं। उन्होंने उस समाज में सामाजिक पराएपन, निराशाजनक स्थिति तथा उसके खंडभिवन पर बढ़ती प्रक्रिया पर जोर दिया है, जिसमें हम रहते हैं। आधुनिक जन समाज के मूर्तरूप की पहचान सामाजिक जड़हीनता, आकारहीनता तथा सत्ताहीनता के बढ़ते बोध से होती है। व्यक्ति स्वयं को अत्याधिक नौकरशाही वाले यांत्रिक सामाजिक जगत् में पाता है तथा उसे भिन्न

MADHYAM IAS

सामाजिक स्थितियों में दूसरों के प्रति अपने संबंधों को विकसित करने में कठिनाई होती है। उसे दिशाहीनता का बोध होता है। सामाजिक आशाओं, प्रत्याशाओं के आदर्श आधारों के विघटित हो जाने से कणमय जन समाज निर्मित होता है।

ख) नए सामाजिक आंदोलनों तथा उनके उप-प्रकारों की सामाजिक विशेषताएँ

नवीन सामाजिक आंदोलन (NSMs) समाज के नए प्रतिनिधित्व का प्रतिबिंब है जिसकी पहचान पश्च-पूंजीवाद, पश्च-औद्योगिकवाद तथा उश्च-भौतिकवाद से होती है। 1960 तथा 1970 के दशकों में यूरोपीय तथा अमरीकी समाजों ने व्यापक आंदोलनों को जन्म दिया जो ऐसे मुद्दों तथा प्रश्नों को लेकर थे जो अ-भौतिकतावादी प्रकृति के थे। इन आंदोलनों ने सामान्यतः ऐसे मुद्दे उठाए जो मूलतः सांस्कृतिक तथा मानवीय थे। क्षेत्र अथवा स्थान विशेष के प्राचीन प्रकार के सामाजिक आंदोलनों के विपरीत नए आंदोलन सार्वभौमिक उपयोगिता वाले लक्ष्यों, उद्देश्यों तथा मूल्यों को अपनाते हैं। उनका उद्देश्य मानवता के सारतत्व की रक्षा करना तथा उन स्थितियों की सुरक्षा करना है, जिन पर मानव जीवन निर्भर करता है। "नवीन" आंदोलनों का विचारधारात्मक निरूपण पहचान, मानव प्रतिष्ठा, शांति तथा सामाजिक न्याय के प्रश्नों के इर्द-गिर्द केंद्रित रहता है। इनमें पूंजीवाद "वर्ग शोषण", वर्ग क्रांति आदि पर परिचर्चाओं से राज्य शक्ति की बढ़ती प्रकृति तथा नागरिक तथा नागरिक समाज के घटते दायरे जैसे प्रश्नों में मूल परिवर्तन हुआ है। इन नए आंदोलनों में, व्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वच्छंदता, पहचान तथा सामाजिक समानता की समस्याएँ दाँव पर होती हैं। इन आंदोलनों में "रोजगार", "वेतन", "बोनस" तथा "आर्थिक सुरक्षा" के प्रश्न नहीं हैं जैसे कि औद्योगिक क्षेत्र में उपयोग किए जाते हैं ना ही "भूमि" तथा "भूमि उत्पादों" में भागीदारी के प्रश्न हैं जैसा कि आप ग्रामीण क्षेत्रों के कृषक आंदोलनों में देखते है। नवीन सामाजिक आंदोलन को दो उपप्रकारों में विभाजित किया जा सकता है।

भारत में स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन के समय स्फुटित हुए नवीन सामाजिक आंदोलन की प्रकृति 1920 तथा 1930 के दशकों अथवा और भी पहले की है। स्वदेशी, ग्रामीण हस्तशिल्प, स्व-सहायता, देसी कुटीर उद्योग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का स्व-पहचान तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सुरक्षा के हथियार के रूप में महत्व, भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्वतंत्रता की विचारधारा का 1906-10 जितनी पहले से ही भाग था (सीतारमैया 1941 : 85)। महात्मा गांधी का पटल पर प्रगट होना भारत के लंबे इतिहास में एक युगांतकारी घटना थी। महात्मा का अहिंसा, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, असहयोग, स्थानीय स्वं-सरकार के लिए तथा ग्राम पंचायतों के पुनर्नवीकरण के लिए आग्रह (आइबिड : 84, 135, 140-141, 160, 195-86, 202-3, 315-216) तथा चरखा एवं खादी का स्वराज, आत्म निर्भरता तथा भारतीय समाज की सामाजिक पुनर्संरचना के लिए उपयोग वास्तव में मानव इतिहास में नए सामाजिक आंदोलन की सबसे सफल पश्च-औद्योगिक तथा पश्च-आधुनिक अभिव्यक्तियों में से थी। भूदान-ग्रामदान (ओमेन, 1972) तथा सर्वोदय (राधाकृष्ण, 1987) आंदोलन भारत में नवीन सामाजिक आंदोलनों के बेहतरीन उदाहरण हैं। समकालीन नवीन सामाजिक आंदोलन नए समाज को उसके स्व-निर्माण की प्रक्रिया में प्रतिबिंबित करते हैं। इन आंदोलनों ने व्यक्तियों तथा समुदायों में ना सिर्फ उनकी संस्कृति तथा समाज के बारे में बल्कि उनके भविष्य के बारे में भी एक नई स्व-चेतना का संचार किया और इसमें, नवीन सामाजिक आंदोलन का एकतरफ समकालीन व्यक्ति के ऊपर बढ़ती चौकसी तथा नागरिक समाज के ऊपर राज्य के नियंत्रण के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विद्रोह के रूप में तथा दूसरी तरफ नागरिक समाज की बढ़ती समझ तथा आत्म-विश्वास कि (i) वह मनुष्य की नियति तथा भविष्य को सिर्फ राज्य के हाथों में नहीं सौंपेगा; यह राज्य तथा राजनीतिक तंत्र के अविवेक के विरुद्ध सतर्क रहेगा तथा

MAADHYAMIAS

(ii) समाज एक संस्था है तथा यह उसके आंदोलनों तथा रूपांतरणों का पथ बदल सकती है, की तरह देखा। नवीन सामाजिक आंदोलन को (1) समावेशवादी प्रकार के आंदोलनों, तथा (2) बहिष्कारवादी प्रकार के आंदोलनों के रूप में विभाजित किया। इस प्रकार के आंदोलनों के विस्तृत संदर्भों परिचर्चा तथा विषयों के विश्लेषण के लिए जिनकी चर्चा नीचे की गई है, पाठकों को सुझाव दिया जाता है कि वो पुस्तकों से उपयुक्त साहित्य को पढ़ लें (जैसे राजेंद्र सिंह 2001 :: 88-104, 227-298)।

1) **समावेशवादी नए आंदोलनः** समावेशवादी आंदोलन सक्रिय रूप से सामान्यतः सार्वभौमिक, अहिंसात्मक तथा अधिकतर शांतिवादी सर्वमानवतावादी, समतावादी मूल्यों को स्पष्ट करते हैं। भारत में, समावेशवादी प्रकार के नवीन सामाजिक आंदोलन की आरंभिक अभिव्यक्ति भूदान-ग्रामदान तथा सर्वोदय आंदोलनों में हुई थी। समकालीन व्यवस्था में, समावेशवादी आंदोलनों की अभिव्यक्ति पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण की रक्षा के लिए लामबंदी के रूप में दिखाई देती है। इन आंदोलनों की अभिव्यक्ति पहचान, समानता, वैयक्तिक गरिमा तथा सामाजिक न्याय के लिए सामूहिक संघर्षों में भी दिखाई देती है। पाठक, नोट कर सकते हैं कि "भारत में महिलाओं तथा दलितों के अधिकांश सामूहिक विरोध तथा लामबंदियाँ, इस प्रकार के समावेशवादी आंदोलनों का ही रूप हैं। किसान आंदोलन, जो राज्य के साथ अपने कृषि उत्पादों के उचित मूल्य, रासायनिक खाद की कम मूल्य दर तथा बिजली की अधिक उचित कीमत के लिए संघर्ष कर रहे हैं, वो भी इसी प्रकार के आंदोलन हैं। यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि ये आंदोलन गैर-राजनीतिक हैं तथा ये राज्य की वैधता को चुनौती नहीं दे सकते हैं। कुछ भिन्नताओं के साथ, अधिकांश नवीन सामाजिक आंदोलन का लक्ष्य सत्ता के केंद्रों को मूल स्थानों से जोड़ना है। जैसा कि हमने सुझाव दिया है नवीन सामाजिक आंदोलन अपनी अभिव्यक्ति में अधिकतर अहिंसात्मक होते हैं। हालाँकि, इसके अपवाद भी हो सकते हैं। दलित संघर्ष तथा लामबंदियाँ, जो प्रमुख रूप से पहचान अभिमुख सामूहिक विरोध होते हैं, कभी-कभी, जाति हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। शांति, निरस्त्रीकरण, मानव अधिकारों तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता से संबंधित आंदोलन समावेशी प्रकार के नवीन सामाजिक आंदोलन हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

समाज की सामाजिक पुंनर्रचना के संघर्ष के लिए अधिकांश नवीन सामाजिक आंदोलन संघर्ष, सभी के लिए समानता तथा सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करते हैं। इनका उद्देश्य समाज की सामाजिक संरचनात्मक विषमताओं — जैसे जाति, समुदाय, क्षेत्र अथवा नस्ल के आधार पर मनुष्य के साथ भेदभाव को दूर करना भी है। ये आंदोलन अ-मौलिक, अ-पृथकतावादी तथा अ-स्वायत्ततावादी हैं। समावेशी प्रकार के आंदोलन समकालीन समाज के आंतरिक तथा बाह्य संरचनात्मक तनावों पर प्रकाश डालते हैं, जिन्हें विश्व स्तर पर मुखर रूप से बाजार, तकनीकी, संचार तथा प्रजातांत्रिक लहर द्वारा परिभाषित किया जाता है। नवीन सामाजिक आंदोलन सांस्कृतिक बहुलतावाद, नए प्रकार के सामाजिक संघर्षों की बहुरूपता तथा समाज के सभी पहलुओं के प्रजातंत्रीकरण के बढ़ते महत्व के प्रतीक हैं।

2) **बहिष्कारवादी आंदोलनः** बहिष्कारवादी आंदोलन सामान्यतः "अन्य" की संकल्पना को विकसित करते हैं तथा उन्हें अपने अभावों को लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। ये आंदोलन, समुदाय के सदस्यों को सामाजिक रूप से सामूहिक "सब" के रूप में समकालित करने के स्थान पर, जनसंख्या को "हम" तथा "वे" में विभक्त कर देते हैं। "बाहरी" की संकल्पना बहिष्कारवादी प्रकार के आंदोलनों के प्रभावी पहचान के घटक हैं। भारत में, बहिष्कारवादी प्रकार के नवीन सामाजिक आंदोलन अपनी अभिव्यक्ति उपराष्ट्रीयता, सामुदायिक विभाजनों तथा जातिगत माँगों जैसे विषयों के लिए लामबंदी के रूप में करते हैं। "भूमि के पुत्र", उपराष्ट्रवाद के रूपांतरण तथा अर्ध-स्वायत्ततावादी आंदोलन

बहिष्कारवादी प्रकार के आंदोलन हैं। बहिष्कारवादी आंदोलन, अनेक मामलों में, सामाजिक-विस्तार परिक्षेत्र की माँग करता है जिसमें कुछ हद तक सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक स्वायत्तता भी हो। अधिकांश बहिष्कारवादी आंदोलन सामान्यतः समाज से उनके सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा के लिए आवाज उठाने का आग्रह करते हैं। लामबंदी करने का नारा यह होता है कि उनके सांस्कृतिक सारतत्व तथा विरासत की शुद्धता तथा प्रतीक खतरे में हैं; इसमें धन, प्रयासों तथा संघर्षों के अर्थों में बलिदान की आवश्यकता होती है। बहिष्कारवादी आंदोलनों का निकटतम उदाहरण असम राज्य में उपराष्ट्रवादी लामबंदी का है जिसमें नारा है कि, "असम, असमियों के लिए है" कुछ ही समय पहले उत्तर भारत में गोरखालैंड तथा उत्तराखंड की माँग बहिष्कारवादी आंदोलनों की विशेषताओं के उदाहरण हैं। साथ ही, बिहार राज्य की मुख्यतः जनजातीय जनसंख्या के झारखंड राज्य की माँग के लिए क्षेत्रीय आंदोलन अनिवार्य रूप से प्राचीन प्रकार हैं क्योंकि इसके प्रभावी जनजातीय गुण हैं जिनका उल्लेख "प्राचीन" सामाजिक आंदोलनों के सेक्शन में किया गया है, ये बहिष्कारवादी नवीन सामाजिक आंदोलन के घटकों को दिखाता है। मौलिक तथा अतिमौलिक बहिष्कारवादी आंदोलनों की कभी-कभी मौलिकतावादी गुण अपना लेने की प्रकृति होती है। श्रीलंका में "मातृभूमि" के लिए उग्र संघर्ष तथा धार्मिक प्रवृत्ति वाले मौलिकतावादी संघर्ष जो पश्चिमी एशिया के कुछ भागों में देखे गए हैं पूरी तरह से समतावादी, मानवतावादी के साथ सार्वभौमिक उद्देश्यों तथा मूल्यों वाले समावेशी आंदोलनों के विपरीत हैं। हालांकि, ये नोट किया जाना चाहिए कि नवीन सामाजिक आंदोलन चाहे समावेशी हों अथवा बहिष्कारवादी ये अ-वर्ग, अ-भौतिकवादी तथा अधिकतर अ-राजनीतिक आंदोलन होते हैं।

उपर्युक्त परिचर्चा की रोशनी में हम नीचे नवीन सामाजिक आंदोलन का कुछ आदर्श-प्रारूपिक विशेषताओं की पहचान करेंगे।

ग) नवीन सामाजिक आंदोलन की आदर्श-प्रारूपिक विशेषताएँ

1) अधिकांश नवीन सामाजिक आंदोलन अपनी विचारधारात्मक संकल्पनाओं का आधार राज्य तथा नागरिक समाज जनता के बीच द्वैतता/फूट डालकर करते हैं। उनका मानना है कि नागरिक समाज/जनता का सामाजिक दायरा निरंतर सिकुड़ रहा है, नागरिक समाज का "सामाजिक" क्रमिक रूप से सत्ता के फैलते शिकंजे में कसे जाने से तथा जीवन के लगभग सभी पहलुओं पर उसके नियंत्रण से क्षरित हो रहा है। साथ ही इस हकीकत को और भी अधिक परेशानी इससे हो रही है कि राज्य का विस्तार, बाजार के विस्तार की प्रक्रिया पर अतिव्यापित हो रहा है। राज्य तथा बाजार की संस्थाएँ नागरिक समाज/जनता को इस तरह से जकड़े हैं कि समाज उनकी चौकसी तथा नियंत्रण के संयुक्त दवाब में असहाय हो गया है। अतः, नवीन सामाजिक आंदोलन समुदाय की "आत्मरक्षा" में उभरे हैं। राज्य, "जनहित" के नाम पर व्यक्ति के निजी जीवन के लगभग सभी पहलुओं पर कब्जा करने का प्रयास करता है (देखें राजेंद्र सिंह 2001 : 99)। यह संभवतः राज्य तथा बाजार के जनता पर चौतरफा हमले के कारण है कि विभिन्न रूप तथा प्रकार के नवीन सामाजिक आंदोलन : शहरी, पारिस्थितिक, प्रति-सत्तावादी, प्रति-संस्थावादी, महिला, प्रति-नस्लवादी, जातिवादी तथा क्षेत्रीयतावादी : समकालीन समाज में विकसित हुए हैं। संघर्ष का स्थान उद्योगों तथा कारखनों तथा खेत-खलिहानों के पारंपरिक कार्यस्थलों से विस्थापित हो गए हैं। नवीन सामाजिक आंदोलन का मूल एजेंडा पश्च बुर्जुआ, पश्च औद्योगिक, पश्च-भौतिकवादी प्रजातांत्रिक नागरिक समाज की स्थापना करना है। ये एजेंडा, वास्तव में, समकालीन पश्च आधुनिक जगत में नई परिघटना है।

MAADHYAM IAS

2) जैसा कि पहले बताया गया है; नवीन सामाजिक आंदोलन ने सभी प्रकार के सामाजिक संघर्षों तथा विरोधों को वर्ग तथा वर्ग संघर्षों के अर्थ में समझाने के मार्क्सवादी उदाहरण को पूरी तरह से बदल दिया है। आंदोलनों तथा समाज में परिवर्तन की व्याख्या की मार्क्सवादी प्रणाली पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण, लिंग, नस्ल, जातिवाद आदि से संबधित प्रश्नों से उभरने वाले मुद्दों को नहीं समझाती है; मार्क्सवाद ने सभी प्रकार के संघर्षों को वर्ग संघर्ष के रूप में तथा सभी प्रकार के सामाजिक विरोधों को वर्ग विरोध के रूप में माना है। यह ये समझने में कहीं पीछे रह गया था कि मानव संज्ञान तथा चेतना भौतिक बलों तथा समाज की स्थितियों द्वारा प्रभावित होते हैं। साथ ही, इसने सभी प्रकार के सामाजिक समूहनों तथा संगठनों को वर्ग समूहन तथा वर्ग संगठन के रूप में माना था। ये समझना चाहिए कि अनेक प्रकार के समकालीन संघर्ष जैसे प्रति-नस्लवाद, निरस्त्रीकरण, महिलावादी तथा पर्यावरणवादी आंदोलन वर्ग संघर्ष नहीं हैं, ना ही ये वर्गों के आंदोलनों को प्रतिबिंबित करते हैं। उपर्युक्त आंदोलनों में समूहन, वर्ग समूहन नहीं होते हैं — ये अक्सर वर्ग सीमाओं से परे चले जाते हैं। मार्क्सवाद समाज विज्ञान में एक विधि तथा व्याख्या के एक सिद्धांत के रूप में लड़खड़ा रहा है; नई सामाजिक वास्तविकता की दृष्टि से ये पूरी तरह ढह गया है, दर्शन के रूप में भी तथा विज्ञान की एक कार्य प्रणाली के रूप में भी। मार्क्सवाद ने समाज की वर्ग संरचना में स्थित सभी प्रकार के संघर्षों को देखा था। समाजों की समकालीन व्यवस्था में संघर्ष वर्गों के स्थान से व्यापक स्थान में फैल जाते थे तथा अक्सर राष्ट्र तथा समाज की सीमाओं को पार कर लेते थे। समकालीन आंदोलन समाजों के परा-सांस्कृतिक परा-राष्ट्रीय तथा परा-राजनीतिक तंत्र हैं। नवीन सामाजिक आंदोलन सर्वभौमिक प्रकृति के प्रश्नों तथा मुद्दों को उठाते हैं, जो मानवता के भविष्य से संबंधित है। इनके उद्देश्य तथा मूल्य विश्वव्यापी हैं तथा मानवता के विस्तार को आच्छादित करते हैं। इनके एजेंडा में निरस्त्रीकरण, शांति, नाभिकीय, प्रदूषण, तथा नाभिकीय युद्ध से संबंधित मुद्दे, पृथ्वी ग्रह की सुरक्षा पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण एवं मानव अधिकारों से संबधित मुद्दे हैं। नवीन सामाजिक आंदोलन का विचारधारात्मक रूपांतरण भौतिकतावादी निर्धारणवाद की सीमाओं से परे जाता है तथा सफलतापूर्वक मार्क्सवाद की अक्षमताओं को दूर करता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) मार्क्सवाद के ढह जाने से ये स्पष्ट हो गया है कि वर्ग पृष्ठभूमि ना तो नायक की पहचान का निर्धारण करती है और ना ही उसकी शर्तों की प्रकृति को स्पष्ट करती है। अतः नवीन सामाजिक आंदोलन सामान्यतः संघ संगठन के औद्योगिक कामगार मॉडल को तथा साथ ही राजनीतिक दलों के राजनीतिक मॉडल को रद्द करते हैं। जर्मन ग्रीन तथा ग्रीन पार्टी के अतिरिक्त अधिकांश नवीन सामाजिक आंदोलन आधारी राजनीति, को विकसित करते हैं, आधार क्रियाओं सूक्ष्म आंदोलनों को आरंभ करते हैं जिनमें छोटे समूहों की भागीदारी होती है तथा स्थानीय मुद्दों तथा प्रश्नों के लिए संघर्ष होता है जिसके छोटे संस्थागत आधार होते हैं। नए आंदोलन सामान्यतः क्षैतिज रूप से संगठित प्रजातांत्रिक संगठनों को उत्पन्न करते हैं, "जो राष्ट्रीय स्तर पर श्लथ रूप से संधित रहते हैं (जीन कोहन 1985 : 667)। कोहन के अनुसार, नवीन सामाजिक आंदोलन नागरिक समाज के सामाजिक प्रभाव क्षेत्र को लक्ष्य करते हैं बजाय अर्थव्यवस्था तथा राज्य पर हमला करने के (आइबिड)। नवीन सामाजिक आंदोलन की प्रमुख सामाजिक विशेषताएँ उसकी स्व-सीमाकारी प्रकृति में दिखाई देती है। कोहन अनुसार, (आइबिड, 1985 : 679) ये चार अर्थों में स्व-सीमाकारी होते हैं जैसा कि नीचे प्रस्तुत किया गया है :

i) सामान्यतः, नवीन सामाजिक आंदोलन में नायक पहले की आदर्शवादी, अविभेदित समुदायों की वापसी के लिए संघर्ष नहीं करते हैं,

ii) नायक स्वायत्ता, बहुलता तथा विभेद के लिए संघर्ष करते हैं, लेकिन प्रजातंत्र, संसद, राजनीतिक भागीदारी तथा उसकी न्यायिक संरचनाओं के जन प्रतिनिधित्व के समतावादी सिद्धांतों को नहीं नकारते हैं।

iii) नायक अपने पूर्व अनुभवों से सीखने का सचेत प्रयास करते हैं, जिससे अपने मूल्यों को तार्किकता के साथ जोड़ सकें, सिवाय नवीन सामाजिक आंदोलन की मौलिकतावादी अभिव्यक्तियों के मामलों में, और अंत में

iv) नवीन सामाजिक आंदोलन में नायक राज्य की वैधता तथा बाजार के औपचारिक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

30.7 निष्कर्ष

हमने सामाजिक आंदोलनों को एक विशेष प्रकार की संघर्षात्मक सामूहिक क्रिया के रूप में पहचानने की कोशिश की है। संघर्ष की संरचना तथा उनका प्ररूप विज्ञान जो कुछ मामलों में विभिन्न प्रकार के आंदोलनों के साथ उनकी सहलग्नता को सुझाता है, की चर्चा विस्तार के साथ, प्रमुखता से की गई है। यहाँ पाठकों को यह बताने का प्रयास किया गया है कि सामाजिक आंदोलनों की प्रकृति तथा प्रकारें समाज के "प्रतिनिधित्व" की प्रकृति से संबंधित होती हैं। समाज के "प्रतिनिधित्व" को मुख्य रूप से पूंजीवाद, औद्योगिकवाद, भौतिकवाद तथा आधुनिकतावाद द्वारा परिभाषित किया गया है जो सामान्यतः "क्लासिकी", "नव-क्लासिकी" अथवा प्राचीन औद्योगिकवाद, भौतिकवाद तथा आधुनिकतावाद से पश्च-पूंजीवाद, पश्च-औद्योगिकतावाद, पश्च भौतिकतावाद तथा पश्च आधुनिकतावाद में रूपांतरण एक पूरी तरह से नए प्रकार की सामूहिक क्रिया को जन्म देती है, जिन्हें हम नवीन सामाजिक आंदोलन कहते हैं। इस स्थान पर सामाजिक आंदोलन दो भिन्न प्रकारों में विभाजित हो जाते हैं; जो क्रमशः "प्राचीन" तथा "नवीन" प्रकार के सामाजिक आंदोलन कहलाते हैं। नवीन सामाजिक आंदोलन पुनः विभिन्न उप-प्रकारों में उपविभाजित हो गए। प्रमुख उपप्रकारें बहिष्कारवादी तथा समावेशवादी प्रकार के नवीन सामाजिक आंदोलन की थीं। इन दोनों प्रमुख उप प्रकारों के नवीन सामाजिक आंदोलन में से प्रत्येक को पृथक प्रकारों में विभाजित किया गया है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आपको याद रखना चाहिए कि वर्गीकरण की कोई भी प्रणाली पूर्ण तथ सटीक नहीं है। वर्गीकरण की सार्थकता को सामाजिक सच्चाइयों को समझाने की उनकी क्षमता तथा कुशलता से तथा उनकी व्याख्या करने में सहायक होने से परिभाषित किया जाता है। "समानता" तथा "भिन्नता" के वर्गीकरण के सिद्धांत का उपयोग सतर्कता के साथ उस सामाजिक सच्चाई की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए जिसका आप वर्गीकरण कर रहे हैं।

30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रॉव, एम.एस.ए. 1984. (संपा.) *सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली।

देसाई, ए.आर. 1979. *पीसेंट स्ट्रगल इन इंडिया* (संपा.) ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सिंह, राजेंद्र 2001. *सोशल मूवमेंट्स, ओल्ड एंड न्यू : ए पोस्ट मॉडर्निस्ट क्रिटिक,* सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

इकाई 31

कृषक आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

31.1 प्रस्तावना

31.2 कृषक आंदोलनों का अध्ययन : एक अवलोकन

31.3 कृषकों तथा कृषक आंदोलनों की संकल्पना करना

31.4 कृषक तथा क्रांतिकारी आंदोलन

31.5 भारत में मौलिक कृषक आंदोलन

31.6 तेभागा आंदोलन (1946-47)

31.7 तेलंगाना आंदोलन (1946-52)

31.8 नक्सली आंदोलन (1967-71)

31.9 उभरती हुई कृषि संबंधी सामाजिक संरचना तथा कृषक आंदोलन

31.10 सामूहिक लामबंदी में परिवर्तन

31.11 निष्कर्ष

31.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न पर चर्चा करने में समर्थ हो सकेंगे :

- कृषकों तथा कृषक आंदोलनों की संकल्पना;
- क्रांतिकारी आंदोलनों में कृषक वर्ग की भूमिका;
- भारत में मूलभूत कृषक आंदोलन;
- समकालीन कृषक आंदोलन; तथा
- कृषक वर्ग की सामूहिक लामबंदी के पैटर्न में परिवर्तन।

MAADHYAM IAS

31.1 प्रस्तावना

इस इकाई का मुख्य सरोकार कृषक आंदोलनों के विभिन्न आयामों का परीक्षण करना है। यह इकाई सामाजिक आंदोलनों के तथा सामूहिक पहचान निर्माण के संकल्पनात्मक ढाँचे में प्रस्तुत की गई है। यह कृषकों तथा कृषक आंदोलनों की संकल्पनात्मक परिचर्चा के साथ आरंभ होती है। यह मौलिक कृषक आंदोलनों की अभिव्यक्तियों की प्रक्रियाओं के आर्विभाव की सामाजिक पृष्ठभूमि के बारे में भी संक्षेप में बताती है। कृषक आंदोलनों का मौलिक प्रावस्था से सुधारवादी कृषक आंदोलनों में रूपांतरण तथा इस रूपांतरण के विविध विस्तारों की भी इस इकाई में चर्चा की गई है।

31.2 कृषक आंदोलनों का अध्ययन : एक अवलोकन

जैसा कि पिछली इकाई में बताया गया है, भारत विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों की अभिव्यक्ति के लिए उर्वर भूमि रहा है। कृषक आंदोलन उन्हीं का एक प्रकार है।

वाकई भारतीय समाज में विभिन्न कालों में तथा स्थानों म असख्य कृषक आंदोलनों की अभिव्यक्ति हुई है। इन आंदोलनों के अनेक विवरण इतिहासकारों, राजनीतिकों, वैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानव विज्ञानियों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। अब इस क्षेत्र में विपुल साहित्य उपलब्ध है। बंगाल में नील की खेती करने वाले किसानों का आंदोलन (मिश्रा गिरीश, 1968), केरल में मालाबार में मोपला विद्रोह (गोपालन, 1921; डेल, 1975 तथा अन्य), बंगाल में तेभागा आंदोलन (धनगेरे, 1976; सेन, 1979; कसटर्स, 1987; सिंघारॉय 1992, 2004) तथा आंध्र प्रदेश में तेलंगाना आंदोलन (धनगेरे, 1974; कन्नाबिअरन, 1983) पश्चिम बंगाल में नक्सली आंदोलन (दासगुप्ता, 1974; बनर्जी, 1980; मुखर्जी, 1979; सिंघारॉय, 1992, 2005) तथा अनेक अन्य कृषक आंदोलन बिहार में (अरिवंद दास, 1983), आंध्र प्रदेश में (एन. जी रंगा, 1979), केरल में (ओमेन, 1985; कानन, 1988) उत्तर प्रदेश में (कुमार, 1984; आर. सिंह; पी.ब्रास, 1980) पंजाब में (गिल, 1980), राजस्थान में (सुराना, 1983) आदि हैं।

इन अध्ययनों ने इन कृषक आंदोलनों तथा इनसे जुड़े मुद्दों की उत्पत्ति को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन आंदोलनों की सामूहिक लामबंदी, विचारधाराओं की मजबूती, नेतृत्व संगठन की प्रक्रियाओं को आसानी से इन मामलों के गहन अध्ययन द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। भारत में कृषक आंदोलन विभिन्न कालों तथा स्थानों में होते रहे हैं। ये आंदोलन रूपांतरण की अनेक प्रक्रियाओं से गुजरे हैं। भारत कृषक आंदोलनों की समाज विज्ञानी समझ इस इकाई में प्रस्तुत की गई है जो इन आंदोलनों के काल तथा स्थान को ध्यान में रखकर इनके आर्विभाव, उत्पत्ति तथा रूपांतरण के विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत की गई है। इससे पहले कि हम इनकी प्रक्रियाओं का विश्लेषण करें : चलिए हम कृषक, कृषक आंदोलन तथा कृषक आंदोलनों के रूपांतरण विश्लेषण की योजना की संकल्पना को स्पष्ट रूप से समझ लें।

31.3 कृषकों तथा कृषक आंदोलनों की संकल्पना करना

चलिए हम कुछ संकल्पनात्मक स्पष्टीकरणों से आरंभ करते हैं। इस सेक्शन में हम कृषकों, कृषक जाति अंतरावस्था तथा कृषक आंदोलनों की चर्चा कर रहे हैं।

क) कृषक

ऐतिहासिक रूप से कृषकों की विरोधाभासी सामाजिक पहचाने हैं। समाजविज्ञान के साहित्य में उन्हें एक तरफ प्रतिक्रियावादी, दकियानूसी, अनाड़ी/अकुशल, समजात, अपूर्ण-विभाजित समाज तथा निर्भर के रूप में तथा दूसरी तरफ क्रांतिकारी, प्रगतिशील, स्व-चेतन, विषमताजात तथा स्व-पर्याप्त सामाजिक श्रेणी के रूप में दर्शाया गया है जिसमें स्वायत्त सामूहिक क्रिया की क्षमता होती है। हालाँकि, इन विरोधाभासों के बावजूद, समाज विज्ञानियों ने किसानों की समाज में अधीनस्थ, हाशिए की तथा कुचली हुई स्थिति को व्यापक रूप से रेखांकित किया है। सामाजिक तथा मानवविज्ञानी साहित्य में किसानों को व्यापक रूप से अनेक, अपरिलक्षी, अपरिष्कृत तथा अनपढ़ रूढ़ियों की अव्यवस्थित ठोस परंपरा के रूप में वर्णित किया है जो "लघु परंपरा" का मोजेक बनाती है (रेडफील्ड 1956) जो "अपूर्ण" तथा "विभाजित संस्कृतियों का विभाजित समाज" होता है (क्रोनर 1948)। राजनीतिक रूप से ये दमित स्थिति में होते हैं तथा इन पर बाहरी व्यक्तियों द्वारा प्रभुत्व कर लिया जाता है (शानिन 1984) जो असंगठित होते हैं तथा ये संगठित सामूहिक क्रिया के लिए जरूरी ज्ञान से वंचित होते हैं (वुल्फ 1984 : 264-265)। आर्थिक तौर पर, इन्हें अपने निजी उपभोग के लिए छोटे उत्पादकों के रूप में (रेडफील्ड 1956), गुजर-बसर करने वाले किसानों (फिर्थ 1946) के रूप में पहचाना जाता है जो प्रमुख रूप से परिवार की जरूरतों को पूरा करने के लिए खेती करते हैं ना

कि लाभ के लिए (लेथानोव 1966)। ऐतिहासिक रूप से, किसान सदा से ही समाज में चरम अधीनता तथा दमन के लिए अभिशप्त हैं। हालाँकि उनके अस्तित्व की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक स्थितियों ने काफी हद तक सामाजिक परिवर्तन तथा रूपांतरण में कृषक वर्ग की भूमिका को आकार दिया।

18वीं शताब्दी के फ्रांस के कृषक वर्ग के संदर्भ में कार्ल मार्क्स ने प्रकाश डाला कि उनके उत्पादन के तरीके ने उन्हें एक दूसरे से पृथक कर दिया। "उनके लिए, वे समजातीय प्रकारों के सहज योग से बने हैं, जैसे बोरे में बंद आलू, आलू का बोरा बनाते हैं" (मार्क्स 1974 : 231)। लेनिन के लिए, हालाँकि 19वीं शताब्दी के बाद के तथा 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों के रूस में कृषक वर्ग भूस्वामित्व, आय तथा अपने बाजार से संपर्क के मामले में असमान पैटर्नों द्वारा विभेदित थे। उनके लिए, कामगार कृषक तथा मुनाफाखोर किसानों के बीच में अत्यधिक अंतर था। जहाँ पहले वाला श्रमिक वर्ग का वफादार साथी था वहीं दूसरा वर्ग पूंजीपतियों का साथी था (लेनिन 1919 रिपिटिड, 1972 : 497-498)। दूसरी तरफ कोटस्की ने रूस में पूँजीवादी शहरी उद्योग की घुसपैठ, बढ़ती ग्रामीण तथा शहरी खाई तथा कृषक वर्ग के बढ़ते कर्जों तथा भूमिहीनता के कारण स्व-पर्याप्त कृषक घरेलू समाज के विघटन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला (कोटस्की 1899 रिपिटिड 1988)। एन्टोनियो ग्रेमस्की ने कृषक वर्ग को इटली के संदर्भ में एक विभक्त अस्तित्व के रूप में नहीं बल्कि बड़ी सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था के भाग के रूप में देखा है। कृषक वर्ग की अधीनता की प्रकृति को समझते हुए, ग्रेमस्की ने प्रकाश डाला कि उनकी अधीनता को श्रमिकों तथा किसानों के गठजोड़ के द्वारा तथा किसानों में वर्ग-चेतना के विकास के द्वारा तोड़ा जा सकता है (आर्नोल्ड 1984 : 161-62)। फ्रेंट्ज फेनन ने अल्जीरिया के संदर्भ में कृषकवर्ग के अध्ययन के दौरान बताया कि उपनिवेशी देशों में वो समाज की सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था मे परिवर्तन लाने में क्रांतिकारी भूमिका निभाते हैं। उनके लिए, किसान परिवर्तन में भागीदारी के जरिए उस स्थिति में पहुंच गए हैं जहाँ "उनके पास खोने के लिए कुछ नहीं है तथा पाने के लिए सब कुछ है" (फेनन 1971 : 47)। एलेवी ने रूसी तथा चीनी क्रांतियों में मध्य कृषक वर्ग द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डाला है। (एलेवी 1965)। हालाँकि, दक्षिण एशिया में कृषकवर्ग पर अपने निरीक्षणों से, उन्होंने ये बताया कि कृषक "अंततः तथा अटल रूप से क्रांति की राह तभी अपनाता है जब उसे व्यवहारिक रूप से दिखाया जाता है कि उसके स्वामी की शक्ति को निश्चित रूप से तोड़ा जा सकता है; तब अस्तित्व का वैकल्पिक तरीका उसके लिए वास्तविक हो जाता है (एलेवी 1973 : 333-34)। बैरिंगटन मूर ने मौलिक आंदोलनों में कृषक वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका को पहचानते हुए, ये बताया कि ऐसी भूमिकाएँ समाज के भीतर सत्ता की संरचना तथा वर्ग रेखीकरण पर निर्भर होती है। भारत का रूख करते हुए, उन्होंने कहा कि भारतीय कृषकवर्ग के निष्क्रिय गुण तथा भारतीय समाज के विशिष्ट संरचनात्मक गुणों के कारण जो जाति, धर्म तथा जातिगत विचारों से प्रभावित होते हैं, कृषक वर्ग देश में क्रांतिकारी भूमिका निभाने में समर्थ नहीं होता (1966)।

ख) भारत में कृषक जाति अंतराफलक

भारत में कृषक भूमिहीन कृषि मजदूरों, अधबटाई पर खेती करने वालों, किराएदारों, गरीब काश्तकारों तथा छोटे और सीमांत किसानों के विशाल समूह को प्रदर्शित करते हैं जिनका सामाजिक रूप से वंचित वर्गों जैसे अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं के साथ निकट सामाजिक अंतराफलक है। वर्ण वंशानुक्रम की तथाकथित "बहिष्कृत जातियाँ" सही मायने में ग्रामीण भारत में कृषक वर्ग का कोर समूह बनाती हैं। स्थानीय भाषा में कृषकों को किसान, कृषक, रोयतु, चासी आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है, जो ऐसे किसानों को सूचित करता है जो अपनी

मेहनत से भूमि पर खेती करते हैं इसके अतिरिक्त अधिहर तथा भगचासी एवं मजदूर, मजूर, कुली, पेट, कृषि श्रमिक आदि खेती मजदूर भी होते हैं। ये शब्द विशिष्ट सांस्कृतिक लक्ष्यार्थों को इंगित करते हैं जिनका उपयोग अक्सर कृषि वर्ग में इन श्रेणियों के सीमांत तथा निचले स्तर को इंगित करता है, इसके विपरीत ऊँची श्रेणियों के लिए भूस्वामी, मालिक, जोतदार, भद्रलोक आदि शब्दों का उपयोग किया जाता है, जिनकी कमाई का प्रमुख स्रोत भूमि से आता है लेकिन वो खेती की प्रक्रिया में स्वयं सम्मिलित नहीं होते हैं। अतः किसान सामाजिक तथा आर्थिक रूप से हाशिए पर, सांस्कृतिक रूप से अधीनस्थ तथा राजनीतिक रूप से सत्ताविहीन सामाजिक समूह हैं जो भूमि से अपनी गुजर-बसर के लिए जुड़े हैं।

भारत में कृषक समाज व्यापक रूप से सामाजिक रूपांतरण की व्यापक प्रक्रिया से प्रभावित रहे हैं जो भूमि सुधारों, ग्रामीण विकास के लिए किए गए प्रयासों, तथा नई कृषि तकनीक एवं पंचायती राज संस्थाओं के पुनरुद्धार के कारण हुए हैं। हालाँकि देश के कुछ भागों में किए गए अध्ययन (सिंघाराय 1992, 1995; रोगाली 1999; मुखर्जी एवं चट्टोपाध्याय 1981; ब्राइरेस 1981 तथा कई अन्य) दिखाते हैं कि इन परिवर्तनों ने सिर्फ आंशिक रूप से कृषक वर्ग की जीविका की सुरक्षा के मुख्य मुद्दे को बदल दिया जो अब भी आर्थिक रूप से हाशिए पर, बल्कि प्रमुख रूप से भूमिहीन, अर्थ-भूमिहीन, सीमांत अथवा छोटे किसानों में बंटे रहे, जिनके पास खेती के आधुनिक साधन नहीं हैं। इस निम्नतम स्तर तथा निम्न आर्थिक हैसियत के बीच सदियों पुराने संबंध ने सदैव कृषक आंदोलनों तथा समाज उनके दमन के विरुद्ध विभिन्न संघर्षों में उनके सामाजिक-आर्थिक सीमांतीकरण, राजनीतिक सत्ताहीनता तथा सामूहिक लामबंदी के लिए आधार प्रदान किया है।

ग) कृषक आंदोलन

सामाजिक आंदोलन का प्रमुख आयाम उसका जीवन इतिहास तथा रूपांतरण की प्रक्रिया है जिससे यह गुजरता है। आंदोलन नित्यक्रमिक/आम आंदोलन के रूप में उभर सकता है साथ ही इसके समर्थन में भी कमी हो सकती है। आंदोलन सुधारवादी गुण भी अपना सकता है। भारतीय संदर्भ में सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण की प्रक्रियाएँ क्रिया की सघन प्रावस्था से संस्थागत होने तक रही है (सिंघाराय 1992; ओमेन 1984)।

कृषक आंदोलन सामाजिक आंदोलनों के प्रमुख परिवर्ती हैं (धनागरे 1983)। इन आंदोलनों को उनके विचारधारात्मक अभिविनस, आधारी लामबंदियों के प्रकारों तथा उनकी गतिकी के विश्लेषण के लिए "मौलिक" तथा "संस्थागत" के रूप में परिवर्तन की ओर अभिविन्यास के संदर्भ में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। एक "मौलिक कृषक आंदोलन" को अ-संस्थागत व्यापक सामूहिक लामबंदी के रूप में देखा जाता है जो कृषक समाज में तीव्र संरचनात्मक परिवर्तन के लिए मौलिक विचारधारा द्वारा प्रेरित तथा निर्देशित होती है। दूसरी तरफ "संस्थागत" कृषक आंदोलन वह होता है, जिसमें संस्थागत जनसमूह की लामबंदी मान्य संस्थाओं द्वारा समाज को चयनित संस्थागत व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन के लिए होती है। ये देखा गया है कि कृषक आंदोलन, हालाकि, विविक्त रूप से मौलिक अथवा सुधारवादी नहीं होते हैं, बल्कि एक समय के साथ परिवर्तन के जरिए दूसरे का विस्तार हो सकता है (सिंघाराय 1992 : 27), तथा ये कि लामबंदी और संस्थागत होने की प्रक्रिया साथ-साथ हो सकती है तथा ये कि संस्थागत होना लामबंदी की नई संभावनाओं को प्रदान करता है (ओमेन 1984 : 2451)। तथा इन आंदोलनों के "मौलिक" से संस्थागत में रूपांतरण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष रूप से कृषक वर्ग की नई सामूहिक पहचान निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

MAGHYAM IAS
Key to achieve your dream

31.4 कृषक तथा क्रांतिकारी आंदोलन

सामाजिक प्रथक्करण, सांस्कृतिक विभाजन तथा आर्थिक शोषण, ने कृषकों के सीमांतीकरण तथा अधीनता की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को बल दिया। इन मुद्दों पर कृषकों के सामूहिक बोध तथा जागरूकता के फलस्वरूप विश्व में विभिन्न ऐतिहासिक कृषक आंदोलनों का जन्म हुआ। वुल्फ ने ऐसी अनेक ऐतिहासिक क्रांतियों तथा राजनीतिक विद्रोहों पर प्रकाश डाला है जिन्हें कृषकों के समर्थन से लड़ा गया, जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के विश्व को हिला दिया। उनके लिए, कृषकों ने बड़े विद्रोहों में भागीदारी जन-सांख्यिकीय संकट, पारिस्थतिकीय संकट तथा सत्ता और स्वामित्व के संकट के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के कारण की। चूँकि गरीब किसान अपनी जीविका के लिए भूस्वामियों पर निर्भर करते हैं, अतः उनके द्वारा विद्रोह की संभावना तब तक नहीं हो सकती जब तक वो किसी ऐसी बाहरी शक्ति पर भरोसा न कर सकें जो उस सत्ता को चुनौती दे सकें जो उन्हें सीमित करती हैं। उनके अनुसार कृषक वर्ग के दो घटक हैं, जिनमें लंबे विद्रोह को जारी रखने के लिए पर्याप्त आंतरिक आधार हो : "भूस्वामित्व वाला मध्यम कृषक वर्ग वह कृषक वर्ग जो परिधीय क्षेत्र में भूस्वामी के नियंत्रण क्षेत्र के बाहर स्थित हो।" उन्होंने ये भी कहा कि "बीसवीं शताब्दी के कृषक विद्रोह स्थानीय समस्याओं के लिए सामान्य प्रतिक्रिया भर नहीं रह गए , यदि वास्तव में वो कभी हुए थे। बल्कि वो झकझोर देने वाले सामाजिक परिवर्तनों द्वारा गति में आए प्रमुख सामाजिक विस्थापनों के लिए संकीर्ण सांप्रदायिक प्रतिक्रियाएँ थीं। (वुल्फ 1984 : 269-271)।

कृषक आंदोलनों में कृषक वर्ग की राजनीतिक पहचान तथा क्रिया की क्या प्रकृति रही है? शेनिन बताते हैं कि इतिहास में कृषक वर्ग ने अनेक बार राजनीतिक रूप से "वर्ग जैसी" सामाजिक इकाई के रूप में व्यवहार किया है। "उनके समान हितों ने कृषकों को बड़े पूँजीपति भूस्वामियों, विभिन्न शहरी लोगों के समूहों तथा आधुनिक राज्य के साथ राजनीतिक संघर्ष करने को प्रेरित किया है।" उनके अनुसार, आधुनिक समाज में सामाजिक इकाई के रूप में उसका गुण कृषकों की राजनीतिक क्रिया तथा प्रभाव के पैटर्न को निर्धारित करता है। उन्होंने तीन ऐसी प्रमुख प्रकार की क्रियाओं की पहचान की है : स्वतंत्र वर्ग क्रिया (जैसी कि मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण में निरूपित है;) निर्देशित राजनीतिक क्रिया (जिसमें कृषक वर्ग बाह्य एकीकरण शक्ति विशिष्ट जनसमूह द्वारा आंदोलित होता है); तथा पूरी तरह स्वायत्त, अनियत राजनीतिक क्रिया : स्थानीय दंगों तथा कृषक वर्ग के निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में होती है (शेनिन 1984 : 256-58)।

शेनिन के लिए, सेना तथा गुरिल्ला क्रिया ने कृषकों के राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये क्रियाएँ कृषक वर्ग को "स्वयं-के लिए-वर्ग" के रूप में प्रदर्शित करती हैं। उनके अनुसार ये क्रियाएँ कृषकों के राजनीतिक रूप से व्यवहार करने तथा राष्ट्रीय रूप से सोचने की क्षमता को बढ़ाती हैं। "व्यावसायिक विद्रोहों, राष्ट्रीय स्तर पर विचारधारा तथा संगठनात्मक मेल, उनकी स्थिरता तथा इच्छाशक्ति तथा लंबी अवधि की रणनीति बनाने की उनकी क्षमता ने संभवतः कृषक वर्ग को समूहित करने में तथा कभी-कभी उनके विद्रोह को सफल क्रांति में रूपांतरित कर देने में समर्थ बनाया। (आइबिड 261)।

एलेवी ने रूस तथा चीन की क्रांतियों में मध्य कृषक वर्ग द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार, यह निम्न कृषक वर्ग नहीं बल्कि मध्य कृषक वर्ग ही था, जिसने कृषक विद्रोहियों को प्रमुख प्रेरणा दीं। वैरिंगटन मून (1966) ने मौलिक आंदोलनों में कृषक वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका को पहचाना, लेकिन ये बताया कि ऐसी भूमिकाएँ सत्ता की संरचना तथा समाज में वर्ग समीकरणों पर निर्भर होती हैं। भारत की ओर रूख करते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय कृषक वर्ग के निष्क्रिय गुण तथा

भारतीय समाज के विशिष्ट संरचनात्मक गुणों के कारण जो जाति, धर्म तथा जातिगत सोच के अधीन हैं, कृषक वर्ग कोई क्रांतिकारी भूमिका निभाने में समर्थ नहीं है।

भारत में हालाँकि कृषकों ने स्वतंत्रता संग्राम में क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। मुखर्जी के हाल के अध्ययन भारत में अ-हिंसा आंदोलन में कृषक वर्ग द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। हालाँकि, इस इकाई के सीमित स्कोप में हम भारत में हुए कुछ कृषक आंदोलनों पर ही फोक्स करेंगे।

31.5 भारत में मौलिक कृषक आंदोलन

कृषक आंदोलनों के विविध फलकों पर प्रकाश डालने के लिए हम भारत में कृषक आंदोलनों के कुछ पहलुओं की चर्चा करेंगे, क्योंकि भारत अनेक कृषक आंदोलनों की समरभूमि रहा है। हालाँकि, कृषक आंदोलन घटनात्मक नहीं होते हैं। ये समाज के व्यापक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक रूपांतरण के साथ रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। इन कृषक आंदोलनों में से अनेक ने पूर्व के प्रमुख कृषक आंदोलनों के साथ अपनी पैत्रिकता को बनाए रखकर एक अथवा दूसरे तरीके से अपनी सतत्ता को बनाए रखा है। हालाँकि, समकालीन कृषक आंदोलनों की विचारधारात्मक विन्यास, नेतृत्व, संगठन तथा प्रमुख रूप से सामूहिक लामबंदी तथा रणनीतिक कार्ययोजना में काफी परिवर्तन हुए हैं। इन सभी ने आधारभूत लामबंदी, नई पहचान निर्माण की प्रक्रिया तथा मौलिक कृषक आंदोलनों के संस्थागत आंदोलन में रूपांतरण की प्रक्रिया को प्रभावित किया है। हालाँकि, कृषक आंदोलन विविक्त रूप से मौलिक अथवा सुधारवादी नहीं होते हैं, बल्कि समय के साथ संक्रमण से एक दूसरे का विस्तार भी हो सकता है (सिंघाराय 1992 : 27)। कृषक आंदोलन के "मौलिक" से "सुधारवादी" में रूपांतरण की प्रक्रिया कृषक वर्ग की नई सामूहिक पहचान निर्माण की प्रक्रिया को सीधे प्रभावित करती है। क्या कृषक वर्ग की नई पहचान निर्माण की प्रक्रिया किसी सामाजिक आंदोलन के मुद्दों, लक्ष्यों तथा विचारधारा से स्वतंत्र होती है? क्या वे आंदोलन के मौलिक से संस्थागत में रूपांतरण की प्रक्रिया में अपनी स्वतंत्र पहचान बना लेते हैं?

MADHYAM IAS

कृषक के रूपांतरण की प्रक्रिया ने न सिर्फ इन आंदोलनों में उनकी भागीदारी के रूप तथा सीमा को प्रभावित किया है बल्कि उनके सामूहिक पहचान निर्माण, इन लामबंदियों की स्वायत्तता की प्रकृति तथा उससे बनी नई पहचान के मूल सारतत्व को भी प्रभावित किया है। हालाँकि, कृषक आंदोलन के रूपांतरण की दिशा तथा कृषक वर्ग के लिए उनके प्रभाव देशभर में समान नहीं होते हैं क्योंकि कृषक समाजों के आर्थिक विकास तथा सामाजिक और राजनीतिक निर्माण के पैटर्न भिन्न-भिन्न होते हैं।

पिछली शताब्दी के मध्य से भारत के कृषक समाजों ने तीन महत्वपूर्ण कृषक आंदोलनों का अनुभव किया है। अविभाजित बंगाल के गरीब कृषक वर्ग ने 1946-47 में तिभाग (भूमि की उपज के दो तिहाई भाग पर हिस्सेदारी) के लिए विद्रोह किया था। आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के कृषक वर्ग ने भूस्वामियों, सूदखोरों तथा राज्य के खिलाफ बंधुआ, मजदूरी तथा जबरन अधिक ब्याज दर की वसूली के बहिष्कार तथा समाज में उनके तिरस्कार के विरुद्ध 1948-52 में विद्रोह किया; तथा पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी के कृषक वर्ग ने स्थानीय भूस्वामियों, सूदखोरों तथा राज्य के विरुद्ध 1967-71 में विद्रोह किया था।

हालाँकि, तिभागा, तेलंगाना तथा नक्सली आंदोलन भिन्न भौगोलिक स्थानों तथा भिन्न कालखंड में हुए, लेकिन इन आंदोलनों में कुछ महत्वपूर्ण समानताएँ हैं :

i) पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों की बढ़ती भूमिहीनता, गरीबी, कम रोजगार तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक और आर्थिक अभाव तथा

ऊपरी जातियों के भूस्वामियों एवं सूदखोरों द्वारा उनका शोषण इस आंदोलन से जुड़े प्रमुख मुद्दे हैं।

ii) ये सभी आंदोलन कम्युनिस्टों (एक भिन्न राजनीतिक संगठन) के संगठन तथा नेतृत्व में संचालत किए गए थे।

iii) ये सभी आंदोलन विचारधारा के तौर पर मौलिक प्रकृति के थे। इन आंदोलनों ने समाज के आदर्शों तथा पूर्वविद्यमान संस्थागत व्यवस्थाओं को चुनौती दी।

iv) इन आंदोलनों में गैर-संस्थागत सामूहिक लामबंदी तथा क्रिया को प्रायोजित किया गया था।

v) ये आंदोलन प्रत्यक्ष रूप से पारंपरिक भूस्वामियों, पुलिस प्रशासन तथा राज्य के अन्य उपकरणों के विरुद्ध थे।

vi) इन आदांलनों ने समाज में पहले से मौजूद कृषि संबंधी व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्तन की कोशिश की।

vii) हालाँकि इन आंदोलनों का नेतृत्व अधिकतर शहरी बुद्धिजीवियों तथा ऊपरी जाति के समूहों द्वारा हुआ था लेकिन गरीब कृषक वर्ग विशेष रूप से अनुसूचित जातियाँ तथा जनजातियाँ, इन सामूहिक लामबंदियों के प्रमुख संचालन बल थे।

viii) इन सभी आंदोलनों में सामूहिक लामबंदी की प्रगति की सभी प्रावस्थाओं में महिलाओं की प्रमुख भागीदारी को महसूस किया गया, तथा ऊपरी जाति के भूस्वामियों द्वारा महिलाओं का शोषण इन आंदोलनों का प्रमुख मुद्दा था।

31.6 तेभागा आंदोलन (1946-47)

तेभागा आंदोलन अविभाजित बंगाल में 1940 के दशक के मध्य में अधबटाई पर काम करने वाले किसानों द्वारा उपज में अपने लिए तिभागा (दो तिहाई भाग) की माँग के लिए किया गया था जबकि पारंपरिक रूप से जोतेदारों — मध्यवर्ती भूस्वामियों का एक वर्ग — द्वारा उन्हें उपज का आधा भाग दिया जाता था। यह आंदोलन एक तरफ भूस्वामियों के मध्य वर्ग के बढ़ते हितों के विरुद्ध था तथा दूसरी तरफ कृषि मजदूरों, अधबंटाई पर काम करने वालों तथा गरीब किसानों के आर्थिक स्तर में निरंतर कमी के विरुद्ध था। सबसे निचले तबके की गिरती आर्थिक स्थिति उस समय के बंगाल के कृषक समाज में अधबंटाई किसानों तथा कृषि मजदूरों की संख्या में तेजी से वृद्धि से प्रतिबिंबित होता है। 1940 के भूमि राजस्व आयोग की रिपोर्ट दिखाती है कि पूरे बंगाल प्रांत के 8,547,004 एकड़ भूमि में से अविभाजित बंगाल की 592,335 एकड़ भूमि स्थानांतरित हो गई थी जिसमें से 31.7 प्रतिशत वर्ग (अधबंटाई में) तथा 24.6 प्रतिशत काश्तकारी में दे दी गई थी (एल आर सी 1940, खंड 2 : 120)। व्यापारी, सूदखोरों तथा मध्यवर्ती भूस्वामियों ने गरीब किसानों की गरीबी को और पुख्ता करने के लिए उन्हें अत्यधिक ब्याज पर धन दिया। जब गरीब किसान ऋण चुकाने में असमर्थ होकर अपनी भूमि सूदखोर को दे देता था, तो उसे उसी भूमि पर इस शर्त पर पुनः खेती करने दी जाती थी कि वो अपनी उपज का आधा भाग सूदखोर को देगा। जो किसान अधबंटाई पर काम नहीं कर पाए वो कृषि मजदूर बन गए। भूमि राजस्व आयोग ने 1940 में बताया था कि कृषि मजदूरों का प्रतिशत बंगाल के कुल परिवारों का 22.5 प्रतिशत था (एल आर सी 1940, खंड 2 : 117-20)।

भूमि काश्ताकारी/पट्टेदारी की शोषणकारी व्यवस्था, जो स्थायी समाधान द्वारा शुरू हुई थी, ने बंगाल के कृषकवर्ग की निचले स्तर पर लामबंदी की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

ब्रिटिश शासन के दौरान कृषक वर्ग के शोषण तथा सामाजिक दमन, दरिद्रता तथा कंगाली के उभरते पैटर्न संस्थागत हो गए थे (रसूल 1974)। 1920 के दशक के आरंभ से ही कृषक वर्ग की घटती आर्थिक स्थिति से संबंधित प्रश्नों को 1921 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी पी आई); श्रमिक तथा कृषक पार्टी (डब्ल्यू पी पी) 1992 तथा 1929 में कृषक प्रजा पार्टी (के पी पी) के गठन के साथ ही संगठित फोकस मिल गया था। अखिल भारतीय किसान सभा (ए आई के एस) की प्रांतीय शाखा बंगाल किसान सभा (बी के एस) का गठन 1936 में हुआ था। कृषक प्रजा पार्टी ने प्रांतीय चुनाव इस शर्त पर जीता था कि वह भूस्वामित्व की मध्यवर्ती प्रणाली को खत्म कर देंगे। कांग्रेस के साथ गठबंधन करके इसने बंगाल में पहली प्रचलित सरकार बनाई और फिर कृषि संबंधी मुद्दों को देखने के लिए 1938 में भूमि राजस्व आयोग का गठन किया। इस आयोग ने 1940 में कहा कि "सभी बर्गादारों को काश्तकार मानना चाहिए तथा उनकी उपज में से आधे की बजाय एक तिहाई भाग की कानूनी रूप से उगाही की जानी चाहिए" (खंड 1, 1940 : 69)। जहाँ कृषक प्रजा पार्टी ने कृषि संबंधी समस्याओं से मुँह मोड़ लिया वहीं सरकार ने भूमि राजस्व आयोग की संस्तुतियों को लागू करने में कोई जल्दी नहीं दिखाई, ए आई के एस ने अपने कृषि संबंधी कार्यक्रम को आमूल परिवर्तित कर लिया। नवंबर 1946 में बंगाल किसान सभा ने कलकत्ता में अधबंटाई करने वालों के लिए तिभाग (कृषि उपज में लगभग दो तिहाई भागीदारी) तथा "लंगल जर जानिन तर" (कृषक के लिए भूमि) के लिए एक प्रस्ताव पारित किया।

उत्तर बंगाल, विशेष रूप से दिनाजपुर जिला बंगाल किसान सभा की सक्रियता का केंद्र बन गया क्योंकि वहाँ भूमि पर खेती की अधबंटाई प्रणाली का काफी प्रचलन था। खानपुर गाँव के गरीब किसान, जो अधिकतर अनुसूचित जातियों (राजबंसी, पोलिया तथा माली), अनुसूचित जनजातियों (ओरॉन, कोलकमार, संताल तथा अन्य जनजातियों (महतो) ने स्वतः इस आंदोलन के लिए प्रतिक्रिया की। जब आंदोलन सामूहिक क्रिया के रूप में बढ़ गया, तो अधबंटाई किसान चावल की खेती करने लगे तथा उसे स्थानीय नेताओं के कहने पर अपने खोलन (आंगन) में ले जाने लगे। बढ़ते तनाव की इस स्थिति में स्थानीय भूस्वामियों ने अधबंटाईधरों के विरुद्ध एफ आई आर दर्ज करवा दी। 20फरवरी 1947 की सुबह तड़के ही पुलिस गाँव में पहुँच गई तथा कुछ अधबंटाईदारों को गिरफ्तार कर लिया। यह खबर जंगल की आग की तरह गाँव भर में फैल गई तथा कृषक महिलाओं के द्वारा ढोल, टीन के डिब्बे, घंटे, शंख आदि बजाकर पूरे गाँव को सचेत कर दिया। गाँव तथा उसका परिवेश ड्रमों, टीन के बर्तनों, शंखों की गूंज तथा घड़ियालों के शोर से गूंज उठा। गरीब किसानों तथा अधबंटाईदारों को विशाल जनसमूह ने खानपुर तथा पड़ोसी गाँवों से तीर कमान, लाठियाँ, कुल्हाड़ियाँ आदि लेकर पुलिस पर चढ़ाई कर दी। उन्होंने अपने अधबंटाईदारों को छोड़े जाने की माँग की। लेकिन पुलिस वाले अड़ गए तथा उन्होंने 119 राउंड गोलियाँ चलाईं, जिसमें 22 अधबंटाईदार मर गए जिनमें दो महिलाएँ भी थीं।

खानपुर की घटना ने तिभागा आंदोलन को बहुत तेजी से बंगाल के अधिकांश भाग में फैला दिया। गरीब किसानों ने भूस्वामियों के साथ अपने पारंपरिक गठजोड़ को नकारते हुए भूस्वामियों के साथ अपनी आधी उपज को बाँटने से इंकार कर दिया। विरोध, गोलीबारी, हत्याएँ, 1946 में इस कृषि समाज का हिस्सा बन गई थीं। हालाँकि, उपनिवेशी शासकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में आतंक का साम्राज्य बनाकर इस आदोंलन को कुचलने के लिए सभी दमनकारी तरीकों का उपयोग किया।

31.7 तेलंगाना आंदोलन (1946-52)

आंध्र प्रदेश का तेलंगाना आंदोलन (1946-52) शासकों तथा स्थानीय भूस्वामियों के सामंती दमन के विरुद्ध लड़ा गया था। हैदराबाद की कृषि सामाजिक संरचना 1920 के

दशक में तथा उसके बाद अत्यधिक उत्पीड़नकारी के रूप में उभरी थी। काश्तकारी में उप-सामंती की प्रक्रिया ने काश्तकारों तथा गरीब किसानों की असुरक्षा को बढ़ा दिया। ग्रामीण तेलंगाना की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में, जागीरदार तथा देशमुख जिन्हें स्थानीय रूप से डोरा कहा जाता था, ने प्रभावी भूमिका निभाई। ये ऊँचे ओहदों तथा सूदखोरी तथा ग्राम अधिकारियों वाले मध्यम भूस्वामी थे तथा अधिकतर उँची जातियों के अथवा प्रभावशाली मुस्लिम समुदाय की पृष्ठभूमि से थे। अपने आर्थिक और राजनीतिक रसूख के कारण ये आसानी से वेट्टी (बंधुआ मजदूर) प्रथा के द्वारा गरीब कृषकवर्ग का अतिरिक्त आर्थिक शोषण कर लेते थे। भूमि संबंधी वर्णक्रम के सबसे निचले तबके में अछूत जातियाँ तथा जनजातीय समूह जैसे कोंडा, रेड्डी, कोया, चेंच्यू, लंबोडी तथा बंजारे थे। भूमि संबंधी वर्णक्रम के निचले तबके के लोगों का जीवन अधि-मानवीय स्तर का था। इस प्रथा में हरिजन तथा जनजातीय लोग सबसे अधिक पीड़ित थे (धनागरे 1983)। बेलगाम सामंती शोषण के अतिरिक्त्, मुसलमान शासक भी अपनी हिंदू जनता के विशाल जनसमूह से अत्यधिक दूरी बनाए रखते थे (सुन्दरैया 1985)।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस, आंध्र जन संगम तथा आंध्र महा सभा (ए एम एस) ने 1920 के दशक के अंत में तेलंगाना के कृषक वर्ग की दयनीय स्थिति के मुद्दे को उठाया था। ए एम एस के तत्वावधान में 1940 में जागीर रयातु संघम का गठन हुआ जिसने सरकार पर जागीरदारों के अधीन काम करने वाले जागीर कृषकों की समसयाओं को सुलझाने के लिए दबाव डाला। फिर 1934 में आंध्र कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। 1942 में जब कम्युनिस्टों पर से प्रतिबंध हट गया, तो उन्होंने ए एम एस का नेतृत्व संभाल लिया। उन्होंने "वेट्टी को हटाने", "अतिशय लगान को रोकने" तथा काश्ताकरों की मुक्ति के लिए", "करो", "राजस्व" तथा "लगानों" को कम करने, ",खेती करने वाले काश्तकारों के पट्टे के अधिकारों की पुष्टि" आदि के मुद्दों को उठाया। कृषक वर्ग की लामबंदी की इन सभी प्रक्रियाओं ने तेलंगाना के ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव को बढ़ा दिया, जो अंततः कृषकों की राजनीतिक चेतना में तब्दील हो गया और धीरे-धीरे वहाँ नई जागरूकता आ गई (कन्नाबिरन, वी.; ललिता, के; एवं उनके सहयोगी : 1989)।

MADHYAM IAS

यह बंधुआ मजदूरी तथा गैरकानूनी वसूली और गरीब काश्तकारों की बेदखली जैसे मसले थे जिन्होंने हैदराबाद के तेलंगाना क्षेत्र के कृषकवर्ग को अनेक संघर्षों के लिए मजबूर किया। तेलंगाना सशस्त्र संघर्षों का आरंभ विशनुर रामचन्द्र रेड्डी की ज्यादतियों के विरुद्ध हुआ था जो 1946 में नालगोंडा जिले की जनगाँव तेहसील में देशमुख था, जब उसके गुंडों ने 4 जुलाई को काडीवेन्डी गाँव में स्थानीय आंध्र महासभा कार्यकर्ता दोडी कोमरैया पर हमला करके उसकी हत्या कर दी थी। (सुन्दरैया 1985 : 13-14)। इस घटना ने भूस्वामियों जिन्हें निजाम सरकार से खुला समर्थन मिल रहा था तथा गरीब कृषकवर्ग के बीच संघर्ष को सघन कर दिया जिन्हें सी पी आई द्वारा ए एम एस के तत्वावधान में संगठित किया गया था।

1947 में भारत के स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने तथा इसके परिणामस्वरूप निजाम के भारतीय राज्य संघ में शामिल होने से इंकार के पश्चात् आंदोलन ने नया रूप ले लिया। सी पी आई ने रजाकारों (राज्य अर्धसैनिक बल) तथा सरकरी बलों के खिलाफ ग्राम सुरक्षा समितियों का गठन करके तथा दलामों (सशस्त्र दस्तों) को हथियारों का प्रशिक्षण प्रदान करके गुरिल्ला संघर्ष का आह्वान किया। लगभग 4000 गाँवों में निजाम की प्रशासनिक मशीनरी स्थिर हो गई। इनके स्थान पर ग्राम राज्य (ग्रामीण प्रशासनिक इकाइयाँ) स्थापित हो गए। वेट्टी को खत्म कर दिया गया तथा लगभग 12 लाख एकड़ भूमि को तेजी से पुनर्वितरित कर दिया गया। बकाया ऋणों को खारिज कर दिया गया, काश्तकारों को पूरे काश्तकारी अधिकार प्रदान कर दिए गए, ताड़ी निकालने वालों को वापिस वृक्षों पर अधिकार मिल गया, अछूत प्रथा खत्म कर दी गई, तथा नई सामाजिक जागरूकता

दिखाई देने लगी। सशस्त्र महिलाओं ने रजाकारों से अपनी सुरक्षा की (के. ललिता; वी. कन्नाबिरन तथा उनके सहयोगी 1989 : 14)। निजाम के स्वतंत्र भारतीय राज्य संघ में विलय से इंकार पर भारत सरकार ने निजाम के विरुद्ध और साथ ही सी पी आई के विरुद्ध 1948 में सैनिक कार्यवाही आरंभ कर दी। सी पी आई ने सुरक्षात्मक संघर्ष का रास्ता अपनाया। उन्होंने मुक्त क्षेत्र की योजना बनाई और अपने संघर्ष को सघन कर दिया। हालाँकि तेलंगाना में कम्युनिस्टों के लिए भारतीय सेना से मुकाबला करना काफी कठिन था। सैंकड़ों कृषक विद्रोही मारे गए। अनेक आश्रय तथा समर्थन की कमी से मर गए। निजाम को पहले ही भारतीय सेना द्वारा पदच्युत कर दिए जाने से, आंदोलन के औचित्य पर नेताओं तथा तेलंगाना के सामान्य कृषक वर्ग द्वारा पुनर्विचार किया गया। 1951 में सी पी आई के पोलितब्यूरो ने संधर्ष समाप्ति की घोषणा कर दी।

सुन्दरैया (1985) ने इस कृषक विद्रोह की संपूर्ण बैलैन्स शीट प्रस्तुत की है : 4000 तक कम्युनिस्ट तथा कृषक विद्रोही मारे गए; 19,000 से अधिक कम्युनिस्ट कैडर तथा जन योद्धाओं को नजरबंदी कैम्पों तथा जेलों में 3-4 वर्ष की अवधि के लिए डाल दिया गया। कम से कम 50,000 व्यक्तियों को समय-समय पर पुलिस तथा मिलिट्री कैम्पों में डाला गया था; उन्हें हफ्तों और महीनों तक मारा-पीटा जाता, यातनाएँ दी जाती थीं तथा आतंकित किया जाता था। हजारों गाँवों में लाखों व्यक्तियों को पुलिस तथा सैन्य धावों तथा निरंकुश लाठी चार्ज का सामना करना पड़ा; इन सैनिक तथा पुलिस हमलों में करोड़ों रुपयों की संपत्ति की हानि हुई, जिसे या तो लूट लिया गया अथवा नष्ट कर दिया गया; हजारों महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ तथा उन्हें सभी प्रकार के अपमान और अमर्यादित आचरणों से गुजरना पड़ा (सुन्दरैया 1985 : 4)।

31.8 नक्सली आंदोलन (1967-71)

स्वतंत्र भारत के कृषि समाज ने मई, 1967 के कृषक विद्रोह के साथ कृषक आंदोलनों के इतिहास में एक नए अध्याय को जोड़ा था, जो पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले के नक्सलबाड़ी थाने में हुआ था। देश की स्वतंत्रता के तत्काल बाद, पश्चिम बंगाल की सरकार ने (पश्चिम बंगाल संपत्ति अधिग्रहण कानून 1953) को लागू करके जमींदारी तथा अन्य मध्यवर्ती प्रथाओं को समाप्त कर दिया तथा (पश्चिम बंगाल भूमि सुधार कानून 1955) लागू करके भूसम्पत्ति की अधिकतम सीमा तय कर दी, जिससे अधबंटाईदारों को उपज का 60% भाग मिले तथा अधबंटाईदारों की बेदखली को प्रतिबंधित किया जा सके। हालांकि, राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव के कारण इन कानूनों के प्रगामी प्रावधान सिर्फ कानूनी किताबों में ही बंद होकर रह गए। यही नहीं काश्तकारों तथा अधबंटाईदारों की बेदखली, कृषकों की नीचे गिरती स्थिति, उनकी आर्थिक असुरक्षा तथा बेरोजगारी उस काल के कृषि समाज का अभिन्न हिस्सा बन गईं। अधबंटाईदार जो 1952-53 में ग्रामीण परिवारों का 16 प्रतिशत थे 1961-62 में घटकर 2.9 प्रतिशत रह गए। हालाँकि, सीमांत तथा छोटे किसानों का कदाशय भूमि स्थानांतरण अनुपात ग्रामीण जनसंख्या में बढ़ गया था, वास्तविक अर्थों में गरीब कृषक वर्ग अपनी जीविका की असुरक्षा से पैदा हुई, त्रासद स्थिति से गुजर रहे थे। यह 1961 में कृषि मजदूरों की संख्या के 15.3% से 1971 में बढ़कर 26.2 हो जाने से उसी अवधि में किसानों की श्रेणी के 38.5% से घटकर 32% हो जाने से स्पष्ट दिखाई दिया (भारतीय जनगणना 1961, 1971)। यह महत्वपूर्ण है कि ऑल इंडिया क्रेडिट कमेटी ने अपनी 1968 की रिपोर्ट में "ग्रामीण क्षेत्रों में वर्गों के बीच तीव्र ध्रुवीकरण के आविर्भाव" को बताया था (भारत सरकार : 1968)।

इस पृष्ठभूमि में जहाँ गरीब कृषक वर्ग की आर्थिक स्थिति गिर रही थी, वहीं पश्चिम बंगाल में होने वाली राजनीतिक घटनाएँ नया मोड़ ले रही थीं। फरवरी 1967 में,

युनाइटेड फ्रंट (जो सी पी आई, सी पी आई (एम), आर एस पी आदि जैसी कम्युनिस्ट पार्टियाँ द्वारा शासित था) अस्तित्व में आया जिसने "किसान के लिए भूमि", "सर्वहारा के शासन" जैसे वादे किए। युनाइटेड फ्रंट ने भूमि सुधारों को लागू करने, सभी भूमिहीन परिवारों को भूमि देने के वादे की शपथ ली तथा एक संगठित बल के रूप में कृषक वर्ग से अधिक सैन्य पहल को आमंत्रित किया (बनर्जी; 1980 : 105)। वामपंथी राजनीतिक दलों ने 1960 के दशक के आरंभिक वर्षों से नक्सलबाड़ी क्षेत्रों में कृषक वर्ग की सघन लामबंदी आरंभ की जब नक्सलबाड़ी क्षेत्र के भूस्वामियों ने अधबंटाईदारों की व्यापक स्तर पर बेदखली आरंभ कर दी थी। सी पी आई (एम) की दार्जिलिंग जिले की कमेटी ने कृषकों को युनाइटेड फ्रंट सरकार के गठन के बाद सेना के पदचिह्नों पर संगठित करना आरंभ कर दिया।

नक्सली आंदोलन देश के कई भागों में तेजी से फैल गया, दीर्घकालिक शस्त्र प्रतिरोध, मुक्त क्षेत्र की घोषण, हत्या तथा गिरफ्तारी पश्चिम बंगाल के कृषि समाज का नियमित हिसा बन गईं। जून 1967 के अंत तक सी पी आई (एम) नेतृत्व नक्सलबाड़ी नेताओं के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, जिसने उन्हें "एक संगठित दल-विरोधी समूह कहा जो एक दुस्साहसिक कार्य योजना की वकालत करता था।" तब उन्नीस सदस्यों को पार्टी से निष्कासित कर दिया गया, जिससे दरार पूरी हो गई। नक्सलबाड़ी कृषक संघर्ष सहायता समिति तथा समन्वय समिति की अवस्थाओं से गुजरकर, सी पी आई - एम एल का गठन अंततः मई 1969 में एक संगठित सैन्य समूह के द्वारा किया गया था (चटर्जी 1998 : 89)।

31.9 उभरती हुई कृषि संबंधी सामाजिक संरचना तथा कृषक आंदोलन

आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल के कृषि समाज मौलिक कृषक आंदोलनों के विस्तार के कारण प्रासंगिक परिवर्तन से गुजरा। दोनों राज्यों में व्यापक भूमि सुधार कार्यक्रमों को आरंभ किया जिससे वहाँ की कृषि सामाजिक संरचना को प्रभावित किया। हालाँकि, भूमि सुधार नियमों के लागू होने की कहानी आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में एक जैसी नहीं थी। आंध्र प्रदेश ने अतिरिक्त भूमि को हासिल करने और ग्रामीण गरीबों को वितरित करने में बहुत कम सफलता प्राप्त की। जबकि, पश्चिम बंगाल ने इस संबंध में चमत्कारित सफलता प्राप्त की। आंध्र प्रदेश में जुलाई 1992 तक, सिर्फ .729 लाख एकड़ भूमि को "अतिरिक्त वेस्टेड" घोषित किया था, जिसमें से 0.549 लाख एकड़ को अधिगृहीत कर लिया गया तथा 0.504 लाख एकड़ को कृषकों में वितरित कर दिया गया। पश्चिम बंगाल में, 1.229 लाख एकड़ भूमि को अतिरिक्त घोषित किया गया, जिसमें से 1.201 लाख एकड़ को अधिगृहीत कर लिया गया तथा 0.936 लाख एकड़ को वितरित कर दिया गया। हाल ही की एक रिपोर्ट दिखाती है कि पश्चिम बंगाल की सरकार ने, सितम्बर 2000, तक 1.045 लाख एकड़ जमीन को 2.544 लाख किसानों में वितरित कर दिया। इस अवधि में 1.495 लाख अधबंटाईदारों के नाम दर्ज हो चुके थे जिनमें 1.105 लाख एकड़ भूमि क्षेत्र को बांटा गया था (पश्चिम बंगाल सरकार 2002)। भूमि सुधारों को लागू करने की इस प्रक्रिया ने आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में पाए जाने वाले काश्तकारी तथा कृषि संबंधी संबंधों के पैटर्नों को विविध प्रकार से प्रभावित किया।

बीते वर्षों में सीमांत किसानों का प्रतिशत दोनों राज्यों में बढ़ा है। हालाँकि, पश्चिम बंगाल में सीमांत किसानों का प्रतिशत चमत्कारित रूप से 23.84% बढ़ा है तथा छोटे किसानों सहित अन्य सभी श्रेणियों में इन वर्षों में निरंतर कमी आई है। दूसरी तरफ आंध्र प्रदेश में सीमांत किसानों की संख्या में इतनी तेजी से वृद्धि नहीं हुई है, ये सिर्फ 13.15% ही है।

ये महत्वपूर्ण है कि सीमांत काश्तकारी पश्चिम बंगाल में बड़ी संख्या में काश्तकारी परिवारों में भूस्वामित्व का तरीका रहा है। 40% से अधिक सीमांत किसानों के पास 0.20 हैक्टेयर से भी कम माप की भूमि है। पश्चिम बंगाल में सभी छोटे और सीमांत किसान कुल मिलाकर 70% भूस्वामित्व वाले परिवारों को प्रदर्शित करते हैं।

आंध्र प्रदेश में वो लगभग 44% भूस्वामित्व वाले परिवारों को प्रदर्शित करते हैं। हालाँकि, पश्चिम बंगाल में भूस्वामित्व का औसत आमाप काफी कम यानि सिर्फ 0.46 हैक्टेयर है जबकि आंध्र प्रदेश के लिए ये 0.78 हैक्टेयर है। भूमिहीन तथा अर्ध-भूमिहीन पश्चिम बंगाल में ग्रामीण परिवारों का 53.4% तथा आंध्र प्रदेश में लगभग 46% बनाते हैं। यह महत्वपूर्ण है कि भूमि सुधार के बावजूद ग्रामीण समाज में उनका प्रतिशत निरंतर बढ़ रहा है।

इन राज्यों में व्यापक परिदृश्य के विरुद्ध कृषक आंदोलन ने नए आयाम हासिल किए हैं गत वर्षों में वामपंथी दल मौलिक कृषक आंदोलनों की ऐतिहासिक विरासत के स्वामी बन कर उभरे हैं। चूँकि पुराने मुद्दे मौलिक आंदोलनों के विस्तार के बाद भी नहीं सुलझे अतः पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश के गरीब किसान भूमि सुधार तथा ग्रामीण विकास के मुद्दों पर विशेष रूप से कम्युनिस्टों द्वारा निरंतर लामबंदी करते रहे हैं। पश्चिम बंगाल में कृषक वर्ग की लामबंदी को युनाइटेड लेफ्ट फ्रंट/संयुक्त वामपंथी मोर्चा सरकार के 1977 में सत्ता में आने के बाद से गति मिली है। वास्तव में, तब से कृषकों की नियमित लामबंदी भूमि सुधार तथा ग्रामीण विकास की योजनाओं को लागू करने का वाहन बन गई है। दूसरी तरफ, आंध्र प्रदेश में कम्युनिस्ट, जोकि विरोधी दल में हैं तथा उनकी नियमित संस्थाएँ कृषकों की अनेक मुद्दों पर लामबंदी करती हैं। तीन गाँवों में मौलिक आंदोलनों की पृष्ठभूमि में कृषि सामाजिक संरचना के उभरते हुए गुणों का नीचे वर्णन किया गया है।

आंध्र प्रदेश विशेष रूप से तेलंगाना क्षेत्र के ग्रामीण समाज में कृषकों की निरंतर लामबंदी होती रही है। यहाँ प्रसिद्ध तेलंगाना आंदोलन के रूप में प्रबल विद्रोह हुआ था। इस क्षेत्र में गरीब कृषक वर्ग की श्रेणी अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के परिवारों की काफी अधिक जनसंख्या है। यह सिर्फ आंशिक रूप से कृषि के हिसाब से विकसित है तथा भूमि सुधार सिर्फ सीमित मात्रा में ही हुआ है। वास्तव में, भूमि सुधार पहले से मौजूद कृषि व्यवस्था को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं है क्योंकि पुराने भूस्वामी (जो अब अधिकतर वहाँ नहीं रहते हैं) ग्रामीण भूमि के बड़े भाग पर पड़ोसी क्षेत्रों में रह रहे अपने रिश्तेदारों के द्वारा नियंत्रित करते हैं। इस पृष्ठभूमि में भूमिहीन तथा सीमांत किसान जो विभिन्न गैर-कृषि कार्यों से भी संबद्ध हैं कृषक वर्ग का बड़ा भाग बनाते हैं। हालाँकि, वैकल्पिक आर्थिक कार्य यहाँ के कृषक वर्ग की जीविका की सुरक्षा का अभिन्न भाग रहे हैं, लेकिन उन्होंने उनमें आर्थिक लामबंदी की प्रक्रिया को व्यापक नहीं किया है। अतः इस गाँव का कृषक वर्ग आर्थिक रूप से कमोबेश समांगी रहा है।

हाल के वर्षों में इस गाँव में विभिन्न नक्सली समूहों तथा अन्य राजनीतिक दलों के तत्वावधान में गरीब कृषक वर्ग की व्यापक तथा अक्सर लामबंदी होती रही है। अतः कृषक राजनीतिक क्रियाओं की विभिन्न श्रेणियों द्वारा जिनमें आंध्र प्रदेश नागरिक मुक्ति समितियाँ, प्रजातांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए संगठन, नागरिक फोरम, थुडुम डेब्बा (अनुसूचित जनजातियों का सैन्य संगठन), मीडिया रिजर्वेशन पोराटा समिति (अनुसूचित जातियों का संगठन), रायतो सेवा समिति, जल संधान समिति (जो किसानों के लिए सिंचाई की सुविधाओं की माँग करती है), सी पी आई (एम एल), पीपुल्स वार तथा विभिन्न अन्य नक्सली संस्थाएँ, साथ ही नियमित राजनीतिक दल जैसे तेलुगु देशम पार्टी, नेशनल काँग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी पी आई) तथा तेलंगाना राष्ट्रीय समिति, सम्मिलित हैं, द्वारा संगठित होती रही हैं। इस क्षेत्र में विभिन्न

गैर-सरकारी संगठन भी सक्रिय हैं। अतिरिक्त भूमि की पहचान तथा वितरण, विकास योजनाओं का तेजी से और बगैर भेदभाव के लागू होना, रोजगार उत्पन्न करने के कार्यक्रम, सिंचाई, स्वास्थ्य, सड़क, स्कूल आदि सुविधाएँ, पुलिस द्वारा गाँववासियों का उत्पीड़न, किसानों द्वारा आत्मदाह, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण, बलात्कार पीड़ितों को मुआवजा, मद्यपान निषेध, क्षेत्रीय स्वायत्तता आदि इस क्षेत्र के कृषक वर्ग की लामबंदी के प्रमुख मुद्दे रहे हैं। लामबंदी काफी हद तक संस्थागत है हालाँकि (पी डब्ल्यू जी) उनकी लामंदी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। महत्वपूर्ण रूप से, व्यापक आर्थिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं को कभी यहाँ कृषक वर्ग की स्थानीय समस्याओं का कारण माना जाता था। उदाहरण के लिए, इन किसानों की गरीबी, अशिक्षा तथा बेरोजगारी आदि को तेलंगाना के ऊपर तेलुगु आधिपत्य के संदर्भ में समझाया गया है। किसान हालॉकि अपनी राजनीतिक पहचान को बहुत गुप्त रखते हैं तथा अक्सर राजनीतिक निष्क्रियता को अपनी राजनीतिक क्रिया के अस्त्र के रूप में उपयोग करते हैं। बाहर से संगठनात्मक समर्थन के साथ, नेतृत्व भीतर से ही उत्पन्न होता है, जहाँ कृषकों को स्पष्टता तथा विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर राजनीतिक तरीके से बात करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। कृषक वर्ग की लामबंदी की प्रक्रिया में जाति, लिंग, क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता आदि को कई नए अर्थ तथा महत्व मिले हैं।

पश्चिम बंगाल के तिभागा आदोंलन से संक्रमित क्षेत्र प्रतीकात्मक रूप से गरीब कृषक वर्ग की लामबंदी के लिए राजनीतिक केंद्र रहे हैं। 1980 के दशक के मध्य से ये क्षेत्र कृषि के रूप से विकसित तथा व्यावसायिक रूप से विविध के रूप में उभरे हैं। हालाँकि, भूमि सुधार कार्यक्रम को दृढ़ता से लागू किया गया है, फिर भी, सीमांत तथा महत्वहीन काश्तकारी गरीब कृषक वर्ग को आर्थिक सुरक्षा सुनिश्चित करने में समर्थ नहीं है। गाँव में विभिन्न नए मुद्दे उत्पन्न हो गए हैं जैसे शिक्षित युवावर्ग की बेरोजगारी की समस्या, सड़क, परिवहन तथा शिक्षा सुविधाएँ आदि, राज्य द्वारा प्रायोजित विकास योजनाओं को लागू करना, पूर्ण साक्षरता अभियान, बाल एवं स्वास्थ्य देखभाल सुविधाएँ, विधि निकायों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व आदि। सभी राजनीतिक दल (सी पी आई, सी पी आई "एम", आर एस पी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा तृणमूल कॉंग्रेस) जो विचारधारा तथा संगठन के स्तर पर भिन्न है, समान मुद्दों को ही उठाती हैं। यह महत्वपूर्ण है कि राजनीतिक दलों के समर्थक अक्सर एक से दूसरे दल में दलबदल करते रहते हैं।

लामबंदी इस क्षेत्र में पूरी तरह से संस्थागत है। चूँकि कृषक वर्ग में विभिन्न आर्थिक हैसियत वाले व्यक्ति हैं अतः लामबंदी में उनकी भागीदारी का रूप तथा मात्रा की प्रकृति विविध है। कृषक वर्ग का एक बड़ा वर्ग आर्थिक लाभ के लिए राजनीतिक लामबंदी के रास्ते को नहीं अपनाता है, तथा उसने नेता के लिए समीक्षात्मक रूख विकसित कर लिया है। हालाँकि, कृषकों का एक वर्ग अपनी चिरकालिक गरीबी के कारण अपनी जीविका की सुरक्षा के लिए विकास योजनाओं का लाभ प्राप्त करने के लिए राजनीतिक नेताओं पर निर्भर हो गया है। ये वाकई इस गाँव के कृषक वर्ग का सबसे गरीब तबका है तथा सभी प्रकार की लामबंदियों के लिए उपलब्ध रहता है।

इसी प्रकार, नक्सलबाड़ी क्षेत्र भी कृषि से पिछड़ा रहा है। हालाँकि यहाँ व्यावसायिक विविधीकरण की ओर रूझान रहा है। लेकिन बागानों में नौकरियों के अतिरिक्त इनमें से कोई भी विकल्प आर्थिक रूप से सक्षम नहीं रहा है। इन गाँवों का कृषक वर्ग आर्थिक रूप से कमोबेश समागीकृत है तथा इन गाँवों के कृषक वर्ग का बड़ा भाग अनुसूचित जाति तथा जनजातीय पृष्ठभूमि से है।

अब यहाँ बहुफलकीय राजनीतिक लामबंदियाँ विकसित हुई हैं जिनका नेतृत्व सी पी आई (एम), तृणमूल कॉंग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस, एस यू सी आई तथा नक्सलियों के विभिन्न समूह जैसे सी ओ आई (एम एल) (कानू सान्याल), सी पी आई (एम एल) (महेंद्र

मुखर्जी), सी पी आई (एम एल) (न्यू डेमोक्रेसी), सी पी आई (एम एल) (जनशक्ति) तथा सी पी आई (एम एल) (लिबिएशन), माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर, सी पी आई (एम एल) — द्वितीय केंद्रीय समिति, सी पी आई (एम एल) पार्टी एकता आदि करते हैं, और साथ ही कामतापुरी आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने भी इन गाँवों के कृषक वर्ग को संगठित करना आरम्भ कर दिया है। सभी प्रकार की राजनीतिक लामबंदियों तथा सामूहिक क्रियाओं में कृषकवर्ग की व्यापक स्तर पर भागीदारी रही है; तथा गत वर्षों में इनकी भागीदारी बढ़ती जा रही है। इन क्रियावादियों के लिए सबसे महत्वपूर्ण अवसर सभाओं, जुलूसों तथा चुनाव अभियानों में तथा विभिन्न अन्य स्थानीय मुद्दों में उनकी भागीदारी है।

बड़ी संख्या में नक्सली समूहों की उपस्थिति तथा नक्सलियों के एक वर्ग के संसदीय प्रजातंत्र में भागीदारी न होने के बावजूद लामबंदी की प्रक्रिया काफी हद तक संस्थागत रही है। हालॉकि, कृषक आपस में ही आर्थिक भिन्नता के आधार पर इतने विभाजित नहीं रहे हैं जितना कि राजनीतिक दलों से अपने राजनीतिक सहयोग के आधार पर रहे हैं। यही नहीं राजनीतिक दल के साथ उनका संबंध राजनीतिक विचारधारा के साथ उनके दृढ़विश्वास पर आधारित नहीं होता है; बल्कि ये उनकी उत्तरजीविता की माँग का हिस्सा होता है। कृषक वर्ग अपने राजनीतिक संबंधों के लिए अत्यधिक मुक्त तथा मुखर है। कृषि में पिछड़ेपन तथा गरीबी के सनातन रूप से बने रहने के कारण कृषक वर्ग राजनीतिक नेताओं पर निर्भर के रूप में उभरा है। ये संबंध उन्हें अपने नेताओं की समीक्षा करने से रोकता है।

31.10 सामूहिक लामबंदी में परिवर्तन

गत वर्षों में कृषकों की सामूहिक लामबंदी के पैटर्न में चमत्कारिक परिवर्तन हुए हैं। तिभागा, तेलंगाना तथा नक्सली आंदोलन भले ही विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न काल खंडों में लड़े गए थे, लेकिन विचारधारा के रूप में तथा लामबंदी के परिवर्तनों तथा प्रकारों की ओर अभिविन्यास के संदर्भ में भी, ये मौलिक कृषक आंदोलन थे। हाल के वर्षों में कृषक आंदोलन पश्चिम बंगाल तथा आंध्र प्रदेश दोनों में सुधारवादी तथा संस्थागत के रूप में उभरे हैं। चार्ट-II इन दोनों प्रावस्थाओं में कृषक वर्ग की लामबंदी के प्रमुख चलनों को वर्णित करता है।

MADHYAM IAS

चार्ट-I : मौलिक तथा समकालीन कृषक आंदोलनों में लामबंदियों के चलन

मौलिक कृषक आंदोलन	सुधारवादी कृषक आंदोलन
क) लामबंदी विशिष्ट लक्ष्य के लिए आरंभ हुई तथा स्थापित वर्ग शत्रुओं - बड़े भूस्वामियों, सूदखारों, पुलिस तथा प्रशासन के विरुद्ध थी।	– लामबंदी विविध लक्ष्यों के लिए आरंभ हुई तथा सदैव वर्ग शत्रुओं के विरुद्ध नहीं होती है।
ख) आक्रामक तथा शत्रुतापूर्ण लामबंदी बगैर निकट सीमा के।	– आक्रामकता तथा शत्रुताएँ निर्धारित दिशा में सीमित होती है।
ग) लामबंदी पुराने आदर्शों तथा मूल्यों के विरुद्ध होती है।	– चयनित प्राचीन आदर्शों तथा मूल्यों की लामबंदी के जरिए पुनः प्रचार।
घ) लामबंदी एक ही विचारधारात्मक प्रयास वाले राजनीतिक दल द्वारा आरंभ हुई थी।	– लामबंदी विभिन्न राजनीतिक प्रयासों वाले राजनीतिक दलों के द्वारा आरंभ होती है।

ङ.) लामबंदी दूरगामी संरचनात्मक परिवर्तन के लिए होती है।	– लामबंदी अधिकतर संरचनात्मक स्थिरता तथा सुधारवादी प्रयास दिए गए ढाँचे में ही होते हैं।
च) ग्रामीण गरीब वर्ग की परिवर्तन एजेंसियों के रूप में लामबंदी की जाती है।	– ग्रामीण जन "लाभ पाने" के लिए लामबंदी करते हैं।
छ) ग्रामीण गरीब समतावादी सामाजिक व्यवस्था के लिए लामबंदी करते थे।	– ग्रामीण गरीब लामबंदी में उत्तरजीविता की रणनीति के रूप में भागीदारी करते हैं।
ज) सामूहिक लामबंदी का मौलिकीकरण।	– सामूहिक लामबंदी का संस्थागत होना।
झ) लामबंदी अमान्य माँगों के लिए तथा अधिकतर अमान्यता प्राप्त तथा गुप्त संगठनों द्वारा होती है।	– लामबंदी अफसरशाहों को मान्य माँगों को लागू करने के लिए दबाव बनाने के लिए होती है।
ञ) लामबंदी सरकारी संस्थाओं का विरोध झेलती है।	– लामबंदी योजनाबद्ध होती है तथा सत्ता में मौजूद राजनीतिक दलों द्वारा होती है।
ट) लामबंदी आदिकालीन निर्भरता तथा कृषि समाज के सबसे निचले तबके के अतिरिक्त आर्थिक शोषण के विरुद्ध होता है।	– लामबंदी की प्रक्रिया में सबसे निचला तबका राजनीतिक समाज पर निर्भर हो जाता है। नेताओं को आर्थिक लाभ होता है।

हालाँकि, पश्चिम बंगाल तथा आंध्र प्रदेश के समकालीन कृषक समाजों ने आधारभूत लामबंदी के विविध रूपों को अनुभव किया है। पश्चिम बंगाल में वामपंथी दल जिन्होंने कभी सामूहिक क्रिया के लिए मौलिकतावाद तथा सैन्य कार्यवाही को प्रायोजित किया था अब संस्थागत सामूहिक लामबंदी तथा चुनावी राजनीति से सरोकार रखते हैं। आंध्र प्रदेश में सी पी आई तथा सी पी आई (एम) जो कि प्रमुख कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं, विपक्ष में हैं तथा उन्होंने संसदीय चुनावी राजनीति को स्वीकार कर लिया है। पी डब्ल्यू जी (गणपति घटक) इन नक्सली संस्थाओं के मध्य एक ऐसा दल है जो वर्तमान में संसदीय प्रजातंत्र का विरोध करता है, जबकि अन्य ने प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेना आरंभ कर दिया है। इस स्तर पर हम आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल के बीच सामूहिक लामबंदी की तुलनात्मक तस्वीर प्रस्तुत कर सकते हैं।

चार्ट-II : समकालीन आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में आधारभूत लामबंदी के बीच समानताओं तथा भिन्नताओं के फलक

आंध्र प्रदेश (तेलंगाना क्षेत्र)	पश्चिम बंगाल (उत्तरी बंगाल क्षेत्र)
क) छिटपुट लेकिन सतत् आधारभूत लामबंदी का अनुभव कर रहे हैं।	क) सतत् आधारभूत लामबंदी का अनुभव कर रहे हैं।
ख) आधारभूत लामबंदी विविध राजनीतिक तथा विचारधारात्मक प्रयासों वाले विविध समूहों (संस्थागत तथा मौलिक) द्वारा संगठित होती है।	ख) आधारभूत लामबंदी अधिकतर कम्युनिस्टों, काँग्रेस, संस्थागत संगठनों द्वारा संगठित होती है।

ग) लामबंदी अधिकतर उन राजनीतिक दलों द्वारा संगठित होती है जो विपक्ष में होते हैं।	ग) लामबंदी अधिकतर सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों द्वारा संगठित होती है।
घ) कल्याणकारी संगठन तथा गैर सरकारी संगठन (एन जी ओ) आधारभूत लामबंदी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।	घ) कल्याणकारी संगठन तथा गैर-सरकारी संगठन आधारभूत लामबंदी में बेहद महत्वहीन भूमिका निभाते हैं। गैर सरकारी संगठन सक्रियता को कतई प्रोत्साहित नहीं किया जाता है।
ड.) लामबंदी आंशिक रूप से संस्थागत तथा आंशिक रूप्व से मौलिक होती है।	ड.) लामबंदी पूरी तरह से संस्थागत तथा सुधारवादी प्रकृति की होती है।
च) लामबंदी व्यक्तियों की स्थापित श्रेणियों जैसे - भूस्वामी, शराब बनाने वालों, पुलिस प्रशासन तथा राज्य मशीनरी, अपराधियों आदि के विरुद्ध होती है।	च) लामबंदी निरंतर किसी स्थापित श्रेणी के विरुद्ध नहीं होती है (सत्तर के दशक तथा अस्सी के दशक के आरंभ में, यह बड़े भूस्वामियों के विरुद्ध थी। अब यह कभी अफसरशाही के विरुद्ध तथा कभी राजनीतिक दलों के विरुद्ध होती है)।
छ) लामबंदी अधिकतर पारंपरिक आदर्शों, मूल्यों तथा संस्थाओं के विरुद्ध होती है।	छ) लामबंदी चयनित संस्थाओं तथा मूल्यों को पुनः स्थापित करने के लिए होती है।
ज) लामबंदी काफी हद तक गुप्त तथा अमान्यता प्राप्त संगठनों द्वारा होती है जो शत्रुतापूर्ण तथा अविचारशील क्रियाओं के लिए गुप्त रूप से कार्य करते हैं।	ज) लामबंदी मान्य राजनीतिक दलों द्वारा विचारशील तथा नीतिगत क्रियाओं के लिए होती है।
झ) लामबंदी विविध क्रियावादी तथा बौद्धिक समूहों द्वारा आरंभ तथा सामान्यतः समर्थित होती है।	झ) लामबंदी वामपंथी राजनीतिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं तथा बुद्धिजीवियें द्वारा आरंभ और समर्थित होती है।
ञ) लामबंदी को सरकारी अधिकारियों का विरोध झेलना पड़ता है।	ञ) लामबंदी का सरकार तथा सत्तारूढ़ राजनीतिक दल द्वारा प्रोत्साहन मिलता है। यह राज्य की सहयोगी होती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.11 निष्कर्ष

इस इकाई में हमने भारतीय समाज में कृषक आंदोलनों के कुछ प्रमुख गुणों की चर्चा की है। हमने कृषक तथा कृषक आंदोलन पर संकल्पनात्मक चर्चा से शुरुआत की थी। क्रांतिकारी आंदोलनों में कृषकों की भूमिका का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है। मौलिक कृषक आंदोलन के कारणों का आविर्भाव, इन आदोलनों में कृषकों की भागीदारी का रूप तथा मात्रा, तथा इन आंदोलनों की कार्य प्रणाली की भी चर्चा की गई है। समय के साथ इन आंदोलनों के रूपांतरण की प्रक्रिया तथा कृषकों के लिए उनके सामाजिक-राजनीतिक प्रशासन का विश्लेषण भी किया गया है।

31.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

धनागरे, डी.एन., 1983. *पीसेंट मूवमेंट्स इन इंडिया,* 1920-1950 : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मुखर्जी, पी.एन. 1971. *फ्रॉम एक्स्ट्रीमिस्म टु इलेक्ट्रोरल पोलिटिक्स : नक्सलाइट पार्टी सिपेशन इन इलेक्शन्स,* मनोहर प्रेस, नई दिल्ली।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 32

नवीन सामाजिक आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

32.1 प्रस्तावना

32.2 नवीन सामाजिक आंदोलन : पृष्ठभूमि

32.3 नवीन सामाजिक आंदोलन : संकल्पनाएँ तथा विशेषताएँ

32.4 प्राचीन आंदोलनों को नवीन से विभेदित करना

32.5 नवीन सामाजिक आंदोलन तथा नई पहचान की खोज

32.6 नई पहचान की स्वायत्तता

32.7 नवीन सामाजिक आंदोलन तथा प्रभुत्व के खिलाफ प्रतिरोध

32.8 नवीन सामाजिक आंदोलन तथा उभरते हुए सामाजिक सरोकार

32.9 निष्कर्ष

32.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य निम्न विषयों पर चर्चा करना है :

- नवीन सामाजिक आंदोलनों के आविर्भाव की पृष्ठभूमि;
- नवीन सामाजिक आंदोलनों की संकल्पना तथा विशेषताएँ;
- नवीन तथा प्राचीन सामाजिक आंदोलनों के बीच इन आंदोलनों में उठाए गए मुद्दों, उनके स्थान, विचारधारा, पहचान तथा सदस्यता के संदर्भ में विभेद करना;
- इन आंदोलनों के बीच भिन्नताओं की वैधता; तथा
- नवीन सामाजिक आंदोलनों की पहचान तथा स्वायत्तता के मुद्दे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.1 प्रस्तावना

पिछली शताब्दी के मध्य से "सामाजिक आंदोलन समाज के गैर-संस्थागत हाशिए से उसके केंद्र में पहुँच गया है।" 1950 के दशक से संगठित सामूहिक क्रियाओं के नए रूपों की अभिव्यक्ति ने सामाजिक आंदोलन के मुद्दों में अनेक नए आयाम जोड़े हैं। इस संदर्भ में यह इकाई नवीन सामाजिक आंदोलनों के आविर्भाव की सामाजिक पृष्ठभूमि की पड़ताल करेगी। इन आंदोलनों की अनेक नई विशेषताएँ हैं। हमने इन विशेषताओं की इस इकाई में विस्तार से चर्चा की है। हमने नवीन सामाजिक आंदोलनों को प्राचीन आंदोलनों से विभेदित करने की कोशिश भी की है। इन भिन्नताओं की वैधता का भी समीक्षात्मक परीक्षण किया गया है। नवीन सामाजिक आंदोलनों की नई पहचान तथा स्वायत्तता के मुद्दों पर भी कुछ विद्वानों द्वारा प्रकाश डाला गया है। इनका परीक्षण भी इस इकाई में किया गया है।

32.2 नवीन सामाजिक आंदोलन : पृष्ठभूमि

पिछले पाँच दशकों से, विशेष रूप से पश्चिम में 1950 तथा 1960 के दशकों में अश्वेत नागरिक अधिकार आंदोलन 1960 तक 1970 के दशक के छात्र आंदोलनों, महिला आंदोलन, परमाणु विरोधी संघर्षों, समलिंगी अधिकार, जंतु अधिकार, अल्पसंख्यक राष्ट्रवादिता आदि के विस्तार के बाद से 1970 के दशक में जातिवादी आंदोलन तथा उसके बाद के सामाजिक आंदोलन विशेष ध्यान वाले मुद्दों के रूप में उभरे हैं। समाज विज्ञानियों द्वारा सामाजिक आंदोलनों को समीक्षात्मक तथा बोधशील परिप्रेक्ष्य में पुनः परिभाषित करने के लिए गंभीर प्रयास किए गए हैं। इस प्रयास में विश्लेषण की प्रमुख योजनाओं पर प्रश्न उठाए गए तथा इन सामाजिक आंदोलनों में अनेक घटकों की पहचान की गई है तथा कभी-कभी अनेक हाशिए पर रहे मुद्दों पर नए संदर्भ में जोर डाला गया था। सामाजिक क्रिया के नए रूपों के विशेष रूप से पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में, आविर्भाव से सामाजिक आंदोलन सिद्धांतवादियों के लिए इस परिघटना को सामाजिक आंदोलन अध्ययनों पर मौजूदा संवाद/वार्ता की अभिकल्पना करने में गंभीर चुनौती पेश की है।

1950 के दशक तक श्रमिक आंदोलनों, कृषक तथा जनजातीय आंदोलनों, कभी-कभी जाति, उपजाति अथवा भाषायी आंदोलन अथवा सामूहिक लामबंदियों की अन्य किस्मों को अधिकतर वर्ग संघर्ष के मार्क्सवादी ढाँचे तथा सामाजिक व्यवस्था की कमी के क्रियावादी ढाँचे में व्याख्या की गई है। हालाँकि इन आंदोलनों के विस्तार की पृष्ठभूमि में यह समझा गया था कि सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन के ये परिप्रेक्ष्य निर्धारणात्मक थे। इन रूढ़ियों में, सामाजिक आंदोलनों की अधिकतर विचारधारा तथा संगठन के अभिविन्यासों के संदर्भ में विश्लेषण किया गया था। मार्क्सवादी विद्वानों ने सामूहिक लामबंदी की वर्ग विचारधारा पर जोर दिया था। इसने विचारधारा की भूमिका के महत्व को बताया जिसने ऐसी लामबंदियों को वैधता प्रदान की। इसने दो विरोधी वर्गों के बीच उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण में संघर्ष होते हैं। दूसरी तरफ क्रियात्मक विश्लेषण में, सामाजिक आंदोलन के संगठनात्मक पहलू को स्पष्ट किया गया। क्रियावादियों के लिए सामाजिक आंदोलन किसी संगठन के लिए प्रबल विघटन के स्रोत थे। संगठित सामूहिक क्रियाओं को समाज के दुष्क्रियात्मक पहलू के रूप में देखा जाता है। यहाँ सामाजिक आंदोलन को हाशिए पर रखकर ही "क्रियात्मक सैद्धांतिक तंत्र की अखंडता" सुनिश्चित की जाती थी। दूसरी तरफ, हालाँकि मार्क्सवादी विश्लेषण का सरोकार सामाजिक रूपांतरण से है, इसने "वर्गों" की सामाजिक रूपांतरण के एकमात्र घटकों के रूप में पहचान की है। अ-वर्ग आंदोलनों को समीक्षात्मक रूप से तथा कभी-कभी अवमानना अथवा शत्रुता के साथ देखा गया है (स्कोट ए. 1990 : 2)।

यह महत्वपूर्ण है कि मार्क्सवाद तथा क्रियावाद दोनों ने सामाजिक आंदोलन की एक क्रम की व्याख्या की। हालॉकि इन सामाजिक आंदोलनों के पचास और साठ के दशक में विस्तार विश्लेषण के लिए नए परिप्रेक्ष्य की माँग करता था क्योंकि इनके नए अभिविन्यास थे। अधिकांश प्राचीन आंदोलन किसी न किसी रूप में भौतिकवादी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए थे। दूसरी तरफ नए आंदोलन अ-भौतिकवादी प्रकृति के थे, जो अनेक विविध किस्मों की सामूहिक लामबंदियों को करते थे, उन मुद्दों को उठाते थे जो राज्य, वर्ग, संस्कृति तथा राष्ट्र की सीमाओं को पार करते थे। आपने नवीन आंदोलनों के बारे में पहले ही इस खंड की इकाई 30, "सामाजिक आंदोलनों के प्रकार" में पढ़ा है। हम, हालाँकि सामाजिक आंदोलनों के पहलुओं के बारे में अधिक विस्तार से अगले सेक्शन में चर्चा कर रहे हैं।

सोचें और करें 32.1

आपने अवश्य ही चिपको अथवा अन्य पर्यावरणीय आदांलेनों के बारे में पढ़ा होगा। इस आंदोलन के कम से कम सात विशिष्ट गुणों को सूचीबद्ध करने की कोशिश करिए जो यह बताते है कि यह कैसे मौलिक कृषक आंदोलनों से भिन्न है।

32.3 नवीन सामाजिक आंदोलन : संकल्पनाएँ तथा विशेषताएँ

सभी नवीन प्रकारों को सामूहिक क्रियाओं की विचारधारा अथवा उचित रूप से संगठित हित समूह के उदाहरण के सारतत्व के रूप में संकल्पना करना वाकई कठिन है। इन नई प्रकार की सामूहिक क्रियाओं, सामाजिक आंदोलन के चलन अपने क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से अहिंसात्मक व्यावहारिक, अ-समाकलित, अ-वंशानुक्रमी, अ-बाध्यकारी, वर्ग-पार विचारधारा-पार, आयु-पार होते हैं (हेगेडस, 1990 : 63)। (लाराना; जॉन्सटन एवं गेसफील्ड 1994) ने सुझाया कि नवीन सामाजिक आंदोलनों के विश्लेषणों को पार-सांस्कृतिक रूप से तथा पूर्व के वर्ग आधारित आंदोलनों के साथ तुलना करके उन्नत बनाया जाना चाहिए। वे नवीन सामाजिक आंदोलन के निम्नलिखित विशिष्ट गुण सुझाते हैं।

क) नवीन सामाजिक आंदोलन के भागीदारों की कोई स्पष्ट संरचनात्क भूमिका नहीं होती है क्योंकि अक्सर उनका सामाजिक स्तर युवा, छात्र, महिला, अल्पसंख्यक, व्यावसायिक समूहों आदि के रूप मे विसरित रहता है।

ख) विचारधारात्मक रूप से ये आंदोलन श्रमिक वर्ग आंदोलन की विचारधारा को मार्क्सवादी संकल्पना से बिल्कुल भिन्न होते हैं। नवीन सामाजिक आंदोलनों की रूढ़िवादी अथवा उदारवादी, दक्षिणपंथी अथवा वामपंथी, पूंजीवादी अथवा समाजवादी के रूप में पहचान करना कठिन होता है। ये आंदोलन बहु विचारों तथा मूल्यों को प्रदर्शित करते हैं।

ग) लामबंदियाँ आर्थिक मुद्दों की बजाय प्रतीकात्मक तथा सांस्कृतिक पहचान के मुद्दों से जुड़ी होती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

घ) इन आंदोलनों में क्रिया सामूहिक तथा वैयक्तिक पहचान की पुष्टि का जटिल सम्मिश्रण होता है। वास्तव में, इन आंदोलनों में वैयक्तिक तथा सामूहिक के बीच का संबंध अस्पष्ट है।

ड.) इन आंदोलनों में मानव जीवन के वैयक्तिक तथा घनिष्ठ पहलू जुड़े होते हैं जैसे खानपान, वस्त्र सज्जा, आमोद-प्रमोद, स्नेह संबंध आदि की प्रकृति तथा पैटर्न।

च) अ-हिंसा तथा सविनय-अवज्ञा आदि सामूहिक आंदोलन के प्रमुख पैटर्न होते हैं जो आचरण के प्रभावी आदर्शों को चुनौती देते हैं।

छ) इन आंदोलनों का विस्तार राजनीतिक भागीदारी के पारंपरिक चैनलों/पथों की विश्वसनीयता के संकट के कारण होता है।

ज) नवीन सामाजिक आंदोलन खंडित विसरित तथा विकेंद्रीकृत होते हैं (आइबिड : 6-15)।

एलन स्कॉट ने इन आंदोलनों की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं की पहचान की थी : (अ) ये आंदोलन प्राथमिक रूप से सामाजिक होते हैं तथा राजनीतिक मुद्दों जैसे सत्ता हथियाने की बजाय सांस्कृतिक घेरे तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर समाज की लामबंदी से अधिक सरोकार रखते हैं। (ब) ये आंदोलन नागरिक समाज के भीतर ही स्थित

रहते हैं तथा ये शासन को सीधे चुनौती देने से कतई सरोकार नहीं रखते हैं। बल्कि ये आंदोलन नागरिक समाज को बढ़ते उद्योगतंत्र शासन से अतिक्रमण के विरुद्ध अथवा समाज की उद्योगतंत्री उप-संरचना द्वारा "भीतरी उपनिवेशीकरण" से बचाते हैं। (स) इन सामाजिक आंदोलनों ने मूल्यों को बदलकर तथा वैकल्पिक जीवनशैलियाँ विकसित करके परिवर्तन लाने की कोशिश की। ये सामाजिक आंदोलन सांस्कृतिक नवीनताओं तथा नई जीवन शैलियों के निर्माण से संबंधित हैं। ये पारंपरिक मूल्यों को भी चुनौती देते हैं। 'प्रतीकों तथा पहचानों पर फोक्स को नवीन सामाजिक आंदोलनों के महत्व के स्रोत के रूप में देखा जाता है। नवीन सामाजिक आंदोलन अधिक पारंपरिक तथा सीधी राजनीतिक क्रियाओं की बजाय सामाजिक नायकों के मूल्यों तथा पहचान को चुनौती देकर परिवर्तन लाते हैं। मूल्यों, वैयक्तिक पहचानों तथा प्रतीकों के रूपांतरण की प्रक्रियाएँ वैकल्पिक जीवनशैली निर्मित करके तथा वैयक्तिक और सामूहिक इच्छाओं के तर्कपूर्ण रूपांतरण के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। नवीन सामाजिक आंदोलन के संगठन की प्रमुख विशेषताओं को स्कॉट के द्वारा निम्न प्रकार से सारांशित किया गया है : (i) स्थान आधारित अथवा छोटे समूहों पर केंद्रित; (ii) विशिष्ट अक्सर स्थानीय तथा एक ही मुद्दे के लिए संगठित; (iii) आंदोलन सक्रियता तथा लामबंदी के चक्र, यानि उच्च तथा निम्न सक्रियता की अवधियों के बीच अंतराल; (iv) अक्सर ऑथोरिटी/संस्था के श्लथ तंत्र; (v) परिवर्ती सदस्यता; (vi) विचारधारा के ढाँचे के संदर्भ में "समान सामाजिक समालोचक" (स्काट 1990 : 18)।

सोचें और करें 32.2

नवीन सामाजिक आंदोलनों की प्रमुख विशेषताओं को बताइए।

32.4 प्राचीन आंदोलनों को नवीन से विभेदित करना

संगठनात्मक रूप को नवीन सामाजिक आंदोलनों को प्राचीन से विभेदित करने के मानक के रूप में उपयोग करना एक समस्या है। एक तो शिथिल से कसे संगठन में एक निरंतरता होती है, और समय के साथ आंदोलनों में इस निरंतरता से अधिक औपचारिक तथा वंशानुक्रमी अंत की ओर प्रगति हो सकती है। स्काट (1990) के अनुसार, नवीन तथा प्राचीन आंदोलनों के बीच प्रमुख सततताएँ रही हैं। अतः ये दावा कि नवीन आंदोलनों को इस तरह समझने की जरूरत है जो गुणात्मक रूप से पारंपरिक उपगमनों से भिन्न हों, को अकेले अनुभव के आधार पर नहीं ठहर सकता है। ये बल्कि निहित सामाजिक परिवर्तनों के द्वारा होता है जिससे भिन्नता की पहचान की जाती है (आइबिड : 35)।

प्राचीन तथा नवीन सामाजिक आंदोलनों के बीच विभेद के बावजूद हम समाज समालोचक के रूप में सामाजिक आंदोलनों के द्वारा निभाई गई भूमिका को पहचान सकते हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में जब राज्य अधिक से अधिक उद्योगतंत्रवादी तथा सर्वशक्तिसंपन्न रूप में उभरता है तो विभिन्न प्रकार के असंतोषों के प्रति वैयक्तिक नागरिक की आवाज तथा विचार अधिकतर अनसुने रह जाते हैं। पुनः वे देश जिनमें राज्य जनसंख्या के प्रभावी सेक्शन को प्रदर्शित करते हैं, तथा राज्य मशीनरी भ्रष्ट तरीकों में संलिप्त होती है, तो हाशिए पर स्थित लोगों की जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए पहुँच की भी पहचान नहीं हो पाती है। सामाजिक आंदोलन समाज का समालोचक विकसित करने का ढाँचा प्रदान करते हैं। यह समाज की संस्थागत व्यवस्थाओं की बारीकी से जाँच पड़ताल करता है। सामाजिक आंदोलन की संगठनात्मक कार्यविधि, सामूहिक सक्रियता तथा नेतृत्व न सिर्फ समाज का समालोचक विकसित करने के लिए वांछित स्थान प्रदान करता है बल्कि दिए गए ढाँचे में रूपांतरणकारी राजनीति के लिए भी करता है। यह बहुसामाजिक संरचना के आर्विभाव के लिए भी स्थान प्रदान करता है जिसमें प्रतिनिधि नागरिक संस्था

उदार प्रजातंत्र की निगरानी का काम करती है। इसके द्वारा समालोचक सामाजिक आंदोलन एक नई सामूहिक पहचान निर्मित करता है। आयरमेन तथा जेमसिन (1991) ने सामाजिक आंदोलनों को ऐसी प्रक्रियाओं के निर्माण के रूप में परिभाषित किया है जिनके द्वारा व्यक्ति नई प्रकार की सामाजिक पहचान निर्मित कर लेते हैं। उनके अनुसार समस्त सामाजिक जीवन को कार्य तथा निर्माण के संयोजन के रूप में देखा जा सकता है जिसका अर्थ उस संदर्भ तथा समझ से वंचित होता है जो उसके नायक उससे निकालते हैं। वो मानव क्रिया में चेतना तथा बोधशीलता की सृजनात्मक भूमिका पर जोर देते हैं जिसे वो बोधात्मक व्यवहार कहते हैं, जो व्यक्तियों के समूहों को सामाजिक आंदोलनों में रूपांतरित कर देता है। अतः बोधात्मक व्यवहार सामाजिक आंदोलन को विशेष अर्थ तथा चेतना प्रदान करता है।

सोचें और करें 32.3

नवीन तथा प्राचीन सामाजिक आंदोलनों के बीच विभेद कितना उचित है? क्या इसमें कोई सततता है?

32.5 नवीन सामाजिक आंदोलन तथा नई पहचान की खोज

पिछली इकाई में हमने सामाजिक आंदोलन में पहचान निर्माण की प्रक्रिया के महत्व के बारे में बताया है, जिसने आंदोलन की प्रगति की सभी प्रमुख अवस्थाओं में हमेशा एकजुटता के बोध, "हम" की भावना तथा समूह का सदस्य होने का बोध प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये न सिर्फ समूह के सदस्यों के बीच संबंधन विकसित कर लेते हैं बल्कि व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं के साथ भी संबंध स्थापित करते हैं। सामूहिक पहचान निर्माण की प्रक्रिया न सिर्फ पुरानी पहचानों को पुनः परिभाषित करती है, बल्कि नए परिप्रेक्ष्यों के साथ नई पहचानें उत्पन्न करती हैं। हाल के दशकों में 1960 के दशक तथा उसके बाद के उभरते सामाजिक आंदोलनों में नएपन को पहचानने के प्रयासों में, सामाजिक आंदोलनों में पहचान के मुद्दे पर पुनः विचार करने पर वास्तव में दिलचस्पी ली गई है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

समाज के संरचनात्मक क्रियात्मक विश्लेषण में अनुभव जन्य श्रेणियों (जैसे जनजाति, जाति, उपजाति, वृद्ध आदि) को इन श्रेणियों की सामूहिक पहचानों का वर्णन करते समय प्रमुख स्थान मिलता है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी विश्लेषण में, "वर्ग" के रूप में सामूहिकता को परिभाषित करने में आर्थिक स्थिति को प्रमुख स्थान मिलता है। इस उदाहरण में सामाजिक पहचान, घटक, वर्ग पहचान हो जाती है, जो "स्वयं में वर्ग" से "स्वयं के लिए वर्ग" में निर्माण/रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजरती है। हम इस निर्माण/रूपांतरण के बारे में थोड़ा आगे बताएंगे। हालाँकि, 1960 के दशक के अंतिम वर्षों तथा उसके बाद से, विशेष रूप से संयुक्त राज्य तथा पश्चिमी यूरोप में छात्र, ग्रीन पीस, अश्वेत नागरिक अधिकार, महिला आदि आंदोलनों के विस्तार के बाद से इन आंदोलनों में नई सामूहिक पहचान निर्माण की उभरती प्रक्रियाओं को तथा उनके निर्माण को निर्देशित करने वाले सिद्धांतों को सारांशित तथा विश्लेषित करने के प्रयास किए गए हैं। ये व्यापक रूप से समझा गया है कि महज अनुभवजन्य तथा आर्थिक वर्ग स्थिति ही नहीं बल्कि मूल्यों, संस्कृति, व्यक्तिनिष्ठता, नैतिकता, अधिकार प्रदान करने के मुद्दे आदि इन आंदोलनों में नई सामूहिक पहचान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए यूरोप तथा अमरीका के छात्र आंदोलनों का अध्ययन करने के बाद बर्टोक्स (1990) का मत था कि "व्यक्तिनिष्ठता" तथा "आदर्शवाद" सामाजिक आंदोलन के अनिवार्य घटक हैं तथा इन्हें गंभीरता से लिया जाना चाहिए। उनके उद्धरण के अनुसार, "व्यक्तिनिष्ठता" क्रिया को समझने में विशेष रूप से सामाजिक आंदोलन के संदर्भ में समझने में सबसे प्रमुख होती

है, जहाँ क्रिया सिर्फ आदर्श से बद्ध व्यवहार नहीं, बल्कि नवीन तथा जोखिम भरी होती है। "सोच" अथवा "मूल्यों" जैसी संकल्पनाएँ व्यक्तित्व के सिर्फ एक अंश को बताती है लेकिन व्यक्तिनिष्ठता का अर्थ व्यक्ति के बारे में संपूर्ण जानकारी से है।" वास्तव में, बर्टोक्स सामूहिक व्यक्तिनिष्ठता के बारे में बात करते हैं : "इसका सरोकार सामाजिक जीवन के ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन से है, जो तब होता है जब नए आंदोलन का जन्म होता है।" आदर्शवाद के संबंध में, सबसे पहले विकसित हो रहे पश्चिमी समाजों का उदाहरण देते हुए, उन्होंने निरीक्षण किया कि व्यक्ति जिन्होंने सामाजिक आंदोलनों को आरंभ किया "प्रबल नैतिक भावनाओं द्वारा - आदर्शवाद द्वारा आंदोलित हुए थे; न कि स्वयं के हित के कारण हुए थे" (1990 : 153)।

सामाजिक आंदोलन सामूहिक पहचान तथा नए विचारों के बोध को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं जो स्वयं की वास्तविकता की पहचान करते हैं। यह वास्तविकता वास्तव में संदर्भ, संस्कृति, ऐतिहासिकता तथा समूह विशिष्ट होती है। मेलुकी ने सामूहिक पहचान निर्माण पर जोर दिया है, जो स्थिति की हासिल की गई परिभाषा है जो सामाजिक नेटवर्क के गठन के द्वारा निर्मित और समझौते करती है जो फिर समूह अथवा आंदोलन के सदस्यों को सामूहिक क्रिया के द्वारा जोड़कर सामूहिक क्रिया को विशिष्ट अर्थ प्रदान करती है। उनके अनुसार जो लोगों को "हम" के रूप में एकजुट रखता है उसे कभी भी साधनों के सिरे पर गणना के तर्क अथवा राजनीतिक औचित्य में पूरी तरह से अनुवादित नहीं किया जा सकता है, बल्कि इसके साथ सदैव मिलकर कार्य करने के तरीकों में समझौते न होने की गुंजाइश भी रहती है। (मुलुकी 1992)। उनके अनुसार, सामाजिक आंदोलन नई सामाजिक पहचान के संबंध के इर्द-गिर्द विकसित होते हैं जो स्वैच्छिक रूप से सदस्यों को इस पहचान की रक्षा के लिए "अधिकृत" करते हैं (1992, 1996)। आयरमेन तथा जेमीसन (1991) ने माना कि चेतना को स्पष्ट करके, सामाजिक आंदोलन नई सोच को उत्पन्न करने, नए नायकों को सक्रिय करने, नए विचारों को उत्पन्न करने के लिए जन स्थानों को प्रदान करते हैं। इस प्रकार नयी जानकारी उत्पन्न करके, अपनी निजी बोधात्मक पहचान को परिलक्षित, करके ये बताकर कि ये आंदोलन किन मुद्दो पर हैं, सामाजिक व्यवस्था की प्रभावी मान्यताओं को चुनौती देकर, सामाजिक आंदोलनों ने नए विचारों को विकसित कर लिया जो मानव सृजनात्मकता के लिए मौलिक हैं। इस प्रकार सामाजिक आंदोलनों ने विश्वव्यापी दृष्टि विकसित कर ली है जो बोधशीलता की पुर्नरचना करती और स्वयं सच्चाई को पहचानती है। सामाजिक आंदोलनों का बोधात्मक चलन नए सामाजिक बिंबों तथा समाज की पहचानों के रूपांतरण का प्रमुख स्रोत है (1991 : 161-166)। हेगेडस (1990) मानते हैं कि सामाजिक आंदोलनों में "करने" की क्रिया सम्मिलित होती है। "क्रिया में सम्मिलित होना चेतना तथा भावना का, जिम्मेदारी तथा संकल्प का, परिवर्तन तथा जुनून का मसला है; यह मौलिक रूप से नैतिक, वैश्विक तथा वैयक्तिक होता है (1990 : 266)। अतः सामाजिक आंदोलनों का ढाँचा विभिन्न समूहों जैसे महिलाओं, पर्यावरणविदों, छात्रों, किसानों, श्रमिकों आदि की सामूहिक पहचान के आधार पर तैयार किया जाता है जो समान पहचान तथा हितों के आधार पर संगठित होते हैं। एलन स्काट (1991) के लिए, सामाजिक आंदोलन में नायकों की सामूहिक पहचान उनकी समझ तथा उनकी सामाजिक स्थिति से जुड़ी रहती है। उनके अनुसार, "सामाजिक आंदोलन एक सामूहिक नायक है जिसे ऐसे व्यक्तियों द्वारा रचा जाता है जो ये समझते हैं कि उनके हित समान हैं, तथा उनके सामाजिक अस्तित्व का कम से कम एक महत्वपूर्ण हिस्सा, उनकी सामूहिक पहचान है" (1991 : 6)।

पहचान का रूपांतरण

सामाजिक आंदोलन न सिर्फ नई सामूहिक पहचान को निर्मित करने में सहायक होते हैं, बल्कि ये सामाजिक पहचान के रूपांतरण के लिए व्यापक क्षेत्र भी प्रदान करते हैं जैसे

भीड़ का समूहों में युस्मित होना/serie into groups en fusion, (सात्रे 1960) "स्वयं में वर्ग" को "स्वयं के लिए वर्ग" में रूपांतरण करना, (मार्क्स 1974; आदिट। सात्रे ने सीरी भीड़ की सामान्य अवस्था को कहा है यानि कणित व्यक्तियों की श्रृंखला, जिनमें से प्रत्येक अपने भीतरी जगत् में विविक्त है, अपने तरीके से चल रहा/रही है। तथा दूसरों के तरीके के बारे में नहीं सोच रहा/रही है। हालाँकि सात्रे जो बताना चाहते हैं वह यह है कि ये व्यक्ति जब भी और जहाँ कहीं भी कुछ कर रहा अथवा सिर्फ सड़क पर चहलकदमी भी कर रहा है, वहाँ उसका एक निशब्द साथी : यानि "सामाजिक नियंत्रण" मौजूद है। जन स्थान पूरी तरह से स्थापित सत्ता के नियंत्रण में है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कुछ भी सोचता/सोचती है वह जन अभिव्यक्ति है "सब कुछ ठीक है" तथा उसका गुप्त घटक "कुछ भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता है", भले ही वह इस सत्ता के नियम को स्वीकारे अथवा अस्वीकार करे, वह उसे इतने गुप्त रूप से करता है, जैसे वो इसे स्वीकार ही कर रहा हो। अतः, प्रत्येक व्यक्ति, काम करने वाले अन्य सभी लोगों की तरफ देखते हुए औपचारिकता दिखाता है और चुप रहता है, वह सोचता है कि ये लोग इस सामाजिक व्यवस्था को गुप्त रूप से अस्वीकार करने में अकले है। हालाँकि, जब प्रत्येक व्यक्ति में वैयक्तिक रूप से कुंठा बढ़ती जाती है तो भीड़ के समूह में परिणत होने के घटनात्मक तथा स्थूल परिवर्तन की अवस्था में पहुंचने के लिए सिर्फ एक छोटी-सी घटना ही काफी होती है। जैसे ही श्रृंखलाबद्ध प्रत्येक व्यक्ति ये जान लेता है कि कुछ अन्य स्थापित सत्ता को चुनौती दे रहे हैं, और जैसे ही वह खुले रूप से अपने समर्थन को व्यक्त करने के लिए एक कदम आगे बढ़ाता/बढ़ाती है, तो कणित श्रेणी से होकर एक श्रृंखलाबद्ध अभिक्रिया आरंभ हो जाती है और उसे एक तरल समूह में रूपांतरित कर देती है (सात्रे का भीड़ का समूहित होना जो तत्काल अधीनस्थ निष्क्रिय वस्तु के स्तर से क्रिया करने में समर्थ व्यक्ति हो जाता है" (बर्टोक्स 1990 : 155-156)। वास्तव में, नवीन सामाजिक आंदोलन ऐसे रूपांतरण के लिए वांछित प्लेटफॉर्म प्रदान करते हैं।

मार्क्सवादी विश्लेषण में सामूहिक पहचान में रूपांतरण को वर्ग पहचानों के "स्वयं में वर्ग" से "स्वयं के लिए वर्ग" में रूपांतरण के रूप में देखा जाता है। इस अनुरूपता में, हालाँकि, सामाजिक पहचान के रूपांतरण को सिर्फ वर्ग पहचानों के रूपांतरण के रूप में देखा जाता है।

यह महत्वपूर्ण है कि सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण के संदर्भ में नई पहचाने पुरानी वाली मे से ही विकसित हो सकती है। उदाहरण के लिए पश्चिम बंगाल तथा आंध्र प्रदेश में कृषक वर्ग की मान्य लामबंदी में इन कृषक समाजों में नई पहचाने लिंग, राष्ट्रीयता तथा जाति पहचानों के रूप में विकसित हुई हैं। हम इस मुद्दे की चर्चा इस इकाई के अंतिम सेक्शन में करेंगे।

सोचें और करें 32.4

संसाधन लामबंदी सिद्धांतवादियों की स्थिति पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।

32.6 नई पहचान की स्वायत्तता

क्या नई पहचान जो सामूहिक क्रिया से निर्मित होती है आंदोलन की विचारधारा तथा संगठन में स्वायत्त हो सकती है? विद्वानों ने नए सामाजिक आंदोलनों की विचारधारा की पहचान स्वतंत्रता तथा जीवन से की है। इस संदर्भ में स्वायत्ता का बोध महत्वपूर्ण है। इस मुद्दे के अनेक आयाम हैं।

1) **व्यक्तिगत स्वायत्तता :** "मनोवैज्ञानिक-सामाजिक चलनों जैसे महिला आंदोलन के भीतर उठने वाली चेतना, का कम से कम एक लक्ष्य होता है — वैयक्तिक महिलाओं

की व्यक्तिगत तथा विचारधारात्मक बाधाओं से स्वतंत्रता से उनके जीवन इतिहासों के पुनर्गठन के द्वारा तथा उन्हें व्यक्तिगत शोषणों के बारे में जागरूक करने के साथ-साथ महिला के रूप में उनकी प्रबल शक्ति पर जोर देकर व्यक्तिगत रूप से महिलाओं को मुक्त करना है।"

2) **व्यक्तिगत तथा समूह स्वायत्तता :** इन आंदोलनों के राजनीतिक उद्देश्यों के संकीर्ण रूप से परिभाषित करने के राजनीतिक उद्देश्यों को स्वतंत्रता पर अनेक प्रतिबंधों को चुनौती देकर व्यक्तिगत तथा समूह स्वायत्तता के विस्तार के रूप में सारांशित किया जा सकता है। अतः माँग पर मुक्त भ्रूणहत्या पर विवाद को महिलाओं की स्वतंत्रता को बढ़ाने के तरीके के रूप में देखा जा सकता है जिससे वो अपने शरीर, कार्य स्थल पर लिंग तथा जातीय भेदभाव को दूर करने, समूह के सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक स्वतंत्रता के विस्तार को महसूस किया जाता है।"

3) **स्वायत्तता संघर्ष :** नवीन सामाजिक आंदोलनों का स्वायतत्ता संघर्ष माँग करता है कि इन आंदोलनों के प्रतिनिधियों को अपनी लड़ाई स्वयं "अन्य आंदोलनों के हस्तक्षेप के बगैर तथा अपनी माँगों को अन्य बाह्य प्राथमिकताओं से नीचे रखे बगैर करने देनी चाहिए।" स्वायत्तता के ये पहलू निकट रूप से संबद्ध हैं (स्काट 1990 : 18-20)।

हालाँकि, नवीन सामाजिक आंदोलनों की एकनिष्ठ रूप से स्वायत्तता के संदर्भ में संकल्पना करने का प्रयास भ्रमित करने वाला हो सकता है। व्यक्तिगत तथा राजनीतिक के रूप में विभेद बहुत साफ नहीं है। व्यक्तिगत स्वायत्तता, स्वतंत्रता आदि के मुद्दे राजनीतिक प्रकृति के होते हैं। (स्कॉट 90 : 23)। ये मानना कि नवीन सामाजिक आंदोलन राजनीतिक हस्तक्षेप से स्वतंत्र तथा अनिवार्य रूपसे सांस्कृतिक मुद्दों से सरोकार रखते हैं उचित नहीं है। अनेक नवीन सामाजिक आंदोलन राजनीतिक प्रश्नों से सरोकार रखते हैं, उदाहरण के लिए "नागरिकों" के अधिकार, प्रदर्शन, नागरिक अधिकार आंदोलन आदि। ये सभी राजनीतिक तथा वैधानिक संस्थाओं की ओर उन्मुख होते हैं। अतः स्वायत्तता के मुद्दे को विशिष्ट रूप से अध्ययन किए जा रहे सामाजिक आंदोलन तक ही सीमित रखा जाना चाहिए।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 32.1 : उप-अध्ययनों में स्वायत्तता का मुद्दा

कृषक आंदोलनों पर उप-अध्ययनों में स्वायत्तता का मुद्दा प्रमुख स्थान पर है। रणजीत गुहा का कहना है कि न तो उपनिवेशी काल में उप-राजनीति ने ऐसे स्वायत्त शासन की रचना की जो न तो संभ्रांत राजनीति से उत्पन्न हुआ था और न ही उसका अस्तित्व उस पर निर्भर था। उन्होंने राजनीति के उप-शासन की पहचान ऐसे रूप में की थी जिसमें विविध प्रकार के सामान्यतः स्वायत्त विचारों तथा कार्य के तरीकों की अभिव्यक्ति, विद्रोहों, दंगों तथा प्रचलित आंदोलनों के द्वारा हुई थी। उनके अनुसार विद्रोह/संकट निहित पहचानों तथा विरोधों की प्रकृति के बारे में दैनिक जीवन की सामान्य दिनचर्या के अध्ययन की अपेक्षा कहीं अधिक बता सकते हैं जिसमें ऐसे संबंध प्रक्षुप्त अथवा अपरीक्षित रहते हैं। अतः, विद्रोही महज किसी आर्थिक अथवा राजनीतिक उद्दीपन के लिए कोई स्वतः प्रतिवर्ती क्रिया नहीं है; यह कृषक चलन था जो कृषक वर्ग की सामूहिक चेतना की कृषक क्रिया द्वारा अभिव्यक्ति थी (गुहा 1983)। यहाँ प्रमुख सरोकार उस हद को दिखाता था जहाँ तक कृषक राजनीति को अधीनता से जकड़ी हुई संरचना के भीतर स्वायत्तता प्राप्त थी। इस काल में राजनीति का संभ्रांत शासन अंग्रेजों के द्वारा निर्मित हुआ था जिसका प्रतिनिधित्व भूस्वामियों, व्यापारियों, अफसरशाहों आदि के द्वारा होता था (गुहा 1982 : 4)।

32.7 नवीन सामाजिक आंदोलन तथा प्रभुत्व के खिलाफ प्रतिरोध

अधीनस्थ स्थितियों में नायक कभी पूरी तरह से निर्भर नहीं होते हैं तथा जो भी संसाधन उनके पास होते हैं उन्हें तंत्र के प्रजनन की स्थितियों पर कुछ हद तक नियंत्रण के लिए परिवर्तित करने के लिए अक्सर अनुकूलित होते हैं (गिडेन्स 1982)। अतः सत्ता संबंधों के भीतर अधीनस्थ के अनुपालन को प्रतिरोध की कमी के द्वारा नहीं, बल्कि ऐसे प्रतिरोध को लागू करने के साधनों की अनुपस्थिति के द्वारा समझाया जा सकता है (मान 1985)। अतः, प्रभुत्व की संरचना, स्पर्धा से मुक्त नहीं है। प्रभुत्व के खिलाफ प्रतिरोध तथा संघर्ष विभिन्न रूपों में होता है। जे.सी. स्कॉट के अनुसार, प्रभुत्व की व्यापक संरचनाओं में भी प्रमुख के तत्काल नियंत्रण के बाहर अधीनस्थों का काफी व्यापक सामाजिक अस्तित्व होता है। ऐसी व्यवस्थाओं में ही प्रभुतव के साझी समालोचक "गुप्त अनुलिपि" को "निर्मित" करने के तरीके द्वारा विकसित हो जाता है जो प्रमुख के पीठ पीछे होने वाली सत्ता की समालोचना को प्रदर्शित करता है। उन्होंने सुझाया कि अफवाहें, गप्पबाजी, लोककथाएँ, गीत, वीरगाथाओं, चुटकुले तथा सत्ताहीन के स्वांग अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता का समालोचक विकसित करने के लिए कार्यविधि की तरह कार्य करते हैं (1990 viii)। चलिए हम प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिरोध की भाषा के रूप में नई सामूहिक पहचानों के भारत में उभरने के तरीकों का परीक्षण करें।

नई सामूहिक पहचानें : पहचान एक सामाजिक रचना है। "यह स्वयं का निरंतर परिवर्ती विवरण हैं (हाल 1990)। पहचानें विकल्प की संभावना, विकल्पों तथा कारणों की बहुरूपता के आधार पर विकसित हुई हैं। तथा पहचान में बहुरूपता, विकल्प तथा तार्किकता को नकाराना दमन का स्रोत हो सकता है" (सेन 1999 : 22)। पहचानें संगठित सामाजिक संबंधों में आत्म-बोधात्मक, भूमिकाओं से जुड़ी तथा भूमिका द्वारा पद से जुड़ी होती है। कोई भी पहचान का विभिन्न स्थितियों में आह्वान किया जा सकता है अथवा इसे विभेदी संभाव्यता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यहाँ हम समकालीन विषय की बहु पहचानों को प्रतिबिंबित कर सकते हैं यानि पहचान के पैटर्नों को वर्ग, उपजाति, राष्ट्र, लिंग आदि पर बातचीत से निर्मित कर सकते हैं (स्ट्राइकर 1990 : 873-74)। पहचान के निर्माण में ऐसी सीमाओं का सामाजिक उत्पादन भी सम्मिलित है जो समावेशन तथा बहिष्कार की प्रक्रिया को प्रतिबिंबित करते हैं (सेरूटी 2001)। चूँकि सामूहिक पहचान सामाजिक निर्माण का मसला है अतः इसकी सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण की प्रक्रिया में अनेक प्रकार से पुनर्रचना होती है। सामाजिक आंदोलन न सिर्फ नई सामाजिक पहचान को निर्मित करने में सहायक होते हैं, बल्कि इस पहचान के रूपांतरण के लिए व्यापक क्षेत्र भी प्रदान करते हैं।

लंबे समय तक जारी रहने वाली आधारभूत लामबंदियों ने लिंग, जाति, किसान, नागरिक तथा राष्ट्रीय आदि को स्पष्ट करने तथा नवजीवन देने के लिए राह बनाई है। पश्चिम बंगाल में किसान कामतापुरी आंदोलन तथा सीमित गैर-सरकारी संगठन सक्रियता का उसी तरह से हिस्सा रहे हैं जैसे कि उत्तर बंगाल में तथा आंध्र प्रदेश में अर्रैक-विरोधी (मद्यपान निषेध) आंदोलन, माडीगा तथा थुडुम डेबा, तेलंगाना राज्यवादी आंदोलन, नागरिक स्वतंत्रता, किसान आदि आंदोलन।

राजवंशियों एक अनुसूचित जाति के क्षेत्रीय, सांस्कृतिक, जातिगत, स्वायत्तता के लिए कामतापुर आंदोलन ने उत्तर बंगाल पृथक राज्य की माँग के साथ पैर पसारने शुरू कर दिए हैं, यहाँ छह जिलों कूच बिहार, जलपाइगुड़ी, दार्जिलिंग, उत्तर दिनाजपुर, दक्षिण दिनाजपुर तथा मालदा को मिलाकर एक पृथक राज्य की माँग की जा रही है। इस आंदोलन को आरंभ करने के लिए उत्तराखंड दल नामक एक क्षेत्रीय दल का गठन 1980

में हुआ था। अब इस आंदोलन को कामतापुर पीपुल्स पार्टी के नेतृत्व में गति मिली है। इस आंदोलन के द्वारा राजवंशी अपनी सांस्कृतिक तथा भाषाई पहचान के क्रमिक क्षरण तथा समाज में उनके आर्थिक सीमांतीकरण के विरुद्ध प्रतिरोध कर रहे हैं। उनका आरोप है कि उत्तर बंगाल की आर्थिक रूप से उपेक्षा की गई है तथा राजनीतिक रूप से यह पश्चिम बंगाल के कोलकाता स्थित राज्य प्रशासन द्वारा शासित है। इस आंदोलन ने आतंकवादी कामतापुरी मुक्ति संगठन के निर्माण के साथ नया मोड़ ले लिया है जिसने उत्तर बंगाल के विभिन्न भागों में वामपंथी कार्यकर्ताओं पर सामने से हमला करना आरंभ कर दिया है। राजवंशियों का एक भाग, जो अब इतिहास, भाषा, पारंपरिक सामाजिक संरचना, व्यवसाय तथा भूमि अधिकारों के संबंध में पहचान के लिए अधिक सचेत होते जा रहे हैं, इस आंदोलन का हिस्सा बन गए हैं। बेरोजगार शिक्षित युवक तथ स्कूलों से निष्कासित छात्र अन्य की अपेक्षा इस आंदोलन के साथ अपने जुड़ाव को व्यक्त करने में अधिक मुखर हैं। नक्सलबाड़ी के एक युवक (जो कामतापुरी मुक्ति संगठन कार्यकर्ताओं के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही के चलते अपनी पहचान छुपना चाहता है) का कहना है :

"हम अपनी ही भूमि पर सभी अवसरों से वंचित हैं। बाहरी लोगों के पास चाय के बागान हैं। सभी सरकारी सेवाएँ हटा दी गई हैं तथा भटियाओं (राज्य के अन्य भाग के बंगाली प्रवासी).. मारवाड़ियों, पंजाबियों द्वारा संचालित हैं जो हमें हिकारत से देखते हैं तथा सभी व्यापारों पर स्वामित्व रखते हैं। ये हमारी भाषा, हमारे खानपान की प्रवृत्तियों, हमारी वेशभूषा पर हँसते हैं। हमें अपनी भूमि पर उनकी भाषा में बात करनी पड़ती है ....".

हालाँकि, आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में राज्यवादी आंदोलन का लंबा इतिहास है, इसको गति हाल के वर्षों में तेलंगाना राष्ट्रीय समिति के निर्माण तथा पिछले चुनावों में उसकी सफलता से मिली है। आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अर्थों में तेलंगाना क्षेत्र पर आंध्र के शासन से संबंधित अनेक मुद्दे उठे हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण राज्य के अन्य भागों के हित के लिए तेलंगाना के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का, सरकारी नौकरियों में तेलंगाना क्षेत्र में सरकारी नौकरियों में अधिक-से-अधिक आंध्र की भाषा बोलने वाले लोगों की नियुक्ति तथा तेलंगाना क्षेत्र के लोगों का कृषि क्षेत्र का पिछड़ापन, गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि है। तेलंगाना की आर्थिक विपन्नताओं को तेलंगाना पर आंध्र के शासन के संदर्भ में समझाया जाता है। "आंध्र प्रदेश के हित के लिए तेलंगाना के संसाधनों के अत्यधिक दोहन के साथ-साथ तेलंगाना के लोगों के जीने के तरीके पर हमले भी होते हैं....। आंध्र के शासक कभी ये कहते नहीं थकते हैं कि तेलंगाना के लोग असंस्कृत हैं। इस प्रकार, तेलंगाना को अधीन रखने का आत्मघाती प्रयास जारी रहता है (जाधव 1997)।

पुनः अनुसूचित जातियों की माडीगा रिजर्वेशन पोराटा समिति तथा अनुसूचित जातियों का थुडुम डेबा आंदोलन आंध्र प्रदेश की प्रत्येक अनुसूचित जाति तथा जनजाति के ए, बी, सी तथा डी श्रेणियों में उनके आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक विकास के आधार पर पुनः श्रेणीकरण की माँग कर रही है जिससे आरक्षण के लाभ प्राप्त किए जा सकें। पुनः तेलंगाना क्षेत्र के कपास की खेती करने वालों तथा किसानों के आत्मघात विरोधी आंदोलन भी हुए हैं। कृषक महिलाओं के नेतृत्व में अरैक विरोधी आंदोलन का पूरे आंध्र प्रदेश में प्रबल प्रभाव पड़ा था। गरीब किसान इनमें से अधिकांश आंदोलनों का हिस्सा थे। उदाहरण के लिए, माल्ला रेड्डी पाले की महिला सरपंच राजीरम्मा अरैक विरोधी आंदोलन से संबद्ध रही हैं। वह माडीगा आरक्षण आंदोलन की भी प्रबल समर्थक हैं तथा कपास उगाने वालों तथा आत्महत्या-विरोधी आंदोलनों में भी भागीदार रही हैं। वह पृथक तेलंगाना राज्य आंदोलन की भी भागीदार हैं। उनका कहना है कि "तेलंगाना में कृषक महिलाओं का जीवन संघर्षों से भरा है तथा हम सभी तेलंगाना में संघर्ष का हिस्सा हैं"।

MADHAM IAS

वामपंथी राजनीतिक दलों ने विचारधारा तथा नीति दोनों के अनुसार कृषक वर्ग की पहचान के लिए "स्वयं के लिए वर्ग" को अंतर्निवेशित किया है। हालाँकि, गुजरे वर्षों में, विचारधारात्मक रूपांतरण तथा चुनावी राजनीति के लिए जनसमूह के साथ वर्ग गठजोड़ के विचारधारात्मक रूपांतरण की प्रक्रिया में, वर्ग आधारित राजनीति का आधार कृषक वर्ग में अत्यधिक अपरिचित है (भट्टाचार्य 1999)। पुनः चूँकि वर्ग पहचान ने अनेक सूक्ष्म मुद्दों पर नजर नहीं डाली है। अतः वर्ग, समूहों, राजनीतिक दलों के पुराने नायकों तथा राज्य के सभी उपकरणों के साथ नए नायक जाति, लिंग, राष्ट्रीयता तथा धर्म के रूप में उभरे हैं (वेबस्टर 1999)।

पहचान की स्वायत्तता

कृषक आंदोलनों के मौलिकीकरण से संस्थागत में रूपांतरण की प्रक्रिया ने तथाकथित "प्राचीन" से "नवीन" सामाजिक आंदोलनों में संक्रमण का चलन प्रदर्शित किया है। इस पर जोर दिया गया है कि नवीन सामाजिक आंदोलन भागीदारों की संरचनात्मक भूमिका के साथ स्पष्ट संबंध नहीं रखते हैं, यह कि उनका सामाजिक आधार वर्ग संरचनाओं से परे है, कि वो बहु विचार तथा मूल्यों को प्रदर्शित करते हैं, कि उनके विचारधारात्मक गुण सामूहिक क्रिया के लिए एकीकरण तथा संपूर्णता की विचारधारा की मार्क्सवादी संकल्पना के एकदम विपरीत है तथा यह कि उनमें नई सामूहिक पहचानों के आर्विभाव में सम्मिलित है। "हालाँकि नवीन सामाजिक आंदोलनों की ये विशेषताएँ भूतकाल से उनके संबंधों से स्वतंत्र नहीं हैं। न ही ऐसा है कि उनमें प्राचीन से कोई सततता नहीं है, हालाँकि ये प्रत्येक आंदोलन के साथ बदलती रहती है .... हालाँकि प्राचीन इतिहासों वाले आंदोलन नए रूपों में और अधिक विस्तृत लक्ष्यों के साथ तथा लामबंदी और रूपांतरण के भिन्न तरीकों के साथ उभरे हैं। ये अभिव्यक्ति की नवीनता तथा विस्तार के साथ-साथ इन आंदोलनों का मात्रा तथा महत्व है जिसने समझ के संशोधित ढाँचे के लिए आधार का निर्माण किया है" (लाराना, जॉनस्टन एवं गेस्फील्ड 1984 : 8-9)।

नवीन सामाजिक आंदोलनों के सामाजिक कार्यक्रम बहु पहचान वाले "स्थानीय आंदोलनों पर आधारित होते हैं जो समाज में स्थित होते हैं, तथा सामाजिक संवाद के नए तरीकों पर (सामाजिक सुदृढ़ता तथा परस्पर समझ) तथा प्रकृति के साथ नए सद्भावपूर्ण संबंध पर जोर देते हैं (शुअरमेन 1993 : 189)। पश्चिम बंगाल तथा आंध्र प्रदेश के संदर्भ में, ये देखा गया है कि वे प्राचीन सामाजिक आंदोलन जिन्होंने सर्वहारा के लिए राजनीतिक शक्ति पर कब्जे के द्वारा उद्धारक परियोजनाओं की वकालत की है, ने इन आंदोलनों के रूपांतरण की प्रक्रिया तथा इन लामबंदियों को जारी रखने के लिए बहु पहचानों वाले विभिन्न आंदोलनों, विन्यास तथा सामूहिक क्रिया की बहुरूपता को प्रदर्शित करना आरंभ कर दिया है। नई सामूहिक पहचानों के निर्माण की प्रक्रिया अक्सर तथा स्पष्ट रूपसे वर्ग निर्माण पहचान की पूर्व-परिभाषित प्रक्रिया को और ऊँचे स्थन पर पहुँचा देती है क्योंकि अधिकांश नई सामूहिक पहचानें जैसे लिंग, जाति, क्षेत्र तथा राट्रीयता वामपंथी दलों के दिए गए लक्ष्यों और उद्देश्यों से स्वायत्त होती हैं।

हालाँकि, सिर्फ नवीन सामाजिक आंदोलनों के अर्थ में पहचान के विकसित हुए पैटर्नों की स्वायत्तता का वर्णन करना समस्यामूलक होगा, चूँकि लामबंदी में सम्मिलित प्रमुख मुद्दे सिर्फ अकेले सांस्कृतिक क्षेत्र के ही नहीं हैं। बल्कि इन लामबंदियों में अनेक राजनीतिक तथा आर्थिक मुद्दे भी सम्मिलित हैं। संघर्ष के अपने दैनिक जीवन के अनुभवों तथा सामूहिक क्रिया में अपनी दीर्घकालिक भागीदारी के द्वारा कृषक वर्ग अपनी पहचान की रक्षा करने तथा प्रभुत्व के विरुद्ध अपने प्रतिरोध की नीति बनाने में प्रशिक्षित हो गया है। प्रतिरोध के ये दैनिक जीवन के अनुभव कृषक वर्ग के प्रभुत्व का विरोध करने के चलन का आधार निर्मित करते हैं जिससे उन्हें प्रभुतव के विरुद्ध अपने प्रतिरोध को अभिव्यक्त करने के लिए वैकल्पिक तरीके भी मिल जाते हैं।

नवीन सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में, स्वायत्तता के विचार का उपयोग स्वायत्तता संघर्ष की अभिव्यक्ति, व्यक्तिगत तथा समूह स्वायत्तता के विस्तार तथा स्वायत्तता संघर्ष की अभिव्यक्ति के रूप में उपयोग किया जाता है जिससे सामाजिक आंदोलनों को बगैर बाहर के हस्तक्षेप के विकसित होने का मौका मिलता है (स्कॉट 1990)। दूसरी तरफ उप-अध्ययनों, ने कृषक संघर्ष की स्वायत्तता को उनकी स्थानीय अभिव्यक्ति के संदर्भ में देखा है। रंजीत गुहा का कहना है कि उपनिवेशी काल के समय; अधीनस्थों ने सामान्यतः सोच तथा क्रिया के स्वायत्त तरीकों वाले स्वायत्त क्षेत्र का गठन किया है जिसकी अभिव्यक्ति विद्रोह, दंगों तथा प्रचलित आंदोलनों के रूप में हुआ है। अतः उनके अनुसार विद्रोह बाह्य आर्थिक अथवा राजनीतिक उद्दीपन के लिए महज कोई स्वायत्त प्रतिवर्ती क्रिया नहीं था; यह कृषक चलन" था, जो कृषक वर्ग की सामूहिक चेतना की कृषक क्रिया के द्वारा अभिव्यक्ति थी (गुहा 1983)। सुमित सरकार के अनुसार स्वतः विद्रोह की घटनाएँ जैसे टोपियों की लूट, जनजातीय आंदोलन, कृषक आंदोलनों आदि की प्रवृत्ति अक्सर स्वायत्त, बिखरे हुए आंदोलन की होती थी तथा ये उपनिवेशी भारत में मुख्यधारा के राष्ट्रीय आंदोलन की सीमा से बाहर ही रहते थे। वो ये भी बताते हैं कि गरीब व्यक्ति प्रारूपिक रूप से अपने दमनकारी को किसी प्रकार की सामूहिक क्रिया के द्वारा नहीं बल्कि बुद्धि कौशल की वैयक्तिक लड़ाई के द्वारा तथा अक्सर अपनी स्वयं की कीमत पर जीतता है (सरकार 1985 : 51-62)। पार्थ चटर्जी का यह मत है कि "प्रभुत्वशाली समूह" अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए प्रभुत्व वाले वर्गों का उपभोग अथवा उन्हें नष्ट नहीं करते हैं क्योंकि इससे सत्ता से कोई संबंध नहीं रह जाएगा जिससे शासन भी नहीं हो पाएगा। अपनी स्वायत्ता के बगैर उप-अधीनों की अपनी कोई निजी पहचान नहीं हो पाएगी (चटर्जी 1998 : 166।

नई पहचाने जैसी कि आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल के कृषक समाजों में विकसित तथा निर्मित हुई हैं अपने तरीके से संगठनात्मक, विचारधारा तथा सामूहिकता की पूर्व परिभाषित सीमाओं से स्वायत्त हैं जैसा कि वर्ग संवाद/वार्ता में प्रचारित किया जाता है। हालाँकि, जाति, लिंग, क्षेत्र, राष्ट्रीयता, आदि की बहु पहचानों ने समावेशन तथा बहिष्कार की सीमाओं को परिभाषित किया है तथा कभी-कभी ये वृहद्तर समाज के संगठनात्मक संबंधनों तथा विचारधाराओं का उपयोग अपनी क्रियाओं के लिए निर्देशात्मक नियमों के रूप में करते हैं। उदाहरण के लिए उत्तर बंगाल में तथा तेलंगाना क्षेत्र में, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण आंदोलन, नागरिक स्वतंत्रता तथा महिला समूहों आदि के जातिगत आंदोलनों ने क्षेत्रीय तथा राज्य स्तर पर अपने निजी संगठनों को निर्मित किया है। इसी प्रकार, गैर-सरकारी संगठनों के निर्माण की प्रक्रिया भी ऐसी ही है जो "अधिकार देने के साथ विकास" की उभरती सामाजिक विकास वार्ता के साथ जुड़ी हुई है। अनुसूचित जाति श्रमिकों तथा जनजातीय महिलाओं के आत्म-कथन भी आधार स्तर पर दलित तथा महिला आंदोलनों के पुनरुत्थान से जुड़े हुए हैं।

लेकिन ये सभी पहचानें तथा इन पहचानों के वृहद्तर जगत के साथ संबंधन आकस्मिक अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं। न ही इन्हें बाहर से बाहरी एजेंसियों के हस्तक्षेप द्वारा थोपा गया है। बल्कि, कृषक वर्ग ने अपने मुद्दों को अपने दैनिक अनुभवों से स्पष्ट किया है तथा नई पहचानें उन उभरने वाली चुनौतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप निर्मित होती हैं जिन्हें वो नियमित रूपसे झेलते हैं। लंबी अवधि से चलने वाली लामबंदियों ने कृषक वर्ग को समाज में उनके दमन तथा अधीनता के विभिन्न आधारों के बारे में जैसे जाति, वर्ग, राष्ट्रीयता, क्षेत्रीयता, लिंग आदि के बारे में जागरूक किया है। अतः उन्हें अपने प्रतिरोध की कला को व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूपों से स्पष्ट करना है; इसके लिए भले ही सामानांतर तथा कभी-कभी वैकल्पिक पहचानों को पुनर्निर्मित करने की आवश्यकता पड़े। यहाँ बाहरी एजेंसियों के साथ संबंध बाद की अवस्थाओं में आस-पास के वृहद्तर विश्व के साथ परस्पर

क्रियात्मकता को बढ़ाकर बनते हैं। पुल्टा रवीन्द्रन जो आंध्र प्रदेश में वारंगल से अनुसूचित जाति के नेता हैं, अपने अनुभवों को याद करते हैं।

हमारा विभिन्न तरीकों से दमन तथा शोषण किया जाता है। कभी-कभी हमें माडीगा अनुसूचित जाति के रूप में शोषित किया जाता है। हमारी महिलाओं का महिला श्रमिकों तथा अनुसूचित जातियों के सदस्यों की तरह उत्पीड़न किया जाता है। हमें तेलंगाना वासियों के रूप में शोषित तथा उत्पीड़ित किया जाता है .... क्योंकि हमें अपने शोषण की विभिन्न स्थितियों की जानकारी है, हम हर संभव तरीके से इसका प्रतिरोध करते हैं। हालाँकि हमारा दमन खत्म नहीं होता है। यदि हम एक दिशा से प्रतिरोध करते हैं, तो वह दूसरी ओर से प्रकट हो जाता है .... अब हम हर संभव तरीके से अपने उत्पीड़न को रोकने की कोशिश करते हैं।

कृषक आंदोलनों के मौलिकीकरण की प्रावस्था से संस्थागत होने में तथा लामबंदियों के जारी रहने के बावजूद कृषक वर्ग का हाशिए पर रहना जारी है। हालाँकि, उनकी पहचान गत वर्षों में पुनर्निर्मित हुई है, लेकिन सीमांतता के घटक-सामाजार्थिक तथा राजनीतिक अर्थ दोनों में — उनसे जुड़े रहे हैं। जीविका की सुरक्षा का मुद्दा कृषक वर्ग के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उनमें दैनिक जीविका को सुरक्षित रखने के लिए राजनीतिक लामबंदी तथा सक्रियतावाद के उपलब्ध चैनलों को उपयोग करने की प्रवृत्ति होती है। उन्हें अपनी जीविका की सुरक्षा के लिए कभी-कभी शासन की संरचना के साथ समझौता करना पड़ता है। इस संदर्भ में, नित्य क्रियातमक सामूहिक लामबंदी में उनकी भागीदारी, भले ही वो उनके प्रभुत्व में योगदान देती है, उनकी उचित गणना का विषय है।

वाकई, लंबे समय तक जारी रहने वाली लामबंदियों के द्वारा, कृषक अपने हितों को स्पष्ट करने के लिए तथा नई पहचानों के निर्माण के लिए स्थान बना लेने में समर्थ हो गए हैं जो निर्भरता तथा प्रभुत्व के बलात् आधारों से मुक्ति की कोशिश करता है। इन पहचानों के द्वारा वो प्रभुत्व के विरुद्ध अपनी प्रथाओं की वैधता हासिल करने की कोशिश करते हैं।

MAADHYAM IAS

32.8 नवीन सामाजिक आंदोलन तथा उभरते हुए सामाजिक सरोकार

नवीन सामाजिक आंदोलन समाज के समान सरोकार की अभिव्यकति करते हैं। हालॉकि, इन सामाजिक सरोकारों की उत्पत्ति सिर्फ हाल ही में नहीं हुई है। बल्कि ये भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से स्थित तथा जड़े जमाए हुए हैं। उदाहरण के लिए भारत में भक्ति तथा सूफी आंदोलनों ने निस्वार्थ मानवीय सरोकारों को अभिव्यक्त किया है जो मध्यकालीन अवधि में समतावाद तथा मोक्ष के सिद्धांत पर आधारित है। इसी प्रकार 12वीं शताब्दी में कनिष्क में वीराशैववाद जाति व्यवस्था के वंशानुक्रम समाज में महिलाओं की निम्न स्थिति को चुनौती देने तथा समानता को प्रचारित करने के लिए उभरे थे जिससे सामाजिक बुराइयों को दूर करके मोक्ष तक समान पहुँच बनाई जा सके।

समाज सुधार आंदोलन जैसे कि 19वीं शताब्दी के आरंभ में आर्य समाज द्वारा उत्तरी भारत में ब्रह्मसमाज द्वारा पूर्वी भारत में, प्रार्थना समाज द्वारा पश्चिमी भारत में तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा पूरे भारत में आरंभ हुए थे, ने अनेक सामाजिक बुराइयों जैसे जाति वंशानुक्रम, सती, बालविवाह, अछूत आदि की संस्थागत प्रथाओं के विरुद्ध अनेक मानवीय सरोकारों को अभिव्यक्त किया है। इन आंदोलनों ने अशिक्षा के उन्मूलन, बाल विवाह को रोकने तथा विधवा विवाह को बढ़ावा देने के लिए भी पहल की थी।

हालाँकि भारतीय समाज विशिष्ट मुद्दों पर अनेक प्रकार के जाति तथा वर्ग आधारित सामाजिक आंदोलनों का गवाह रहा है, उसने समान सामाजिक सरोकारों वाले अनेक

आंदोलनों के विस्तार का भी अनुभव किया है जो जाति तथा वर्ग की स्थानीय सीमाओं से परे है। उदाहरण के लिए वनों को बचाने के लिए परिस्थितिकीय आंदोलन (1970 के दशक के अंतिम तथा 1980 के दशक के आरंभिक वर्षों में उत्तरांचल के सामान्य पहाड़ी इलाकों में चिपको आंदोलन), (मध्य प्रदेश, गुजरात तथा महाराष्ट्र में नर्मदा बचाओं आंदोलन), शराब विरोधी आंदोलन, जैसे आंध्र प्रदेश में अरक विरोधी आंदोलन तथा उत्तरांचल में शराब बंदी आंदोलन, शांति तथा मानवाधिकार आंदोलन, जंतुओं को प्यार करने वालों के आंदोलन, वन्य जीवन संरक्षण आंदोलन, विज्ञान प्रचलनकारी आंदोलन, महंगाई विरोधी आंदोलन आदि ने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित किया है। इन सभी आंदोलनों ने मानवतावादी सरोकारों को प्रतिबिंबित किया है जो नवीन सामाजिक आंदोलनों के सिद्धांत को रेखांकित करता है।

समान सरोकार के इन आंदोलनों के साथ ही इन्होंने भारत में अनेक समूहों के लिए नई पहचान के लिए आंदोलनों को भी विकसित किया है। उदाहरण के लिए भारत में महिला आंदोलन ने एक नवीन आंदोलन को विकसित किया है जो अनेक पारंपरिक श्रेणियों जैसे जाति, वर्ग तथा राष्ट्रीयता की सीमाओं को पार कर गए हैं। इसी प्रकार देश के अनेक भागों में जातिगत पहचान पर आधारित क्षेत्रीय स्वायत्तता आंदोलन, दलित मानवाधिकार आंदोलन, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातिय समूहों के पुनः श्रेणीकरण के लिए आंदोलनों (जैसे कि राजस्थान में) ने अनेक नवीन पहचान आंदोलनों को जन्म दिया है।

यहाँ ये बताना महत्वपूर्ण है कि नवीन सामाजिक आंदोलनों ने हाल के वर्षों में नागरिक समाज संगठनों तथा सक्रियतावाद के घटनात्मक विस्तार से नए अर्थ प्राप्त किए हैं। इन आंदोलनों का समान सरोकार सामाजिक समानता, वहनीय विकास, जीविका की सुरक्षा तथा सीमांत लोगों को अधिकार देने, पर्यावरण की सुरक्षा, शांति तथा सामाजिक स्थिरता आदि को प्राप्त करना है। एक तरफ सामाजिक विकास संवाद, सूचना तथा संचार की तकनीकों के विस्तार तथा दूसरी तरफ राज्य के विश्वसनीयता घाटे के विस्थापन के चलते नागरिक समाज, समाज में नए सरोकारों तथा नई पहचानों को स्थापित करने के लिए प्रबल उत्प्रेरक के रूप में उभरे हैं। चूँकि समाज कृषि से औद्योगिक में तथा उसके पश्चात् ज्ञान के अर्थ तंत्र में रूपांतरित हो रहा है अतः यह स्वाभाविक है कि नई पहचानें तथा नवीन सामाजिक आंदोलन समकालीन सामाजिक वास्तविकता के अभिन्न भाग हैं।

MADHYAM IAS

32.9 निष्कर्ष

इस इकाई में हमने पश्चिम में नवीन आंदोलनों के आर्विभाव की सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि के आर्विभाव की चर्चा की है। विद्वानों ने इस सामाजिक परिघटना की अनेक नई विशेषताओं की पहचान की है। हमने इन गुणों को भी संक्षेप में बताया है। नवीन तथा प्राचीन सामाजिक आंदोलन के बीच विभेदी गुणों को भी बताया गया है। नवीन सामूहिक पहचान का निर्माण तथा इन पहचानों की स्वायत्तता सामाजिक आंदोलन अध्ययनों में क्रांतिक पड़ताल का विषय है। इन मुद्दों की भी यहाँ चर्चा की गई है। अंतिम सेक्शन में हमने सामाजिक आंदोलनों के रूपांतरण के साथ नई सामूहिक पहचानों के प्रक्रिया आर्विभाव की चर्चा की है। यहाँ प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिरोध की भाषा की स्पष्टता जैसी कि नवीन सामाजिक आंदोलनों के भीतर उभरी है, की भी चर्चा की गई है।

32.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लाराना, ई. तथा उनके सहयोगी (संपादक) 1984. *न्यू सोशल मूवमेंट्स, फॉम आइडिओलॉजी टु आइडेन्टिटी, टेम्पल* युनिवर्सिटी प्रेस : फिलेडेल्फिया।

स्कॉट, ए.सी. 1991. *आइडियोलॉजी एंड न्यू सोशल मूवमेंट्स*, अनविन हाइमेन : लंदन।

Glossary

Sacred : That which deals with the extra-ordinary aspect of social life. It is that which is set apart from every day life and evokes special respect and reverence.

Profane : That which deals with the everyday life situations.

Messianic Religions : Those religions in which the religious leader gets a dream or vision where God asks him to help the people of his/her community to uplift themselves or to lead them to a better life.

Social Facts : E. Durkheim's (1895) used this term to describe social phenomena that were external to the individual yet constrained his/her actions. Social facts were (1) external to individuals (2) Coercive (3) Objective, that is not merely a product of subjective definitions. For eg. Law or Coinage of a country.

Exteriority : That which is outside the individuals in a society and puts constraint on his/her behaviour.

Collective Representation : Larger representation of people across caste, class and ethnic group.

Rationalist : A person who has the conviction that rationality, or reason, is the distinctive characteristic of human beings.

Cohesive : That which leads to social integration.

MAADHYAM IAS

Pantheistic Religions : Religions in which there is recognition of validity of different approaches to religious truth, such as, Hinduism.

Monotheistic Religion : Religions where there is one God and where there is no room for alternative set of Gods or sacred beliefs.

Totemism : It refers to the occurrence of and social usage of a mode of representing social classification based on a totem. Totem is a species of animal plant; or part of an animal or plant or phenomenon or symbol of any of these which signifies distinguishing features of a human group vis-a-vis other groups, similarly represented in the same society (Mitchal G. Dumcan : 1979).

Charismatic : A person who has an extraordinary influence about him or her, such as, a religions or political leader.

Post Modern Society : It is a society dominated by the technocrats which is a stage of development which comes after the stage of modern industrial society.

Material Culture	:	Culture, as a complex whole which includes both material as well as non-material elements. Material elements includes objects, like art, paintings, dress, statues as part of the culture.
Non-material Culture	:	This includes such elements of culture like values, beliefs, knowledge, etc.
Theological	:	Anything related with theology which is the study of the relations of the divine (or ideal, or eternally unchangeing) world to the physical world.
Comparative Religions	:	Study of the Commonalties or patterns in different religions.
Salvation	:	A Christian concept which denotes human actions which lead to avoidance of sin.
Parochialisation	:	It is a process of appropriating local culture.
Sanskritisation	:	Sanskritisation is the "process by which a low Hindu caste or tribal or other group, changes its customs, rituals, ideology and way of life in the deriction of a high and generally, "twice-born" caste. Generally such changes are followed by a claim to a higher position in the caste hierarchy than that traditionally accorded or conceded to them by the local community." (Srinivas, M.N. 1966)
Little Tradition	:	Tradition or culture of the local region, such as, the form of 'Ramlila' play held in local villages, etc.
Great Tradition	:	The tradition of the literary people or elite's. Texts of religious and cultural nature which are accepted all India.
Deterritorialisation	:	Withering away of boundaries or beyond the boundary of nations.
Liberalisation	:	A process of softening rules and regulations of the political regime.
Conceptualisation	:	Conceiving of certain ideas, views and opinions.

MADHYAM IAS

References

A.B. Shiromany (ed). 1975. The Spirit of Tibet: Universal Heritage,

Alavi, H. 1973. 'Rural Bases of Political Power in South Asia'. Journal of Contemporary Asia, vol. VI, no. 4.

Alavi, H., 1975. 'India and Colonial Mode of Production'. Economic and Political Weekly, vol. .X, no. 33–35: pp. 1235–261.

Albrow, Martin (1996) The Global Age. Cambridge, U.K.: Polity Press.

Alverz, S., Dagnino, E. and Escobar, A. (eds.). 1998. Culture of Politics/Politics of Culture: Re-visioning Later American Social Movements. Westview Press: Boulder, Colorado.

Amin, Samir (2003). Obsolescent Capitalism: Contemporary Politics and Global Disorder, London and New York, Zed Books.

Anandhi. S. 1995. Collective Identity and Secularism. P 179 in Secularism and Liberation (ed) Rudolf C.Heredia, Edward Mathias

Antaki, C., 1988. Analysing Everyday Experience, Sage: London.

Appadurai, Arjun (1997). Modernity At Large: Cultural Dimensions of Globalisation, Minneapolis, University of Minnesota Press, (1996).

Arato and Jean Cohen. 1984. 'Social Movements, Civil Society and The Problem of Sovereignty. 'Praxis International. Vol. iv. Pp.266-88.

Arendt, Hanna. 1951. The Origin of Totalitarianism. Chicago University Press. Chicago.

Arnold Toynbee and Daisaku Ikeda. 1976. Choose Life, Oxford University Press.

Arnold, D. 1984. 'Gramsci and Peasant Subalternity in India'. The Journal of Peasant Studies, vol. II. no. 4: pp. 155–77.

Arya, Shachi. 1998. Tribal Activism-Voices of Protest. Rawat Publications: Jaipur and New Delhi.

Baden John A and Douglass S Nooman. 1998. Managing the Commons. Indiana University Press. Bloomington and Indianaoplis.

Bailey, F.G. 1961, Tribe and Caste in India, Contributions to Indian Sociology (5).

Bainbridge, 1985. The Future of Religion, Berkeley, University of California Press, California.

Banaji, J. 1972. 'For the Theory of the Colonial Mode of Production'. Economic and Political Weekly, vol. VII, no. 52: pp. 2498–502.

Banerjee, A., Bardhan, P. et al. 2002. 'Strategy for Economic Reform in West Bengal'. Economic and Political Weekly, vol. XXXVII, no. 41: pp. 4203–218.

Banerjee, S. 1980. In the Wake of Naxalbari: A History of the Naxalite Movement in India. Subarnarekha: Kolkata.

Barnes, B., 1988. the nature of Power, Polity Press, Cambridge.

Bellah, R. N. (Ed), 1965. Religion and Progress in Modern Asia, Free Press, New York.

Berger Peter. 1969. The Sacred Canopy: Elements of a Sociological Theory of Religion. Anchor Books, New York.

Berghe, Piere I, Vanden. 1969. "Dialectics and Functionalism : Towards a Theoretical Synthesis " in Walter L Wallace (edit). Sociological Theory . Hienmann. London.

Bertaux, D. 1990. 'Oral History Approaches to an International Social Movement', in Oyen, E. (ed.), Comparative Methodology: Theory and Practice in International Social Research. Sage: London.

Beteille, A 1974, Six Essays in Comparative Sociology, Oxford University Press, Delhi.

Beteille, A 1986, 'The Concept of Tribe with Special Reference to India', Journal of European Sociology, (27).

Beteille, A 1995, 'Construction of Tribe', The Times of India, 19 June.

Beteille, A. 1960, ' The Definition of Tribe', Seminar (14).

Beteille, A. 1974. Studies in Agrarian Social Structure. Oxford University Press: New Delhi.

Beteille, Andre, (2000). Chronicles of Our Time. Penguin Books, India.

Beteille, Andre. 1996, Caste, Class and Power: Changing Patterns of Stratification in a Tanjore Village. Oxford University Press: Delhi

Beteille, Andre. Secularisn and intellectuals. Economic and political weekly.(March 5. 1994)

Bhaduri, A. 1973. 'A Study of Agricultual Backwardess Under Conditions of Semi-feudalism'. Economic Journal, 83 (329): pp. 12–37.

MRUNAL.ORG IAS

Bhargava, R. (ed). 1998. Secularisim and its Critics, Oxford University Press: Delhi
Bharucha, Rustom. 1994."In the name of secular cultural interactions and intervention". in Economic and Political Weekly.Vol.29. Nov.
Bhattacharya, Sanghita (2003): 'The Economic Migration of Females in India: A Regional Analysis', in Geographical Review of India, Vol. 65, No. 1, pp. 85-92.
Bhattarcharyya, D. 1999. 'Politics of Middleness: The Changing Character of the Communist Party of India (Marxist) in Rural West Bengal (1977–90)', in Rogaly, B., Harris-White, B. and S. Bose (eds.), Sonar Bangla? Agricultural Growth and Agrarian Change in West Bengal and Bangladesh. Sage: New Delhi.
Blumer, H. 1951. 'Social Movements', in Lee, A.N. (ed.), New Outline of Principles of Society. Baines D. Noldi: New York.
Bose, Ashish, 1978, India's Urbanization 1901-2001, Tata McGraw-Hill: New Delhi.
Bose, N.K. (1941), 'The Hindu Method of Tribal Absorption', Science and Culture (7).
Bose, N.K. (1971), Tribal Life in India, Govt. Publications, Delhi.
Braley, A. 1991. Politics and Religion in Easter Europe, Polity Press, Cambridge.
Brass, Paul R. (2003). The Production of Hindu-Muslim Violence in Contemporary India, Oxford University Press, New Delhi.
Brass, Paul. 1980. 'The Ploiticisation of the Peasantry in North Indian State'. Parts I, and Parts II. Journal of Peasant Studies, 7(4) and 8(1), july and October.
Brass, T. 1994. 'Introduction: New Farmer's Movements in India'. Journal of Peasant Studies, vol. 21, no. 3–4: pp. 3–26.
Breese, G., 1969, Urbanization in Nearby Developing Countries, Prentice-Hall of India, New Delhi.
Bryceson, D. 2000. 'Peasant Theories and Small-holder Policies: Past and Present', in Bryceson, D., Kay, C. and Mooij, J. (eds.), Disappearing Peasantries? IT Publications: London.
Burke, E. (ed.) 1988. Global Crisis and Social Movements: Artisans, Peasants, Populists and World Economy. Westview Press: London.
Byres, T.J. 1981. 'New Technology, Class Formation and Class Action in the Indian Countryside'. The Journal of Peasant Studies, vol. 8, no. 4: pp. 405–54.
Callinicos, A. et al (1994): Marxism and the New Imperialism. London, Bookmarks.
Campbell, J. 1991, Oriental Mythology: the Masks of Gods, Vikas Publishing House, New Delhi.
Cannon, Walter B. 1932. The Wisdom of the Body. Norton. New York.
Castells, Manuel (1996) The Rise of the Network Society. Oxford: Blackwell.
Castells,Manuel. 1989 The Informational city: Information Technology, Economic restructuring and the urban regional process.Oxford: Blackwell.
Cerutti, F. and R. Ragionieri (eds.). 2001. Identities and Conflicts: The Mediterranean: New York.
Chakrabarty, D. 1989. Rethinking Working Class History: Bengal 1890–1940. Oxford University Press: New Delhi.
Chakraborty, Bidyut (1990), Secularism and Indian Policy. Segment Books: New Delhi
Chandoke Neera 2004. Representing the Secular Agenda for India in Mushirul Hasan (ed.) Will Secular India Survive? 2004. Dhaka. University Press Limited.
Chandra B. etal. 1989. Indias Struggle for Independence. Pengrin Books: New Delhi
Chandra, B. 1996. Indian National Movement: The Long-term Dynamics. Vikas Publishing House: New Delhi.
Chandra, N. 1974. 'Farm Efficiency Under Semi-Feudalism: A Critique of Marginalist Theories and Some Marxist Formulation'. Economic and Political Weekly, vol. IX, no. 32–35: pp. 1309–333.
Chatterjee, P. 1998. The Present History of West Bengal: Essays in Political Criticism. Oxford University Press: New Delhi.
Chattopadhyay, P. 1972. 'On the Question of Mode of Production in Indian Agriculture:
Chaudhary, S.B. 1959. Civil Rebellions in the Indian Mutinies. World Press. Calcutta.
Chayanov, A.V. 1966. The Theory of Peasant Economy (translated by Thorner, D., Smith, R.E.F. and B. Kerblay). Irin: Glencoe, Illinois.
Clark, Grayson and Grayson. 1975. Prophecy and Protest: Social Movement in 20th Century Canada. GEPL: Toronto.
Cluster, P. 1986.'Women's Role in Tebhaga Movement' Economic and Political Weekly, vol. XXI, no. 43: WS 97–104.

Cohen, Jean I. 1985. 'Strategy of Identity : New Theoretical Paradigms and Contemporary Movements'. Social Research. Vol. 52. no.4 . pp. 663-71.
Cohen, Jean. L. 1982. Class and Civil Society:Limits of Marxian Critical Theory. Massachusetts Press. Amherest.
Cooley, C.H. 1902. Human Nature and Social Order. Scribner: New York. (Op. cit. Stryker 1990):
Coomaraswamy: Ananda Transformation of Nature in Indian Art, Munshiram Manoharlal, New Delhi. P:36.
Coser, Lewis . The Functions of Social Conflicts. Routledge and Kegan Paul. London.
Crowe Beryal 1969. The tragedy of the common revisited reprinted in Ganett Hardin and John Baden Managing the Commons W.H. Freeman. 1977.
Custers, Peter. 1987. Women in the Tebhaga Uprising. Calcutta: Naya Prokash.
D.E.Smith. 1963. India as a Secular State. Princeton University Press. Princeton.
Das, Arvind N. 1975. Bihar: Struggle of Workers and Tribal Peasants in Chhotanagpur in Economic and Political Weekly, 10(9), March 1.
Das, T.C. 1953, 'Social Organisation of Tribal People,' The Indian Journal of Social Work, vol.14, No.3.
Dasgupta, B.1974. The Naxalite Movement. Allied Publishers: New Delhi.
David Gordon, 1988 "The Global Economy: New Edifice or crumbling Foundations?" New Left Review 168,pp. 24-65.
David L. Sills (ed.) 1972 (1968), "Social Differentiation," International Encyclopedia of the Social Science, New York: The Macmillan Company & The Free Press; London: Collier-Macmillan Publishers.
Desai, A.R. (ed.) 1979. Peasant Struggles in India. Oxford University Press: Bombay.
Desai, A.R. (edit). Agrarian Struggle in India after Independence. Oxford University Press. New Delhi.
Desai, A.R. 1948. Social background of Indian Nationalisim Popular Prakashan: Bombay
Desai, I. P.: Some aspects of family in Mahuva (Bombay, Asia Publishing House, 1964
Dhanagare, D.N. 1974.'Social Origins of the Peasant Insurrection in Telangana, 1946-51,Contributions to Indian Sociology (New Delhi), 8.
Dhanagare, D.N. 1983. Peasant Movements in India 1920-1950. Oxford University Press: New Delhi.
Dube, S.C. 1971, Manav aur Sanskriti, Delhi: Rajkamal.
Dumont, Louis, (1967) Homo Hierarchicus: The Caste System and its Implications, University of Chicago Press, Chicago.
Durkheim, Emile, 1960 (1893), The Division of Labour in Society, Glencoe, Ill.: Free Press.
Durkheim, Emile, 1965 (1915). Elementary Forms of Religious life. Translated by J. W. Swain. Free Press: New York
Eder, Klaus. 1985. The "New Social Movements": Moral Crusade, Political Pressure Groups or Social Movements. Social Research. Vol. 52 no. pp. 869-80.
Elwin, Verrier (1944), The Aboriginals, Oxford University Press, Bombay.
Embree, Ainslie, 1989, Imagining India: Essays on Indian History (ed. Mark Jurgensmeyer), Delhi: Oxford University Press.
Engineer, Asghar Ali, IQbal Narain. 1995. Practice of secularism in India in Secularism in India. Classic Publishing House. Jaipur.
Evans. Pritchard, E.E. (1956). Nuer Religion, Charendon Press, Oxford.
Evans-Pritchard, E.E, (1937). Witchcraft, Oracles and Magic among the Azande, Clarendon Press, Oxford
Eyerman and A. Jamison. 1991. Social Movements : A Cognitive Approach. Cambridge. Polity Press. U. K.
Eyerman, R. 1984. 'Social movements and Social' and Theory. vol. Sociology. Vol.18 no. 1.
Eyerman, R. and Jamison. 1991. Social Movements: A Cognitive Approach. Polity Press: Cambridge.
Famine Commission 1945. Report of the Famine Inquiry Commission. Government of Bengal: Calcutta.
Fanon, F. 1971. The Wretched of the Earth. Penguin Books: Middlesex.
Fawcett, J., S. Khoo, and P. Smith (1984): 'Urbanisation, Migration and the Status of Women', in Women in the Cities of Asia: Migration and Urban Adaptation, J. Fawcett and P. Smith (eds.), Westview Press, Boulder, Colorado.

MADHIYAM IAS
'way to achieve your dream'

Ferraro, Gary 1992, Cultural Anthropology: An Applied Perspective, New York et al: West Publishing Company.
Firth, R. 1946. Malaya Fishermen: Their Peasant Economy. Kegan Paul, Trench, Trubuer & Co.: London.
Forde, Daryll 1967 (1950), 'Double Descent among the Yako,' In African Systems of Kinship and Marriage, A.R.Radcliffe-Brown and Daryll Forde, eds. London: Oxford University Press.
Foster, G.M. 1953, 'What is Folk Culture'? American Anthropologist (55:2).
Friedrich Engels, 1982, The Condition of the Working-Class in England in 1844, Swan Sonnenschein & Co: London
Fukuyama, Francis (1992). The End of History and the Last Man, London, Penguin Books.
Furer-Haimendorf, Christoph. 1992. Tribes of India-The Struggle for Survival. Delhi: Oxford University Press,1992.
Gamson, W. 1975. The Strategy of Social Protest. Dorsey: Homewood.
Gandhi, M.K. 1990. Hindu Swaraj or Indian Home Rule. Navjivan Publishers. Ahmedabad.
Geering, Lloyd. 1980. Faiths New Age, William Collins, Great Britain.
Geertz, Clifford, (1975). Interpretation of cultures, Basic Books, New York.
Ghurye, G S. 1963. The Scheduled Tribes, 3rd edition (First Published as 'The Aborigines So-called and Their Future' 1943). Bombay: Popular Press.
Giddens, A. 2001, Sociology (fourth edition), Polity Press, London
Gill, Sucha Singh. 1980 'Land Reforms and Peasant Movement in Punjab'. Mainstream,18(42) June 14.
Gilpin, R. (2000): The Challenge of Global Capitalisation - The World Economy in the Twenty-First Century. Princeton, Princeton University Press.
Giri, V. V.1958. Labour Problems in Indian Industries. Asia Publishing House. Bombay.
Gist, N. P. and Halbert, 1956, Urban Society, T. Y.Crowell Company: New York.
Glenn M. Vernon. 1962. Sociology of Religion. McGraw Hill. London.
Godelier, M. 1977, Perspectives in Marxist Anthropology, Cambridge University Press, Cambridge.
Gopalan, Nagar C.1921. The Moplah Rebellion. Calcutta: The Auther
Gorgi, Liana. 1992. Religious investment in a secularized society, British Journal of Sociology 43(4). Dec.
Goss. 1908. A Descriptive Bibliography of the writings of George Jacob Holyoake with a brief sketch of his life, London. As reproduced from Achin Vanaik's Contesting Communalism.1997. Sage Publications, New Delhi.
Gough. Kathleen 1974. 'Indian Peasant Uprising . Economic and Political Weekly. Vol. ix: 33-34 9 ; special number (august).
Government of India. 2001. Census of India. Ministry of Information and Broadcasting: New Delhi.
Government of West Bengal. 1985. Report on Land Reform. Government of West Bengal: Calcutta.
Gramsci, A. 1998. Selections from the Prison Notebooks (reprint). Orient Longman: Chennai.
Griffin, Keith (2004). "Globalisation and Culture," in S. Cullenberg and P.K. Pattanaik (eds), Globalisation, Culture, And the Limits of the Market: Essays in Economics and Philosophy, New Delhi, Oxford University Press.
Guesfield, J.R. (ed.). 1971. Protest, Reform and Revolt: A Reader in Social Movements. John Wiley & Sons: New York.
Guha, R. 1982. 'On Some Aspects of Historiography of Colonial India', in R. Guha (ed.), Subaltern Studies I. Oxford University Press: New Delhi.
Guha, R. 1998. Dominance Without Hegemony: History and Power in Colonial India. Oxford University Press: New Delhi.
Guha, Ramachandra. 1989. The unquiet Wood : Ecological Change and Peasant Resistance in the Himalaya. Oxford University Press. Delhi.
Gupta, A. 2001. 'Left Front Rule in West Bengal: Domination without Hegemony'. Economic and Political Weekly, no. 10: 4319–320. (please provide vol. no.)
Gupta, Dipankar (2000). Mistaken Modernity: India Between Worlds, New Delhi, HarperCollins Publishers India.
Gupta, Dipanker, (1996). The Context of Ethnicity: Sikh Identity in a Comparative Perspective, Oxford University Press, Delhi.

Haberle, R. 1951. Social Movements. Appleton Century–Crofts: New York.
Haberle, R. 1972. 'Types and Functions of Social Movement', in International Encyclopedia of Social Sciences. Macmillan Company Free Press: New York.
Habermas, Jurgen 1981. 'Social Movements' .Telos. no. 19.
Habib , Irfan. 1963. The Agrarian System of Moghul India. Asia Publishing House. Bombay.
Hall, S. 1990. 'Cultural Identity and Diaspora', in J. Rutherfold (ed.) Identity: Community, Culture, Difference. Lawerence & Wishart: London.
Hamilton, Malcom B 1995. The Sociology of Religion. Theoritical and Comparative perspectives. Routledge and Kegan Paul: London
Hardiman, D. 1987, The Coming of the Devi, Adivasi Assertion in Western India, Oxford University Press, Delhi.
Hardin, Garrett. 1968. The Gragedy of the Commons, in Science. 162.
Harris, J. 1982. 'Capitalism and Peasant Farming', (op. cit. Thorner, A.). Economic and Political Weekly, vol. XVIII, no. 49: pp. 1961–968.
Hasan, Mushirul (ed) 2004. Will Secular India Survive? University Press Limited: Dhaka
Hatt, P.K. and Reiss JR., A.J., (ed.), 1957, Cities and Society, Free Press: Illinois.
Hawley, A. H., 1971, Urban Society: An Ecological Approach, The Ronald Press: New York.
Hayami, H. 1981. 'Agrarian Problems in India: An East and South-East Asian Perspective'. Economic and Political Weekly, vol. XVI, no. 16: pp. 707–12.
Hegedus, Z. 1990. 'Social Movements and Social Change in Self-Creative Society: New Initiatives in the International Arena', in Albrow, M. and E. King (eds.), Globalisation, Knowledge and Society. Sage: London.
Hill Christopher.1969. Reformation to Industrial Revolution, Vol.II pp.26-43, Chap.1, National Unification, Penguin Books.
Hirst, P & G. Thompson 1996a " Globalisation : Ten frequently asked questions and some surprising answers" , Soundings, Vol.4, Autumn, pp. 47-66.
Hirst, Paul and Grahame Thompson (1996) Globalization in Question. Cambridge, UK: Polity Press.
Hirst,Paul and Grahame Thompson,1992 " The problem of Globalisation: International Economic Relations,National Economic Management and the formation of Trading Blocks"," Economy and Society, 21,pp.357-96.
Hirst,Paul and Grahame Thompson,1992 " The problem of Globalisation: International Economic Relations,National Economic Management and the formation of Trading Blocks"," Economy and Society, 21,pp.357-96.
Hobsbawn. E.J. 1992. The French Revolution. Pp.73-74 in The Age of Revolution: 1784-1848. Rupa and co. Culcatta.
Hudson, Wayne (2002): "What Is Globalisation?," in Donald Lamberton ed. 2002
Imchen, Panger, 1993, Ancient Ao Naga Religion and Culture, New Delhi: Har-Anand Publications.
J. Taylor. 1968. The Christian understanding of the World in The Sacred and the Secular, (ed.) Michael, Quoated in Saral Jhingran. Op.cit.p.45.
James Hastings (ed.) 1954. Encyclopedia of Religion and Ethics, Charles Scriber's Sons, New York.
Jhingran, Saral. 1995. Secularism in India. P. 256.
Jodha, N.S. Common Property resources and dynamics of rural poverty in India's dry regions, in Unasylva- No. 180 - Vol. 46-1995/1
Johnston, R.J. et al. ed. (1983): The Dictionary of Human Geography, Basil Blackwell Publishers, Oxford, England.
Jones, S. 1996. In the Blood: God, Genes and Destiny, Harper & Co., London.
Kannabiran, V., Lalitha, K. et al. 1989. We Were Making History. Kali For Women: New Delhi.
Kannan, K. P. 1988. Of Rural Proletariaun Struggles: Mobilisation and Organisation of Rural Workers in South-West India. Delhi: Oxford University Press.
Kapadia, K.M., 1959, Marriage and Family in India, Julian Press, New York
Karnik, V. B. 1978. Indian Trade Unions. Popular Prakashan. Bombay.
Kautsky, K. 1899 (reprinted 1988). The Agrarian Question. Zwan Publications: London.
Kaviraj, Sudipta. 1973. "For a Secular Society", Secular Democracy no. 2 Vol.4.
Kayastha, S.L. and R.P. Yadav (1999): 'Flood Induced Population Migration in India – A Case Study of Ghaghara Zone', in Population Redistribution and Development in

MADHYAM IAS

South Asia, (eds.) Leszek, A. Kosinki and K. Maudood Ilahi, Rawat Publications, New Delhi.
Kellner, Douglas (2002): "Theorizing Globalisation," in Sociological Theory, 20(3), November.
Khor, Martin (2001): Rethinking Globalisation - Critical Issues and Policy Choices:. London & New York, Zed Books and other publishers.
Kohli, A. 1987. The State and Poverty in India: The Politics of Reform. Cambridge University Press: Cambridge.
Kolenda, P. 1984),'Women as Tribute, Women as Flower: Images of Women in Weddings in North and South India' , American Ethnologist 11: 98-117
Kopf, David. 1969, British Orientalism and the Bengal Rennaissance-The Dynamics of Indian Modernisation 1773-1835. Berkeley: University Press: Berkeley
Kornhauser, William. 1960. The Politics of Mass Society. Routledge and Kegan Paul. London.
Kosambi, D.D. 1975, The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Outline, Vikas Publishing House, Delhi.
Kothari, Rajni. 1994. "Rise of dalits and the reduned debates on castes". Economic and political weekly. (June). pp 1589-94.
Kotovsky, G. 1964. Agrarian Reforms in India. People's Publishing House: New Delhi.
Kroeber, A.L. 1948. Anthropology. Harcourt, Brace & World Inc.: New York.
Kronenburg, J. 1986. Empowerment of the Poor: A Comparative Analysis of Two Development Endeavours in Kenya. Kninlijk Institute Voor de Tropan: Amsterdam.
Kumar, Kapil. 1984. Peasants in Revolt: Tenants, Landless, Congress and the Raj inOudh .Delhi: Manohar.
Kurien, C.T. (1995): Global Capitalism and the Indian Economy. New Delhi, Orient Longman Ltd.
Lafcadio Hearn. 1997. Japan, Charles Tuttle and Company, Tokyo. (Reprint), p:31.
Lahiri, A. 2001. Post-War Revolt of Rural Poor in Bengal: Memoirs of a Communist Activist. Seagull: Calcutta.
Lamberton, Donald (ed) (2002): "Managing The Global- Globalisation, Employment and Quality of Life. London & New York, I.B. Tauris Publishers (in association with The Toda Institute for Global Peace and Policy Research).
Land Revenue Commission (LRC). 1940. Report of the Land Revenue Commission 1940. Government of Bengal, Bengal Government Press: Calcutta.
Larana, E., Johnston, H. and R. Guesfield. 1984. 'Identities, Grievances and New Social Movements', in Larana, E., Johnston, H. and R. Guesfield (eds.), New Social Movements: From Ideology to Identity. Temple University Press: Philadelphia.
Le Bon . G. 191909. The Crowd : The Study of Popular Mind. Ernest Benn. London. (English Translation, 46th impression)
Lechner, Frank J. and John Boli eds. (2004). The Globalisation Reader, Malden, USA and Oxford, UK, Blackwell Publishing Ltd, second edn, (first pubn2000).
Lederer , Emil. 1940. The State of the Masses. New York.
Lenin, V.L. 1972. Selected Works. Progress Publishers: Moscow.
Lerner, M. J., 1980. The Belief in a Just World, The Plenum Press, New York.
Levi-Strauss, Claude (1966). The Savage Mind, Weidenfeld and Nicolson, London.
Levi-Strauss, Claude, (1963). Totemism, Beacon Press, Boston.
Levi-Strauss, Claude. 1977, Structural Anthropology, Vol II, Translated from French by Monique Layton, Great Britain: Allen Lane.
Levy, Marion J. Jr. 1970 (1966), Modernisation and the Structure of Societies: A Setting for International Affairs, Princeton, Princeton University Press: New Jersey
Lindberg, S. 1994. 'New Farmers Movement in India as a Structural Response and Collective Identity Formation: The Cases of the Shetkari Sangathana and the BKU'. Journal of Peasant Studies, vol. 211, nos. 3–4: pp. 95–125.
Lok Sabha Secretariat. 1985, Constitutional Assembly Debates. Delhi:Saraswat Offset Printers.
Louis Renou. 1961. Hinduism: an Anthology, Prentice Hall International, New York. pp: 45-46
Macdougall, William. 1920. The Crowd Mind. G. P. Putnam. New York.
Madan, T.N. (1987) 'Secularism in its Place', Journal of Asian Studies, Vol .46, No.4.
Madan, T.N.(1998). Modern Myths, Locked Minds: Secularism and Fundamentalism in India, Oxford University Press, Delhi.

Mair, Lucy, 1984 (1965), An Introduction to Social Anthropology, London et al: Oxford University Press.
Malaviya, Harsh Deo. 1956. Village Panchayat In India. All India Congress Committee. New Delhi.
Mandelbaum, D. (1970), Society in India: Change and Continuity, University of California Press, Berkeley.
Mann, H. 1986. The Sources of Social Power, vol. 1. Cambridge University Press: Cambridge.
March.
Marriott, M. 1955. 'Little Communities in an Indigenous Civilisation', in Marriott, M. (ed.), Village India. Chicago University Press: Chicago.
Martin, David. 1969. The Religion and the secular, Routledge and Kegan Paul, London.
Martinelli, Alberto (2003): "Global Order or Divided World", in Current SociologYJ
Marx, K. (reprinted 1974). The Poverty of Philosophy. Progress Publications: Moscow.
Marx, K. 1852 (reprinted 1974). Excerpts from 'The Class Struggle in France 1848–1850', and 'The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte', in Marx, K. and F. Engels Selected Works, vol. 1. Lawrence & Wishart: London.
Mathur J. S. 1964.Indian Working Class Move ment . Author. Allahabad .
Max Weber. 1948. "Science as a vocation"in Gerth and Mills(eds.) from Max Weber Essays in Sociology. London: Rouledge and Kegan Paul.
Mayer, Kurt B. & Buckley, Walter, 1970, Class and Society, 3rd ed., New York: Random House.
McAdam, D. 1982. Political Process and the Development of Black Insurgency 1930–1970. University of Chicago Press: Chicago.
McCracken, G. 1988. Culture and Consumption, Indiana University Press, Bloomington.
Meadows, P. and Mizruchi, E.H. (ed.), 1969, Urbanism, Urbanization, and Change: Comparative Perspectives, Addison-Wesley: Reading.
Mehta, Piarey Lal. 1991, Constitutional Protection to Scheduled Tribes in India-in Prospect and Retrospect, Delhi: H.K. Publishers & Distributors.
Mehta, Uday. 1998. Secularism Secularisation and Modernity : A Sociological Perspective of Western Model in State Secularism and Religion. P.27 (eds.) Asghar Ali Engineer and Uday Mehta, Ajanta Publications, New Delhi.
Melucci ,Alberto. 1985. The Symbolic Challenge of Contemporary movements. Social Research. Vol. 52. no. 4. 769-816.
Melucci, A. 1992. 'Frontier Land: Collective Actions between Actors and Systems', in Maria, D. and R. Eyerman (eds.), Studying Collective Action. Sage: London.
Melucci, Alberto, 1980. The New Social Movements : A Theoretical Approach, Social Science Information. Vol. 19.
Melucci, Alberto. 1981. "Ten Hypothesis for the Analysis of New Social Movements" in D. Pinto (edit). Contemporary Italyan Sociology. Cambrisdge university Press. Cambridge.
Mencher, I.P. 1974. 'Problems of Analyzing Rural Class Structure'. Economic and Political Weekly, vol. IX no. 35: pp. 1495–503.
Merton, R.K. (1968) Social Theory and Social Structure, Amerind Publishing Co. Ltd., New Delhi.
Mifflen, F.J. and Mifflen, S.C. 1982, The Sociology of Education, Calgary, Alta: Detselig Enterprises.
Mills, J.P. 1926, The Ao Nagas, London: Macmillan.
Mills, J.P. 1937, The Rengma Nagas, London: Macmillan.
Ministry of Rural Development. Committee of Members of the Parliament and Experts Constituted to make recommendations on Law Concerning Extension of Provisions of the Constitution (Seventy-Third Amendment) Act, 1992 to Scheduled Areas (Bhuria Committee Report). New Delhi: Government of India.
Mishra, Girish. 1968. 'Socio-Economic Background of Gandhi's Champaran Movement'. The Indian Economic and Social History Review, 5(3),September.
Mishra, R. P., 1998, Urbanization in India: Challenges and Opportunities, Regency Publications: New Delhi.
Mitchell, Basil. 1980. Morality Religious and Secular. Clarendon Press, Oxford.
Mitter, Swasti. 1977. Peasant Movement in West Bengal : Their Impact on Agrarian Class Relations since 1967. Cambridge University of Cambridge Deparment of Land Economy. Cambridge. (occasional paper no. 8).

MUKHERJEE MAMTA IAS

Moore, B. 1966. Social Origins of Dictatorship and Demography: Lords and Peasants in the Making of the Modern World. Penguin Books: Middlesex.
Moosvi, Shireen, 2000, The India Economic Experience 1600-1900: A Quantative Study, In K N Pannikar, Terence J Byres and Utsa Patnaik (eds.), Making of History Essays Presented to Irfan Habib. Delhi: Tulika.
Morgan, L.H. 1871, Systems of Consanguity and Affinity of Human Family, Washington, D.C.: Smithsonian Institute.
Mukherjee, M. 2004. Peasant in India's Non-violent Revolution. Sage: New Delhi
Mukherjee, Mridula. 1979. Peasant Movement in Patiala State, 1967-68. Studies in History, 1(2), July-December
Mukherjee, P.N. 1978. 'Naxalbari Movement and Peasant Revolt in North Bengal', in M.S.A. Rao (ed.), Social Movements in India. Manohar: New Delhi.
Mukherjee, R.K. 1957. Dynamics of a Rural Society. Academic Verlag: Berlin.
Mukherji, Partha Nath. 1980. 'Disciplined Eclecticism'. Seminar. No. 254. pp.36-43.
Mukhopadhyay, S. 2001. 'Uttarbangar Kanapuri (Kamtapur? please check spelling)(Yes, Kamtapur) Andolan' (Bengali). Samaj Samiksha, vol. 11, no. 182: pp. 69–79.
N.K. Bose. 1975. The Structure of Indian Society, Orient Longmaus Ltd, New Delhi.
Nandy Ashis. 1992. The Politics of Secularism and the recovery of Religious Tolerance. Article, published in Mirrors of Violence edited by Veena Das OUP.
Nangia, S. and P. Nangia (1990): 'Work Pattern of Female Migrants in Metropolitan Cities of India', Demography India, Vol. 19.
Narain Iqbal 1995. Secularism in India. Classical Publishing House. Delhi. Engineer, & Mehta, Uday(eds.) 1998.op.cit.
National Commission on Rural Labour. 1990. Report of the National Commission on Rural Labour. Government of India: New Delhi.
Nehru, J. 2002 (1946) The Discovery of India, pp.386 ff., 392.
O'Dea Thomas. 1966. The Sociology of Religion. Prentice Hall Englewood Cliffs. New Jersey.
Oberschall, A. 1978. 'Decline of the 1960's Social Movements', in Kriesberg, L. (ed.), Research in Social Movements, Conflicts and Change, vol. 1. Jai Press Inc.: Greenwich.
Offe, Claus. 1985. "New Social Movements : Challenging the Boundaries of Institutional Politics" Social Research nol. 52. no. 4. pp.817-68.
Ohmae, Kenichi (1995): The End of the Nation State, London, HarperCollins.
Ohmae, Kenichi (2002). The Borderless World: Power and Strategy in the Global Marketplace, London, Profile Books Ltd (Mckinsey & Co., 1990).
Omvedt, Gail . 1982. 'An Introductory Essay' in Gail Omvedt (edit) Land,Caste and Power in Indian State. Authors Guild Publications. Delhi.
Oommen , T. K. 1985. Social Movements. In ICSSR. Survey of Research in Sociology and Social Anthropology-1969-1979. ICSSR. New Delhi.
Oommen, 1985. From Mobilisation to Institutionalisation: The Dynamics of American Movement in 20th Century Kerala. Bombay: Popular Prakashan.
Oommen, T.K. (1995), Alien Concepts and South Asian Reality, Sage Publications, Delhi.
Oommen, T.K. 1984. Social Transformation in Rural India: Mobilisation and State Intervention. Vikas Publishing House: New Delhi.
Oommen, T.K. 1990. Protest and Change : Studies in Social Movements. Sage Publications. New Delhi.
Oommen, TK. 1972. Charishma, Stability and Change. Thomson Press. New Delhi.
Oonk, Gisbert, 2004, Industrialisation in India, 1850-1947: Three Variations in the Emergence of Indigenous Industrialists, http://hdl.handle.net/1765/1820
Pandey, Gyanendra (2001). Remembering Partition, Cambridge University Press, U.K..
Panel on Land Reform Committee. 1956. Report of the Committee of the Panel on Land Reforms. Government on India: New Delhi.
Panikkar, K.N. (1997) Communical Threat Secular Challenge. Earthworm Books: Madras
Parsons, Talcott (1975). Essays in Sociological theory Light and Life, Publishers, New Delhi.
Pathak Avijit. 1998. Indian Modernity. Gyan Publications. New Delhi. p.103.

Pathak, Pushpa (1995): 'Trends, patterns and Implications of Rural-urban Migration in India, Nepal, and Thailand', Economic and Social Commission for Asia and the Pacific, Asian Population Studies, Series No. 138, United Nations, pp. 1-64.
Pathy, Jaganath 1992, The Idea of Tribe and the Indian Scene, In Buddhadeb Chaudhuri, Tribal Transformation in India,vol iii, Inter-India Publications, Delhi.
Patnaik, Prabhat (1994). "Notes on the Political Economy of Structural Adjustment," Social Scientist, 22 (9-12), Sept-Dec.
Patnaik, U., 1971. "Capitalist Development in Agriculture", E.P.W., Vol. VII No. (39) pp. 123-130.
Patnaik, U., 1972. "On Mode of Production in Indian Agriculture: A Reply" E.P.W., VII, (40), pp. 145-151.
Paul.Kurtz. A Secular Humanist Declaration, Indian Secularist Society Pamphlet, p.12.
Porter, J. 1979, The Measure of Canadian Society, Toronto: Gage.
Prabhu.Pradip Nature, Culture and Diversity: The Indigenous Ways of Life in Smitu Kothari, Imtiaz Ahmad and Helmut Reifeld, 2003. ed The Value of Nature-Ecological Politics in India. New Delhi, Rainbow Publishers.
Pradhan, T., 2002. "Kantapuri Andolan Kon Pahe" (Bengali). Ajkal August 19, 2002.
Prasad, Archna. 2003, Against Ecological Romanticism-Verrier Elwin and the Making of Anti-Modern Tribal Identity, Delhi: Three Essays Collective.
Prasad, P., 1973. "Production Relations: Achilles Heal of Indian Planning", E.P.W. Vol. VIII No.(19) pp. 869-872.
Prasad, P., 1974. "Reactionary Role of Usurers Capital in Rural India". E.P.W., Vol. IX No. (32-33, .34) pp 1305-1308.
Pratt, Vernon.1970. Religion and Secularisation, Macmillan, London.
Premi, M.K. (1980): 'Aspects of Female Migration in India', Economic and Political Weekly, April.
Radcliffe-Brown, A.R. (1952). Structure and Function in Primitive Society, Cohen and West, London.
Radcliffe-Brown, A.R. 1958, Method in Social Anthropology, Chicago: University of Chicago Press.
Radhakamal Mukerjee. 1923 Democracies of the East, P.S. King and Sons, London.
Radhakrishna. 1987. 'Sarvodaya Movement in India.' Encyclopaedia of Social Work in India. Ministry of Social Welfare, Government of India.
Rajendra Singh .1979. Social Movement In India
Ramachandran, R., 1989, Urbanization and Urban Systems In India, OUP: Delhi.
Rao, M .S. A. (ed.), 1974, Urban Sociology in India, Orient Longman: New Delhi.
Rao, M.S.A. 1984. (edit) Social Movements in India. Manohar Publications. New Delhi.
Rao, M.S.A. 1985. Social Movements and Social Transformation: A Study of Two Backward Class Movements in India. Manohar: New Delhi.
Rao, R. and R. Rao. 1998. 'Farmers' Suicides in Telangana: A Socio-Economic Study (unpublished paper). Warangal.
Rasul, M.A. 1974. A History of All India Kisan Sabha. National Book Agency: Calcutta.
Ray, Niharranjan 1972, 'Indroductory Address', in K.S. Singh, Tribal Situation in India, IIAS, Shimla.
Ray, R. 1988. The Naxalites and their Ideology. Oxford University Press: New Delhi.
Raza, Moonis and Aijazuddin Ahmad, 1990, An Atlas of Tribal India, New Delhi: Concept Publishing Company.
Reddy, G.D. 1980. 'Tenancy Reforms in Telangana and Andhra Regions', in B.A.V. Sharma (ed.), Political Economy of India. Light and Life Publications: New Delhi.
Redfield, R. (1956), Peasant Society and Culture: An Anthropological Approach to Civilisation, Chicago University Press, Chicago.
Redfield, R. and M.B. Singer. 1984. 'City and Countryside: The Cultural Interdependence', in T. Shamin (ed.), Peasant and Peasant Societies. Penguin Books: Middlesex, New Delhi.
Reproduced from D.E.Smith's India as a secular state in Rajeev Bhargavas (ed.)
Ritzer, George; Kenneth, C.W.; Yetman, Norman R. 1979, Sociology: Experiencing a Changing Society, Boston, eta l: Allyn and Bacon, Inc.
Rivers, W.H.R. 1914, Kinship and Social Organisation, Constable: London
Robertson, I. 1994. Sociology, (especially Chapters 3 & 16) ,Worth Publishers, Inc., New York.

MUKHERJEE IAS

Ross, Aileen. 1962, The Hindu Family in Its Urban Setting, Toronto: University of Toronto Press.
Roy, C. 1993. Naxalbari is Not Just the Name of the Village! S.C. Majumdar & Co.: Calcutta.
Roy-Burman, B.K. 1972, Tribal Demography: A Preliminary Appraisal, in K.S. Singh (ed.) Tribal Situation in India, IIAS, Shimla.
Roy-Burman, B.K. 1983, 'Transformation of Tribes and Analogous Social Formations', Economic and Political Weekly, 18(27).
Roy-Burman, B.K. 1994, Tribes in Perspectives, Mittal Publications, Delhi.
Rudra, A. 1971. 'Capitalist Development in Agriculture'. Economic and Political Weekly, vol. VI, no. 45: pp. 2251–252.
Rudra, A. 1974. 'Semi-Feudalism, Usury Capital, Etcetera'. Economic and Political Weekly, vol. IX, no. 48: pp. 1996–997.
S. Gopal (ed.) 1980. Jawaharlal Nehru in Jawaharlal Nehru : An Anthology. Oxford University Press. Delhi.
S. Radhakrishnan. 1956. Recovery of Faith. George Allen and Unwin. London.
Saberwal, S. 1986. India: The Roots of Crisis. Oxford University Press: New Delhi.
Samanta, A.K. 1984. Left Extremist Movement in West Bengal: An Experiment in Armed Agrarian Struggle. Firma. KLM Pvt. Ltd.: Calcutta.
Sanyal, K. 1969. Report on Tarai (Terai?) Peasant Movement. Siliguri. (please provide name of publisher) ('Report on Peasant Movement in the Terai Region', Liberation, Vol.2 No. 1
Sarin M Joints forest management in India: achievements and unaddressed challenges in Unasylva - No. 180 - Vol. 46 - 1995/1
Schuurman, F.J. (ed.). 1993. Beyond the Impase. Zed Books: London.
Scott, A. 1990. Ideology and New Social Movements. Unwin Hyman: London.
Scott, J.C. 1990. Domination and The Art of Resistance: Hidden Transcript. Yale University Press: New Haven, Connecticut.
Scrase, T.J. 1993. Image, Ideology and Inequality: Cultural Dominion, Hegemony and Schooling in India. Sage: New Delhi.
Seervai, H.M.1983. The Constitution of India. Bombay. 3rd edn.
Sen , Sunil 1972 Agrarian Struggle in Bengal -1946-47. Peoples Publishing House. New Delhi.
Sen, A. 1999. Reason Before Identity. Oxford University Press: New Delhi.
Sen, Ajit Kumar 1986. Hindu Political Thought, Gyan Publishing House, Delhi. (Indian Reprint), pp: 49-64
Sen, S. 1979a. Agrarian Relations in India: 1973–1947. (please check the years—should it be '1947–1973' instead?)(1793-1947) Peoples Publishing House: New Delhi.
Sen, S. 1982. Peasant Movements in India: Mid-Nineteenth to Twentieth Centuries. K.P. Bagchi & Co.: Calcutta.
Sengupta, B. 1979. CPI-M: Promises, Prospects, Problems. Young Asia Publications: New Delhi.
Shah, G. 2004 Social Movements in India, A Review of Literature. Sage Publication: New Delhi
Shah, G. (ed.) Social Movents and the StateSage Publications: New Delhi
Shah, Ghanshyam . Social Movements in India : A Review Report. Sage Publications. New Delhi.
Shanin, T. 1972. The Awkard Class. Clarendon Press. (please provide the place of publication)(Oxford)
Shanin, T. 1984 a. (ed.). Peasant and Peasant Societies. Penguin Books: New York.
Shanin, T. 1984b. 'Peasantry as a Political Factor', in T. Shanin (ed.), Peasant and Peasant Societies. Penguin Books: New York.
Shankar Rao, C. N., 2004. Sociology of Indian Society (especially Chapter 19), S. Chand and Co., New Delhi.
Sharma, S.K. 1985. Social Movements and Social Change. B.R. Publishing Corporation: New Delhi.
Shorter,E.and Charles, Tilly ; 1971.Strikes in France- 1930-1980. Cambridge University Press. Cambridge. U.K.
Siddiqui, M.H.1978 Agrarian Unrest in North Indi : The United Provinces -1918-22. Vikas Publishoing Houe pvt.Ltd. New Delhi.

MADHYAM IAS

Simhadri, S. and P.L.V. Rao (eds.). 1997. Telangana: Dimensions of Underdevelopment. Centre for Telangana Studies: Hyderabad.
Singer, Milton. 1972. When a Great Tradition Modernizes : An Anthropological Approach to Indian Ciritisation. Praeger. New York.
Singh, A. (1978): 'Rural to Urban Migration of Women Among Urban Poor in India: Causes and Consequences', Social Action, Vol. 28, No.4.
Singh, Chahatrapati Common Property and common Poverty-India's Forests, Forest Dwellers and the Law. Oxford University Press Delhi.1986
Singh, K. S. 1993, 'Marginalised Tribals', Seminar (412).
Singh, K.S. 2003. Tribal Autonomy Movements in Chotanagpur. In R D Munda & S Bosu Mullick, The Jharkhand Movement- Indigenous Peoples' Struggle for Autonomy in India. IWIGIA Document No. 108, Copenhagen.
Singh, Rajendra , 1984. 'Peasant Movements in Uttar Pradesh' in MSA Rao (Edit) Social Movements in India. manohar Press. New Delhi .
Singh, Rajendra, 2001. Social Movements, Old and New: A Post-Modernist Critique. Sage Publications. New Delhi.
Singh, Yogendra (2002). Culture Change in India: Identity & Glob alisa tion , Jaipur, Rawat Publications (2000).
Singh, Yogendra (2004). Idelogy and Theory in Indian Sociology. Rawat Publications: Jaipur
SinghaRoy D.K. 1999. 'Land Reforms, Peasant Movements and the Scheduled Castes: Issues of Social Justice and Empowerment', in S.K. Behera (ed.), Dalits and Land Reforms in India. Indian Social Institute: (please confirm name)(okay) New Delhi.
SinghaRoy, D.K. 1992. Women in Peasant Movements: Tebhaga Naxalite and After. Manohar: New Delhi.
SinghaRoy, D.K. 1995a. Rural Women, New Technology and Development: Changing Facets of Caste, Class and Gender Relations in Rural India. Manohar: New Delhi.
SinghaRoy, D.K. 1995b. 'Peasant Movements and Women's Empowerment'. Economic and Political Weekly. Vol 30. No. 37. Pp: 2306-2311.
SinghaRoy, D.K. 2004.Peasant Movements in Post C0lonial India: Dynamics of
Sinha, S.C. (1958), 'Tribal Culture of Peninsular India as a Dimension of Little Tradition in the Study of Indian Civilisation- a Preliminary Statement', Journal Of American Folklore (71).
Sinha, S.C. (1962), 'State Formation and Rajput Myth in Tribal Central India', Man in India, 42 (1).
Sinha, S.C. (1965), ' Tribe-Caste and Tribe-Peasant Continua in Central India', Man In India, 45(1).
Sinha, S.C. ed.(1987), Tribal Politics and State System in Pre-Colonial Eastern and North Eastern India, CSSS, Calcutta.
Sitaramayya, P. 1946.The History of th Indian National Congress. Vol .1. Padma Publication Ltd. Bombay.
Smelser, Neil, 1964. Theory of Collective Behaviour. Routledge and Kegan Paul. London.
Smith D.E. 1963. India as a Secular State. Princeton University Press: Princeton
Smith, M and Marx, L. (Eds), 1994. Does Technology Drive History? MIT Press, Cambridge.
Smith, Vincent, 1981, The Oxford History of India, 4th ed., edited by Percival Spear, Delhi: Oxford University Press (12th impression).
Sorokin, Pitirim A. 1962 (1947), Society, Culture, and Personality; Their Structure and Dynamics: A System of General Sociology, Cooper: New York
Soros, George (2004). The Crisis of Global Capitalism, New Delhi, Viva Books Pvt. Ltd. (by arrangement with Perseus Books, Cambridge, USA).
Spencer, Herbert, 1967, The Evolution of Culture: Selections from Herbert Spencer's Principles of Sociology, Edited and with an introduction by Robert L. Carneiro, The University of Chicago Press: Chicago
Spybey,T 1996 Globalisation and World Society . Cambridge: Polity press.
Sri Aurobindo. 2000. India's Rebirth (Third Edition), Institute for Evolutionary Approach, Paris. P-106
Srivastava, S.K. 1958, The Tharus: A Study in Cultural Dynamics, Agra University Press: Agra .
Stace, W.T. 1953. Religion and Modern Mind, MacMillan London. p.296.
Stewart, A. 2001. Theories of Power and Domination. Sage: London.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

Strange, S. (1996). The Retreat of the State: The Diffusion of Power in the World Economy. Cambridge/ New York, Cambridge University Press.
Streeten, Paul (2001): Globalisation - Threat or Opportunity. H. Forlag, Copenhagen, Copenhagen Business School Press, (Denmark).
Stryker 1990. 'Identity Theory', in Borgatha, E.F. and M.L. Borgatha (eds.), Encyclopedia of Sociology, Vol. 2. Macmillan Publishing Co.: New York.
Sundarayya , P. 1972. Telengana peoples Struggles and its Lessons. Communist Party of India Publications. Calcutta.
Svalastoga, Kaare, 1988, "Social Differentiation," In Handbook of Modern Sociology, ed. Robert E.L.Faris, vol.2., Rawat Publications: Jaipur
Swami Swananda (ed). 1989. The Complete Works of Swami Vivekananda, Advita Ashrama, Calcutta. Vol.2, PP:114 –115.
Swaminomics, Times of India, 3 April 2004. My Family and other Globalisers
Tarde, G. 1903. Law of Imitation. Tran. E. C. Parper. Peyert Smith. New York.
Taylor, P.J. 2000 "Isations of the World: Americanisations, Modernisation and
Taylor, P.J. 2000 "Izations of the World: Americanisations, Modernisation and
Tehranian, Majid (2002): "Preface," in Lamberton ed. "Managing The Global- Globalisation, Employment and Quality of Life. London & New York, I.B. Tauris Publishers (in association with The Toda Institute for Global Peace and Policy Research).
Thandani, Veena and Michael P. Todaro (1984): 'Female Migration: A Conceptual Framework', in Women in the Cities of Asia: Migration and Urban Adaptation, J. Fawcett, S. Khoo and P. Smith (ed.), Westview Press, Boulder, Colorado.
Thapar, Romila (2004). Somanatha: The Many Voices of a History, Penguin/Viking, New Delhi.
Thapar, Romila and Majid Hayat Siddiqi, 2003, Chota Nagpur: The Pre-colonial and the Colonial Situation, In R D Munda and Sanjay Bosu Mullick, Jharkhand Movement-Indigenous Peoples' Struggle for Autonomy in India, IWGIA Document No. 108. Copenhagen.
The All India Credit Committee. 1968. 'Report of the All India Credit Committee'. Government of India: New Delhi.
Thorner, D. 1956. Agrarian Prospects in India. Allied Publishers: Bombay.
Thorner, D. 1969. 'Capitalist Farm in India'. Economic and Political Weekly, vol. IV, no. 52: pp. 2189–194.
Thorner, D. and A. Thorner. 1962. Land and Labour in India. Asia Publishing House: Bombay.
Tilly, C. 1978a. From Mobilisation to Revolution. Addison–Wesley: Reading, Massachusetts.
Tilly, C. 1978b. 'Social Movements, Old and New', in Kriesberg, L. and B. Misztal (eds.), Research in Social Movements, Conflicts and Change, Vol. 10. Jai Press Inc.: London.
Tilly, C. 1985 'Models and Realities of Popular Collective action'. Social Research, Vol. 52 (Winter).
Tilly, Charles, Lousise,Tilly and Richard Tilly. 1975. The Rebellious Century. 1830-1930. Harvard University Press. Cambridge.
Tilly, Charles.1978. From Mobilisation to Revolution . Reading Mass: Addison Wesley.
Toch, H. 1965. The Social Psychology of Social Movement. Bobbs–Merril: Indianapolis.
Torrow, S. 1994. Power in Movement: Social Movements, Collective Action and Mass Politics in Modern State. Cambridge University Press: New York.
Touraine , Alain ; 1985.' An Introduction to the Study of social Movements' Social Research. vol. 52, no. 4. pp. 749-87.
Touraine, A. 1981. The Voice and the Eye. An Analysis of Social Movements. Cambridge University Press: Cambridge.
Touraine, A. 1983. Anti-Colonial Protest. Cambridge University Press: Cambridge.
Touraine, Alain. 1992. Beyond Social Movements. Theory, Culture and Society. Vol. 9. no. 1. pp, 125-47.
Trotter,William. 1920. Animal Behaviour in Peace and War. Macmillan. London.
Turner, J.H. 1987. The Structure of Sociological Theory. Rawat Publications: Jaipur.
Turner, R. and Killian, L. 1957. Collective Behaviour. Prentice Hall: Englewood Cliffs.
Turner, Roy, 1962, India's Urban Future, University of California Press: Berkeley.
Uberoi, J P S. 1978, Science and Culture, Delhi, Oxford University Press.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

Uberoi, J.P.S. 1996. Religion, Civil Society and the State : A Study of Sikhism. Oxford University Press. Delhi.
United Nations. 1995. 'Declaration of the World Summit for Social Development', vol. XXI, no. 43: ws. 97–104.
Vanaik, Achin.1997. Communalism Contested; Religion, Modernity and Secularisation. Vistar Publications. New Delhi.
Varickayil Robert. 1980. Social origins of protestant Reformation, p.15. Article in Social scientist. June.
Varshney, Ashutosh (2002). Ethnic Conflict and Civic Life: Hindus and Muslims in India, Oxford University Press, New Delhi.
Vashum, R. 2000, Nagas' Right to Self-determination: An Anthropological-Historical Perspective, New Delhi: Mittal Publications.
Vasundhara Dalmia et al (ed). 2001. Charisma and Canon, Oxford University Press, New Delhi. pp: 159-161
Venugopal, C.N. (1998). Religion and Indian Society: A Sociological Perspective, Gyan Publishing House, New Delhi.
Venugopal, C.N. 1988. Ideology and Society in India, criterion, New Delhi. pp: 98-114.
Vidyarthi, L.P. & B.K. Rai 1985 (1976), The Tribal Culture of India, Concept Publishing Company, New Delhi.
Walsh, E.J. 1978. 'Mobilisation Theory vis-a-vis a Mobilisation Process: The Case of United Farm Workers Movement', in L. Kriesberg (ed.), Research in Social Movements, Conflicts and Change, Vol. 1. Jai Press Inc.: Greenwich.
Weber, Max (1930). The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism, Trans by Talcott Parsons, Allen and Unwin, London.
Weber, Max (1964). The Sociology of Religion, Beacon Press, Boston.
Webster, N. 1992. Panchayati Raj and Decentralisation of Development Planning in West Bengal. K.P. Bagchi: Calcutta.
Webster, N. 1999. 'Institutions, Actors, and Strategies in West Bengal's Rural Development—A Study of Irrigation', in Rogaly (please provide initials for Rogaly) (B. Rogaly, B. Harris-White) B.B. Harris–White and S. Bose (eds.), Sonar Bangla? Agricultural Growth and Agrarian Change in West Bengal and Bangladesh. Pp. 329–56. Sage: New Delhi.
Wignaraja, Ponna. (edit) 1993. New Social Movements in the South : Empowering the People. Vistar Publications. New Delhi.
Will Herberg, 1967. Religion in a Secularized Society: The New Shape of Religion in America", in The Sociology Of Religion: An Anthology, ed., Richard D. Kundten, p. 472.
Williams, G. 1999. 'Panchayati Raj and the Changing Micro-Politics in West Bengal', in Rogaly (B. Rogaly, B. Harris-White) B.B. Harris–White and S. Bose (eds.), Sonar Bangla? Agricultural Growth and Agrarian Change in west Bengal and Bangladesh. Pp. 229–52. Sage: New Delhi.
Wilson, John. 1973. Introduction to Social Movements. Basic Books. New York.
Wirth, Louis, 1938, "Urbanism as a Way of Life", American Journal of Sociology, XLIV.
Wolf, E.R. 1984. 'On Peasant Rebellions', in T. Shanin (ed.), Peasant and Peasant Studies. Penguin Books: Middlesex.
Wolf, Eric. 1971. Peasant Wars of the Twentieth Century. Faber and Faber. London
Wood, J.L. and Jackson, M. 1982. Social Movements, Development, Participation and Dynamics. Wardsworth: California
World Bank (2002): Globalisation, Growth and Poverly - Building an Inclusive World Economy. (A World Bank Policy Research Report), Co-publication of the World Bank, Washington & Oxford University Press, New York
Zald, M. and J. McCarthy. 1987. Social Movements in an Organisational Society: Collected Essays. Transaction: New Brunswick.
Zald, M.N. 1978. 'The Trajectory of Social Movement in America', in Kriesberg, L. and B. Misztal (eds.), Research in Social Movements, Conflict and Change, Vol.10. Jai Press Inc.: London.
Zeitlin, I.M, 2000(7th edition), Ideology and the Development of Sociological Theory, Prentice Hall:NJ

UPHAPHYAM IAS